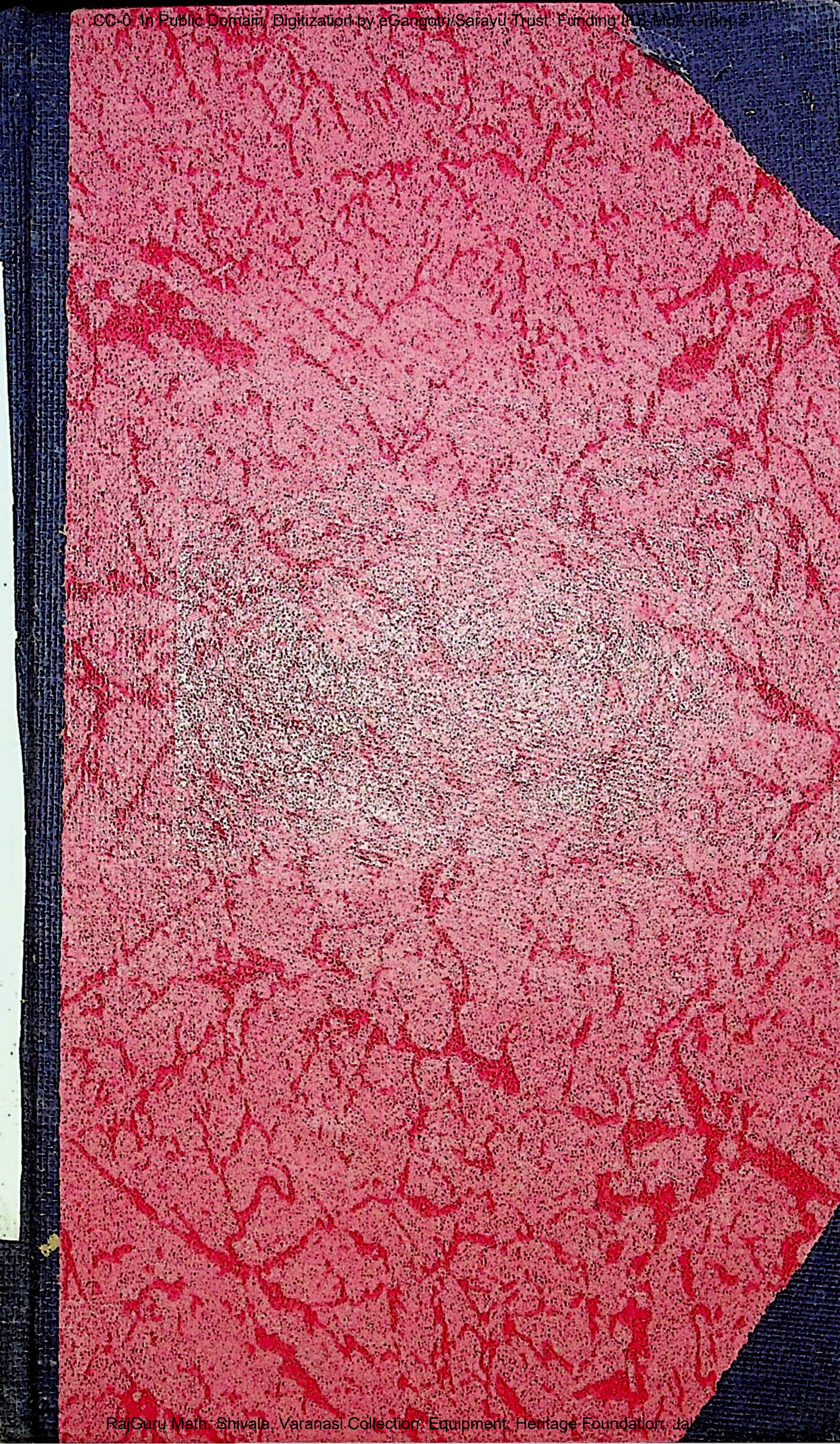

८-/

गोस्वामी तुलसी दास
जीवन वृत्त और व्यक्तित्व

कुलदीपनारायणराय 'झड़प'

प्रकाशक :
अ० भा० ब्रा० परिषद [वंग]
५०, रामकृष्णपुर लेन, हवड़ा

मूल्य [redacted]·०० रु०

मुद्रक :-
कमला प्रसाद राय
जनता प्रेस
४२, पथरियाघाट स्ट्रीट
कलकत्ता-६

समर्पण

जो अतिशय उदारमना, सरल हृदया और पुण्यशीला थीं
पर दुःख कातरता और लोकहित जिनका स्वभाव था
सतत भगवत् चर्चा जिनकी दिन चर्या थी
जिन्होंने सं० २००१ वि० की वैसाख शुक्ल द्वितीया को
भगवत्-चित्त होकर दिव्यधाम की यात्रा की
जिनके आदर्शों के प्रकाश में ही इस लेखक को
अपना पथ प्रशस्त करने का अवसर मिला
अपनी उन्हीं शिवा-स्वरूपा-साध्वी तपोमूर्त्ति-पूजनीया,
माता तपेश्वरी देवी की पुण्य-स्मृति में
यह ग्रंथ उन सभी सज्जनों को सादर समर्पित है,
जिन्हें तुलसी तथा तुलसी की रचनाएं प्रिय हैं।

—कुलदीप नारायण 'झड़प

प्रकाशकीय

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन वृत्त के संबन्ध में कई शोध-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें कई दुराग्रह मात्र ही रहे जायेंगे और कई के विद्वान शोधक वस्तुतः किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुंच सके हैं, अस्तु उक्त विषय पूर्ववत् अनुसंधान की अपेक्षा रखता आया है। बड़े हर्ष की बात है कि श्री पंडित कुलदीप नारायण राय 'झड़प' ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर मौलिक रूप से प्रकाश डाला है और वैज्ञानिक-आधार पर तार्किक-पद्धति से सूक्ष्म-विवेचना पूर्वक तथ्य तक पहुंचने का प्रयास किया है।

'श्री झड़प जी' हिन्दी-साहित्य के जाने-माने बहुश्रुत लेखकों में हैं। इन्होंने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है तथा भारतीय जातियों के विषय में स्वतंत्र-चिंतन किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध उन्हीं की प्रशंसनीय कृति है। पाठकगण देखेंगे कि इस शोध-प्रबंध के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन हुआ है एवं सर्वथा नई बातें प्रकाश में आई हैं। इस दृष्टि से यह एक बहुमूल्य और विशिष्ट कृति है जो अनेक दृष्टियों से पठनीय और उपयोगी है।

किसी भी कार्य का पूरा होना समयाधीन है, अस्तु प्रकाशन कार्य में भी अनपेक्षित विलंब हुआ है और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है फिर भी श्री कमला प्रसाद राय (मुद्रक) की लगन से प्रकाशन-कार्य सुचारु रूप से पूरा हुआ। यत्र-तत्र प्रूफ की कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। इसके लिए शुद्धि-पत्र अंत में दे दिया गया है। आशा है पाठकगण सुधार लेंगे। पुस्तक में यथा स्थान गोस्वामी जी के दो चित्र तथा हुलसीसती तुलसी चौरा सूकरखेत के वट वृक्ष के चित्र एवं दो मानचित्र दिए गए हैं। इनसे पाठकों को सुविधा होगी।

जिन बंधुओं ने प्रकाशन कार्य में हाथ बँटाकर सहयोग प्रदान किया है हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं विशेष कर सर्वश्री रामाशीष राय, सूर्य राय, नगीना राय, राजेश्वर राय, श्यामा राय, उमाकान्त पांडेय, कंजविहारी शर्मा, जनकदेव शर्मा, रामचन्द्र राय, नन्दकिशोर सिंह, तपेश्वर शर्मा जिन्होंने अपना समय और आवश्यकतानुसार सहयोग देकर इस कार्य को पूरा कराया है। श्री रवींद्रशंकर राय ने कतिपय स्थानों के फोटो लेने में हमारी सहायता की जिसके लिए हम आभारी हैं।

रामवृक्ष राय

(मंत्री, अ० भा० ब्रा० परिषद, बंग)

विद्वत्-विमर्श

प्रस्तुत कृति के कृतिकार श्री कुलदीपनारायण 'झड़प' एक सुधी अन्वेषक तथा शोधकर्त्ता हैं। तुलसी-साहित्य के अध्येता तथा अध्यापक के रूप में इन्हें ख्याति मिली है। इस कृति में इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के 'जीवन चरित' उनके व्यक्तित्व तथा उनकी कवि प्रतिभा का मूल्यांकन आलोचना के नवीनतम मानदण्डों के आधार पर किया है। अपने मन्तव्य-प्रतिपादन हेतु इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के समसामयिक तथा उनके परवर्ती लेखकों और कवियों द्वारा प्रस्तावित समस्त संदर्भों का उपयोग किया है। इन संदर्भों में नाभादास कृत भक्तमाल; प्रियादास कृत -भक्ति रस बोधिनी, गोकुलनाथ-सम्पादित दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता वेनीमाधव दासकृत मूलगोसाँई चरित महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इस ग्रन्थ के प्रणयन में श्री कुलदीपनारायण जी ने इन कृतियों का भी आलोचनात्मक रूप से विश्लेषण किया है। इनके अतिरिक्त शिवसिन्ह सेंगर कृत शिव सिंह सरोज; तथा पाश्चात्य-विद्वानों मुख्यतः विलसन, ग्रीयर्सन तथा तासी की संस्थापनाओं के परीक्षण के प्रति सुधी आलोचक की दृष्टि विशेष रूप से सजग सतर्क और संतुलित है।

तत्पश्चात् अन्तःसाक्ष्य के आधारपर गोस्वामी जी के जीवन चरित के पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि इस कृति की विशिष्ट उपलब्धियों में से एक है। साथ ही साथ 'रामचरित मानस' "विनय पत्रिका' तथा 'कवितावली की रचना प्रक्रियाओं का उदघाटन करते हुए ग्रन्थकार ने गोस्वामी जी की इन कृतियों के माध्यम से गोस्वामी जी के कवि व्यक्तित्व के अन्वेषण का भी प्रयत्न किया है। गोस्वामी तुलसीदास भारतीय साहित्य में रामभक्ति धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनके काव्य में भारतीय भक्ति और दर्शन का समन्वित रूप मुखरित हुआ है। गोस्वामी जी का व्यक्तित्व दर्शन और भक्ति की समन्वित भूमिपर आधारित था। इन्होंने पुराण आगम, निगम आदि साधनों से अपने व्यक्तित्व की भूमि निर्मित की थी। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता के लिये अपेक्षित था कि वे औपनिषदिक दर्शन, नारद भक्ति सूत्र; नानापुराण निगमागम का आधार ग्रहण कर गोस्वामीजी के व्यक्तित्व और उनकी कृतियों पर विचार करले। इस के प्रति कुलदीप नारायण जी अपनी विवेचना में सचेष्ट ही नहीं पूर्णरूप से सफल हैं। गोस्वामी जी ने मानस की रचना के उद्देश्य का उल्लेख करते हुए कहा है—

स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबद्ध मति मंजुल मातनोति

कवि ने स्वांतः सुखाय को विश्व कल्याण का पर्यायवाची माना है। काव्य का उद्देश्य भी इससे भिन्न नहीं है; इसकी ओर संकेत करते हुए गोस्वामीजी ने कहा है—

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित वुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥

यह कथन इस कृति के विषय में भी चरितार्थ होगा तथा विद्वानों में इसे विशेष ख्याति मिलेगी, श्री कुलदीप नारायण जी झड़प के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में इस कृति से भी अधिक महत्वपूर्ण कृतियों की सर्जना कर हमें लाभान्वित और आभारी करेंगे।

—(डा०) दयानन्द श्रीवास्तव
हिन्दी विभाग कलकत्ता विश्वविद्यालय

दो शब्द

किसी भी विचारक, सुधारक, दार्शनिक और कवि की कृतियों के अध्ययन से पूर्व उसके जीवन-वृत्त का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि मनुष्य जैसे कुल में उत्पन्न होता है; जैसे स्थान पर पलता है जिस प्रकार के सामाजिक वातावरण में सांस लेता है तथा जैसी परिस्थितियों से होकर गुजरता है, तदनुसार उसकी भावनाएँ अनुभव और विचार गठित होते हैं। जीवन ही विचार संकल्प और कृतियों की आधारशिला है। इसलिए किसी भी महापुरुष के जीवन-वृत्त का अध्ययन होना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त के अनुसंधान का प्रयास भी विद्वानों द्वारा किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी जन्मभूमि, जाति, माता-पिता, स्त्री-पुत्र आर्थिक और सामाजिक स्थिति के विषय में एक झमेला सा खड़ा हो गया है तथा उक्त समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझ सी गई है जिससे श्री शिवनन्दन सहाय एवं डा० माताप्रसाद गुप्त जैसे परिश्रमी तथा सुधी अन्वेषक भी किसी तथ्य तक नहीं पहुंच सके और आचार्य चन्द्रबली पांडेय जैसे विचारक को भी कल्पना-प्रसूत अनुमान का सहारा लेना पड़ा।

इनके अतिरिक्त कई अन्य विद्वानों ने उक्त जीवनवृत्त की खोज का प्रयास किया है किन्तु अधिकांश के अंतर्गत आग्रह ही प्रधान दिखाई देता है, फलस्वरूप जीवनवृत्त को लेकर कई पक्ष उत्पन्न हो गए हैं। एक पक्ष उनको राजापुर (बाँदा) का निवासी सरयूपारी ब्राह्मण कहता है तो दूसरा पक्ष सोरों (एटा) निवासी सनाढ्य। अपने-अपने पक्ष के समर्थन के लिए जाली ग्रंथों तक की रचनाएँ की गई हैं और अभिलेखों में जाल किया गया है, जिससे सत्यान्वेषक के लिए दुहरी कठिनाई का सामना करना है।

ऐसी ही विषम परिस्थिति में इस लेखक को भी उक्त जीवनवृत्त की खोज में प्रवृत्त होना पड़ा। इस खोज के फलस्वरूप कुछ नवीन तथ्य प्रकट हुए हैं। यह खोज विवरण विद्वान महानुभावों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है वे इस पर सहृदयता से विचार करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में अनुसंधान सम्बन्धी जो भी प्रमाण उपलब्ध किए गए हैं। उनकी परीक्षा कर ली गई है। उनमें यदि कहीं असत्य का आभास या त्रुटि दिखाई पड़े तो उसके विषय में मुझे अनुग्रहपूर्वक सूचित किया जाय। इसके लिए कृतज्ञ हूँगा। संभव है पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कोई समीक्षा लेख मेरे दृष्टि-

पथ में न आवे और उसमें उठाई गई शंकाओं का समाधान होने से रह जाय। इसलिए तत्सम्बंधी लेख की एक प्रति मेरे पास भेजने एवं मुझसे सीधा पत्र-व्यवहार करने की उदारता दिखाई जाय। विद्वान महानुभावों के समक्ष यह बाल-प्रयास प्रस्तुत है। वे अपने सुझावों द्वारा सत्यान्वेषण में सहायक होंगे ऐसी आशा है।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के लिए आदरणीय पं० परशुराम चतुर्वेदी से लेखक ने प्रार्थना की थी जिसे उन्होंने स्वीकार भी किया था किंतु उन के चक्षुदोष और शिरोरोग से पीड़ित रहने के कारण उक्त प्रार्थना समयानुसार पूरी न हो सकी। यही स्थिति संत कामिल बुल्केसाहब के समक्ष भी रही, जिसके कारण इन मनीषी महानुभावों के विचार-विमर्श से यह ग्रंथ वंचित रह गया जिसके लिए दुःख है।

प्रस्तुत पुस्तक का किन स्थितियों में क्योंकर प्रणयन हुआ इसके सम्बंध में पुस्तक के उपसंहार में निवेदन किया गया है। उसे एक प्रकार से पुस्तक की भूमिका ही समझनी चाहिए।

पुस्तक प्रणयन के संदर्भ में शास्त्र पुराण, इतिहास, वंशावलियाँ, सर्वे के कागज-पत्र, पत्र-पत्रिकाएँ, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के देखने की आवश्यकता पड़ी है अस्तु उन सभी ग्रन्थों के ग्रन्थकारों और उनके उपलब्ध कर्त्ताओं के प्रति ऋणी हूं। श्री पं० रामबली पांडेय (डी० ए० वी० डिग्री कालेज, वाराणसी) श्री ब्रजविहारी राय और श्री पं० रामदत्त राय तो अपने ही हैं फिर भी इनसे जो सहयोग मिला उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

गतिरात्मवतां संतः संत एव सतां गति।
असतां च गतिः संतो न त्वसंतः सतांगति॥
(सज्जन सबकी गति है; असज्जन किसी की भी नहीं)

लिलकर बलिया
तुलसी जयंती सं० २०२९

कुलदीपनारायण राय
'झड़प'

विषय सूची

विषय — पृष्ठ संख्या

१—प्रथमाध्याय

प्रस्तुत सामग्री का विवेचन

काशी १
राजापुर (बाँदा) ४
बाँदा गजेटियर ६
अयोध्या ८
बलिया-आरा ९
सेनापति २०
सोरों (एटा) २५
तुलसी चरित २९
मूल गोसाईं चरित ३०
घट रामायण ३१
दो सौ बावन वार्ता ३६
नंददास ३७
पद-प्रसंगमाला ४६
गौतम चंद्रिका ४६
गोसाईं चरित ६०
मोहन साईं का गीत आदि ६६
भविष्य पुराण ६७

२—द्वितीयाध्याय

अंतर्साक्ष्य और उनकी व्याख्या ६९

३—तृतीयाध्याय—जन्मभूमि

हाजीपुर, हस्तिनापुर, तारी ९०
राजापुर (बाँदा) ९२
सोरों १०२
काशी १०७
अवध (अयोध्या) १०८
राजपुर (बलिया) १२४
शिवपीठ १३१
भीतरी झलक १३७
संप्रदाय और समाज १४२
भावना १४७
आचार-व्यवहार १५८
कृषि और खान-पान १७३
भाषा (उच्चारण, विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग, शब्द, लोकोक्ति, मुहावरे, कथन शैली) १७६
झलक १९९
तुलसी स्थान २०५

४—चतुर्थ अध्याय

सूकर खेत २१४

५—पंचमाध्याय—जाति और उपवर्ग

उच्च ब्राह्मण वंश २४५
सरयूपारी २५०
सनाढ्य २५१
कान्यकुब्ज २५२
जाति वर्ग के गठन का आधार २५५
द्विविध ब्राह्मण वर्ग २५७
गुण कर्म २७०
आदर्श स्थापन २७५
आचार-व्यवहार २८०
भाषा और कथन शैली ३०५
प्रतीक संकेत ३१२
अपनी अभिव्यक्ति ३१६
संबन्ध ३१९
कुलीनता ३४१
गोत्र और आस्पद ३४२

६—षष्ठ अध्याय—लौकिक-संबन्ध

मातृ कुल ३५७

विषय पृष्ठ संख्या

माता-पिता ३६३

नाम ३७७

पत्नी-पुत्र ३७९

बन्धु-बांधव ३८४

गुरु ३८८

शिष्य ३९९

गोसाईं पद ३९९

'खास' आस्पद ४०२

गुरु भाई ४०३

शत्रु ४०३

सम्मान और प्रशंसक ४१४

७—सप्तम अध्याय

जीवन की परिस्थितियाँ

अभुक्त मूल ४१८

जन्म काल और बाल्यावस्था ४२४

रोग, कष्ट और बुढ़ापा ४३१

महा प्रस्थान ४३४

हनुमत्कृपा ४३५

पर्यटन ४३८

निवास स्थान ४३९

८—अष्टम अध्याय

कतिपय संकेतों का स्पष्टीकरण

राजसमाज ४४७

कुसमाज ४५३

दियो सुकुल जन्म ४५७

जाइ तो न जरनि घरनि धन धाम की ४५८

स्वारथ को साथिन ४६०

पर्यो लोकरीति में ४६१

बीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो ४६२

राम के भरोसे जोइ होइ सोइ नीको लागै ४६५

पाछिले को उपखान है ४६५

खाई खोंची माँगि कै ४६५

चेरो ४६८

बन्दी छोर ४७०

चित्रकूट को चरित्र ४७१

९—नवमाध्याय—प्रकीर्ण

तुलसी के जीवन की पृष्ठभूमि ४७२

तुलसी की रामकथा ४८५

तुलसी के राम-सीता और शिव-पार्वती ४८९

रचनाएँ और उनका काल ४९५

आकार-प्रकार और सांप्रदायिक भेष-भूषा ५०५

१०—दशम अध्याय—विचार धारा

संप्रदाय और मत ५११

आध्यात्मिक विचार ५१२

राम का नाम ५२१

भक्ति और ज्ञान ५२४

सत्संग ५२७

समन्वयवादी सिद्धांत ५१०

राजनीतिक और सामाजिक भावना ५३२

आदर्श समाज ५४२

समाजवाद ५४९

वर्णाश्रम धर्म ५५१

तुलसीदास और ब्राह्मण ५६१

११—एकादश अध्याय

स्वभाव कर्म-कौशल और व्यक्तित्व

शील स्वभाव और अनुभव ५६४

लोकसाधना का स्वरूप ५७२

कविकर्म ५८४

तुलसी का अभीष्ट लोकहित ५९५

महान व्यक्तित्व ६०१

महत्व ६२५

अवतारीयुग पुरुष ६३६

क्रान्तिकारी प्रतिभा ६३७

युग प्रवर्तक महामानव ६४०

मानवता वादी भावना ६४५

स्मृति चित्र ६४७

उपसंहार ६४८क

परिशिष्ट ६६९

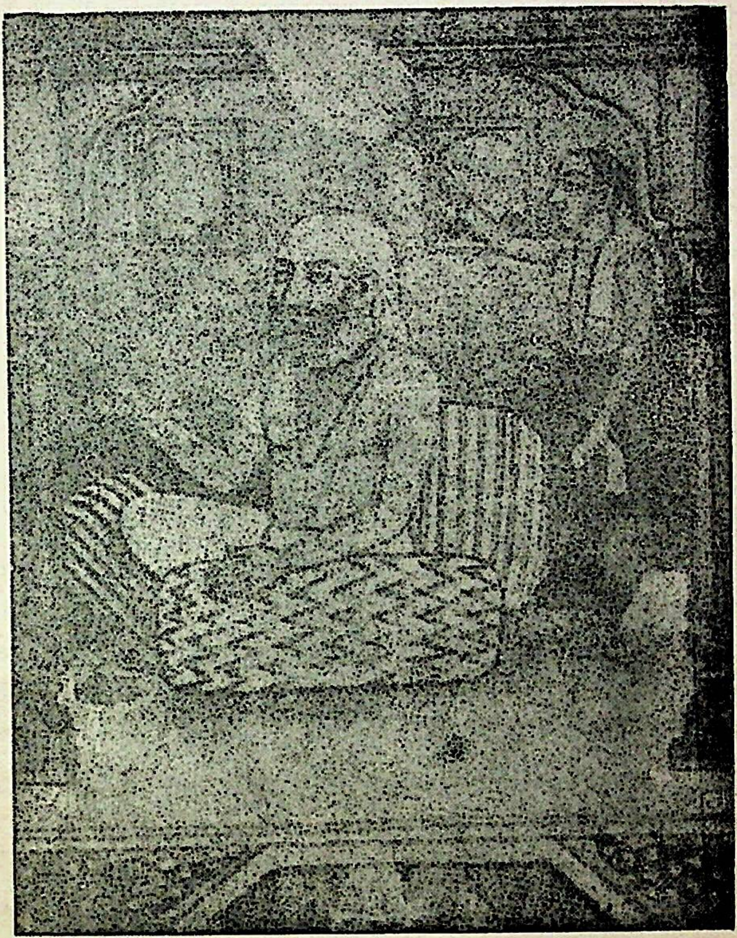

गुरु-शिष्य

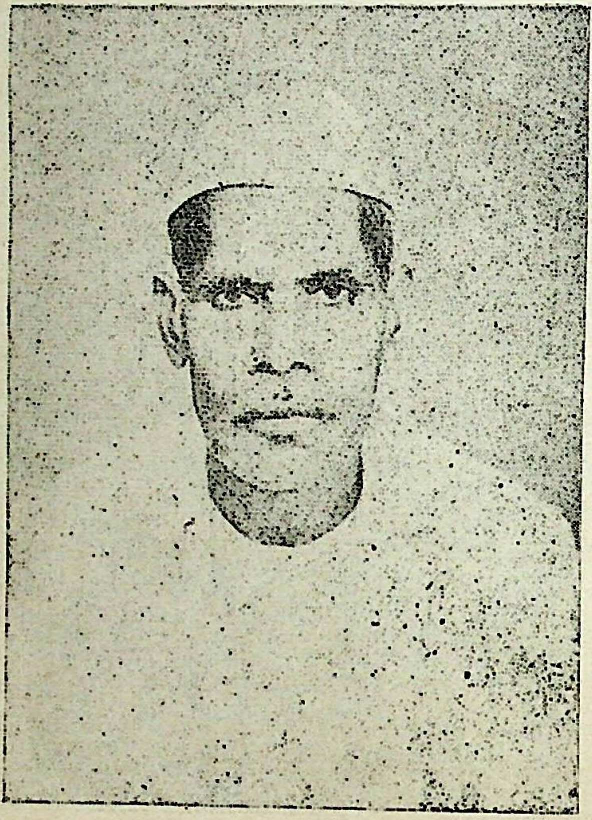

कुलदीपनारायण राय 'झड़प'

प्रथम अध्याय

प्रस्तुत सामग्री का विवेचन

काशी की सामग्री

१—लेख और कागजपत्र

(क) पंचायत नामा (सं० १६६९ वि०) इसके द्वारा अपने हाथ से लिखकर गोस्वामी जी ने टोडर के पुत्र आनन्दराम और पौत्र कन्हई (रामभद्र के पुत्र) में भूमि का बँटवारा किया था। यह काशिराज के संग्रहालय में है।

(ख) वाल्मीकि रामायण के उत्तर कांड की प्रति—इसकी पुष्पिका में 'लि० तुलसीदासेन' लिखा है जो सं० १६४१ की है। काशिराज के सरस्वती भवन में सुरक्षित है।

(ग) सं० १६६६ की है। इसका नाम 'रामगीतावली' लिखा है। इस पर तुलसीदासजी द्वारा कुछ संशोधन किया गया है। चौधुरी छुन्नी सिंह के पौत्र श्रीनारायण सिंह (रामनगर) के पास है।

मूर्त्ति, चित्र और स्मृतिचिह्न

मूर्ति—तुलसीघाट पर एक लम्बी कोठरी में गोस्वामीजी द्वारा स्थापित हनुमत् विग्रह और उनकी पाषाणमूर्त्ति है। यहीं पर उनकी खड़ाऊँ और उस नाव का एक टुकड़ा रखा है, जिस पर बैठ कर गंगा पार जाते थे। संकटमोचन और प्रह्लादघाट के हनुमत्विग्रह गोस्वामीजी द्वारा स्थापित कहे जाते हैं। जनश्रुति के अनुसार असी पर निवास करने से पूर्व इन्होंने गोपाल मन्दिर और प्रह्लाद घाट पर भी निवास किया था और गौतम चन्द्रिका के अनुसार आनन्दकानन ब्रह्मचारी के आश्रम में शिवकेदार पर भी।

चित्र—प्रह्लादघाट स्थित गंगाराम ज्योतिषी के वंशजों के पास वाला चित्र जहाँगीर का बनवाया कहा जाता है। इस चित्र के ऊपरी हाशिये पर उर्दू लिपि में 'तुलसीदास' लिखा है। दूसरी पंक्ति में यही नाम और उसके आगे 'सं० १६५५' नागरी-लिपि में है परन्तु नाम और संवत् की लिखावट, स्याही एवं प्रयुक्त लेखनी में अन्तर है।

दूसरा चित्र तुलसी मन्दिर के महन्तजी के पास है। इसमें एक दालान के अन्तर्गत साधारण कद और सुगठित शरीर के श्वेत वस्त्रधारी वृद्ध महात्मा मसनद के सहारे बैठे हैं। महात्मा की अवस्था लगभग ८० वर्ष की प्रतीत होती है।

इनके पीछे १०-१२ वर्ष का एक लड़का दाहिने हाथ से चँवर उठाए है। वह पैरों तक पहुँचता हुआ शायद पीतवस्त्र, कन्धे पर गमछा और बाएँ हाथ में झाफी धारण किए हुए है। उसके सिर के बाल कैंची से कटे हैं। उसके गले में माला तो है, पर यज्ञोपवीत नहीं है। इस चित्र में बैठे हुए महात्मा को तुलसीदास बताया जाता है। यह चित्र तुलसीदासजी के अन्य प्राप्त चित्रों से बिल्कुल नहीं मिलता, किन्तु गुरु-सेवा में रत बालक का चित्र तुलसीदासजी के अन्य चित्रों से पूर्णतया मिल जाता है, केवल अवस्था का अन्तर है। ऐसी स्थिति में बालक को ही तुलसीदास मानना उचित होगा तथा बैठे हुए महात्मा को उनका गुरु। ऐसा नहीं मानने से बालक कौन है, इसका समाधान नहीं हो पाता। इस दृष्टि से यह चित्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि जिस समय तुलसीदास गुरु के शरणापन्न हुए, निरे अबोध बालक न थे परन्तु उनका उस समय तक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ था, जो उनकी अनाथावस्था की ओर निर्देश करता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय तक तुलसीदास के गुरु ने उन्हें दीक्षा-पूर्वक चेला भी नहीं मुड़ा था।

३— परम्पराएँ और जनश्रुतियाँ

असी पर होने वाली रामलीला की परम्परा गोस्वामीजी द्वारा संचालित कही जाती है। टोडर ठाकुर के उत्तराधिकारी प्रतिवर्ष गोस्वामीजी की निधन तिथि को ब्रह्मभोज करते थे, अब सीधा बाँटते हैं। प्रसिद्ध है कि टोडर ठाकुर ने तुलसीदासजी के कहने से गंगा की रेत में हजारों बीघा राई छिटवादी थी। फसल इतनी अधिक हुई कि उसे गोस्वामीजी का चमत्कार समझा गया। टोडर के अत्यधिक अनुरोध करने पर गोस्वामीजी ने राई की आमदनी का आधा भाग लेकर बारह स्थानों पर श्री हनुमानजी के विग्रह स्थापित किए; जिनमें से एक संकट मोचन हनुमान की मूर्ति भी है।

प्रेत की सहायता से श्री हनुमानजी का दर्शन, मानस पर श्री विश्वनाथजी की सही, मृतक को जीवन-प्रदान, विप्रहत्या-मोचन, तस्कर प्रसंग आदि घटनाओं का सम्बन्ध काशी से है। इनका उल्लेख सटीक भक्तमाल और गोसाई चरित में है।

प्रसिद्ध है कि काशी के विख्यात विद्वान मधुसूदन सरस्वती ने गोस्वामीजी के विषय में कहा था—

'आनन्द कानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसी तरुः।
कवितामंजरीयस्य रामभ्रमर भूषिता ॥'

गौतम चन्द्रिका के अनुसार यह उक्ति आनन्द कानन ब्रह्मचारी की है जो उक्त मधुसूदन सरस्वती से भिन्न दाक्षिणात्य थे। मधुसूदन सरस्वती का बंगाली ब्राह्मण होना प्रसिद्ध है। ये कश्यप गोत्र के मिश्र उपाधिकारी मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और दुर्गा के भक्त थे। २-३ पीढ़ी पूर्व इनके पूर्वज कान्यकुब्ज प्रदेश का त्याग कर बंगाल में बस गए थे। इसी परम्परा में मधुसूदन सरस्वती का जन्म हुआ था। इन्होंने वयस्क होने पर बंग प्रदेश का त्याग कर दिया था।[1]

इनके समकालीन एक अन्य मधुसूदन पयाहारी के होने का पता है। इनके वंशज बलिया जिले में तुलसीताल के तटवर्ती रछौली, सिकन्दरपुर आदि गाँवों में बसे हुए हैं। इनका भी गोत्र कश्यप और उपाधि मिश्र है। इनके पूर्वज मधुसूदन पयाहारी तांत्रिक और नैचुआ डीह बलिया की देवी के उपासक थे। कंसोपटना (बलिया) के ब्राह्मण राजा कर्णदेव ने इन्हें चार हजार बीघा भूमि का अग्रहार दिया था। राढ़ (वंग) से आने के कारण ये राढ़ी कहलाते हैं। कंसोपटना का राजवंश भी कश्यप गोत्रीय था और इस वंश परम्परा के लोग २-३ पीढ़ी पूर्व मदारपुर कान्य कुब्ज प्रदेश से इधर आए थे। ब्रह्मर्षिवंश विस्तर के अनुसार इनकी उपाधि भी मिश्र थी,[2] अतः इस वंश परम्परा से दोनों मधुसूदन का समान रूप से मौलिक संबंध प्रकट होता है एवं उन दोनों के अभिन्न होने की सम्भावना होती है। इस अभिन्नता के अनुमान का एक आधार यह भी है कि बभनौली के पास मधुसूदन पयाहारी के नाम पर बसा हुआ गाँव मधुकी (मधुकुटी) कहलाता है जहाँ वे रहते थे। इसके पास ही बिसरूप (विश्वेश्वरपुर) और रामापट्टी नामक गाँव हैं। विश्वेश्वर और रामशास्त्री मधुसूदन सरस्वती के क्रमशः दीक्षा और शिक्षा गुरु थे। अतः यह नाम साम्य भी विचारणीय है।

राजापुर (बाँदा) की सामग्री—

यह सामग्री तीन प्रकार की है—प्रामाणिक जैसे माफीनामा और कतिपय सनदें या पट्टे ये सभी उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। अनिश्चित जैसे गोस्वामी जी की मूर्ति और मंदिर, जिनके विषय में यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि तुलसी या अन्य किसी के हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह मूर्ति गोस्वामी जी की न होकर किसी दूसरे की है, जो यमुना की रेत में पड़ी

---

[1] —पं० विश्वनाथ मुखर्जी —आज (तुलसीजयंती विशेषांक १९७१)

[2] —उघुरा (भोजपुर) में इस वंश-परम्परा के लोग मिश्र उपाधिधारी हैं जैसे—पं०. रामसूचित मिश्र (बिहार राज्य बिजली बोर्ड के भूतपूर्व अध्यक्ष) पटना।

मिली थी। यहाँ की मानस (अयोध्याकांड) की प्रति को भी तुलसीदास के हाथ की लिखावट कहना कठिन है। संदिग्ध-सामग्री के अन्तर्गत खटवारा ग्राम निवासी कवि बल्देवकृत 'कानूनगोय कायथ वंशावली' की गणना की जाएगी जिसकी केवल ११ पंक्तियाँ प्रकाश में आकर रह गयीं। जार्ज ग्रियर्सन और गजेटियर के लेख भी सुनी-सुनाई बातों पर आधारित होने से किसी ग्रंथ में भ्रांति मूलक हैं। उपर्युक्त कायथ वंशावली में अंग्रेजों तक का नाम आया है।[1] जिससे उसके आधुनिक होने की सिद्धि होती है। इसकी अन्य ऐतिहासिक त्रुटियाँ लेखक की अल्पज्ञता के साथ उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करती हैं।[2] बघेल-वंशागम निर्देश' के लेखक युगलदास को इसका पता नहीं है और न अन्य किसी विद्वान ने इसे प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया है, अस्तु इसके आधार पर यह स्वीकार करना कठिन है कि गोस्वामी तुलसीदास के पूर्वज खटवारा ग्राम के कायस्थों के पूर्वज के साथ गुजरात से आए थे।

फरमान और पट्टे कई हैं, जिनमें केवल एक सनद ऐसी है जो सबसे पुरानी है तथा जिसमें गोसाई तुलसीदासजी और यमुनाजी का नाम आया है एवं सनद में कथित भूमि के प्रबंधक पं० मदारीलाल बताए गए हैं। सनद इस प्रकार है—

"आमिलान हाल इस्तकबाल परगने गहोरा सिरक कालिंजर सूबे इलाहाबाद के······आगेप······मदारीलाल··· ···साई तुलसीदासजी के······सर्मे का महसूल साइर वा तिहवा तिहाव······ जी बा कलारी बा गुजर श्रीयमुना जी राजापुर अमले पर बमूजब सनद बादशाही बा सुवेदारान बा राजा बुंदेलखण्ड······है सो सिरकार में हाल है सो हसब मुबान के अमल सौं मुजाहिम ना हूजे हरसाल नई सन मा गयौ। ता० २१ सावन सन् १२

सन् १७१९ बमुकाम बाँदा।[3]

आचार्य चन्द्रबली पांडेय के मतानुसार उक्त माफी अकबर द्वितीय (हिजरीसन् १२२१-५३) अर्थात् सं० १८६३-९४ वि० की दी हुई है किंतु इस पर आलमगीर द्वितीय (सं० १८११-४६) की मुहर है। सनद में उल्लिखित सन् १२ फसली सन् १२ सौ हो सकता है जो सं० १८५० के बराबर है। पं० मदारीलाल की सातवीं पीढ़ी में श्री मुन्नीलाल के सं०२००० वि० में विद्यमान

---

[1] १—शाहसुरकी बुन्देल अंग्रेजहु दिए सनद सोइ सोई।
डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० ९२

[2] २—तुलसी की जीवनभूमि पृ० ९८

[3] ३—डा० माताप्रसाद—तुलसीदास पृ० १४३

होने से भी इस बात की पुष्टि होती है। ज्ञात होता है सन् १७१९ वस्तुतः सन् १२१९ फसली है क्योंकि उर्दू लिपि में घसीट २ सात ही जैसा लगता है। ऐसा मान लेने से सनद के साथ सन् की संगति बैठ जाती है।

सनद से ज्ञात होता है कि माफी जमुना जी के गुजारे के लिए गोसाईं तुलसीदास के नाम या स्थान के नाम से दी गई थी और प्रति वर्ष उसे नया कराना पड़ता था। प्रस्तुत सनद के नवीनीकरण के समय मदारीलाल उक्त स्थान के प्रबंधक रहे होंगे।

बाँदा गजेटियर

बाँदा-गजेटियर के सं०१९३१ के संस्करण के साथ सं० १९६६ में कुछ परिवर्द्धन किया गया है। परिवर्द्धित अंश कोष्टको में दिखाया गया है। गजेटियर का उल्लेख इस प्रकार है—

"कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल (सं० १६१३-६२ वि०) में एक संत जिसका नाम तुलसीदास था और जो सोरों तहसील कास गंज जिला एटा का निवासी था, यमुनातट के उस जंगल में आया जहाँ इस समय राजापुर आबाद है और वहाँ पर ईश्वर प्रार्थना एवं ईश्वर ध्यान में दत्त-चित रहने लगा। उसके पवित्र आचरण से प्रभावित होकर अनेक उसके अनुयायी हो गए जो उसके समीप रहने लगे और जब उनकी संख्या और बढ़ी, वे व्यापार और धर्माचरण में लगे। (ये वे ही तुलसीदास थे जिन्होंने रामायण, की रचना की और कस्बे में उनका मकान अब भी दिखाया जाता है। यह वस्तुतः एक कच्ची इमारत थी, किंतु अब पुनर्निर्मित हुई है और इसमें एक स्मारक और एक किंचित्खंडित प्रति 'रामायण' की है। स्मारक के साथ थोड़ी सी मुआफी प्राप्त है, किंतु इस समय के मुआफीदार अनपढ़ और झगड़ालू हैं और आदरणीय कवि की धार्मिक-पवित्रता तथा उदारता की उन भावनाओं को प्रसार देने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते जिनका उपदेश कवि किया करता था। उक्त स्मारक में एक प्रस्तर-मूर्ति भी है, जो कवि की मूर्ति कही जाती है और जिसकी उत्पत्ति दिव्य बताई जाती है, और कहा जाता है कि यह मूर्ति राजापुर के निकट बालू में गड़ी हुई प्राप्त हुई थी। स्थानीय जनश्रुति कहती है कि तुलसीदास का परिचय राजापुर से उस महेवा गाँव के एक ब्राह्मण घर में विवाह के कारण हुआ जो तहसील सिराथू जिला इलाहाबाद में है।) राजापुर में कुछ ऐसी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं जो तुलसीदास के उपदेशों से निकली हैं कोई भी पत्थर या ईंट का मकान बनाने नहीं पाता, धनी से धनी लोग भी कच्चे मकानों में रहते हैं, केवल मंदिर ईंट

से बनते हैं, नाई-करवे में आबाद नहीं होने पाते और बेड़ियों के अतिरिक्त दूसरी कोई नर्तकियों की जाति उसमें नहीं रहने पाती। कुम्हारों के लिये भी मकान बनाकर रहने के विषय में प्रतिबंध है और तमाम घड़े और मिट्टी के बर्तन बाहर से आते हैं। ये नियम अब अवश्य ही इतने ढीले हो गए हैं कि केवल तुलसीदास के मकान के पास-पड़ोस तक सीमित माने जाते हैं।'[1]

गजेटियर के उपर्युक्त कथन से निम्नांकित पाँच बातों का पता चलता है—

१. राजापुर में सं० १९३१ में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार वहाँ तुलसीदास सोरों (एटा) से आए थे।

२. राजापुर की भूमि पर तुलसीदास के आगमन के पूर्व जंगल था। इसकी बस्ती तुलसीदास ने बसाई।

३. तुलसीदास के समय में वहाँ पर पक्के मकान बनाने एवं नाई, कुम्हार और नर्तकियों के बसने पर प्रतिबन्ध था।

४' राजापुर में तुलसीदास के स्मारक—उनके मकान का खंडहर, उनकी पाषाणमूर्ति और मानस की खंडित प्रति ' हैं तथा माफी भी है।

५. तुलसीदास का राजापुर में निवास करने का कारण उनका महेवा (इलाहाबाद) में विवाह होना था।

इन पाँच बातों में प्रथम तीन के विवरण सं० १९३१ और सं० १९६६ के गजेटियर में तथा अन्तिम दो के विवरण केवल सं १९६६ के गजेटियर में हैं। इनमें से सोरों के संबंध में भ्रम हो सकता है क्योंकि बलिया स्थित सूकरखेत की अपेक्षा एटा स्थित सोरों अधिक प्रसिद्ध और सर्वज्ञात है किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि तुलसीदास राजापुर के जन्मजोत निवासी न होकर वहाँ कहीं बाहर से आए थे क्योंकि यह राजापुर की ही जनश्रुति है। राजापुर से उनका कुछ न कुछ संम्बन्ध अवश्य था' जिनके गवाह वहाँ पर उनके स्मारक हैं। राजापुर से तुलसीदास का सम्बन्ध उनकी स्त्री के कारण हुआ जो इलाहाबाद जिले की थीं तथा उनका राजापुर के क्षेत्र से कोई संबंध था। माफी यमुनाजी के गुजारे के लिए दी गई थी। यमुनाजी गौतम चंद्रिका के अनुसार तुलसीदासजी की पत्नी थीं जो यमुना तट पर निवास करती थीं। इससे यह ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने राजापुर में तपस्या की थी। इसी से उनके द्वारा त्याग दिए जाने पर भी यमुनाजी ने वहाँ निवास किया और पति की प्रस्तरमूर्ति की स्थापना की। तत्कालीन राज्य ने उक्त स्थान और उनके गुजारे का प्रबन्ध कर दिया, जिससे कुछ लोग वहाँ आबाद हुए

---

[1] डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० १५८-५९।

और कुछ दिनों बाद वह एक कस्बा हो गया। तपोभूमि में नाई, कुम्हार, नर्तकी और पक्के मकान की आवश्यकता क्या थी? कालांतर में जो वस्तुस्थिति थी, उसी को नियम मान लिया गया। मध्य भारत में कुम्हार को अछूत मान कर गाँव के बाहर बसाते भी थे।

पसका (सूकरखेत) की सामग्री—

श्री भगवती सिंह के कथनानुसार यहाँ नरहरिदास की कुटी है एवं उनके हाथ के लगाए बड़ और पीपल के वृक्ष हैं।

आचार्य चंद्रवली पांडेय ने वहाँ पर अग्रदास के स्थान का होना बतलाया है, जिनका तुलसीदास से किसी प्रकार के संबंध का उनको पता नहीं है। इस प्रकार उनके कथन से श्री भगवती सिंह के कथन का विरोध पड़ता है। यदि अग्रदास को रामानंदी परम्परा का अग्रदास मान लें तो उनके शिष्यों में एक नरसिंह दास हुए हैं। कदाचित उन्हीं को भगवती सिंह ने नरहरि दास मान लिया है किंतु नरसिंह दास का समय तुलसीदास के बहुत बाद का है।

गोसाईं चरित (बेनीमाधव दास कृत) में पसका को सूकरखेत कहा गया है और उसी के आधार पर अयोध्या महात्म्यमें भी जिसका अनुवाद सन्१८७५ में इंडियन-एन्टीक्वेरी में छपा, जिसे सूकरखेत कहकर सन् १९०२ में लाला सीताराम ने स्वीकार किया परन्तु गोसाईं चरित का कथन प्रमाण स्वरूप ग्रहण करना कठिन है क्योंकि उसकी बहुतेरी बातें सही नहीं उतरतीं एवं यह ग्रंथ भी उन्नीसवीं शताब्दी का ही है। गोंडा के गजेटियर में भी इस सूकरखेत के विषय में कोई उल्लेख नहीं है।

सूकरखेत (सारन) की सामग्री—

गभिरार सिवान (सारन) में रतनबाबा का स्थान सैकड़ों वर्ष पुराना है, परंतु उससे भी पुराना वहाँ का एक विशाल वटवृक्ष है जो ऊँचाई के कारण बहुत दूर से दिखाई देता है। उसका मूल तना नहीं रह गया है, पर उसके आश्रय से पृथ्वी तक जाने वाली जटाएँ ही मिलकर ठोस मोटे तने के रूप में परिवर्तित हो गई हैं। वट से लगभग ८ गज दक्षिण पीपल का वृक्ष है, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि इसकी टहनियाँ किसी महावत ने काट दी थीं और परिणामस्वरूप वह और उसके हाथी वहीं मर गए। जो हो पीपल की भांति वटवृक्ष को भी किसी प्रकार हानि पहुंचाना वर्जित है। इस वटवृक्ष के साथ किसी देवता का सम्बंध नहीं है, परंतु यह स्वतः देववृक्ष माना जाता है और इसकी पूजा होती है। गौतमचन्द्रिका में वर्णित यही वह 'वराहवट' है जिसके नीचे लोग वराह भगवान की पूजा करते थे। उस समय इस स्थान के दोनों ओर घाघरी की दो धाराएँ सरयू में मि [illegible] जैसा कि गौतमचन्द्रिका

में उल्लेख है और जिनका अवशेष दोनों ओर नालों के रूप में दिखाई देता है। पीपल और वट के बीच में भगवान शंकर और हनुमानजी के चौतरे अलग-अलग हैं। वट से लगभग २० गज दूर ईशान कोण में वह स्थान है जिसे पुराने सर्वें में रामकिंकरदास की मठिया लिखा है। रामकिंकर तुलसीदास का ही एक नाम है। यह नाम उनके गुरु का दिया हुआ है अस्तु वे सूकरखेत में इसी नाम से प्रसिद्ध रहे होंगे। यहाँ से एक मील उत्तर नरहरिदास का स्थान नेवारी (नरहरिबारी) है। वहाँ उनके वंश के लोग रहते हैं। वहाँ चौराहे पर हरशंकरी नामक स्थान है जहाँ बंदोबस्त में हीरादास की कुटी थी। सम्भवतः यहीं पर तुलसीदास के गुरु ने उनको रामकथा सुनाई होगी। इस स्थान पर इस समय भी एक विशाल वटवृक्ष खड़ा है। नरहरि, तुलसी, हुलसी आदि के नाम पर इधर कई स्थानों के नामकरण किये गये हैं। नेवारी के पास ही तारी है। सम्भव है इसी तारी के कारण तुलसीदास की जन्मभूमि तारी में होना प्रसिद्ध हो गया हो।

अयोध्या की सामग्री—

श्रावण कुंज में 'मानस' के बालकाण्ड की सं० १६६१ वि० की एक प्रति सुरक्षित है जिसे तुलसीदासजी के हाथ का लिखा कहा जाता है। गोस्वामीजी ने जिस स्थान पर वटवृक्ष के नीचे बैठकर रामचरित मानस की रचना की थी, वह स्थान तुलसी चौरा के नाम से प्रसिद्ध है तथा तुलसी चौरा जिस महल्ले में है, वह महल्ला 'बगसरिया टोला' कहलाता है। तुलसीचौरा नाम पड़ने का कारण तो स्पष्ट है, पर 'बगसरियाटोला' नाम क्यों पड़ा; यह विचारणीय है क्योंकि उस महल्ले के लोगों का न तो बगसर से कुछ विशेष लगाव है और न इस प्रकार का कोई पुराना संबंध ही प्रकट होता है; परंतु है इसमें एक बड़े रहस्य की बात। गोस्वामी तुलसीदास बगसर क्षेत्र का निवासी होने के कारण ही बगसरिया-बाबा के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे तथा वे जिस टोले में रहते थे; वह बगसरियाबाबा का टोला कहलाने लगा था। वही समयानुसार बोलने में प्रयत्नलाघव के कारण 'बगसरिया-टोला' बन गया। इस नामकरण के द्वारा तुलसीदास के बगसर क्षेत्र (भोजपुर, बलिया) का निवासी होने की पुष्टि होती है। अयोध्या फैजाबाद की नगरपालिका ने सन् १९७१ से बगसरिया टोले का नाम बदल कर तुलसीनगर रख दिया है।[१] इधर उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री विश्वनाथदास की प्रेरणा से राज्य द्वारा तुलसीचौरा पर एक विशाल स्मारक भवन निर्मित कराया गया है जो दर्शनीय है। अन्यत्र भी मानस मन्दिर एवं महात्मा काशीदास के प्रयत्नस्वरूप एक मन्दिर का निर्माण—तुलसी गया है; जिसकी दीवारों पर स्फटिक

---

[१]—आज दि० १५-७-[illegible]

की पट्टियों में सम्पूर्ण रामचरित मानस और तुलसी की अन्य कृतियाँ अंकित हैं और एक दंपति—रानी शर्मा और उनके पति के उत्साहस्वरूप थोड़े दिनों से तुलसी महिला महाविद्यालय और तुलसी उद्यान की स्थापना की गई है।

बलिया-आरा की सामग्री :

बलिया आरा में गोस्वामी जी के स्मृतिचिह्न एक विस्तृत क्षेत्र में गंगा के दोनों पार विखरे पड़े हैं। ये चिह्न कई प्रकार के हैं, जैसे गोस्वामीजी के नाम पर बसे हुए गाँव—तुलसीपुर, तुलसी छपरा, गोसाईंपुर आदि। वे स्थान जहाँ गोस्वामी जी के जाने की जनश्रुति है अथवा जिन गाँवों का गोस्वामी जी द्वारा नामकरण करना प्रसिद्ध है, जैसे—सीहाकुंड (सीताकुंड), रघुनाथपुर आदि। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण 'हुलासो सती' का स्थान है। यह स्थान बलिया जिले में हाँसनगर, हल्दी, परसिया, सीहाकुंड, नंदपुर, रेपुरा (राजपुर), राजपुर और वजरहा (वजरंग ग्राम) नामक गाँवों के मध्य गंगातट पर स्थित है। एक विशाल वटवृक्ष के नीचे जिसकी घनी छाया और जड़ें दूर तक फैली हैं, उक्त स्थान है। पहले यहाँ वन था। इस स्थान का पता लग जाने से गोस्वामी जी की वंश-परम्परा, जन्मभूमि, जन्मकाल की स्थिति, माता-पिता द्वारा शिशु के त्यागे जाने का रहस्य, स्वार्थ के साथियों की बात, तत्कालीन राज-समाज के प्रति गोस्वामी जी का उपेक्षाभाव आदि बहुत सी बातें प्रायः स्पष्ट हो जाती हैं, जिनके विषय में अबतक नाना प्रकार के अनुमान किए जाते रहे हैं। हुलसी सती के स्थान पर तुलसीदास का जाना प्रसिद्ध है। जनश्रुति के अनुसार 'सीताकुंड' और हाँसनगर का नामकरण उन्होंने ही किया था और इस प्रकार अखिल विश्व का आदिकारण जगज्जननी में अपने लौकिक शरीर का आधारभूत हुलसी माता को प्रतिष्ठित कर उस स्थान को जन-जन की श्रद्धा का केंद्रतीर्थ बना दिया।[१]

हुलासो सती—हुलासो सती का चौरा[२] लगभग १ गज ऊँचे चबूतरे पर जिसके दक्षिणी भाग में एक वट-वृक्ष है उक्त वृक्ष की जड़ से लगा हुआ उसके उत्तरपार्श्व में दक्षिण, पश्चिम और उत्तर से घेरती हुई गज भर ऊँची ईंट की

---

[१] हुलसी सती के दर्शन-पूजन के लिए सदैव ही यात्रीगण आते रहते हैं। यहाँ रामनवमी, दसहरा और पंचकोस के मेले लगते हैं।

[२] चौरा किसी देवीदेवता के उस प्रतीक को कहते हैं जो किसी मिट्टी या ईंट के चबूतरे पर अधकटे नीवू के आकार में ऊपर को उठे हुए अर्द्धगोल बने होते हैं।

बनी दीवार के छोटे से घेरे में नैऋत्य कोण पर दीवार से सटा हुआ स्थापित है और पूरब ओर से दर्शनार्थियों के लिए खुला है इसलिए पूरब से ही चबूतरे पर चढ़ने के लिए सींढ़ियाँ बनी हैं। वेदी पर चौरे के दो प्रतीक परस्पर मिले हुए हैं, जैसा कि सती के स्थान पर पति-पत्नी के प्रतीक साथ-साथ बने होते हैं। इन प्रतीकों पर सेंदुर पुता हुआ है, वैसे ही जैसे हनुमान जी की मूर्ति पर पुता होता है। वटवृक्ष की जड़ों तथा तने पर भी जहाँ तहाँ सेंदुर लगाया गया है। जो स्त्रियाँ सती जी को पियरी (पीलावस्त्र) चढ़ाने आती हैं वे उक्त स्थानों पर सेंदुर भी पोत देती हैं क्योंकि सती स्थान पर हवन-पूजन करते समय सौभाग्य-सूचक सेंदुर का उपयोग नियमानुकूल और आवश्यक माना जाता है।

वटवृक्ष की शाखाओं से बहुधा जड़ें निकल कर सीधी भूमि में समा जाती हैं। इन जड़ों के सहारे वटवृक्ष अपने चारों ओर दूर तक प्रसार करता हुआ दीर्घ जीवन प्राप्त करता है एवं मूल वृक्ष के नष्ट हो जाने पर भी अनेक शाखा वृक्षों के रूप में खड़ा रहता है। हुलासो सती का स्थान जिस वटवृक्ष के पास बना है वह ऐसा ही एक शाखा वृक्ष है। मूल वृक्ष जो इसके पास ही सती स्थान के पश्चिमी छोर पर था, नष्ट हो गया है परन्तु उससे उत्पन्न शाखा-वृक्ष लगभग एक एकड़ क्षेत्रफल में जहाँ-तहाँ खड़े हैं और पुराने पड़ गए हैं। वटवृक्ष की प्राचीनता पर विचार करने से सती का स्थान कई सौ वर्षों का पुराना ज्ञात होता है। प्रायः ब्रह्मस्थान और सती-स्थान पर वट या पीपल का वृक्ष लगाने की परिपाटी है।

यहाँ तीन अन्य सतियों के स्थान भी हैं जो छोटे-छोटे चबूतरों पर बने हैं। इनमें एक हुलासो सती के स्थान से काफी दूर हटकर पूरब और दो पश्चिम ओर हैं। पूरब वाला हुलासो सती की सास का और पश्चिम वालों में एक गोविना सती नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मणी का तथा दूसरा किसी कलवारिन का बताया जाता है।

हुलासो सती के स्थान की प्राचीनता उस स्थान को देखने से ही प्रकट होती है। पहले यहाँ वन था, अब खेत हैं। यह 'कपूर पार'[1] नामक बेचिरागी

---

१. कपूर उज्ज्वल यशोगंधि का प्रतीक माना जाता है, अस्तु जिस हुलासो-सती के कपूर के समान उज्ज्वल यश की दिव्य सुगंधि तुलसी को जन्म देने के कारण संसार में व्याप्त हुई उस महिमामयी सती का स्थान 'कपूर-पार' कहलाया। जैसा की वीरता की यशोगंधि फैलाने के कारण खत्रियों का एक वर्ण कपूर कहलाया (दे०—जातिभास्कर)।

मौजे के अंतर्गत एक आम्रवन में है। आम के पेड़ विशेष पुराने नहीं हैं। यत्र-तत्र जंगली पेड़ पौधे और वट-पीपल के पुराने वृक्ष हैं। इस मौजे का क्षेत्रफल ५०० बीघे बताया गया। यह मौजा हल्दी और परसिया के काकन राजपूतों के अधिकार में रहा है। सती स्थान से हल्दी लगभग एक मील पूरब और परसिया इतनी ही दूर पर उत्तर ओर स्थित हैं। यहाँ के काकन लोग हुलासो सती के नाम पर 'अगऊँ'[1] निकालते और उक्त स्थान की व्यवस्था करते आ रहे हैं क्योंकि यह स्थान उन्हीं की भूमि के अन्तर्गत पड़ता है।

कपूरपार की भूमि कथित काकन राजपूतों को जो हल्दीराज के सिपाही थे, जागीर के रूप में मिली थी। संभवतः हुलासो सती के स्थान की व्यवस्था के लिए ही यह भूमि उन्हें दी गई होगी, जिसकी पुष्टि उक्त भूमि की उपज से उनके द्वारा अगऊँ निकाले जाने की परिपाटी से होती है। हो सकता है, पहले यह भूमि किसी दूसरे वंश के अधिकार में रही हो और उसके नष्ट हो जाने या कहीं चले जाने अथवा उससे छिन जाने से वह भूमि हल्दीराज और उसके द्वारा काकन राजपूतों के अधिकार में आ गई हो तथा ऐसी स्थिति में हुलासो सती के स्थान की व्यवस्था का भार भी उनके ऊपर आ पड़ा हो। हल्दी के उपाध्याय ब्राह्मण हुलासो सती के पंडा-पुजारी हैं। राजापुर (बांदा) स्थित तुलसी-मंदिर के पंडा भी उपाध्याय ही हैं, अस्तु यह साम्य विचारणीय है।

यहाँ के काकन राजपूत हुलासो सती को अपनी वंश-परम्परा का वताते हैं। किंतु आसपास के कुछ अन्य लोग उन्हें 'राजपुर' या 'रेपुरा' की ब्राह्मणी कहते हैं। ये दोनों गाँव हुलासो सती के स्थान से लगभग १–१ मील दूर नैऋत्य और वायव्य कोण में वसे हुए हैं। सती के स्थान की व्यवस्था करने के कारण ही काकन राजपूतों ने हुलासो सती को अपनी वंश-परम्परा का मान लिया है। हुलासो सती को रेपुरा या राजपुर की ब्राह्मणी कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त सती की निवासभूमि इन्हीं गाँवों में जो नामानुसार एक ही अर्थ के द्योतक हैं, कहीं रही होगी। यद्यपि इस समय ऐसा कोई ब्राह्मण परिवार इन गाँवों में विद्यमान नहीं है जो हुलसी सती को अपनी वंश-परंपरा का कहकर पूजता हो किंतु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि हुलासो सती राजपुर या रेपुरा की रहनेवाली न थीं क्योंकि काल-प्रवाह में अनेक

---

[1] खेत की उपज से किती देवी-देवता के निमित्त निकाले गए अंश को 'अगऊँ' कहते हैं।

वंश-परंपराओं का लोप तथा स्थान परिवर्तन होता रहता है।

हल्दी और परसिया के काकन राजपूतों के कथनानुसार उनके पूर्वपुरुष हल्दी राज्य के संस्थापक चंद्रज्योतिदेव के साथ रायरत्नपुर (मध्यप्रदेश) से आए थे, किंतु उन्हीं के भाई बन्धु अन्यत्र के काकन राजपूतों का उनकी वंश परम्परा में प्रचलित जनश्रुतियों और प्राप्त प्रमाणों के आधार पर दक्षिण भारत से आना सिद्ध नहीं है क्योंकि इनकी निवासभूमि और विकास पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार के कुछ भाग तक ही सीमित है जैसा कि गाजीपुर जिले के काकन जो वहुसंख्यक और अनेक गाँवों में बसे हुए हैं अपना आना 'अल्देमऊ' या 'मऊ' से बतलाते हैं और आजमगढ़ के काकन 'कपड़ी केदार' से[1]। सारन जिले में मघरी आदि गाँवों में बसे हुए काकन अपना आगमन देवरिया जिले से तथा वलिया जिले में महथापार आदि के काकन अपना आना सारन जिले से कहते हैं। काकन लोग अपनी परम्परा मौर्यभट्ट (मयूर भट्ट) से स्थापित करते हैं, जिससे उनका विसेन क्षत्रियों के साथ सगापन सिद्ध होता है।[2]

---

१. चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताव्दी में ही वत्सगोत्री और विसेन राजपूत पूरव से जाकर अवध के प्रतापगढ़, रायवरेली, सुल्तानपुर आदि जिलों में बस गए थे। इन्हीं की परंपरा में 'काकन' राजपूत भी हैं। 'अल्देमऊ' जिला सुल्तानपुर में है। यहाँ वत्सगोत्रीय (वच्छगोतिया) राजपूत हैं, जो 'राजकुमार' कहलाते हैं। वत्सगोत्रीय क्षत्रियों की परंपरा मौर्यभट्ट से चली है। इनका संवंध प्राचीन वत्सदेश से भी जोड़ा जा सकता है। जहाँ पर गौतमवुद्ध के समय में उदयन शासन करते थे और जिनकी राजधानी प्रयाग से पश्चिम यमुना-तट पर प्रसिद्ध 'कौशांवी' थी। वत्सगोत्री जग्गा सिंह ने सिकंदर लोदी के राजत्वकाल में उसका विरोध कर कन्नौज के सूवेदार को वंदी वना लिया तथा कड़ा (इलाहावाद) के सूवेदार को मार डाला। काठगाँव (रायवरेली) के युद्ध में सिकंदर ने इन्हें पराजित कर पूरव की ओर भगा दिया। अस्तु बछगोतिया और काकन राजपूत तितर- वितर होकर सुल्तानपुर, गाजीपुर, बलिया, आजमगढ़, शाहाबाद, सारन आदि जिलों में बस गए। जग्गा सिंह के साथ एक लाख सिपाही थे। शर्कीराज्य जौनपुर का इतिहास, आजमगढ़ का इतिहास, जाति-भास्कर पृ० २१७–१८ गाजीपुर संस्मरण।

२. श्री राजा खड्ग बहादुर मल्ल—विसेन वंशवाटिका
श्री राललग्न त्रिपाठी—सरवरिया व्राह्मणोत्पत्ति प्रदीप पृ० २९

मौर्य भट्ट देवरिया जिले के सोहनपुर नामक स्थान पर रहते थे और उन्होंने मैरडीह (बलिया) में यज्ञ किया था[1] अस्तु 'काकन' नाम की व्युत्पत्ति 'काकंद पुर' से करना युक्तियुक्त है, जो देवरिया जिले का एक प्राचीनतम स्थान है ।[2] काकन राजपूतों से संबंधित उपर्युक्त सभी स्थान पूर्वीय उत्तर प्रदेश में ही हैं, अतः काकन राजपूतों का दक्षिण से आना सिद्ध नहीं होता। किंतु जैसे हल्दीराज्य से संबंधित होने से भ्रमवंश हल्दी-परसिया के काकन अपना आगमन दक्षिण से बताते हैं, वैसे ही उनका हुलासो सती को अपनी वंश-परंपरा का बतलाना भी उक्त स्थान का संरक्षक होने के कारण भ्रमवश है। हुलासो सती के ब्राह्मणी होने की सिद्धि केवल इस बात से हो जाती है कि उनकी पूजा सभी जातियों के लोग करते हैं। अन्य जातियों की सतियाँ अपने ही परिवार या जाति द्वारा पूजित होती हैं। दूसरी बात यह है कि हल्दी के काकन राजपूतों की बस्ती अधिक से अधिक नौ-दस पीढ़ी की है परंतु हुलासो सती का स्थान इससे सैकड़ों वर्ष पुराना है। हल्दी राजवंश को हल्दी में आए लगभग पौने दो सौ वर्ष हुए[3] जबकि काकन राजपूत भी यहाँ आ बसे थे। इसके पूर्व इस गाँव का नाम 'डँवरा' था और यहाँ थोड़े से निम्नजाति के लोग निवास करते थे ।[4]

---

[1] इनकी निवासभूमि सोनभद्र के तट पर भी मानी जाती है।

[2] नोनखार स्टेशन का निकटवर्त्ती 'खुखुंदू' गाँव। यहाँ किसी जैनतीर्थंकर का स्थान है। पं० रामपूजन त्रिपाठी ने इस स्थान को इक्ष्वाकु वंशीय राजा 'ककुत्स्थ' की राजधानी माना है। (दे०—ककुत्स्थ चरित्र)

[3] हल्दी राजवंश के लोग एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे। वे क्रमशः बिहिया (आरा). गायघाट (आरा), गायघाट खेती (बलिया), माझी (सारन), ओइना (बलिया) में समयानुसार बसते हुए हल्दी में आए। शाहजहाँ द्वारा माफी से हटाए जाने पर ओइना में आए। यहाँ काशिराज बलवंत सिंह ने इनका राज्य छीनकर राजा भुवाल देव को बंदी बनाया किंतु राजा महीपनारायण (काशी) के समय में पुनः उक्त वंश को राज्य लौटा दिया गया। तब इस वंश के लोग भँड़सर में थोड़े दिन रहने के बाद हल्दी में जा बसे। महीपनारायण का राजत्वकाल सं० १८३९-५३ वि० है।

[4] दे०—कविवर 'सुजान' की डायरी जिसकी पांडुलिपि उन्हीं के वंशजों के पास हल्दी में है। हल्दी (हरदी) की व्युत्पत्ति हरितह्रद (गहराई के

हुलासो सती के स्थान से आधा मील दूर श्री बजरंगवली हनुमान जी का प्राचीन स्थान है, जिनके नाम पर निकट में बसे हुए गाँव का नाम बजरहा पड़ गया है। आजकल उक्त स्थान स्थानीय प्रारंभिक पाठशाला के प्रांगण में दक्षिण ओर है। यहाँ बजरंगवली की कोई मूर्ति नहीं है, केवल छोटा चबूतरा है, जिसपर कई एक महावीरी ध्वजाएँ फहरा रही हैं। इस स्थान की प्राचीनता केवल इसीसे प्रकट होती है कि इस स्थान को मालाकार घेरे हुए सैकड़ों वर्ष पुराने बहुत से विशाल अशोक-वृक्ष खड़े हैं। इस स्थान के दक्षिण एक ब्रह्म की वेदी (चौरा) है, जितका नाम सुखराम कुँवर बताया जाता है।

नंदपुर का नामकरण तुलसीदासजी के अन्यतम गुरुभाई नंददास के नाम पर किया गया प्रतीत होता है क्योंकि सीताकुण्ड, बजरहा (बजरंग ग्राम) और हाँस नगर का नामकरण उनके द्वारा किया जाना प्रसिद्ध है। आस-पास रामपुर, लख (न) पुर, शिवपुर, गोरहट (गुरुहाट) आदि गाँव हैं। संभव है इन गाँवों का नामकरण भी तुलसीदास का यहाँ पर आगमन होने पर किया गया हो। तुलसीदास जी का यहाँ पर आना और स्थानों का नामकरण करना उनका इस स्थान तथा हुलासो सती से सम्बन्ध होना सिद्ध करता है। यह संबंध अवश्य जन्मस्थान एवं माता-पुत्र का ही संबंध है।

अबतक प्रायः यही माना जाता रहा है कि गोस्वामीजी का जन्म अभुक्त-मूल में होने के कारण माता प्रसव-काल में ही काल-कवलित हो गईं और अनिष्ट की आशंका से पिता ने पुत्र को अन्यत्र भेज दिया; यद्यपि पं० रामनरेश त्रिपाठी, डा० माताप्रसाद गुप्त, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य चन्द्रवली पांडेय जैसे कई सुधी लेखकों ने अभुक्तमूल वाली जनश्रुति पर संदेह ही प्रकट किया और उसे निर्मूल ही माना किन्तु जनसाधारण में प्रसिद्धि तो अभुक्तमूल के ही पक्ष में रही है।

पति का शरीरांत होने पर ही कोई स्त्री सती होती है अतः इस विषय में संदेह का कोई कारण ही नहीं है कि पहले गोस्वामीजी के पिता का ही निधन हुआ था, तत्पश्चात् उनकी माता सती हुई थीं। ऐसी दशा में उनके प्रसव-पीड़ा से मरने की बात गलत सिद्ध होती है तथा अभुक्तमूल वाली जन-श्रुति भी निराधार हो जाती है। गोस्वामीजी के इस कथन द्वारा कि 'मात-पिता जग जाइ तज्यो' और 'तज्यो माता-पिताहू' से तो यही प्रकट होता है

कारण नीले रंग का दिखाई देनेवाला जलकुंड) से हुई है। हरदी या हरदिया नाम वाले गाँव बलिया जिले में तथा अत्यत्र भी अनेक हैं।

कि गोस्वामीजी के जन्मकाल में उनके माता-पिता ऐसी संकटपूर्ण विषम परिस्थिति में थे कि उन्हें विवश होकर जातक पुत्ररत्न को अपने से अलग करना पड़ा। यह कार्य अवश्य ही शिशु-रक्षा की दृष्टि से किया गया होगा।

यदि पिता की मृत्यु किसी बीमारी से अथवा किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण हुई होती तो उसके पूर्व नवजात शिशु के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। शिशु को अपने से दूर किसी सुरक्षित स्थान पर हटाने का प्रश्न तभी उपस्थित हो सकता है जब माता-पिता प्रबल शत्रुओं से आक्रांत हों अथवा निकट भविष्य में शत्रु-जनित घोर संकट उपस्थित होने वाला हो अथवा युद्ध की आशंका हो। बात ऐसी ही ज्ञात होती है। नवजात शिशु जन्म लेते ही कहीं दूर भेज दिया गया। पिता की युद्ध में मृत्यु हुई। माता अपने बचने का कोई चारा न देख अथवा धर्म-भावना से सती हो गईं। यह बात मान लेने पर[1] स्वतः सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास के पिता जमींदार और कुलीन वंश के ब्राह्मण थे, जिनका पड़ोसी शत्रु राजाओं अथवा तत्कालीन 'राज्य' या 'राज-समाज' से युद्ध चल रहा था और इस युद्ध में वे वीरगति को प्राप्त हुए थे क्योंकि उन दिनों जमींदार और जमींदार ब्राह्मण ही युद्ध में प्रवृत्त होते थे किन्तु यदि वे साधारण कोटि के सिपाही होते तो शिशु को रक्षार्थ अन्यत्र भेजने की आवश्यकता न होती।

दूसरा स्मारक काँट ब्रह्मपुर (आरा) का है। यहाँ से लगभग एक मील पर राजापुर है, जहाँ पुराना 'तुलसी चौरा' और 'तुलसी कुंड' नामक स्थान हैं। श्री शिवनंदन सहाय ने उक्त तुलसी चौरे के विषय में लिखा है—'उस चबूतरे पर लोगों का इतना विश्वास है कि अनावृष्टि के समय सब नगर-निवासी मिलकर वहाँ हवन तथा ब्राह्मण-भोजन कराते हैं और वृष्टि भी शीघ्र हो जाती है। उस स्थान के शरणापन्न होने से लोगों की सब मनसाएँ सफल होती हैं।'[2] इन स्मारकों की व्यवस्था के लिए पुराने समय से माफी लगी हुई है तथा रघुनाथपुर (आरा) के बाजार से चुंगी ली जाती है। यहाँ से ४-५ मील पश्चिम ओर गंगा के दियारे में और १०-१२ मील उत्तर सरयू के दियारे में 'तुलसी छपरा' नामक स्थान है।

---

[1] आचार्य चन्द्रबली जी भी कुछ ऐसा ही अनुभव करते हैं (दे० तुलसी की जीवन भूमि)।

[2] बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित 'गो० तुलसीदास' पृ० ९९

कहा जाता है कि तुलसीदास ने आरा, बलिया और सारन की यात्रा की थी तथा कई स्थानों के नामकरण किए थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'तुलसी ग्रंथावली' और श्री रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'रामचरित मानस की' भूमिका द्वारा विदित होता है कि गोस्वामीजी भृगुआश्रम, हाँसनगर, परसिया, काँत-ब्रह्मपुर बेलापपौत (वर्तमान रघुनाथपुर) और कैथी की यात्रा कर पुरुषोत्तमपुरी गए और वहाँ से फिर काशी लौटे। उन्होंने गायघाट के गंभीरदेव का आतिथ्य स्वीकार किया और बेलापतौत का नाम बदल कर रघुनाथपुर रखा।

उपर्युक्त यात्राक्रम वस्तुतः इस प्रकार रहा होगा—पहले गोस्वामीजी बगसर गए होंगे और आश्विन की आमावस्या को रामरेखाघाट पर स्नान किया होगा, फिर वहाँ से काँत-ब्रह्मपुर गए होंगे। बगसर और कांत-ब्रह्मपुर के बीच में तुलसीपुर नामक जो स्थान है, संभवतः इसका नामकरण तुलसीदास की स्मृति में किया गया होगा। यहाँ से वे सिनहा (गंगा-सरयू की संगम-भूमि) गए होंगे और फिर गंगा पार कर वर्तमान बलिया जिले में तथा कार्तिकपूर्णिमा के अवसर पर भृगुआश्रम (बलिया) पहुँचे होंगे। सिनहा में रामावत संप्रदाय का मठ और तुलसी छपरा नामक स्थान गोस्वामीजी के ही स्मारक हैं। भृगुआश्रम से उनका पुरुषोत्तमपुरी[1] जाना अधिक संगत है। यह स्थान भृगु-आश्रम से २४ मील उत्तर-पश्चिम, सरयूतट के पास बहुत पुराना है। यहाँ जलपा[2] (ब्राह्मणी), कालपा (दुसाध कहे जाते हैं) और भीरनपा (शूद्र) सिद्ध के स्थान, चतुर्मख तालाव[3] पर पुरुषोत्तम भगवान् का मंदिर तथा पुराने किले में 'ठाकुरद्वारा' है। संभवतः 'चक परखोतम' और 'परसोतम पट्टी' नामक गाँव पुरुषोत्तम मंदिर के व्यय-हेतु ही दिए गए थे। यहाँ रथयात्रा का मेला भी लगता है। इससे ज्ञात होता है कि यह स्थान सौतांत्रिक सिद्धों का केन्द्र था। आजकल इस स्थान को सिकन्दरपुर कहते हैं। बाबर और पठानों

---

१. देखिए—चतुर्मुख सं० २०२० अंक १, पृ० ५८-६१

२. जलपा के स्थान काशी और अयोध्या में भी हैं। जलपा सती का एक स्थान पैकवली (देवरिया) से थोड़ी दूर पश्चिम ओर है (दे० श्री रामकोमल साही कृत श्री पौहारी चरित तथा देवरिया जनपद का इतिहास पृ० ४५

३. इस तालाव का निर्माण सम्राट् गोविन्दचन्द्र के पिता मदनपाल ने कराया था।

के वीच घाघरा का प्रसिद्ध युद्ध यहाँ से निकट ही सरयू के दूसरे पार हुआ था। बाब्रर यहाँ आया था। इतिहासज्ञ कहते हैं कि उसने 'तुजक वावरी' में यहाँ के तालाव, मंदिर और मेले की चर्चा की है।

तुलसी-काल में सिकन्दरपुर में 'तटिहा ब्राह्मणों' का राज्य था। यह वंश कान्यकुब्ज-ब्राह्मणवंशावली में वर्णित मदारपुर (कन्नौज) की भूमिहार-वंश-परंपरा में था।[1] इस वंश के लोगों ने धर्म, संस्कृति और स्वत्व की रक्षा के लिए शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी, सिकंदर लोदी और बाबर से समयानुसार जम कर लोहा लिया था एवं धर्म की टेक के लिए प्रसिद्ध थे। यथा—

साके सिकंदरपुर में तटिहा निबाहैं टेक। —(बाईसी)[2]

धर्म और संस्कृति की रक्षक इसी वंश-परंपरा में तुलसीदास से थोड़े दिनों पहले राजा कनकराज देव हुए थे, जिन्होंने वाल्मीकि रामायण की टीका की और जिनके द्वारा जलाई हुई वाराह क्षेत्र (नैपाल) में आज तक 'राम धूनी' जल रही है।[3] अस्तु इस वंश-परंपरा से तुलसीदास का संपर्क असंभव नहीं प्रतीत होता। सिकन्दरपुर का एक भाग 'तरसरा' कहलाता है।[4] यह नाम तुलसीपुरा से बना हुआ है, यथा—तुलसीपुरा > तुलसउरा > तुलसरा > तलसरा > तरसरा। इससे भी उनके सिकन्दरपुर जाने की पुष्टि होती है।[5]

तुलसीदास जी ने लंका से सीताजी का समाचार लेकर श्री हनुमान जी के लौटने पर सागर-तटस्थ वंदर-समाज की प्रसन्नता का चित्रण इस प्रकार किया है—

---

[1] मदारादि पुराख्यस्य भुँइहारा द्विजास्तु ये।
—पं० मुकुन्दराम कृत कान्यकुब्ज-वंशावली ८।१०

[2] बाईसी किसी भाट की रचना है, जिसमें मुगलकालीन इलाहाबाद के २२ राज्यों का २२ दोहों में संक्षिप्त वर्णन है।

[3] चतुर्मुख सं० २०२१ श्रावण पृ० २८-४७

[4] सं० १८३५ वि० के लगभग लिलकर के बाबू डोमन राय के नामानुसार तरसरा का नाम डोमनपुरा पड़ गया।

[5] उक्त सिद्ध भूमि के निकट नरहनी (नरहरि-अवनि) नामक स्थान होने से इस बात की संभावना की जा सकती है कि कभी यहाँ तुलसीदास के गुरु नरहरिदास का भी आगमन हुआ होगा।

आयो हनुमान प्रानहेतु अंकमाल देत,
लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं।
एक बूझैं बारबार सीय समाचार कहैं
पवनकुमार भो बिगत-स्रमसूल हैं॥
एक भूखे जानि, आगें आने कंदमूलफल,
एक पूजैं बाहु बलमूल तोरि फूल हैं।
एक कहैं तुलसी सकल सिधि ताकें जाके,
कृपापाथ नाथ सीतानाथ सानुकूल हैं॥ क० सु० ३०

तुलसीदास जी के जन्म से ५४ वर्ष पूर्व सं० १५४६ वि० (हि० सन् ८९४) में पूर्वीय प्रदेश के हिंदुओं को एक ऐसाही दृश्य देखने का अवसर मिला था, जबकि पूर्वीय प्रदेश के राजाओं के अगुआ कंसो-पटना के राजा कर्णदेव (राकड़देव) ने सिकंदर लोदी से तीन दिनों तक युद्ध कर उसके अत्याचार से पीड़ित पूर्वीय-प्रदेश की प्रजा एवं हिन्दू धर्म की रक्षा की थी।[1] इस युद्ध के पश्चात् एक संधि के अनुसार सिकंदर लोदी ने राजाओं की शासन-व्यवस्था में टाँग अड़ाना और हिंदू जनता के धार्मिक कामों में हस्तक्षेप करना छोड़ दिया था। इस संधि के वाद हिंदुओं के मंदिर और देवस्थान कहीं भी भ्रष्ट नहीं किए गए एवं पुरुषोत्तमपुरी (वर्तमान सिकंदरपुर) में भी सिकंदर लोदी द्वारा निर्मित दुर्ग के भीतर जालपा-कालपा के स्थान तथा ठाकुरद्वारा (भगवान् पुरुषोत्तम का मंदिर) ज्यों के त्यों सुरक्षित वने रहे। इस विजय से प्रसन्न होकर हिंदू राजाओं और धर्माचार्यों ने राजा कर्णदेव को 'तस्टिहा[2]

---

१. यह युद्ध वर्तमान आजमगढ़ के निकट कहीं हुआ था।

२. 'तस्टिहा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ है—'धर्म और समाज के ध्वंसक अत्याचारियों का नाश करने वाला।' काशी के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी लक्ष्मणाचार्य जी ने 'तस्टिहा' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

'तक्ष् धातोः 'क्त' प्रत्यये कृते (करने से) तस्ट शब्दः निष्पन्नः। तक्षणमेव तस्तमिति भावे 'क्त' प्रत्ययः (स्को संयोगाद्योरंते च) इति आद्यस्य ककारस्य लोपें (निमित्तापाये नैमितिकरस्याप्यपाय इति नियमात्) षकारस्यापि सकारः, तकारस्य टकारः पृषोदरत्वात्। तस्टमस्ति यस्येति विग्रहे—अत इनिठनौ इति इन् प्रत्ययः तस्टी इति। छेदन कर्त्ता। तस्टिनं हंति इति निग्रहे—हन्धातोः क्विपकृते तस्टिहा इति शब्दस्य साधुत्वम्। छेदन कर्त्तुं हन्ता इति।'

की उपाधि से भूषित किया[1] और उनकी बाहों की पूजा की[2] यथा—

रन ठट्ट के ठट्ट पहाड़ भयो, उहवाँ घमसान जो खेत मचायो।
विधना के चरित्र को कौन लखै, जयपत्र जमाल नछत्र चढ़ायो।
हरखे देवता मुनि सिद्ध सबै, सो भुजाबल से 'तटिहा' पद पायो।
कनसो अस छाप कर्नराज कियो, सब देस नरेस से बाँह पुजायो।।

तुलसी काल में इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक-घटना की चर्चा अवश्य होती होगी और तुलसीदास जी भी उससे परिचित रहे होंगे। उन्होंने ऊपर के पद्य में श्री हनुमान जी की बाँह पूजे जाने का जो चित्र अंकित किया है, उसकी पृष्ठ-भूमि राजा कर्ण की 'बाहु-पूजा' किए जाने में स्पष्ट लक्षित होती है। राजा कर्ण की विजय का तुलसीदास जी के मन पर जो प्रभाव पड़ा होगा, वह अवश्य तुलसीदास जी को उजड़े हुए 'कंसोपटना' और पुरुषोत्तमपुरी (सिकंदर पुर) की ओर खींच ले गया होगा, जबकि उक्त स्थान उनकी जन्मभूमि और गुरुभूमि (सूकर-क्षेत्र) से अधिक दूर नहीं है।

सिकंदरपुर प्राचीनकाल से साधु-महात्माओं की केन्द्रभूमि रहा है। तुलसीकाल में यहाँ सरयू-तट पर प्रसिद्ध महात्मा गंगाधर दीक्षित तप करते थे। कहते हैं कि इनकी धोती बिना किसी आधार के आकाश में सूखती थी। इनकी यज्ञभूमि जजौली (यज्ञौली) के नाम से प्रसिद्ध है। इनके वंश के लोग 'नोनहुल' में रहते थे। हिंदी के प्रसिद्ध कवि 'सेनापति' इन्हीं के पुत्र बतलाए

---

[1] विजय के उपलक्ष्य में राजा कर्णदेव ने कन्नौज के निकट 'तस्टिहाऋषिपुर' और कंसो पटना (बलिया) के निकट 'तस्टिहा-विलास पुर' नामक गढ़ बनवाए तथा वर्तमान, किरहिड़ा पुर (बलिया) के निकट यज्ञ किया। यह स्थान जजौली (यज्ञौली) के नाम से प्रसिद्ध है। तस्टिहा ऋषिपुर को आजकल 'ठटिया' (फर्रुखाबाद) एवं 'तस्टिहा-विलासपुर को 'ताड़ी-बड़ा गाँव (बलिया) कहते हैं। इनके भाई कमल मुनि कानपुर जिले के मदारपुर (वर्तमान मकनपुर) में राज्य करते थे सं० १५८४ वि० में ये दोनों भाई और कर्णदेव के पौत्र भावदेव मदारपुर में बाबर की सेना से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। इस युद्ध में मदारपुर के पुरातन ब्राह्मण-राज्य का सदा के लिए ध्वंस हो गया—

—'चतुर्मुख' सं० २०२१ अंक ४ पृ० ३७-४६

[2] भरराजा दशरथ, तीर्थराय रघुवंशी आदि राजाओं ने पूजन किया था—यथा—'तीर्थराय रघुवंशी अरु दसरत्थ समेत' (त० वं०)

जाते हैं अस्तु इन विशिष्ट महात्मा और इनकी वंश-परंपरा से भी तुलसीदास का संपर्क अवश्य रहा होगा।

नोनहुलिया ब्राह्मणों की वंशावली के अनुसार गंगाधर दीक्षित के ६ पुत्र हरवंस दीक्षित, सरिवंस (श्री वंश) दीक्षित, भगवान दीक्षित, ज्योतिष दीक्षित, झोंटिल दीक्षित और भुंडी दीक्षित थे। इनमें 'झोंटिल दीक्षित' ही 'सेनापति' वताए जाते हैं सेनापति ने 'कवित्त-रत्नाकर' में अपने पिता, पितामह और शिक्षागुरु की विशेषताओं के साथ उनके नामों का उल्लेख किया है। नोनहहुलिया ब्राह्मणों की वंशावली में भी उसी क्रम से इनके पिता और पितामह के नाम मिलते हैं एवं विशेषताएँ भी उसी प्रकार भी कही गई हैं। 'सेनापति' ने अपने पितामह द्वारा किसी प्रसिद्ध यज्ञ के पूरा करने की वात लिखी है, यथा—

दीक्षित परशुराम दादौ है विदित नाम,
जिन कीनी यज्ञ जाकी जग में बड़ाई है।

इस कथन से प्रकट है कि परशुराम दीक्षित अपने समय के प्रसिद्ध पुरुष थे। उनकी यज्ञभूमि वरनाग ताल के तटपर भरथाँव नामक स्थान पर है। यहाँ खोदने से आज भी यज्ञ की राख मिलती है। उक्त यज्ञ के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—

परशुराम पुर बास करि थाप कीन्ह भरथाँव।
होम-जाप पूरन भयो, धर्‌यो जजौली नाँव॥

सेनापति के पिता गंगाधर दीक्षित का तपस्वी होना प्रसिद्ध है। स्वयं सेनापति ने भी उन्हें भगवान् शंकर के समान वतलाया है। जनश्रुति के अनुसार मझौली के राजा भीममल्ल ने सदंपति एक वर्ष तक इनकी तपोभूमि में रहकर इनकी सेवा की और इनकी कृपा से पुत्रवान हुए थे। राजा की उक्त निवासभूमि 'भीमहर' के नाम से प्रसिद्ध है। लोगों की भीड़भाड़ तथा भीममल्ल के अधिक सेवा में रहने के कारण गंगाधर दीक्षित सरयूतट छोड़ गंगातट पर चले गए।[1] वहाँ इनकी तपोभूमि मँधई छोटी सरयू और गंगा के

---

[1] कहते हैं कि एक दिन भीममल्ल ने महात्मा गंगाधर दीक्षित की सेवा में उपस्थित होकर कुछ भेंट देने की इच्छा प्रकट की यथा—

कह्यो नरेस जो आज्ञा पाऊँ। देस कोस कुछ चरन चढ़ाऊँ॥
एक दिवस नृप आश्रम आए। करि प्रनाम पूजा मन भाए॥

संगम पर 'गंगहरा नाम से प्रसिद्ध है ।[1] गंगहरा शब्द 'गंगाधर धारा' का अपभ्रंश है । इस वंश के पुरुषों के नामपर सिकंदरपुर के पश्चिमी क्षेत्र में जिधर इन लोगों की निवास भूमि थी, वहुत से गाँवों के नामकरण हुए हैं, जैसे—परशुरामपुर, परसूपुर, परसिया, हरपुर, हरसर, सरनी, सरियाँव, भगवानपुर (डंकीन गंज) आदि ।

सेनापति के विद्यागुरु का नाम 'हीरामनि दीक्षित' था, जिनके विषय में वे लिखते हैं—

महा जान मनि विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित ने पाई पंडिताई है ।

इनके विषय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने वहेरा नदी के तट पर वर्तमान वाछापार[2] नामक स्थान पर एक वहुत वड़ा यज्ञ किया था, जिसमें सवा सौ मन तिल की आहुति दी गई थी । ये पहले मैरडीह पर रहते थे । वहाँ एक पोखरा 'हीरा साधु का पोखरा' नाम से प्रसिद्ध है दूसरा पोखरा सिकंदरपुर में 'हीराम्दी' या हीरांदी[3] नाम से प्रसिद्ध है।

जनश्रुति के अनुसार सेनापति के पूर्वज गंगाधर दीक्षित (प्रथम) को राजा वनार से हल्दी नाला (कोइली मुहान के ताल) से मनियर तक का विशाल क्षेत्र प्राप्त हुआ था । इनकी भूमि के विस्तार के संवंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

पूरव मनियर कोट लौं, दखिन वहेरा तीर ।
पच्छिम हरदी नारा, उत्तर सरजू नीर ।।

संभव है, ये गंगाधर दीक्षित सुप्रसिद्ध चंदेल राजा कीर्त्तिवर्मा के मंत्री ही गंगाधर दीक्षित रहे हों क्योंकि इस राजा का राज्य विहार तक फैला

गंगाधर दीक्षित को यह वात अच्छी न लगी और सरयूतट छोड़ गंगातट पर चले गए ।

१. गंगाधर दीक्षित के समय में गंगनरा के निकट ही छोटी सरयू गंगा से मिलती थी ।

२. 'वाछापार' वाचापार का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है 'वाणी का स्थान' या 'वाणी की सीमा ।' संभव है यह नाम उक्त स्थान पर हीरामनि दीक्षित के निवास के कारण पड़ गया हो, जो महान विद्वान थे ।

३. 'हीरांदी' हीरामनि दह का अपभ्रंश है यथा—हीरान्दह, हीरान्दी ।

हुआ था और यह विद्वानों एवं ब्राह्मणों का उदार आश्रयदाता था। इसका एक ताम्रपत्र मिला है। प्रवोध चंद्रोदय नाटक के रचियता श्री कृष्ण मिश्र इसी राजा के आश्रय में रहते थे, जिनके वंशज महाराजा बनारस और काशिवार के गौतम ब्राह्मण हैं। जनश्रुति के अनुसार इन्हें भी राजा बनार ने तेंतरिया[1] ग्राम का आग्रहार दिया था।

गंगाधर दीक्षित[2] की वंशपरंपरा के ब्राह्मण वर्तमान कानपुर जिले में नोन्ह नदी के आस पास गोगोमऊ से बिठूर तक निवास करते थे। मुसल्मानी आक्रमणों से विवश होकर इन लोगों ने कड़ा मानिकपुर (इलाहाबाद) में निवास किया, जहाँ इनकी अग्रहार प्राप्त भूमि थी, परंतु कुछ दिनों बाद यहाँ से भी इन्हें हटना पड़ा और ये लोग वर्तमान वलिया जिले में सिकंदरपुर के पास आकर बस गये। यहाँ भी इनकी भूमि थी। इन्होंने सर्वप्रथम जिस स्थान पर निवास किया, वह स्थान 'नोन्हकूल (नोनहुल)' नाम से प्रसिद्ध हुआ। नोन्ह-नदी (कानपुर) से आने के कारण ये लोग 'नोन्ह कूलीय कहलाए। इसी का अपभ्रंश 'नोन्ह उलिया' है। इस वंश-परंपरा में वलवान और वेदज्ञ दोनों प्रकार के पुरुष होते थे यथा—

कोउ वलवंत कोउ श्रुतिधारा।

सेनापति के कथन से भी प्रकट होता है कि उनका जन्म सामंत (जमींदार) ब्राह्मण परंपरा में हुआ था और वे मुगल दरवार में किसी ऊँचे पद पर नियुक्त थे, जैसा कि वैराग्य का उद्बोधन होने पर वे कहते हैं—

चारि बरदानि तजि पायकमलेछन के,
पायक मलेछन के काहे को कहाइए।

इनके कथन से यह भी स्पष्ट है कि इनके पूर्वज और इनके परिवार के लोग बड़े प्रभावशाली, सुसंपन्न, विद्वान् और कर्मकांडी थे। इनकी रचनाओं से स्वयं इनकी विद्वत्ता झलकती है और 'सेनापति' उपनाम से इनका मुगलकालीन सेनापति होना प्रकट होता है। इनके घरवार छोड़ विरक्त होने के संबंध में निम्नांकित जनश्रुति प्रसिद्ध है—

'कंसोपटना (वलिया) के राजा गकड़देव (जिन्होंने सिकन्दर लोदी

---

[1] तेतरिया (तेतर गाँव) का अर्थ 'वैदिक ब्राह्मणों का गाँव' है। राजा लोग वैदिक ब्राह्मणों को ही अग्रहार देते थे।

[2] श्री डा० संपूर्णानन्दकृत 'चेतसिंह और काशी का विद्रोह पृ० १-२

से युद्ध किया था) के भाई कमलमुनि कन्नौज के निकट मदारपुर (मकनपुर) में बाबर से युद्ध करते हुए सं० १५८४ वि० में वीरगति को प्राप्त हुए और उनके साथ उनके भतीजा भावसिंह देव भी।[1] भावसिंह देव की गर्भवती पत्नी से नारायणदेव[2] का जन्म हुआ। बड़ा होने पर इन्होंने नारायणपुर नामक ग्राम बसाया। जनश्रुति के अनुसार इनके परिवार के लोगों को नारायणदेव ने उनके गढ़ मैरडीह से निकाल दिया। सेनापति का परिवार नारायणदेव का नातेदार था, इसलिए सेनापति नारायणदेव को समझाने-बुझाने तथा आपसी झगड़ा मिटाने के उद्देश्य से नारायणपुर गए, परन्तु दुर्भाग्यवश नारायणदेव ने उनकी बातों पर कान न दिया। वहाँ सेनापति को शर्बत में विष दे दिया गया। भगवद्भक्ति के प्रभाव से वे बच तो गए परन्तु उन्हें संसार से बड़ी घृणा हुई। उन्होंने नारायणपुर के विध्वंस होने का शाप दिया। उनका शाप लगभग पचास वर्ष बाद पूरा हुआ और नारायणपुर में पारिवारिक कलह के व्याज से ऐसी हृदय-द्रावक मारकाट हुई कि नारायणपुर सदा के लिए उजड़ गया।

कहा जाता है कि बनारस के राजा बरिबंड सिंह अपनी पुत्री का विवाह नारायणपुर के जमींदार किशोर राय के यहाँ करना चाहते थे किन्तु किशोर राय के बंधु-बांधव इसका विरोध करते थे। गजसिंह राय जो उनके दायाद थे और लिलकर में रहते थे, राजा बरिबंड सिंह के यहाँ विवाह संबंध करने के पक्ष में न थे। दुर्भाग्य से कहा सुनी में मार-काट हो गई और बरिबंड सिंह की आशा पूरी न हुई।[3] इस मारकट में किशोर देव के वंश की दो गर्भवती स्त्रियाँ बच गईं। एक के वंशज नरही के पास सेंदुरिया (बलिया) में हैं तथा दूसरे के गर्भ से परशुराम राय हुए जिनके वंशज मुर्तजीपुर (गाजीपुर) में हैं।

इस मारकाट के थोड़े दिन बाद गजसिंह राय की बढ़ती हुई शक्ति से

---

[1] मकनपुर (कानपुर) के निकट भदौसी के पास जहाँ कमलमुनि और भानदेव वीरगति को प्राप्त हुए थे, चौरे बने हुए हैं, जो कौला बाबा और भावसिंह बाबा के चौरे के नाम से प्रसिद्ध हैं।

[2] नारायणदेव एक कवि थे। इन्हें 'रैयाराय' की उपाधि मिली थी।

[3] इस लड़की (पद्मकुँवरि) का ब्याह नरहन राजा (दरभंगा) के दुर्गविजय सिंह से हुआ। इन्हीं के लड़के महीप नारायण सिंह चेतसिंह के बाद बनारस राज्य के उत्तराधिकारी हुए।

भयभीत होकर सफदरजंग और सलाबत खाँ बख्शी ने लिलकर पर रात्रिकालीन आक्रमण किया और वहाँ के गढ़ को जला डाला। कालांतर में राजा वरिबंड सिंह ने लिलकर के जमींदार अजब सिंह राय से सिकन्दरपुर परगना छीन लिया और वहाँ अपना अधिकारी मुजफ्फर खाँ को नियुक्त कर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भूमि का पट्टा दिया। इसी समय मऊरँनी के चीता राय को ५२ गाँव का पट्टा दिया गया था जिनके वंशज हुसेनपुर, इसार, हड़सर, आदि गाँवों के राजपूत हैं।

इस विवरण से 'सेनापति' के 'अनूप शहर' में जन्म लेने के मत का खंडन हो जाता है, जिसका अनुमान उनके निम्नांकित कथन के आधार पर किया गया है तथा जिसका उल्लेख श्री शुक्ल जी ने भी किया है।

गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगा तीर बसति अनूप जिन पाई है।

वस्तुतः 'अनूप' बसति का विशेषण है। किसी स्थान का वाचक नहीं है। जब 'अनूप शहर' को जहाँगीर के एक सेनाधिकारी 'अनूप सिंह' ने बसाया, जैसा कि प्रसिद्ध है,[1] तो सेनापति की जन्मभूमि उक्त नगर को बताना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि सेनापति का जन्मकाल श्री शुक्ल ने सं० १६४६ वि० के लगभग माना है, जब कि जहाँगीर के राज्यारोहण का समय उसके १६ वर्ष बाद सं० १६६२ वि० है, जिसके बाद ही 'अनूप शहर' बसा होगा। क्योंकि जहाँगीर का कृपापात्र होने के पश्चात् ही अनूप सिंह एक साधारण सिपाही से बढ़कर ऊँचे पद को प्राप्त हुए थे।[2] 'अनूप' ऐसी जलीय-भूमि को कहते हैं, जहाँ जलाशयों तथा जलधाराओं की अधिकता और हरियाली होती है, यथा— 'जलप्राय अनूपं स्यात्' (अमर कोश २।१।१०) अतः सेनापति द्वारा प्रयुक्त 'अनूप' शब्द का उक्त अर्थ करना ही उचित है क्योंकि बलिया जिले में गंगातट

---

[1] अनूप शहर—यह बुलंद शहर में एक कसबा है। दिल्ली से ७५ मील पूर्व-दक्षिण की तरफ गंगाजी के पश्चिमी किनारे पर बसा है। इसकी बुनियाद राजा अनूप राय ने जहाँगीर के समय में डाली थी।

[2] एक बार अनूप सिंह नाम के एक सिपाही ने आखेटकाल में बड़े साहस के साथ एक क्रुद्ध सिंह को तलवार के घाट उतार कर जहाँगीर को मृत्युमुख से बचा लिया था। जिससे प्रसन्न होकर जहाँगीर ने उन्हें 'अनीराय' और 'राजा' की उपाधि दी तथा सेनापति बना दिया।

की भूमि प्रायः 'अनूप' ही कही जा सकती है। विशेष कर गड्डा परगने के उस स्थान की जहाँ गंगा, मघई और छोटी सरयू (टोंस) इन तीन धाराओं का मिलन होता है। ऐसे ही स्थान पर गंगाधर दीक्षित की तपोभूमि गंगहरा (गंगाधर धरा) है। सेनापति ने इसी स्थान के लिए 'अनूप बसति' का प्रयोग किया है। यह वस्ती गंगाधर दीक्षित जैसे तपस्वी की तपोभूमि होने से भी तो 'अनूप' थी। 'पाई हैं' कहने से विदित होता है कि उक्त भूमि गंगाधर दीक्षित की परंपरागत भूमि न थी वरंच निवास हेतु उन्हीं को प्राप्त हुई थी। अतः गंगहरा अथवा गंगातटवर्ती किसी भी स्थान को 'सेनापति' की जन्मभूमि मानना उचित नहीं है। उनकी जन्मभूमि 'नोन्हउल' के नाम से प्रसिद्ध है, जो सिकंदरपुर से ३ मील अंतर पर नैऋत्य-कोण में है।

कविवर सेनापति में जो दृढ़ वैराग्य और रामभक्ति की अनन्य भावना पाई जाती है, उस पर अवश्य तुलसीदास की गहरी छाप है। तुलसीदास के निधन-काल में सेनापति की आयु लगभग ३४ वर्ष की थी, अस्तु इसमें संदेह नहीं कि सेनापति अपने समय के सर्वश्रेष्ठ रामभक्त समाजसुधारक और कवि के संपर्क में न गए हों।

सोरों-सामग्री :

कुछ लोग गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि सोरों (एटा) मानने के पक्ष में हैं और इसके लिए गत सं० १९९५ वि० से एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। इन लोगों ने अपने पक्ष के समर्थन के लिए तद्विषयक बहुत सी सामग्री भी जुटा ली है, यही सामग्री 'सोरों-सामग्री' के नाम से प्रसिद्ध हो गई है जो इस प्रकार है—

(१) मानस के बालकांड की एक प्रति, जो संवत् १६४३ की लिखी कही जाती है।
(२) मानस के अरण्यकांड की एक प्रति जो आषाढ़ शुक्ल ४ सं० १६४३ की लिखी कही जाती है।
(३) कृष्णदास रचित 'सूकर क्षेत्र महात्म्य भाषा' की एक प्रति, रचना-काल सं० १६७० बताया गया है।
(४) मुरलीधर चतुर्वेदी रचित छप्पय।
(५) कृष्णदास रचित 'कृष्णदास-वंसावली'।
(६) मुरलीधर चतुर्वेदी रचित 'रतनावली की एक प्रति, जिसका रचना काल सं० १८२९ बताया' है।

(७) रत्नावली दोहा संग्रह की दो प्रतियाँ।

(८) दोहा रत्नावली की एक प्रति।

(९) सोरों में तुलसीदास के स्थान का अवशेष।

(१०) तुलसीदास के भाई नंददासजी के उत्तराधिकारी।

(११) सोरों में स्थित नरसिंह का मंदिर।

(१२) सोरों में नरसिंह चौधरी के उत्तराधिकारी।

(१३) बदरिया में तुलसीदास की ससुराल।

(१४) सूकरक्षेत्र-महात्म्य भाषा की एक प्रति जो सं० १८०८ की वताई जाती है।

(१५) रतनावली की एक प्रति, जिसके साथ मुरलीधर चतुर्वेदी के छप्पय और कृष्णदास-वंसावली भी है और जो स्वतः मुरलीधर चतुर्वेदी द्वारा सं० १८२९ की लिखी वताई जाती है।

(१६) दोहा रत्नावली की एक प्रति जो सं० १८२४ की लिखी वताई जाती है।

(१७) नंददास कृत भ्रमरगीत की एक प्रति जो सं० १६७२ की वताई जाती है।

(१८) सं० १६५७ में रचित कृष्णदास के वर्षफल की एक प्रति जो सं० १८७२ मार्ग शीर्ष कृ० ३ गुरुवार की बताई जाती है।

(१९) प्रियादास की टीका पर किन्हीं सेवादास की टीका की एक प्रति जो सं० १८९४ की वताई जाती है।

(२०) श्री गुसाइंजी के सेवक चारि अष्टछापी तिनकी वार्ता की एक प्रति जो सं० १६९७ चैत्र शु० ५ की वताई जाती है।

(२१) अविनाश राय रचित 'तुलसी-प्रकास' के कुछ अंश जिसकी रचना-तिथि उक्त रचना के अनुसार ही शक सं० १५४२ (विक्रम सं० १६७७) पौष कृष्ण ३ शुक्रवार बताई जाती है।

आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं कि 'अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्मस्थान सिद्ध करने के लिए तैयार किए गए। सारे उपद्रव की जड़ है 'सूकर खेत' जो भ्रम से 'सोरों' समझ लिया गया (हिं० सा० इ० पृ० १२९)।

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को सोरों-समाग्री में आधुनिकता की झलक मिलती है। वे लिखते हैं कि 'रत्नावली' की दोहावली को डायरी की भाँति संवतों से संबंलित और श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर द्वारा चालित शब्दों से जटित पाकर किसी को जालजंजाल की

झाँकी मिलती है।[१] उन्होंने सोरों-सामग्री को भ्रष्ट सामग्री कहा है। लिखते हैं कि सोरों के प्रति आग्रह करनेवालों ने सोरों सामग्री जुटाई है। उस सामग्री की वास्तविकता का खंडन मैंने दिल्ली में भारतीय हिन्दी परिषद् के साथ नद्ध 'तुलसी-परिषद्' की बैठक में स्वयं डा० नगेंद्र के आग्रह-अनुरोध से वहाँ उपस्थित होकर भारतवर्ष भर के हिंदी के मंडल के बीच किया था।[२]

सोरों सामग्री क्रमसंख्या १ से १३ तक का स्वयं अवलोकन कर डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने उसकी वहिरंग और अंतरंग परीक्षा की है तथा प्राप्त विवरणों के आधार पर क्रमसंख्या १४ से २१ तक की परीक्षा की है। उनकी परीक्षा का जो विवरण उपलब्ध होता है, उसका संक्षेप में आशय यही है कि प्रायः प्राप्त ग्रंथों की पुष्पिकाएँ मिटाकर पुनः लिखी गई हैं। उनके लिखने का ढंग भी प्रचलित नियम के विरुद्ध है तथा कई में लिखने के समय का स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है। अधिकांश की लिखावट नवीन ढंग की है, जैसे एक शब्द को एक टोपी में रखना और परस्पर दो शब्दों के मध्य कुछ स्थान छोड़ना तथा 'ष' के स्थान पर 'ख' लिखना आदि।[३]

श्री गुप्त जी ने सोरों में जाकर उन स्थानों को भी देखा जो तुलसीदास और उनके गुरु या संरक्षक नरसिंह शुक्ल के वतलाए जाते हैं किंतु पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि जहाँ तुलसीदास का घर वताया जाता है, वहाँ राजौरिया ब्राह्मणों का घर था, जो अव नहीं रहे तथा नरसिंह शुक्ल का वतलाया जानेवाला स्थान कभी भगवान नरसिंह का मंदिर था। उक्त शुक्ल-वंश की वंशावली के संवंध में पूछताछ करने पर उक्त वंश-परंपरा में किसी नरसिंह शुक्ल के होने का भी पता न चला। वे बदरिया भी गए, जहाँ तुलसीदास की ससुराल वताई जाती है किंतु वहाँ के वूढ़ों ने यही वताया कि उनके सुनने में कभी यह वात नहीं आई कि यहाँ तुलसीदास की ससुराल थी।[४]

श्री गुप्त जी को सोरों सामग्री के ग्रंथों और लेखों में अनेक ऐसी वातें मिली हैं जो नियमविरुद्ध, समयविरुद्ध, इतिहास-विरुद्ध, अविश्वसनीय और अयुक्त हैं। 'तुलसी-प्रकास' के अनुसार तो तुलसीदास के माता-पिता उनके विवाह काल तक जीवित थे और तुलसीदास ने राजा साधु के कहने से राजापुर

---

[१] गोसाईं तुलसीदास पृ० ३०२।

[२] वही, 'पुरोवाक्' पृ० १०, १३।

[३] तुलसीदास पृ० ९३–९४

[४] वही पृ० १०२

बसाया था। शेष ग्रंथों के अनुसार तुलसीदास की दादी उनके विवाह काल के बाद तक जीवित रहीं। इन ग्रंथों के अनुसार तुलसीदास कथाव्यास थे और पुराण बाँचने का व्यवसाय करते थे। ये सारी बातें तुलसीदास के आत्मोल्लेख के विपरीत हैं, अतः इन परीक्षणों के पश्चात् श्री गुप्त जी जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

'फलतः यह प्रकट है कि सोरों की यह नवीन सामग्री भी पूर्ववर्ती सामग्री जैसी ही है—प्रत्युत अपनी अनैतिहासिकता, और अप्रामाणिकता में उससे भी एक पग आगे बढ़ी हुई है। ऐसी दशा में तुलसीदास के प्रामाणिक जीवन वृत्त के पुनर्निर्माण में इससे भी कहाँ तक सहायता ली जा सकती है, यह अत्यंत स्पष्ट है।[1]

प्रयत्नपूर्वक सोरों सामग्री के प्रस्तुतीकरण का क्या उद्देश्य है, इसके संबंध में डा० किशोरीलाल गुप्त अपना भाव इस प्रकार प्रकट करते हैं—सोरों वाले इस बात के प्रयत्न में लगे हैं कि यह किसी प्रकार सिद्ध हो जाय कि सोरों जिला एटा में तुलसीदास का जन्म हुआ, यह प्रसिद्ध अष्टछापी कवि नंद दास के चचेरे भाई एवं भरद्वाज गोत्रीय शुक्ल सनाढ्य ब्राह्मण थे। पास ही के गाँव बदरी में उत्पन्न हुई रत्नावली से इनका विवाह हुआ था आदि आदि।[2]

सोरों सामग्री के संबंध में प्रसिद्ध विद्वान् और समीक्षक आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय का कथन भी द्रष्टव्य है, वे कहते हैं—

'पर इधर कुछ दिनों से सोरों सामग्री की कृपा से कुछ लोग सोरों को तुलसीदास का जन्म-स्थान मानने लगे हैं। 'सोरों सामग्री' ऐसी नहीं है कि उसको आँख मूंद कर मान लिया जाय। सच तो यह है कि 'मूलगोसाईं चरित और 'सोरों सामग्री' एक ही चट्टेबट्टे की सूझ हैं। अंतर उनमें केवल इतना ही है कि 'मूलगोसाईं चरित' एक पोथी के रूप में है और सोरों सामग्री अनेक पोथियों के पत्रों में। सोरों सामग्री के बारे में बहुतों ने बहुत कुछ अपनी ओर से लिखा है—पक्ष में भी, विपक्ष में भी। परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे लोगों का विश्वास उससे उठ चला है। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी के प्रेमियों ने तुलसी के लिए जब तब कुछ जाल भी कम नहीं रचा है। जो हो, कहना

---

[1] वही पृ० १२७

[2] गोसाईं चरित्र पृ० ३१

हमें यह है कि सोरों-सामग्री और 'मूलगोसाईं चरित' को प्रमाण के रूप में नहीं, पक्ष विशेष के आग्रह के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।[1]

श्री डा० भगीरथ मिश्र लिखते हैं कि—'जो बालकपन का गोस्वामी तुलसीदास का वर्णन इस सामग्री के आधार पर मिलता है, वह अंतर्साक्ष्य के सर्वथा विपरीत पड़ता है। इसमें ये अपने भ्राता के साथ पाठशाला में पढ़ते रहते हैं, पर अंतर्साक्ष्य उनका द्वार-द्वार भटकने और चार चनों के लिए ललकने वाला रूप प्रकट करता है अतः यह अप्रामाणिक है' (तुलसी रसायन पृ० ६०)।

ऐसी दशा में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन वृत्त संबंधी ऊहापोह में सोरों सामग्री' पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। सन् १९६७ में श्री रमेशकुमार खट्टर का एक शोध-ग्रंथ 'नंददास' प्रकाशित हुआ है जिसमें सोरों-सामग्री को प्रामाणिक मानने पर बल दिया गया है किंतु अपने पक्ष को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कोई ऐसा प्रमाण नहीं दिया है जिस पर विचार किया जा सके।

तुलसी चरित :

श्री रघुवरदास कृत 'तुलसी चरित' का थोड़ा प्रारंभिक अंश 'मर्यादा' पत्रिका (ज्येष्ठ सं० १९६९ वि०) में प्रकाशित होने के पश्चात् उसका फिर कोई विवरण प्रकाशित न हुआ और न उसकी तथाकथित पांडुलिपि ही लोगों के सामने पहुँची, जिससे उसपर विचार किया जा सके। इसीसे इसकी प्रामाणिकता कहाँ तक है, समझ लेना उपयुक्त होगा।

प्रस्तुत अंश में विवरण इस प्रकार दिया गया है—श्री परशुराम मिश्र जो मझौली (देवरिया) से २३ कोस उत्तर स्थित 'कसया' ग्राम के निवासी गाना मिश्र थे। तीर्थाटन करते हुए चित्रकूट पहुँचे और राजापुर में रहने लगे। उन्होंने राजा से प्रदत्त भूमि नहीं ली क्योंकि उनके मारवाड़ी शिष्यों द्वारा उन्हें बहुत धन मिला करता था। इनके पुत्र शंकर मिश्र हुए, जिन्हें राजा से बहुत भूमि मिली तथा राजा रानी उनके शिष्य हुए। शंकर मिश्र के संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र दो पुत्र हुए। इन लोगों ने भी अपने शिष्यों से बहुत साधन प्राप्त किया। रुद्रनाथ के चार पुत्र हुए—गणपति, महेश (ये दोनों कर्मकांड के पंडित थे), तुलाराम और मंगल। तुलाराम ही तुलसीदास हैं। इन्हें तुला पर अन्न द्वारा तौला गया था, इसलिए इनका नाम तुलाराम पड़ा। इनके पहले

---

[1] तुलसीदास पृ० ११

दो विवाह हुए। ये दोनों व्याह हथियापरास के भार्गव वंश में हुए थे।[१] इन दोनों पत्नियों के मरने पर तुलसीदास के माता-पिता ने उनकी इच्छा के विरुद्ध तीसरा व्याह कंचनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री से कर दिया। क्योंकि इसमें पिता को अधिक दहेज मिला था। इसी दोष के कारण तुलसीदास का माता-पिता, बंधु-बांधव तथा परिवार से संबंध छूट गया।

उपर्युक्त कथन न तो तुलसीदास के अपने विषय में किए गए कथन से ही मेल खाता है और न उनके अन्य जीवन-लेखकों के कथन तथा जनश्रुतियों से ही। इस चरित के रचनाकाल का भी पता नहीं है। गोस्वामी जी से पाँच पीढ़ी पहले भी राजापुर में मारवाड़ी वणिक निवास करते थे, यह चिंत्य है। 'हथियापरास' गोरखपुर मंडल में है और राजापुर चित्रकुट के निकट। उस युग में इतनी दूरी का उल्लंघन कर परस्पर विवाह संबंध करना असंभव प्रतीत होता है और तब जब कि सरवरिया ब्राह्मण अपने क्षेत्र के बाहर विवाह संबंध करना अच्छा नहीं मानते एवं जो लोग गोरखपुर मंडल से बाहर जाकर बस गये हैं उनके प्रति हीनभाव रखते हैं।[२] एक बात और है, पहले सरवरिया ब्राह्मणों में तिलक-दहेज का रिवाज नहीं था और इसका प्रचार आधुनिक युग में हुआ है।[३] मुख्य बात तो यह है कि तुलसीदास दान न लेने वाले अप्रतिग्राही ब्राह्मण थे। ऐसी दशा में डा० माताप्रसाद का यह कथन प्रस्तुत लेखक को भी मान्य है कि यह चरित नितांत कल्पित और अप्रामाणिक है।[४]

मूलगोसाईं चरित :

'मूलगोसाईं चरित' का सर्वप्रथम परिचय नागरीप्रचारिणी सभा की

---

[१] हथियापरास पाला के शांडिल्य त्रिपाठी ब्राह्मणों का स्थान है न कि भार्गवों का ?

[२] 'जो त्रुटि ब्राह्मण अपने मुख्य स्थानों को छोड़ दूसरे जिलों में जा-जा कर बस गए हैं उन स्थान-भ्रष्ट त्रुटि की अपेक्षा अपने मुख्य स्थान पर रहने वाले त्रुटि लोग उत्तम समझे जाते हैं।' (सरवरिया ब्राह्मणोत्पत्ति प्रदीप)

[३] यद्यपि मैथिल और सरवरिया ब्राह्मणों में तिलक-दहेज पूर्वक विवाह करने की परिपाटी परंपरागत नहीं है।—विकास की एक धारा भाग २ पृ० १६६

[४] तुलसीदास पृ० ६२

खोज रिपोर्ट सन् १९२६ (सं० १९८३ वि०) क्रम-संख्या ४४ द्वारा होता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसकी पुष्पिका का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

'इति श्री वेणीमाधवदास कृत मूलगोसाईं चरित समाप्तं ।। श्री शांडिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन त्रिपाठी रामरक्षमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम् । मिति विजयादशमी सं० १८४८ ।। भृगुवासरे ।।'

'मूलगोसाईं चरित' वस्तुतः 'गोसाईं चरित' का ही दूसरा संस्करण है। अंतर केवल इतना ही है कि 'गोसाईं चरित' में किसी भी घटना का तिथिक्रम नहीं है किन्तु मूल गोसाईं चरित में अधिकांश घटनाओं के साथ तिथियों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त मूलगोसाईं चरित में बहुत से ऐसे नामों का उल्लेख भी है जिनका उल्लेख गोसाईं चरित में नहीं है जैसे तस्कर प्रसंग में चोरों का नाम सिधुआ-निधुआ। कहीं-कहीं गोसाईं चरित की भूलों को परिमार्जित करने का भी प्रयत्न दिखाई देता है जैसे गोसाईं चरित में बिठूर को वाल्मीकि आश्रम बताया गया है जहाँ की यात्रा गोस्वामी जी ने की थी किन्तु मूलगोसाईं चरित में उक्त स्थान प्रयाग और काशी के मध्य कथित है जो वस्तुतः सच है एवं गोस्वामी जी की कवितावली (उ० का० १३८) से भी उसका समर्थन होता है।

'गोसाईं चरित' और मूलगोसाईं चरित में घटनाओं के विवरण सम्बन्धी समानता तो है ही, बहुत कुछ पद्यों और उनकी शब्दावली में भी समानता है।[1] किन्तु मूलगोसाईं चरित की तिथियों, नामों और परिमार्जन सम्बन्धी जो विशेषता है, उससे यही व्यक्त होता है कि इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता कोई एक व्यक्ति नहीं है और 'मूलगोसाईं चरित' के बाद की उसी को आधार मानकर की गई रचना है क्योंकि यदि 'गोसाईं चरित' 'मूलगोसाईं चरित' के बाद

---

[1] साम्य केवल यहीं तक सीमित नहीं है वरन् हम देखते हैं कि अधिकतर प्रसंगों के वर्णन में दोनों एकही शब्दावली का प्रयोग भी करते हैं। नीचे लिखा दोहा तो एक साधारण पाठ भेद के साथ दोनों में मिलता है—

श्री हनुमन्त प्रसंग $\frac{\text{यह}}{\text{शुभ}}$ $\frac{\text{विमल}}{\text{प्रथम}}$ चरित विस्तार ।
लहेउ गोसाईं दरस रस विदित सकल संसार ।।
—तुलसीदास पृ० ६०

की रचना होती तो उसमें भी उन तिथियों और नामों का उल्लेख होता, जो मूलगोसाईं चरित में हैं। अतः मूलगोसाईं चरित में उल्लिखित उसका रचनाकाल सं० १६८७ गलत सिद्ध होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना सं० १८४८ के बाद ही उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर सं० १९८३ के मध्य कभी हुई होगी, जो उसकी प्राप्ति-तिथि है। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त कतिपय प्रसंगों की शब्दयोजना और नामों से यह प्रकट हो जाता है[1] कि यह ग्रंथ अधिक से अधिक बीसवीं शताब्दी के मध्य की रचना है।[2] इस प्रकार पुष्पिका में उल्लिखित तिथि भी जाली है यद्यपि वह कालगणना के अनुसार ठीक उतरती है। ज्ञात होता है चतुर लिपिकार ने इसे पुराने पचांग से मिलाकर उद्‌धृत किया है।

मूलगोसाईं चरित में आई हुई तिथियों की जाँच-पड़ताल के आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

'हम देखते हैं कि ऐसी तिथियाँ जिनकी गणना की जा सकती है, चरित में सात हैं और इन सात में से तीन तिथियाँ गणना से शुद्ध उतरती हैं, ऐसी-तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिनका मिलान इतिहास से हो सकता है, इक्कीस हैं और इनमें से केवल चार ऐसे हैं जो ठीक हो सकते हैं, शेष असम्भव जान पड़ते हैं और ऐसी तिथियों में से जो कवि की रचनाओं के सम्बन्ध में दी हुई हैं और जिनकी संख्या चौदह है, केवल दो ठीक हैं और वे भी इसलिए कि साधारण से साधारण समझ का लेखक भी उनके सम्बन्ध में भूल नहीं कर सकता था। और ऐसे कथन जिनकी जाँच कवि के आत्मोल्लेख के प्रकाश में की जा सकती है, कवि के आत्मोल्लेख के विरुद्ध ठहरते हैं। ऐसी दशा में हमारे लिए यह असम्भव हो जाता है कि हम उपर्युक्त चरित पर विश्वास

---

[1] 'धुनि सुने सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' स्पष्ट ही यह प्रयोग बीसवीं शती का और आधुनिक है। इसी प्रकार 'हनुमान गढ़ी' का प्रयोग भी आधुनिक है। हनुमान गढ़ी का निर्माण नवाब आसफुद्दौला ने सं० १८७१ में कराया था, इसके पूर्व उक्त स्थान लक्ष्मणटीला के नाम से प्रसिद्ध था।

[2] अस्तु, मूलगोसाईं चरित की रचना सं० १९४५ और १९८३ वि० के बीच किसी समय हुई और जो रचनाकाल (सं० १६८७) इसका कहा जाता है उससे प्रायः पौने तीन सौ वर्ष बाद की यह कृति है।

—डा० किशोरीलाल गुप्त—गोसाईं चरित पृ० ५३

करें। गणना से शुद्ध पर अन्यथा मनमानी तिथियाँ देना कठिन नहीं है, कदाचित यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।[१]

आचार्य चंद्रवली पाण्डे का कथन है—'अवध के सूकर खेत को लेकर जो 'मूल-गोसाईं चरित' बना था, वह भी बनावटी ही निकला।[२] अस्तु यह ग्रन्थ भी प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे स्पष्ट रूप से जाली और अप्रामाणिक कहा है।[3]

घटरामायण का विवरण :

इसके रचयिता बाजीराव पेशवा के भाई हाथरस निवासी तुलसीसाहब का समय सं० १८२०-१९०० वि० है, अतः इसका रचनाकाल उन्नीसवीं शती विक्रमी का उत्तरार्द्ध हो सकता है। गो० तुलसीदास के समकालीन जैन कवि बनारसीदास ने 'अध्यात्मगीत' की रचना की। इस गीत में उन्होंने घट के भीतर ही राम-रावण युद्ध का रूपक बाँधा है यथा—

विराजे रामायन घट माहिं।
मरमी होय मरम सो जानै मूरख जानै नाहिं ॥

वे अवधि को अयोध्या, आत्मा को राम और सुमति को सीता मानते हैं।[४] धारणा आग, मिथ्यामति रावण, अज्ञान राक्षस कुल, दुराशा मंदोदरी, संशय गढ़ और रागद्वेष सेनापति हैं। इसी ग्रन्थ से प्रेरणा पाकर तुलसीसाहब ने 'घट-रामायण' की रचना की किन्तु इनका रूपक उससे भिन्न है यथा—

घट में सुरति सैल जस कीन्हा। काक भुसुंड भाखि तस दीन्हा ॥
काक भुसुंड कित हुँ नहिं भयऊ। तुलसी सुरति सैल तन कहेऊ ॥

+ \+ \+

सरजू सुरति अवध दस द्वारा। ये घट भीतर देखि निहारा ॥
रावन कुम्भ लंकपति राई। त्रिकुटी ब्रह्म बसै तेहि माहीं ॥

+ \+ \+

रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर चुनि-चुनि मारा ॥

---

[१] तुलसीदास पृ० ५८

[२] तुलसीदास पृ० १९

[३] गोसाईं तुलसीदास पृ० ३०२, २७९

[४] अवधि अयोध्या आतम राम। सीता सुमति करै परनाम ॥

घट रामायण में तुलसी साहब ने लिखा है कि वे पूर्व जन्म में तुलसीदास के रूप में यमुना तट पर राजापुर में सं० १५८९ के भाद्रपद शुक्ल ११ मंगलवार को उत्पन्न हुए थे। कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के कारण उन्हें अपने कुल का अभिमान था। वे विषयी होने के कारण स्त्री के वश में रहते थे, परन्तु साधु-सन्त की संगति भी उन्हें प्रिय थी। श्रावण शुक्ल ९ सं० १६१४ में उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ और सम्पूर्ण ब्रह्मांड उनको अपने घट के भीतर ही दिखाई पड़ा।[1] राजापुर में इनकी प्रसिद्धि सुनकर बहुत से लोग इनके दर्शनार्थ आने लगे। काशी के हृदय अहीर से जो वहाँ नौकरी करता था और नित्य दर्शनों के लिए जाता था, इनकी घनिष्टता हो गई। एक बार हृदय अपने घर काशी गया और वहाँ से न लौटा तब तुलसीदास उससे मिलने के लिए स्वयं काशी गए। वहाँ हृदय ने इनके लिए कुटी बना दी, जहाँ ये रहने लगे।[2] काशी में वे चैत्र १२ मंगलवार सं० १६१५ में पहुँचे थे। कार्तिक कृ० ५ सं० १६१६ को इनसे नानक पंथी साधु पलक राम मिले जिनसे उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया।[3] भाद्रपद शुक्ल ११ मं० सं० १६१८ को इन्होंने 'घटरामायण' की रचना की किंतु लोगों ने जब उसका विरोध किया तो उसे छिपा दिया एवं सं० १६३१ में रामचरित-मानस

---

१. तिरिया बरत भाव मन राता। विधि-विधि रीत चित्त संग साथा।।
ज्ञान हीन रसरंग संग माता। कान्हकुब्ज ब्राह्मन मोरी जाता।।

+ \+ \+

संत साथ मोहिं नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहीं आवै।।

+ \+ \+

संवत सोलह सै थे चौदा। तादिन भया अगम का सौदा।।
सावन सुदी नौमी तिथि बारी। आधी रात भई गति न्यारी।।

२. हमरा चित हिरदै में वासी। हम चलि गए नग्र जहँ कासी।।
जो ब्रह्मंड भरा जग मांई। सो देखा सब घट के माही।।

३. सोला सै सोला में सोई। कातिक बदी पंचमी होई।।
आए पलक राम इक संती। रहे कासी में नानक पंथी।।
मुष्टि भाव विधि उनसे कीन्हा। खुसी भए मारग को लीन्हा।।

की रचना की।[1] श्रावण शुक्ल ७ सं० १६८० में वरुणा तट पर शरीर-त्याग किया।[2]

तुलसी साहव ने गोस्वामी तुलसीदास के प्रभाव और प्रसिद्धि से लाभ उठाकर घट रामायण का प्रचार करने के लिए ही तुलसी का अवतार वनने का ढोंग किया है। उनका उद्देश्य यह भी प्रतीत होता है कि इस प्रकार 'रामचरित मानस' का प्रभाव लोगों पर से उठ जायगा। वे मानस को धोखे की टट्टी और घट रामायण को ही गोस्वामी जी का सच्चा उपदेश मानने लगेंगे। उनके कथन से स्पष्ट है कि वे 'रामचरित मानस' की प्रतिष्ठा घटाकर उधर से लोगों का मन फेरना चाहते हैं और घट रामायण की प्रतिष्ठा वढ़ाना चाहते हैं। वे 'रामचरित-मानस' को अंधों के लिए अन्धे की वात मानते हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने उनके इस प्रकार के कथन को 'वेजोड़ मनमानी' और आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय ने विचित्र कहा है।[3] कुछ लोगों को तुलसी साहव की सत्ता में भी सन्देह है।[4]

डा० माताप्रसाद ने घट-रामायण में प्रयुक्त तिथियों में तीन को छोड़ शेष सबको विल्कुल गलत पाया है। तीन जो सही हैं, उनमें दो सं० १६३१ और १६८० तो सर्वप्रसिद्ध ही हैं, उनके सम्वन्ध में गलती हो नहीं सकती थी।

---

[1] घट रामायन ग्रन्थ बनावा। ताकी विधी दिवस सब भावा॥
संवत सोलो सै आट्ठारा। उठी मौज ग्रन्थ कियो सारा॥
भादो सुदी मंगल एकादसी। आरंभ कियो प्रथम मत भासी॥
संवत सोला सै इकतीसा। रामचरित्र कीन्ह पद ईसा॥

[2] अंधा अंधे विधि समझावा। घट रामायन गुप्त करावा॥
अब कहौं अंत समय अस्थाना। देह तजी विधि कहौं विधाना॥
संवत सोला से असी नदी वरुन के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर॥

[3] लेखक ने इसमें कुछ वेजोड़ मनमानी का भी समावेश कर दिया है। अपने घट-रामायण का सम्वन्ध हमारे कवि के साथ स्थापित करना उसकी इसी प्रकार की मनमानी है (तुलसीदास पृ० ६४)। तुलसी साहव के अवतार की वात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है—तुलसीदास पृ० १०

[4] दे०—आचार्य चंद्रवली पांडेयकृत तुलसीदास पृ० ४३

जिस प्रकार घट रामायण में तुलसी साहब के अवतार लेने, पूर्व-जन्म में घट-रामायण की रचना करके उसे गुप्त रखने आदि की कल्पना की गई है, वैसे ही उसके पात्र हृदय अहीर और पलकराम भी जनश्रुति पर आधारित या काल्पनिक प्रतीत होते हैं क्योंकि प्रसंग का मेल मिलाने और नानक पन्थ का प्रभाव बढ़ाने के लिए भी ऐसा किया जा सकता है। तिथि और संवत् तो काल्पनिक हैं ही। ज्ञात होता है कि तुलसी साहब ने गोस्वामी तुलसीदास के चमत्कार सम्बन्धी जनश्रुतियों का त्याग आत्मप्रशंसा परक होने से कर दिया है। और रामचरितमानस के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थों का विवरण अनावश्यक समझ नहीं दिया है। उनकी मनोवृत्ति नितांत सांप्रदायिक और संकीर्ण थी।[1] उनके कथन में तुलसी के सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों से जो भिन्नता देखी जाती है वह तुलसी के सम्बन्ध में उनकी संकीर्ण भावना के कारण है। अस्तु ऐसी दशा में उनका सब कथन प्रमाण रूप से गाह्य करना उचित नहीं होगा। उसमें केवल दो बातें प्रमाण रूप से मान्य हो सकती हैं—पहली यह कि उनके जीवनकाल में गोस्वामी जी के कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने की बात प्रसिद्ध थी और दूसरी यह कि विरक्त होने से पूर्व उनका कोई अहीर साथी होने की जनश्रुति थी। ये दोनों सूत्र तुलसीदास के जीवनवृत्त सम्बन्धी खोज में बड़े सहायक हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे।

दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता :

यह ग्रंथ किसी पुष्टिमार्गीय बैष्णव का लिखा हुआ एक सांप्रदायिक ग्रंथ है। इसमें सं० १७३६ वि० तक के विवरण मिलते हैं। इस पर भक्तमाल की प्रियादासी टीका और नागरीदास के 'पद-प्रसंग-माला' की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, इसलिए इसकी रचना निश्चित रूप से इन दोनों ग्रंथों के बाद की कही जा सकती है। नागरीदास सं० १८२१ तक विद्यमान थे, अतः वार्ता का निर्माण इसके बाद ही पूरा हुआ होगा। वार्ता की भिन्न-भिन्न प्रतियों में बहुधा पाठभेद भी पाया जाता है जैसा कि डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने लिखा है :—

'आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल से हमें विदित हुआ है कि इस ग्रंथ (वार्ता) के अनेक संस्करण अनेक भाँति के लिखे हुए मिलते हैं और यह औरंगजेब के

---

[1] वे कर्मकांड के प्रबल विरोधी थे—डा० राधाकमल मुखर्जी—भारत की संस्कृति और कला पृ० ३२३

पहले का लिखा हुआ कदापि नहीं माना जा सकता। तब इसकी प्रामाणिकता के संबंध में कुछ कहना ही व्यर्थ है।[१]

डा० माताप्रसाद गुप्त वार्ता के साथ 'पद प्रसंग माला' का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि माला की रचना वार्ता के पूर्व हो गई थी और माला के विभिन्न प्रसंगों में आए हुए पदादि लेते हुए भी वार्ता के लेखक ने प्रसंगों को पुष्टिमार्गीय रूप दे दिया। अन्यथा कोई कारण नहीं था कि नागरीदास जी वार्ता में दिए हुए अपने संप्रदाय के अधिकृत विवरणों के विपरीत जाते। पुनः मधुकर शाह के प्रसंग में वार्ता में 'व्यास वचन सुनि मधुकर साहैं भक्तिपन सदा लह्यो' जिसका अंतिम तुक है; उस पद का न दिया जाना उसकी सांप्रदायिक कतरव्योंत का ज्वलंत प्रमाण है।[२]

आचार्य पं० चंद्रवली पांडेय ने भी वार्ता के संबंध में ऊहापोह करते हुए उसकी सांप्रदायिक मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराया है। उनके शब्दों में तुलसी को नीचा दिखाने के लिए 'वार्ता' खड़ी हुई है। उसे ले देके बस 'पुष्टि' को पुष्ट करना और श्री गुसाईं जी (गो० गोकुल नाथ जी) को आसमान पर चढ़ाना है।[३]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—'अतः उक्त वार्ता की बातों को जो वास्तव में भक्तों का गौरव प्रचलित करने और वल्लभाचार्य जी की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिए पीछे से लिखी गई है, प्रमाण कोटि में नहीं ले सकते (हि० सा० का इ० पृ० १७४)।

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वार्ता पर अनावश्यक सांप्रदायिक रंग चढ़ा हुआ है, इस लिए 'वार्ता' की बातें वहीं तक प्रमाणस्वरूप ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे सांप्रदायिक परिधि के बाहर हैं। वार्ता में केवल एक प्रसंग है, जिसका गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त से संबंध है। इसके अतिरिक्त कई ऐसे चमत्कारिक प्रसंग हैं जिनकी उद्भावना प्रियादास की टीका के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास से संबंधित है किंतु वार्ता में उन्हें दूसरे पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के साथ मिला दिया गया है।

वार्ता के द्वारा गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में पाँच बातें व्यक्त होती हैं :—

---

[१] तुलसी दर्शन पृ० ४

[२] तुलसीदास पृ० ८४

[३] तुलसी की जीवनभूमि पृ० ५०

क—वे सनौरिया (रसनाढ्य) ब्राह्मण नंददास के बड़े भाई थे।

ख—उनकी जन्मभूमि कहीं 'पूरब' में थी।

ग—वे काशी में रहते थे। नंददास भी काशी से ही वृन्दावन गए थे।

घ—तुलसी दास ने वृन्दावन की यात्रा की थी और वहाँ उनके कारण किसी मंदिर में कृष्णमूर्त्ति का राममूर्त्ति में परिवर्तन हो गया था।

ङ—उन्होंने कृष्णमूर्त्ति में राममूर्त्ति का दर्शन गोकुल नाथ जी और नंददास के प्रभाव से किया, इसलिए उनसे बहुत प्रभावित हुए।

इनमें तीसरी और चौथी बात तो सर्वमान्य है और पाँचवीं बात का आधार सांप्रदायिक है अतः विचारने योग्य केवल दो बातें रह जाती हैं।

तुलसीदास के सगे या चचेरे भाई[1] होने की संभावना उन्हीं के कथनों से समाप्त हो जाती है।[2] रही बात अन्य प्रकार के भ्रातृ-संबंध की, तो तुलसीदास नंददास के गुरुभाई थे। इसके संबंध में दो प्रमाण उपलब्ध हैं। पहला यह कि नंददास ने अपने एक पद में तुलसीदास की गुरु-भ्राता कहकर वंदना की है। दूसरी यह है कि भवानीदास ने गोसाईं चरित में नंददास को गोस्वामी जी का गुरुभाई लिखा है। नंददास के पद से यह भी ज्ञात होता है कि तुलसीदास काशी में शेषसनातन के शिष्य थे। तुलसीदास ने ही अपने उपदेशों द्वारा नंददास के हृदय की आँखें खोली थीं, अतः वे एक प्रकार से उनके गुरु भी थे। कदाचित् 'गुरु-भ्राता' कहने का इसकी ओर संकेत भी है। पद इस प्रकार है[3]—

---

१. श्री रमेशकुमार खट्टर का शोध-प्रबंध 'नंददास' (सन् १९६७ में दिल्ली से प्रकाशित) में नन्ददास को तुलसी दास का चचेरा भाई और सोरों का निवासी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, पर उक्त प्रबंध पूर्णतया 'सोरों सामग्री' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' पर आधारित है, जिसे प्रमाणस्वरूप ग्रहण नहीं किया जा सकता।

२. भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरी हू सों,
बल अपनो न हितू जननी न जनक को॥ क० उ०

और—पूछ्यो ज्योंही कह्यो मैं हूँ, चेरो ह्वै हौं रावरेजू,
मेरे कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं—वि० प०

३. श्री प्रभुदयाल मित्तल—अष्टछाप परिचय पृ० ३०२-३।

श्रीमत्तुलसीदास गुरुभ्राता पदवंदे ।
शेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे ।।
रामचरित जिन कीन तापत्रय कलिमल हारी ।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी ।।
राखी जिनकी टेक मदन मोहन धनुधारी ।
बालमीकि औतार कहत जेहि संत प्रचारी ।।
नंददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई ।
उज्वल-रस टपकाय दियौ जानत सब कोई ।।

इस पद के द्वारा वार्ता का वह सांप्रदायिक पर्दा भी फट जाता है, जिसके अनुसार विट्ठलनाथ के प्रभाव और नंददास की प्रार्थना पर 'कृष्णमूर्त्ति' राममूर्त्ति में परिवर्तित हुई थी ।

नंददास और तुलसीदास का परस्पर गुरुभाई सिद्ध हो जाने से इनका परस्पर एक ब्राह्मण उपजाति या वर्ग का होना आवश्यक नहीं रह गया, इसलिए यदि नंददास को सनाढ्य ही मान लिया जाय तो उनके साथ तुलसीदास को भी घसीटना उचित नहीं है, यद्यपि 'वार्ता' का प्रमाण नंददास के भी सनाढ्य होने में युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि 'पूरब' में कान्यकुब्जों की भूमिहार शाखा (जो जमींदार थे) और सरवरिया ही पाये जाते हैं । 'वैलवार' और 'वदौवा' नाम धारी सनाढ्य ब्राह्मण विहार में कहीं मिल जाते हैं किंतु उनका आगमन व्यावसायिक उद्देश्य से बहुत बाद में इधर हुआ है । गोसाईं-चरित और भक्तमाल की प्रियादासी टीका से तो नंददास का कान्यकुब्ज होना ही सिद्ध होता है । इन कथनों पर अविश्वास करने का कोई कारण भी नहीं प्रतीत होता, अस्तु यदि नंददास और तुलसीदास का कौटुंविक या नातेदारी का भ्रातृ-संवंध भी मान लिया जाय तो वे दोनों कान्यकुब्ज ही ठहरते हैं यथा—

अथ नंददास गुरुभाई प्रसंग
कान्हकुब्ज एक प्रिय नगर कनउज दिगवासी ।
श्री गोसाइं गुरुबंधु रहै श्रीकृष्ण उपासी ।।
नंददास अस नाम स्वच्छकृत पद जग गवै ।
—तुलसी चरित पृ० १४०

किंतु जहाँ भवानीदास 'नंददास' को 'कनउज दिगवासी' कहते हैं, वहाँ प्रियादास उन्हें—

निकट बरैली गाँव, तामें सो ह्वेली रहैं,
नंददास विप्र-भक्त साधु सेवा रागी हैं।

कहते हैं।

नाभादास जी का कथन इन दोनों से ही भिन्न जान पड़ता है, यथा—

लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुर पयध लौं सुजस 'रामपुर' ग्राम निवासी।
सकल-सुकुल संवलित भक्तपद रेनु उपासी॥
चन्द्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पै मै पगे।
नंददास आनंदनिधि रसिक सुप्रभुहित रँग मगे॥

—भक्तमाल।

इससे ज्ञात होता है कि नंददास 'रामपुर' ग्राम के निवासी थे। यह ग्राम कुछ विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा होगा, इसी से उसका संवंध किसी विशेष स्थान से वताने की आवश्यकता प्रियादास ने समझी अन्यथा रामपुर नाम वाले गाँवों की तो कमी है नहीं।

विचारणीय बात यह है कि क्या, 'निकट बरैली गाँव तामें सो हवेली रहैं' कहने से 'रामपुर-ग्राम-निवासी' कथन का विरोध होता है? जैसा कि स्थानों के नाम की भिन्नता से प्रकट है, परंतु जब प्रियादास भक्तमाल के टीकाकार हैं तो वे भक्तमाल के रचयिता की उस बात को अमान्य कैसे कर सकते हैं जो उसके स्वयं की देखी-सुनी हो। इसमें संदेह का कारण भी नहीं उपस्थित हो सकता क्योंकि नाभादास जी नंददास के समसामयिक थे और उनका कथन किसी प्रकार के भ्रम या प्रमाद का फल भी नहीं कहा जा सकता। अस्तु यही मानना पड़ेगा कि प्रियादास का कथन नाभादास का विरोधी न होकर उसका पूरक है तथा उसके स्पष्टीकरणार्थ है। टीका की आवश्यकता भी इसीके लिए होती है। रामपुर नाम के अनेक गाँव हैं इसलिए नंददास के रामपुर का निश्चय करना ही प्रियादास का उद्देश्य है, ऐसा मानना पड़ेगा और तब प्रियादास के कथन के साथ 'रामपुर' को मिलाकर यह देखना पड़ेगा कि वे क्या कहते हैं।

इस प्रकार प्रियादास के कथन का अर्थ यों होगा—वरैली गाँव के निकट रामपुर गाँव में उनकी हवेली थी, जहाँ ब्राह्मण तथा साधु-भक्त नंददास रहते थे।

अब यह देखना है कि वह बरैली गाँव कहाँ है जो प्रियादास का अभीष्ट है। यों तो बरैली, बरौली, बरैनी, बरौनी आदि नामों वाले अनेक गाँव, बाजार और नगर हैं किन्तु इनकी स्थिति क्या रामपुर के पास भी है और वे काशी के निकटवर्ती पूर्वीय प्रदेश में भी हैं ? यदि ऐसा है तब तो सबका मेल मिल जाता है और इसका 'वार्ता' से भी विरोध नहीं पड़ता।

यदि 'बरैली' शब्द को 'बरैनी' मान लें जैसा कि लिपिदोष से सम्भव है और भ्रम से भी, तो सारी समस्या का समाधान निकल आता है क्योंकि काशी के पास काशीवार (कसवार) परगने में ही गंगातट पर प्रसिद्ध बरैनी गाँव है, जिसके पास रामापुर है। हवेली बड़े लोगों के ही पास होती है, जिससे प्रकट होता है कि नंददास बड़े घराने और धनीमानी जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। नाभादास के प्रचुर पयद 'लौं सुजस' और 'सकल सुकुल संवलित' पद से भी यह ध्वनि निकलती है। अस्तु, हम काशी के निकटवर्ती रामापुर को ही नंददास की जन्मभूमि मानते हैं। इसका समर्थन गौतम चंद्रिका के निम्नांकित कथन से भी होता है।

जय चंदहु बिनसिगे जबहीं। भूमिहार कनउज के तबहीं॥
तजि निज ग्राम रामापुर छाए। गौतम कुल संबध बढ़ाए॥

काशी में गोस्वामी तुलसीदास के सहवासी और उनके संरक्षक मित्र टोडर के संबंधी कृष्णदत्त मिश्र जिन्होंने गौतम चंद्रिका की रचना की, बरैनी के पास गढ़ोला के ही रहने वाले गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। गौतम चंद्रिका से यह भी विदित होता है कि टोडर का निजी संबंध भी बरैनी में था और बरैनी के योद्धाओं की सहायता से ही टोडर ने नंदेसर (काशी) पर आक्रमण करनेवाले मुसलमान सैनिकों को मार भगाया था।[1] सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी में कसवार राज्य के जमींदार आस-पास के जमींदारों में सर्वाधिक शक्तिमान माने जाते थे[2] और सतरहवीं शती में इनकी राजधानी बरैनी में ही थी।[3] इस प्रकार बरैनी गाँव की विशिष्टता व्यक्त होती है और इसी से प्रियादास ने रामपुर का परिचय बरैनी का निकटवर्ती बताकर दिया है। गोसाईं

---

[1] नंदेस्वर बरुना-मढ़ी चढ़ी जावनी धारि।
बोलि बरैनी भट तुरत धायउ जोरि गुहारि॥

[2] 'तारीखे बनारस (श्री सैयद मजहरहसन कोरवी कृत) और 'काशी का इतिहास (डा० मोतीचंद कृत)। पृ० २६०

[3] बरैनी के जमींदार हंसराज मिश्र के पुत्र भीम मिश्र और उनके दो पुत्र हरिनारायण और हृदयनारायण हुए। हरिनारायण के वंशज केवटावीर (ब्रह्मपुरी) और गढ़ोली में हैं। हृदयनारायण के छः पुत्र क्रमशः वंशीधर,

चरित में नंददास को 'कनउज ढिग वासो' कहा गया है। वहाँ इसलिए भ्रांति हो गई है कि 'चरितकार' ने नंददास का कनौजिया होना सुना होगा किन्तु कनौजिया होने का अर्थ केवल कन्नौज के पास का ही निवासी होना नहीं है।

रामापुर का एक भाग 'पड़ेरो' कहलाता है। आज भी यहां नन्ददास की परम्परा के कश्यप-गोत्रीय चौधुरी लोग रहते हैं। पहले ये लोग रामपुर के ही अन्तर्गत 'जमुवारी कोट' में रहते थे। जमुवारी 'जमुनवारीय'[४] का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है वह कोट जिसके चारों ओर जल से भरी हुई गहरी खाईं हो। १८वीं शती में बनारस के राजा बलवन्त सिंह ने उक्त कोट तथा उक्त वंश की भूमि पर अधिकार कर लिया था किन्तु १९वीं शती में जब मझवा के बाबू

छत्रशाह, रुद्रशाह, मंगल सिंह, माधो सिंह और विक्रम शाह हुए। वशीधर के चार पुत्र रामफकीर, रामहित, रामरुचि और देवी सिंह हुए। रामफकीर की एक मात्र पुत्री पद्मकुँवरि थीं जिनके द्वारा निर्मित कराया बाँड़ापुर के पास पद्मोटा तालाब है। रामहित के वंशज बाँड़ापुर (मिर्जापुर) में रहते हैं। रामरुचि के वंशज केवल एक घर बरैनी में है। देवी सिंह मझवा में रहे। इनके वंशज राजा वैरीशाल के मरुई के युद्ध में वीरगति पाने से मझवा राज्य बनारस राज्य में अंतर्भूत हो गया। वैरीशाल के वंशज महाराज युगल किशोर नाना का उत्तराधिकार पाकर वेतिया (विहार) के राजा हुए किंतु अंतिम राजा महाराजा हरेंद्रकिशोर निःसन्तान होकर मरे। सं० १८६५ ई० के बंदोवस्त में उक्त वंश के निम्नांकित पुरुषों के पास उनके नाम के आगे लिखे गाँवों की जमींदारियाँ थीं और शेष पर काशी राज्य का अधिकार था। सर्व श्री रामबकस सिंह (मितई), सेहत सिंह (गोधना), अवधान सिंह (खालिसपुर), गुरुदत्त सिंह (आही), हरदर्शन सिंह (बाँड़ापुर, गोवर्द्धनपुर, रामापुर, कनक सराय, अदमा, कँड़सरा और सरावाँ), नन्हकू सिंह (गढ़ौली), जगलाल सिंह (निगतपुर), गंधर्व शाह (केवटावीर), दयाल सिंह (कटका), पहलवान सिंह (मझवा खास, लरबक, दामोदरपुर, तीवारीपुर, जमुवारी, विदापुर और मझवा), रहजन सिंह (महावलपुर), नारायणदत्त (चक्रचँड़िया), रामदयाल सिंह (सवेसर), मोहन सिंह (बरैनी और सेमरी) इसके अतिरिक्त विक्रम शाह के वंशज बजहा और जलालपुर, दरियाव सिंह के वंशज दरेखू तथा कोरापति के वंशज ठटरा में रहते थे।

[४]—दुर्ग (गढ़) की बाहरी परिखा जल से भरी हुई खाईं को 'जमुन' कहते हैं।

पहलवान सिंह को कथित इलाके की व्यवस्था मिली तो उन्होंने उक्त वंश के चौधुरी थान सिंह को रामापुर का ही एक भाग जिसे पड़ेरी कहते हैं, गुजारे के लिए दे दिया। रामपुर का डीह 'कोटवा' कहलाता है, जिससे प्रकट है कि यह कोट थी। इसका एक भाग जो ७–८ एकड़ का क्षेत्र घेरे हुए है, रौरी (राजपुरी) नाम से प्रसिद्ध है।

चौधुरी लोग जो मूलतः कान्यकुब्ज हैं, उसी वंश परम्परा में हैं, जिसमें तुलसीदास के मित्र टोडर थे। कहते हैं कि इनके पूर्वज कमलापति और बामदेव सगे भाई थे। एक वार इनकी माता ने इनको एक ही थाल में खिचड़ी परोस उसे लकड़ी से रेखांकित दो भागों में बांट दिया। दोनों भाइयों ने अपना-अपना भाग खा तो लिया, परन्तु खाने के बाद माता से निवेदन किया कि जव उसने परसी हुई थाल में उनके भोजन का विभाग कर दिया तो वह उनकी भूमि का भी विभाग कर दे। पुत्रों के निवेदन पर माता ने भूमि के दो भाग कर दिए। काशी और काशी के पूर्वीय भाग में जो भूमि थी, वह कमलापति के अंश में आई। भदैनी के चौधुरी टोडर ठाकुर इन्हीं की वंश परम्परा में थे। टिकरी, तारापुर, ईश्वरगंगी के भूमिहार ब्राह्मण भी कमलापति की ही परम्परा में हैं। बामदेव को काशी और प्रयाग के मध्य यत्रतत्र फैली हुई भूमि मिली। इस परम्परा के लोग सुरही आदि गांवों में निवास करते हैं। इसी वंश-परम्परा में नन्ददासजी का जन्म हुआ था।

रामापुर के पास 'महानन्दपुर' नामक एक गांव है। नन्ददास से इस नाम का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है? सम्भव है नन्ददास का पूरा नाम 'महानन्द' रहा हो या 'नन्द' के साथ महा का संयोग महत्व की दृष्टि से कर दिया गया हो अथवा 'महानन्दपुर' की व्युत्पत्ति महलनन्दपुर से हुई हो।

जैसे तुलसीदास के नाम पर टोडर ने अन्नसत्र की स्थापना की थी वैसे ही नन्ददास के छोटे भाई चन्द्रहास ने नन्ददास के नाम पर एक अन्नसत्र (सदाव्रत) की स्थापना की थी और उसके लिए उपजाऊ भूमि का एक चक अलग कर दिया था। वन्दोबस्त के कागज में इस चक का 'चकनन्दा' के नाम से उल्लेख है और इसका क्षेत्रफल ६० एकड़ (९६ बीघा) है। रामपुर में चन्द्रहास द्वारा निर्मित विशाल जलाशय है, जो 'चनहाताल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका क्षेत्रफल भी ९६ बीघा (६० एकड़) है। चन्द्रहास के नाम पर एक दूसरा ताल यहां से २–३ मील दूर पर है और 'चनुली' नाम से प्रसिद्ध है। इनके नाम पर बसा हुआ ग्राम 'चँड़िया' (चन्द्रडीह) रामपुर से ४-५ मील दूर वायव्य कोण में है। यहाँ भी उन्होंने दानार्थ एक 'चक' अलग कर दिया था

जिसे 'चक चँड़िया' कहते हैं। इस प्रकार चन्द्रहास का जमींदार होने के साथ उदार और धार्मिक होना प्रकट होता है।

वार्ता में वर्णित नन्ददास और भक्तमाल में वर्णित नन्ददास में बहुत अन्तर दिखाई देता है। वार्ता के नन्ददास द्वारका जाते समय सिन्धुनद ग्राम की एक खत्रानी पर आसक्त हो गए थे और उसके घर की फेरी दिया करते थे। उस स्त्री के घरवालों ने उन्हें हटाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सब निष्फल हुआ। विवश हो उनसे पिंड छुड़ाने के लिए वे लोग गोकुल आए। नन्ददास भी उनके पीछे-पीछे गोकुल पहुंचे। वहां गुसाईं विट्ठलनाथ जी के उपदेश से उनका मोह दूर हो गया और वे गुसाईं जी के शिष्य हो गए। किन्तु इसके विपरीत नाभादास ने उन्हें क्षीरसागर के समान प्रचुर यशवाला, अत्यन्त कुलीन, परमभक्त, भक्तों के भी भक्त तथा आनन्द-निधि कहा है। इसके अतिरिक्त वार्ता के अनुसार नन्ददास के बड़े भाई तुलसीदास थे, और वे केवल दो भाई थे, किन्तु भक्त माल के अनुसार नन्ददास के छोटे भाई का नाम चन्द्रहास था।

स्पष्ट है कि वार्ता का उपर्युक्त विवरण अव्यावहारिक, मुग़लकालीन पर्दा-प्रथा के विपरीत और असामाजिक है। केवल गुसाईं विट्ठलनाथ का महत्त्व प्रकट करने के लिए लिखा गया है। उसकी भाईवाली बात भी भक्तमाल से कट जाती है। यदि नन्ददास के भाई तुलसीदास होते तो नाभादास जी उनका नाम न लिखकर चन्द्रहास का नाम क्यों लिखते? जबकि चन्द्रहास की अपेक्षा तुलसीदास बहुत अधिक प्रसिद्ध थे?

वार्ताकार ने तुलसीदास का भी जो चित्र उपस्थित किया है, वह एक साधारण मनुष्य से तनिक भी उठा हुआ नहीं है। तुलसीदास जैसा ज्ञान-वैराग्य से युक्त पुरुष अपने भाई नन्ददास में जिस प्रकार आसक्त और उनका समाचार जानने के लिए आतुर दिखाया गया है, वह सर्वथा असंगत है? फिर नन्ददास के लिए उनके द्वारा यह कहलाना कि—

'नन्ददास तू ऐसो कठोर क्यों भयो है? ……तेरो मन होय तो अजुध्या में रहियो, तेरो मन होय तो प्रयाग में रहियो, चित्रकूट में रहियो।'

यह कथन पत्नी तक का त्याग करनेवाले तुलसीदास के गुण-स्वभाव और व्यक्तित्व से तनिक भी मेल नहीं खाता। इस प्रकार 'वार्ता' में वर्णित उक्त वार्ता उसकी असद्वार्ता का प्रमाण बन गई है।

श्री आचार्य चन्द्रबली पांडेय 'तुलसी की जीवन-भूमि' में लिखते हैं कि इतिहास में चन्द्रहास का पता नहीं चलता। इसलिए चन्द्रहास का अर्थ उन्होंने लाक्षणिक अर्थात् 'चन्द्रमा के समान जिसका हास्य हो किया है और

'अग्रज' का अर्थ ब्राह्मण माना है परन्तु नाभादास जी ने जिस चन्द्रहास का उल्लेख किया है, उसका लाक्षणिक अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता। वह अर्थ नाभादास का अभीष्ट भी नहीं है। नन्ददास जी के अग्रज चन्द्रहास अवश्य अपने समय के प्रसिद्ध पुरुष थे, तभी तो नाभादास जी ने उनके सम्बन्ध से नन्ददास का परिचय दिया है। चन्द्रहास के नाम पर बसे हुए ग्राम और उनके द्वारा निर्मित जलाशय आज भी उनके कीर्तिमान बने हुए हैं। उन्होंने अपने बड़े भाई नन्ददास जी की स्मृति में भी ग्राम बसाए और अन्नसत्र की स्थापना की, इस प्रकार भी उनका बड़ा आदमी होना प्रकट है। जब मुगल इतिहास में तुलसीदास जैसे 'युग-पुरुष' का पता नहीं तो फिर उस इतिहास में चन्द्रहास को ढूंढ़ना व्यर्थ ही है। उस इतिहास में चन्द्रहास का पता नहीं होने से उनका उस समय नहीं होना सिद्ध नहीं होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चन्द्रहास को नन्ददास का भाई ही माना है।

बलिया जिले में 'हुलासो सती' के स्थान के निकट जहां तुलसीदास द्वारा मेघा भगत के नाम पर मेघाम० का नामकरण किया गया है, वहीं 'नन्दपुर' नामक स्थान भी है। इसका भी नामकरण उन्होंने अपने प्रिय बन्धु नन्ददास के नाम पर किया है। क्योंकि प्राप्त प्रमाणों से उनका नन्ददास जी से घनिष्ट सम्बन्ध लक्षित होता है।

वार्ता और गोसाईं चरित के प्रसंगों से पता चलता है कि नंददास और तुलसीदास का सम्बन्ध कुछ विशेष घनिष्ठ था। इतना घनिष्ट संबध परस्पर गुरु-भाई होने से ही सम्भव नहीं है। परस्पर उनकी वंशगत निकटता भी होगी। नन्ददास का टोडर और कृष्णदत्त मिश्र के वंश से निकट सम्बन्ध सिद्ध हो जाने से तुलसीदास से उनकी घनिष्ठता का एक आधार स्पष्ट हो जाता है।

अस्तु वार्ता के इस कथन से अस्वीकृति का कोई कारण नहीं कि नन्ददास और तुलसीदास परस्पर भाई थे और 'पूरब' के निवासी थे। भाई 'नाते-रिश्ते' के भी होते ही हैं। वार्ता के अनुसार दोनों के 'पूरब' का निवासी होने से भी इसकी संगति मिल जाती है। वार्ता की रचना पश्चिम में हुई है, अतः इन दोनों भाइयों का जन्म पश्चिम में हुआ होता तो वार्ताकार कदापि उन्हें पूरब का न लिखता। इन दोनों भाइयों में से किसी का जन्म काशी, प्रयाग अयोध्या जैसे तीर्थों या नगरों में भी नहीं हुआ था क्योंकि ऐसा होने पर भक्तमाल में उसका उल्लेख होता भक्तमाल से इतना सूचित होता है कि इनके (नन्ददास के) भाई का नाम चन्द्रहास था। (हि० सा० का इ० पृ० १७४)। वार्ताकार और गोसाईं चरित के लेखक दोनों ही इसका उल्लेख करते एवं

नाभादास और प्रियादास भी इसे छोड़ न देते क्योंकि ये स्थान सर्वविदित हैं ही महत्त्वपूर्ण भी हैं।

पद-प्रसंग माला

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री नागरीदास हैं। इसमें ३६ वैष्णवों से सम्बन्धि विवरण हैं। इसका काल अनुमानतः सं० १७८४ से १८१९ के मध्य है। ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास सम्बन्धी तीन प्रसंग हैं:—

१—प्रेत की सहायता से हनुमान जी का दर्शन और फिर उनके द्वार रामदर्शन। यह प्रसंग प्रियदास की टीका के अनुरूप ही है, नाममा अन्तर है।

२— मृतक के पुनर्जीवित करने की ख्याति सुनकर जहाँगीर द्वारा गोस्वामीज को आमन्त्रित करना और करामात दिखाने के लिए कहना। गोस्वामी जी करामात न दिखाने पर उन्हेंबंदी बनाना और तत्पश्चात् बंदरों द्वारा उत्पात। य भी टीका के अनुसार है किन्तु वार्ता में कुछ नामों का उल्लेख हुआ है जैसे जहांगीर, सलीमगढ़ और अनीराय बड़गूजर। अनीराय के कहने से ही गोस्वामीजी बंदरों द्वारा उत्पात कराया था, जिससे जहांगीर हिन्दू विरोधी कार्य बन्द कर दे

३—तुलसीदास जी के कहने पर श्रीनाथ जी की मूर्त्ति का राममूर्त्ति परिवर्तित होना। यह प्रसंग भी प्रियादासी टीका के अनुरूप है। अन्तर केव इतना है कि इसमें मदन गोपाल के स्थान पर नाथजी की मूर्त्ति है और तुलसीदा के साथ श्री विट्ठलनाथ जी भी हैं।

पद-प्रसंगमाला में गोस्वामी जी द्वारा रचित एक पद भी दिया है जिसकी रचना उन्होंने वृन्दावन में एक वैष्णव के कहने पर की थी। इस पद में अव और गोकुल का एक साथ वर्णन है, जिसका टेक है—'बरनौ अवध गोकुल ग्राम।

इस प्रकार 'पद प्रसंगमाला' में गोस्वामी जी के जीवन वृत्त पर विचा करने के लिए कुछ विशेष प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है।

गौतम चन्द्रिका

'गौतम चंद्रिका' का पता सर्वप्रथम पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने स० १९१ वि० को 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका अंक' १ में किया है। गौतम चद्रिका के उद्धरण उन्हें रामनगर के चौधुरी छुन्नी सिंह की पुरानी बहियों में प्राप्त हुए जिन्हें चौधुरी जी ने उपयोगी जानकर बड़ी विषम परिस्थिति में मूल हस्त-ले से प्रतिलिपि कर रखा था।

गौतम चंद्रिका के विषय में रामचरित-मानस के प्रसिद्ध रूसी अनुवाद श्री वरान्नीकोव ने कहा है—'इसी प्रकार गौतम चंद्रिका से तुलसी के सम्ब में कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ के विवरण अत्यन्त विश्वसनी

प्रतीत होते हैं। इनसे तुलसी के जीवन तथा व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि इस ग्रन्थ की अभी पूरी-पूरी विवेचना नहीं हुई है, फिर भी तुलसी सम्बन्धी नवीन-सामग्री को प्रस्तुत करने वाले इस ग्रन्थ का अपना महत्व है।[1]

श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी कहते हैं—'श्री श्रीकृष्ण मिश्र ने गौतम चद्रिका में तुलसीदासजी का जो वृत्त लिखा है, उसमें कुछ ही बातें आई हैं, पर वे महत्वपूर्ण हैं।[2]

जहाँ तक 'गौतम चंद्रिका' के महत्वपूर्ण होने की बातें कही गई हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, किन्तु क्या वह वस्तुतः सं० १६८१ में श्री श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा रचित हैं? यह विचारणीय विषय है। मूल गोसाई चरित, तुलसी-चरित और सोरों की उपलब्धियों ने ऐसी सामग्री पर एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। अस्तु आँख मूँदकर कुछ भी मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता। गौतम चद्रिका के विषय में भी उसकी सम्भावना पर विचार कर लेना आवश्यक है।

'गौतम चद्रिका' की उपलब्धि के विषय में श्री मिश्रजी का साक्ष्य ही अलम् है फिर भी प्रस्तुत लेखक ने चौ० छुन्नो सिंह के पौत्र चौ० श्री नारायण सिंह (एम० ए०, साहित्याचार्य) से भी इसके सम्बन्ध में पता लगाया। मुख्य बात तो यह है कि गौतम चंद्रिका में ऐसी कोई नवीन उद्भावना नहीं की गई है और न किसी पक्ष विशेष का आग्रह ही दिखाई देता है, जो उसके सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित कर सके। फिर भी ऐसी तीन बातें हैं जिनके विषय में यह सन्देह किया जा सकता है कि उनकी पुष्टि के लिए 'गौतम-चद्रिका' की जाली रचना की गई हो। वे तीन बातें हैं—गोस्वामी तुलसीदास का जन्म-संवत्, ब्याह और गोसाईं होने की समस्या का समाधान।

गोस्वामी जी के जन्म-काल के सम्बन्ध में कई मत हैं किन्तु इस पुस्तक के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि वे सं० १६०० वि० में उत्पन्न हुए थे। इस सवत् का समर्थन मोहनसाईं के गीत से भी होता है[3] और जनश्रुति भी इसका समर्थन करती है।[4] इस ग्रन्थ के अनुसार गोस्वामी जी की पत्नी का नाम यमुना था और वे ५ वर्षों तक उनसे अनुरक्त रहे एवं उन्हीं की शिक्षा से उन्हें पुनः

१—मानस की (रूसी) भूमिका पृ० ३३

२—ना० प्र० पत्रिका सं० १६१२ अक १ पृ० २

३—लगी थी जब इकतीसो रामनौमी गुसाईं जी ने कलम उठाई।
उछाह से राम ब्याह तैंतिस, समाप्ति तिथि मानसी सुहाई ॥४॥
—मोहन साईं का गीत (तुलसी की जीवन भूमि पृ० १३६)

४—संवत् सोलह से असी असी बयस के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर॥

वैराग्य हुआ।[1] राजापुर (बाँदा) की सनद से भी गुसाईं तुलसीदास के नाम के साथ 'जमुना' का उल्लेख हुआ है। इस पुस्तक से ज्ञात होता है कि तुलसीदासजी उजेनीदास नामक गायक भक्त के प्रभाव से कृष्णभक्त गोसाईं बन गए थे।[2] गोस्वामी जी की कृष्णगीतावली और कवितावली में कृष्णचन्द्र सम्बन्धी रचना और उनकी वृन्दावन यात्रा पर विचार करने से यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती। गौतम चन्द्रिका में गोस्वामी जी की जो निधन तिथि दी गई है, उसका समर्थन टोडर के वंशजों द्वारा प्रतिवर्ष परम्परा से गोस्वामी जी के श्राद्ध करने की तिथि और महाराज चरित में उल्लिखित स्वामी राम प्रसाद जी (अयोध्यावासी) की निधन तिथि से भी होता है, जिनका गो० तुलसीदास का अवतार माना जाता है एवं जिनकी जन्म-तिथि भी वही है जो गो० तुलसीदास की है। यथा

बाल्मीकि तुलसी भयो तुलसी राम प्रसाद।

स्वामी रामप्रसाद जी की जन्म-तिथि और मरण तिथि भी वही है, जो गो० तुलसीदास की यथा—

संवत सत सत्रह के ऊपर। दुगुन तीस जब रहे मनोहर॥
सावन सुदि सत्तमी सुहाई। ब्रह्म मुहूरत अति सुखदाई॥
लगन जोग दिन मंगलकारी। प्रगटेउ सिसु सुंदर तनधारी॥

(महाराज चरित ११)

और—अठारह सौ विक्रमी संवत् इकसठ जान।
श्रावण कृष्णा तीज तिथि, दिव्य दिवस अवसान॥"

(वही, १३४)

इस ग्रंथ की विचार-प्रणाली और शब्द योजना भी तुलसी काल की जान पड़ती है, अस्तु इन बातों पर विचार करते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि गौतमचंद्रिका एक प्रामाणिक और विश्वसनीय उपलब्धि है। इसके द्वारा तुलसी के जीवनवृत्त संबंधी अनेक आवरण उठ गए हैं एवं तत्संबंधी विवेचना सुगम हो गई है। यद्यपि क्रमबद्ध रचना प्राप्त न होने से, और यत्रतत्र लिपि के अस्पष्ट होने के कारण ठीक-ठीक पढ़ा न जाने से, इसके उल्लेख कहीं-कहीं भ्रमोत्पादक हो सकते हैं एवं विवरण क्रम मिलाने में भी भूल हो सकती है किन्तु अंतसक्ष्य एवं अन्य प्रमाणों का ध्यान रखते हुए सावधानी पूर्वक विचार करने से इन त्रुटियों से बचा जा सकता है। यदि कहीं कोई अंश प्रक्षिप्त भी जान पड़े तो भी इसकी उपयोगिता कम नहीं होती।

१—जमुना सिष सरऊ सुधि आई।'

२—कृष्ण कीर्ति ध्वज सजि फहराई। तुलसीदास बजि भए गोसाईं॥

गौतम चन्द्रिका का प्राप्त विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—

१—गोस्वामी तुलसी दास का अवतार लोक मंगल के लिए हुआ था। उनके हृदय में भगवान शंकर की प्रेरणा से प्रकाश प्राप्त हुआ एवं प्रतिभा का स्फुरण हुआ।[1]

२—गोस्वामी जी का दृष्टिकोण संकीर्ण संप्रदायवादी न था, वे पंच देवोपासक थे और वे शिव पार्वती, अन्नपूर्णा, कृष्णचंद्र आदि की पूजा करते थे।[2]

३—जब उनके प्रथम गुरु नरहरिदास अयोध्या से हटकर नर्मदा तट पर कुटी बनाकर रहने लगे, तब तुलसी दास उनसे अलग हो, बाल्मीकि आश्रम के वन में चले गए और यमुना तट पर यमुना नामक स्त्री के साथ परिणय संबंध कर उसमें अनुरक्त हो गये एवं उसी के उपदेश से उन्हें पुनः सरयूतट की सुध आई। वे वहाँ से चलकर अयोध्या आए। वहाँ जब नरहरि दास से भेंट नहीं हुई तो काशी चले आए और यहाँ ब्रह्मचारी आनन्द कानन के शरणापन्न हुए। ब्रह्मचारी आनन्दकानन परम विद्वान दक्षिणी ब्राह्मण थे तथा शिवकेदार पर रहते थे। यहाँ पर उन्होंने काशी की पंच कोसी यात्रा की और बहुत से वैष्णव साधुओं का सत्संग प्राप्त किया। यही टोडर के घनिष्ठ संबंधी भगवान ब्राह्मण के पुत्र श्री कृष्णदत्त मिश्र से उनका परिचय हुआ। श्री कृष्णदत्त ब्रह्मचारी आनन्दकानन के यहां सामवेद का अध्ययन करते थे। इन्होंने ही तुलसीदास के निधन के पश्चात् गौतम चन्द्रिका की रचना की थी।[3]

श्री कृष्णदत्त मिश्र की वंश परम्परा का परिचय पाकर तुलसीदास व्याकुल हो उठे, उनकी आंखों में आंसू आ गये और उनके मुँह से अकस्मात् निकल पड़ा।

हा! कुल देवि गौतमी माता। तोहि ग्रसि काल ग्रसेउ कुलत्राता॥
पितु सपना सुषुप्ति महँ माई। स्रुति परिवात सिमृति वनि आई॥

इससे ज्ञात होता है कि उनका ननिहाल गौतम वंश में था, जिसमें श्री कृष्णदत्त उत्पन्न हुए थे। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उनके माता-पिता बाल्यावस्था में ही मर गए थे।

४—वे नियमित रूप से गंगास्नान, संध्यापूजा, सूर्य को अर्घ्य, श्री विश्वनाथ जी, बिन्दु माधवजी, हनुमानजी की पूजा और अध्यात्म रामायण का पूर्ण पाठ

---

[1] १—त्यागि समाधि संभु तब जागे कासी जोति जगावन लागे॥

[2] २—श्रीपति तुलसी कृष्न उमा सिव। नाम जपत मंगल दिन रातिव॥

[3] ३—संवत सोरह से एकासी। तुलसी बरखी असी प्रकासी।
सावन कृष्न तीज तिथि पाई। यहु गौतम चंद्रिका पुराई॥

कर लेते थे। मधुकरी बृत्ति, कपिश पट, शिखा सूत्र और तुलसी की माला धारण करते और लिखते रहते थे। प्रतिदिन मंदिरों में जाकर स्वरचित पद गाते थे, जिसे लोग बड़े चाव से सुनते और स्वयं यादकर गाते फिरते थे। काशी में तुलसी की धूम मच गई। संप्रदायवादी गोसाईं लोगों ने तुलसी से अप्रसन्न हो कर उन्हें मार डालने के लिए कुमंत्र (कृत्या) का प्रयोग किया और उनके मार्ग में रोड़े अटकाने लगे। आनन्दकानन ब्रह्मचारी ने मन्त्रबल से कुमन्त्र के प्रभाव को दूर किया और टोडर को बुलाकर परिस्थिति से अवगत कराया। टोडर गोसाइयों के कुकृत्य से रुष्ट हुए और तुलसीदास को असी घाट पर ले गये। वहां उन्होंने तुलसीदास के लिए सुन्दर गृह का निर्माण कराकर वहीं रखा। वे तुलसीदास के मित्र बन गए।[1]

५–एकबार गंगा में भयानक बाढ़ आई। महात्मा आनन्दकानन ने मंत्र जाप और तुलसीदास ने व्रतपूर्वक गंगा पूजन किया। बाढ़ उतर गई। लोगों ने पंच कोशी देवताओं का पूजन किया। इस घटना से तुलसीदास का महत्व बढ़ गया।[2]

६—मार्गशीर्ष मास में तुलसीदास ने जनकपुर की यात्रा की। साथ में श्री कृष्णदत्त को भी लेने गए। वहां विद्यापति ठाकुर के वंशज रमाबंधु ठाकुर से भेंट हुई। उन्होंने गोस्वामी जी को पीताम्बर दिया।[3]

७—तुलसी दास के सत्संगियों में काशीनाथ, समर सिंह, गगाराम, कैलास, उजेनी, भजनगोप हरिवश, जैराम सेठ, सिमाराय, तम्बोली, नाथू नापित, रामू केवट, खेलावन चमार, वोवीगोंड़, हरी, मोर धाढी, जसन जुलाहा आदि सभी जातियों के लोग थे, इसलिए कुछ लोगों ने इन्हें कुजाति कहा किन्तु तुलसीदास ने इसकी चिन्ता न की।[4]

८—नरहरि दास अन्तिम समय काशी आए और यहीं शरीर त्याग किया। तुलसीदास ने इनकी अन्त्येष्टि की। कुछ दिनों बाद आनन्दकानन भी ब्रह्मलीन हो गए। तत्पश्चात् १८ वर्ष की आयु में श्रीकृष्णदत्त अपने घर चले गए और तुलसीदास ने अपने बहुत से साथियों के साथ उत्तराखण्ड की यात्रा में गए। इस

---

[1] ते सब समाचार सुनि कोपे। असी घाट पर तुलसिहि रोपे ॥
रुचिकर तुलसी थल निरमाने। टोडर केहु कै बात न माने ॥

[2] पंच कोस फेरी फिरे विजय निसान बजाइ।
सुबस बसी कासी असी सुषमा नित अधिकाई ॥

[3] सुनि ठाकुर तब तुलसिहिं चीन्हे। प्रीति रीति पीतांबर दीन्हे ॥

[4] जोरिपंच मडली बनाए। तुलसिहिं पतित कुजाति बनाए ॥
तुलसी स्रवन परी सो बाता। बोले हुलसित पुलकित गाता ॥

समय वे २८ वर्ष के थे। हरद्वार, नरनारायण, गंगोत्री जमनोत्री, शिवकेदार, कैलास, मानसरोवर की यात्रा कर आयु के ३१ वें वर्ष में अयोध्या आकर रामचरितमानस का प्रारम्भ किया।[1]

९—इन्होंने चारों धाम और चारों चढ़ाव भी किए। गंगासागर, पुष्कर, कुरुक्षेत्र और वृन्दावन भी गये। कुरुक्षेत्र में महाभारत का पाठ किया। गया जाकर पितरों को पिंडदान दिया। इसके बाद नर्मदा तट पर जाकर गुरुवेदी की वन्दना की।[2]

१०—तीर्थ यात्रा से लौटकर काशी आए, वहाँ अन्नपूर्णा की पूजा की रामलीला और दसहरे का उत्सव मनाया, बाल्मीकि-रामायण श्रवण किया, व्यास को सन्तुष्ट कर दीपावली को राम-राज्य का उत्सव मनाया।[3]

११—गोस्वामी तुलसीदास की प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई। कमच्छा के मेघाभगत, नित्य इनका चरण पखारते थे। नाभादास जी ने इन्हें भक्तमाल का सुमेर बनाया। प्रतिदिन बहुत से लोग दर्शन के लिए आते थे, जिनमें बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब प्रकार के लोग होते थे। देश-देश के राजा-रईस आते थे और बहुत सा धन देना चाहते थे किन्तु गोस्वामी जी लेना स्वीकार नहीं करते थे। बुरे-भले सब लोग तुलसी की ओर आकर्षित हुए। जो लोग भोजन-वस्त्र की अभिलाषा से वहाँ जाते थे, उन्हें आदरपूर्वक भोजन वस्त्र दिया जाता था।[4] जो लोग शिक्षा-दीक्षा के लिए जाते थे, उनसे गोस्वामी जी यही कहते थे कि मुझमें गुरु होने की योग्यता नहीं है, मैं तो राम का दास हूं।

१२—एक दिन टोडर पर जबकि वे अपने आम्रवन में अकेले थे, गुसाइयों ने डाकू का भेष बनाकर आक्रमण किया। वीर टोडर वृद्धावस्था में भी उनसे भिड़ गए, परन्तु गहरी चोट लगने से उनका स्वर्गवास हो गया।[5] तुलसीदास इस घटना से बहुत दुःखी हुए और शोक में पाँच दोहों की रचना की।

१३—सं० १६६८ के आधा आषाढ़ में गोस्वामी जी को बाँह में पीड़ा उठी। श्री हनुमान जी की कृपा से श्रावण में उसका निवारण हुआ।[6] इसी

१—मानस सरवर सलिल नहाए। निज मानस आनन्द पुराए॥
संभु प्रसाद तीस फल पाए। इकतिस फलत अवधपुर आए॥

२—गुरु-पद-रज वेदी करि वंदन। गए गया तीरथ विधि मंडन॥

३—पूजि कबीस कपीस पुजारी। रामराज लीला विस्तारी॥

४—भोजन बसन हेतु जे आवहिं। ते तुलसी दल सादर॥

५—तोडर बूढ़ गरजि बिरुझाई। नरकेहरी वीरगति पाई॥

६—तुलसी बाहु बढ़ी तन पीरा। तासु निवारे हनुमत वीरा॥

वर्ष टोडर के वंशजों के झगड़े में काजी और पंचलोगों को बुलवाकर पंचायत कराई और अपने हाथ से पंचनामा लिखा।

१४—रुद्रवीसी में बड़ी भयानक महामारी फैली। बहुत से लोग मर गए और कष्ट पाने लगे। तुलसीदास अनेक दुःखी लोगों के लिए औषधि, उपचार और खाने पीने का प्रबन्ध करते थे[१] और सबके साथ समान व्यवहार करते थे। कुछ दिनों में महामारी शांत हुई।

१५—गोस्वामी जी के निधन के सम्बन्ध में ये दोहे दिए हैं—

सोरह अनुगुन असी वय तुलसी सहित हुलास।
राम राम' कहि विदा ह्वै, असी गंग किए बास॥
राम कृपा हुलसी जनित, तुलसी विरवा सोइ॥
लै हलरावति सुरधुनी जल अंचल महँ गोइ॥

१६—तुलसी का अष्टांग योग[२]—इस योग में तुलसी की आठ रचनाएं गिनाई गई हैं—

(१) राम गीतावली, (२) पदावली (विनय पत्रिका), (३) कृष्ण-गीतावली, (४) रामचरित मानस, (५) बरवै, (६) दोहावली और शकुनावली, (७) कवितावली और (८) सोहिलोमंगल (क) रामलला नहछू, (ख) जानकी मंगल (ग) पार्वती मंगल।

गौतम चन्द्रिका में अन्य विवरण इस प्रकार है—

(१) टोडर का वर्णन—ये काशी में असी के भू-स्वामी थे।[3] धर्मात्मा, धीरवीर, बलवान, शत्रुओं का मदचूर करने वाले, नम्र, सुशील, विद्वान, गुणवान, कृतज्ञ, नीतिज्ञ, शरणागत रक्षक, गो-ब्राह्मण और साधुसंतों के हित-चिंतक दुष्टों का दमन करने वाले महामहीप के समान उदार और विशालकाय पहलवान थे। इनके भारी मुग्दर और गदा को कोई भाँज नहीं सकता था। एक बार बरुना मठ के नंदेश्वर मन्दिर पर मुसलमानों ने धावा किया। इन्होंने वरैनी के तलवार बहादुर योद्धाओं और काशीवार लठैतों की सहायता से उन्हें मार भगाया। इस विजय के उपलक्ष में काशी की जनता ने उनका बड़ा सम्मान किया।

(२) श्री श्रीकृष्णदत्त मिश्र ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पितु भगवान पार्वति माता। गौतम कासिवार विख्याता॥
गंगा तीर गढ़ौली गाऊँ। सामग कृष्ण दत्त मम नाऊँ॥

---

(१) असन बसन औषधि उपचारू। पावहिं सब समता व्यवहारू॥
(२) यह अष्टांग जोग तुलसी को। साधे सोरहु स्रुति फल नीको॥
(३) कासी असी भूमि अधिकारी। सुकृती धीर धर्म व्रतधारी॥

(३) वरैनी ग्राम के मुखिया श्रीधर के विषय में कहा गया है कि वे नीतिमान, पुनीत, बड़े ही ईमानदार पंच, सबको समान समझने वाले, मिलनसार और राम भक्त थे। उनके पास टोडर की दी हुई रामचरित मानस की प्रति थी, जिसका वे नित्य पाठ और पूजन करते थे।

(४) गौतम चद्रिका के पूर्ण होने के विषय में कहा गया है कि सं० १६८१ में श्रावण कृष्ण ३ को तुलसी की वार्षिकी के अवसर पर इसे पूरा किया। इससे ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी की स्मृति में इसकी रचना हुई।

५—ग्रन्थ में गौतमवंश का विवरण इस प्रकार दिया गया है—जब सीता जी पृथ्वी में समा गईं। श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण चन्द्र गोलोक वासी हुए। धर्म के रक्षक राजा परीक्षित भी नहीं रह गए। यवन राजाओं के समय में राजनीति नष्ट हो गई, तब धैर्यशील धर्मात्मा ब्राह्मण अधीर हो उठे। व्याकुल होकर शरवार देश के ब्राह्मणों ने स्थानांतरण किया। उसी समय गौतम गोत्र के विवेकशील ब्राह्मण काशी में आकर रहने लगे काशिराज का आश्रय पाकर वे कांशीवार गौतम कहलाने लगे।[1] जब जयचन्द का भी नाश हो गया (और कान्यकुब्ज पर मुसलमानों का अधिकार हो गया) तो कान्यकुब्ज देश के भूमिहार (भूम्याधिकारी) ब्राह्मण अपना स्थान छोड़ रामापुर में आ गए और गौतमवंश से संबंध स्थापित किया।[2] गौतमवंश के सम्बन्धी बकसर के पार्श्ववर्ती ब्राह्मण, एकसार के एकसरिया, भार्गव वंश या भृगुक्षेत्रीय, मैथिल या मिथिला निवासी, मगध के निवासी और एघु के ब्राह्मण हैं।[3] इसी वंश में तपतेज में उजागर कृष्ण मिश्र हुए, जिन्होंने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक लिखा।[4] इन्हीं के वंश में निखहू मिश्र ने लगातर बारह वर्ष तक चलने वाला यज्ञ किया

---

(१) काल जवन कुरु कलिबल पाई। रसा राजकुल-नीति नसाई।।
धम्धीर द्विज धीरज त्यागे। सरवारी कुल आकुल भागे।।
गौतम गोत्रज विवेकी। परे आइ कासी महँ छेंकी।।
कासिराज दें बाँह बसाए। गौतम कासीवार कहाए।।
(२) जयचन्दहु बिनसिगे जबही। भूमिहार कनउज के तबहीं।।
तजि निज ग्राम रमापुर छाए। गौतम कुल संबंध बढ़ाए।।
(३) बकसर एकसर भार्गवो मिथिला मगधी एहु।
गौतम कासीवार के संबंधी गनि वेहु।।
(४) तेहिकुल प्रगटे ज्ञान प्रभाकर। कृष्ण मिश्र तपतेज उजागर।।
जिन्ह प्रबन्ध चन्द्रोदय कीन्हे। महामहोंमय तम हरिलीन्हे।।

और इस बीच में वे कभी चारपाई पर नहीं बैठे। इसलिए निखहू नाम से प्रसिद्ध हुए। कबीरदास ने इनके नाम पर होली की रचना की। इस वश के मोतीसिंह नें मुसलमान बादशाह से भूमि ले ली और मोतीगढ़ बसाया। इनके बाद वीरसिंह ने मुसलमानों को पराजित कर गौतम वंश की भूमि की रक्षा की।[५]

गौतम चन्द्रिका के यत्रतत्र बिखरे हुंए उद्धरण एकत्रित कर क्रमबद्ध किए गए है, इसलिए उनके संबंध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं —

'कुछ पंक्तियां नहीं पढ़ी जा सकीं। कुछ में शब्दांतर भी हो सकता है।'

'जिस क्रम से अंश संकलित है, वही उनका क्रममूल में भी हो, ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि वहां से उतारने में इधर-उधर भी हो जा सकता है।'

'गौतम चन्द्रिका' का रचयिता बहुज्ञ और विद्वान् प्रतीत होता है। उसकी विचार-सरणि पांडित्य पूर्ण, शब्द योजना सुष्ठु और रचना प्रौढ़ है। वर्णन उछलने कूदने पर्वतीय-प्रवाह की भांति गतिमान है, कहीं शिथिलता का दर्शन नहीं होता। सुन्दर रूपक, श्लेष माला आदि अलंकारों की भरमार है। इसकी शैली तुलसीकालीन प्रतीत होती है और 'राउत' 'एहु' आदि शब्दों के प्रयोग भी इस अनुमान की पुष्टि करते हैं किन्तु कुछ ऐसे प्रयोग भी हैं जो नवीन जैसे लगते हैं, जैसे—'अविचल कीर्ति जलति जग माहीं' में 'जलति' शब्द, 'नम्र-सुसील रहित अभिमाना' में 'लिखनी प्रधान' 'अरु रैदास षेलावन नामू' में रैदास 'जहँतहँ सरुवारिन्ह कर बासा' में 'सरुवारिन्ह'; रामप्रदत्त-भूमि अधिकारी' और 'भूमिहार कनउज के तबहीं' में 'भूमिहार' शब्द का प्रयोग कुछ नवीन सा लगता है। यद्यपि श्री मिश्र जी के इस कथन से कि 'कुछ पंक्तियां पढ़ी नहीं गईं, कुछ में शब्दांतर हो सकता है, अनेक शंकाओं का समाधान हो जाता है फिर भी निम्नांकित प्रश्न विचारणीय हैं—

क—क्या तुलसीकाल में 'रैदास' का लाक्षणिक प्रयोग चमार जाति के लिए प्रचलित हो गया था अथवा यहां रैदास, खेलावन के समान ही किसी का नाम है?

ख-क्या सतरहवीं शताब्दी में 'सरवरिया' ब्राह्मणों का उपवर्ग अखिलब्राह्मण समाज से अलग गठित हो गया था? और क्या उसके विषय में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा बाण फेंककर भूमिदान देने की जनश्रुति भी प्रचारित होने लगी थी?

---

(५) राखे गोतमा गांव लरि वीरसिंह बरियार।

(६) ब्राह्मणों के भेदोपभेदों की गणना भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना होने के सैकड़ों वर्ष बाद हुई तथा मुगलकाल तक उसमें स्थिरता और रुढ़िवादिता का समावेश न हो पाया था।

श्री कुलदीपनारायण—विकास की एक धारा भाग २ पृ० ७८

इन दोनो बातों की सम्भावना चौदहवीं शताब्दी में हो गई थो, जबकि मुसलमानों के आक्रमणों से आतंकित होकर ब्राह्मण समाज स्थानांतरण करने तथा छोटे-छोटे वर्गों में संगठित होने लगा था। सतरहवीं शताब्दी तक उनके संगठनों और उनके सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों को पुष्टरूप मिल जाना असम्भव नहीं हैं।

ग—'भूमिहार' शब्द का प्रयोग अठारहवीं शती विक्रमी तक के किसी लेख में नहीं मिलता। 'आईन-अकबरी' में भूमिहार-ब्राह्मण जमींदारों के लिए केवल ब्राह्मण (जुन्नारदार) लिखा है।[1] यहां तक कि लार्ड कानवालिस के स्थायी-बन्दोबस्त के कागजों तथा तत्कालीन अंग्रेज लेखकों के लेखों में भी इनके लिए केवल 'ब्राह्मण' आया है जिससे ज्ञात होता है कि तबतक 'भूमिहार' शब्द का व्यापक प्रयोग और प्रचार नहीं था किन्तु कान्यकुब्ज वंशावली से विदित होता है[2] कि बाबर के समय में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का एक सत्ताधारी उपवर्ग भूमिहार कहलाता था और बाबर ने इनपर चढ़ाई करके इन्हें मटियामेट कर दिया था। उस समय जो ब्राह्मण बच गए, स्थानांतरित होकर काशी के आस-पास और विहार में बस गए। अतः संभव है तुलसी काल में 'भूमिहार' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में न होकर विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता हो क्योंकि इस विशेषण शब्द का निर्माण तो हो ही गया था जैसा कि टीकापुर बीबीपुर (आजमगढ़) में मिले एक अदालती गवाही के कागज से विदित होता है जिसमें 'भूमिहार' शब्द स्पष्ट रूप में प्रयुक्त है, जाति के रूप में नहीं। यह कागज उन्नीसवीं शती विक्रमी का है।

अस्तु ऐसी स्थिति में गौतम चंद्रिकांतर्गत 'भूमिहार' और सरुवरिया नामों का प्रथम प्रयोग मिलना, उसका एक अन्यतम ऐतिहासिक महत्व है।

घ—गौतम चन्द्रिका में 'हरि-हरवाहू' और 'जसन जोलहाहू'।[3]
में जो अनुप्रास है, वह अनायास है अथवा ये नाम अनुप्रास लाने के हेतु

१—'आईन-अकबरी' में यह ब्राह्मण नाम 'भूमिहारों' के लिए आया करता है अर्थात् वहां के जमींदार भूमिहार ब्राह्मण थे।' —श्री नेविलकृत
गाजीपुर गजेटियर पृ० १९५

२—मदारादिपुराख्यस्य भूमिहारा द्विजास्तु ये।
—कान्य कुब्ज वंशावली (मुकुन्दरामकृत)

१—नाथू नापिता केवट रामू। अरु रै दास खेलावन नामू॥
बोधी गोड़ हरी हरवाहू। धाढ़ी मोर जसन जोलहाहू॥

कल्पना प्रसूत हैं। इसी प्रकार 'समर सिंह रजपूत ग्रामपति' में समर सिंह नामक राजपूत-गुण स्वभाव के अनुसार रखा हुआ होने से कल्पित है या वास्तविक? यद्यपि अनुप्रास और जातीय गुणों के अनुसार ऐसे नामों का होना असम्भव नहीं है।

गौतम - चन्द्रिका में कई ऐसी बातें मिलती हैं, जिससे उसके प्रामाणिक होने का विश्वास जमता है जैसे।

बगसर, एकसर, भार्गवी, मगही, मिथिला, एहु।

में जिन स्थानों की नामावली दी गई है, वहाँ मुगल काल में ब्राह्मण राजा राज्य करते थे किन्तु इनमें कई स्थानों से उत्तर-मुगल-काल अथवा अंग्रेजी काल में उनकी जमींदारी जाती रही थी, जैसे—बगसर, भार्गवी[1] (भृगुक्षेत्र) और एहु[2] (एघु) अस्तु आधुनिक ग्रंथकार इन स्थानों के नाम का कदाचित् उल्लेख नहीं करता।

'गौतम चन्द्रिका से तुलसी दास के सम्बन्ध में जो मुख्य बातें ज्ञात होती हैं, उनसे प्रायः अबतक की ज्ञात बातों का ही रहस्य खुलता है जैसे उनकी माता का नाम 'हुलसी' और पत्नी का नाम 'यमुना' होने के सम्बन्ध में जो शंकाएँ उठती थीं उनका निवारण हो जाता है और वे कब से और क्यों 'गोसाईं कहलाने लगे, इसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है। इसी प्रकार उनके लोक रीति में पड़ने, शत्रुओं के ढँढरच आदि बातों की गुत्थी भी खुल जाती है। इस दृष्टि से उक्त ग्रंथ की विशेष उपयोगिता है।

हो सकता है, जल्दबाजी के कारण उद्धरण लेने में कहीं कहीं भूलें हो गई हों उक्त उद्धरणों की पुनः अनुकृति करते समय घसीट लिपि दोष और लिखावट के घसे होने से भी जहाँ तहाँ कुछ का कुछ लिख जाना सम्भव है। उद्धरणों को अनेक स्थानों से उठा कर क्रमबद्ध करते समय असंगति दोष की सभावना है, परन्तु जब तक मूल ग्रंथ उपलब्ध न हो, वह जिस रूप में प्राप्त है, उस ही प्रमाण मानना होगा। अस्तु हम इस ग्रंथ को प्रमाण स्वरूप ही ग्रहण करेंगे।

भक्तमाल, प्रिया दास, की टीका और वैष्णव दास की टिप्पणी ॥

श्री नाभा दास जी कृत भक्तमाल की रचना संवत १६१५ के लगभग हुई। इस पर प्रियादास ने सं० १६६६ वि० में छंदोबद्ध टीका लिखी। इसके

---

[1] —भार्गवी का अभिप्राय भार्गव (भृगुवंशी) ब्राह्मणों का क्षेत्र भी हो सकता है जो आजमगढ़ जिले में टीका पुर बीबी पुर के आस-पास हैं।

[2] —'एघु' मुंगेर जिले का एक स्थान है जहाँ अकबर के समय में चक्रवार राजा राज सिंह राज्य करते थे। ये अकबर के मित्रों में थे। बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ ने इस राज्य को विध्वंस कर यहाँ के अल्पवयस्क राजा को धोखे से मरवा डाला।

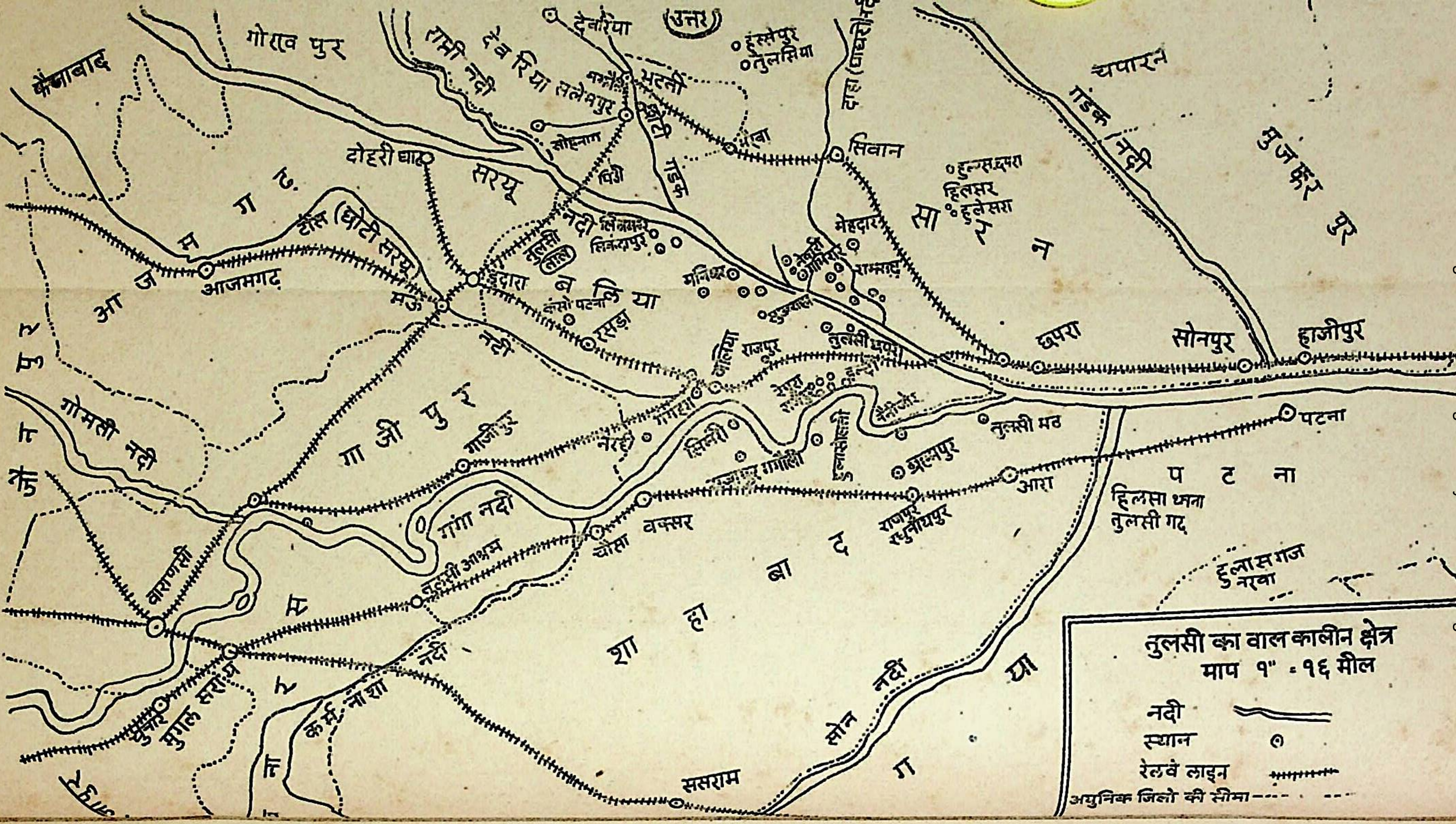
तुलसी का वाल कालीन क्षेत्र
माप १" = १६ मील
नदी
स्थान
रेलवे लाइन
अधुनिक जिलों की सीमा
उत्तर
फैजाबाद
गोरख पुर
रामी नदी
देवरिया
देवरिया सलेमपुर
भटनी
मझौली
छोटी गडक
सोहनाग
भिंगी
दोहरी घाट
सरयू
नदी
टौंस (छोटी सरयू)
आजमगढ़
आ ज म ग ढ़
मऊ
इंदारा
तुलसी ताल
सिकन्दरपुर
ब लि या
कंसो पटना
रसड़ा
मनियर
हुसेपुर
तुलसिया
सिवान
हुल्सछपरा
हिलसर
हुलेसरा
सा र न
मेहदार
राजपुर
तुलसी छपरा
छपरा
सोनपुर
हाजीपुर
चंपारन
गंडक नदी
मुजफ्फर पुर
नरही
सिमरी
गाजीपुर
गा जी पु र
गोमती नदी
गंगा नदी
वाराणसी
जौ न पु र
मुगल सराय
चुनार
म
र
बक्सर
चौसा
कर्मनाशा नदी
पटना
प ट ना
हिलसा थाना
तुलसी गढ़
हुलास गंज
नरवा
आरा
तुलसी मठ
शा हा बा द
सोन नदी
सासाराम
गया

साथ संवत १८०० वि० में वैष्णव दास द्वारा टिप्पणी जोड़ी गई।

नाभा दास जी, गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन एक प्रसिद्ध महात्मा हो चुके हैं। अतः इनका कथन सर्वथा प्रमाणित और सर्व मान्य है, किन्तु इन्होंने एक छप्पय में गोस्वामी जी की प्रशंसा मात्र कर दी है जिससे इतना ही ज्ञात होता है कि भक्तमाल के रचना-काल तक 'राम चरित मानस' वाल्मीकि रामायण का स्थानापन्न माना जाने लगा था और उसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास बाल्मीकि जी के अवतार। वे सदैव 'रामचरण रसमत्त' रहते थे। उनकी रामायण कलि के कुटिल जीवों के निस्तार के लिए सुगम नौका के रूप में प्रख्यात हो चली थी।[१]

प्रियादास ने अपनी टीका में ग्यारह मनहर छंदों में सात प्रसंगों के विवरण दिए हैं। जो इस प्रकार हैं—

१—उनकी पत्नी उनसे बिना पूछे ही पिता के घर चली गई, किन्तु वे अपनी पत्नी में इतने अनुरक्त थे कि विरह की पीड़ा से व्याकुल होकर वे भी उसके पीछे ससुराल पहुंच गये। पत्नी उनके इस व्यवहार से बहुत लज्जित हुई। उसने फटकारते हुए तुलसी दास से कह दिया कि जैसी प्रीति इस हाड़ चाम' के नश्वर शरीर से है, वैसी यदि राम से होती तो उद्धार हो जाता। यह सुन कर तुलसीदास के अंतर्चक्षु खुल गए। वे अपने विगत जीवन पर पश्चात्ताप करते हुए काशीपुरी आए और वहां निवास करते हुए श्री रामचन्द्र जी के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा से पूजा-आर्चा में रत हुए।[२]

---

(१) त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन।।
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
राम चरन रसमत्त रहत अहनिसि व्रतधारी।।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।।भक्तमाल।।

(२) तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई,
भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आए हैं।
वधू अति लाज भई रिस सों निकसि गई,
प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं।।
सुनी जब बात मानो होइ गयो प्रात,
वह पाछे पछितात, तजि काशी पुरी धाए हैं।

२—इनके शौच-पश्चात् के शेष जल से तृप्त होकर एक भूत ने इन्हें हनुमान जी के दर्शन का उपाय बताया। एक स्थान पर रामायण कथा होती थी, जहां घृणित भेष में हनुमान जी नित्य प्रति सर्व प्रथम जाते और सबके अंत में लौटते थे। इस पहचान के अनुसार तुलसी दास जी उनके पीछे-पीछे वन के मध्य तक गए और वहाँ उनके पैर पकड़ कर उनसे श्री रामचन्द्र जी के दर्शन कराने का वरदान प्राप्त किया।[3] श्री हनुमान जी की कृपा से उन्हें रंगीन राजसी वस्त्रों से युक्त घोड़े पर चढ़ कर जाते हुए श्री राम-लक्ष्मण के दर्शन हुए।

३–एक हत्यारा ब्राह्मण प्रायश्चित के निमित्त भीख मांगता हुआ और राम-राम कहता हुआ तुलसीदास के द्वार पर आया। तुलसी दास ने उसे राम-राम कहने के प्रभाव से पवित्र जानकर अपने साथ भोजन कराया। इस घटना से बिगड़ कर ब्राह्मणों ने सभा की और तुलसी दास से पूछा कि आप ने उस पापी को किस आधार पर पवित्र मानकर उसके साथ भोजन किया ? गोस्वामी जी ने उत्तर दिया कि अपने ग्रंथों को पढ़ कर देखो कि उसमें राम नाम का क्या माहात्म्य है ? ब्राह्मणों ने कहा—यदि शिवजी के बैल नंदी हत्यारे के हाथ का प्रसाद ग्रहण करें, तो हम आपकी बात का विश्वास करेंगे।[4] गोस्वामी जी की प्रार्थना से नंदी ने हत्यारे के हाथ का अन्न खा लिया।

४—एक बार कुछ चोर गोस्वामी जी के मकान में चोरी करने गए। वहां उन्होंने धनुषबाण धारण किये हुए श्याम किशोर पहरेदार देखे। आश्चर्य से उन्होंने प्रातःकाल गोस्वामी जी से जिज्ञासा की। गोस्वामी जी इस घटना को सुनकर मौन हो गए। उनकी आंखों में आंसू आगए। उन्होंने यह जानकर कि मेरे धन के लिए श्री रामचन्द्र जी को रात भर पहरा देना पड़ता है, अपना सारा धन लुटा दिया। उनसे शिक्षा पाकर चोर भी पवित्र हो गए।[5]

कियौ तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकाश कीनौ,
लीनौ दृढ़ भाव नैन रूप के तिसाए हैं ।।

(३) 'मांगि लीजै वर' कही दीजै 'राम भूप रूप'
अति ही अनूप तिन नैन अभिलासिये।

(४) 'आवै जो प्रतीति कहौ' कही याके हाथ जेवैं'
शिव जू को बैल तब पंगति मे लीजिए।

(५) भोर आय पूछे 'अजू सांवरो किशोर कौन ?
सुनि करि मौन रहे आंसू डारि दिए हैं।
दै सबै लुटाय जानी चौकी राम राय दई,
लई उन्हौं दीक्षा सिक्षा सुद्ध भए हिए हैं ।।

५—एक वार एक सती होने के लिए जाती हुई स्त्री ने इनके पैर छुए, इन्होंने उसे सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया, परन्तु जव वास्तविकता प्रकट हुई तो उसके पति को जीवित कर अपनी बात पूरी की।

६—दिल्ली के वादशाह ने जव उपर्युक्त घटना की ख्याति सुनी तो इन्हें अपने यहाँ अहदी भेज कर बुलवाया और बड़े आदर से करामात दिखाने के लिए कहा।[1]

गोस्वामीजी बोले—ये बातें मिथ्या हैं। एक मात्र 'राम' को पहचान कीजिए। बादशाह यह कहकर कि देखें राम कैसा है? गोस्वामी जी को बंदी बना लिया। गोस्वामी जी ने श्री हनुमान जी की प्रार्थना की।[2] सारा दुर्ग बंदरों से भर गया, जो लोगों को कष्ट देने लगे और वहां उनका रहना कठिन कर दिया। वादशाह ने गोस्वामी जी से कष्ट मुक्ति की प्रार्थना की। उन्होंने उससे उक्त दुर्ग छोड़, दूसरा बनाने के लिए कहा। वादशाह ने ऐसा ही किया। गोस्वामी जी वहां से चलकर वृंदावन आए और नाभादास जी से मिले।

७—वृंदावन में गोस्वामी जी मदनगोपाल जी के विग्रह के दर्शनार्थ गए, वहां उन्होंने रामरूप में दर्शन देने की प्रार्थना की।[3] उक्त विग्रह रामरूप में परिणित हो गया। यहां किसी ने कहा कि श्री कृष्ण पूर्णावतार हैं किन्तु श्री राम अंशावतार। यह सुनकर उन्होंने कहा कि मैं तो केवल दशरथ का पुत्र एक महापुरुष जानकर श्री रामचन्द्र जी से प्रेम करता हूं। तुमने उनके ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया, इससे मेरा अनुराग उनके प्रति और बढ़ गया है।

प्रियादास की टीका से गोस्वामी जी की निम्नांकित अंतर्वृत्तियों का स्पष्टीकरण होता है।

क—एक ही बात से गोस्वामी जी का विषयलिप्सुमन भगवान् की ओर उन्मुख हो गया, इससे उनके सरल चित्त विवेकशील और दृढ़ निश्चयी होने का पता चलता है।

ख—उनके हृदय में भगवत् प्रेम की अटूट और असीम धारा बह रही थी और उसी की सीमा के अंतर्गत वे कुछ भी सोचते विचारते और करते थे।

१—दीजै करामात जग ख्यात सब मात किये।
कहीं झूठ बात एक राम पहिचानिए।

२ - देखें राम कैसो' कहि कैद किए, किस हिए।
'हूजिए कृपाल हनुमान जू दयाल हो॥

३—मदन गोपाल जू को दरशन करि कही,
'सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है॥

ग—उनके मन में राम नाम के प्रति अद्भुत निष्ठा थी। उनका विश्वास था कि राम का नाम लेने मात्र से घोर पापी भी पवित्र हो जाता है और इसके द्वारा असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं।

घ—उनको हनुमान जी की शक्ति का पूरा विश्वास था। श्री हनुमान जी के ही आश्रय से उनके कठिन कार्य पूरे होते और कठिनाइयां दूर होती थीं।

ङ—वे राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं मानते थे किन्तु उनकी एकान्त निष्ठा राम के लोकानुरंजक गुणों के ही प्रति थी।

च—वे राज समाज द्वारा प्रतिष्ठा के भूखे न थे और न निरर्थक ख्याति ही चाहते थे।

प्रियादास जी की टीका से गोस्वामी जी की जीवन वृत्त सम्बन्धी किसी विशिष्ट समस्या का समाधान तो नहीं होता किन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने धर्म-प्रचार, और सामाजिक-प्रभाव के कारण उन्हें शाही-प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। इस प्रतिरोध में उन्हें सफलता भी मिली। उनकी इस सफलता से संपूर्ण वैष्णव समाज प्रभावित हुआ। इन्होंने रामभक्तों और कृष्णभक्तों के मध्य व्यावहारिक एकता स्थापित की। फलस्वरूप वृंदावन में भी इनका स्वागत हुआ तथा वहाँ इन्होंने कृष्ण मंदिर में राममूर्ति की स्थापना कराई। प्रियादास की टीका से हमें उन जन श्रुतियों का पता चलता है, जो उस समय तक गो० तुलसीदास के विषय में प्रचलित हो गई थीं।

वैष्णव दास ने प्रियादास की टीका पद्य संख्या ५०८, ५१०, ५१६ और ५१८ के साथ टिप्पणियां लगाई हैं। इन टिप्पणियों में सम्पूर्ण दोहे और पद मिलाकर आठ हैं किन्तु ये गोस्वामी जी के जीवन वृत्त सम्बन्धी समस्या के ऊहापोह में सर्वथा अनुपयोगी हैं। ये टीका-टिप्पणियां भवानीदास कृत गोसाईं चरित की रचना से पहले की हैं, अतः गोसाईं चरित पर इनका प्रभाव लक्षित होता है। प्रियादास ने जिन घटनाओं का उल्लेख किया है, उनमें से प्रथम दो को छोड़ शेष का उल्लेख गोसाईं चरित में भी हुआ है।

गोसाईं-चरित

श्री शिवसिंह सेंगर के कथनानुसार 'गोसाईं'-चरित' के रचयिता बेनीमाधव दास पसका जिले गोंडा (सं० १६५५-९९) गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य थे और उन्हीं के साथ रहते थे। इस पते के अनुसार 'तुलसी' के अनुसंधायक बड़ी तत्परता से बेनीमाधवदास रचित 'गोसाईं चरित' की खोज करते रहे, यद्यपि उनके पास भवानीदास रचित 'गोसाईं चरित' उपलब्ध था। डा० ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित और खङ्गविलास प्रेस बांकीपुर (पटना) से प्रकाशित (सन् १८८९ ई०) 'रामचरित-मानस' के साथ 'गोसाईं-चरित' संलग्न है। किन्तु

भ्रमवश उसी ग्रन्थ की भूमिका में डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि "मुझे अत्यन्त खेद होता है कि इस विषय की प्राप्य सामग्री बहुत कम है और इस हेतु मैं लालायित हो रहा कि कवि के सहवासी 'पसका निवासी वेणीमाधव दास कृत 'गोसाई-चरित' नामक पुस्तक, जिसमें उनका पूर्ण जीवनवृत्त लिखा हुआ है उसे प्राप्त करता। मैंने इसे बहुत खोजवाया, पर इसकी प्रति न मिली।"

लोकोक्ति है—'गोद में लड़का नगर ढिंढ़ोरा।' बाद को खोजों से पता चला है कि 'गोसाई चरित' के रचयिता वास्तव में भवानीदास ही हैं। किन्तु शिवसिंह सेंगरने सं० १९३० में रचित और दो वर्ष बाद प्रकाशित 'भाषा-काव्य-संग्रह' के अनुसार उसका रचयिता वेनीमाधव दास को मान लिया है। 'भाषा-काव्य सग्रह के रचयिता महेशदत्त ने 'वेणीमाधवदास' का विवरण इस प्रकार दिया है—'दास वा दासानिदास वा वेणीमाधव दास।'

'ये कवि जिला गोंडा में घर्घर के निकट पसिका के रहनेवाले थे और तुलसीदासजी के शिष्य थे। ये बड़े रामोपासक और गुरुभक्त थे। गोसाईजी के सग ये भी फिरते थे। जो-जो सिद्धतायें इन्होंने तुलसीदास जी की देखी हैं, वे सब अपने ग्रन्थ 'गोसाई-चरित' में लिखी हैं। यें स० १६९९ में हरिपुर वासी हुए (पृ० ३५)।

उक्त ग्रन्थ के रचयिता महेशदत्त ने इस प्रकार की अनेक भूलें की हैं।[1] यहाँ तक कि उक्त ग्रन्थ में विवृत ४४ कवियों में से २० कवियों के विवरण दोष पूर्ण हैं, जैसे—इस ग्रन्थ में सतसईकार विहारीलाल को वृन्दावन का निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताया गया है, परंतु प्रसिद्ध है कि वे माथुर चौबे थे। इनका जन्म बसुआ गोविन्दपुर (ग्वालियर) में हुआ था और विवाहित होने पर ये अपनी ससुराल मथुरा में रहने लगे थे। ग्रंथ में मलूकदास को ब्राह्मण और मुरारीदास को मिश्र कहा गया किन्तु वस्तुतः ये कक्कड़ खत्री और मुरारीदास के शिष्य थे। श्रीपति काशी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने स० १७७७ में काव्यसरोज की रचना की किन्तु महेशदत्त के कथनानुसार ये प्रयागपुर (बहराइच) के निवासी थे, इनका रचना काल १७०५ है। इसमें वंशीधर मिश्र का निधन काल १६७२ दिया है जब कि उनका समय सं० १६८०-१८०० है। इस ग्रन्थ में मतिराम, केशवदास, चद, मीराबाई जैसे प्रसिद्ध कवियों के संबंध में भी भूलें हुई हैं. अतः भवानीदास के स्थान पर वेनीमाधवदास का उल्लेख करना भी उक्त ग्रन्थकार की ऐसी ही एक भूल या प्रमाद है।

---

[1] १—गोसाईं चरित (भूमिका भाग पृ० १८-२१) डा० किशोरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित स० २०२१ वि०।

ऐसी स्थिति में जब 'भाषा-काव्य-संग्रह' और 'शिवसिंह-सरोज' के उद्धर भवानीदास रचित 'गोसाई-चरित' में मिलते हैं और दासानिदास विशेषण प्रयोग जैसे वेनीमाधव दास के साथ है वैसे ही भवानीदास के साथ तो निश्चित हो जाता है कि 'गोसाई-चरित' के रचयिता भवानीदास हैं।[1] इन्हों 'गोसाई-चरित' की रचना महंत रामप्रसाद (अयोध्या) के कहने से को थी महंत रामप्रसाद का समय सं० १७६० से सं० १८६१ है।[2] अतः उक्त ग्रन्थ रचना संभवतः उन्नीसवीं शती विक्रमी के मध्य हुई होगी।

इस रचना का आधार फारसी में लिखी कोई भक्तमाल की टीका बता गयी है, जिससे भिन्न रूप में इसकी रचना हुई। इसके रचयिता ने इसे नाभा दास के भक्तमाल (प्रियादासी टीका) से भी भिन्न और अपूर्व बताया है जिससे ज्ञात होता है कि 'गोसाई-चरित' में मुख्यतः उन्हीं जनश्रुतियों उल्लेख किया गया है, जिनका विवरण उस रूप में न तो उक्त फारसी ग्रन्थ न भक्तमाल की प्रियादासी टीका में है। और जिनका प्रचार उन्नीसवीं विक्रमी के मध्य तक अवधप्रांत में हो चुका था।

---

[1] 'इस विवेचना से स्पष्ट हुआ कि गोसाईं चरित के रचयिता भवानी दास न कि कोई वेणीमाधव दास। भवानी दास की छाप 'दास' और 'दास निदास' है। इन दोनों प्रमाणों के अतिरिक्त दो और ऐसे प्रमाण हैं जो सिद्ध करते हैं कि भवानी दास कृत गोसाईं चरित ही महेशदत्त का अभी गोसाईं चरित है।' वही, पृ० १३, १४।

[2] स्वामी रामप्रसाद अयोध्या में बड़ा स्थान के महन्त थे। ये गोस्वा तुलसीदास के अवतार माने जाते हैं। इनका आविर्भाव काल श्रावण शु ७ सं० १७६० और साकेत गमनकाल श्रावण कृष्ण ३ सं० १८६१ है।

—श्री महाराज चरित पृ० ११ और १३४-

[3] श्री नाभा जू जो रच्यौ भक्तन चरित जहाज।
कछु प्रसंग ता में विदित गावत संत समाज॥
ताहू ते यह भिन्न कथा अद्भुद सुखदाई।
कहौं जथामति गाइ पाइ हरि संत सहाई॥
सकल अपूरब कथा विचित्र प्रसंग बिबिध विधि।
हरि प्रिय जन अभ्यास नवल बरनौं मंगल निधि॥
नौ नित्य राम सो ते कहयो कछुक चरित कृत पारसी।
ताहू ते यह भिन्न मति जथा जगत बानारसी॥

—गोसाईं चरित पृ० १३

'गोसाई-चरित में गोस्वामी तुलसीदास की कतिपय यात्राओं और चमत्कारों का ही उल्लेख है, जिनके सम्बन्ध में समय का निर्धारण भी नहीं किया गया है, इसलिए यह ग्रन्थ गोस्वामीजी के जीवन वृत्त संबंधी ऐतिहासिक ऊहापोह में प्रमाण नहीं माना जा सकता। भक्तमाल की प्रियादासी टीका से भिन्न तथा बहुत बाद (पौने दो सो वष) की जनश्रुतियों पर आधारित होने से इसकी तत्सम्बन्धी उपयोगिता भी बहुत कम हो जाती है, जैसा कि डा० किशोरीलाल गुप्त कहते हैं—

गोसाई-चरित गोसाईं जी की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों वाद रचा गया, अतः इसमें अप्रामाणिक बातें भी आ गई हैं। इसमें गोसाईंजी के विभिन्न चमत्कारपूर्ण प्रसंगों की ही वर्णना हुई है। आजकल जीवनचरित लिखने का जो दृष्टिकोण है, वैसा दृष्टिकोण पहले नहीं था, अतः यहां तिथियां नहीं दी गई हैं। घटनाएं जिस क्रम से दी गई हैं, वे कालक्रम से ही दी गई हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता—(गो० च० पृ० ३०–३१)

अतः गोस्वामीजी की जीवनवृत्त सम्बन्धी ऊहापोह में 'गोसाई-चरित' की उपयोगिता वहीं तक है, जहां तक उसमें उनकी यात्राओं का विवरण है, इससे अधिक कुछ नहीं। डा० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं कि—"जब हम इस चरित्र को पढ़ते हैं तो देखते हैं कि यद्यपि इसमें कवि के समकालीन अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख होता है, परन्तु उन व्यक्तियों के संबंध में हमें वह आवश्यक विस्तार नहीं मिलता, जिसकी सहायता से उनकी ऐतिहासिकता की जाँच की जा सके और तिथियां तो हमें चरित्रभर में भी नहीं दिखाई देतीं।"

यह भी विचारणीय है कि गोसाईं-चरित की रचना गोस्वामी जी के निधन के डेढ़-पौने दो सौ वर्ष बाद हुई है। इस दीर्घ अवधि ने घटना सम्बन्धी विवरणों को बहुत कुछ बदल दिया होगा। कदाचित् रचयिता का उनकी इस अपूर्णता की ओर संकेत है। उसने अपनी रचना को अद्भुत भी कहा है, जिससे स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि चमत्कार सम्बन्धी घटनाओं के विवरण संकलित करने की ओर थी। ऐसी दशा में यदि गोसाईं-चरित में राजापुर का विवरण नहीं है[१] तो उसका यही आशय हो सकता है कि भवानीदास ने उसे इसलिए छोड़ दिया होगा कि उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार वह अद्भुत और अपूर्व न था। भक्तमाल की प्रियादासी टीका से गोसाईं-चरित का मिलान करने पर यह बात स्पष्ट हो

---

(१) आश्चर्य की बात तो यह है कि 'चरित्र' को राजापुर का पता नहीं। —आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय—तुलसी की जीवन भूमि पृ० २२

जाती है। प्रियादास की टीका में गोस्वामी जी सम्बन्धी सात प्रसंग वर्णित हैं।[1] जिनमें से गोसाई चरित में पाँच ही विवृत हैं क्योंकि दो प्रसंगों में गोस्वामी जी के किसी चमत्कार का दर्शन नहीं होता जिसे अद्भुत और अपूर्व कहा जा सके। ये दोनों प्रसंग हैं—(१) पत्नी की फटकार से गोस्वामी जी का गृह त्याग, (२) काशी में प्रेत के बताए उपाय द्वारा हनुमान जी का दर्शन।

भवानी दास ने गोसईं-चरित की रचना गोस्वामी जी के जीवन वृत्त सम्बन्धी रहस्यों के उद्घाटन के लिए नहीं की थी, उनका उद्देश्य केवल गोस्वामी जी सम्बन्धी उन चमत्कारों का संकलन था जिनका जन-श्रुतियों के रूप में उस समय तक प्रचार हो गया था। यही कारण है कि इस चरित्र में गोस्वामी जी की न क्रमबद्ध जीवन-गाथा मिलती है और न उनके जन्म-काल से लेकर पत्नी से अलग हो काशी आने तक का प्रसंग है और न उनके शरीर त्याग और वृद्धावस्था के ही विवरण है। वरंच् इस चरित में कुछ ऐसे भी प्रसंग जुट गए हैं, जो दूसरों से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु चमत्कार सम्बन्धी हैं।[2] इससे भी ज्ञात होता है कि भवानी दास की प्रवृत्ति चमत्कार-संग्रह की ओर है, न कि जीवन-चरित्र के उद्घाटन की ओर ?

गोसाईं-चरित में कई प्रसंग ऐसे हैं जिनका ऐतिहासिक तथ्य से विरोध पड़ता है जैसे मीराबाई का गोस्वामी जी के दर्शनार्थ काशी जाना, सूरदास (सूरसागर के कर्त्ता) का अकबर के यहाँ जाना आना और उनकी गणना अकबरी दरबार के चौदह रत्नों में होना, जहाँगीर का काशी आकर गोस्वामी जी से मिलना आदि। स्पष्ट है कि ये प्रसंग अद्भुत न होते हुए भी अपूर्व हैं और गोस्वामी जी का सामाजिक सम्मान तथा उत्कर्ष दिखाने के लिए ही संग्रहीत है।

यह सब होते हुए भी 'गोसाईं-चरित' में कुछ प्रसंग ऐसे अवश्य हैं, जिन्हें जीवन वृत्त सम्बन्धी शोध करते समय समक्ष रखा जा सकता है, यथा—

क—कृष्ण मूर्ति का राममूर्ति में परिवर्तित होना—इससे यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी ने वृंदावन में कुछकाल तक निवास किया था और उनकी

---

(१) ये सात प्रसंग निम्नांकित हैं—

१. पत्नी-प्रसंग, २. प्रेत प्रसंग और हनुमान तथा राम दर्शन, ३. विप्र हत्या मोचन, ४. चोर प्रसंग, ५. सती प्रसंग, ६. दिल्ली पति करामात प्रसंग और ७. वृंदावन प्रकरण।

(२) गोसाईं चरित के प्रसंग क्रम १८, २२, २३, २४, २९, ३४ और ३५ का गोस्वामी जी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रेरणा से वहाँ राम मन्दिर का निर्माण एवं राममूर्त्ति की स्थापना की गई थी। (प्रसंग ४)

ख—नन्ददास कनौजिया ब्राह्मण थे और गोस्वामी जी के सगे भाई न होकर गुरु भाई थे (पृ० ५)

ग—गोस्वामी जी ने काशी में भी राममन्दिर का निर्माण कराया और वहाँ अवधपुरी की स्थापना की।[1] यहाँ काशी के पण्डितों ने रामचरितमानस की रचना भाषा में करने का विरोध किया था किन्तु मधुसूदन सरस्वती के कहने से उनका विरोध शान्त हुआ (प्रसंग ८)

घ—काशी में गोस्वामी जी के प्रभाव से वेश्यायें और चोर भी पवित्र बन गए (प्रसंग ११ और १०)।

ङ—काशी में कुछ सांप्रदायिक लोग गोस्वामी जी से द्वेष करते थे। उन्होंने गोस्वामी जी की कंठीमाला भी उतरवाने का प्रयत्न किया था, पर सफलता न मिली (कहते हैं कि जहांगीर ने स्वामी जदरूप के कहने से सभी वैष्णवों की कंठीमाला उतार लेने की आज्ञा दी थी[2] और गोस्वामी विट्ठल नाथ ने काश्मीर जाकर बादशाह से उक्त आदेश वापस कराया था। पृ० १६८

च—मिथिला में ब्राह्मणों की भूमि पर विहार के किसी सूबेदार ने अधिकार कर लिया था। गोस्वामी जी के प्रभाव से वह भूमि उन्हें वापस मिल गई पृ० १८। (इस प्रसंग में हनुमान जी का जो विवरण दिया गया है, वह स्कंद पुराण में मदारपुर के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में वर्णित है।)

छ—गोस्वामी जी ने अवध खंड के नैमिषारण्य आदि तीर्थों की यात्रा की थी। इस प्रसंग द्वारा सूकरखेत का भी स्पष्टीकरण किया गया है, जो अयोध्या से तीन योजन दूर (गोंडा जिले में) सरयू घाघरा के संगम पर है। (पृ० ३३)।

ज—उन्होंने मुसलिम अधिकारियों के अत्याचार से मिश्रिख निकटवर्ती जयरामपुर के जमींदार को मुक्त किया और वहाँ रामव्याह और रासलीला प्रतिवर्ष कराने का नियम बना दिया (पृ० ३६)। रामपुर-मथुरा के जमींदार भी मुसलिम अधिकारियों के अत्याचार के पीड़ित थे। यहां गोस्वामी जी ने हनुमान-विग्रह की स्थापना की (३७)।

इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण ५२ प्रसंग हैं। इनमें से कई का गोस्वामी जी से सम्बन्ध न होकर दूसरे महात्माओं से है।

---

[1] सुभ ठाँव भवानती गंगतीर। थपि अवध पुरी सुन्दर गंभीर॥
तहँ अति सुन्दर मंदिर बनाय। जेहि लखत जाहि पातक सिराय॥

[2] कंठी माला काढ़ि निज मँगवायो सरकारि।

तुलसीदास चरित्र और तुलसी चरित्र

ये दोनों ग्रंथ क्रमशः श्री जनकराज किशोरी शरण कृत (लिपि काल सं० १९३०) और श्री रघुवीर सिंह, अलीपुर जिला बहराइच निवासी कृत (निर्माण-काल १९१०, लिपि काल सं० १९५५) हैं। ये दोनों ग्रंथ 'गोसाईं-चरित' के आधार पर निर्मित आधुनिक प्रतीत होते हैं, अतः इनका समावेश 'गोसाईं-चरित' में ही हो जाता है।

रामरसिकावली (भक्तमाला)

इस पुस्तक का रचना काल सं० १९२१ वि० है। इसके रचयिता रीवां नरेश भक्त प्रवर महाराजा रघुराज सिंह हैं। इन्होंने राजापुर को गोस्वामी जी की जन्म-भूमि न बताकर निवास भूमि कहा है यथा—

राजापुर यमुना के तीरा। तुलसी तहां बसै मतिधीरा, ॥

इससे ज्ञात होता है कि उनके समय तक राजापुर (बांदा) में गोस्वामी जी के निवास करने की ही जनश्रुति थी, जन्मभूमि होने की नहीं।

मोहन साईं का गीत

अवधवासी लाला सीता राम के कथनानुसार मोहन साईं सं० १८१२ में विद्यमान थे। अतः गीत की रचना उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में की गई होगी। इस गीत के अनुसार अयोध्या स्थित तुलसी चौरा जहाँ विद्यमान है, वहीं वट वृक्ष के नीचे एक योगिराज साधना में रत थे। काशी से तुलसी दास के अयोध्या जाने पर उन्होंने उक्त स्थान तुलसी दास को सौंपकर अपना शरीर योगाग्नि में भस्म कर दिया। यहीं बैठकर तुलसी दास ने सं० १६३१ में मानस की रचना प्रारम्भ की और उसे मार्गशीर्ष शुक्ल ५ सं० १६३३ को (राम विवाह के दिन) पूरा किया। यहां गोस्वामी जी ने सीता, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न हनुमान और विष्णु की मूर्तियां स्थापित कर रखी थीं। मिर्जा राजा मानसिंह ने उसका फर्श और छतरी बनवा दिया किन्तु औरंगजेब के समय में किसी सूबेदार ने उसे तुड़वा दिया और अपनी ताजपोशी की तैयारी की। उसकी करनी का फल उसे हाथों हाथ मिल गया। औरंगजेब ने उसे मार डाला और फर्श तथा छतरी के बहुमूल्य पत्थर दिल्ली भेज दिए। इस गीत के अनुसार गोस्वामी जी काशी से अयोध्या आए, अतः इस गीत के अनुसार उनकी जन्म-भूमि अयोध्या या उसके आस-पास होने का खण्डन होता है।[1]

---

[1] —यहाँ पे काशी से जब गुसाईं पधारे श्री राम रस के भीने।
सुना के आदेश अपने गुरु का, उन्हें ही सौंपा सब उस यतीने।

तुलसी दास-स्तव

इसके रचयिता मोरोपंत (सं० १७८६-१८५१) महाराष्ट के कवि थे। इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को बाल्मीकि का अवतार कहा है और इनकी भक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण मूर्त्ति का श्री राममूर्त्ति में परिवर्त्तित होने का उल्लेख किया है। मोरोपंत के कथनानुसार गोस्वामी जी ने सात रामायणों की रचना की थी।

भविष्य-पुराण

इसके अनुसार बाबर द्वारा भ्रष्ट किए जाने के कारण मुकुन्द ब्रह्मचारी अपने बीस शिष्यों के साथ चितारोहण कर गए। दूसरे जन्म में इनके सभी शिष्यगण संतों के रूप में प्रकट हुए। इन्हीं में श्रीधर अनूप शर्मा के पुत्र तुलसी दास के रूप में उत्पन्न हुए। ये पुराणों के परम पंडित थे। पत्नी के उपदेश से रामानंदी परम्परा में राघवानन्द के शिष्य हुए (भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व खण्ड ४ अ० २२ श्लो० ९-११)।

श्री राघवानन्द स्वामी रामानन्द के गुरु थे। रामानन्दी परम्परा में किसी दूसरे राघवानंद के होने का पता भी नहीं है एवं अन्य साक्ष्यों के अनुसार तुलसी दास के गुरु नरहरि दास प्रसिद्ध हैं, इसलिए भविष्य पुराण का यह कथन संदेहास्पद है किन्तु मुकुन्द ब्रह्मचारी वाली घटना कल्पित कहकर दृष्टि से ओझल नहीं की जा सकती। इस घटना का विवरण कुछ अंतर से' दरबार-अकबरी' में भी आया है। इसके अनुसार मुकुन्द ब्रह्मचारी के शरीरत्याग के निर्धारित समय के बाद उनके शिष्य कुछ प्रमाण और जीर्ण-शीर्ण कागज लेकर अकबर के दरबार में गए। उन्होंने उक्त प्रमाणों के आधार पर अकबर के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न कराया कि वह पूर्व जन्म का मुकुन्द ब्रह्मचारी है और कुछ शौचाचार सम्बन्धी त्रुटियां हो जाने के कारण उसे विधर्मी मुसलमान सम्राट बनना पड़ा।[1] जनश्रुति के अनुसार भी अकबर उक्त घटना का जाँच के लिए त्रिवेणी संगम पर प्रयाग में आया था और वहां उसने मुकुन्द ब्रह्मचारी का स्थान देखकर दुर्ग का निर्माण कराया तथा उक्त स्थान का नाम इलाहावास (ईश्वर का घर) रखा। यही शब्द बाद में इलाहाबाद बन गया।

भविष्यपुराण में वर्णित मुकुन्द ब्रह्मचारी का विवरण उस रहस्य को खोलता है, जिसके विषय में मुगल काल का इतिहास मौन है। इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और जनश्रुतियाँ भी हैं कि बाबर के समय में हिन्दूतीर्थ भ्रष्ट किए गये थे और विधर्मियों द्वारा ब्राह्मण समाज एवं साधुसंतों को उच्छिन्न करने का प्रयत्न

१—श्री शमसुलउलमा महम्मदहुसेन आजाद :—दरबार-अकबरी।

किया गया था, जैसा कि मदारपुर (कानपुर) और बाबरी मस्जिद की घटना से प्रकट है। अस्तु गोस्वामी तुलसी दास के व्यक्तित्व निर्माण की पूर्वपीठिका के रू में बाबर-कालीन देश को परिस्थिति पर बिचार बरना आवश्यक है। आचार्य पं० चंद्रवली पांडेय ने 'तुलसी की जीवन भूमि' में इस प्रसंग पर विचार किया है किन्तु उक्त बिचार 'बाबरी मसजिद' तक ही सीमित रह गया है। भविष्य पुराण उसके व्यापक आधार की ओर संकेत करता है, इसलिए उसका अपना महत्व है, उसे सर्वथा काल्पनिक कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

द्वितीय अध्याय

अन्तर्साक्ष्य और उनकी व्याख्या

गो० तुलसीदास के जिन छन्दों में उनकी जीवन वृत्त सम्बन्धी झांकियों का दर्शन होता है, उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। छन्द निम्नांकित हैं—

(१) जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परितांप पाप जननी-जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वारद्वार दीन,
जानत हौं चारिफल चारिही चनक को॥
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच विधिहू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो किधौ बावरो जो,
करत गिरी ते गरू तिन तें तनक को॥ क० उ० ७३

(२) मातु पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकुर टूकनि लागि ललाई॥
राम सुभाव सुन्यो तुलसो प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को, रघुनाथ सो साहब खोरि न लाई॥ क०उ०५७

(३) धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जोलहा कहो कोऊ।
काहु की बेटी से बेटा न ब्याहब, काहु की जाति बिगार सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ॥
माँगि के खैबे मसीत को सोइबे लेबे को एक न देबे को दोऊ॥ क०उ०१०६

(४) ऊँचो मन, ऊँची रुचि भागु नीचो निपट ही,
लोक रीति लायक न लंगर लबारु है।
स्वारथ अगम परमारथ को कहा चली,
पेट की कठिन जगजीव को जवारु है॥

चाकरी न आकरी न खेती न वनिज भोख,
जानत न कूर कछु किसब कबारु है ॥
तुलसी की बाजी राखो राम ही के नाम नतु,
भेट पितरन को न मूँडहू में बारु है ॥ क०उ० ६७

(५) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सबके बिदित बात दुनी सो।
मानस बचन काय किए पाप सतिभाय,
राम को कहाइ दास दगाबाज पुनी सो॥
राम नाम के प्रभाउ पाउ महिमा-प्रतापु,
तुलसी की जग मानियत महामुनी सो।
अतिही अभागे, अनुरागन न राम पद,
मूढ़ एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो। क०उ० ७२

(६) जप की न तप-खपु कियो न तमाई जोग,
जान न विराग त्याग तीरथ न तन को।
भाई को भरोसो न खरोसो बैर बैरी हू सों,
बलु अपनो न हितू जननी न जनको॥
लोकु को न डरु, परलोक को न सोचु,
देव-सेवा न सहाय, गर्व धामको न धन को।
राम ही के नाम ते जो होइ सोइ नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछु तुलसी के मन को॥ क० उ० ७७

(७) वेष सुबनाइ सुचि वचन कहैं चुवाइ,
जाइ तो न जरनि धरनि-धन-धाम को।
कोटिक उपाय करि लालि पालियत देह,
मुख कहियत गति रामही के नाम की॥
प्रगटैं उपासना दुरावैं दुरबासनाहि,
मानस निवास-भूमि लोभ मोह काम की।
राग-रोष-इरषा-कपट-कुटिलाई भरे,
तुलसी से भगत भगति चहैं राम की॥ क० उ० १२०

(८) दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भलो।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विषफल फली॥ वि० प० १३५।१

(९) ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालू ! त्यों-त्यों दूरि पर्‌यो हौं।
तुम चहुं जुग रस एक राम, हौं हू रावरो, जदपि अघ-अवगुननि भर्‌यो हौं॥
बीच पाइ एहि नीच बीच ही छरनि छर्‌यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप ते भिखारि करि, सुमति ते कुमति कर्‌यो हौं॥
अगनित गिरि कानन फिर्‌यो, बिनु आगि जर्‌यो हौं।
चित्रकूट गए हौं लखि कलि की कुचाल सब अब अपडरनि डर्‌यो हौं॥

माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं।
चीन्हो चोर जिय मारि है तुलसी सो कथा सुनि प्रभु सो गुदरि
निबर्‌यो हौं॥ वि० प० २६६

(१०) तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम बिनु रावरे लोकहु-परलोकहु कोउ न कहूं हितु मेरो॥

अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो॥

भगतिहीन वेद बाहिरो लखि कलिमल घेरो।
देवनि हू देव ! परिहर्‌यो, अन्याव न तिनको अपराधी सब केरो॥
वि० प० २७२

(११) द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद पीर पाहूँ।
हैं दयालु दुनी दस दिशा, दुख दोष दलन छम, कियो न संभाषन काहू॥

तनु जब्यी (जनतेउ) कुटिल कीट ज्यो तज्यो मात पिताहू।
काहे को रोष दोष काहि धों मेरे ही अभाग मोसों सकुचन सब छुइ छाहूं॥

दुखित देखि संतन कह्यो सोचे जनि मन माहूं।
तो से पसु पांवर पानकी परिहरे न सरन गए रघुवर ओर निबाहूं॥

(१२) कहा न कियो, कहां न गयो सीस काहि न नायो।
राम रावरे बिन भए जन जनमि-जनमि जग दुख दसहू दिसि पायो॥

आस बिवस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार परी न छार मुँह बायो॥

असन वसन बिनु बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि खोलि खलनि आगे खिनु-खिनु पेट खलायो॥

नाथ हाथ कछु नहि लग्यो लालच ललचायो।
सांच कहौं नाच कौन सो जो न मोहि लोभ लघु मैं निरलज्ज नचायो॥
वि० प० २७६

(१३) बाल पनो सूधो मन राम सनमुख भयो,
राम नाम लेत मांगि खात टूकटाक हौं।
परयो लोकरीति में पुनीत प्रीति राम-राय,
मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥
खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनो कुमार सोध्यो राम पानिपाक हौं।
तुलसी गुसाईं भए भोंड़े दिन भूलि गए,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥ ह० बा० ४०

(१४) असन बसन हीन विषम विषाद लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय-हाय को।
तुलसी अनाथ को सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सोल सिंघु आपने सुभाष को॥
नीच यहि बीच पति पाइ भरुहाइगो,
बिहाय प्रभु भजन वचन मन काय को।
तातें तनु पेखियत घोर बरतोर किस फूटि-फूटि निकसत है लोन राम राय को॥ ह० बा० ४१

तुलसी-जीवन वृत्त के अन्वेषकों के लिए उपयुक्त कवित्त क्रम १ का विशेष महत्त्व है। आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय ने इसी एक कवित्त में तुलसी का संपूर्ण जीवन वृत्त निहित बताया है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने भी जीवन वृत्त सम्बन्धी विचार करते समय इस कवित्त को सर्व प्रथम स्थान दिया है। इस कवित्त में 'प्रथम चरण' विशेष विचारणीय है। इसी को लेकर अनेक लेखकों ने व्यर्थ की माथा-पच्ची कर जमीन आसमान के कुलावे मिलाने के प्रयत्न किए हैं अस्तु इस पर सर्व प्रथम विचार करना उचित है।

इस कवित्त में दो शब्द 'कुलमगन' और 'पाप' अधिक भ्रांति उत्पन्न करने वाले हैं। इनके अर्थ और प्रयोग पर अब तक के विचारकों ने ठीक प्रकार से विचार नहीं किया। वस्तुतः वाक्य में 'कुल मंगन' का सम्बन्ध 'जायो' से न होकर 'बधावनो वजायो' से है तथा 'पाप' का प्रयोग विस्मयादि बोधक के रू में हुआ है। आचार्य पं० चन्द्रवली पांडेय का भी यही मत है जैसा कि वे तुलसीदास पृ० १५ पर लिखते हैं—"पाप काअर्थ पाप कर्म लगाना उचित नहीं प्रतीत होता, इसका अर्थ 'अहो पापं' का पाप ही है।" अतः इस प्रकार उक्त चरण का अन्वय यों होगा—'(मुझे) जायो सुनि, कुल मंगन बधावनो बजायो (पर) हा पाप? (मेरे जन्म लेने से) जननी-जनक को परिताप भया (अथवा मेरा

जन्म) जननी-जनक को परिताप-पाप (रूप) (अर्थात किसी पाप के उदय स्वरूप अत्यंत कष्ट कारक) भयो।

अबतक 'कुलमंगन' का अर्थ दरिद्र भिखमंगा, ब्राह्मण या सरयूपारी-ब्राह्मण किया गया है किन्तु ये सभी अर्थ अयुक्त हैं क्योंकि यदि गोस्वामी जी का जन्म दरिद्र या भिक्षुक कुल में हुआ होता तो उनके जन्मोत्सव में 'वधावना' क्यों बजते क्योंकि बधावे तो जमींदार और धनी मानी लोगों के ही यहां पुत्र जन्म होने पर बजते हैं। इनके जन्म काल में अनेक बधावे बजे जैसा कि 'बधावनो' के बहुवचनांत होने से प्रकट है। इससे इनके जमींदार वंश में उत्पन्न होने की बात प्रकट होती है क्योंकि जमींदारों के बहुत से 'पौनी-प्रजा' होते हैं और वे सभी आनन्दोत्सव के अवसर पर बधावे लेकर आते हैं।[1] श्री राम जन्म के अवसर पर महाराज दशरथ के यहां भी ऐसा ही हुआ है यथा 'सदन वेद धुनि करत मधुर मुनि, बहु विधि बाज बधाई' —गो० बा०

यदि 'कुलमंगन' को अर्थ 'ब्राह्मण' या 'सरयूपारी ब्राह्मण' से किया जाय तो भी गोस्वामी जी के कथन से ही उसका बोध हो जाता है क्योंकि उन्होंने सर्वत्र ही मांगने की निंदा की है और शास्त्रद्वारा भी ब्राह्मण का भीख मांगना वर्जित है। पराशर स्मृति में कहा गया है कि जिस गांव के ब्राह्मण भीख मांगते हों, उस गांव को राजा दण्डित करे क्योंकि वह गांव चोरों को प्रश्रय देने वाला है। फिर गोस्वामी जी जो ब्राह्मण के महत्व के प्रतिपादक और मर्यादावादी थे, ब्राह्मण के लिए 'कुल मंगन' का प्रयोग कदापि न करते। चाणक्य ने तो सबके लिए 'मांगना' लघुता कारक बताया है यथा।

"तृणं लघु तृणा तूलं तूलादपि च याचकः।"—१६।१५

स्वयं गोस्वामी जी कहते हैं—"अमरदानि, जाचक मरहिं, मरि-मरि फिरि फिरि लेहिं।" दो० ३७९ और उनके मित्र रहीम का भी कथन है—"रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ मांगन जाहिं।" एवं जन साधारण में लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है—'नीच चाकरी भीख निदान'।

---

[1] —श्री डा० भगीरथ मिश्र 'कुलमंगन' का अर्थ व्यक्त करते हुए लिखते हैं। 'इसी प्रकार हमें 'जायो कुलमंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी-जनक को' का अर्थ यह लेना चाहिए कि माता-पिता के पाप और दुःख स्वरूप मैं उत्पन्न हुआ, तो मंगन (भिखारियों) के कुल ने बधाई बजाई। अतः मंगन या मांगने वालों के कुल में इनका जन्म नहीं हुआ, वरन् इन्हें ऐसी परिस्थितियों में जन्मा देखकर 'मंगन कुल' को प्रसन्नता हुई कि इनके जन्म से इस कुल की वृद्धि हुई।'—तुलसी रसायन पृ० ४५

अस्तु गोस्वामी जी ने यहाँ 'कुल मंगन' का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में उन्होंने श्री रामचरित-मानस में 'जाचक' और 'मांगने (रा० वा० २९५, ३३१, ३३९, उ० १५) का प्रयोग किया है। 'रामचरित मानस' में इन शब्दों का प्रयोग 'भिखमंगा' और 'दरिद्र' के अर्थ में नहीं हुआ है और न ब्राह्मण के ही अर्थ में वरंच उस अर्थ में हुआ है जिस अर्थ में पूर्वीय प्रदेश में 'पौनो (निछावर पाने वाले) या 'मंगन हार' का प्रयोग होता है गोस्वामी जी के सम-सामयिक जैन कवि बनारसी दास ने 'पौनो' के अंतर्गत ३६ जातियों की गणना की है यथा।

"सीसगर, दरजी, तंबोली, रंगवाल, ग्वाल,
बढ़ई, संगतरास, तेली, धोवी, धुनिया।
कंदोई, कहार, काछी, कलाल, कुलाल माली,
कुंदीगर, कागदो, किसान, पटबुनिया ॥
चितेरा, बिधेरा, बारी लखेरा, ठठेरा, राज,
पटवा, छपरबंध, नाई, भारभुनिया।
सिकलीगर, हवाईगर, सुनार, लुहार,
धीमर, चमार एई छत्तिस पउनिया ॥"

कहीं-कहीं इनके अतिरिक्त भी कई जातियों की गणना 'पौनी' के अंतर्गत की जाती है जैसे-भाट, बंदी, गोंडाइत, मेहतर और कहार। पौनी लोग किसी भी आनंदोत्सव में तथा धार्मिक कृत्य पूरा किये जाने के समय 'निछावर' पाने के अधिकारी होते हैं। 'निछावर' प्राप्त करना भिक्षावृत्ति के अंतर्गत नहीं है। भोजपुरी में मंगन और भिक्षुक (भिखमंगा) के प्रयोग में अंतर है। 'मंगन' उस व्यक्ति को कहते हैं, जो किसी से कुछ मांग लेने में संकोच नहीं करता किन्तु भिक्षुक वह है जो भीख मांगने का पेशा करता है। भिक्षावृत्ति और निछावर में यह अंतर है कि भिक्षावृत्ति के लिए कोई समय निर्धारित नहीं होता, परन्तु निछावर की प्राप्ति किसी विशेष अवसर पर होती है। निछावर सम्बन्धी व्यक्तियों से ही ली जाती है, परन्तु भिक्षा के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं, वह प्रायः अपरिचित और असम्बन्धित व्यक्तियों से ही ली जाती है जैसा कि भोजपुरी कहावत है— देस चोरी परदेश भीख, और भिक्षार्थी वटुओं के लिए भी भगवान् मनु कहते हैं। 'गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञाति कुल बंधुषु—मनु २।१८४ इसके अतिरिक्त निछावर खुशी का पुरस्कार है, उसके लेने और देने में उत्साह की स्थिति रहती है, परन्तु भिक्षा में उत्साह के स्थान पर दुःख, दैन्य, ग्लानि, संकोच, भय और करुणा की स्थिति होती है। निछावर सम्मान के साथ तुष्टीकरण की भावना से दी जाती है परंतु भिक्षा निरादर पूर्वक फटकार के साथ भी दी जाती है। निछावर बिना

मांगे भी दी जाती है परन्तु भिक्षा मांगने पर ही मिलती है। निछावर पानेवाला उसे स्वत्व समझकर स्वाभिमान पूर्वक मांगता है। परंतु भिक्षुक की स्थिति इसके विपरीत होती है। निछावर में धनी होना बाधक नहीं, परंतु भिक्षा के लिए धनी होना बाधक है। निछावर मांगने की निंदा नहीं होती परंतु भिक्षुक समाज में निंदित माना जाता है यथा—'भिक्षुक मान चहै तो वृथा" और निछावर के अधिकारी गृहस्थ होते हैं। भिक्षा उनके लिए वर्जिन है परन्तु भिक्षा के अधिकारी साधु संन्यासी होते हैं निछावर उन्हें नहीं दी जाती।

निछावर एक प्रकार का स्वत्व (अधिकार) है। यह स्वत्व परंपरागत होता है किंतु भिक्षावृत्ति का संबंध व्यक्ति से होता है 'कुल' से नहीं; इसलिए 'कुल-मंगन' का अर्थ निछावर पाने वाले 'पौनी-प्रजा' करना ही समीचीन है। निछावर के निमित्त 'झगड़ा और विवाद' भी किया जाता है यथा—

"मड़वहि झगरे नउनिया एहि सब निछावर थोर हे।
रघुवीर के निहछावर लेब मैं घोर हे॥
काहें झगरहु नउनिया एहि सब लेहु हे।
राम बियाहि घर आयब, देब मैं घोर हे॥
जो सब देहल रानी सो सब थोर हे।
सामी चढ़न के घोरा, मोहिं पटोर हे॥ रा० नहछू

किन्तु भिक्षा के लिए झगड़ा और विवाद नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मण की गणना 'पौनी' या 'मँगनहरू' के अन्तर्गत नहीं की जाती। गोस्वामी जी ने 'जाचक' से 'ब्राह्मण' को सदा अलग रखा है। जैसा कि 'रामचरित मानस' बा० का० ३३०-३१ और निम्नांकित उद्धरणों से व्यक्त है—

(क) "दिए दान आनन्द समेता। चले विप्रवर आसिष देता॥
जाचक लिए हँकारि दीन्ह निछावरि कोटि विधि।
चिर जीवहु सुतचारि, चक्रवर्ति दसरत्थ के॥ बा० २९५
कहत चले पहिरे पटनाना। हरषि हने गहगहे निसाना॥" बा० २९६

स्पष्ट रूप से यहाँ 'जाचक' शब्द बाजा बजाने वालों और पौनी के लिए आया है। जिन्हें भिक्षुक नहीं कहा जा सकता तथा 'जाचकों' को भिक्षा न देकर 'निछावर' दी गई है।

(ख) मंगन बहु प्रकार पहिराए। द्विजन दान नाना विधि पाए॥उ० १५
(ग) नृप करि विनय महाजन फेरे। सादर सकल मांगने टेरे॥ बा० ३४०
(घ) विप्र वृंद वंदे दोउ भाई। मनभावती असीसें पाईं॥

× × ×

पुरजन, परिजन, जातिजन, जाचक मंत्री मीत।
मिले जथा विधि सबहिं प्रभु, परम कृपालु विनीत॥ बा० ३०८

(ङ) निकसि वसिष्ठ द्वार भे ठाढ़े। देखे लोग विरह दव डाढ़े ॥
कहि प्रिय वचन सकल समुझाए। विप्र बृंद रघुवीर बोलाए ॥
× × ×
गुरुसन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान विनय बस कीन्हें।
जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे ॥ अ०

अस्तु 'कुल मंगन' या 'मंगन' ब्राह्मण का वाचक नहीं है जैसा कि उन्हों अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है, यथा—

'भवन आनि सनमानि सकल मंगल किए।
बसन, कनक, मनि, धेनु दान विप्रन दिए ॥ २१२ ॥
जाचक कीन्ह निहाल असीसहिं जहँ तहँ।
पूजे देव पितर सब राम उदय कहँ ॥ २१३ ॥ जा० मं

ब्राह्मण दान का अधिकारी है, जो शास्त्र-सम्मत है। 'मंगन' निछावर पा का अधिकारी है जो लोकाचार के अनुसार है और इन दोनों से भिन्न दया का पात्र भिक्षुक 'भिक्षा' का अधिकारी है। गोस्वामी जी ने दान को निछावर से अलग रखकर स्पष्ट रूप से ब्राह्मण और मंगन में अन्तर कर दिया है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया कि 'कुल-मगन' का अर्थ 'जायो' क्रिया के साथ 'अधिकरण' में न कर 'धवावनो बजायो' क्रिया के साथ कर्ता कारक में करना उचित है। इसी प्रकार 'सुनि' पूर्वकालिक क्रिया का सम्ब 'जनना-जनक' से न होकर 'कुल-मगन' से है क्योंकि माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध तो बधाव बजता नहीं, इसलिए उनके सम्बन्ध में सुनने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी बात है, बधाव की ध्वनि सुनने से 'पाप' होने की विचि बात! क्या 'बधाव' की ध्वनि सुनना भी कोई पाप है? और वह भी ऐसा 'पाप' जो माता-पिता को लगे! इससे भी विचित्र सूझ तो यह है कि इस अनव के आधार पर तुलसी को 'जारज' भी कह दिया गया। वाह रे गवेषणा! इतना भी पता नहीं कि 'जारज' के जन्म काल में 'बधावा' बजता ही नहीं और जन साधारण को ऐसी सन्तान के पिता का स्पष्ट पता भी नहीं होता, तो फि तुलसीदास को पता कैसे लग गया एवं ऐसी दशा में उन्होंने माता-पिता द्वार त्याग की बात भी कह दी। 'जारज' संतान का त्याग तो माता ही कर सकती है पिता का उससे क्या सम्बन्ध! यदि यह मान लिया जाय कि माता-पित का प्रणय-सम्बन्ध प्रकट ही सामाजिक नियमों के विरुद्ध था तो ऐसे दंपति क बधाव बजने से कष्ट और पाप क्यों हुआ और उन्होंने पुत्र का त्याग क किया? इस प्रकार उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा तो बढ़ती नहीं वरंच सामाजि और राजकीय विधान के अनुसार उन्हें दण्ड भोगना पड़ता! समझने की बा

तो यह है कि तुलसीदास ने अपने कुल को सुकुल, भलाकुल एवं अपने को 'सुबरन' कह कर विज्ञप्त किया है। क्या 'जारज' भी इस प्रकार कहने का साहस कर सकता है ?

श्री अब्दुर्रहीम खानखाना का यह दोहा---

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय अस चाहत सब कोय।
गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी से सुत होय॥

से यह प्रकट होता है कि तुलसीदास जैसे पुत्र की कामना देव पत्नियाँ भी करती हैं। यदि तुलसीदास पाप-संतान होते तो उनके जैसे पुत्र को कामना कोई भी स्त्री क्यों करतो तथा तुलसीदास को माता हुलसी ही शिशु को लेकर उल्लास के साथ क्यों फिरती ? पाप संतान उत्पन्न करने पर समाज के सम्मुख जाने में ग्लानि और संकोच होता है न कि प्रसन्नता और उल्लास ?

उपर्युक्त दोहे से यह भो प्रकट होता है कि तुलसीदास के माता-पिता उनका जन्म होते ही परलोक गामी नहीं हो गए, वरंच उन्हें उल्लास के वातावरण में शिशु को गोद में लेकर कुछ काल तक खेलाने का अवसर भो मिला था।

आधुनिक खोजों से ज्ञात हुआ है कि तुलसीदास जी की माता 'हुलसी' पति का देहावसान होने पर सती हो गई थीं ऐसी दशा में तुलसी के 'जारज' होने की बात नहीं सोची जा सकती। तुलसीदास ने कुलीन-नारी के सम्बन्ध म जो इस प्रकार कहा है---

'जिमि कुलीन तिय साधु समानी। पति देवता करम मन बानी॥
रहें करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥ रा०अ० १४५

उसमें मनोवैज्ञानिक आधार पर उनकी माता और पत्नी के चरित्र की झलक देखी जा सकती है। अस्तु कथित शंका निराधार है।

श्री डा० माता प्रसाद गुप्त ने प्रस्तुत कवित्त के प्रथम चरण में कथित 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' का यह अर्थ समझा है कि तुलसीदास जी के माता-पिता इतने दरिद्र थे कि उनको इस बात का परिताप (चिंता) हुआ कि वे बधावा लाने वाले नातेदारों को पुत्रोत्सव का पुरस्कार कहाँ से देंगे।

उक्त कवित्त में श्री गुप्त जी ने 'बधाव' का अर्थ समझने की भूल की है। 'बधाव और नातेदारों द्वारा दी जाने वाली 'बधाई' में अंतर है, जैसा कि निम्नांकित भोजपुरी सोहर (पुत्रोत्सव के समय गाए जाने वाले विशेष प्रकार के गीत) से प्रकट है---"आरे आरे भइया चमरिया, भइया बेगे चलि आवहु।
हे भइया, धीरे धीरे बाजन बजाव, ननद जनि सुनसु॥
बाजन सबद काने परले ननद चली आवेली।
भइया घरें बाजेला 'बधाव' 'बधइया' लेवे जाइब॥"

और—"हे ललना, आधी राती होरिला जनम ले कन्हैया अवतार।
हे ललना, बाजे लागल आनंद बधाव महलें उठे सोहर।"
"हे सासु, भइया घरें होरिला जनम ले बधइया ले के जाइब"

पुत्र जन्म आदि के उपलक्ष्य में जो प्रसन्नता सूचक बाजा बजाया जाता है उसे 'बधाव' कहते हैं। तुलसी दास जी के कथन का अभिप्राय ऐसे ही 'बधावा' से है जैसा कि उनके अन्यत्र 'बधाव' शब्द के प्रयोग से व्यक्त है तथा जिसे नीचे के उद्धरणों में देखा जा सकता है।

क—'इनहीं के आए ते बधाए ब्रज नित नए,
नादत बाढ़त सब सब सुख जियो है॥ कृ० गी० १६

ख—गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद।
हरष वंत सब जहँ तहँ, नगर नारि नर बृंद॥ रा० बा० १९४

ग—सदन बेद धुनि करत मधुर मुनि बहु विधि बाज बधाई'—गी० बा०

वस्तुतः तुलसी दास जी के माता-पिता उनके जन्म समय विशेष संतप्त थे। इसके दो कारण हो सकते हैं।। पहला यह कि माता कठिन प्रसव-पीड़ा के कारण मरणासन्न हों, जैसी कि जन श्रुति है और दूसरा यह कि वे शत्रुओं से पीड़ित होने के कारण संकटापन्न स्थिति में हों, जैसा कि आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय का अनुमान है।

यदि 'सुनि' का सम्बन्ध 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' के साथ मान लिया जाय, तो भी यही अर्थ होगा कि माता-पिता किसी विषम-परिस्थिति के कारण आनदोत्सव में सक्रिय भाग न लेने एवं जिस प्रकार उत्साहपूर्वक पुत्रोत्सव मना सकते उस प्रकार न मना सकने के कारण परितप्त हुए। उत्सव मनाने की सारी तैयारी फीकी पड़ गई। चिन्ता के कारण माता के मन में घोर परिताप और पिता के हृदय में खेद हुआ—'हाय! मेरे पूर्व जन्म के किस पाप का उदय हुआ है, जिससे मेरी यह दशा हुई!

दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि—'हा पाप! मैं ऐसा अभागा हूं कि मेरे माता-पिता परितप्त होने के कारण मेरा जन्मोत्सव भी प्रसन्नता के वातावरण में न मना सके।

कवित्त के दूसरे चरण से विदित होता है कि तुलसी दास के माता-पिता बाल्यावस्था में ही उनसे बिछुड़ गए और फिर जीवन भर उनका साथ न हुआ। अनाथ हो जाने के कारण इनको द्वार-द्वार की ठोंकरे खानी पड़ी तथा भोजन तक के लिए ललायित रहना पड़ा। उनको किसी ने शरण न दी यह भी एक विचित्र बात है। यह विचित्रता इनके जमींदार वंश का होने की ओर संकेत करती है क्योंकि साधारण परिवार के अनाथ बालक को दया अथवा स्वार्थ

भावना से कोई भी पाल सकता था किन्तु जमींदार वंश के बालक के लिए कहीं भी लालित-पालित होने में अनेक कठिनाइयाँ थीं।

ऐसा ज्ञात होता है माता-पिता ने पुत्र का जन्म होने के पश्चात् ही किसी कारण उसे त्याग दिया और शिशु को भली-भाँति लालन पालन के लिए किसी आत्मीय-परिवार में भेज दिया। इसके थोड़े ही काल बाद उनका भी निधन हो गया। ऐसी स्थिति में लालन-पालन करने वालों ने या तो बालक के साथ आत्मीयता पूर्ण व्यवहार न कर उसका तिरस्कार किया अथवा वे भी काल कवलित हो गए किन्तु प्रथम बात की ही संभावना अधिक है जैसा कि छन्द नं० १० से प्रकट है।

छन्द नं० २ से भी इस बात की पुष्टि होती है क्योंकि कहते हैं कि माता-पिता ने मुझे जन्म देकर ही छोड़ दिया और ब्रह्मा ने भी मुझे भाग्य का अच्छा न बनाया। मैं कादर निरादर का पात्र नींच बनकर कुत्ते की भाँति दूसरे के टुकड़ों का आश्रित रहा। यहाँ 'कादर' शब्द ध्यान देने योग्य है। कादर होने के कारण ही उन्हें निरादर का पात्र बनकर कुत्ते का जीवन बिताना पड़ा था। यह सभी जानते हैं कि स्वत्व की प्राप्ति में असमर्थ व्यक्ति ही 'कादर' कहे जाते हैं। तुलसी दास की भी पैतृक -सम्पत्ति जो उनका स्वत्व थी दूसरों के अधिकार में चली गई थी। कादर होने के कारण ही तो वे उस पर अधिकार न पा सके थे और निरादर के पात्र बनकर दूसरों के टुकड़े पर पल रहे थे। स्वत्व के अपहरण का क्षोभ उनके मन से वैरागी होने पर भी दूर नहीं हो पाता था जैसा कि छन्द नं० ७ में कहते हैं---'जाय तो न जरनि घरनि घन धाम को।'

छन्द नं० २ की ही भाँति गोस्वामी जी ने एक स्थान पर और भी कहा है। 'जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिन बिधिहु सृज्यो अवडेरे (विनय २२७) इसमें 'अवडेरे' शब्द इस बात की सूचना देता है कि गोस्वामी जी का पैतृक-घर छूट चुका था और वे इधर-उधर लालित-पालित हुए। माता-पिता द्वारा जन्मते ही त्याग दिए जाने का रहस्य छन्द नं० ११ से स्पष्ट हो जाता है यथा।

'तनु जनतेउ कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात-पिताहूँ'

इस कथन से विदित होता है कि गोस्वामी जी की माता उनका प्रसव होने के पश्चात् ही मर गईं थी और पिता भी शीघ्र ही देहांतर को प्राप्त हुए थे।

छन्द नं० ३ से व्यक्त होता है कि कुछ लोग तुलसी दास के आचार-व्यवहार और जाति-पाँति पर भी आक्षेप करते थे, उन्हें व्यंग्य से धूर्त्त, अवधूत (औघड़), राजपूत और जुलाहा कहते थे। गोस्वामी जी जमींदार ब्राह्मण वंश के और समाज सुधारक थे, इसलिए रुढ़िवादी उन्हें धूर्त्त कहते हो होंगे। उन्होंने समन्वयवादी होने के कारण शिव-शक्ति की भी स्तुति की, गो-हत्यारे के साथ भोजन

किया और श्वपच को भी गले लगाया, फिर रामानुजाचारी वैष्णव उन्हें अवधूत क्यों न कहते ? ऊपर कहा गया है कि उनकी परम्परा जमींदार ब्राह्मणों की थी, अतः द्वेषी समुदाय उक्त वर्ग के तेज-ओज तथा शासक मुसलमानों के सम्पर्क को देख व्यंग्य में राजपूत एवं जुलाहा (यवन) कह देता ही होगा।[१] श्री पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस छन्द के आधार पर तुलसी दास के जटिल होने तथा दाढ़ी मूँछ रखने का अनुमान किया है किन्तु उस समय भी सभी राजपूत दाढ़ी नहीं रखते थे जैसा कि तत्कालीन राजाओं के चित्रों से प्रकट है। तंत्र ग्रंथों से विदित होता है कि सभी अवधूतों के लिए भी केश रखना आवश्यक नहीं है।[२] जुलाहे[३] भी बहुधा छँटी हुई दाढ़ी और 'खुदा का नूर' ही रखते हैं इनकी मूछें और सिर के बाल तो साफ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी दास जी के प्राप्त प्रामाणिक चित्रों से भी उक्त अनुमान की पुष्टि पूर्णतः नहीं होती फिर भी उसे मान लेने में कुछ हर्ज भी नहीं इस छन्द से तुलसी के जीवन सम्बन्धी कई तथ्य खुलते हैं। पहली बात यह कि वे ऐसे वंश में उत्पन्न हुए थे, जिस वंश की मर्यादा, उनके द्वेषी ब्राह्मण समुदाय से बड़ी थी और जो इनके वंश में अपनी लड़कियाँ देने के ही अधिकारी थे। 'काहु को वेटो से वेटा न व्याहब' में यही ध्वनि है। जहाँ पुरोहित और जमींदार वर्ग के ब्राह्मणों में परस्पर विवाह प्रचलित है, वहाँ पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण ही अपनी लड़की जमींदार भूमिहार को देता है अतः इससे भी गोस्वामी जी के जमींदार वर्गीय ब्राह्मण होने की बात सिद्ध होती है। पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण बहुधा रुढ़िवादी होते भी हैं तथा उनसे अन्य सुधारबादी। दूसरी बात 'माँगि के खैवे मसीत को सोइवे' में प्रदर्शित व्यंग्य ध्यान देने योग्य है। इस कथन के द्वारा जातिवाद और सम्प्रदायवाद दोनो पर

१—जमींदार ब्राह्मणों की भाँति प्रायः धूत, अवधूत, राजपूत और जोलहा (सैनिक मुसलमान) शस्त्रधारी होते हैं।

२—अवधूत चार प्रकार के होते हैं यथा—'चतुर्विधावधूतानां लक्षणानि विशेषतः (महानिर्वाणं तंत्र उल्लास १४ श्लोक २) इनमें 'वीर अवधूत' ही केश जाल युक्त होते हैं।, शेष नहीं। दंडी स्वामी तो प्रति अमावस्या या पूर्णिमा को सिर मुँड़ाते हैं यथा।

"दंडिनो मुंडनं चामावस्याया माचरेद् यथा (रति निर्वाण तंत्र पटल १४श्लोक ३)

३–पूर्वीय प्रदेश में 'जोलाहा' कहने से प्रायः सभी प्रकार के मुसलमानों का बोध होता है। अतः यहां 'जोलहा' शब्द मुसलमान मात्र का वाचक समझना चाहिए। इससे यह भी ज्ञात होता है कि तुलसीदास का सांप्रदायिक दृष्टिकोण उदार थो।

गहरी चोट दी गई है। मांगकर खाने वाले की जाति क्या? और मस्जिद में भी सो रहने वाले तुलसी को सम्प्रदाय से क्या मतलब? यह तो केवल राम का सरनाम गुलाम है।

जो राम का हो चुका उसे जाति-पाँति, निन्दा-स्तुति आदि दुनियादारी की बातों से क्या मतलब? कहते हैं--

मेरी जाति-पाँति न, चहौं काहूं की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
× × ×
साधु कै असाधु कै, भलो कै पोच, सोच कहा?
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को॥ क० उ० १०७

छन्द नं० ४ में कहते हैं कि मेरा मन ऊंचा है और रुचि भी ऊँची है किन्तु मेरा भाग्य ही खोटा है, जिससे लोक-व्यवहार का निर्वाह करने की क्षमता मुझमें नहीं है और मैं लंगर-लबार बन गया हूं। इससे स्पष्ट है कि सारा दोष भाग्य की खोटाई का है अन्यथा वे ऊँचा मन और ऊँची रुचि रखने के कारण उच्च वंश के जान पड़ते हैं। इस बात की पुष्टि छन्द के तृतीय चरण से विशेष रूप से हो जाती है क्योंकि उस समय के उच्च वंश वाले किसी को नौकरी करना निन्दा मानते थे, चाकरी भी उनको प्रतिष्ठा के विपरीत व्यवसाय था, भिक्षा तो वे कर ही नहीं सकते थे, रही बात खेती और वाणिज्य की, जिसके लिए भूमि और पूँजी चाहिए किन्तु इन दोनों वस्तुओं का भी उनके पास अभाव था।[1] इस अभाव का कारण यही हो सकता है कि उन्हें अनाथ पाकर उनकी पैतृक भूमि पर दूसरों ने अधिकार कर लिया था। स्वत्व खो देने के कारण ही उनके लिए पेट-पालन भी कठिन था तथा सांसारिक जीवन जी का जवाल बन गया था।

छन्द नं० ५ के अनुसार पेट की ज्वाला से पीड़ित होने के कारण उन्होंने जाति, सुजाति, कुजाति सब का अन्न खाया था। दूसरी बात यह है कि राम-नाम के भजन के प्रताप से वे महामुनि (बाल्मीकि) की भाँति पूजित हुए। 'जाति-सुजाति कुजाति' के क्रमशः प्रयोग से विदित होता है कि वे सुजाति में भी ब्राह्मण थे और सबका अन्न खाने से जो उन्होंने ग्लानि प्रकट की है, उससे विदित होता है कि वे उस ब्राह्मण समाज में उत्पन्न हुए थे, जिसमें दान नहीं लिया जाता एवं दूसरों का अन्न खाना वर्जित है।

छन्द नं० ६ से विदित होता है कि तुलसीदास के माता-पिता नहीं रह गए थे, उनका अपना कोई भाई-बन्धु भी ऐसा नहीं था जिसके भरोसे कुछ करते। अपने पास बल नहीं था, देवताओं की सेवा भी नहीं की थी, जो किसी रूप में

---

[1] —कुलीन ब्राह्मण बहुधा वाणिज्य भी नहीं करते थे।

उनकी सहायता करते। वे धनहीन हो गए थे, उनके पास अपना घर भी नहीं था।[1] इन साधनों के अभाव में उनके मन में बैर शोधन की भावना भी शिथि पड़ गई थी[2] और वे लोक-परलोक के प्रति उदासीन बन गए थे।

विचारणीय विषय यह है कि तुलसीदास का बैरी कौन था ? अवश्य व बैरी उनके स्वत्व का अपहरण करने वाला था। भाई का भरोसा और माता-पिता के न होने की जो ग्लानि है, इसी बात की ओर संकेत करती है 'गर्व धाम को न धन को' का भी इसी ओर संकेत है और छन्द नं० ७ के इस कथन से 'जाइ तो न जरनि घरनि-धन-धाम की' उक्त संकेत की भली-भाँति पुष्टि हो जाती है। इससे विदित होता है कि तुलसीदास का जन्म भूम्याधिकारी परिवा में हुआ था तथा जिसके पास धन और धाम भी था किन्तु तुलसी की अनाथा-वस्था में उस पर शत्रुओं ने अधिकार कर लिया। अपनी संपत्ति का लोभ ही उनके मन में राग-रोष-ईर्ष्या-कपट और कुटिलाई भर रहा था।

छन्द क्रम संख्या ८ के अनुसार तुलसीदास का जन्म कुलीन ब्राह्मण वंश में हुआ था, वे शरीर से भी सुन्दर थे। यदि तृतीय चरण का उनकी जन्म भूमि की ओर संकेत मान लिया जाय तो उनकी जन्म भूमि गंगातट के निकट मानी जायगी। वह एक रमणीय स्थान था और वहाँ अच्छे लोगों का संग साथ भी था, परन्तु यह विवरण काशी के लिए भी हो सकता है। चतुर्थ चरण में 'कायर' शब्द की स्थिति छन्द नं० २ के 'कादर' शब्द के अनुसार ही प्रतीत होती है क्योंकि कायर व्यक्ति जब वैरी से बैर शोधन नहीं कर पाता तो उसके मन में जलन, कपट, कुटिलता, असूझ आदि अनेक कुप्रवृत्तियाँ घर कर जाती हैं औ जीवन व्यथ हो नष्ट हो जाता है।[3] पूर्वा पर प्रसग का जन्म-भूमि से सम्बन्ध मानने पर मध्य का प्रसंग भी उसी के अन्तर्गत मानना उचित होगा, अस्तु तृती चरण के विवरण को 'काशी' से संबद्ध न कर उनकी जन्मभूमि से युक्त करना ही युक्तियुक्त है।

तुलसीदास की जीवन-दशा जानने के लिए छन्द ९ से १२ तक विशे उपयोगी हैं। छन्द ९ के अनुसार तुलसी 'कलि की कुचाल' से अधिक भयभी

१—जीजे न गाउँ न आपन ठाउँ, सुरालय हू को न संबल मेरे—क० उ

२—खल प्रबोध, जग सोध, मन को निरोध, कुल सोध।
करहिं ते फाटक पचि मरहिं, सपनेहुं सुख न सुबोध॥ दो० २७४
भागे भल, ओड़ेहु भलो, भलो न घालें घाउ।
तुलसी सबके शीश पर रखवारो रघुराउ॥ दो० ४२४

३—चढ़े बघूरे चंग ज्यों ज्ञान ज्यो सोक समाज।
करम-धरम सुख-संपदा त्यों जानिए कुराज॥ दो० ५१३

थे क्योंकि इसी के फेर में पड़कर और छले जाकर वे एक बार राम से दूर जा पड़े थे तथा 'अघ-अवगुणों' से 'भिखारि' और 'सुमति' से 'कुमति' कर दिया था। वह उन्हें अनेक 'गिरि-काननों' तक में घुमाता रहा और बिना आग के ही उनके हृदय को दग्ध करता रहा। कलि की कुचाल का पता उन्हें चित्रकूट में जाने पर लगा।

अन्यत्र बताया गया है कि तुलसी ने 'कराल कलि-काल' को 'भूमिपाल' के रूप में देखा है। वे कहते हैं—'राज-समाज कुसाज कोटि सत कल्पत कलुष कुचाल नई है' इस 'बड़ोई-छली' राज समाज से वे किसी किसी प्रकार राम-नाम का 'ओट' लेकर अपनी रक्षा कर पाए हैं,

यथा—'बड़े कुसमाज-राज आजु लौं जो पाए दिन,
महाराज क्यों हूं भांति नाम ओट लई ॥

अस्तु विचारना यह है कि किस प्रकार 'राज-समाज' ने तुलसीदास को राम से दूर कर दिया था एवं उन्हें सुवर्ण से कुवर्ण, राजा से रंक, सुबुद्धि से दुर्बुद्धि बनाकर अगणित गिरि–काननों में घुमाया था तथा उसकी पोल चित्रकूट में जाने पर क्योंकर खुली ? प्रतीत होता है, तुलसीदास के पिता जमींदार थे, उनके मरने पर तुलसी को अनाथ जान 'राजसमाज के कुसाज (षड्यंत्र)' से लोभ और अधिकार की भावना से मोहित शत्रुओं ने उसपर अधिकार कर लिया अतः जिस तुलसी का 'सुधा' मन 'बालपने' में 'राम-सनमुख' हो रहा था, वह समझ होने पर उक्त प्रतिक्रिया स्वरूप शत्रु समाज के 'सनमुख' हो गया और कलि (कलह से उत्पन्न होने वाले) अनेक 'अघ-अवगुण' उनके मन में घिर गए। वे कलि रूप शत्रुओं की कुचाल से ही तो राजा से रंक बन गए थे ? चिन्ता ने उनके सुवर्ण शरीर को कुवर्ण बना डाला था एवं प्रतिशोध की भावना ने उन की सुबुद्धि को कुबुद्धि में परिणित कर दिया था। इन्होंने 'स्वत्व-प्राप्ति' का प्रयत्न भी किया किन्तु असफल रहे और शत्रु भय से जंगल-पहाड़ों में मारे-मारे फिरते रहे। ऐसी ही स्थिति में वे चित्रकूट में पहुंच गए। वहाँ साधु-समाज की संगति में ज्ञान वैराग्य और भक्ति की भावना उत्पन्न होने पर प्रतिशोध तथा धन-संपत्ति की दुर्वासना मन से निकल गई किन्तु फिर कभी कलियुग का भूत मन को अभिभूत न कर बैठे, इसका डर तो बना ही था।

छन्द नं० १० के अनुसार स्वार्थ के साथियों ने तुलसीदास को गुणहीन, अयोग्य आलसी, धनहीन एवं अनाड़ी जानकर उनका परित्याग कर दिया था। देवताओं के प्रति भक्ति न होने धन के अभाव में वैदिक यज्ञादि का अनुष्ठान कभी नहीं करने एवं पाप-बुद्धि होने से देवगणों की सहायता का भी इन्हें भरोसा न था। इससे दो बातों का पता चलता है पहला यह कि इनके पिता

के जीवनकाल में इनके बहुत से स्वार्थ के साथी थे, जिनका स्वार्थ इनके पिता के द्वारा सिद्ध होता था और वे उनकी सेवा में रहते थे। परन्तु इनके अनाथ हो जाने की दशा में जब इनकी संपत्ति पर दूसरों का अधिकार हो गया तो उ साथियों ने इनको अपने काम के योग्य न समझ इनकी सेवा-सुश्रूषा तथा सा छोड़ दिया और उस स्थान पर चले गए जहां, वे पहले की भांति स्वार्थ-साध कर सकें। दूसरी बात यह कि जिस परिवार या समाज में इनका जन्म हुआ था, वह वैदिक मर्यादा का मानने वाला, यज्ञादि द्वारा देवताओं को संतुष्ट करने वाला तथा धर्मशील था। ये दोनों बातें ऐसी हैं जिनसे हम अनुमान कर सकते हैं कि इनका जन्म एक कुलीन भूस्वामी ब्राह्मण वंश में हुआ था। इस प्रसंग में दोहावली का यह दोहा द्रष्टव्य है—

बलि मिस देखे देवता कर मिस मानव देव।
मुए मार अविचारहत स्वारथ साधन एव ॥३४९॥

इससे स्पष्ट है कि उनकी जमींदारी अनाथावस्था में कर न दिए जाने के कारण तत्कालीन राज्य द्वारा अधिकृत कर ली गई थी।

छन्द ११ से विदित होता है कि बालक तुलसी उन अनेक लोगों के यहां गए, जहाँ उन्होंने गिड़गिड़ा कर और पैरों पड़कर अपनी दीनता का विवरण सुनाया। संसार में दयालु पुरुषों की कमी नहीं है। उन्हें ऐसे लोग भी मिले जो उनका दोष दुःख दूर करने में समर्थ थे, फिर भी किसी ने उनसे बातची तक न की। क्यों ऐसा हुआ? उसके कारण का स्पष्ट संकेत निम्नांकित दो में है—

'अधिकारी बस औसरा, भलेउ जानिबे मंद।
सुधा-सदन वसु, बारहें, चउथे, चउथिउ चंद ॥ दो० ४९९

इन्होंने भी मन में संतोष कर लिया कि जब सबसे बढ़कर हित-चिन्त माता-पिता तक ने मुझे निःसहाय छोड़ शरीर त्याग किया तो मेरा दुर्भाग्य ही है। 'मात-पिता हूं' पद का प्रयोग द्रष्टव्य है। इससे ज्ञात होता है कि माता-पिता दोनों ही कुटिल कीट[1] की भांति शिशु को दुःखदाई मान उसे भाग्य के भरोसे असहाय छोड़ उससे अलग हो गए थे अथवा उसका त्याग कर दिय

---

[1] —कुटिल कीट का अर्थ किसी ने सर्प और किसी ने केकड़ा या बिच्छ किया है। केकड़ा या बिच्छू के बच्चे स्वयं अपनी माताओं को खा जाते हैं उनकी माताएँ उनका स्वयं त्याग नहीं करतीं, परन्तु सर्पिणी और सर्प अ बच्चों का स्वयं त्याग कर उनसे अलग हो जाते हैं, अस्तु 'तज्यो' शब्द के प्रयो के अनुसार उक्त शब्द का अर्थ 'सर्प' करना ही उचित-प्रतीत होता है।

था। यह त्याग दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम शिशु को अपने से अलग कर देना और द्वितीय अपना शरीर त्याग कर देना। इनमें प्रथम की ही संभावना अधिक है क्योंकि 'तज्यो' शब्द माता-पिता द्वारा शिशु को अलग कर दिए जाने की ही ओर संकेत करता है।

माता-पिता द्वारा 'शिशु त्याग' के तीन कारण हो सकते हैं—

(क) अभुक्त मूल में शिशु का जन्म होने के कारण भय की आशंका से किसी निश्चित अवधि के लिए, जैसी जन श्रुति है।

(ख) मातृहीन हो जाने से पालन-पोषण के लिए किसी नातेदारी में भेजना जैसा कि कभी-कभी वैसी परिस्थिति में करना अनिवार्य हो जाता है।

(ग) युद्ध या राजद्रोह की स्थिति में शत्रुओं से रक्षार्थ, जैसा कि पं० चन्द्रबली पांडेय का कथन है कि "फलतः उन्होंने बच्चे को अपने से अलग कर दिया और तुलसी जन्म स्थान से दूर जा पड़ा। माता-पिता तलवार के घाट उतर गए अथवा काल वश चल बसे इससे यहां कुछ प्रयोजन नहीं (तुलसी की जीवन भूमि पृ० १५९--६०

'हुलासोसती' के स्थान का पता लग जाने से प्रथम और द्वितीय अनुमान का खंडन हो जाता है और तृतीय अनुमान का समर्थन होता है। तुलसी की छाया से भी लोग डरते थे तथा समर्थ और दयालु पुरुष भी उन्हें आश्रय देने में हिचकते थे, इससे भी उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। आचार्य चंद्रबली पांडेय लिखते हैं—

"जी हाँ, यह इसी राजकोप का प्रसाद था कि तुलसी को पहले कहीं शरण न मिली। यहां तक कि कुछ सचेत हुए ही थे कि आश्रयदाता भी सभी प्रकार से घाटा देखने लगे और होते-होते एक दिन ऐसा भी आ गया कि तुलसी संत कृपा से सब कुछ छोड़ राम के हो रहे" (तुलसी की जीवन भूमि पृ०१६०)

'बड़े कुसमाज-राज' का अर्थ स्पष्टतः 'राजा-रईसों का कुसमाज' अथवा राजकीय-कुसमाज है जिसके कारण तुलसी को घोर कष्ट भोगना पड़ा और घोर निराशा हुई। कहते हैं, किस पर रोष किया जाय और किसे दोष दिया जाय। उन्हें दुःख और निराश देखकर संतों ने कहा कि चिन्ता न कर तेरे जैसे पशु (पाश बद्ध जड़ जीव) का रामचन्द्र की शरण में जाने से निर्वाह हो जायगा। 'पसु-पामर-पातकी' का प्रयोग भी द्रष्टव्य है जबकि तुलसी पसु जैसे पराधीन कष्टमय जीवन बिता रहे थे और अनाथ होने से 'पामर' कहलाते थे।

इस विवरण से तीन प्रश्न उठते हैं जिनका समाधान आवश्यक है—पहला यह कि तुलसीदास को वह दीनता क्या थी, जिसके निवारण के लिए उन्हें

अनेक लोगों के पैर पकड़ना और गिड़गिड़ाना पड़ा ? दूसरा यह कि दयालु और सक्षम पुरुष भी उनका दुःख दूर करने में अक्षम क्यों सिद्ध हुए ? तीसरा यह कि उनकी छाया छूने में भी लोग क्यों संकोच करते थे ? इन प्रश्नों का उत्तर किसी अंश में छन्द ९ की व्याख्या द्वारा मिल जाता है। तुलसीदास की दीनता उन साधारण भिखमगों जैसी नहीं थी, जो थोड़ा अन्न-वस्त्र देकर सन्तुष्ट कर दिए जाते हैं। इन्हें तो अपने 'स्वत्व' की चिन्ता थी, जिसकी प्राप्ति कराने वाला कोई वीर न निकला। ज्ञात होता है, इनका स्वत्व हरण करने वाले अधिक प्रबल थे और उनका उन दिनों की सरकार में भी प्रभाव या हाथ था। इसी भय से कोई इनकी सहायता के लिए तैयार न होता था। तीसरे प्रश्न का उत्तर तो गोस्वामी जी स्वयं उसी पद में देते हैं, यथा—'मेरे ही अभाग मों सों सकुचत सब छुइ छाहूं।' उनके जन्मते ही माता-पिता का निधन हो जाने, उनका कोई अपना नहीं रहने और निर्धन हो जाने के कारण लोग उन्हें कुलक्षणी मानकर अपने से दूर ही रखना चाहते थे, फिर उनके लिए कोई लड़ता-मरता क्यों! बहुत से लोग दयालु थे पर तुलसी की दीनता दूर करना उनकी शक्ति के बाहर की बात थी। हाँ, संत लोग 'परदुःखकातर' होते हैं उन्होंने ध्रुव को उपदेश देने वाले 'नारद' की भाँति तुलसी के मनस्ताप को दूर करने का प्रयत्न किया और उन्हें अनन्य रामभक्त ही नहीं, समाज का सबसे महान पुरुष अन्यतम कवि और सुधारक बना दिया।

छन्द नं० १२ से भी यही ध्वनि निकलती है कि तुलसीदास ने अपनी गई हुई सम्पत्ति और भूमि प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किए। स्पष्ट कहते हैं—कहा न कियो, कहा न गयो, सीस काहि न नायो।' वे नीच राजा-रईसों के यहाँ स्वत्व प्राप्ति के लोभ से बार-बार एवं अन्न-वस्त्र की चिन्ता न कर पागल की भाँति जहाँ-तहाँ दौड़ते फिरे। उन्होंने अपने कुल की महिमा और मान को जो प्राणों से भी अधिक प्रिय है त्याग कर खलों के आगे पुनः-पुनः खाली पेट खोलकर दिखाया और हाहा कर दीनता का निवेदन किया किन्तु हुआ क्या, सहायता के नाम पर एक मुट्ठी धूल भी मुँह में न पड़ी।

जो लोग गोस्वामी जी की कथन-प्रणाली को समझे बिना एवं स्थूल दृष्टि से पदों को देख यह मान लेते हैं कि गोस्वामी जी का जन्म एक दीन-हीन परिवार में हुआ था और उन्हें बाल्यावस्था में अनाथ होकर अन्न-वस्त्र के लिए दर-दर की याचना करनी पड़ी, वे तथ्य के विपरीत उल्टी गंगा बहाने का प्रयास करते हैं। सोचने की बात है कि एक अलग बालक को तो कोई भी दयालु पुरुष खाना-कपड़ा दे सकता था। गोस्वामी जी ने भी कहा है कि—'हैं दयालु दुनी दस-दिसा दुःख दोष-दलन-क्षम' फिर भी उनके कष्टों का

क्या कारण था। जो यह कहता है कि 'महिमा-मान प्रिय प्रान तें अधिक' और याचना की बार-बार निन्दा करता है क्या वह कभी प्राण रक्षा के निमित्त दर-दर की भीख माँगना स्वीकार कर सका होगा ? जब कोई कठिन काम न हो तब तक साधारण भीख के लिए 'कहा न गयो, कहा न कियो, सीस काहि न नायो' नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

"कवि लोग अर्थ और वर्ण विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है।"

इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार-द्वार फिरना, दाँत निकाल कर माँगना, किसी के दरवाजे पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना, ये सब गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सबका उपलक्षण बनाकर स्थिति को हृदयंगम करा देता है। गोस्वामी जी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान-स्थान पर इसी पद्धति से किया है।"

इसका अर्थ यह नहीं कि तुलसीदास जी सचमुच द्वार-द्वार पेट खलाते और डांट-फटकार सुनते फिरा करते थे। कहीं राजा राम के द्वार पर खड़े अपनी दीनता का चित्र आप देखते हैं :—

'राम सों बड़ा है कौन मोसों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन मोसों कौन खोटो ?

"सारी विनय-पत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई। दैन्य भाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामी जी में पहुंचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं। इस भाव रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण पद्धति को न समझने वाले ऊपर के पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदास जी बड़े भारी मंगन थे, हटाने से जल्दी नहीं हटते थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतन्त्र आलोचना' का ऐसा स्थूल और भद्दा अर्थ समझने वाले भी हमारे बीच वर्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामी जी कहते हैं :—

खीझिवे लायक करतब कोटि-कोटि कटु,
रीझिवे लायक तुलसी की निलजई—वि०

इस पर यदि कोई कह दे कि तुलसी दास बड़े भारी वेश्या थे तो उसको क्या दवा है" (त्रिवेणी पृ० १४८-५०)

छन्द क्रम संख्या १३ गोस्वामी जी की बुढ़ापे की रचना है, जिसके वाद बहुत थोड़े समय तक जीवित रहे। इस छन्द में गोस्वामी जी ने संक्षेप में अप पूरा जीवन चित्र ही उतार दिया है। इसके अनुसार वे वाल्यावस्था में सरल स्वभाव के और राम के सच्चे भक्त थे एवं जहां-तहां माँग कर भोजन प्राप्त कर थे। ज्ञात होता है यह विवरण उस समय का है, जब ये गुरु के साथ पर्यटन कर और जब सूकर-खेत में रहकर 'राम कथा' का श्रवण किया था। दूसरे चरण उस 'लोक-रीति' में पड़ने का विवरण है, जिसमें पड़ने के कारण अज्ञान व भक्तिभावना को लोक-वासना ने दवा दिया था। यह समय उनके जीवन का व काल है जब कि अपने स्वत्व की प्राप्ति के लिए उनका प्रयत्न चलता रहा औ जन्मभूमि से दूर चित्रकूट के निकट राजापुरमें बस गये थे। यहां उनका विवा भी हो गया और वे पूर्णतया लोक रीति में रम गये। इसी स्थिति में प्रतिशो और नाना प्रकार की वासनाओं के कारण उन्होंने खोटे-खोटे आचरण अपना लि किन्तु पत्नी द्वारा फटकारे जाने के पश्चात् उसका परिशोधन श्री हनुमान जी कृपा और श्री रामचन्द्र जी के दर्शनों द्वारा हो गया। चतुर्थ चरण के अनुसा कालांतर में वे गोस्वामी बन गये थे, जब कि उनका प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई एव प्रतिष्ठा के बढ़ जाने से उनकी भक्ति तथा सेवा-पूजा में कमी आ गई थी इसी स्थिति में उन्हें शारीरिक रोगों से कष्ट भी हुआ।

चौदहवें पद्य के अनुसार गोस्वामी जी को प्रारम्भिक जीवन में 'असन-व हीन' विषम-बिसाद लीन' तथा 'दीन-दूबरों' देखकर लोग 'हाय-हाय' करते किन्तु श्री रामचन्द्र जी की कृपा से वे महत्त्व को प्राप्त हुए तथा उनकी प्रति बढ़ गई। फल यह हुआ कि उनसे फिर प्रभु का भजन-पूजन छूट गया। इसी कुफल उनकी बुढ़ौती में बर तोर (फाड़े) के रूप में प्रकट हुआ। इस पद्य से चा बातों का पता चलता है। पहला यह कि वे प्रथमावस्था में असन वसन ही दीन-दुर्बल होने के साथ 'विषम-विषाद लीन' भी थे। इस प्रकार उनके चि होने का भाव प्रकट होता है। उनकी चिंता अवश्य अपनी पैतृक संपत्ति के स की रही होगी क्योंकि यदि केवल अन्न-वस्त्र की ही बात होती तो उसे 'हा हाय' करने वालों द्वारा पूरा किया जा सकता था किंतु उपर्युक्त विषम-विषा दूर करना सर्व साधारण की सामर्थ्य के बाहर था। इसी से 'हाय-हाय' क और तरस खाकर भी कोई कुछ कर नहीं पाता था। दुसरी बात जो प्रकट हो

है, वह 'पति पाई मरुहाइ गो' है।[1] इसका सम्बन्ध तेरहवें पद्य के 'तुलसी गोसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो' से है। इस पर अन्यत्र विचार किया गया है। तीसरी बात जो इस पद्य द्वारा ज्ञात होती है, वह यह है कि गोस्वामी जी का बुढ़ापा रोगों से कष्टमय हो गया था और वे फोड़ों के हो जाने से पीड़ित थे। चौथी बात यह है कि गोस्वामी जी ने बुढ़ौती की पीड़ा का कारण लोक प्रतिष्ठा को माना। वह लोक प्रतिष्ठा किस काम की जो भगवान से ही अलग कर दे! लोकैषणा को निंदा करते हुए उन्होंने दोहावली में भी कहा है।

तुलसी भेंड़ी की घसनि जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो खोवत मूढ़ अपान॥ ८०

---

[1]—तुलसी की रचनाओं से जहाँ यह प्रकट होता है कि उनकी दृष्टि राजसमाज को छली की दृष्टि से देखती थी, वहीं उनमें यह भी पाया जाता है कि वृद्ध तुलसी दास को पूजा राजा-महाराजा भी करते थे। बचपन में उन्हें सर्वत्र उपेक्षा और अवहेलना मिली तो बुढ़ापे में आदर और सत्कार।
आचार्य चन्द्रबली—तुलसी दास पृ० ४१

———

तृतीय अध्या

जन्म भूमि

प्राय: भारतीय परिपाटी रही है कि भारतीय कवि-कोविद और महात्मा गण अपने ग्रन्थों में आत्म-परिचय नहीं देते। यही बात गोस्वामी तुलसीदास विषय में भी चरितार्थ होती है। अत: उनकी जन्म-भूमि कहाँ थी, इसके विष में मतैक्य नहीं है। सर्व प्रथम श्री विल्सन ने किसी के कथनानुसार तुलसीदा की जन्म भूमि चित्रकूट के निकट 'हाजीपुर[१]' बताया तथा इसी का अंधानुस 'गार्दां द तासी' ने किया, किन्तु खोज करने पर ज्ञात हुआ है कि उक्त नाम कोई भी गांव चित्रकूट के आसपास नहीं है एवं उसके 'तुलसी–काल' में वहां होने का प्रमाण नहीं। इसके सम्बन्ध में आचार्य पं० चन्द्रबली पां लिखते हैं कि—

"कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को उनका जन्म स्थान मानते हैं फ्रांसीसी विद्वान तासी और अंगरेज लेखक विल्सन ने इस मत का प्रवर्त्तन कि

१—बाल्यावस्था में गुरु के साथ तुलसीदास तारी-नेवारी में रह चुके थे। तार के एकसरिया ब्राह्मण पाराशर गोत्र के हैं और उन्हीं की वंश परंपरा उनके पुरोहित 'दुबे' आस्नदधारी हैं। संभव है इन्हीं कारणों से प्रमा वश 'तारी' का तुलसीदास की जन्मभूमि होना प्रसिद्ध हो गया हो बाद में लोगों ने उसे चित्रकूट का निकटवर्ती 'तारी' समझ लिया हो। इसी भ्रम से उनका गोत्र 'पराशर' और आस्पद 'दुबे' होने की निम्नांकि जनश्रुति प्रचलित हो गई होगी—

'तुलसी परासर गोत दुबे पत्यौंजा को'

यद्यपि यह जनश्रुति नितांत निर्मूल है (देव–अध्याय ४ में गोत्र-प्रवर)

है। जहां तक मुझे ज्ञात है, ऐसा कोई स्थान आजकल तो है नहीं (तुलसी की जीवन भूमि पृ० २३२)"

तारी

श्री शिवनन्दन सहाय के कथनानुसार "श्री सीताराम शरण भगवान प्रसाद जी ने स्वरचित भक्तमाल की टीका में लिखा है कि राजापुर में जाकर यह बात भलीभांति निश्चय की गई है कि गोसाईं जी का जन्म 'तारी' में हुआ था और विरक्त होने के पीछे राजापुर में निवास कर उन्होंने वहां भजन किया (गोस्वामी तुलसीदास पृ० ३)"

वैसे तो तारी नामक अनेक स्थान हैं जैसे तारी घाट (गाजीपुर), तारी बड़ागांव (बलिया) तारी–मऊ (आजमगढ़) तारी (कानपुर) तारी (एटा सारन जिले में नैवारी (जिसे तुलसीदास की गुरु भूमि बताया गया है) के अति निकट भी एक तारी है,[1] किन्तु इनमें से कोई भी तुलसीदास से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता ।

श्री डा० गोवर्द्धन राय शर्मा (अध्यक्ष प्राचीन–संस्कृति और इतिहास विभाग प्रयाग-विश्वविद्यालय) ने बातचीत के क्रम में मुझे बताया कि 'जो तारी तुलसीदास की जन्म भूमि होने का दावा करता है, वह राजापुर (बांदा) के निकट का 'तारी' न होकर 'कौशांवी' से निकट का तारी है। यह कौशांवी के दूसरे पार यमुना तट पर स्थित है। श्रीयुत शर्मा जी कौशांवी की पुरातात्त्विक खुदाई करा चुके हैं, जहां उन्हें उक्त बात ज्ञात हुई। इस प्रकार 'तुलसीदास' की जन्म-भूमि बनने की होड़ करने वाले एक से दो 'तारी' निकल आए।

श्री सीताराम शरण भगवान प्रसाद जी के कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने राजापुर (बांदा) में जाकर यह ज्ञात किया कि तुलसीदास की जन्म भूमि 'तारी' है, किन्तु उनके इस कथन का राजापुर (बांदा) की ही उस जनश्रुति से विरोध पड़ता है, जिसके अनुसार तुलसीदास सोरों (एटा) से राजापुर (बांदा) में आए थे और जिसका उल्लेख 'बांदा-गजेटियर' में किया गया है, परन्तु गजेटियरकार को 'तारी' का पता भी नहीं है जबकि वह बांदा जिले का ही एक गांव है। ऐसी स्थिति में श्री सीताराम शरण जी का कथन प्रमाण

१—श्री विल्सन ने वाराणसी के एक फारसीदां सज्जन से पत्र व्यवहार द्वारा तुलसीदास की जीवनवृत्त संबंधी जानकारी प्राप्त की थी, इसलिए आ० पं० चन्द्रबली पांडेय का अनुमान है कि 'फारसी लिपि' के दोष से विल्सन ने 'राजापुर' को 'हाजीपुर' पढ़ लिया होगा। (दे०—तुलसी की जीवनभूमि)

स्वरूप ग्रहण नहीं किया जा सकता। तारी में शांडिल्य गोत्रीय कुसुसी ब्राह्मण रहते हैं। तुलसीदास वसिष्ठ गोत्र के थे,[1] अतः इस प्रकार भी उनकी जन्मभूमि होने की पुष्टि नहीं होती।

हाँ, यह हो सकता है कि 'तारी' उनकी पत्नी श्री यमुना जी की भूमि हो क्योंकि तारी, मऊ, मंडौर, अहिरी, सुरोधा, अखौड़ा, वेरौंचा गांवों के शांडिल्य ब्राह्मण अपनी पुत्रियों का व्याह पनासी आदि गांवों में हैं जहां तुलसी दास जी की ससुराल थी।

राजापुर (बाँदा)

डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि "भक्त सिंधु और बृहत् रामायण महा अनुसार इनके (तुलसी दास के) पिता का नाम आत्माराम और माता का था। वे 'हस्तिना पुर' में उत्पन्न हुए थे किन्तु दूसरे प्रमाणों के अनुसार वे कूट के निकट 'हाजीपुर' में उत्पन्न हुए थे। जो हो, सामान्य परम्परा तो कि यमुना तट स्थित बांदा जिले के 'राजा पुर' को उनकी जन्मभूमि हो गौरव प्राप्त है।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि डा० ग्रियर्सन के कथन का कोई प्राम आधार नहीं है।[3] उन्होंने वैज्ञानिक आधार पर खोज करने का कष्ट कर जिस किसी ने कुछ कह दिया या जहां भी कुछ लिखा देख लिया, उसे प्रमाण मान लिया। पता नहीं 'भक्त सिंधु और 'बृहत् रामायण महात्म्य' से प्रामाणिक ग्रन्थ हैं? इन्हीं को प्रमाण मानने वाले डा० ग्रियर्सन ने यह बताया कि उनका 'हस्तिना पुर' है[4] कहाँ? क्योंकि यदि मेरठ जिले को

---

[1] १—दे०—अ० ४ में 'गोत्र-प्रवर'

[2] २—हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास अनु०—डा० किशोरी लाल गुप्त पृ०

[3] ३—दे०—शिक्षा विभाग उ०प्र० लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'हस्तिनापुर' पृ० १

[4] ४—बलिया जिले में 'हथउँज' नाम का एक प्रसिद्ध ग्राम है, जिसे साधारण बोल चाल में 'हस्तिना पुर' भी कहते हैं। 'हथउँज' नाम की व्युत्पत्ति हस्तिना पुर से हुई है यथा—हस्तिना पुर, हथिना पुर, हथिनाउर, ह हथिऊँ, हथिउँज, हथउँज। हथउँज में शांडिल्य गोत्र के जमींदार निवास करते हैं। इस वंश के लोग यहीं से नैनी जोर, नेवारी, बहुवारा आदि स्थानों में गए थे तथा इसी वंश परम्परा में गो० दास के गुरु नरहरि दास का जन्म हुआ था। यहां के 'नरहा' नामक का नामकरण नरहरिदास के नाम पर हुआ है। सम्भव है भ्रम से सम्बन्ध अनुश्रुति में उनके शिष्य तुलसी दास से जुट गया हो।

तिहासिक भूमि, पांडवों की राजधानी 'हस्तिना पुर' में तुलसी दास का जन्म आ होता तो उसका उल्लेख तुलसी दास के सम सामयिक और मित्र कविवर नारसी दास (सं० १६३८-१६९३ वि०) ने 'अर्द्ध कथानक में किया होता योंकि उन्होंने सं० १६५७ के लगभग उक्त 'हस्तिनापुर' को यात्रा की थी। ० १६६४ वि० में जैन पंडित विजय सागर और सं० १६६४ में 'भविस दत्त रित' के रचयिता कवि बनवारी लाल ने भी हस्तिनापुर की यात्रा की, कन्तु किसी ने हस्तिनापुर का तुलसीदास से किसी प्रकार के सम्बन्ध का उल्लेख हीं किया, जिससे स्पष्ट है कि हस्तिनापुर से तुलसीदास की जन्म-भूमि या नेवासभूमि होने का सम्बन्ध नहीं है। हस्तिनापुर की ही भाँति डा० ग्रियर्सन ने ह भी नहीं बताया कि किन दूसरे प्रमाणों से यह विदित होता है कि तुलसीदास हाजीपुर' में उत्पन्न हुए थे ? क्या उनके वे दूसरे प्रमाण 'श्री विल्सन' और तासी' के निराधार कथन हैं ?

जिस प्रकार श्री विल्सन और तासी गहरे पानी में हैं वैसे ही श्री ग्रियर्सन भी जिन्होंने यह पता लगाने का भी कष्ट न किया कि चित्रकूट के निकट हाजीपुर' नाम का कोई गांव भी है ? यह भी पता नहीं कि डा० ग्रियर्सन को उस 'सामान्य-परम्परा' का पता कहाँ चला कि 'यमुना तट स्थित बाँदा जिले के राजा पुर को उनकी (तुलसी की) जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है' क्योंकि स्वयं राजा पुर (बांदा) की ही 'सामान्य-परम्परा' तो कुछ और ही कहती है जैसा कि बांदा गजेटियर में उल्लेख है [1] तथा श्री सीता राम शरण जी के विवरण से विदित होता है। उनके अनुसार तुलसी दास राजा पुर (बांदा) के निवासी न थे और कहीं अन्यत्र से राजा पुर में आए थे।

इन बातों से ज्ञात होता है कि डा० ग्रियर्सन को राजा पुर में तुलसी दास की जन्मभूमि होने की अनुश्रुति किसी दूसरे स्थान पर ज्ञात हुई किंतु उन्होंने यह विचार न कर कि तुलसी दास की जन्मभूमि कोई दूसरा राजा पुर भी हो सकता है, बांदा जिले के राजा पुर को ही तुलसी दास के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण उनकी जन्मभूमि मान लिया जैसा कि बांदा-गजेटियर के लेखक ने सूकर खेत से अनभिज्ञ होने तथा सोरो से अभिज्ञ होने के कारण सोरों को ही 'सूकरखेत' मान लिया और उसका उल्लेख भी कर दिया। जैसी भूल डा० ग्रियर्सन ने की है, वैसी ही भूल 'घट-रामायण' के कर्त्ता तुलसी साहबने की है। हाथरस के रहने वाले को जिसने कभी राजा पुर (बांदा) को देखा भी या नहीं उसे क्या पता कि तुलसीदास की जन्मभूमि दूसरा राजापुर भी हो सकता है ?

---

[1] —दे०—अध्याय १ 'बांदा गजेटियर में राजापुर'

ये दोनों 'साहब' स्वयं तो भटके ही दूसरों को भी भटका दिया। एक ठहरे महाप्रभु और दूसरे साधु-संत !

भारत में विदेशी अन्वेषण जो कुछ मान लेते हैं, वह बिना 'नन-नु प्रमाण बन जाता है, आजकल आँख मूँद कर ग्रियर्सन साहब का कथन ही जाने लगा है।[1] सरकार ने भी राजापुर (बाँदा) में संगमर्मर का पट्ट लगा और विद्यालयों में प्रचलित पुस्तकों द्वारा उक्त स्थान को ही तुलसीदास जन्म-भूमि होने की विज्ञप्ति की है। जब राजापुर (बांदा) की अस्वीकृति पर भी तुलसीदास की जन्मभूमि होने की स्वीकृति मिल गई तो फिर उसका उत्साह बढ़ा। सोरों की हवा इधर भी लग गई एवं सोरों की ही भांति भी प्रमाण चयन किए जाने लगे। इसके विषय में श्री शिवनंदन सहाय निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है----

'अतएव जिन कारणों से लोग राजापुर को इनका जन्म स्थान होना हैं, उनसे यह बात प्रमाणित नहीं होती, परन्तु राजापुर गोस्वामी जी अपनाने की चेष्टा में बहुत तत्पर है। बहुत लोगों को निज पक्ष का प्रति बनाता जाता है और उसने अपने निकटवर्ती 'खटवार' ग्राम निवासी बलदे से अपने महात्म्य की कविता में अपने यहां यमुना के तट पर गोस्वामी जी आगार होना कहलवाया है।[2]

श्री शिवनन्दन सहाय ने बहुत पहले जिस बात का संकेत किया था, बात आज स्पष्ट है। श्री बलदेव कवि कृत 'कानूनगोय कायस्थ-वंशावली' हुई है तथा कुछ ग्रंथों की पुष्पिकाएँ, जिनमें विक्रमपुर का उल्लेख हुआ इसके साथ तीन सनदें और एक पट्टा भी है। सनदों में 'राजापुर' का हुआ है और पट्टे में विक्रमपुर का।

'कानूनगोय-कायस्थ-वंशावली' की अप्रामाणिकता पर पहले विचार जा चुका है और उस सनद पर भी विचार किया जा चुका है, जिसमें लाल के नाम के साथ तुलसीदास का नाम भी है, अस्तु यहां शेष सनदों पुष्पिकाओं पर विचार करना है जो निम्नांकित प्रकार हैं :—

१—कोई खोज ग्रियर्सन साहब की है, इसलिए प्रामाणिक है, ऐसा इसलिए ठीक नहीं कि साहबों तथा उन्हीं साहब की खोजें की जा चुकी हैं।

आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (का० ना० प्र० प
सं० २०१५ अंक ३-४ पृ० ४

२—गोस्वामी तुलसीदास पृ०-५

क—सनदे[१]

(१) 'श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा हिन्दूपतिदेव ने पंडित श्री उपाध्याय सीवाराम को सनधि कर दई पुरानी सनधि पर हुकुम आवर कसबा राजापुर मौं आगे ए उहा को राह रकम हाटपेंट में पाइ आए हौंइ सो बहाल है हरहमेस पाए कोऊ आमिल मैमार जमीदार मुन्तहिम न होइ हुकुम-हजूर फागुन सदि ३ संवत् १८१३ मुकामि परना।'

(२) श्री महाराज मैमार श्री दिवान हिंदूपति जू देव थेते पं० सीवाराम कौ पटौ कर दियौ। आगे के पटे पर हुकुम आपर मोजे विक्रमपुर में जो कुछ साविक दस्तूर पाई आए होइ सो हमेशा पाऔ जाहु। हुकुम हजूर माह सुदि ६ सुक्रे १८१२ मुकाम मसौनी।'

(३) श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा अमान सिंह जू देव येते पं० श्री उपाध्या सीवाराम कौ सनधि कर दई जो आपर मौजे मझि गवा मे कस्बा राजापुर बसतु है सु आगेतें ये उहा को राहरकम हाट पैट को पाइ आए हो सु पाऔ जाइ पुरानो सनधि पर हुकुम हाल कोऊ आमिल मैमार जिमीदार मुजाहिम न होइ हुकुम हजूर पौष सुदि १५ सं० १८१३ मुकाम लुढ़वारौ।

(४) चौथो सनद जो कदाचित उपर्युक्त सनदों से प्राचीन है और जिसमें मदारी लाल के साथ गोसाईं-तुलसीदास और जमुना जी नाम आए हैं 'सामग्री प्रकरण' में उद्धृत है।

(ख)—पुष्पिकाएं[२]

(१) आभ्युदयिक श्राद्ध सं० १६९९ वि०

संवत् १६९९ समय मार्गबदि षष्ठी बुधवासरे विक्रमपुर शुभ स्थाने लिषितं गोसाईं रामद्विवेदिनामिदं पुस्तकम् ।। शुभमस्तु ।।

(२) षष्ठी पूजा विधि: सं० १८१९ वि०

महोडायां शुचौ देशे धनधान्य समाकुले।
विक्रमाख्य पुरे रम्ये कालिंद्याद दक्षिणे तटे ॥१॥
लिष्यतं मयारामदुवेदेन आप पाठार्थ हेतवे ॥२॥
मिती कार्तिक सुदि चतुर्दशी रवि बासरेक पुस्तकम् समाप्तम्।

(३) संध्योपासन विधिः सं० १८३० वि०

सम्बत् १८३० शाके १६९४ समय नाम मार्ग बदी ३ भृगुसरुरेकः लिष्यतं। गहोरा देशान्तर्गत यमुना दक्षिण तटे विक्रमपुर शुभस्थाने श्री महाराजाधिराज श्री राजा अजीत सिंह राज्ये श्री राजा हिंदूपति

---

[१] दे०—तुलसीदास (डा० माता प्रसाद गुप्त कृत)

[२] दे० तुलसी की जन्म-भूमि।

भुज्यमाने कालींजरगढ़ वर्त्तमाने पुस्तकं लिषितं श्री दुवे गोवर्द्धनेन लिषितं श्री दुबे दमरी राम पाठार्थम् ।

(४) ऋषि पंचमीव्रत कथा: सं० १८३४ वि०
सं० १८३४ शाके १६९९ कीलकनाम संवत्सरे दक्षिणायणवर्षा ऋतौ श्रावण मासे शुक्ल पक्षे षष्ठी शनिवासरेक: पुस्तक समाप्तं । श्री मद्विवेदनाथ तस्यात्मज भैयाराम तस्यात्मज संगम लाल तस्यात्मज भैयाराम लिषितं पुस्तकं शुभं भूयात् ।

पुष्पिकाओं पर विचार करने से विदित होता है कि इनमें प्रथम को छोड़ शेष सभी पुष्पिकाएँ उपर्युक्त सनदें और पट्टे तुलसी काल के बाद की हैं किन्तु जब सं० १८१३ की सनदों में राजापुर नाम आया किन्तु इनमें उसका उल्लेख न कर केवल विक्रमपुर दिया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि विक्रमपुर ही का नाम राजापुर हो गया था क्योंकि इन पुष्पिकाओं से ऐसी बात प्रकट नहीं होती । अस्तु विक्रमपुर और राजापुर की एकता सिद्ध करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । उपर्युक्त सनदों का अवलोकन करने से निम्नांकित बातों का पता चलता है—

क—प्रथम और द्वितीय प्रमाण पत्र एक ही राजा के दिए हुए हैं परन्तु दोनों की लेखन प्रणाली एवं शब्दावली में जो अन्तर है विचारणीय है जैसे पहले प्रमाण पत्र को 'सनधि (सनद)' परन्तु दूसरे को पटा (पट्टा) कहा गया है । पहले में 'कसबा राजापुर' परन्तु दूसरे में 'मौजा विक्रमपुर' है । पहले में लिखा है—'एउहा की राह रकम हाटपैट में पाइ आए होइ सो बहाल है' किन्तु दूसरे में लिखा है—'जो कुछ साविक दस्तूर पाइ आए होइ सो हमेसा पाओे जाहु ।'

ख—प्रथम और द्वितीय दो राजाओं द्वारा दी गई सनदें हैं किन्तु दोनों एक ही स्थान राजापुर से सम्बद्ध हैं । इन दोनों की लेखन प्रणाली और शब्दावली एक जैसी है यथा दोनों ही में 'कस्बा राजापुर' और 'उहा की राह रकम हाटपैट जो पाइ आए होइ' का समान रूप से उल्लेख है ।

ग—पन्ना के राजा अमान सिंह ने सं० १८०९ से १८१५ तक शासन किया । इसके बाद राजा हिन्दूपति ने उनको मारकर पन्ना पर अधिकार कर लिया । सनदों के देखने से विदित होता है कि अमान सिंह और हिन्दूपति का झगड़ा पहले से चला आ रहा था । पौष सं० १८१३ में राजापुर पर अमान सिंह का अधिकार था किन्तु उसके दो महीने बाद ही उसपर हिन्दूपति का अधिकार हो गया । यही कारण है कि केवल तीन मास के भीतर राजापुर की सनद को दो बार प्रमाणित कराना पड़ा किन्तु विक्रमपुर राजा हिन्दूपति के

अधिकार में सं० १८१२ में भी था और आगे भी ज्यों का त्यों बना रहा, यही कारण है कि उसका पट्टा पुनः प्रमाणित कराने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो गया कि कस्बा राजापुर और मौजा विक्रमपुर दो भिन्न-भिन्न स्थान हैं। कस्बा राजापुर मौजा भक्तिगवां में है किन्तु विक्रमपुर स्वयं स्वतंत्र मौजा है। कस्बा राजापुर में 'राहरकम हाटपेंट' की माफी दी गई थी किन्तु विक्रमपुर के लिए ऐसी बात न थी। सबसे मुख्य बात तो यह ज्ञात होती है कि उक्त दोनों माफियां दो राज्यों और राजाओं द्वारा प्रदत्त थीं एवं सर्वथा एक दूसरे से भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त किसी भी सनद, पट्टा या पुष्पिका में राजापुर और विक्रमपुर का नाम एक साथ नहीं आया है और न अन्यत्र ही कहीं कोई किसी के उपनाम रूप में प्रयुक्त हैं।

यदि यह मान भी लिया जाय कि राजापुर का पुराना नाम विक्रमपुर था और सबसे पुरानी पुष्पिका के अनुसार उसकी स्थिति सं० १६९९ में भी थी तौ भी इतने से उसका तुलसीदास की जन्म भूमि होना सिद्ध नहीं होता और न इसके द्वारा उसके तुलसीदास द्वारा बसाए जाने का ही खंडन होता है। डा० माताप्रसाद गुप्त के कथनानुसार वहां गुप्त तथा राजपूत काल के अवशेष मिलते हैं किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त स्थान उजड़कर फिर नहीं बसा होगा।

श्री पं० रामबहोरी शुक्ल ने राजापुर को गोस्वामी तुलसीदास की जन्म भूमि मानने के पक्ष में निम्नांकित तर्क उपस्थित किए हैं[1]—

१—ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पं० रामगुलाम द्विवेदी और मानस के अनेक प्राचीन टीकाकारों ने इसी स्थान को तुलसी की जन्मभूमि माना है।

२—तुलसी साहब (सं० १८२०-१९००) ने अपने को मानस के रचयिता का अवतार मानते हुए अपनी 'घट रामायण' में भी अपना पहला चोला राजापुर में ही होना लिखा है।

३—राजापुर में उपाध्याय (सरयूपारीण) ब्राह्मणों का एक वंश है। उस वंश के लोग अपने को गोस्वामीजी के शिष्य श्री गणपति उपाध्याय का वंशज बताते हैं। इस वंश के पं० मुन्नीलाल उपाध्याय के पास जिनके ही अधिकार में गोस्वामी जी के हस्तलिखित 'मानस' का अयोध्या कांड रहता है, केवल दो-तीन पुराने कागज पत्र जीर्णशीर्ण दशा में मिले हैं।'

४—इस विश्वास के सत्य होने का एक प्रमाण हमें श्री रामचरित मानस में भी मिलता है। अयोध्या कांड में तापस प्रसंग बहुत प्रसिद्ध है।'

---

[1] —श्री डा० माता प्रसाद गुप्त कृत 'तुलसीदास' पृ० १४२-४४ से उद्धृत

५—अयोध्या से यमुना जी पहुंचने तक गोस्वामी जी कहीं भी इस प्रक भावावेश में नहीं आए जिस प्रकार यमुना जी के पार करने पर आए। इ प्रदेश में राजापुर है और जन्म भूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रा वासी स्त्री-पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यंत प्रभावशाली वर्णन अपनी अलौ किक अनुभूति से इसी प्रदेश से संबंधित किया है।

इसमें पहले और दूसरे तर्क के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है ये लेखक गोस्वामी तुलसीदास के बहुत बाद हुए अस्तु इनको राजापुर * संबं में उसी प्रकार भ्रांति हुई जैसे डा० ग्रियर्सन को। तीसरे और चौथे तर्क द्वार यह प्रकट नहीं होता कि राजापुर में तुलसीदास का जन्म हुआ था वरंच यही प्रकट होता है कि तुलसीदास ने वहां निवास किया था और तपस्या की क्योंकि वे तापसवेष में ही भगवान के पास पहुंचे।

गीतावली के निम्नांकित प्रसंग से भी यही सिद्ध है—

एक कहै बाम विधि दाहिनो हमको भयौ,
उन कीन्हीं मीठि इनको सुदीठि दई है।
तुलसी सहित बनबासी मुनि हमरि औ,
अनायास अधिक अघाइ बनि गई है ॥ गी० बा० ३

आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय ने वंशावली के आधार पर हिसाब लगाक यह सिद्ध कर दिया है कि गणपति उपाध्याय गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य न एवं उनके बहुत बाद उत्पन्न हुए थे।[1] उपाध्याय वंश को उनकी शिष्य-परंपर में मान लेने पर भी राजापुर उनकी जन्म भूमि सिद्ध नहीं होता वरंच इस उसका निषेध ही होता है।[2] सनदों से कोई ऐसी बात नहीं प्रकट होती जिस तुलसीदास की जन्मभूमि या निवास स्थान भी राजापुर सिद्ध किया जा स क्योंकि जिस सनद में तुलसीदास का नाम आया है, उसमें भी भूमि की माफ जमुना जी के निमित्त दी गई है। पाँचवां तर्क सहानुभूति से सम्बन्ध रखत

१—वंश वृक्ष—(१) गनपत राम (२) शिवाराम और मदारीलाल (३) कृपा माधो और केशव (४) पंचमराम (५) हनुमानदीन (६) भैरोदीन, (७ विश्राम (८) मुन्नीलाल ।

कहने का तात्पर्य यह कि राजापुर के इस प्रमाण के अनुसार तुलसीदास समय से सं० १९९९ वि० तक कुल इस कुटुम्ब की ८ पीढ़ियां बीतीं। कि क्या है यह विश्वसनीय भी ? —तुलसी की जीवन भूमि पृ० ८२

२—वहां उनका शिष्य-परिवार है, अतः जन्मभूमि होने से यह दूर है।
—डा० भगीरथ मिश्र—तुलसी रसायन पृ० ५

है। मनुष्य की सहानुभूति वहीं उमड़ पड़ती है जहां, वह किसी को अनपेक्षित कष्ट में देखता है। यमुना पार होने पर श्रीराम-लक्ष्मण और सीता राजपुत्र एवं राजवधू होकर भी कुश-काँटों में नंगे पाँव पैदल चल रहे थे और वल्कल पहने हुए थे। ऐसे स्थल पर दर्शकों का द्रवित होना स्वाभाविक ही था। इससे उक्त स्थान में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की बात सिद्ध नहीं होती।

कुछ लोग 'मूल गोसाईं चरित' का प्रमाण देते हैं एवं कहते हैं कि राजापुर में रखी 'मानस' के अयोध्या कांड की प्रति तुलसी का हस्तलेख है तथा वहां संकट मोचन हनुमान को उन्होंने स्वय स्थापना की थी किन्तु पहले बताया जा चुका है कि 'मूल गोसाई चरित' एक जाली तथा अप्रामाणिक ग्रन्थ है और यदि ये बातें सत्य भी हों तो उनसे राजापुर में तुलसीदास का निवास करना ही सिद्ध होता है न कि जन्मभूमि होना। इन्हीं कारणों से पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी राजापुर (बांदा) को तुलसीदास की जन्मभूमि नहीं मानते।

(दे०—गोसाईं तुलसीदास पृ० २७९)

अस्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि राजापुर (बांदा) को तुलसीदास की जन्मभूमि न मानकर अधिक से अधिक निवास भूमि मान सकते हैं। जैसा कि वहां की परंपरागत जनश्रुति से प्रकट है[1] और रीवां नरेश महाराजा रघुराज सिंह के कथन द्वारा भी विदित होता है।[2] इसके अतिरिक्त 'गौतम-चन्द्रिका' से ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी ने किसी 'यमुना' नामक स्त्री से परिणय-संबंध कर कुछ काल के लिए कहीं यमुनातट पर निवास किया था। उक्त स्थान बाल्मीकि आश्रम के निकट ही कहीं था।[3] अतः वह स्थान राजापुर ही प्रतीत होता है। राजापुर की वह सनद जिसमें गोसाईं तुलसीदास का नाम आया है, माफी 'जमुना जी' के गुजारे के लिए दी गई है, इस प्रकार राजापुर 'यमुना जी' की निवास भूमि सिद्ध होता है जिनके साथ तुलसीदास ने केवल पाँच वर्ष तक वहां निवास किया था, जैसा कि गौतम चन्द्रिका से ज्ञात होता है। गोस्वामी जी के ग्रन्थों के अंतर्साक्ष्य से स्पष्ट है कि उनकी जन्मभूमि गंगातट के निकट कहीं थी, फिर उसके यमुनातट पर होने की बात कैसे सोची जा सकती है?

---

[1] 'दंत कथा के अनुसार राजापुर गोस्वामी जी का बसाया हुआ है। राजापुर के ही पुराने जानकार लोगों के कथनानुसार वह गोस्वामी जी की जन्मभूमि नहीं है।'

—श्री शिवनन्दन सहाय (गो० तुलसीदास पृ० ६७

[2] राजापुर जमुना के तीरा। तुलसी तहां बसें मतिधीरा॥ रा० स्व०

[3] हमहुं आदि कवि बन मति आंचे। जमुना तट जमुना गृह रांचे॥ गौ० चा०

पं० चन्द्रबली पांडेय के अनुमान से राजापुर (बांदा) का माफीनामा अकबर द्वितीय (सं० १८८०-१९१२ वि०) के समय का हो सकता है, परन्तु इस पर आलमगीर द्वितीय (सं० १८११-१६ वि०) की मुहर होने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह उक्त अनुमानित समय से पहले का है।

यद्यपि माफीनामे के बीच-बीच में कट-फट जाने से उसका लेख स्पष्ट नहीं हो पाता, परन्तु उससे इतना तो ज्ञात होता ही है कि माफी न देवेत्तर-सम्पत्ति के रूप में, न किसी विशिष्ट स्थान के प्रबन्ध के लिए और न किसी अभिनव कार्य की व्यवस्था के हेतु दी गई है, वरंच वह 'यमुना जी' के गुजारे के लिए दी गई है। माफी राजापुर (बांदा) से सम्बद्ध है अतः उक्त स्थान के तुलसीदास की जन्म-भूमि होने का विरोध पड़ता है क्योंकि बाल्यावस्था में अनाथ हो जाने पर तथा नरहरि दास के शरणापन्न होने पर उनका जन्म-भूमि से सम्बन्ध छूट गया था। जिस जन्म-भूमि में उनका अपना कोई और कुछ भी नहीं रह गया था, वहां पर विवाह कर गृहस्थी बसाने की सम्भावना क्यों कर हो सकती है? जहां दया के पात्र तुलसी को पराश्रित रूप में अकेले रहने के लिए स्थान नहीं मिला, वहां उनको स्त्री-सहित गृहस्थी बसाकर स्वाधीन रूप में रहने के लिए कौन स्थान देता। उस समय तक तुलसी की इतनी प्रसिद्धि भी नहीं हुई थी कि लोग उन्हें वहां बुलाकर बसाते। साधु-समाज में रहकर पुनः गृहस्थ बनने से वहाँ उनकी निन्दा ही होती। इन सारी बातों के कारण तुलसीदास और उनकी पत्नी का स्वाभिमान भी वहां जाने में बाधक होता। इसके अतिरिक्त जिन शत्रुओं की कुप्रवृत्ति से उन्हें दर-दर भटकने के लिए बाध्य होना पड़ा था, वे वहीं पर उनका गृहस्थी बसाना कदापि सहन नहीं कर सकते। यदि तुलसीदास उनके विरोध स्वरूप वहां निवास भी करते तो वहां उनकी प्रबल विरोधियों से मुठभेड़ होती और उन्हें उनके षडयंत्रों का या खुल्लमखुल्ला मोरचे का सामना करना पड़ता। ऐसी दशा में वहां गुप्त या प्रकट रूप से उनके कुछ सहायक भी निकल आ सकते थे, किन्तु इन संभावनाओं का तुलसीदास के कथन से निषेध होता है, यथा—

'भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरीहू सों,
बल अपनो न हितू जननी न जनको'—वि० प०

इससे स्पष्ट है कि जन्म-भूमि से अलग हो जाने पर उनकी निवास भूमि वहां से अलग ही रही। अस्तु जब तुलसीदास और जमुना जी का राजापुर (बांदा) में रहना सिद्ध है तो उक्त स्थान को उनकी जन्म-भूमि न मानकर उसे उनकी निवास भूमि मानना चाहिए।

राजापुर (बांदा) को तुलसीदास के विवाहित-जीवन-काल की निवास-भूमि[1] मानना भी युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि उस समय वे कृषि का व्यवसाय करते थे और वह भी गुजर भर के लिए नहीं, वरंच धन वृद्धि के लिए[2], जिससे प्रकट है कि उनके पास वहां पर्याप्त भूमि थी।[3] अस्तु तुलसीदास जी द्वारा घर-बार का त्याग किए जाने पर वहां रहने से श्री जमुना जी उसकी अधिकारिणी हुई होतीं, ऐसी स्थिति में राज्य द्वारा उनके गुजारे के लिए वृत्ति देने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि गुजर के लिए तो तभी वृत्ति दी जा सकती है, जब गुजर का पर्याप्त साधन न हो।

वास्तविकता यह है—राजापुर (बाँदा) तुलसीदास जी की तपोभूमि है। पति के गृहत्याग करने पर तप का ही भावना से पति की साधना भूमि में जमुना जी ने निवास किया एवं इसी से उनके गुजारे के लिए वहां राज्य द्वारा वृत्ति की व्यवस्था की गई तथा एक व्यवस्थापक भी नियुक्त कर दिया गया जिसकी परंपरा के मदारीलाल का माफीनामा में उल्लेख है। माफीनामा सं० १६३१-४० वि० के मध्य दिया गया होगा, जबकि 'मानस-कार के रूप में तुलसीदास जी की विशेष प्रसिद्धि हो गई होगी क्योंकि तभी श्री जमुना जी के महत्त्व का भान राज्य के अधिकारियों को हुआ होगा।

यदि मदारीलाल तुलसीदास जी की शिष्य परंपरा में मान लिए जायें, जैसा कि उनके वंशजों का कहना है तो इससे भी राजापुर में उनके जन्म होने का खंडन होता है क्योंकि विरक्त होने पर कोई भी अपना आश्रम जन्मभूमि में नहीं बनाता, न शिष्य-मंडली का प्रसार करता है। साधु-संतों द्वारा शिष्य भी साधनाकाल में ही बनाए जाते हैं, न कि उनके गृहस्थ जीवन में? इसी

---

[1] —विवाहित हो जाने पर तुलसीदास की सहायता उनकी ससुराल वालों ने की होगी और उन्हें कृषि योग्य पर्याप्त भूमि देकर बसाया होगा किन्तु तुलसीदास और यमुना जी के द्वारा उसका त्याग किए जाने पर पुनः वे उस पर अधिकार कर लिए होंगे।

[2] —'मध्य बयस धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय'—वि० प०

[3] —भोजपुरी लोकोक्ति है—'एक बैल जेकरा, थूक सरके सेकरा।'

और—

'एक हर हर नाहीं दुइ हर हर्रा। तीन हरे पेट भरे चारि हरे बेवहर्रा॥'

अर्थात् एक बैल रखने वाला किसान सदा कष्ट में रहता है। एक हल की खेती, खेती नहीं, दो हलों की खेती खेती है, परन्तु तीन हलों की खेती करने पर ही पेट भरता है और चार हलों की खेती से कुछ पैसा भी जमा होता है।

आधार पर डा० भगीरथ मिश्र लिखते हैं—'वहां उनका शिष्य परिवार है अतः जन्मभूमि होने से वह दूर है।' (रा० र० पृ० ५९)

तुलसीदास के अंतर्साक्ष्य से राजापुर (बाँदा) में उनकी जन्मभूमि होने का निषेध ही होता है। राजापुर यमुना के दक्षिण पार के लोगों से इस प्रकार कहलाया है—

'कहँ हम लोक वेद विधि हीनो।
सब बिधि कुल करतूति मलीनो॥
बसहिं कुदेस, कुगांव, कुठामा।' —रा० अयो०

किन्तु अपने विषय में उनका कथन इस प्रकार है—

'दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारिको।'
और—'यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली॥'

भला बताइये, इन दोनों परस्पर विपरीत कथनों का मेल कोई कैसे मिला सकता है!

अस्तु श्री शिवनन्दन सहाय के शब्दों में—'इन्हीं सब कारणों से हम राजापुर को गोस्वामी जी का निवास-स्थान मानते हैं, जन्म स्थान मानने को तैयार नहीं हैं।[1]

सोरो (एटा)

सोरो (एटा) को तुलसीदास को जन्मभूमि कहनेवाले लोग विशेष सक्रिय दिखाई देते हैं। सर्व प्रथम सोरो निवासी पं० गोविन्द वल्लभ शास्त्री ने माधुरी वर्ष ७ सं० २ पृ० ७९१ पर तुलसीदास की जन्मभूमि सोरो (एटा) स्थित योग मार्ग महल्ला में होने का उल्लेख किया किन्तु शीघ्र ही ३१ अगस्त सन् १९१७ के लीडर पृ० २८ पर इस कथन का खंडन कर दिया गया। उस लेख के अनुसार गोस्वामी जी के एटा स्थित सोरों में निवास करने का कोई चिह्न नहीं है और न वहाँ इनके बारे में कोई जनश्रुति ही प्रचलित है।[2] बांदा गजेटियर का यह उल्लेख कि 'कहा जाता है कि अकबर के शासनकाल में (सं० १६१३-१६६२) एक संत जिसका नाम तुलसीदास था और जो सोरों तहसील कासगंज जिला एटा का निवासी था, यमुनातट के उस जंगल में आया, जहां राजापुर आबाद है और यहां ईश्वर प्रार्थना और ईश्वर ध्यान में दत्त चित्त रहने लगा।' पूर्णतः जनश्रुति पर निर्भर करता है। जनश्रुति भी

१—गोस्वामी तुलसीदास पृ० ७

२—दे०—गोस्वामी तुलसीदास (श्री शिवनन्दन सहाय कृत) पृ० २८

'सूकर खेत' के संबन्ध में रही होगी, जिसे गजेटियर के लेखक ने भ्रांतिवश सोरों के प्रसिद्ध होने के कारण उसे सोरो ही समझ लिया। जब एटा गजेटियर में सोरों से संबद्ध तुलसीदास का विवरण नहीं है तो फिर बाँदा गजेटियर के आधार पर उसे तुलसीदास की जन्मभूमि अथवा निवास स्थान नहीं माना जा सकता है।[1] ध्यान देने की एक बात यह है कि 'घटरामायण' के रचयिता तुलसीसाहब ने सोरों से तुलसीदास के किसी प्रकार के सम्बन्ध की चर्चा न की। जबकि वे सोरों के निकट के ही निवासी थे। यदि उक्त क्षेत्र में तुलसी के जन्म लेने या निवास करने की जनश्रुति प्रसिद्ध होती, तो वे अवश्य उसका उल्लेख करते।

सोरों पक्ष के अनुसार तुलसीदास के गुरु नरसिंह दास सोरों के गृहस्थ सनाढ्य ब्राह्मण थे किन्तु गोतम चन्द्रिका से विदित होता है कि वे शांडिल्य गोत्र के विरक्त साधु थे, यथा—

"सांडिल गोत्रज नरहरि स्वामी। ज्ञान निधान भक्ति पथगामी॥

स्वयं तुलसीदास के उल्लेखों से भी उनके गुरु का विरक्त साधु होना झलकता है। यदि सोरों पक्ष के अनुसार यह मान लिया जाय कि तुलसीदास के गुरु नरसिंह दास और तुलसीदास एक ही कुल और एक ही स्थान के रहने वाले थे, तो फिर दोनों का परस्पर पर्याप्त परिचय भी रहा होगा किन्तु तुलसीदास के निम्नांकित कथन से उक्त बात का समर्थन नहीं होता यथा—

'पुछ्यो ज्यों ही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरे जू,
मेरे कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं॥ वि०

जब नरसिंह दास सोरों के चौधुरी, दयालु और सम्पन्न गृहस्थ, तुलसीदास के सजातीय और अभिभावक थे एवं तुलसीदास का बड़े लाड़-प्यार से पाल रखा था जैसा कि श्री गौरी शंकर द्विवेदी 'शंकर' लिखते हैं—"श्री नरसिंह जी धन-सम्पन्न होने के साथ ही साथ सहृदय और विद्वान भी थे, अतएव मातृ पितृ-हीन अपने सजातीय बालक (तुलसी) की रक्षा, दीक्षा पालन-पोषण आदि का उन्होंने समुचित प्रबन्ध किया (सुकवि-सरोज भाग २ पृ० १३)" तो फिर तुलसी को निम्नांकित कथन की क्या आवश्यकता पड़ी—

(क) 'जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो'—क० उ० ७२

(ख) 'बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
मानत हौं चारिफल चारिही चनक को'—क० उ० ७२

---

[1] —दे०-अध्याय ४

(ग) 'असन बसन हीन विषम विषाद लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को'—ह० बा० ४१

(घ) 'स्वारथ को साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक,
औचट उलटि न हेरो'—वि० २७२

(ङ) 'द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूं'—वि० २७६

'सोरों'[1] सूकरखेत का अपभ्रंश या विकसित रूप नहीं है फिर भी सोरों और सूकरखेत को एक ही मान लिया जाय. तो भी सोरों के तुलसी की जन्म-भूमि होने का निषेध स्वयं उन्हीं के कथन से होता है क्योंकि वे हैं—'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकरखेत'—रा० बा० ३० इस उनकी जन्म-भूमि का 'सूकरखेत' से अलग होना प्रकट होता है क्योंकि जब स्थान कह देने से ही काम निकल जाता तो फिर वे उस स्थान का नाम लेते ? आत्म-गोपन की दृष्टि से भी तो जन्म भूमि का नाम न लेना आव था क्योंकि साधु-संन्यासी अपनी जन्म-भूमि और कुल परम्परा प्रकट नहीं कर

सोरों में जिन 'नरसिंह जी' का स्थान होने का उल्लेख 'सोरों पक्ष' ओर से किया गया है, वह भगवान् विष्णु के दस अवतारों में से चतुर्थ अव नरसिंह जी का स्थान है; किसी व्यक्ति विशेष का नहीं क्योंकि यह बात पर से वृद्ध पुरुषों द्वारा सुनी जाती है। श्री नरसिंह जी की पूजा भारत के भागों में भी प्रचलित है तथा उनके स्थान भी हैं। यथा—

घर्मारण्य (मदारपुर) मूल[1] के ब्राह्मणों में वीरव्रती होने के कारण दुर्गा आदि देवताओं की पूजा प्रचलित है। मदारपुर से पूर्वीय प्रदेश में हुए ब्राह्मणों के यहाँ इन देवी-देवताओं की पूजा परम्परा से होती चली आ है। इनके साथ धर्मनाथ जो (धर्मराज) की पूजा का भी प्रचलन है[2] जैसा बलिया जिलांतर्गत लिलकर आदि गाँवों में देखा जा सकता है। यह वैसाख शुक्ल १४ को श्री नृसिंह की पूजा के साथ की जाती है। कई स (सोसोटार आदि) पर श्रावण शुक्ल ७ को सूर्य की पूजा के साथ होती है डुमरहर (सारन, बिहार) आदि गांवों में होलिकोत्सव के अवसर पर।"

—चतुर्मुख (त्रैमासिक) सं० २०२१ अ० ४ पृ०

१—'सोरों' पुराणोक्त 'सौकरव' का अपभ्रंश है।

२—पूर्वं धर्मेश्वरो देवो, दक्षिणेन गणाधिपः।
पश्चिमे स्थापितो भानुरुत्तरेच स्वयंभुवः ॥ स्क० ब्र० ध० २/११

सिकन्दरपुर (बलिया) के पार्श्ववर्ती नोन्हउलिया ब्राह्मणों के प्रत्येक देव-घर में श्री नरसिंह जी का स्थान पाया जाता है एवं रसड़ा (बलिया) के निकट कंसोपटना की ध्वस्त कोट में भी श्री नरसिंह जी का स्थान है किन्तु पूजा अब नहीं होती। अस्तु श्री नरसिंह जी के स्थान का सम्बन्ध गुरु नरसिंह से जोड़ा नहीं जा सकता। डा० माताप्रसाद गुप्त ने सोरों जाकर जो खोज की, उससे भी उपर्युक्त मतकी ही पुष्टि होती है, जैसा कि वे लिखते हैं—

"प्रस्तुत शब्दावली से तो यही जान पड़ता है कि मन्दिर नृसिंह भगवान् का था, न कि किसी नरसिंह चौधरी का ? 'जी' और 'महाराज' इसी की ओर संकेत करते हैं (तुलसीदास पृ० १०२)"

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' के आधार पर तुलसीदास को सनाढ्य सिद्ध कर सोरों-निवासी बनाने का प्रयास किया जाता है किन्तु पहले बतलाया जा चुका है कि वार्त्ता के अनेक संस्करण परस्पर भिन्नता युक्त मिलते हैं[1], अतः ऐसी दशा में जो बात सभी संस्करणों में न मिले, प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। 'वार्त्ता' के आधार पर तो तुलसीदास और नन्ददास की जन्मभूमि पूर्वीय प्रदेश सिद्ध होती है, न कि सोरों ? यथा—"सो वे पूरब में रामपुर ग्राम में जन्मे (अष्ट छाप पृ० ५२५)" आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय लिखते हैं कि—

'तो भी इतना तो निश्चित समझिए कि 'वार्त्ता' के मतानुसार तुलसी पूरब के ही ठहरते हैं, कुछ 'पछाँह' के कदापि नहीं।'

—तुलसी की जीवन भूमि पृ० ४६

श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है[2] कि—"'तायो' का अर्थ है जांचा। यह सोरों में अब भी बोलचाल में आता है, पर राजापुर में तोपने ढंकने या गरम करने के अर्थ में व्यवहृत होता है।"

"ओर को" का अर्थ सोरों में है 'अन्तका' पर राजापुर और उसके आस-पास 'ओरको' का अर्थ है आदि जैसे:ओर छोर।"

इसी प्रकार उन्होंने 'चकडोरि, तिजरा की टोटक और कुटिल शब्द को उद्धृत कर इन शब्दों को सोरों क्षेत्र का बताया है। इसके अतिरिक्त तुलसीदास की भाषा में फारसी शब्दों के व्यवहृत होने का कारण भी उनका सोरो में उत्पन्न होना माना है किन्तु उन्हें क्या पता कि भोजपुरी प्रदेश में भी 'ताइ' लेना क्रिया और 'ओर' अव्यय का प्रयोग तथोक्त अर्थ में होता है। चकडोरि और तिजरा के टोटक का व्यवहार भी भोजपुरी प्रदेश में है। परंतु भोजपुरी में तिजरा एक प्रकार के ज्वर को कहते हैं जिसके लिए टोटका किया जाता

---

[1] —दे०—अध्याय १ में 'दो सौ बावन वार्त्ता'

[2] —तुलसीदास और उनका काव्य पृ० ६३

है। उनके कथनानुसार सोरों में 'केकड़ा' को 'कुटिला' कहते हैं औ तुलसी दास ने 'तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात-पिताहु' में कुटिल श का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय 'केकड़ा' हो सकता है, किन्तु ए शब्द के आधार पर किसी कवि या लेखक की जन्मभूमि का निर्णय नहीं कि जा सकता। तुलसी दास परिव्राजक संत थे, उनकी रचनाओं में अनेक प्रांतों कतिपय शब्दों का प्रयुक्त हो जाना असम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है अनेक टीकाकार 'कुटिल कीट' का अर्थ 'साँप' या 'बिच्छू' करते हैं।

तुलसी दास द्वारा 'अरबी-फारसी' के शब्दों का प्रयोग देखकर भी यह न कहा जा सकता कि वे पश्चिम के निवासी थे, जबकि बिहार और बंगाल में भ इस प्रकार के शब्दों का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है और भोजपुरी में लगभग सौ शब्द इस प्रकार के हैं जिनकी व्युत्पत्ति अरबी-फारसी शब्दों से हुई है। इस अतिरिक्त जब तुलसी दास ने ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में सिद्ध हस्त हो रचना की है तो इन भाषाओं में से किसी एक के आधार पर कैसे कहा जा सक है कि वे अमुक प्रदेश के निवासी थे और तब, जबकि ये दोनों भाषाएँ साहि के माध्यम के रूप में अपने क्षेत्र के बाहर सारे उत्तर भारत में प्रचलित हो थीं।[1]

इधर सोरों पक्ष की ओर बहुत सी ऐसी सामग्री उपलब्ध की गई हैं जिन बहुत से ग्रंथों की पुष्पिकाएँ तथा कुछ स्वतंत्र ग्रंथ भी हैं जैसे 'दोहा रत्नाव और 'लघु दोहा रत्नावली'। सोरों-सामग्री के प्रकरण में इन पर विचार कि जा चुका है (देखिए अ० १) विद्वानों की उक्त सामग्री की प्रामाणिकता के वि में संदेह है। डा० माता प्रसाद गुप्त इसका भली-भांति परीक्षण करके इस निष्क पर पहुँचे हैं कि यह सम्पूर्ण सामग्री अप्रामाणिक अनैतिहासिक और गोस्वामी ज के ग्रंथों के अंतर्साक्ष्य से बिल्कुल विपरीत है।[2] आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय लिखा है कि 'सोरों की ओर से जो प्रमाण लाए गये, उनकी प्रामाणिकता त जाती रही और उनकी साधुता में भी बहुतों को संदेह हो गया।[3] आचार्य पं बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

१—'अंततोगत्वा मागधी प्रदेश में सुदूर पूर्व तक ब्रजी का एक रूप फैला, जि 'ब्रजबुली संज्ञा मिली है और जिसका गीतों में प्रयोग बहुतों द्वारा किय गया। द्वार वंग (दरभंगा के विद्यापति द्वारा पहले इस रूप का प्रयोग बं में हुआ फिर असम उत्कल नैपाल आदि में भी हो गया।—पं० बिश्वना प्रसाद मिश्र (गोसाई तुलसीदास पृ० ६३)

२—तुलसीदास पृ० ९२-१२७

३—तुलसीदास पृ० १८

श्री रामबहोरी शुक्ल ने लिखा है कि जो रचनाएँ वहाँ (सोरों) से प्रकट हुई हैं उनकी प्रामाणिकता नितांत संदिग्ध और अमान्य समझी जाती हैं (तुलसी पृष्ट ८)। हिन्दी के अन्य मान्य विद्वानों ने भी सोरों-सामग्री को भ्रमात्मक-मौरजाल माना है। सोरों पक्ष का सबसे पुष्ट आधार 'मानस' के बालकांड और अरण्यकांड की सं० १६४३ वि० की प्रतियाँ हैं[1] किंतु इनमें क्षेपकों की योजना की गई है, अरण्य-कांड क्षेपकों से भरा पड़ा है ऐसी स्थिति में उसे तुलसीदास के आदेश से लिखा गया, उनके द्वारा उपहार स्वरूप अपने भतीजा कृष्णदास को दिया गया एवं मानस की रचना के थोड़े ही दिनों बाद काशीपुरी में ही लिखा गया और उनके जीवनकाल का हस्तलेख कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता अस्तु ये प्रतियाँ सं० १८४३ विक्रमी की ज्ञात होती हैं क्योंकि ८ को ६ में बदल देना सुगम है। पहले कहा गया है कि सोरों-सामग्री में तुलसी के परिवार का भरा-पुरा होना तथा बालकालीन-सुख का सपना पिरोया गया है, जिसकी तुलसी द्वारा किए गए उल्लेखों से सगति नहीं बैठती। यह भी ध्यातव्य है कि सोरों की ओर कृष्णोपासना का अधिक प्रचार रहा है, अस्तु मिथ्या परियोजनाओं पर आधारित डा० रामदत्त भारद्वाज, रमेशकुमार खट्टर आदि के शोध-प्रबंधों को प्रमाण स्वरूप ग्रहण करने में कठिनाई है।[2] श्री भारद्वाज जी वकील हैं अस्तु उनकी वकालत को एक पक्षीय आग्रह के रूप में ही देखा जा सकता है, तथ्य के रूप में नहीं।

काशी

'श्री रामचरित-मानस' के अंतर्गत किष्किंधा कांड के मंगलाचरण में 'मुक्ति-जन्म-महि' का प्रयोग देखकर श्री रजनीकांत शर्मा ने उसे काशी में तुलसीदास की जन्मभूमि होने का संकेत मान लिया, जिसका खंडन उक्त सोरठे का तात्पर्य स्पष्ट करने से ही हो जाता है। गौतमचंद्रिका में भी काशी के लिए 'मुक्ति-जन्म महिमा-मढो' विशेषण का उपयोग हुआ है और तुलसी

१- पुष्पिकाएँ-श्री तुलसीदास गुरु की आग्या से उनके भ्रातासुत कृष्णदास सोरो छेत्र निवासी हेत लिखितं लछिमन दास कासी जी मध्ये सं १६४३ आषाढ सुद ४सुक इति ॥

इति श्री रामचरित मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल.... य संपादनी नाम १ सोपान समाप्तः सं० १६४३ शाके १५०८ वासो नंददास पुत्र कृष्ण दास हेत लिषो रघुनाथ दास ने काशीपुरी में। (देखिए -श्री रामदत्त भारद्वाज कृत तुलसीदास का घरबार)

२- तुलसीदास का घरबार, तुलसीदास जीवन वृत्त, काव्यकला और दर्शन, नंद दास आदि।

के 'बगसर' से आकर काशी में निवास करने का विवरण मिलता है। का
पुराण प्रसिद्ध मुक्तिक्षेत्र है, जिसका वर्णन तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर
है और काशीपति विश्वनाथ से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

नष्टमति दुष्ट अति कष्टरत खेदगत दास तुलसी तव सरन आया
(वि० १०

यह पद काशी में ही लिखा गया था, जिससे स्पष्ट है तुलसीदास काशी
कहीं बाहर से आए थे ।

एक दूसरा पद है—'गाँव बसत बामदेव मैं कबहूं न निहोरे (वि० ८)
गाँव का अर्थ काशी करें अथवा उनकी जन्मभूमि, दोनों दशाओं में
उनकी जन्मभूमि सिद्ध नहीं होती और कवितावली से भी ऐसा ही
होता है

चेरो राम रायको सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आय रह्यों सुरसरि तीर हौं (क०उ० १६६

अवध (अयोध्या)

आचार्य चंद्रबली पांडेय कवितावली के अतर्साक्ष्य 'तुलसी तिहारो
जायऊ है, घर को' में तुलसीदास की जन्मभूमि अयोध्या में होने का
पाते हैं, जिसका आधार 'घर जायऊ' है । 'घर जायऊ' का प्रयोग
तुलसीदास ने 'दास' के अर्थ में किया है। यह शब्द फारसी के 'खाना जा
के अनुकरण पर प्रचलित शब्द है। 'घरजाया' सात प्रकार के दासों में उस
को कहते हैं जो 'गृह दासी' से उत्पन्न स्वगोत्रीय होता है। 'जायऊ,
व्युत्पत्ति 'जामिपुत्र' से भी की जा सकती है जिसे भोजपुरी में 'जाउत'
हैं। अस्तु इन दोनों अर्थों के अनुसार तुलसीदास श्री रामचद्र जी के स्वगो
दास ठहरते हैं, न कि अयोध्या निवासी ? इसके आगे 'घर को' का प्र
भी इसी पर मुहर लगाता है; जिसका अर्थ है, अपने कुल-खांदान का आदमी।
इस पर आगे विशेष रूप से विचार किया गया है ।

सूरदास का उद्धरण देते हुए पांडेय जी लिखते हैं[2]—

'हमारी जन्मभूमि यह गाँउ ।
सुनहु सखा सुग्रीव विभीषन अवनि अयोध्या नाउ ।।'

× × ×

---

१ देखिए —हिंदी शब्द सागर (का० ना०प्र० सभा) वहद् हिंदी
(ज्ञान मंडल वाराणसी) भार्गव हिंदी कोश (गायघाट वाराणसी)
लुगात आदि ।

२- तुलसी की जीवन भूमि पृ०१२८-३०

सूरदास जौ विधि न सँकोचै तौ वैकुंठ न जाउँ ॥ सूर० ९/१६५

'भावसाम्य का कहना ही क्या ? वह तो आपही सब कुछ कर रहा है। हाँ, सूरदास के यहां इस 'प्रसंग' की गूढ़ता का कोई निर्देश नहीं है। निश्चय ही तुलसी ने यहां कुछ और भो कहने का प्रयत्न किया है। इस प्रसंग की व्याख्या में टीकाकारों में जो होड़ लगी है 'मानस-पीयूष' में एकत्र देखी जा सकती है। हम यहाँ उसकी मीमांसा में नहीं पड़ते। हाँ, प्रसंगवश इतना संकेत अवश्य कर देना चाहते हैं कि तुलसीदास के मतानुसार—

निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥२६॥ रा० कि०

ऐसी स्थिति में स्वयं तुलसी दास का अवतार इस काल में कहां हुआ होगा ? तुलसी कहते हैं :—

'भाई सों कहत बात कौसिकहिं सकुचात
बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।
सनमुख सबहिं विलोकत सबहि नीके
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं ॥ ७१ ॥ गी० बा०

किन्तु यह तो तबकी स्थिति हुई न ? तुलसी के इस जीवन का वृत्त क्या सो तुलसी का निवेदन है—

'भरत राम रिपुदवन लखन के चरित सरित अन्हवैया।
तुलसी तब के से अजहुं जानिए रघुबर नगर बसैया ॥ गी० बा० ६९

परन्तु विवाद जन्म को लेकर उठा है कुछ 'वास' को लेकर नहीं। निदान 'वास' को दृष्टि में रखकर कहना चाहिए कि वस्तुतः तुलसीदास का जन्म स्थान कहाँ है ? सो हमारा पक्ष है 'अवध' कारण यह है कि तुलसीदास का ही निवेदन है अपने राम से—

भयो न तिकाल तिहूंलोक तुलसी सो मंद
निंदैं सब साधु सुनि मानौ न सँकोचु हौं।
जानत न जोग हिय हानि मानौं, जानकीस !
काहे को परेखो पातकी प्रपंची पोचु हौं ॥
पेट भरिबे के काज महाराज को कहावौं
महाराज हू कह्यो है प्रनत विमोचु हौं।
निज अघ-जाल कलिकाल की करालता,
बिलोकि होत ब्याकुल करत सोई सोचु हौं ॥ क० उ० १२१

अपनी स्थिति का अंकन हो गया तो वहीं शरण में आने का कारण बताया गया किस भाव भरी भंगि में ! कितना सटीक कहना है :—

धरम के हेतु जग मंगल के हेतु,
भूमि-भार हरिबे को अवतार लियो नर को।
नीति औ प्रतीति प्रीति पाल चालि प्रभु
मान लोक वेद राखिबे को पन रघुबर को॥
बानर-विभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सों प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि,
तुलसी तिहारो घर जायऊ है घर को॥ क० उ० १२२

हमारी बुद्धि जहाँ तक काम करती है और हमारे ज्ञान का जहां तक प्रसार है वहां तक तो हम निर्विवाद रूप से धड़ल्ले से कह सकते हैं कि हो न हो इसमें तुलसीदास के घर का स्फुट उद्‌घोष है।'

वे आगे कहते हैं[1]—वह (तुलसी) तो अपना अधिकार चाहता है फलतः अपने स्वामी से खुलकर कह देता है किस चेतावनी के साथ—

'राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि,
तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को।

करने को तो तुलसी भी राम की प्रभुता के सामने क्या कर सकता है? किन्तु फिर भी वह अपना अधिकार जमाता है और लोक-रीति से राम का सहज कृपा-पात्र बन जाना चाहता है। फलतः राम से अनुरोध करता है कि 'बाहर' पर अनुकम्पा बहुत हो चुकी, अब कुछ घर पर भी कृपा होनी चाहिए। कारण कि उसका दृढ़ विश्वास है जो—

'मुनि सुर सुजन समाज के सुधारि काज,
विगरि-बिगरि जहां-जहां जाकी रही है।
पुर पांव धारिहैं उधारिहैं तुलसी हूं से जन,
जिन जानि के गरीबी गाढ़ी गही है॥ गी० अ० ४।४१

श्री पांडेय जी की उपर्युक्त ऊहा का सारा दार-मदार 'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को' के साथ संलग्न है। यद्यपि उनकी विवेचन प्रणाली प्रशंसनीय है किन्तु उन्हें तथ्य के समझने में थोड़ी सी भूल हो गई है, जिससे वे वास्तविकता से दूर जा पड़े हैं। मेरी बुद्धि के अनुसार गोस्वामी जी ने 'घर जायउ' के द्वारा श्रीरामचन्द्र जी से जो सम्बन्ध स्थापित किया है, वह स्थान सम्बन्धी न होकर 'कुल' सम्बन्धी है। यह मान लेने पर भी कि तुलसी ने श्री रामचन्द्र जी की सगुण लीला का गुणगान करने के लिए बार-बार अवतार ग्रहण किया। यह

---

[1] —तुलसी की जीवन-भूमि पृ० १३५

सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने अवध में ही अवतार लिया क्योंकि हनुमान आदि बन्दर भालुओं को भी तो उन्होंने अवतार माना है किन्तु इन लोगों का अवतार तो किष्किंधा में हुआ था और उसी प्रसंग में 'मानस' के किष्किंधा कांड का उपर्युक्त २६ वाँ दोहा कहा गया है। गीतावली बाल कांड के उपर्युक्त ७१ वें गीत में जो चित्रण है उसका सीधा सम्बन्ध 'बगसर' के समाज से है, जिसमें श्रीराम-लक्ष्मण और विश्वामित्र के साथ 'तुलसीदास' भी विद्यमान थे, फिर यह मानने में क्या आपत्ति है कि अपनी जन्म-भूमि बक्सर-क्षेत्र से ही तुलसीदास अपनी इष्टदेव श्री रामचन्द्र जी के दर्शन लाभ की लालसा से जनकपुर की यात्रा में उनके साथ लग गए थे।

गीतावली बालकांड गीत ६ के 'रघुवर नगर बसैया' तुलसी को वहीं उत्पन्न क्यों न मान लिए जाय? जहां से वे उक्त दल के साथ हो लिए थे।

'तुलसी तिहारो घर ज्यायऊ है, घर को' के आधार पर उनकी जन्मभूमि अयोध्या मानने में भी कोई तुक नहीं है क्योंकि 'घर जायऊ' शब्द भोजपुरी भाषा का है जिसे 'घर जाउत' भी कहते हैं। 'ज्यायउत', 'जायउत' या जाउत शब्द की व्युत्पत्ति जामि-पुत्र से हुई है। जामि का अर्थ होता है—बहिन, वेटी, पुत्रवधू, निकट सम्बन्ध वाली सपिंड स्त्री तथा कुल स्त्री। ऐसी दशा में 'घर ज्यायऊ (त) का अर्थ हुआ अपने कुल में उत्पन्न पुत्र न कि अपने गांव में उत्पन्न। पुनः 'घर को' कहकर पहिली बात की ही पुष्टि की गई है जिससे 'तुलसी' की 'राम' से सगोत्रता सिद्ध होता है क्योंकि बहिन और वेटी का लड़का 'घर का' नहीं कहा जाता।

उपर्युक्त पद्य पूरा पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी ने 'घर ज्यायऊ (त)' का प्रयोग 'बानर-विभीषन की ओर कनावड़ो हैं' की अपेक्षा से किया है। राम-भक्ति के नाता से तो 'वानर-विभीषण' और तुलसीदास समान-स्तर के ही हैं किन्तु तुलसीदास का 'घर ज्यायऊ (त)' होना औरों की अपेक्षा विशेष बात है।

यदि इस कथन का तात्पर्य गोस्वामी जी का अयोध्या या अवध में जन्म लेने से हो तो यह 'वानर-विभीषन' के सम्बन्ध की अपेक्षा कुछ विशेष बात न हुई क्योंकि हनुमानादि बन्दरों और विभीषण ने भी अयोध्या में निवास कर वहां की नागरिकता प्राप्त की थी, इसके अतिरिक्त अनेक रामभक्त अयोध्या वास करते हैं, इसलिए अयोध्या में जन्मधारण करना अथवा निवास करना ऐसी विशिष्ठ बात नहीं प्रतीत होती, जिसका संकेत गोस्वामी जी का अभिप्राय स्थान-संबंध से न होकर कुल संबंध से है। आगे बताया गया है कि उनका जन्म वसिष्ट गोत्र में हुआ था। इस प्रकार वे श्री रामचन्द्र जी के गोतिया

(सगोत्र) थे। इस बात को कुछ फेर बदल के साथ उन्होंने अन्यत्र भी स्वीकार किया है, यथा—'साहब को गोत गोत होत है गुलाम को' क० उ०

यही नहीं उन्होंने सर्वत्र श्री रामचन्द्र जी अपने कुल-संबंधी नाते हो दिखाए हैं, यथा--'तात-मात गुरु सखा तू सब विधि हित मेरो (विनय ७९)

और—'जननि-जनक सुहृद-पति सब प्रकार हितकारी (विनय ११३)

जो तुलसीदास दूसरों के संबंध में श्री रामचन्द्र जी को इस प्रकार उपालंभ देते हैं।

परम पुनीत संत कोमल चित तिनहिं तुमहिं बनि काई।
तौ कत विप्र व्याध गनिकहिं तारेहु कछु रहो सगाई ?–विनय ११२

वही तुलसीदास अपनी सारी सगाई (कुल संबंध) श्री रामचन्द्र जी में समेटते हैं।

या जग में जहँ लगि या तन की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभुही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं ॥ विनय १०३

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने श्री रामचन्द्र जी से अपना सारा सम्बन्ध 'सगाई' (कुल सम्बन्ध) के ही आधार पर जोड़ा है[1] अस्तु वे जब कभी कहते हैं—'तू गरीब को निवाज हौं गरीब तेरो—विनय ७८

अथवा—'तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरो और न काहू केरो—विनय १४१

तो उसका वही अभिप्राय होता है जैसा ऊपर कहा गया है अर्थात् श्री रामचन्द्र जी को अपने कुल संबंध का स्मरण कराना। यदि ऐसी बात नहीं होती तो जनकपुर के निवासी निम्नांकित कथन क्यों करते ?

स्वामी सीय सखिन्ह लखन तुलसी को तैसों।
तैसो मन भयो जाकी जैसिए सगाई है॥ गी० बा० ६९

यदि तुलसीदास का जन्म अयोध्या या चित्रकूट के क्षेत्र में हुआ होता तो वे कदापि इस प्रकार का कथन न करते, यथा—

'राम संभ्राज सोभा सहित सर्वदा, तुलसी मानस रामपुर विहारी।' विनय०

क्योंकि चित्रकूट और अयोध्या में तो सदा ही श्री रामचंद्र जी का निवास माना जाता है जहाँ श्री हनुमान जी भी रहते हैं, फिर तुलसीदास को मानस में 'रामपुर' बनाने की क्या आवश्यकता होती। उनके निम्नांकित कथन भी इसी प्रकार के हैं—

'मेरे तो माइ-बाप दुइ आखर हौं सिसु अरनि अस्यो'—विनय०

और—'पाल्यौ हौं बाल ज्यों आखर दू पितु मातु ज्यों मंगल मोद समूलों–ह०बा०

---

[1] राम है मातु पिता गुरु बन्धु और संगी सखा गुरु स्वामि सनेही। क०उ०

जब चित्रकूट और अवध में श्री रामचन्द्र जी का सदा निवास है तो वहां का निवासी होने पर तुलसीदास यह कैसे कहते कि 'मेरे तो माय-बाप दुइ आखर' अथवा 'पाल्यो हौं बाल ज्यों आखर दू।' उक्त स्थानों से दूर का निवासी ही ऐसा कह सकता है क्योंकि उसके लिए ही श्री रामचन्द्र जी से दूर होने के कारण नाम का अवलम्ब हो सकता है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है—जहां तुलसीदास 'राम' के नाम को माता-पिता कहते हैं, वहां वे ही प्रत्यक्ष 'शिव-पार्वती' को पिता-माता कहते हैं, इससे उनकी जन्म भूमि का शिव पीठ के निकट होना सिद्ध होता है और बलिया स्थित राजपुर के निकट कांट ब्रह्मपुर और छितौनी प्रसिद्ध शिवपीठ हैं तथा उनकी गुरु भूमि के निकट मेंहदार भी ऐसा ही स्थान है। इस बात को और भी स्पष्ट करते हूए वे कहते हैं—

'करिय संभार कोसल राय !
और ठौर न और गति अवलम्ब नाम बिहाय॥
बूझि अपनी आपनो हितु आप, बाप न माय।
राम ! राउर नाम गुरु, सुर, स्वामि, सखा सहाय॥ वि० २२०

तो फिर उक्त सम्बन्ध को ध्यान में रख कर 'घर जायऊ' का अर्थ 'जायउत' क्यों नहीं किया जाता, अयोध्या वासी क्यों किया जाता है ? गोस्वामी जी ने तो सब कहीं श्री रामचन्द्र जो को पिता और श्री सीता जी को माता कहकर ही संबोधित किया है।

यथा—'नाम के प्रताप बाप ! आजुलौ निवाही नीके (क० उ० ८०)
और—'कबहुं समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी (विनय० ४२)
उन्होंने डंके की चोट कहा—'माय बाप तुही सांचो तुलसी कहत' और श्री रामचन्द्र जी को सारी सभा ने इस बात को नियमानुसार सत्य जानकर गवाही दी और उस पर श्री रामचन्द्र जी की स्वीकृति भी मिल गई तो इसमें विवाद का प्रसंग ही क्या ? इसे असत्य कौन कहेगा ? इसी उपलब्धि की ओर न तुलसीदास ने श्री रामचन्द्र जी के बन गमन के समय संकेत किया था—

'पुर पाउँ धारिहै उधारिहैं तुलसीहू से जन जिन जानिके गरीबी गाढ़ी गही है।'

क्योंकि उनके 'राम' केवल 'प्रणतपाल' ही नहीं 'कुटुंबपाल' भी हैं यथा—

'प्रणत कुटुंबपाल रघुराई (रा० अ० २०८)

अतः तुलसी का पालन तो इन दोनों ही सम्बन्धों से 'राम' को करना है। फिर भी यदि 'घर' शब्द संदेह उत्पन्न करता है तो उसे भी कसौटी पर कस लीजिए। भोजपुरी-प्रदेश में 'घर' का अर्थ घराना भी होता है जैसे-जब सरयूपारी ब्राह्मणों का 'तीन घर' या 'तेरह घर' कहा जाता है तो उसका अभिप्राय 'घराना (कुल)' ही होता है। अस्तु 'तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को' में भी 'घर'

का अर्थ 'घराना करना' ही संगत है। यदि इसका अभिप्राय 'अयोध्या को जन्मभूमि बनाने से होता तो तुलसीदास कदापि उसके विपरीत इस प्रकार न कहते—

'राम रीझिबे को जानौं भगति न भाउ सो।
करम सुभाव काल ठाकुर न ठावँ सो॥ विनय० १८२

निम्नांकित कथन से भी गोस्वामी जी का अयोध्या अथवा अवध में जन्म लेने का निषेध होता है किन्तु इसके द्वारा उनका श्री रामचन्द्र जी से कुल संबंध प्रकट होता है, यथा—

'सकल विस्ववदित सकल सुरसेवित
आगम निगम कहैं रावरेई गुनग्राम।
इहै जानि तुलसी तिहारो जन भयो
न्यारो करि गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम॥ विनय ७७

यदि तुलसीदास 'अवध-वासी' होते तो उन्हें 'इहै जानि तुलसी तिहारो जन भयो' कहने की क्या आवश्यकता होती क्योंकि जो जाना हुआ 'जन' है, इस प्रकार की बात नहीं कह सकता, किन्तु 'न्यारो करि गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम' पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। जिसके द्वारा कवि अपने किसी विशिष्ट सम्बन्ध की ओर संकेत करता है और कहता है कि मुझे अपने गरीब गुलामों की श्रेणी में गिनिए' परन्तु उनसे मेरा स्थान 'न्यारो' अर्थात् विशिष्ट है इसका भी ध्यान रहे।' यह विशिष्टता 'कुल-सम्बन्धी' भी हो सकती है क्योंकि कुलवालों को विशेष रूप से पालना ही पड़ता है तथा इसी कुल सम्बन्ध को समक्ष रखकर तुलसीदास ने कहा है—

'पुर पांव धारि हैं उधारि हैं तुलसी हू से जन,
जिन जानि के गरीबी गाढ़ी गही है।'

स्पष्ट है कि गाढ़ी गरीबी उसी उद्देश्य से ग्रहण की गई है जिस उद्देश्य से महर्षि वसिष्ठ ने रघुकुल की पुरोहिती ग्रहण की थी और यह उद्देश्य तो श्री रामचन्द्र जी के अयोध्या पहुंचने एवं राजा होने पर ही पूरा हो सकता था।

गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि विद्यापति ठाकुर के वंशज रमाबंधु ठाकुर को तुलसी दास ने 'मातुल' कहकर प्रणाम कियो था, अस्तु इससे दो ही बातें प्रकट होती हैं—या तो तुलसी ने अपने को श्री रामचन्द्र जी का 'जायउत' मान कर रमाबन्धु ठाकुर को मिथिलावासी होने के कारण मामा कहा हो अथवा वस्तुतः उनसे इस प्रकार का कौटुंविक नाता हो किन्तु अधिक संभावना पहिली ही बात की हो सकती है।

'विनय-पत्रिका' का एक पद इस प्रकार है—

'तौ हौ बार-बार प्रभुहिं पुकारि के खिझावतो न,
जो पै मो को होतो कहूं ठाकुर-ठहरु।
आलसी अभागे मो से तैं कृपालु पाले पोसे,
राजा मेरे राजा राम अवध सहरु ॥१॥

सेये न दिगीस, न दिनेस, न गनेस-गौरी
हित के न माने विधि हरिउ न हरु।
राम नाम ही सों जोग छेम नेम-प्रेम पन,
सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु ॥२॥

× × ×

रीति सुनि रावरी प्रतीति प्रीति रावरे सों
डरत हौ देखि कलिकाल को कहरु।
कहेही बनैगी, कै कहाए बलि जाउँ राम!
तुलसी तू मेरो हारि हिए न हहरु ॥४॥ विनय० २५०

यदि इस पद के ऊपरवाले अंश के अनुसार यह मान लें कि तुलसीदास अयोध्या नगर के निवासी थे तो इसका निषेध इसी पद के अन्तिम अंश से हो जाता है क्योंकि राम की रीति सुनी गई है, साक्षात् देखी गई नहीं है और तुलसीदास उनसे 'तू मेरो है' कहलवाने के लिए प्रयत्नशील हैं एवं 'कहाए' का प्रयोग भी तुलसी का श्री रामचन्द्र जी से स्थानीय (अयोध्या सम्बन्धी) निकटता सिद्ध नहीं करता। इस समूचे पद के द्वारा तुलसी की राम के प्रति अनन्य निष्ठा एवं शरणागति ही प्रकट होती है तथा 'राजा मेरे राजा राम अवध सहरु' में उसी की चरम परिणिति है। वे तो स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि न कहीं मेरा कोई ठाकुर है और न कहीं ठिकाना! बस, अवध ही मेरा आश्रय स्थान है और राजा राम हो मेरे राजा हैं। सत्य ही है, उन्हें किसी और राजा-राय से क्या मतलब।

यदि गोस्वामी जी की जन्मभूमि अयोध्या होती तो वे कदापि अयोध्या छोड़ काशी में निवास नहीं करते क्योंकि रामभक्तों के लिए अयोध्या का महत्व सभी स्थानों से बढ़कर है। दूसरी बात यह कि वहाँ परम्परा से यह अनुश्रुति कही जाती कि अमुक स्थान तुलसीदास की जन्मभूमि है। जब तुलसीदास की निवास-भूमि 'तुलसी चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है तो फिर जन्मभूमि की प्रसिद्धि क्यों नहीं हुई तथा मोहन साईं और भवानी दास ने भी अपनी रचनाओं में इसकी चर्चा क्यों न की?

तुलसीदास जी के कथन का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से अवध में तुलसीदास जी के निवास करने की ही बात प्रकट होती है, जन्म लेने की नहीं; यथा—

'कवनिहु जन्म अवध बस जोई।
राम परायन सो पुर होई ॥ रा० उ० ९७

इसमें निवास करना छोड़ जन्म लेने की बात कहाँ है वह भी किसी जन्म में तुलसीदास का यह कथन कि—

'अवध प्रभाव जान तब प्रानी।
जब उर बसहि राम धनुपानी ॥ रा० उ०

भी कथित मत की पुष्टि करता है क्योंकि इससे यह झलकता है कि तुलसीदास 'राम' में अनन्य निष्ठा उत्पन्न होने पर ही अवध के प्रभाव को समझकर अवध वासी हुए।

श्री डा० किशोरीलाल गुप्त 'गोसाई चरित' की भूमिका (पृ० ३२-३३) में लिखते हैं कि 'गोसाईं चरित' के प्रसंग 'रामचरित मानस' की रचना के बाद से प्रारम्भ किए गए हैं अतः स्पष्ट रूप से इसमें गोसाईं जी के जन्म स्थान का उल्लेख नहीं है। पर इसमें तीन प्रसंग ऐसे हैं जिनसे यदि कोई यह निष्कर्ष निकालना चाहे कि गोसाईं जी का जन्म अयोध्या में हुआ तो निकल सकता है। एक तो ग्रंथ के प्रथम प्रसंग का आरम्भ अयोध्या से होता है—

दोहा

'यहि सुभ करुना सीलमय रामपुरी आसीन।
जेहि सुख मगन भुसुंडि सिव मुनिवर परम प्रवीन ॥

सोरठा

'एक दिन विह्वल प्रेम श्री रामायन गानकिय।
प्रीति रीति को नेम अति सुन्दर बानी मधुर ॥

'दूसरे काशी में रहते गोसाईं जी से एक अवधवासी स्वपच की भेंट होती है। अवधवासी जान गोसाईं जी गले से उसे लगा लेते हैं। यह स्नेह अयोध्या के राम जन्म-भूमि होने के कारण है और अपनी जन्मभूमि होने के कारण भी हो सकता है :—

'अवध बसेरी को जबै सब्द परो अस कान।
तन पुलकित निरभर सजल, बिसरो तुरत अपान ।।'

'तीसरा प्रसंग तिहुंत यात्रा का है। मैथिल ब्राह्मणों ने गोसाईं जी को अवधवासी जानकर उनसे दिल्लगी की'—

पुनि आगे कहँ चले जाइ पहुँचे इक ठाईं।
मैथिल ब्राह्मण को समाज इक लख्यौ तहाईं॥
तिनसे पूछ्यौ पंथ अवधवासी पहिचाने।
दै गारी परिहास कियो तिन नातो माने॥
तब कह्यो गोसाईं तुम हमहिं गारी बिन समुझें कही।
श्री जानकि जी के दास हम 'दास' बाल अन्तर नहीं॥

'यदि इस छप्पय में आया 'अवधवासी' लोगों से कुछ कह सके तो ठीक, नहीं तो अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग तो है ही, मेरा निश्चित मत है कि गोसाईं तुलसीदास का जन्म अयोध्या पुरी में तो नहीं अयोध्या के आस-पास ही, सरयू घाघरा के संगम पर स्थित सूकरखेत के निकट गोंडा जिले के किसी गांव में हुआ।

श्री गुप्त जी को पहिली स्थापना मान लेने पर भी उससे उनके मत का समर्थन किस प्रकार होता है यह बात समझ में नहीं आती क्योंकि जब ग्रन्थ रचयिता के मन में तुलसीदास के जन्म और बाल्यावस्था का प्रसंग ही नहीं है तो फिर वह अस्पष्ट रूप से जन्मभूमि की ओर संकेत क्यों करने लगा। स्पष्ट रूप से ही उक्त बात व्यक्त कर देने में क्या कोई रुकावट थी? एक और बात भी समझ में नहीं आती कि जब श्री गुप्त जी द्वारा ही संपादित 'गोसाईं-चरित' में अवध खंड का प्रथम दोहा यह है[1] :—

श्री हनुमंत प्रसंग सुभ, प्रथम चरित विस्तार।
लह्यो गोसाईं दरस रस, विदित सकल संसार॥

जिसमें काशी और चित्रकूट के प्रसंग की संक्षेप में झांकी है और फिर चार हरिगोतिका छन्दों के उपरांत उपर्युक्त दोहा तथा सोरठा आए हैं फिर कैसे माना जाय कि ग्रन्थ का प्रारम्भ काशी छोड़कर अयोध्या से होता है। श्री गुप्त जी के मतानुसार तो काशी या काशी क्षेत्र ही गोसाईं जी की जन्मभूमि की

दूसरी स्थापना में श्री गुप्त जी का यह कथन ही उचित और उपयुक्त है कि 'यह स्नेह अयोध्या के राम जन्मभूमि होने के कारण है[2] और 'अपनी जन्मभूमि होने के कारण भी हो सकता है।' यह धारणामात्र है। उनके कथन में 'भी' का प्रयोग ही यह सिद्ध करता है कि स्वयं ही उनको अपने कथन पर संदेह है। गोस्वामी तुलसीदास श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त थे जब उन्होंने 'राम-राम' कहकर भिक्षा मांगने वाले हत्यारे के साथ भोजन कर 'लोकमत' को

---

[1] गोसाईं चरित पृ० १३१

[2] कवनिहु जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो फुर होई॥ रा० बा०

ठुकरा दिया तो फिर उन्हीं राम के संबंध से श्वपच को क्यों न गले लगाते।[1] श्री गुप्त जी के अनुमान का निराकरण श्री भवानीदास के ही इस कथन से हो जाता है।

करि पुनीत अस्नान ठाकुर पूजिबे को भाउ।
त्यागि सोउ अनुराग पूजे सुपच हो के भाउ॥ गे० च० का० ख० १७

और स्वयं तुलसीदास जी भी कहते हैं—

‘अवध प्रभाव जान तब प्रानी।
जब उर बसहिं राम धनु पावी॥ रा० उ० ९७

इसके अतिरिक्त उक्त व्यवहार की वैधता का निर्देशक नारद पुराण का प्रमाण भी उनके समक्ष था, यथा—

‘चांडालोपि मुनि श्रेष्ठ विष्णु भक्तो द्विजाधिकः।
विष्णु भक्ति विहोनश्च द्विजोपिश्वपचाधमः॥ ना० पू० खं १४/२१

और चित्रकूट में महर्षिवसिष्ठ तथा निषाद के मिलन का उदाहरण भी।[2]

तीसरा तर्क उन्होंने अवध और मिथिला की सीमा पर विचार न करने के कारण किया है। वस्तुतः सदा से सदानीरा (नारायणी या बड़ी गंडक) अवध और मिथिला की सीमा मानी जाती रही है। आज भी गडक से पश्चिमी भाग के लोग श्री रामचन्द्र जी के नाता से ही ‘वरपक्ष’ के कहे जाते और पूर्वी भाग के लोग ‘कन्यापक्ष’ के एवं इसी आधार पर परस्पर हास-परिहास करते हैं। इस बँटवारे के अनुसार काशी प्रांत का भी अवध के ही अंतर्गत विलय हो जाता है। गोस्वामी जी अयोध्या या काशी से ही मिथिला गए थे, अस्तु मैथिलों ने इन्हें अवधवासी मान हास परिहास किया, न कि यह पूछने गए कि तुलसीदास की जन्मभूमि कहां है? यदि पूछ करके उन्होंने यह निश्चय किया होता कि ये ‘अवधवासी’ हैं तो उसका भी उक्त प्रसंग में वर्णन होता। ‘अवध-वासी’ का अर्थ ‘अवध’ में जन्म लेनेवाला न होकर अवध में निवास करने वाला होगा भी। गौतम चंद्रिका से भी श्री गुप्त जी की स्थापना का निराकरण हो जाता है यथा—

‘लागत मार्ग शीर्ष मन भावन। कथित कृष्ण गीता अतिपावन॥
राम विवाह महोत्सव जानी। तुलसी हिए भगति हुलसानी॥

---

[1] १—तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनिदिन ’राम’।
ऊँचा कुल केहि काम को, जहां न हरि को नाम॥ वैराग्य संदीपनी

[2] २—जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले महामुनि राउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥ रा० अ० २४३

गुरुसन कहि मोहिं संग लिवाई। सिय मइके स्तुति रमा लखाई॥
सिय गिरजा पूजन विधि साजी। राम विवाह बधाई बाजी॥
अवध-संत मंडली निहारी। गावहिं नारि मनोहर गारी॥
विद्यापति ठाकुर विख्याता। वंसज तासु कवित रस ज्ञाता॥
रमाबंधु ठाकुर चलि आए। तुलसी पहँ कछु व्यग सुनाए॥
तुलसी करि प्रनाम सनमानी। हाथ जोरि बोले मृदुबानी॥
धनि मातुल हम तो सिसु राउर। मिथिला देस मोर ननियाउर॥
रघुपति भक्ति साध्य सुख पूँजी। साधन राम भक्ति नहिं दूजी॥
सुनि ठाकुर तब तुलसिहिं चीन्हे। प्रीति रीति पीतांबर दीन्हें॥

जिस 'अवध-संत-मंडली' को देखकर मिथिला की स्त्रियां गाली गाती थीं एवं रमावंधु ठाकुर ने परिहास किया था, वस्तुतः वह संत-मंडली' अयोध्या से न चलकर काशी से गई थी और उस संत-मडली के संतों के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी जन्मभूमि वर्त्तमान अवध प्रांत में ही थी। कम से कम इतना तो निश्चित है कि उस मडली में सम्मिलित 'गौतम चंद्रिका' के रचयिता श्री कृष्णदत्त मिश्र वाराणसी से दस कोस पश्चिम 'गढ़ौली' के निवासी थे। अस्तु गोसाईं चरित में प्रयुक्त 'अवधवासी' का अर्थ वर्त्तमान अवध प्रांत में उत्पन्न' कहना न उपयुक्त है और न वास्तविक ही। अगले अध्याय में गोस्वामी जी की जाति का निरूपण करते हुए बताया गया है कि उनका जन्म 'भूमिहार-ब्राह्मण' वंश परंपरा में हुआ था, अतः इसके अनुसार स्वतः उनके अयोध्या या अवध, सोरों राजापुर (बाँदा) तारी, हाजीपुर और हस्तिनापुर में जन्म लेने का बाध हो जाता है क्योंकि इन स्थानों में भूमिहार नहीं हैं और न पहले ही रहते थे। बलिया-सारन में तुलसी के सूकर खेत का पता लग जाने से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

श्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि 'रामचरित-मानस' में आए हुए कुछ शब्द और प्रयोग नीचे दिए जाते हैं, जो अयोध्या के आसपास ही (बस्ती गोंडे आदि के कुछ भागों में) बोले जाते हैं—

माहुर=विष। सरौं=कसरत। फहराना या फरहराना=प्रफुल्ल चित्त होना (सरौं करहि पायक फहराई)। फुर=सच। अनभल ताकना=बुरा मनाना (जेहि राउर अति अनभल ताका)। राउर, रउरेहि=आपको (भलउ कहत दुख रउरेहि लागा)। रमा लहीं=रमा ने पाया प्रथम पुरुष स्त्री० बहुवचन उ०—(भरि जनम जे पाए नते परितोष उमा रमा लहीं)। कूटि=दिल्लगी, उपहास।"

"इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में ही (जहां की भाषा पूरबी हिन्दी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

कुराय=वे गढ्ढे जो करेल पोली जमीन में बरसात के कारण जगह-जगह पड़ जाते हैं (कांट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठांव बझाऊरे विनय०)। सुआर= सूपकार, रसोइया।"

"ये शब्द और प्रयोग इस बात का पता देते हैं कि किन स्थानों की वोली गोस्वामी जी की अपनी थी।" (पृ० १३०)

आचार्य शुक्ल जी उपर्युक्त जिन शब्दों का प्रयोग अयोध्या के आसपास तक ही सीमित करते हैं वस्तुतः वे सभी शब्द अपने उसी अर्थ में भोजपुरी प्रदेश के व्यापक क्षेत्र आरा, बलिया, सारन गाजीपुर और देवरिया तक बोले जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये शब्द अवधी में उधार लिए हुए (तुलसीदास के विशेष संपर्क और रामचरित मानस के पठन-पाठन के कारण) तथा भोजपुरी के अपने हैं।[1] यही नहीं जिन छन्दों से इन्हें चुना गया है, उनमें भोजपुरी के अन्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे–पायक, जे, तें' अति, ताकन', भलो, कहत, दुख लागना, कांट, लपेटन (लिपटने वाली घास) ठावें ठांव, भरिजनम, परितोष (परतोख) लोटन (पशुओं के लोटने से बना गड्ढा और बझाऊ (रुकावटें)। यदि अपनी निवास भूमि राजापुर (बाँदा) के एक-दो शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने विशाल-साहित्य में कर ही दिया तो इससे उन्हें राजापुर (बांदा) का नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार तो उन्हें वंगाली, मैथिल, नेपाली आदि भी कहा जा सकता है।

---

[1] —फरहराना, फरहर होना, फरहर डेरा पड़ना, फरहरई करना, काम फरहर होना, आदि का प्रयोग भोजपुरी में सामान्य रूप से सर्वत्र होता है जिसका अर्थ है उत्साह और स्फूर्ति से युक्त होना। तुलसीदास जी ने भी इसी अर्थ में 'फहराई (फरहराई) का प्रयोग किया है। इसी प्रकार भोजपुरी में 'लहना, लहजाना और लहाना क्रिया का प्रयोग विशेष रूप से प्राप्ति अथवा लाभ करने के अर्थ में होता है। तुलसीदास जी द्वारा प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ है। यद्यपि 'कुराय' शब्द का प्रयोग भोजपुरी में प्रचलित नहीं है, परंतु 'कुराय' शब्द की व्युत्पत्ति भोजपुरी के 'कुरुई' से हुई है। कुरुई मूज की बनी उस डलिया को कहते हैं जो बहुत छोटी और गहरी होती है। इसी डलिया के आकार के छोटे-छोटे गड्ढे जिस पड़ती भूमि में पड़े होते हैं उसे भोजपुरी में 'कुरखेत' कहते हैं। कुरखेत के ही डला (मिट्टी का टुकड़ा) को माता (देवी) का प्रतीक मान स्फोटक (चेचक) रोग में पूजा की जाती है। सुआर शब्द सूपकार का अपभ्रंश है, इसे किसी प्रदेश विशेष की सीमा में बांधना उचित नहीं है।

श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित लिखते हैं कि 'गोस्वामी जी का सबसे प्रथम ग्रंथ 'रामलला नहछू' है। इसकी भाषा अवधी है। इनके प्रारंभिक जीवन की अधिकांश रचनाएं अवधी में ही हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरित मानस' भी अवधी में ही है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे ऐसे प्रांत या स्थान के निवासी थे, जहाँ पर अवधी भाषा बोली जाती थी क्योंकि उस पर इनका अधिकार मातृभाषा जैसा ही दिखाई देता है, इससे उनकी जन्मभूमि अवध प्रांत में ही होना अधिक सम्भव है और उनका प्रारम्भिक जीवन भी इसी प्रान्त में व्यतीत हुआ जान पड़ता है।[1]"

वे आगे कहते हैं—'गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में मछली व मांस के भोजन का विधान रखा है और दही चिउरा का प्रयोग व भात खाने की परंपरा दिखाई है। मेहमानी में भी इसी की मुख्यता रखी है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे ऐसे प्रांत के निवासी थे, जहां इन चीजों का व्यवहार साधारणतया होता रहता है। इससे उन्हें अवध प्रांत का निवासी बतलाना ठीक जान पड़ता है। गोस्वामी जी ने ब्रजभाषा में भी बहुत-सी रचनाएँ की हैं किन्तु यह भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में देश में सर्वत्र प्रचलित है।[2]

प्रथम तर्क का निराकरण आगे भी किया गया है। गोस्वामी जी के समय से पहले ही मलिक मुहम्मद जायसी ने 'दोहा चौपाई' की शैली में और अवधी में अपनी रचनाएँ की थीं। गोस्वामी जी के समकालीन जैन कवि बनारसी दास ने इसी शैली में 'अर्द्धकथानक' की रचना की एवं गोस्वामी जी के बाद के अनेक सूफी संतों ने अवधी में तथा दोहा-चौपाई की शैली में अपने कथानक लिखे, जिनमें कई भोजपुरी प्रांत के थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सबका जन्म अवध प्रांत में हुआ था। श्री कृष्णानंद राय लिखते हैं[3]—

"मलिक मुहम्मद जायसी की सांस्कृतिक तथा कवि परंपरा भी गाजीपुर ने ही अपनाई थी और उनके जन्म स्थान होने के नाते उसके लिए यह स्वाभाविक भी था।"

"हिन्दी साहित्य के इतिहास के रचयिता स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि गाजीपुर के उसमान कवि की भाषा, शैली, तथा भाव व्यंजना पूर्णतः मलिक मुहम्मद जायसी से प्रभावित हुई थी। जहाँगीर के शासनकाल में इन्होंने चित्रावली की रचना की।"

१—तुलसीदास और उनके ग्रंथ पृ० ४४

२—वही पृ० ४४

३—गाजीपुर संस्मरण पृ० १७८

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं---"यह अवश्य है कि हिन्दी के कवियों में से प्रधान और अधिक पूर्वी अंचल में हुए ।¹"

तुलसीदास के समय में दोहा-चौपाई में कथा लिखने की जो शैली प्रचलित थी एवं उसके लिए जिस भाषा का उपयोग किया जाता था, उसका उपयोग उन्होंने भी किया। इसके सम्बन्ध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

"हिन्दी-साहित्य की दो प्रमुख भाषाओं अर्थात् शौरसेनी और अर्द्ध मागधी में जो वाङ्मय प्रस्तुत हुआ, उसमें प्रधान स्वरूप भेद यह दिखता है कि ब्रजी में मुक्त रचना प्रमुख रूप से हुई और अवधी में प्रबन्धों का प्राधान्य रहा।²"

दूसरी बात यह है कि तुलसी के इष्टदेव श्री रामचंद्र जी अवध में अवतरित हुए थे, अतः वहीं की भाषा में उनका चरित्र लिखना कवि को अभीष्ट भी था। फिर भी इन रचनाओं में भोजपुरी शब्द-योजना, महावरे तथा लोकोक्तियां अधिक पाई जाती हैं। 'रामललानहछू' जिसे अधिकांश विद्वानों ने तुलसी की सर्व प्रथम रचना माना है, भोजपुरी में ही है। जैसा कि डा० माताप्रसाद गुप्त कहते हैं कि "इस नव प्राप्त पाठ पर भोजपुरी का प्रभाव स्पष्ट है।³"

इस नव प्राप्त पाठ की पांडुलिपि सं० १६६५ वि० की है। अतः यह तुलसीदास की मातृभाषा पर विचार करने के लिए सबसे प्रामाणिक रचना है क्योंकि कोई भी कवि सर्व प्रथम अपनी मातृभाषा में ही रचना करता है और वह भी गेय पदों में। कहा भी है—'आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषणम्।'

तुलसी काल में अवधी तथा ब्रजी के माध्यम से तो साहित्य-सर्जन किया ही जाता था किन्तु उसमें भोजपुरी के प्रयोग मिलना, उसे कवि की मातृ-भाषा होने का ही द्योतक है जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है —

"किसी कवि की रचना में यदि किसी स्थान विशेष के भीतर ही बोले जाने वाले शब्द मिले तो उस स्थान विशेष से कवि का निवास संबंध मानना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यह बात मनमें बैठ जाती है कि तुलसीदास का जन्म राजापुर में हुआ, जहां उनकी कुमार अवस्था बोती।⁴"

इस कथन में यद्यपि श्री शुक्ल जी का उद्देश्य बाँदा जिले के राजापुर से है परन्तु उन्हीं की कसौटी के अनुसार तुलसीदास की जन्मभूमि बलिया जिले का

१—गोसाईं तुलसीदास पृ० ६४

२—वही पृ० ६४

३—तुलसीदास पृ० २०६

४—हि० सा० का इतिहास पृ० १२९-३०

राजापुर होना चाहिए, जहां की बोली का प्रयोग उन्होंने अधिक से अधिक किया है, जैसा कि आगे विचार किया गया है। यहां आचार्य चंद्रवली पांडेय का कथन भी द्रष्टव्य है यथा—

'यह कौन नहीं जानता कि पूरब में पश्चिम की भाषा का व्यवहार बरावर रहा है और पश्चिम के लोग बाहर से दबाव पड़ने पर पूरब की ओर वरावर बढ़ते रहे हैं। × × × तात्पर्य यह कि तुलसी को पश्चिम के शब्द तो काव्य में मिल सकते हैं और मिल सकते हैं व्यवहार से भी; परंतु पूरब के शब्द तो पश्चिम को सत्सग और वहां के निवास से ही मिल सकते हैं न ? फिर इस तथ्य की उपेक्षा क्यों ? पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र के किसी कवि ने कभी पूर्वी हिन्दी में कोई रचना की है ? सबका सार यह निकला कि अपने आस-पास के शब्द को तुलसी में देखकर उनको अपने आसपास का समझ लेना ठीक नहीं। ठीक है, पहले उस शब्द की व्याप्ति पर विचार करना और जान लेना उसके इतिहास को और तब फिर यह देखना कि उसके प्रति कवि का लगाव क्या है ? कवि के हृदय में उसका वास क्यों है ?[1]"

तुलसीदास ने जिस प्रकार अवधी और ब्रजी का मेल मिलाने का प्रयास किया है[2] तथा उनको खिचड़ी पकाई है[3], उससे उनके उक्त दोनों भाषा-क्षेत्रों का निवासी होने का निषेध होता है क्योंकि सीखी हुई भाषाओं का प्रयोग ही मिश्रित होना सम्भव है और उसमें मातृ-भाषा के शब्दों का योग हो जाना भी स्वाभाविक है किन्तु मातृ-भाषा के प्रयोग में प्रायः मिश्रण नहीं होता।

ऐसी ही वात दूसरे तर्क के विषय में भी कही जा सकती है क्योंकि भोजपुरी प्रदेश और बिहार प्रांत में ही मछली, दही-चिउड़ा दाल-भात घी तथा दही-भात खाने-खिलाने की परंपरा बारात आदि में देखी जाती है जब कि ब्रज में बिल्कुल ही नहीं और बुंदेल खंड तथा अवध में बिल्कुल कम है परंतु तुलसीदास ने मुख्य रूप से उपर्युक्त भोजन का ही विवरण दिया है; यथा—

---

[1] —तुलसी की जीवन भूमि पृ० २४८

[2] —'उधर तुलसी के भाषा संबंधी प्रयास पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ब्रजी और अवधी को इतना अधिक निकट लाने का प्रयास किया कि दोनों भाषाएं मिल गईं।"

—श्री पं० विश्वनाथ मिश्र (गो० तुलसीदास पृ० ६५

[3] —'तुलसी गंग दुवौ भए, सुकबिन को सरदार।
जिनकी कविता में मिली भाषा विविध प्रकार।'

—भिखारीदास

'भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ ।। रा० बा०'

'सूपोदन सुरभी सरपि, सुन्दर स्वाद पुनीत ।
छन महं सब कहँ परसि गे, चतुर सुआर विनीत ।। रा० बा० ३२८

'दधि चिउरा उपहार अपारा । भरिभरि कांवरि चले कँहारा ।। रा० वा०

'मीन पीन पाठीन पुराने । भरिभरि भार कहारन आने ।। रा० वा०

तुलसीदास जी अवधपुरी की वंदना करते हुए कहते हैं—

'बंदउँ अवधपुरी अति पावनि । सरजू सरि कलिकलुष नसावनि ।।
बंदउँ पुर नरनारि बहोरी । ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ।। रा० वा०

यदि उनकी जन्मभूमि अयोध्या या उसके आसपास होती तो वे अवश्य उपर्युक्त चौपाई में 'जिन्ह पर' के स्थान पर 'इन्ह पर' का प्रयोग करते । इसके अतिरिक्त उनकी भावना जितनी गंगा के प्रति ममतापूर्ण दिखाई देती है, उतनी सरयू और यमुना के प्रति नहीं । यह ममता केवल गंगा के महत्व के कारण ही नहीं है क्योंकि महत्व तो सरयू और यमुना का भी है ।

गंगातट स्थित राजापुर (बलिया)

'गौतम चंद्रिका' के निम्नांकित कथन से स्पष्ट यह ध्वनि निकलती है कि तुलसीदास जी गंगातट वासी थे, यथा—

'भोर नहाइ गंग सरि बारी । हरषे जनु सिसु लहि महतारी ।।

अवश्य गंगा की गोद में उनका पालन-पोषण हुआ था और वही उनकी जन्मभूमि भी थी ।[1] गंगा से उनका जन्मजात स्वाभाविक अनुराग था । यदि इस कथन को कि—

'यह भरत खंड समीप सुरसरि-थल भलो संगति भलो'

'काशी' के साथ सम्बद्ध कर दिया जाय तो भी—

'बरु बारहिं बार सरीर धरौं रघुबर को ह्वै तव तीर रहौंगो ।
भागीरथी विनवौं कर जोरि बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो ।।
क० उ० १४७

और—'तुलसी तव तीर-तीर सुमिरत रघुवंश बीर,
विचरत, मति देहि मोह-महिष कालिका ।। विनय० १७

को कहां संबद्ध किया जायगा ? क्या इस कथन से यह ध्वनि नहीं निकलती कि तुलसीदास का जन्म कहीं गंगा तट पर या उसके समीप हुआ था । उनके

४—दे०—अध्याय २ छन्द ८ की व्याख्या

वर्णन में जहां कहीं भी गंगा का प्रसंग आया है, उनकी ममता उमड़ पड़ी है यथा—

सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी। मातु! मनोरथ पुरवबि मोरी॥

जैसे उन्होंने अपने 'कुल' को 'सुकुल' कहा है, वैसे ही उन्होंने गंगा के सम्बन्ध से अपनी जन्मभूमि की भी प्रशंसा की है :—

'धन्य सो देस जहाँ सुरसरी'

उन्हें गंगा की उज्ज्वल लहरों में श्री रामचन्द्र जी के चरित्र जैसी 'कलि-ध्वंसक' विशदता दिखाई देती है। तुलसीदास ने आह्लादित होकर गंगा का जो निम्नांकित चित्र खींचा है, क्या वह 'काशीस्थ' गंगा का कहा जा सकता है? अथवा काशी के पूर्व दिशा में प्रवाहित होने वाली गंगा का ?

पहले गंगा की धारा नियाजीपुर और सइहार (सहस्र धारा या शत धारा) के बीच से होकर बहती थी और नियाजीपुर गंगा के उत्तर पार था। गाँगी नदी गंगा की ही व्यक्त धारा है। भोजपुर से ब्रह्मपुर तक की यही स्थिति थी। ये गांव गंगा के दक्षिण तट पर स्थित थे। तुलसीदास ने इसी स्थान के दृश्य को देखकर गंगा की सहस्र धाराओं का निम्नांकित चित्रण किया है—

'सरित गम्भीर वानीर दुहुं तीर वर, मध्य धारा विशद विश्व अभिरामिनी।
हरित पर्यंक पर शयित सर्पेश जनु, सहस सीसावली स्रोत सुर-स्वामिनी॥
वि० प०

तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर-गंगौली यहीं है। गंगौली का अर्थ है गंगा तट का गांव। इन दोनों गांवों के बीच डूभा (डूबा) अर्थात् वर्षा-ऋतु में जल से डूबी रहने वाली निम्न धरातल की भूमि है। इस क्षेत्र में सेमरी[1] (शांबर=जल+ईय अथवा शांबल=तट-भूमि+ईय) अर्थात् जलपूर्ण भूमि, अरियांव (आरि=तट) अर्थात् तटवर्ती गांव, कुल्हरिया (कुल+धारा) अर्थात् तटवर्ती प्रवाह वाला ग्रांम, चिलहरी (छिछली=उथली+धारा) अर्थात् उथली धारा वाला ग्राम, महदह (महाह्लद) अर्थात् बड़ा जलाशय, जासों (जलाशय या जवास वन), जेंव ही (जमुन=गहरी तह या धारा) अर्थात् गंभीर नदी प्रवाह वाला गांव, खरहाटार अर्थात् प्रखरधारा युक्त ऊँचा बालू का टीला, एकौना[2] (आक=मंदार+वन), विसौली (विष जल+अवली=गांव), कोइला वीर (कूल=तट+वीर=देवता), गाय घाट (गायों के जल पीने का स्थान), वरुना (वारुण=जल देवता का स्थान) नदांव अर्थात् नदी तट का गांव,

---

[1] —कुछ लोग सेमरी की व्युत्पत्ति सेमल वृक्षों की अधिकता होने के कारण भी करते हैं।

[2] —गंगा सरयू के दियारे में आक के वन प्रायः पाए जाते हैं।

च्की दियारा (नदी प्रवाह से आवृत भूमि), नैनीजोर (नैनी=एक प्रकार की मछली+जोर=इकट्ठा होना या समूह) अर्थात् जहां नैनी मछलियों की अधिकता है वह स्थान, लहना (लघु वन) आदि गांवों के नाम से प्रकट होता है कि यहां पर गंगा एक सुविस्तृत क्षेत्र में सहस्र धारा के रूप में प्रवाहित होती थी। ये सभी गांव पहले गंगा के उत्तर पार स्थित थे। शाहजहां काल में टवेर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्री के यात्रा विवरण और सेमरी के इतिहास से भी यह बात सिद्ध होती है। टवेर्नियर बक्सर से ७ मील पूरब चलकर गगा पार करके रानी-सागर पहुंचा था। सेमरी के मनेरिया ब्राह्मणों के पूर्वज जिस समय सेमरी में आए, वह स्थान गंगा के उत्तर पार स्थित था। उस समय वहां कोई बस्ती नहीं थी। गंगा की अनेक धाराओं से सुरक्षित तथा शत्रुओं के लिए अगम्य देखकर ही वे वहां बस गए थे। वहां उनका आगमन १८ वीं शती विक्रमी में हुआ।[1]

कवितावली में एक स्थान पर भगवान् शंकर से प्रार्थना करते हुए तुलसीदास जो कहते हैं —

१—कन्नोज के प्रसिद्ध गहर वार-वंशीय सम्राट गोविन्द चन्द्र के समय से ही गंगा तटवर्ती मनेर (पटना) नामक स्थान वैदिक ब्राह्मणों का केन्द्र बन गया था। गोविन्दचन्द्र ने यहां के ब्राह्मणों को कई गांवों का अग्रहार दिया और वे अकबर काल तक मनेर के भूम्याधिकारी बने रहे। सं० १६६२ में जहांगीर के सिंहासनासीन होते ही खड़गपुर के राजा संग्राम सिंह ने सं० १६६३-६४ में मुगल राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया, जिसे बिहार के सूबेदार जहांगीर कुली ने कुचल डाला और साथ ही मनेर जैसे हिन्दू संस्कृति के संरक्षक ब्राह्मण केन्द्रों को भी उजाड़ डाला। जहांगीर की आज्ञा से मनेर फिरदौसिया-सम्प्रदाय के सूफी फकीर यहिया को दे दिया गया, जो विहार-शरीफ के सूफी मखदूमुलमुल्क का नाती और इस्लाम का कट्टर प्रचारक था। ब्राह्मणों के शाप या उपद्रव से यहिया उसी वर्ष (सं० १६६५ में) काल-कवलित हुआ और उसकी कब्र वहां बना दी गई, परन्तु ब्राह्मणों का अधिकार पुनः मनेर पर न हो सका। मनेरिया ब्राह्मण वहां से चिरांद (सारन) और हल्दी नगवा (बलिया) होते हुए सेमरी (शाहाबाद) पहुंचे और उसे सब प्रकार से सुरक्षित तथा उपयुक्त पाकर वहां बस गए। सेमरी के लोगों का कहना है कि उनके पूर्वज ६८६ गांवों के स्वामी थे।

‘चेरो रामराय को सुजस सुनि तेरो हर,
पायें तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं।
जीबे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं,
मालुम है तोहिं मरिवेई को रहत हौं॥ उ० १६६

इस कथन के आधार पर कोई महोदय कह देते हैं कि "इनसे इस बात का पूरा निराकरण हो जाता है कि तुलसीदास का जन्म न केवल काशी में वरन् कदाचित् गंगा तटवर्त्ती किसी भी गांव में हुआ था।"

उपर्युक्त कथन से गोस्वामी जी की जन्मभूमि गंगातट पर होने का निराकरण किस प्रकार होता है, यह बात समझ में नहीं आती क्योंकि "पावें तर आइ रह्यौं सुरसरि तीर हौं" का अर्थ 'आपके पांवों के नीचे गंगा तट पर आ पड़ा हूं' किया जाय अथवा 'मैं सुरसरी तटवासी आप के पांवों के नीचे आ पड़ा हूं' किन्तु किसी भी प्रकार यह नहीं प्रकट होता कि तुलसीदास की जन्मभूमि कहीं गंगातट पर न थी। वरंच दूसरे अर्थ के अनुसार भी गंगातट वासी ही थे। पहले अर्थ के अनुसार भी गंगा तट पर जन्म धारण करने वाला पुरुष, जिसका बहुत दिनों से गंगा से विछोह हो गया हो क्या पुनः गंगातट पर पहुंच कर नहीं कह सकता कि मैं गंगातट पर आ गया हूं।' काशी के गंगा तट का सामान्य गंगातटों से महत्त्व भी तो अधिक है, अतः 'पायं तर रह्यो सुरसरि तीर हौं" कहकर उक्त महत्वपूर्ण स्थान की विशेषता का परिचय भी दे दिया गया।

तुलसीदास का जन्म स्थान पूर्व में गंगा तट पर ही था। नवीन खोजों से इसका पता चल गया है। यह स्थान बलिया जिले का राजापुर है, जो गंगा के बाएं तट पर विद्यमान था और आजकल गंगबरार होने के कारण अपने पूर्व स्थान से हट गया है एवं उसकी स्थिति पहले से बहुत कुछ बदल गई है। पहले यहाँ वसिष्ठ गोत्र के कस्तुवार ब्राह्मण निवास करते थे आजकल इस वंश के लोग बलिया और शाहाबाद जिलों के गोपालपुर, राजापुर, गंगौली, टेकार आदि गांवों में निवास करते हैं। 'हुलासोसती' इसी वंश की कही जाती हैं। इनका स्थान नंदपुर, राजापुर, रेपुरा, बजरहा, परसिया और हांसनगर के बीच एक रमणीक स्थल पर हल्दी गाँव में स्थित है। यहाँ रामनवमी के अवसर पर प्रसिद्ध मेला लगता है। इसके अतिरिक्त भी वर्ष में अनेक मेले लगते हैं जैसे दसहरा और मकर संक्रांति के अवसर पर। प्रायः दूर-दूर के लोग 'हुलासोसती' को पियरी चढ़ाने के लिए सदैव ही आते रहते हैं। प्रायः मंगल कार्य अर्थात लड़के का जन्म या व्याह होने पर इधर के लोगों में पियरी चढ़ाने की सामान्य परिपाटी है। सम्भव है हल्दी की व्युत्पत्ति 'हुलसोदह' या हुलसी डीह से हुई हो, यथा—हुलसीडीह, हुल्दीः, हल्दी। हल्दी का एक पुराना नाम डवरा[1] है। 'हुलासोसत्ती' वस्तुतः

तुलसी की माता 'हुलसो' ही हैं। भोजपुरी में 'हुलसी' का आदरार्थक रूप 'हु या 'हुलासो' ही बनता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उक्त स्थान की यात्रा की और वहाँ के कतिपय स्थानों के नामकरण भी किए थे, जैसे सीताकुंड (सीहोंकुं हाँसनगर आदि। रामनवमी का मेला भी उन्हीं के द्वारा लगाया गया हो अतः इस बात से भी यह झलक मिलता है कि हुलासोसती का स्थान तुलसीद की माता 'हुलसी' का ही स्मारक हैं, जहाँ तुलसीदास दर्शनार्थ गए होंगे। 'हुलासोसती' का स्थान गंगातट पर ही है, जिससे प्रकट है कि तुलसीदास जन्म भूमि भी इसी क्षेत्र में गंगातट पर थी। हुलासोसती के स्थान पर सीताकुं की स्थापना कर उन्होंने अपनी लौकिक माता हुलसी और आध्यात्मिक मा सीता में परस्पर अभिन्नता स्थापित की।

इसीसे उनके हृदय में गंगा के प्रति अटूट श्रद्धा देखी जाती है। जिसने ज काल से 'माँ गंगा' के दर्शन नहीं किए तथा उसकी रेत में लोट-लोटकर औ जलधारा में तैर-तैर कर जलक्रीड़ा नहीं की, उसके हृदय में गंगा के प्रति वै ममत्व पूर्ण भावना दिखाई नहीं पड़ सकती, जैसी तुलसी में देखी जाती है। मरणासन्न अवस्था में भी क्षेमकरी के रूप में गंगा का दर्शन कर अपने को कृता मानते हैं और सभी चिंताओं से मुक्त हो जाते हैं। जिसकी गोद में जन्म ले लालित पालित हुए, जिसने कलि की कलुषता से दूर रख सन्मार्ग में प्रवृत्त कि उस महा महिमामयी माता के दर्शन से बढ़कर कल्याणमयी बात क्या हो स है, वह भी तब जबकि महायात्रा का समय हो। यह उनका अन्तिम पद है—

> "कुंकुम रंग सुअंग जिते, मुखचंद सों चंदन होड़ पड़ी है।
> बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
> गौरी कि गंग विहंगनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
> पेखि सप्रेम पयान समै, सब सोच विमोचन क्षेमकरी है॥

क० उ० १

तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में जो 'आकजवास पात बिनु अ का दृश्य उपस्थित किया है, वह बलिया-शाहाबाद गंगा-सरयू के कछार में देखा जाता है। दोहावली का निम्नांकित दोहा द्रष्टव्य है—

१—डंवरा की व्युत्पत्ति 'डमरपुर' से हुई है, जिसका अर्थ है—उपद्रव अ लड़ाई झगड़े का स्थान। तुलसीदास जी के पिता राज्य या राज समाज युद्ध करते हुए यहीं बीरगति को प्राप्त हुए, अस्तु उक्त घटना की स्मृति ही इस स्थान का नाम 'डमरा' पड़ गया। यहां एक स्थान का नाम 'सर्व पुर' है, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि उक्त स्थान के सम्पूर्ण निवासी कि युद्ध में मारे गए थे।

"तुलसीतृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज।
कै राखै कै संग चलै, बाँह गहे की लाज॥ दो० ५४४

इससे ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने किसी ऐसी बड़ी नदी के तट पर बाल्यावस्था बिताई थी, जिसका कगार ऊँचा होगा एवं कगार की भूमि कंकरीली-पथरीली अथवा बहुत कड़ी न होगी। ऐसी स्थिति बक्सर के पूरब ही गंगा नदी की है। उधर गंगा का विस्तार भी शेषनाग के हजारों फणों के समान सुविस्तृत हो जाता है तथा दोनों तट बनतुलसी, झाऊ, बनबेर आदि की झाड़ियों से आवृत रहते हैं। इधर ही काँट-ब्रह्मपुर के पास राजपुर में तुलसीकुंड और तुलसी चौरा हैं, जिसके साथ पुरानी माफी चली आ रही है और उक्त स्थानों के व्यय के लिए रघुनाथपुर बाजार से चुंगी उगाही जाती है। श्री शिवनदन सहाय जी के कथनानुसार 'उस स्थान के शरणापन्न होने से लोगों की सब मनसाएँ सफल होती हैं।'[1] अस्तु वहां प्रायः लोग मंगल- कार्य में हवन पूजन, अवर्षण आदि दुष्काल के समय सामूहिक पूजा-पाठ संकट-काल में मनौतियां तथा यथावसर उत्सव मनाते हैं।

जनश्रुति के अनुसार 'वेला-पतौत' का नाम बदल कर तुलसीदास ने रघुनाथपुर रखा था।[2] इधर रामपुर, शिवपुर, हरपुर आदि नामों वाले अनेक गांव मिलते हैं। नरहरा (नरहरिपुर) तुलसीपुर (डुमरांव के पास) तुलसी छपरा (सिनहा के पास), गोसाईपुर, हुलसडेहरा (शिवपुर) भी हैं। इन नामों वाले स्थान गंगा के उत्तर पार बलिया जिले में भी हैं जैसे—तुलसी ताल, तुलसी छपरा, हुलसी छपरा आदि और सबसे बढ़कर हुलासोसती का चौरा है।[3] आखिर इस भूमि से तुलसीदास के इन स्मारकों का क्या सम्बन्ध? अन्यत्र कहीं इस प्रकार के स्मारक नहीं मिलते। मानना पड़ता है कि उक्त क्षेत्र में तुलसीदास की जन्मभूमि का सम्बन्ध होने के कारण ही लोगों ने वहां उनके स्मारक खड़े किए। जन्मभूमि के लोगों का तुलसी को देखकर आह्लादित होना तथा उनके निमित्त स्मारक स्थापित करने में उत्साह दिखाना स्वाभाविक ही है। आज भी यहां के लोगों में तुलसीदास के प्रति इतनी आत्मीयता पाई जाती है कि उनकी प्रशस्ति में ही नहीं गाने बनाए, वरंच उनके जीवन वृत्त को भी विरहा आदि के लय-स्वर में गूंथ लिया है और स्वरचित भजन आदि को भी तुलसी के नाम पर प्रचलित कर दिया है।

१—गोस्वामी तुलसीदास (राष्ट्रभाषा परिषद, पटना) पृ० ९९

२—श्री रामदास गौड़—श्री रामचरित मानस की भूमिका पृ० १४-१५

३—इधर भी तुलसीदास जी द्वारा नामकरण किए हुए गांव जैसे—मेघामठ, नंदपुर, सीताकुंड, हांस नगर, बजरहां आदि हैं।

बलिया-शाहाबाद में निम्नांकित जनश्रुति विशेष प्रसिद्ध है :—

'हम तुलसिया संग संग रहलीं, संग ही कटलीं साईं ।[1]
हम उहे के उहे रहलीं तुलसी भइले गोसाईं ॥

इसमें एक अहीर की मार्मिक व्यंजना है जिसके साथ बाल्यावस्था मे तुलसीदास ने साईं घास काटी थी। साईं घास प्रायः गंगा-सरयू के दियारे में ही होती है। इससे यह भी विदित होता है कि उनका लड़कपन का साथी कोई अहीर था। उक्त अहीर का सम्बन्ध तुलसी साहब वर्णित 'हृदय अहीर' से करना अनुपयुक्त न होगा। उन्होंने सुना होगा कि राजापुर का एक अहीर तुलसीदास का हृदय[2] घनिष्ठ मित्र था। किन्तु उन्हें क्या पता कि वह राजापुर बलिया जिले का राजापुर है। नहीं तो काशी क्षेत्र के निवासी अहीर को बांदा जिले के राजापुर में नौकरी ढूंढ़ने के लिए जाना कब सम्भव है ? ऐसी ही भूल बांदा स्थित राजापुर को तुलसीदास की जन्म भूमि मानने वाले सभी अन्वेषकों ने की है। उन्हें जनश्रुति द्वारा तो यह विदित था कि तुलसीदास राजापुर मे उत्पन्न हुए थे किन्तु बलिया वाले राजापुर से अनभिज्ञ होने के कारण उसका मेल बांदा स्थित राजापुर से मिला दिया गया, यद्यपि बांदा स्थित राजापुर स्वयं इस मिथ्या बात को मानने के लिए तैयार न था। वह तुलसीदास द्वारा बसाया जानकर ही अपने को गौरवान्वित मानता रहा। यद्यपि आज कुछ और परिस्थिति है।

जब 'बांदा-गजेटियर' के अनुसार तुलसी दास ने बांदा स्थित राजापुर को स्वयं बसाया तो क्या कारण है कि उसका नाम उनके इष्टदेव पर न पड़कर 'राजापुर' पड़ा ? इसका कारण स्पष्ट है उनका जन्म स्थान बलिया जिले का राजापुर था, अतः उनके श्रद्धालुओं ने उसी की स्मृति में उक्त नव निर्मित स्थान का नाम राजापुर रख दिया क्योंकि प्राचीन और मध्ययुग में ऐसी परिपाटी थी।[3] यदि यह मानलें कि उक्त राजापुर की बस्ती पुरानी थी और उसका नाम विक्रमपुर था, तब भी उसका दूसरा नाम राजापुर रखने का कारण यही हो सकता है।

१—पाठांतर—'हम तुलसिया गाइ चरवलीं फिरलीं गांवा-गांईं ।
हम अहिरा के अहिरे रहलीं, तुलसी भइले गोसाईं ॥

२—बलिया-सारन में घनिष्ठ मित्र या प्रियतम का प्रतीक 'हृदय' माना जाता है। तुलसीदास की कथित जन्मभूमि राजपुर (बलिया) के निकटवर्ती एक स्थान का नाम 'हृदयचक' है। यहां हुलसछपरा (हल्दी के पास था गंगबुर्द हो गया है) तुलापुर (तुलसपुर) रोहुवा (रघुनाथ ग्राम) जमुवां (जमुना ग्राम) आदि स्थान भी हैं।

३—विकास की एक धारा भाग १ पृ० १५७

यही नहीं रघुनाथपुर के पास जहां तुलसीचौतरा बना हुआ है तथा तुलसीकुंड भी है, राजापुर नाम का स्थान होना भी कदाचित इसी तथ्य की पुष्टि करता है। तुलसीदास की माता 'हुलासोसती' का स्थान 'रेपुरा' नामक गांव के निकट है और इसके पास ही 'राजपुर' नामक गांव भी है। 'रेपुरा' भी राजापुर का अपभ्रंश है यथा 'राजापुर, राजपुर, रायपुर, रायपुरा, रैपुरा और रेपुरा। ज्ञात होता है यमुना तट स्थित बांदा जिले और काँट-ब्रह्मपुर (शाहाबाद) के निकटवर्ती राजापुर ही नहीं वरंच सरयू और गंगा तटवर्ती गाजीपुर, शाहाबाद सारन और बलिया जिले के अनेक राजापुर एवं अन्य जिलों के कई राजपुर, राजापुर आदि स्थान तुलसीदास की जन्म भूमि राजापुर की स्मृति में ही बसाए गए होंगे क्योंकि तुलसी जैसे महापुरुष के साथ अनजान में जो दुर्व्यवहार समाज ने किया और उनकी बाल्यावस्था में उपेक्षा की थी, उसकी प्रतिक्रिया इसी रूप में होनी अनिवार्य थी तुलसीदास का एक राजापुर अनेक बनकर अनेक स्थानों में प्रकाशित हो गया तथा इस प्रकार समाज ने अपने दुर्व्यवहार का किसी अंश में प्रायश्चित भी कर लिया। तुलसीदास की जन्म भूमि का नाम 'राजापुर' होना इस बात का द्योतक है कि वहां किसी राज-परंपरा का निवास था उक्त राज-परम्परा तुलसीदास की भी वंश-परम्परा हो सकती है। इस प्रकार की संभावना से यह ज्ञात होता है कि तुलसीदास 'राजकुल' में उत्पन्न हुए थे।

शिवपीठ की निकटता

'श्री रामचरित-मानस' में 'शिव-विवाह' से कथा का प्रारम्भ करने में तुलसी का उद्देश्य क्या है? यह एक रहस्य है। इस रहस्य का समाधान यह कहने से नहीं होता कि 'शिव-विवाह' से 'राम-विवाह' का उत्कर्ष दिखाने के लिए और न यह कहने से कि शैवों को प्रसन्न करने के लिए। जबकि उन्होंने स्वतन्त्र रूप से 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' की रचना की है तथा उक्त समाधान तुलसी की प्रकृति, मत और विचार के विपरीत भी पड़ते हैं। वस्तुतः तुलसी का जन्म भोजपुरी प्रदेश के उस भाग में हुआ था, जहां किसी भी मंगल कार्य का प्रारम्भ करते समय सबसे पहले 'शिव-विवाह' के गीत गाए जाते हैं और विवाहादि के भोज में सर्व-प्रथम शिव-खिलाने' की प्रथा पाई जाती है।[1] 'श्री रामचरितमानस' जैसे महत्वपूर्ण-कार्य का प्रारम्भ भी उन्होंने उसी परिपाटी

---

[1] इन प्रथाओं का विशेषकर भूमिहार ब्राह्मणों के यहाँ प्रचार है (जैसा कि बलिया जिले के लिलकर आदि गांवों में देखा जा सकता है) इन्हीं के अनुकरण पर अन्य वर्गो में भी यत्र-तत्र इन प्रथाओं का प्रचलन हो गया है किन्तु विशेषकर भूमिहार ब्राह्मणों के केन्द्र में ही।

के अनुसार किया है। गीतों में जिस प्रकार भगवान शंकर के भोलेपन, विल
वेष भूषा और नशा-भक्षण अलौकिकता, आशुतोषता, योगेश्वरता, विराट
प्रस दत्व, सर्वशक्तित्व आदि की झलक मिलती है; तुलसी शिव के चरित्र चि
शील निरूपण और रंग रूप तथा सौन्दर्य के वर्णन में भी प्रायः उसी की छाप

तुलसीदास जो अनन्य रामभक्त होकर भी भगवान् शंकर के परम उपा
थे। यह बात उनके सभी ग्रंथों से व्यक्त है। यहां तक कि उन्होंने अपने इष्ट
से भी कहला दिया है—

'शंकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।'

उन्होंने शंकर को ही अपना वास्तविक मार्ग प्रदर्शक गुरु एवं माता-
भी माना है, यथा—

'प्रणवों दीन बन्धु दिन दानी। गुरु पितु मातु महेश भवानी॥

ऐसी स्थिति में ज्ञात होता है कि भगवान् शंकर में उनकी यह निष्ठा स्वा
विक रूप अथवा सहज भाव से हृदय की गहराई में जमी थी और बाल्यावस्था
ही थी। इस निष्ठा का कारण उनकी शैव-परम्परा ही रही होगी अथवा
भी सम्भव है, जन्मभूमि के निकट कोई शैवपीठ हो। रघुनाथपुर (शाहाबाद)
पास कांट-ब्रह्मपुर ऐसा ही स्थान है। यहां भगवान शंकर का प्रसिद्ध मन्दिर
जहां जल चढ़ाने के लिए कई जिलों के लोग आते हैं। यहां शिवरात्रि के अ
पर विख्यात मेला लगता है। यहां राजपुर नामक स्थान, तुलसी-चौरा, तु
कुंड और तुलसी चौरे के निमित्त माफी भी है, जिससे कथित अनुमान की
होती है।[1]

---

[1] —इस लेखक ने दि० ८-४-१९७१ ई० गुरुवार को रघुनाथपुर स्थित तु
चौरा का सर्वेक्षण किया। इस स्थान के महांत श्री रामकिसुन दास रामा
वैरागी हैं और २७ वर्षों से इस स्थान पर निवास करते हैं। उन्होंने बता
कि सर्वे के समय इस स्थान के अन्तर्गत चौदह बीघे भूमि थी, जिसमें ७
भूमि पर जो राजापुर मौजे की सीमा में पड़ती थी, यहां के तत्का
पुजारी रामलखन दास का नाम कागज में चढ़ गया जिसे दूसरों के
बेंचकर वे अन्यत्र चले गए। शेष सात बीघे भूमि रघुनाथपुर मौजे के अ
कागज में तुलसी चौरे के नाम से है। इस भूमि का लगभग आधा भा
पहले बाग था, अब खेत में परिणत कर दिया गया है और आधे भा
तुलसी चौरा, मठ, पक्का कुंआ और पक्के घाटों वाला तुलसी कुंड है।
सम्पूर्ण स्थान उत्तर-दक्षिण की लम्बाई में फैले एक सुविस्तृत प्राचीन पो
के उत्तरी-पूर्वी भींटे का एक भाग है। इस पोखरे के पश्चिमी तट पर
लम्बाई में रघुनाथ पुर ग्राम की बस्ती है और पूर्वी भींटे के मध्य भा

बिहार राज्य के मुख्य सचिव श्री श्रीधर वासुदेव सोहनी ने इसी उपयुक्त आधार पर शाहाबाद ज़िले के राजपुर (कांट-ब्रह्मपुर को ही गो० तुलसीदास की जन्मभूमि समझ लिया।[1] यद्यपि तुलसीदास की जन्मभूमि बलिया जिले का राजपुर है, जहां उनकी माता 'हुलासो सती' का प्रसिद्ध स्थान है। यह स्थान कांट-ब्रह्मपुर से अधिक दूर नहीं है। कांट-ब्रह्मपुर के निकट का राजपुर, तुलसी चौरा और तुलसी कुंड कुछ काल तक वहां तुलसीदास के निवास करने के स्मारक प्रतीत होते हैं। तुलसीदास की जन्मभूमि गंगा तट पर थी किन्तु श्री सोहनी जी कथित राजपुर (गंगा तट) से कुछ हट कर है।

गोस्वामी जी अपने कथा-प्रवाह में जब किसी पर विपत्ति पड़ी है या भय की स्थिति उत्पन्न हुई है, उससे सर्वप्रथम भगवान शंकर का स्मरण एवं भजन-पूजन कराया है जैसा कि कैकेयी के षड्यंत्र में फँसे हुए दशरथ जी मन ही मन कहते हैं—

'सुमिरि महेसहिं कहहिं निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥
आसुतोष तुम औढर दानी। आरति हरहु दीन जन जानी॥

एक छोटी मस्जिद है जिसके निकट कुछ मजारें देख पड़ीं। मस्जिद नई है, परन्तु स्थान पुराना है। पूरे भींटे पर पुरानी इमारत होने के चिह्न (ईंटे, सुर्खी आदि) मिलते हैं। कहा जाता है कि तुलसीदास इसी मस्जिद में निवास करते थे। इस कथन को संगति "मांगि के खैबे मसीत को सोइबे लेबे को एक न देबे को दोऊ (कवितावली) से मिलाई जा सकती है।

३—तुलसी चौतरा पर एक पकड़ी का प्राचीन वृक्ष है जिसपर जंगली लताएँ चढ़ी हुई हैं। इसकी जड़ें दूर तक फैली हुई हैं। इस वृक्ष के साथ एक पीपल का वृक्ष भी था, जो समयानुसार नष्ट हो गया है। चौतरे का सीमेंट द्वारा नवनिर्माण किया गया है जो लगभग ४ फीट ऊँचा है। इसके पूर्व ओर कई दूसरे वृक्ष भी हैं। चौतरे पर पश्चिम भाग में तुलसीदास जी की एक मूर्ति स्थापित की गई। कई वर्ष पूर्व एक कायस्थ सज्जन ने इसकी स्थापना कराई थी। चौतरे के उत्तर छोटा-सा मठ है, जिसके उत्तर ओर के कक्ष में श्रीराम-लक्ष्मण-सीता की मूर्त्ति है। इस मठ का ओसारा पश्चिम की ओर है। पुराना मठ मिट्टी का बना था, जिसके ध्वस्त हो जाने पर रघुनाथपुर के जानकी नाई और उनके लड़के ने नाइयों से चन्दा करके निर्माण कराया था। इसके आगे कुंआ है, जिसकी जगत नवनिर्मित हैं, परंतु यह छोटी ईंटों से बना पुराना चौड़े मुंह का है। इसके दक्षिण तथा चौतरे के पश्चिम बावली है।

तुम प्रेरक सबके हृदय सो मति रामहिं देहु ॥
बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु ॥ रा० अ० ४

सीता स्वयंबर में श्री रामजी द्वारा शिवजी का धनुष उठाए जाने सीताजी की भी यही स्थिति है—

'मनही मन मनाव अकुलानी । होहु प्रसन्न महेश भवानी ॥
करहु सफल आपनि सेवकाई । करि हित हरहु चाप गरुआई ॥
रा० बा० २५

इसी प्रकार भरत जी भी दुःस्वप्न और अपशकुन होने पर उसके कुफल निवारणार्थ भगवान् शिव का पूजन करते हैं यथा—

'अनरथ अवध अरंभेउ जबतें । कुसगुन होहिं भरत कहँ तबतें ॥
देखहिं राति भयानक सपना । जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥
विप्र जेंवाइ देहिं दिन दाना । सिव अभिषेक करहिं बिधिनाना ॥
मांगहि हृदय महेस मनाई । कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥ रा०अ० १५

श्री रामचन्द्र जी ने भी लंका पर चढ़ाई करने से पूर्व शिवलिंग की स्थाप और पूजा की थी। अस्तु इस परिपाटी के निर्वाह से यह विदित होता है गोस्वामी जी की बाल्यावस्था ऐसे स्थान पर बीती थी, जहां शिवपीठ की टता थी और जहां के लोग प्रत्येक अवसर पर भय के निवारणार्थ एवं सुख आशा से भगवान शिव की आराधना, स्मरण-पूजन करते थे, अथवा उनका ऐसे कुल में हुआ था जिसमें शिव पूजा का परम्परा से प्रचलन था। इस प्रक उनकी जन्मभूमि सोरों, राजापुर (बांदा) और अयोध्या में होने की अपे पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में होना अधिक संगत प्रतीत होता है, जहां 'कोट ब्रह्म (शाहाबाद) छितौनी असेगा (बलिया) और मेंहदार ढोंढ स्थान (सारन) भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर हैं तथा शिवोपासना का विशेष प्रचार है।'

गोस्वामी जी के हृदय में परम्परागत शिवोपासना का जो प्रभाव उसकी झांकी उनकी रचनाओं में प्रायः देख पड़ती है। गोकुल के लोग भी नन्द यशोदा के यहां कृष्ण जैसे पुत्र का होना महादेव की ही कृपा का फल मान हैं यथा—

१—प्रसिद्ध है कि ब्रह्मेश्वर नाथ मंदिर को किसी मुसलमान शासक ने तोड़ चाहा। परंतु पुजारियों के अनुनय-विनय पर उसने कहा कि यदि आ रात में मन्दिर का फाटक बदलकर दूसरी दिशा में हो जाय तो मैं मा लूंगा कि तुम्हारे देवता में शक्ति है और मन्दिर न तोड़ूंगा। कहते कि उसी रात मन्दिर का फाटक घूमकर पश्चिम की ओर हो गया जैसा कि इस समय विद्यमान है।

"कौन जाने कौने तप कौने जोग जाग जप,,
कान्ह सों सुवन तोंको महादेव दियो है ॥ कृ० गी० १६

तुलसीदास जी के हृदय में भगवान शिव के प्रति जो परंपरागत आस्था थी, उसीके कारण वे वैष्णव तथा अनन्य रामभक्त होते हुए भी रामभक्ति तथा शिव-भक्ति का समन्वय कर सके एवं उनकी उदार भावना रामानुज संप्रदाय की कट्टरता से अछूती रह पाई।

कथित परिपाटी के अनुसार ही उन्होंने कहा है—

'दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारिको।
जेहि पाइ नर पावन पुरारि मुरारि को॥' वि० प०

यहां भी देखिए—पहले 'पुरारि' के ही मिलने का वर्णन है। वे किसी भी अवसर पर पहले भगवान शंकर का ही पूजन कराते हैं। श्री रामचरित-मानस के प्रधान पात्र और नायक तथा तुलसी के मुख्य उपास्य श्री रामचन्द्र जी को ही देखिए—

'तब मञ्जन कर रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥
और—'मुदित नहाइ कीन्हसिव सेवा। पूजि जथा विधि तीरथ देवा॥
रा० अ० १०६

तुलसी दास के निम्नांकित कथन से भी उनका बाल्यावस्था में किसी शिव पीठ में रहना व्यक्त होता है जहां वे प्रायः 'राम' नाम जपा करते थे क्योंकि उसी के परिणामस्वरूप उन्हें कल्याण-प्राप्ति हुई थी, यथा—

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरे तो राम को नाम कलपतरु कलिकल्यान करो॥

× × ×

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो यह जीह गरो।
मेरे तो माय-बाप दुइ आखर, हौं सिसु अरनि अरो॥ विनय प०

भगवान शंकर की साक्षी शिवपीठ का निवासी ही दे सकता है। शिव-पीठ तो काशी भी है किन्तु उक्त कथन में जो बात कही गई है, वह काशी की न होकर कहीं अन्यत्र से सम्बन्धित है क्योंकि काशी में गोस्वामी जी का आगमन तो एक कल्याण-स्वरूप घटना थी और यह घटना रामनाम के जप का परिणाम थी। अस्तु रामनाम का जप किसी दूसरे शिवपीठ में किया गया था। संभवतः यह साधना 'गुरु' के साथ ही की गई होगी क्योंकि 'राममंत्र' का उपदेश गुरु ने ही दिया होगा, जिसका एकनिष्ठ होकर तुलसी ने जप किया, अन्यथा शिवपीठ में 'शिवमंत्र' का ही जप होना चाहिए।

तुलसीदास ने गुरु के साथ बाल्यावस्था में ऐसी ही जगह पर निवास किया

होगा जा उनकी जन्म भूमि से बहुंत दूर न हो। अतः ऐसा स्थान मेंहदार (सारन), काँट ब्रह्मपुर (शाहाबाद) और छितौनी (बलिया) में ही कोई हो सकता है या सभी हो सकते हैं क्योंकि ये सभी स्थान तुलसीदास की कथित जन्म भूमि राजापुर के निकट पड़ते हैं।

उक्त राजपुर के निकट देवी का एक प्रसिद्ध स्थान है जो पंचदेवी के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पहले बसंत-पंचमी के दिन वसंतोत्सव का प्रसिद्ध मेला लगता था। इसीसे इसे पंचमी देवी का मेला कहते थे। पंचदेवी, पंचमीदेवी का ही परिवर्त्तित रूप है। इस मेले की भूमि जब बन से खेतों में परिवर्त्तित हो गई तो फसल को सुरक्षा की दृष्टि से यह मेला सन् १९१० ई० में बंद कर दिया गया और उसके स्थान पर वैसाख के शुक्लपक्ष में मेला लगने लगा। मेला के बंद किए जाने का उल्लेख हल्दी (बलिया) के प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि श्री बख्शराम पांडेय 'सुजान' ने अपनी डायरी में किया है। वसत-पंचमी का मेला आजकल हल्दी में लगता है, जहां हुलासो सती का स्थान है।

पंचदेवी के मंदिर और मेले की व्यवस्था 'बिगही-बहुवारा' के नैनोजोरा ब्राह्मणों के अधिकार में है। जो शांडिल्य-गोत्र के हैं। आगे बताया गया है कि तुलसीदास के गुरु श्री नरहरिदास इसी कुल परंपरा में उत्पन्न हुए थे।

तुलसी काल में पंचदेवी का मेला उठने पर मेंहदार, छितौनी और कांट-ब्रह्मपुर में महाशिवरात्रि के प्रसिद्ध मेले लगते थे। जो आज भी उसी रूप में लगते हैं। ये सभी स्थान पहलें बनभूमि से आच्छादित थे, जैसा कि इस समय भी स्थान देखकर अनुमान किया जा सकता है। ज्ञात होता है, तुलसीदास ने पार्वती का वसंतोत्सव-विहार पंचदेवी में ही देखा होगा और तत्पश्चात् कांट-ब्रह्मपुर तथा मेंहदार में शिव-पार्वती का विवाहोत्सव उक्त दृश्यों का बाल्यावस्था में अवलोकन और हृदयंगम करने के आधार पर ही वे प्रकृतिगत शिव-विवाह के दार्शनिक प्रतीक दे सके होंगे। यथा—

देखो देखो बन बन्या आज उमाकंत। मानो देखन तुमहिं आई ऋतु बसंत।
जनु तनु दुति चंपक कुसुम माल। बर बसन नील नूतन तमाल॥
कल कदलि जंघ पद कमल लाल। सूचत कटि केहरि गति मराल॥
भूषन प्रसून बहु बिबिध रंग। नूपुर किंकिंनि कलरव बिहंग॥
कर नवल बकुल पल्लव रसाल। श्री फल कुच कंचुकिलता जाल॥
आनन सरोज कच मधुप गुंज। लोचन बिसाल नवनील कंज॥
पिक बचन चरितबर बरहि कीर। सित सुमन हास, लीला समीर॥
कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचे पंच बाम॥
करि कृपा हरिय भ्रमफंद काम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम॥

भीतरी झलक

गोस्वामी जी ने जहां यह कहकर कि—

'नगर नारि, भोजन, सचिव, सेवक, सखा अगार ।
सरस परिहरे रंग रस, निरस विषाद विकार ।। दो० ४७५
तुलसी तहां न जाइये, जहां जनम को ठांव ।
गुन औगुन जानै नहीं, धरै पाछिलो नांव ।।

इस बात का स्पष्ट सकेत किया है कि उनकी जन्म भूमि काशी, अयोध्या, चित्रकूट और सोरों में या इन स्थानों से अति-निकट के किसी स्थान में कदापि न थी, वहीं उन्होंने अनेक स्थलों पर ऐसे कथन किए हैं, जिनसे उनका भोजपुरी प्रदेश, विशेष कर वर्त्तमान वलिया मंडल में जन्म लेना झलकता है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जा रहा है—

भोजपुरी लोक कथाओं में बहुधा किसी राजा की विपत्ति का विवरण देते हुए कहा जाता है कि उसके हाथी हस्तिशाला में और घोड़े घुड़शाल में मर गए, जैसा कि गोरया वावा आदि की कथाओं में सुना जाता है। गोस्वामी जी द्वारा कथित—

'हाथो हथिसारें जरे घोरे घोरसारहो'—क० सु० २३

को इससे मिलाया जा सकता है। हाथो, हथिसारें, घोरसारहीं, घोरे शब्द भी भोजपुरी के ही हैं।[1]

गोस्वामी जी कवितावली में एक स्थान पर कहते हैं—

'नाम राम ! रावरे तो चाम की चलाई हैं'—क० उ० ७४

चमड़े का सिक्का चौसा (वक्सर) के निकट हुमायूं की प्राण-रक्षा करने वाले भिश्तो ने अपनी एक दिन की वादशाहत में चलाया था और अपने वंधु-बांधवों को उसके वदले में राज-कोष से धन देकर मालामाल कर दिया था। यह घटना भोजपुरी प्रदेश में विशेष चर्चा का विषय रही होगी (क्योंकि भिश्तो वहीं का निवासो था) और उसे गोस्वामी जी ने अपनी बाल्यावस्था में वहीं पर सुना होगा। ऐसा ही प्रयोग—'तेरी मरजो तें चलें चिचिनी चियाँ रे'—क० उ० है क्योंकि इमली का चियां (बीज) चलाना वलिया जनपद का भोजपुरी महावरा है। पहले उसी आकार प्रकार के तांबे के बुटवलिया पैसों का पूर्वी भोजपुरी प्रदेश में प्रचलन था, जिसे बंद हुए अभी थोड़े दिन हुए।

श्री सीता जी का पता लेकर लंका से श्री हनुमान जी के लौटने पर

---

[1] —'हथिया जे मरे हथिसारें त घोड़ा घोड़सारें मरें''
(गोदावरी रानी की गेय कथा से)

गोस्वामी जी ने इस विषय के उपलक्ष्य में उनके शेष साथियों द्वारा उनकी बाहों की पूजा कराई है यथा—

'एक पूजें बाहु बकुल तोरि फूल हैं'—क० सु० ३०

गोस्वामी जी के जन्म से लगभग आधी शताब्दी पूर्व कर्णपटल (बलिया) के राजा कर्णदेव ने सिकन्दर लोदी से युद्ध कर हिन्दू जनता को उसके अत्याचारों से मुक्त किया था, जिससे प्रसन्न होकर जमींदारों तथा हिन्दू नेताओं ने उनकी बाहों की पूजा की थी (दे०—अध्याय २ में बलिया आरा की गाथा) तुलसीदास के बाल्यकाल में यह घटना भी आरा—बलिया में विशेष चर्चा का विषय रही होगी, जिससे प्रेरणा पाकर उन्होंने उपर्युक्त 'बाहुपूजा' का विवरण दिया होगा। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसीदास कर्णदेव की यज्ञ भूमि (जजौली) पर गए थे। यहां तुलसी ताल नामक झील है जिससे लकड़ा (इसका नामकरण राकड़ राजाकर्ण के नाम पर हुआ है) नदी का निकास हुआ है।[1]

गोस्वामी जी के इस कथन से कि—

'गोंड गंवार नृपाल महि जवन महा महिपाल (दो०)

और—'वेद-धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए' (क० उ० १७७)

इस बात की झलक मिलती है कि गोस्वामी जी का सम्बन्ध ऐसे राज्य से अवश्य था, जहां 'गोंड-गंवार-नृपाल' का राज्य था तथा जो वेद-धर्म के विपरीत चोरी-चोरी से भूप बन गए थे। उस समय के इतिहास में इस प्रकार के राजा का पता न काशी, न अयोध्या, न चित्रकूट और न सोरों में चलता है, परन्तु आरा बलिया के तत्कालीन हल्दी राज्य के विषय में यह बात चरितार्थ होती है। इस राज्य के अधिपति गोंडवाना से आए थे और महतिन ब्राह्मण रानी को धोखा देकर उनका राज्य हस्तगत किया था।[2]

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तुलसीदास जी ने अपने को 'आरा-बलिया' का निवासी होने की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है। तुलसीदास जनकपुर की यात्रा में श्रीरामचंद्र जी के साथ दिखाई देते हैं और उनकी अनन्य निष्ठा देख श्री रामचंद्र जी उन पर अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं :—

"भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात,
बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।

---

[1] —राकड़देव ने यहां पर २५०० एकड़ (चार हजार बीघे) भूमि की माफी यज्ञ के आचार्य मधुसूदन पयहारी को दिया और दूसरे ब्राह्मणों को भी भूमि दी, जो आज भी उनके वंशजों के अधिकार में है। देवकली (लवहर-देकुली) को माफी (४००० बिघे) इसी राजा ने दी थी।

[2] —देखिये -अध्याय ६ में 'शत्रु' (टिप्पणी)

सनमुख सबहिं बिलोकत सबहि नीके,
कृपा से हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं।। गी० बा० ७१

और जनकपुर निवासियों का कथन भी है—

'अवलोके भरि नयन आज तुलसी के प्रान पियारे'—गी० बा० ६६

यमुना पार का तापस-प्रसंग तो रहस्यपूर्ण भी हो सकता है और सब लोग उक्त तापस को तुलसीदास मानने के लिए तैयार भी नहीं हैं।[1] किन्तु बक्सर में राम का आगमन होने पर तुलसीदास जब वहां अपनी उपस्थिति स्पष्ट स्वीकार करते हैं तो बक्सर के निकट उनकी जन्मभूमि होने की स्वतः सिद्धि हो जाती है—

'मख राखिबे लागि दसरथ सों मांगि आस्रमहि आने।
प्रेम पूजि पाहुने प्रान प्रिय गाधि सुवन सनमाने॥
साधन फल साधक सिद्धनि के, लोचन फल सबही के।
सकल सुकृत फल मात पिता के, जीवन धन तुलसी के॥
गी० बा० ५६

अयोध्या में अवतरित होने पर श्रीरामचन्द्र जी तुलसीदास के केवल ईश थे जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से प्रकट है—

'मन संतोषे सबनि के, जहँ तहँ देहिं असीस।
सकल तनय चिरजीवहु, तुलसिदास के ईस॥ रा० बा० १९६

किन्तु वे ही सिद्धाश्रम[2] में पहुंचकर उनके 'जीवन-धन' बन गए। 'ईश' कहने से जिस प्रकार की दूरी प्रकट होती है, उसी प्रकार 'जीवन-धन' कहने से निकटता। अयोध्या के राम तुलसी के 'ईश' ही थे; परिचित न थे, पर सिद्धाश्रम से जनकपुर तक निकट सम्पर्क में रहने पर 'जीवन-धन' हो गए। तुलसीदास जी कहते हैं—

---

[1] १—मानस मनीषी अपनी रुचि के अनुसार शब्द को अग्निदेव, हनुमान, बाल्मीकि, चित्रकूट, अगस्त्य जी या तुलसीदास का अर्थ लगाते हैं (मानस-पीयूष अयो० पृ० ४६३-६८) श्री रेवरेंड फादर कामिल बुल्के साहब ने अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध में धर्मखंड अ० ९८ के अनुसार तापस को ब्राह्मण वेशधारी शिव कहा है (राम कथा पृ० ३८९)
—मानस मयूख वर्ष १ प्रकाश ४ पृ० ५१९

[2] २—बाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि बगसर के वनों में ताड़का का निवास था और वहां से दक्षिण लगभग एक दिन की मंजिल (ठहराव) पर पर्वतीय अंचल में सिद्धाश्रम था, जहां विश्वामित्र जी ने यज्ञ सम्पन्न किया।

'नित पथ चरित सहित, तुलसीचित, बसत लखन रघुराई ॥ गी० बा० ५१

इसके बाद श्रीरामचन्द्र जी के साथ-साथ जनकपुर तक जाने वाले तुलसी के कथन ने तो इस रहस्य को और भी स्पष्ट कर दिया है कि वे बक्सर के पूर्वीय क्षेत्र के निवासी थे।

केवल गीतावली में ही नहीं कवितावली में भी यह बात स्पष्ट की गई है—

लोचनाभिराम घनस्याम राम रूप सिसु,
सखी कहै सखी सों तूं प्रेमपय पालि री !
बालक नृपाल जू के ख्याल ही पिनाक तोर्‌यो
मंडलीक मंडली प्रताप दापु दालि री ॥
जनक को, सिया को, हमारो, तेरो, तुलसी को,
सबको भावतो ह्वै है मैं जो कह्यो कालिरीं।
कौसिला की कोखि पर तोषि तन वारिए री
राय दशरत्थ की बलैया लीजे आलिरी ॥ बा० १२

अब तो स्पष्ट हो गया कि तुलसीदास सिद्धाश्रम की ब्राह्मण मंडली के साथ जनकपुर गए थे। तुलसीदास के मित्र और समकालीन श्री कृष्णदत्त मिश्र भी बक्सर के निकट उनकी जन्मभूमि होने का साक्ष्य देते हुए कहते हैं—

बगसर बापी गौतमी तुलसी मुदित नहाइ।
मुक्ति जन्म महिमा मढ़ी कासी निवसे आइ ॥

रामचरित मानस में यह बात इसलिए स्पष्ट नहीं होती है कि वहां सिद्धाश्रम के ब्राह्मण-समाज में तुलसी का भी समावेश हो जाता है और वही बात जनकपुर तक है, यथा—

तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह विप्रन पर दाया।
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे विप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥

उक्त ब्राह्मण समाज जनकपुर की यात्रा में भी गया था क्योंकि राजा जनक उसे नमस्कार करते दिखाई देते हैं यथा—

कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा। दीन्ह असीस मुदित मुनिनाथा।
विप्रवृंद सब सादर वंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥
कुसल प्रश्न कहि बारहिं बारा। विश्वामित्र नृपहिं बैठारा ॥

'बाल्मीकि-रामायण' से ज्ञात होता है कि सिद्धाश्रम से एक सौ गाड़ियों में बैठकर ब्राह्मण लोग विश्वामित्र जी और श्री रामचन्द्र जी के साथ-साथ जनकपुर गए थे—यथा

एव मुक्त्वा मुनिवर: प्रस्थानमकरांत् तदा।
सर्षि संघः स काकुत्स्थ आमंत्र्य वन देवता ॥१४॥
तं व्रजंतं मुनिवर मन्वगादनुसारिणाम्।
शकरी शत मात्रं तु प्रयाणे ब्रह्मवादिनाम् ॥१७॥

बा० का० सर्ग २२

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार "भक्तलोग अपने को जन्मान्तर से अपने आराध्य इष्टदेव का सेवक मानते हैं। इसी भावना के अनुसार 'तुलसी' और 'सूर' दोनों ने कथा प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुंचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है, वहीं कवि के निवास-स्थान का पूरा संकेत भी है (हि० सा० का इतिहास पृ० १३१)

उपर्युक्त कसौटी के आधार पर चाहे शुक्ल जी ने राजापुर (बांदा) का ही अवगाहन किया हो, परन्तु इसके अनुसार भी तुलसीदास बक्सर से पूर्व के सिद्ध होते हैं, उक्त क्षेत्र प्राचीन-काल से ब्राह्मणों का केन्द्र रहा है। कश्यप की तपोभूमि सिद्धाश्रम, भृगु की तपोभूमि, भृगुक्षेत्र, गौतम स्थान (गोदना) आदि इधर ही हैं। गो० तुलसीदास के समय में भी इधर ब्राह्मणों का केन्द्र था। इस समय भी इधर ब्राह्मणों की संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक है और यह ब्राह्मण समाज बल वीर्य और विद्या-बुद्धि दोनों ही पक्ष में प्रख्यात रहा है।[1]

तुलसीदास में जिस प्रकार ब्राह्मण संस्कृति के प्रति आस्था, सांस्कृतिक चेतना विश्वहित की उदार भावना और सामाजिकता देखी जाती है, वह उनकी वंशगत विशेषता का द्योतक है। पुराने कुलीन लोगों में ही प्रायः इस प्रकार के गुण पाए जाते हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि तुलसी दास का जन्म किसी पुरातन ब्राह्मण केन्द्र में हुआ था। ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से विदित होता है कि महाशार (बगसर) और द्रोणस्तूप (संभवतः भृगुक्षेत्र) ऐसे ही ब्राह्मण केन्द्र थे। 'दवनी' ग्राम का नाम द्रोण।[2] स्तूप का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है।

१—सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के अग्रणी वीर मंगल पाण्डेय और सन् १९४२ के चितू पाण्डेय यहीं के थे। आधुनिक विद्वानों में श्री पं० काशीनाथ वेदांतविद्, उनके सुपुत्र पं० रघुनाथ जी, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, अन्य परशु राम चतुर्वेदी, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० बलदेव उपाध्याय, डा० कृष्णदेव उपाध्याय, श्री माधव जी, डा० भगवत शरण उपाध्याय, पं० सभापति उपाध्याय, आदि इसी क्षेत्र के हैं।

२—ज्ञात होता है कि बुद्ध के भस्मावशेष का बटवारा कर देश को गृह-कलह से बचाने वाले द्रोण ब्राह्मण बलिया वासी ही थे। वत्सगोत्रीय भूमिहार ब्राह्मणों की एक प्रसिद्ध श्रेणी 'द्रोणवार' कहलाती है। सम्भव है द्रोणवार

तुलसीदास की कथित जन्मभूमि दवनो और भृगुक्षेत्र के निकट है। यह क्षेत्र राज पूत काल और मुसलमानी काल में भी ब्राह्मण केन्द्र बना रहा।

इस भूमि की उपमा तुलसीदास जी ने 'उत्तर-अयन' से दी है। 'उत्तर-अय तेज बृद्धि का प्रतीक है। वहां पहुंच कर सूर्य का तेज बढ़ जाता है। सूर्य उत्तरायण होकर मधु माधव से युक्त होना विश्व के विकास का सूचक है। दिशा ब्राह्मणों की आदि भूमि कही गई है। यहां ब्राह्मणों के राजा सोम[3] सप्तर्षिगण सदा निवास करते हैं,[4] अतएव बक्सर क्षेत्र की उपमा उत्तर अयन देकर[5] स्पष्टरूप से तुलसीदास ने उसको तेजस्वी ब्राह्मणों की केन्द्र भूमि हो व्यंजित किया है। राम-लक्ष्मण को पाकर उक्त क्षेत्र सुख-सम्पन्न और वास शोभा से युक्त हो गया। वहां के ब्राह्मणों का तेज बढ़ गया।

सम्प्रदाय और समाज

स्वामी रामानन्द ने वाराणसी को केन्द्र बनाकर ही अपने सम्प्रदाय प्रचार किया इसलिए उनके मत का व्यापक प्रसार भी भोजपुरी प्रदेश में

ब्राह्मण उक्त द्रोण के ही वंशज हों। गहरवार सम्राटों के ताम्रपत्रों से वि होता है कि उक्त सम्राटों ने द्रोण शाखा के वत्सगोत्रीय वैदिक-ब्राह्मणोंको ग्रामों के अग्रहर दिए थे। इस परम्परा के ब्राह्मण उत्तर प्रदेश और बिहा अनेक भूखण्डों के जमींदार और स्थानीय भूम्याधिकारी रहे हैं। जैसे—नरहन विभूतिपुर सुहवल आदि (गाजीपुर) उत्तर प्रदेश में। दोन नामक एक प्राचीन स्थान सारन (बिहार) में है, किन्तु यह गंगातट पर न होकर सरयू से ४ मील उत्तर स्थित हैं। यहाँ एक प्राचीन डीह है जहां एक ताम्रप मिला है। यहाँ से ४-५ कोस पूर्वोत्तर दिशा में द्रोणवार ब्राह्मणों की मांझा, तितरा, ठेपहा सिरिसिया और नारायणपुर गांव में है। उत्तर मुगल में इन लोगों के अधिकार पूरे पच्चलख परगने पर हो गया था।

[3] —सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा—श्रुति

[4] —दिश्युत्तरायां मेरोस्तु मानसस्यैव मूर्द्धनि।
तुल्यामहेंद्र पुर्यापि सोमस्यापि विभावरी॥ मत्स्य (२३।२२-२
वसिष्ठ: कश्यप ऽगस्त्य: प्रजोत्पत्तिविधायिन:।
सप्तर्षि उदीच्यां वै नित्यमेव [illegible]:॥ वा० रा० कि०

[5] —मधुमाधव मिलि भयो दिनमनि चलेउ उतर अयन। गो० सो०

हुआ।[१] अगले अध्याय में सूकर-खेत के प्रसंग में बताया गया है कि गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरहरिदास शांडिल्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। सम्भवतः वे जिस वंश परम्परा में उत्पन्न हुए थे, उसे नैनीजोरा तिवारी कहते हैं। बलिया जिले के विगही-बहुवारा नामक स्थान में उक्त परम्परा के ब्राह्मण पुराने समय से निवास करते आ रहे हैं) यहां एक पुरातन रामानन्दी सम्प्रदाय का मठ भी है जिसकी शाखाएं विभिन्न जिलों के अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं। असम्भव नहीं कि उक्त मठ के महन्तों की परम्परा स्वामी नरहरिदास से सम्बन्धित रही हो। भोजपुरी

---

[१] भविष्य पुराण के अनुसार स्वामी रामानन्द का आविर्भाव काशी में हुआ था। बावरी-संप्रदाय के आदि प्रवर्तक स्वामी रामानन्द गाजीपुर जिले में औड़िहार के निकट पटना निवासी थे, जैसा कि उक्त सम्प्रदाय के संतों की वाणी से सिद्ध है। (दे०—उत्तर भारत की संत-परम्परा—ले०-पं० परशुराम चतुर्वेदी—पृ० ४७६) श्री रामलगनलाल 'क्षेम' उक्त दोनों स्वामी रामानन्द को परस्पर अभिन्न मानते हैं। उनके कथनानुसार उस समय काशी का विस्तार औड़िहार तक था। (दे०—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं पृ० २९-३०) इस प्रकार स्वामी रामानन्द की जन्मभूमि भोजपुरी प्रदेश में ही ठहरती है। स्वामी रामानन्द जी की रचनाओं में भी भोजपुरी प्रयोग देखा जा सकता है।

यथा—'मुक्ति भइला जाय जयीलां। यो सेवग स्वामी संग रहीलां॥
अमृत सुधानिधि अन्त न पाइला। पीवत प्रान न कदे अघाइला॥
रामानंद मिलि सग रहैला। जब लग रस तब लग पीवैला॥ आरती ४

भोजपुरी में 'हाथी' का प्रयोग स्त्री लिंग में होता है। स्वामी जी ने भी उसका प्रयोग स्त्री लिंग में किया है जसे—

'जहां नाद विंदु की हाथी'—योग चिंतामणि २

शब्द—अंगारी, अंचला, अकट विकट, अदल, अनभै अपंग, अरघा आनि (लाकर), कबू (कभी) कवन, कुटका, कुदरत केता कोकस, कौल, क्रम (कर्म), खबर, खासे, गुरुगम, गुलामी, गैब (अजगैबी), गाढ़ पड़ना, घारहीं, चंग, चसमा, चांपना, चौरंगा (चौरंगी), चौका, जगमग, जाई (क्रिया), जिनि जोबन, झिलमिली, ठाइं ठाइं, तोर दरियाव दालिद्र, नाचें, नौलखहार, नौबत निसाना (निसंस) बंदगी, बच्चा, बाजन, बाती, बलिहारी, बादसाही, दावनबीर, बाई, बेपरवाह, बंकबोलना पारमपार पियार, पैसना, फकीरी, फिकिर, भुगतना, माहबत, मोर (मेरा), समल, साह, सीझना (क्रिया), सीढ़िया, हलकारा। दे०—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं (का० ना० प्र० स०)

प्रदेश में विशेषकर सारन आदि जिलों में रामानन्दी-सम्प्रदायान्तर्गत चतुर्भुजी[1] उपवर्ग के पुराने स्थान पाए जाते हैं।[2] इस उपसम्प्रदाय को उक्त क्षेत्र में 'तुलसी सम्प्रदाय भी कहते हैं जैसा कि मुझे कुम्हैला (सारन) के महंत जी ने बताया। तुलसीदास के नाम से उक्त सम्प्रदाय का सम्बन्ध विचारणीय है।

भोजपुरी प्रदेश के बलिया, गाजीपुर, शाहाबाद, सारन, देवरिया आदि जिलों में रामानन्दी सम्प्रदाय के मठों और साधुओं का जाल सा बिछा है। इतनी अधिक मात्रा में देश के किसी भाग में सम्भवतः रामानन्दी सम्प्रदाय का व्यापक प्रसार नहीं है। इस भाग में प्रचलित अन्य कई सम्प्रदायों की परम्परा भी स्वामी रामानन्द से सम्बन्धित है जैसे कबीरपंथ और बावरी सम्प्रदाय। उक्त प्रदेश के सभी क्षेत्रों में 'राम' नाम से सयुक्त नामोंवाले गावों की अधिकता है एवं 'रामानन्द' नाम का इतना अधिक प्रचलन है कि प्रायः प्रत्येक गांव में 'रामानंद और रामनंदन नामों वाले अनेक व्यक्ति मिलते हैं। 'राम' या राम से सम्बन्धित नाम वाले व्यक्तियों की भी अधिकता है। इन बातों से प्रकट होता है कि उक्त क्षेत्र पर परम्परा से स्वामी रामानन्द का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

तुलसीदास के जीवन चरित पर विचार करने से विदित होता है कि उनका जन्म ऐसे प्रदेश में हुआ था, जहां भगवान राम की उपासना का व्यापक प्रचार था क्योंकि वे वाल्यावस्था से ही 'राम-नाम' की रट लगाने के कारण 'रामबोला' कहलाने लगे थे। वाल्यावस्था में क्षेत्रीय लोगों को रामनाम का जप करते देखकर ही उनके मनमें राम-नाम का महत्व प्रतिष्ठित हुआ होगा और राम के नाम जप की आदत पड़ी होगी। यह भी विचारणीय है कि जिस प्रदेश में

१—श्री रामानन्दीय चतुर्भुजी सम्प्रदाय के वैरागी अपना सम्बन्ध तुलसीदास जी से जोड़ते हैं। 'चतुर्भुजी' नाम पड़ने का कारण यह है कि किसी स्थान पर (शायद मुड़िया रामपुर जो अयोध्या से १२-१३ कोस पश्चिम कहीं है) कोई महात्मा साधुओं की पंगति (पंक्ति) में प्रसाद परोस रहे थे। इसी बीच में उनकी लंगोटी खुलकर लटकने लगी, जिसपर पंगति में बैठे किसी साधु ने व्यंग्य किया। व्यंग्य सुनते ही उक्त महात्मा चतुर्भुज बन गए और उन्होंने दो खाली हाथों से लंगोटी कस ली। तबसे उक्त परम्परा के लोग चतुर्भुजी नाम से विख्यात हुए। इनका तिलक अंग्रेजी 'यू' के आकार का सिंहासन युक्त श्वेत होता है, उसके मध्य में श्री (आड़ी लकीर) या बिंदी (गोलाकार टीका) लगाते। रामानुज-सम्प्रदाय की तिंगल शाखा के लोग इसी तिलक का उपयोग करते हैं; इसलिए इसकी परम्परा दक्षिण से आई हुई और पुरानी है।

२—खैरनपुर, कुम्हैला, बहुआरा, हरपुर, भटकाई, माघर, सरसैया आदि।

उनकी बाल्यावस्था बीती थी, वहां के रामभक्त शिव, हनुमान दुर्गा आदि को भी महत्व देते थे और उनकी निष्ठा संकीर्ण न थी। ऐसा प्रदेश उक्त भोजपुरी क्षेत्र ही है, जिसके विषय में तुलसीदास की जन्मभूमि होने की सम्भावना की जा सकती है।

तुलसीदास ने अपने विषय में जो अभिव्यक्तियां की हैं, उससे पकट होता है कि उनका भक्त ऐसे प्रदेश में हुआ था, जहां पुरोहिती और याचना को निंद्य-वृत्ति मानने वाले ब्राह्मणों की प्रधानता थी जैसा कि उनकी 'नाथ पुरोहिती कर्म अति मदा' जगजांचिय कोउ न आदि उक्तियों से ज्ञात होता है, परन्तु इस प्रकार के ब्राह्मणों की प्रधानता न तो राजापुर (बांदा ' के आसपास है, न अवध में और न सोरों (एटा) के निकटवर्त्ती क्षेत्र में ही, किन्तु कथित भोजपुरी क्षेत्र में अप्रतिग्राही ब्राह्मणों की प्रधानता और बाहुल्य दोनों ही है।

रामानन्दी संप्रदाय में जो धार्मिक सहिष्णुता और उदारता पाई जाती है तथा जिसकी स्थापना तुलसीदास ने अपनी रचनाओं द्वारा की है, उस प्रकार की सहिष्णुता और उदारता का दर्शन अवध, सोरों तथा चित्रकूट के पार्श्ववर्ती ब्राह्मण-समाज में कदापि नहीं किया जा सकता, वरंच रामानन्द और तुलसीदास की स्थापनाओं के विपरीत उनमें धार्मिक असहिष्णुता एवं छुआछूत संबंधी संकीर्णता ही अधिक मिलती है परन्तु बलिया, सारन, शाहाबाद और गाजीपुर में ब्राह्मण समाज पर उक्त स्थापनाओं का असर नहीं दिखाई देता है। एक यह आधार भी तुलसी को उक्त भूमि का निवासी होना सिद्ध करता है।

स्वामी रामानन्द और कबीर के संवाद में जो 'ज्ञान-तिलक' के नाम से उपलब्ध हैं, 'प्रधान' का उपयोग मन्त्री के लिए और 'महता' का उपयोग सामंत के लिए हुआ है, यथा—

'कौन सो नगरी कौन अस्थान। कौन लोग बसें परधान॥
को है राजा को है महता। कहो पुरुष नगरी की बाता॥ ३॥
'सुनो सिधा काया नगरी हृदय अस्थान।
पांच लोग बसें मन राजा पौन प्रधान॥ ७॥
'काया नगरी हृदय असथाना। मन राजा, पौन प्रधाना॥'

—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं पृ० १२, १३, ३२

मुसलमानों का शासन दृढ़ होने के पूर्व तक पूर्वीय-प्रदेश में गहरवार राजा शासन करते थे, जिनकी राजधानी गाजीपुर जिले के कठौत (गौसपुर) नामक स्थान पर थी। इन राजाओं के मंत्री 'प्रधान' कहलाते थे। आज भी उक्त वंश के लोग प्रधान कहलाते हैं और आरा-गाजीपुर जिलों के विभिन्न गांवों में निवास करते हैं।

श्री स्वामी जी के समय में 'आरा-बलिया' के पूर्वी भाग में ब्राह्मण का शासन था, जो 'महता' कहलाते थे। इस वंश की अन्तिम शासक के नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मणी थी। महतिन के राज्य पर उन्हीं के चन्द्रज्योति देव ने मुसलमान शासकों से मिलकर षड्यंत्र पूर्वक अधिकार लिया। अधिकारच्युत महतिन ने चिता में प्रवेश किया और उनके वंश के झारखंड की ओर चले गए, जो 'महथा' उपाधि से प्रसिद्ध हैं। इनका शांडिल्य है। इस वंश परंपरा के जो लोग अपने स्थान ही पर रह गए थे हरशंकर देव और शिवशंकर देव दो भाई नैनीजोर (आरा) में रहते थे। ज्योति देव के वंशज राजा चन्द्र देव ने उनसे नामांत का राजसूचक देव त्याग करने के लिए कहा। हरशंकर देव ने तो उनकी अधीनता स्वीकार ली और अन्य शांडिल्य ब्राह्मणों की भांति तिवारी उपाधि अपना ली,[1] शिवशंकर देव गंगा के उत्तर पार चले गए और किसी कारण सिकन्दर लोदी आज्ञा से बन्दी बना लिए गए। कुछ काल बाद सिकन्दर ने इन्हें कारामुक्त सिकन्दरपुर (बलिया) के पूर्व ओर कुछ गांवों की जागीर दी जो घाघरा के दोनों पार फैली थी। इन्हीं शिवशंकर देव के पौत्र झोंटू कुँवर थे, जिनके नेवारी (सारन) में हैं। सम्भवतः ये ही स्वामी रामानन्द के शिष्य के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा ये ही गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरहरिदास थे।

'प्रधान' और 'महता' शब्द का प्रयोग करने से स्वामी रामानन्द का आरा के आसपास का निवासी होना प्रकट होता है क्योंकि प्रयाग आदि आसपास प्रधान या महता अस्पद युक्त किसी वंश परम्परा का पता चलता।

भोजपुरी में एक कहावत है—

'गाँव के जोगी जोगड़ा आन गांव के सिद्ध।'

जैसे 'जोगी' से 'जोगड़ा' शब्द बना है, वैसे ही 'संयोगी' से सजोगड़ा संजोगड़ा' शब्द भोजपुरी में और विशेषकर गाजीपुर-बलिया-सारन में प्रचलित है, जिसका अर्थ होता है—गया बीता तथा सामाजिक स्तर से मनुष्य।

---

[1]—इस वंश परंपरा के भी सबल सिंह तिवारी हल्दी के राजा से विरोध के कारण दक्षिण में चले गए। काशीपुर (छोटानागपुर) के राजा ने शेरघाटी ([illegible]) नामक ग्राम दिया, [illegible] लाए। इस वंश परंपरा के लोग [illegible] निवास करते हैं तथा प्रतिष्ठित और सम्पन्न हैं।

स्वामी रामानन्द ने अयोध्या और उसके आसपास के जिन मुसलमानों को रामावत (वैष्णव) सम्प्रदाय में दीक्षित किया था, वे 'संयोगी कहलाते थे।'[१] संयोगी से बने हुए 'संजोगड़ा' शब्द का केवल भोजपुरी प्रदेश (बलिया-गाजीपुर) में ही अधिक प्रचार होने से यह झलक मिलती है कि स्वामी रामानन्द के धार्मिक आन्दोलन और गतिविधियों का केन्द्र भोजपुरी प्रदेश था तथा वे इसी क्षेत्र के निवासी थे।

भावना

भोजपुरी भावना और विचारों की छाप तुलसीदास की रचनाओं में प्रायः सब कहीं पाई जाती है और अनेक स्थलों पर भोजपुरी लोक गीतों की छाया अथवा छायाभास देखा जा सकता है। कतिपय उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :—

(क) 'रामहि राम रटन करु जिभिया रे।
गोड़वा कहेला हम तीरथ करवों, हथवा कहेला करब हम दान।
अँखिया कहेले हम दरसन करबि, कनवा कहेला हम सुनव पुरान॥
(लोक गीत)

राम कहत चलु राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिंत परिहै भव बेगार में छूटत अति कठिनाई रे॥वि० प०

और— 'रसना तू राम राम क्यों न रटत'—वि० प०

(ख) भोजपुरी लोक गीत में मंदोदरी रावण से कहती है—
'हम लोकनी पिय बनी ना कँहरवा, सिय के अजोधा चहुंपाईं।
आजु पवन नाहीं अँगना बहारें मेघ भरें नाहीं पानी।
आजु सरसुती धान न कूटें... ... ...आदि।'

इसी प्रकार तुलसी की मंदोदरी भी रावण से कहती है —
'दे दे सिया को पिया तू सिया न तेरे काम की है'—गी०

और— 'तासु नारि निज सचिव बुलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥
तव कुल-कमल विपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥
रा० ५।३५

भोजपुरी गीत में रावण के आतंक और ऐश्वर्य का जो चित्र है उसे तुलसीदास के कथन में भी देखा जा सकता है, यथा—

---

[१] —रामानन्द के प्रभाव से। अनेक म्लेच्छों (मुसलमानों) ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया। इन्हें संयोगी कहा जाता था और ये अयोध्या के समीप बस गए थे।
श्री डा० राधाकमल मुकर्जी—भारत की संस्कृति और कला पृ० २८७

"वेद पढ़ै बिधि, संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं।
दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहितें सिर नावैं॥ क० उ०

(ग) भोजपुरी प्रदेश में सवेरे उठने पर घड़ी रात रहते प्रभाती गाने बहुत प्रचलन है। तुलसीदास ने भी इस प्रकार की रचनाएँ की हैं, यथा—

'भइल भिनुसार धरम के बेरा, जागीं ए गौरा लोढ़ीं फुलवारी ललना।'
और— 'जागीं ए सिव-संकर सबेरे उठीं !—लोक गीत
'जागिए कृपा निधान पंछी बन बोले'—गीतावली

(घ) भोजपुरी प्रदेश में गंगाजी सभी मनोरथों की पूर्ण करने वाली मा जाती हैं। उन्हें पियरी चढ़ाई जाती है और गंगा जी के गीत गाए जाते है तुलसीदास ने भी प्रसंगानुसार इस भाव को व्यक्त कराया है, यथा—

'सिय सुर-सरिहिं कहेउ कर जोरी। नाथ मनोरथ पुरवबि मोरी'
—रा० अ० १०
'गंगाजी के ऊँची अररिया तिरियवा एक रोवेले'— लोकगीत

(ङ) एक भोजपुरी गीतकार भक्त भगवान के निमित्त उपयुक्त उपकर नहीं मिलने से चिंतित हो उठा है यथा—

'का हरि पाईं में तोहिं चढ़ाईं ?
गइया के दूध वछरू जुठि आवल···· ··· ··· आदि।'

ऐसी ही विवशता तुलसीदास जी द्वारा भी व्यक्त की गई है, यथा—

'जो पटतरिय तीय महँ सीया। तो अस जुवति कहाँ कमनीया।।"
और— 'बारि तिहारि निहारि मुरारि भए परसे पद पाय लहौंगो।
ईस ह्वै सीस धरौं पै डरौं प्रभु की समता बड़े दोष दहौंगे॥
क० उ० १४७

(च) शिव स्तुति (भोजपुरी) :—

'अपने भिखारी बन पतई चबाईले। आनके देबे के धन कहां से ले आइले।'
शिव स्तुति (तुलसी कृत)— 'ते संपदा समेत श्रीनिकेत जाचकनि,
भवनु विभूति भांग वृषभ बहनु है॥
क० उ० १६०

(छ) एक भोजपुरी लोक गीत के अनुसार जनकपुर में श्री रामचन्द्र जी ने वंश-प्रशंसक भाट, शुभ शकुन के निमित्त कलश लेकर खड़ी हुई 'चेरिया' और शांति-पाठ करने वाले ब्राह्मण से सीता जी के रूप के विषय में जिज्ञासा की और सबने एक स्वर से यही उत्तर दिया—

'सीता का जोतिए चनरमा छपित भइले, मानिक बरेला लिलार।'

सीता के प्रति ऐसी ही उक्ति तुलसी के राम की भी है यथा—

'सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक ॥ रा० बा० २३७'

(ज) भोजपुरी प्रदेश में 'कूटि' कहने का विशेष प्रचलन रहा है। यहां तक कि पहले के पत्रों में भी 'कूटि' लिखे जाते थे और बातचीत में भी कूटि का व्यवहार किया जाता था। भोजपुरी प्रदेश के कवि मलिक मुहम्मद जायसी और कबीर ने भी कूटि के प्रयोग किए हैं और इनके अनुकरण पर 'सूर' ने भी किया है किन्तु यह भोजपुरी प्रदेश की एक विशेषता है जो वहां सामान्य व्यवहार में भी प्रचलित है। एक ग्राहक बाजार में 'उर्द' खरीदने गया। उसने बनिये से पूछा—

'साम बरन' मुख उज्जर कइसे ?' अर्थात् उर्द किस भाव से दोगे ?

बनिए ने उत्तर दिया—'रावन संग मंदोदरि जइसे।' अर्थात् एक रुपये का ग्यारह सेर '

ग्राहक ने कहा—'हनुमान पिता करि देहु' अर्थात् 'पछोर कर दो।'

बनिये ने कहा—'तव राम पिता करि लेहु' अर्थात् 'तब दस सेर का लो।'

यह स्थानीय विशेषता चमत्कार के फेर में न पड़ने वाले तुलसीदास की रचनाओं में भी आ ही गई है यथा—

'तुलसी तेहि औसर लावनिता दस चारि नौ तीन इकीस सबै।
मति भारति पंगु भई जो निहारि विचारि फिरी उपमान पवै॥'
क० बा० ७

(झ) भोजपुरी लोक कथा के अनुसार श्री सीताजी का हरण हो जाने पर श्री रामचन्द्र जी ने वन के पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और मनुष्यों से भी सीता के विषय में पूछा था। उन्होंने पौधे से पूछा— तूने मेरी सीता को देखा है ? उसने कुछ उत्तर न दिया। इस पर श्री रामचन्द्र जी ने कहा—तुझे किसी के कष्ट की चिंता नहीं है अतः तू काँटों भरी झाड़ी हो जायेगा। आगे उन्होंने तालाब में क्रीड़ा करते हुए चकवे से पूछा—क्या तूने मेरी विरहिणी सीता को देखा है ? उसने कहा—मैं तो 'चकवी' के साथ आनन्द मना रहा हूं, मुझे सीता का क्या पता। यह सुनकर श्री रामचन्द्र जी ने कहा—'जिस सुख का साथ होने से तूने दुःखी लोगों के प्रति सहानुभूति खो दी, वह सुख तुससे छिन जायगा और तू रात में सदा चकवी से अलग रहेगा।' यह कहकर वे आगे बढ़ गए और कपड़ा धोने वाले धोबी को देखकर वही प्रश्न किया जो दूसरों से किया था। धोबी राम से बातचीत करने को अपने काम में बाधक समझ कर झुंझलाकर बोला—'ना जानी सीता ना जानी मीता, हमरा त लागल बा पेटवे के चींता' अर्थात् मैं आपको 'सीता-मीता' को क्या जानूं'। मुझे तो पेट पालनार्थ अपने धन्धे की चिन्ता लगी है।' श्री रामचन्द्र जी ने उसके इस उत्तर को सुनकर कहा—'तुझे

कभी बैठने का अवसर नहीं मिलेगा और तू पानी में रहकर भी प्यास से रहेगा।' वे आगे बढ़ गए। उन्हें एक बेर का वृक्ष मिला। बेर ने भगवान् सीता का पता दिया और वे पुष्प दिखाए जिन्हें रावण द्वारा परवश पड़ी सीता को छिपाने के प्रयत्न में उसके कांटों से छेद रखा था। श्री राम जी उसके इस उत्तम व्यवहार को देख सन्तुष्ट हुए और उसे आशीर्वाद दिया 'तू मरु-भूमि में भी हरी-भरी और छायादार रहकर फल-फूल से लदी रहेगी।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी श्री रामचन्द्र जी द्वारा सीता के सम्बन्ध पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों से पुछवाया है यथा—

'लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु-पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी॥

रा० अर०

भोजपुरी प्रांत में बहुधा गुरु, गौ और जनेऊ की शपथ लेने का प्रचलन इनके प्रति सम्मान की भावना पाई जाती है और गौ-ब्राह्मण को कष्ट घोर पाप माना जाता है। गोस्वामी जी की रचनाओं में भी यह भाव भावना यत्र-तत्र व्यक्त हुई है यथा—

'विप्र धेनु हित संकट सहहीं (रा० अयो० १२१)
जनु मारेसि गुरु बाभन गाई (वही १४७)

वहां की स्त्रियां प्रायः कौवे से प्रवासी के आगमन के सम्बन्ध में कराती हैं जिसे 'सगुन उचारना' कहते हैं। इस लोक-रीति का दर्शन वहां लोक-गीतों में भी होता है। एक प्रवस्यत्पतिका कौवे से कह रही है—

'काग हे तोहें पाग देबों, सोनवें मढ़बों तोहार ठोर हो।'

एक दूसरी का कथन भी सुन लीजिए, वह कहती है :—

'हमरा महले पर कररेला काग।
दूध भात दोनवां में तोहें देबों कगवा सइयां जो आइ जइहें आजु।

कौवे द्वारा सगुन करने की प्रथा का उल्लेख गोस्वामी जी ने भी है और ठीक उन्हीं शब्दों में और वैसे ही ढंग से जिनका उपयोग भोजपुरी गीतों में हुआ है, यथा—

१—कुंजन वन ढूढ़त राम अकेले
हम तोंसे पूछीले वन के चकउया रामा,
कहीं देखलः मोरी सीता अकेली।'
हम नाहीं देखलों राम राउरि सीता,
हमरा त लागल बाटे पेटवे के चिंता,
कुंजन वन ढूंढ़त राम अकेले।' आदि

'बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग फुरि बाता॥
दूध भात की दोनी देहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम लखन उर लैहौं॥

गी० अ०

भोजपुरी प्रदेश में प्रातः काल लोग सूम (कंजूस) का नाम नहीं लेते। सूम का नाम लेने से उस दिन दिनभर कष्ट और असफलता मिलने की संभावना की जाती है। गोस्वामी जी कहते हैं—

'तुलसी किए कुसंग थिति, होहिं दाहिने बाम।
कहि सुनि सकुचिय सूम खल-गत हरिसंकर नाम॥

दो० ३६१

भोजपुरी प्रदेश में काशीफल को कोंहड़ा (कुम्हड़ा) और उसके बतिया को जौ के आकार से मिलता-जुलता होने के कारण 'जई' कहते हैं। इधर प्रसिद्ध है कि कुम्हड़े की जई को उँगली दिखाने से वह मर जाता है। तुलसीदास जी इस लोक प्रसिद्धि से अभिज्ञ थे, जैसा कि वे कहते हैं—'कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है' और 'इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जो तर्जनी देखि मरि जाहीं॥

भोजपुरी प्रदेश की एक मान्यता यह है कि कछुआ अपने अंडे बालू में ढक कर कहीं भी चला जाता है किन्तु उसका ध्यान सदैव अंडों की ओर रहता है, जिससे उनका पोषण होता है! तुलसीदास जी कहते हैं :—

'कुटिल करम लै जाय मोंहि जहँ तहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाड़िए कमठ अंड की नाई॥ वि० १०३

गोस्वामी जी का एक दोहा है—

अपनो ऐपन निजहथा तिय पूजहिं निज भीति।
फरइ सकल मनकामना, तुलसी प्रीति-प्रतीति॥ दो० ४५४

यह चाल प्रायः भोजपुरी-प्रदेश में ही (बनारस से सारन तक) पाई जाती है कि स्त्रियां शीतलाष्टमी और शिशुओं की छठी आदि के अवसर पर ऐपन (हल्दी और चावल के आटे का घोल) से दाहिने हाथ द्वारा दीवार पर सात छाप लगाकर देवी (सप्तमातृका) की पूजा करती हैं। यह पूजा स्त्रियों द्वारा ही संपन्न की जाती है, जहां छोटे बच्चों के अतिरिक्त क्योंकि वे अपनी माताओं के साथ लगे ही रहते हैं, किशोर बालक और वयस्क पुरुष नहीं होते। इसलिए पूजा की उक्त विधि को गोस्वामी जी ने नियट-बाल्यावस्था में ही देखा होगा, जिससे प्रकट है कि उनकी जन्मभूमि भोजपुरी प्रदेश में ही कहीं थी।

गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में देवताओं की स्तुति का जो क्रम रखा है,

ध्यान देने योग्य है। इसमें सर्व मथम गणेश की स्तुति को गई है, ततु सूर्य, शिव, देवी और गंगा की। किसी भी शुभ कार्य में सर्व प्रथम ग को पूजा और स्तुति करनेका ता नियम हो है किन्तु उसके बाद हो सूर्य की गई, ऐसा क्यों ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि श्री रामचन्द्र वंश परम्परा सूर्यवंशी थी, इसलिए, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की परम्परा तो वंशी और इक्ष्वाकु वशो भी थी एवं स्वयंसूर्य का जन्म कश्यप से हुआ था जिनके पिता मरीचि या ब्रह्मा थे, फिर इन लोगां की स्तुति क्यों न की यदि यह कहा जाय कि सूर्य हो विश्व के नियन्ता और उद्भावक हैं, तथा गणना पञ्चदेवों में है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सूर्य का समावेश शि विष्णु में हो जाने स, क्योंकि सूर्य शिव की आंख और विष्णु के प्रतीक उनको कोई विशेष पृथक् सत्ता नहीं रह जातो। पञ्चदेवों में कभी गणना होती है और कभो उनके स्थान पर ब्रह्मा की होती है। इस दृष्टि का स्थान पंचदेवों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भो नहीं है, परन्तु एक बात है, में सूर्यदेव को भूमिहार और शाक द्वीपो ब्राह्मणों के प्रभाव से हो या जैसे महत्वपूर्ण स्थान कहा है। यहां प्रतिवर्ष प्रायः प्रत्येक परिवार में कार्ति षष्ठी-सप्तमी को सूर्यदेवता की पूजा बड़े समारोह से की जातो है, जो छठ से प्रसिद्ध है। कुछ लोग चैत्र की छठ भो मनाते हैं। श्रावण शुक्ल सप्त पूजा भीं कदाचित सूर्य को हीं पूजा है और उक्त प्रांत में प्रायः लोग निय रविवार व्रत करते हैं। मुगल काल में इधर इतने हो सूर्यव्रती जमीदार ब्राह्मण थे[1], जो सूर्य का दर्शन पूजन किए बिना अन्न जल नहीं ग्रहण करते आगे बताया गया है कि तुलसोदास भो जमोनदार ब्राह्मण वंश के ही थे, अस्तु तुलसीदास द्वारा सर्वप्रथम सूर्य की स्तुति किया जाना, स्थानीय वंशगत प्रभाव सूचित करता है। सम्भव है उनके जन्म स्थान का 'हां कभो हंस (सूर्य) देवता का ही स्थान रहा हो। भगवान शिव और दे उनके गाँव-घर के देवता थे एवं गंगा तट पर जन्म भूमि ही थी,

---

१—दे०—अध्याय ५ में 'शत्रु' प्रकरण।

२—उत्तर मुगल काल के सेनापति सेनीराम सिकन्दर पुर (बलिया निकट ऐनीपुर (डोहपड़ा है) में रहते थे। ये सूर्यव्रती थे। 'सूर्य शतक' (हिन्दी) की रचना की है। कहते हैं कि युद्ध इनका कबन्ध भी लड़ता रहा। ये बड़े उदार और दानीं थे। उल्लेख कामूसुल मशाहीर (उर्दू) में हुआ है। इनके पुत्र भी सूर्यव्रती थे। इनके वंशज डुमरहर (जिला सारन) में हैं।

यहाँ तक की स्तुतियाँ कुलाचार और देशाचार के अनुसार तथा जन्म भूमि के सम्बन्ध से हैं।

बलिया, छपरा, आरा आदि जिलों में किसी भी शुभ अवसर पर सर्वप्रथम स्थानीय देवताओं को ही आमंत्रित किया जाता है। गंगा और सरयू तट के निवासी सर्व प्रथम इन देवियों को भी आमंत्रित करते हैं।[1] आधुनिकता की झोंक में भले कहीं यह परिपाटी मिटसी गई हो, फिर भी अनेक परम्परा वादी कुलों में इसके दर्शन होंगे। तीर्थ-यात्रा और यज्ञादि के अवसर पर भी सर्व प्रथम स्थानीय देवी-देवताओं को पूजित और आमंत्रित किया जाता है। गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' की रचना का नियोजन 'भक्ति-याग के रूप में किया था, अतः उस मंगल कार्य की सफलता के लिए स्थानीय देवी-देवताओं की सर्व प्रथम बंदना की और इसके बाद उन स्थानों के देवताओं का भी स्मरण किया, जहाँ-जहाँ उन्होंने क्रमशः कुछ काल के लिए स्थायी रूप से निवास किया था, यथा—राजापुर (बाँदा) में निवास करने के कारण यमुना, का, तत्पश्चात् काशी रूप कामधेनु का,[2] इसमें पंचकोसी के समस्त तीर्थों और देवी-देवताओं की स्तुति हो गई है तथा इसके बाद चित्रकूट की स्तुति की गई है।

चित्रकूट के बाद अयोध्या की बारी आती है। इसी में श्री सरयू नदी का भी समावेश हो जाता है। सर्व प्रथम श्री हनुमान जी का स्मरण किया गया है क्योंकि वे सदैव 'सीता रमण' के साथ 'राम-राजधानी' में निवास करते हैं, एवं श्री राम चन्द्र जी स्वयं उनके हृदय में निवास करते हैं।[3] दूसरी बात यह है कि यदि श्री रामचन्द्र जी तुलसी दास की सम्पूर्ण आशा अभिलाषा के आधार या मूर्त रूप हैं तो श्री हनुमान जी उनको वहां तक पहुंचाने के प्रधान साधन हैं। उन्हीं की कृपा से तुलसीदास को श्री रामचन्द्र जी का दर्शन हुआ और अनेक संकट दूर हुए। इसलिए अंत में पुनः एक बार वे श्री हनुमान जी के स्मरण की पीठिका पर कारण से कार्य तक की याद कर जाते हैं यथा—

१—हरदी का लिखलें ब्रह्मा जी नेवता पठाईलें देइ घालीं सिव जी का हाथ।
रउरे भरोसे शंकर जो जगि एक ठानीले रउरें लगाईं बेरा पार॥
इसके बाद क्रमशः अन्य देव-देवियों और ग्राम्य देवों को निवेदित किया जाता है।
इस प्रकार के निमंत्रण पत्र नदी की धारा में या किसी जलाशय में डाल दिए जाते हैं॥

२—सेइए सहित सनेह देह धरि कामधेनु कलि कासी।' बि० २२

३—दासतुलसी त्रास शमन सीता रमण संग शोभित राम राजधानी'—वि० २५.
और 'हृदय बिराजत अवध बिहारी —बि० ३६

'मंगल मूरति मारुत नंदन। सकल अमंगल मूल निकंदन ॥
पवन तनय संतन हितकारी। हृदय विराजत अवध विहारी ॥
मातु-पिता गुरु गनपति सारद। सिवा समेत संभु सुक, नारद ॥
चरन बंदि बिनवों सब काहू। देहु राम पद नेह निबाहू ॥
बंदौ राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम: सनेही ॥वि० ३६

इन पांच पदों की पुष्पांजलि में जो ध्यान देने की बात है वह यह है कि इसमें मारुत नंदन हनुमान को 'अमंगल मूल-निकंदन' और 'मंगल मूरति' कहकर स्मरण किया गया है क्योंकि कवि के 'अमंगल' को 'मंगल' में परिणित करने वाले तो यही थे। यहां 'माता-पिता' के पूर्व इनका स्थान होने से इस बात का संकेत मिलता है कि संभवतः श्री हनुमान जी की पूजा गोस्वामी जी की परम्परा में कुलदेवता के रूप में होती थी, इसलिए कुलदेवता की यादकर वे माता पिता की, जिन्होंने जन्म दिया, गुरु की जिन्होंने मार्ग दिखाया, गणपति सारद की जिन्होंने वाणी दी, 'सिवा समेत संभु' को जिन्होंने राम कथा का प्रचार किया और 'सुक-नारद को जिनसे भक्ति की प्रेरणा मिली, बंदना की है और तब श्री 'राम-लखन-बैदेही' की सेवा में पहुंचते हैं, जिनका प्रसाद अभीष्ट है तथा जिनके लिए 'विनय-पत्रिका' का आयोजन किया जा रहा है। श्री लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न भगवान् के चतुर्व्यूह के अंतर्गत हैं।[४] आदि शक्ति सीता तो अर्द्धांगिनी ही हैं अतः इनकी बंदना के बाद ही विशुद्ध सच्चिदानंद घन राम की बंदना की गई है तथा उस पर उनकी 'सही' कराई गई है।

विनय के क्रम पर विचार करने से विदित होता है कि गोस्वामी जी की जन्म भूमि न राजापुर (बांदा), न काशी, न चित्रकूट और न अयोध्या में थी, वरंच कहीं अन्यत्र गंगातट पर थी, जहां सूर्य देवता की पूजा का प्रचलन था तथा निकट में भगवान शंकर और देवी के स्थान थे एवं श्री हनुमान जी उनके कुल पूज्य थे।

भोजपुरी प्रदेश में विशेषकर बलिया के पूर्वीय भाग में हनुमान जी की लाल ध्वजा घरघर फहराती रहती है। श्री हनुमान जी की पूजा का सभी वर्गों में विशेष प्रचार है। यहां दुःख और संकट से निवृत्ति तथा सुख-सम्पत्ति की संप्राप्ति, दोनों ही दशाओं में श्री हनुमान जी को प्रसाद चढ़ाया जाता है। श्री हनुमान जी के प्रति अनन्य निष्ठा भोजपुरी-प्रदेश की स्थानीय-विशेषता बन गई है। अतः हनुमान जी के प्रति तुलसीदास की जो निष्ठा दृष्टिगोचर होती है, उसे

---

[४] 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लिहउँ दिनकर बंस उदारा'
—रा० बा० १८

तिनके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई

ानीय विशेषता भी समझना चाहिए और कुल परम्परा से भी। शाहाबाद, ारन, बलिया, गाजीपुर आदि जिलों में (विशेषकर भूमिहार-ब्राह्मणों के यहां ौर अन्य जातियों में भी) परम्परा से हनुमान जी की पूजा का प्रचलन है। घर आंगन में श्री हनुमान जी का एक स्थान होता है। श्री हनुमान जी के लिए तिवर्ष श्रावण-शुक्ल में किसी मंगलवार को नवीन ध्वजारोपण किया जाता और प्रसाद चढ़ाया जाता है। अखाड़ों और व्यायाम शालाओं पर भी महाबीरी ण्डा लगाते हैं और स्थान-स्थान पर महाबीरी झण्डे के मेले भी लगते हैं।

इस पूजा का सम्बन्ध इनकी उस पुरानी परम्परा से है जिसका वर्णन स्कंद राण, ब्रह्मखंड के धर्मारण्य महात्म्य में आया है यथा—

अदृष्ट रूपी हनुमांस्तत्र भ्रमति नित्यश:
त्रैविद्या वाडवा यत्र चातुर्विद्यास्तथैव च ॥ ४० ।५२

श्री रामचन्द्र जी की कृपा और श्री हनुमान जी द्वारा रक्षित होने से उक्त श के ब्राह्मण और उनके सेवक किसी भी देश में बसने पर निर्धन नहीं होते। था—"यत्र कुत्र स्थिता विप्राः शूद्रा वा नृप सत्तम।
न निर्धना भवेयुस्ते प्रसादात् राघवस्य च ॥ ४०।५८

इन भूमिहार ब्राह्मणों के कारण भोजपुरी प्रदेश में सभी लोग हनुमान जी ी पूजा कुलदेवता की भांति करते हैं। तुलसीदास को भी हनुमत्कृपा का साद इन्हीं विशेषताओं के कारण प्राप्त हुआ और उन्होंने हनुमत्पूजा का प्रचार-सार भी इन्हीं विशेषताओं के कारण किया। जैसा कि पं० विश्वनाथ साद मिश्र कहते हैं—

"हनुमान की पूजा का प्रसार जैसा वर्त्तमान रूप में मिलता है, वैसा पहले था। उसको व्यवस्थित करने वाले थे तुलसीदास। इनके साथ-साथ अखाड़ों ी व्यवस्था और धार्मिक आवरण में रामदल की या महाबीरदल की विस्तृत राजनीतिक योजना उन्हीं को सूझ थी। उन्हीं की सूझ समर्थ गुरु रामदास ने क्षिण में अपनाई। प्रत्येक गांव में 'मारुति-मंदिर' की स्थापना और कीर्त्तन आदि की योजना।"[1]

आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय ने 'यमुना' और 'चित्रकूट' की स्तुतियों को ो विनय पत्रिका के क्रम के बाहर माना है, वह उक्त तथ्य की ओर दृष्टि न जाने के कारण ही। वे कहते हैं—

"परन्तु बोच में एकाध पद जो इधर उधर के आ गए हैं, वे चिंत्य हैं। जैसे यमुना[2] सम्बन्धी यह पद लीजिए—'जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न'—वि० २१

१—गोसाईं तुलसीदास पृ० ३०७

२—यमुना संबंधो पद के प्रसंग में अ० ४ में विचार किया गया है।

इसका विनय-पत्रिका से क्या सम्बन्ध है ? यमराज के नाते भी को विशेष नहीं कहा जा सकता। यही दशा 'सब सोच-विमोचन' चित्रकूट की है। चित्रकूट की यहाँ कोई वार्ता नहीं। 'अब चित चेति चित्रकुटहि चलु' की ओर भी विचित्र स्थिति है। अवश्य ही ये पद कभी स्वतंत्र रचे गए थे किसी ने विनय-पत्रिका के प्रसंग को न समझकर इनको विनय पत्रिका में स्थान दे दिया। ये वर्त्तमान विनय पत्रिका के भीतर तो अवश्य हैं किन्तु इ इस पत्रिका का अंग मानना ठीक नहीं (तुलसीदास पृ० ६८-६९)

तुलसी के मत से सभी देवी-देवता राम की ही सत्ता से सत्तावान हैं राम के ही अंग हैं। अंगों को समेट कर ही पूर्ण की प्राप्ति की जा सकती विनयपत्रिका एक सुनियोजित पत्रिका है। इसमें कहीं भी क्रमभंग दिखाई देता, जैसा कि ऊपर देखा गया है। श्री पांडेय जी विनय पत्रिका के पद उद्धृत कर कहते हैं कि 'इसमें जिस आधिभौतिक बाधा का उल्लेख किया है, इसको कुछ लोग शैवों का प्रकोप बतलाते हैं किंतु ऐसे पदों का भी विन पत्रिका से सीधा सम्बन्ध गोचर नहीं होता।[1] किन्तु विचार करने पर इ की भी संगति मिल जाती है क्योंकि विनय-पत्रिका का नियोजन करते समय आधिभौतिक बाधाएँ मार्ग-विरोधक बन रही थीं, उनको दूर करने के भगवान शंकर से प्रार्थना करना असंगत नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार का पद २४ भी है, जिसमें कहा गया है :—

'अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु'

किन्तु इसी पद की अगली पंक्तियों से इस सन्देह की निवृत्ति हो जाती कि कवि का उद्देश्य चित्रकूट जाना मात्र नहीं है, वरंच वह चि के प्रभाव से राम को अपनी ओर आकर्षित कर उनका स्नेह प्राप्त करना चाह है, जिससे उसकी पत्रिका पर सही हो सके, यथा—

'राम नाम जप जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु।
करिहैं राम भावतो मन कौ, सुख साधन अनयास महाफलु॥४
कामद-मनि कामता कलपतरु सो जुग-जुग जागत जगती तलु।
तुलसी तोंहि विसेषि बूझिए, एक प्रतीति प्रीति एकै बलु॥ ६

बड़ों के पास सिफारिश पहुंचाने के लिए कहाँ नहीं जाना पड़ता! जाकर कहीं काम होता है, यह सर्वविदित है। चित्रकूट में तो 'कामता पर सदा श्री रामचन्द्र जी का निवास ही माना जाता है, अस्तु चि की प्रशस्ति किए बिना और वहां गए बिना काम कैसे बनता ?

---

[1] १—तुलसीदास (का० ना० प्र० सभा) पृ० ६९

यह भी विचार करने की बात है कि गोस्वामी जी जैसा मर्यादावादी सुव्यवस्थित मस्तिष्क का मनीषी कवि एक क्रमबद्ध कृति में अनमेल पदों का योग कर उसे क्रमहीन तथा दूषित क्यों करता? यह दूसरी बात है कि विनय के सभी पद एक साथ नहीं रचे गए। इनकी रचना समय-समय पर लम्बी अवधि के भीतर हुई किन्तु संग्रह तो क्रम-पूर्वक सुव्यवस्थित ढंग से किया गया। क्रम भंग होने का आरोप उक्त संग्रह पर नहीं किया जा सकता। अवश्य गोस्वामी जी ने अनमेल पड़ने वाली रचनाओं को संशोधित कर लिया होगा।

कवि और कलाकारों की क्रमहीन लगती हुई बातों में भी एक क्रम होता है। तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में रामकथा का जो तुलनात्मक महत्व वर्णित किया है, उसमें भी क्रम है, यथा—

'संत-समाज पयोधि रमासी। विस्वभार भर अचल छमासी॥
जमगन मुँह मसि जग जमुनासी। जीवन मुकुति हेतु जनुकासी॥
रामहिं प्रिय पावनि तुलसीसी। तुलसिदास हित हिय हुलसीसी॥
सिव प्रिय मेकल सैल सुतासी। सकल सिद्धि सुख संपति रासी॥
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी। रघुबर भगति प्रेम परमिति सी॥
राम कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह वन, सिय रघुबीर बिहारु॥ रा० बा० ३१

इसमें पहले पयोधि का नाम लिया गया है, फिर उससे घिरी हुई पृथ्वी का, फिर पृथ्वी पर प्रवाहित यमुना का और तत्पश्चात् यमुना का विलय जिसमें हुआ है, उस गंगा के तटवर्ती काशी का नाम आया है।[1] इसके बाद ही तुलसी और हुलसी का नाम लिया गया है। यहाँ तुलसी श्लेष में है। काशी के बाद ही तुलसीदास को अपनी और अपनी माता को याद आ जाने से यह प्रकट होता है कि तुलसीदास की जन्मभूमि कहीं गंगा तट पर काशी के पूर्व ओर ही थी।

जन्मभूमि के साथ-साथ उन्हें शिव के सम्बन्ध से मेकलसुता नर्मदा का

---

[1] —यहाँ एक दूसरा क्रम यह है कि संत-समाज रूपी पयोधि की लहरों ने तुलसी को ऐसी भूमि पर डाल दिया, जहां उन्हें विश्व-भार का भरण करना पड़ा अर्थात् विवाह कर गृहस्थ बनना पड़ा। तत्पश्चात् उनकी स्त्री यमुना जी ने उन्हें ज्ञानोपदेश देकर यमगणों के मुँह पर कालिख पोत दी अर्थात् इन्हें उनके भय से मुक्त किया और वे जीवन-मुक्ति की अभिलाषा से काशी आ गए।

स्मरण होता है, जिसके तट पर उनके गुरु की साधना-भूमि थी।[1] यहां
ध्यान देवताओं की माता अदिति को ओर भी जाता है। यह भूमि
सिद्धियों की देने वाली, सद्गुणों को उत्पन्न करने वाली और श्री राम
प्रति प्रेमाभक्ति को पराकाष्ठा तक पहुंचाने वाली है। इसके बाद वे सीता
की विहार-भूमि चित्रकूट में पहुंच जाते हैं।[2]

इस क्रम पर विचार करने से यह झलकता है कि तुलसीदास की
के निकट किसी शिवपीठ की स्थिति थी। यदि उक्त शिवपीठ ब्रह्मपुर (आ
मानलिया जाय तो यहीं वह क्षेत्र है, जहां निवास कर इन्द्र ने अपना का
दूर किया था, जिससे इस भूभाग का नाम 'कारूष' पड़ा। इधर ही मे
मेखला की तलहटी में वह सिद्धाश्रम है, जहां कश्यप-अदिति ने और
पुत्र उपेन्द्र (वामन) ने तपस्या की थी तथा श्री राम-लक्ष्मण ने महर्षि विश्वा
के यज्ञ को पूरा कराया था। इसी क्षेत्र के आस-पास तुलसी को गुरु
राम कथा श्रवण कर 'रघुवर भगति प्रेम परमिति' की प्राप्ति हुई, अस्तु
'सूकरखेत' भी इधर ही कहीं है।

आचार-व्यवहार

रामचरित मानस आदि ग्रंथों के अनुशीलन से विदित होता है कि
जिस प्रकार के आचार-व्यवहार का वर्णन किया गया है, वे प्रायः भोज
प्रदेश के आचार-व्यवहार के अनुसार ही हैं। हास-परिहास, नातेदारों
भोजन काल में मनोरंजनार्थ गाली गाना, पंचकौर निकालना, नहछु, बरात
तैयारी, विवाहोत्सव, पुत्रोत्सव, भोज आदि की विधियां भी सब वैसी ही है
पहले बताया जा चुका है कि उन्होंने बरात में 'दही-चिउरा' और 'म
भेजने का उल्लेख[4] कर यह सिद्ध कर दिया है कि वे काशी या बगसर से

---

[1] विचारों का साहचर्य एक नियम है, जिससे एक विचार किसी विशेष सम्
के कारण दूसरे विचार से बंध जाता है। इस प्रकार परस्पर संबद्ध वि
साहचर्य के कारण एक दूसरे को जाग्रत करने की क्षमता रखते हैं।
—डा० यदुनाथ सिनहा—मनोविज्ञान (हिन्दी अनु०) पृ०

[2] साहचर्य के कारण जीवन की उत्तरकालीन घटनाओं के स्मरण के
जीवन की पूर्वकालीन घटनाओं का स्मरण स्वाभाविक है।

[3] पंचकौर करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे।। रा० बा०

[4] 'दधि चिउरा' उपहार अपारा। भरि भरि कांवरि चले कहारा॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन आने॥ रा०

के निवासी थे क्योंकि इस प्रकार का रिवाज इधर ही पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि 'दही चिउरा' खिलाने और वरात के लिए मछली भेजने का रिवाज 'मिथिला' में पाया जाता है। और गोस्वामी जी ने उसी के अनुसार उक्त विवरण दिया है क्योंकि वरात मिथिला में गई थी, किन्तु जव यह देखा जाता है कि गोस्वामी जीने अन्यत्र भी 'चिउरा' को सौगात के रूप में प्रस्तुत किया है तो स्वतः इस शंका का समाधान हो जाता है; यथा—

लै चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बालमिताई।'—विनय १६३

ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसी प्रसंग में कविवर नरोत्तमदास ने 'चिउरा' के स्थान पर चावर[1] तथा हलधर कवि ने 'वहुरी (जौ का भुना दाना) दिया है। इन तीन कवियों द्वारा किए गए ये विभिन्न प्रयोग उनकी स्थानीय आचार-भिन्नता के ही सूचक हैं। अस्तु बारात में 'दही चिउरा' भेजने के रिवाज को भी गोस्वामो जी की जन्म भूमि के रिवाज के साथ ही सम्बद्ध करना उचित है।

भोजपुरी-प्रदेश में कन्या पक्ष की ओर से बारातियों के पैर धुलाने की प्रथा 'धुरछक, नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ के शाक द्वीपी-ब्राह्मणों के यहां इस समय भी यह प्रथा है कि विवाहादि के अवसर पर अपनी विरादरी के वारातियों और सम्बन्धियों का पाद-प्रक्षालन स्वयं आतिथेय करता है। इस शिष्टाचार का पालन तुलसीदास ने श्री जनक जी से कराया है, यथा—

'सादर सबके पायं पखारे। जथा जोग पीढ़न बैठारे॥
धाए जनक अवधपति चरना। सील सनेह जाइ नहिं बरना॥
बहुरि राम पद-पंकज धोए। जे हर हृदय कमल महं गोए॥
तीनहु भाइ राम सम जानी। धोए चरन जनक निज पानी॥

रा० बा० २२८

इसी प्रकार मछली भेजने की बात का भी ले सकते हैं। पूर्वीय प्रदेश में मछली की सौगात देना और विवाहोत्सव में मत्स्य दर्शन शुभ माना जाता है। नीचे लिखे पद से स्पष्ट है कि तुलसीदास की जन्मभूमि ऐसे प्रदेश में थी, जहां बड़े लोग मनोरंजनार्थ वंशी द्वारा मछली का शिकार करते हैं, यथा—

'हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन धाम बिबुध दुर्लभ तन मोंहि कृपा करि दीन्हो॥
कोटिहु मुँह कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और मांगिहौं दीजे परम उदार।

१—यह सुनि के तब ब्राह्मनी गई परोसिन पास।
पाव सेर चावर लिए आई सहित हुलास॥ सुदामा चरित

विषय-बारि मनमीन भिन्न नहिं होत कबहुं पल एक।
तातें सहौं विपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि बनसी-पद-अंकुश परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥ वि० १०

और— 'खैंचहिं गीध आंत तट भए जनु, बंसी खेलहिं चितदये॥ रा० लं०

इस उत्प्रेक्षा के द्वारा तुलसीदास जी ने बंसी द्वारा मछलो मारने की वीभत्सता का चित्रांकन कर उसके त्याग की आर सकेत किया है। भोजपुरी प्रदेश में मत्स्य-मांस का अधिक आहार करने वालों को 'गीध' कहते भी हैं। उक्त प्रदेश में वंशी लगाने का विशेष रवाज है। इसो प्रकार बहेलिए लासा (गोंद) लगाकर चिड़ियों को पकड़ा करते हैं, जिसका वर्णन तुलसीदास ने किया है यथा—

'नाम लगि लोय लासा ललित वचन कहि,
ब्याध ज्यों विषय बिहंगनि बझावौं'—बि० २०८

बुंदेल खण्ड और पश्चिम के ब्राह्मणों में पर्दा प्रथा का प्राय: प्रचार नहीं है, परन्तु भोजपुरी प्रदेश और बिहार के कुलीन ब्राह्मणों में इसका विशेष प्रचार पाया जाता है, अस्तु तुलसीदास का निम्नांकित कथन उनका भोजपुरी या बिहारी ब्राह्मण होना प्रकट करता है :--

सीस उघारन किन कह्यो, बरजि रहे प्रिय लोग।
घरहीं सती कहावती, जरती नाह वियोग॥ दो०

भोजपुरी प्रदेश और बिहार में ही संबोधनार्थ 'बाबू' शब्द का व्यवहार होता रहा है। गोस्वामी जो ने भी 'बाबू' शब्द का व्यवहार साधुओं से कराया है यथा—'आयसु, आदेस, बाबू (क० उ० १४०)

भोजपुरी प्रदेश में स्त्रियां दिए को अंचल का हवा से ठंढा करती हैं और अंचल पसार कर आशीर्वाद लेती देती हैं। गोस्वामी जी ने उक्त प्रदेश के इस आचार का स्त्रियों से प्रत्येक अवसर पर पालन कराया है, यथा—

'अंचल बात बुझावहिं दीपा (रा० उ० ११८)
हिंडोल साज विलोकि सव अंचल पसारि-पसारि।
लागीं असीसन राम-सीतहिं सुख-समाज निहारि॥ गी० उ० १९

और—'अंतर्हित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥ रा० अ० ३५

इसी प्रकार—'सदा सुहागिन होहु तुम' और 'अचल होय अहिबात तुम्हारा' कहकर आशीर्वाद देने का ढंग भी भोजपुरी ही है,

बनारस प्रांत और बिहार-बंगाल में ब्रह्महत्या को घोर सामाजिक-अपराध

(पाप) माना जाता रहा है;[1] जैसा कि भोजपुरी प्रदेश की निम्नांकित कहतू से प्रकट है—

'किसी ने किसी से कहा—'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए।

दूसरे ने पूछा—यदि वह किसी के घर में पैठा हो या अस्त्र-शस्त्र लेकर मारने के लिए उद्यत हो, तब ?

पहले ने उत्तर दिया—अरे गँवार ! फिर उसे बचाओगे कहाँ ?

उक्त सामाजिक-भावना के आधार पर ही वहाँ के पुराने विधान के अनुसार ब्राह्मण को प्राणदंड नहीं दिया जाता था।[2]

यह विधान उक्त प्रदेश में अंग्रेजी काल के प्रारम्भ तक प्रचलित था। बुकानन ने लिखा है कि शाहाबाद जिले के एक बाभन (भू० ब्रा०) ने चेरो नामक एक अंग्रेज को मार डाला, किन्तु विधान के अनुसार उसे प्राणदंड न दिया जा सका। हेस्टिंग्ज पर एक यह भी दोषारोप किया गया था कि उसके कहने से महाराजा नंदकुमार को फांसी दी गई जो ब्राह्मण थे।

तुलसीदास जी की भावना पर भी भोजपुरी प्रदेश का उक्त प्रभाव परिलक्षित होता है, जैसा कि वे परशुराम जी के प्रति लक्ष्मण जी से कहलाते हैं—

'बधे पाप अपकीरति हारे। मारतहू पां परिय तुम्हारे॥

और श्री राम चन्द्र जी से भी कहलाया है—

शापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥
पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥ (रा० अर० ३४)

१—शास्त्रकारों ने शस्त्रलेकर मारने के लिए उद्यत और युद्ध में प्रवृत्त ब्राह्मण को मारने में दोष नहीं माना है।

२—भूमिहार लोग अपने आप और वंश परम्परा के जानने वालों द्वारा भी उन ब्राह्मणों में से माने जाते हैं जिन्होंने कृषक और जमींदार होने पर पुरोहिती छोड़ दी। जन साधारण की दृष्टि में बहुत अंशों में (क्योंकि साधारण जनता गुरु पुरोहित के प्रति विशेष रूप से पूज्य भाव रखती है) ये लोग अन्य ब्राह्मणों की भांति पवित्र माने जाते हैं और उन्हीं की भांति इन लोगों को भी बनारस प्रांत के पुराने कानून के अनुसार प्राण-दंड नहीं मिलता था। किन्तु ये लोग न तो अपने ही समाज के गुरु पुरोहित होते हैं और न अन्य हिन्दुओं के ही।"—श्री विलियम ओल्डहम, बी० सी० एस० एलएल० डी० (नार्थ वेस्टर्न-प्राविंस हिस्टोरिकल ऐंड स्टेटस्टिकल मेम्बार आफ दि गाजीपुर भाग १ पृ०४३)

किसी को शापित और ताड़ित करने की शक्ति ब्राह्मण के साथ ज
होने के कारण भोजपुरी प्रदेश और बिहार के भूमिहार ब्राह्मणों में हो
कि अवध, बुंदेलखंड और आगरा प्रांत के ब्राह्मणों में ? भूमिहार-ब्राह्म
युद्ध और राज-काज में लगे रहने के कारण ब्राह्मणोचित-शील से र
रहे थे, किन्तु फिर भी समाज में पूजित थे और उनकी अपेक्षा पंडित तथा गु
शूद्र का भी समाज में सम्मान कम था। यह बात अन्य प्रांतों के ब्राह्मणों
पूर्णतया लागू न हो सकती थी क्योंकि पुरोहित होने से ब्राह्मणोचित-
का पालन ही उनकी आजीविका का मुख्य साधन था। अस्तु तुलसीदा
उपर्युक्त विचार भोजपुरीप्रदेश और बिहार की मर्यादा के अनुसार वहाँ
मर्यादा रक्षा तथा वहां पर सामाजिक-विशृंखलता न उत्पन्न होने देने के
ही प्रकट किया गया है और इस प्रकार उनका उक्त प्रदेश से विशिष्ट स
सिद्ध होता है जो 'रामचरित मानस' की रचना काल से पहले का हो
है, जबकि तुलसीदास काशी और अयोध्या के स्थायी निवासी नहीं हु
'मानस' की रचना उन्होंने अपनी आयु के ३१ वें वर्ष में प्रारम्भ की
इसके पूर्व उनके जीवन के ५ वर्ष और उधर ही गृहस्थी संभालने में बीते,
भोजपुरी प्रदेश और विहार में उनके निवास की अवधि आयु के पन्द्रह
के पूर्व ही रही होगी क्योंकि गुरु के साथ कम से कम ५ वर्ष रहकर ही
में संलग्न हुए होंगे।

गोस्वामी जी ने श्री रामचरित मानस के 'कलि-वर्णन' में—

'जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा। सुपच किरात कोल कलवारा ॥'[1]

कहकर तेली और कुम्हार की वर्णाधम के अन्तर्गत गणना की है और
'स्वपच' की श्रेणी में ला बिठाया है, जबकि तेली और कुम्हार जाति
अनेक उपजातियों[2] के हाथ का जल और मिष्ठान्न चलता है तथा वे
प्रदेशों में निम्नकोटि की नहीं मानी जातीं।[3] पुराण और स्मृति ग्रंथों में कु

१—मद्य-मांस का सेवन, नीच व्यवसाय और हिंसावृत्ति के कारण ऊँची जा
का स्तर भी प्रायः नीचे गिर गया और उनके हाथ का जल ब्राह्म
जातियों के लिए अग्राह्य माना जाने लगा। 'कलवार' की गणना ऐ
जातियों में की जा सकती है।

२—इन जातियों के अनेक भेदोपभेद हैं जैसे—हिन्दू तेली—७४२, मु
तेली—२३९, हिन्दू कुम्हार—७७३, मुसलमान कुम्हार—२४, कलवार-
कोल—७८५ (छोटे लाल शर्मा—जातिअन्वेषण भाग १ पृ० ५६-

३—यह जाति (तेली) ऐसी घृणित व नीच नहीं है जैसी बिहार और
प्रदेश (उत्तर प्रदेश) में मानी जाती है। (वही पृ०

की उत्पत्ति[1] और प्रकृति[2] उत्तम मानी गई है; फिर तुलसीदास ने इन्हें 'वर्णाधम' क्यों कहा, यह विषय विचारणीय है।

यदि तुलसीदास जी की जन्मभूमि सोरों (एटा), तारी (बाँदा) राजापुर (बाँदा) अथवा अवध प्रांत में होती तो वे शायद ऐसा नहीं कहते क्योंकि सोरों राजस्थान के निकट है, जहां तेली और कुम्हार दोनों जातियों का सामाजिक-स्तर ऊँचा है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में तेली-जाति के उपवर्ग प्रायः उन्हीं नामों वाले हैं, जो राजपूत उपवर्गों के नाम हैं, जैसे—भदौरिया, चौहान, राठौर, राठो, जैसवार आदि।[3] कायस्थ जाति का एक उपवर्ग 'श्रीवास्तव' कहलाता है। तेली जाति के एक उपवर्ग का नाम भी 'श्रीवास्तव' है। इससे स्पष्ट है कि इधर के तेली उच्च-वर्गीय हैं। बुंदेलखण्ड और मध्य प्रदेश में कुम्हार तो नीच समझे जाते हैं, परन्तु उस प्रकार तेली नहीं। अवध प्रांत में बियाहुत, और जौनपुरी उपवर्ग के तेली निवास करते हैं। बियाहुत विधवा विवाह नहीं करते और उत्तम माने जाते हैं। जौनपुरी में मद्य-मांस का सेवन परंपरा से वर्जित रहा है। इसलिए इधर के तेली अपेक्षाकृत निम्नवर्ग के नहीं माने जाते, जैसा कि 'जाति-अन्वेषण' के लेखक पंडित छोटे लाल शर्मा लिखते हैं—"हमने अपने संगृहीत प्रमाणों के साथ-साथ इस जाति (तेली) का फैजाबाद में अन्वेषण किया और हमें प्रमाणित हुआ कि तेली जाति के हाथ की मिठाई खाने व जल पीने में कोई दोष नहीं है।[4]

इसके विपरीत भोजपुरी प्रदेश एवं छोटा नागपुर में इन जातियों का जल परंपरा से नहीं चलता रहा है। पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश में प्रायः कनौजिया तेली हैं। यहां पर तेली को 'ठोपकट' और कुम्हार को 'गरकट' कहते हैं। बिहार में कुम्हार का जातीय-स्तर तो अच्छा रहा है[5], परन्तु मगध के मगहिया

---

[1] —वैश्यायां विप्रतश्चौरा कुंभकारः सः उच्यते।
कुलाल वृत्त्या जीवेत्तु नापिता वा भवंत्यतः॥
(जाति भास्कर पृ० ३४५)

[2] —शिल्पिनः स्वर्णकारश्च दारुकः कांस्यकारकः।
लौह कृत्कुंभकारश्च प्रकृत्या उत्तमाश्च षट्॥
(स्कंद पुराण—चातुर्मास्य महात्म्य)

[3] —जा० अ० भाग १ पृ० ४०

[4] —वही पृ० ३९

[5] —बिहार में कुम्हार की उपाधि 'पंडित' है, जिससे इनका ब्राह्मण मूल अथवा ब्राह्मण की अनुलोम सन्तान होना प्रकट होता है। इनकी पंडित उपाधि के सम्बन्ध में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि एक राजा ने

तेली प्रायः मद्य-मांस का सेवन और मुर्गी-पालन के कारण निम्न स्तर के मा जाते रहे हैं।[१] मध्य-प्रदेश एवं छोटा नागपुर के कुम्हारों की भी यही स्थि है जैसाकि कुंभकार जाति के इतिहास से प्रकट है। वे गधा, मुर्गी आदि क पालन करते हैं।[२] भोजपुरी प्रदेश की सीमा मगध और मध्यप्रदेश से मि हुई है अतः उक्त प्रदेशों की मान्यता का परम्परागत प्रभाव भोजपुरी प्रदेश प भी पड़ा और वहां उत्तम वर्ग के तेली-कुम्हार भी हीन श्रेणी के माने जा लगे। इन बातों पर विचार करने से तुलसीदास जी का पूर्वीय भोजपुरी प्रदे में काफी समय तक निवास करने की बात प्रकट होती है और वह भी बाल्यावस्था में क्योंकि बाल्यावस्था में ही सामाजिक मान्यताओं की छाप उनके मन में स्थायी रूप से पड़ी होगी।

किसी ब्राह्मण से पूछा कि—'पंडित जी! सूर्य उत्तरायण हुए य नहीं।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'महाराज! पंचांग देखकर आपके प्रश्न का उत्तर दूंगा।' किन्तु वहीं खड़े एक अनुभवी कुम्हार ने राजा से निवेदन किया—अन्नदाता! सूर्य को उतरायण हुए ए पख बीत गए। मैंने बर्तन सुखाते समय छाया देखकर यह अनुभ किया है।' पंचांग देखने पर कुम्हार की बात सत्य सिद्ध हुई। अस्तु राज ने उसे पण्डित कहकर संबोधित किया और तब से वहां सभी कुम्हारों की उपाधि 'पण्डित' हो गई। किन्तु यह जनश्रुति उसी प्रकार गढ़ ली गई प्रतीत होती है, जैसा कि अन्य बहुत सी जनश्रुतियां गढ़ ली गई हैं और गढ़ ली जाती हैं।

[१] १—उत्तर बिहार में मुसलमान तेली हैं जो हीनकोटि के माने जाते औ 'तुर्क तेली' कहलाते हैं। हिन्दू तेलियों में 'मझोस' उपवर्ग के तेली अधिक हैं। मझोस का अर्थ है कुछ हल्के या छोटे स्तर का।

[२] २—ज्ञात होता है कि इधर के कुम्हार अपने गन्दे आचार-व्यवहार के कारण मध्ययुग में भी अस्पृश्य माने जाते थे और गांव के बाह निवास करते थे जैसा कि राजा भोज के निम्नांकित कथन से ध्वनि निकलती है :—

'प्रियो मेयो भवेन्मूर्खः सपुराद्बहिरस्तु मे।
कुंभकारोऽपि यो विद्वान स तिष्ठतु पुरे मम ॥

(साहसांक चरित

नाई और कुम्हार की उत्पत्ति समान रूप से मानी गई है (दे०—टिप्पणी इसलिए तुलसीदास जी द्वारा राजापुर (बाँदा) में इन जातियों के बसने प रोक लगाए जाने का कारण उक्त मध्य-युगीन मान्यता भी हो सकती है।

भोजपुरी प्रदेश के गांवों में प्रायः यह नियम रहा है कि लोग रात में स्थान-पर बैठकर इतिहास पुराण और कथावार्ता सुनते थे तथा आधीरात के बाद ही सोने के लिए जाते थे। इसी परिपाटी का पालन गांव के गण्य-मान्य एवं बड़े-बड़े लोगों के यहाँ तो अवश्य ही किया जाता था। इसी परिपाटी के अनुसार तुलसीदास जी भी कहते हैं :—

'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी।
मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥ रा० बा०

वहाँ पुत्री के घर और गांव का भी अन्न-जल ग्रहण करना उचित नहीं माना जाता। तुलसीदास जी ने इसका निर्वाह जनक जी द्वारा चित्रकूट में कराया है तथा जनकपुर के दूत ने अयोध्या में दशरथ जी द्वारा दी गई निछावर न लेकर उसी धर्म का पालन किया है (दे०—रा० मा० १/२९३, २/२७८ अधिक अधीनता प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि मैं आपके जूतेतर का हूं। तुलसी ने भी कहलवाया है :—'मोरे सरन राम की पनहीं। इस प्रदेश में प्रायः बड़ों के पैर छूकर प्रणाम करने की परिपाटी है। लोग श्रद्धेय पुरुषों की चरण रज सिर और आंखों पर भी लगाते हैं।[1] यह अतिशय श्रद्धा और सम्मान का सूचक व्यवहार है। स्त्रियां बड़ों के चरणों पर अंचल रोपती हैं। प्रायः देवा-देवताओं के यहां भी इसी नियम का पालन किया जाता है। गोस्वामी जी ने भी इस परिपाटी का पालन कराया है यथा—

क—'चरन रेख रज आखिन लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
रा० अ० १९९

ख—'लखनहिं भेंटि प्रनाम करि सिर धरि सिय पग धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि सकल सुमंगल मूरि॥ रा० अ० ३१८

ग—'बहुबिधि कीन्ह गाधि सुत पूजा। नाथ मोहिं सम धन्य न दूजा॥
कीन्ह प्रसंसा भूपति भूरी रानिन सहित लीन्ह पगधूरी॥ रा० बा० ३५२

घ—'करि मज्जन पूजहिं नरनारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥
रमारमन पद बन्दि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥
रा० अ० २७३

ङ—'जनक गहे कौशिक पद जाई। चरन रेनु सिर नैननि लाई॥
रा० बा० ३४३

---

[1] —कहा जाता है कि मगहिया तेली और छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश के कुम्हार अभक्ष्य-भक्षण और मुर्गी पालन करते थे। इधर के कुम्हार आज भी गदहा, सुअर आदि पालते हैं एवं अपने अन्य वर्गीय भाइयों से भिन्न हैं।

भोजपुरी प्रदेश के गोड़ और कहार जाति के लोकनृत्य और गीतों की अपनी विशेषता है, जिसे 'गोंड़ऊ नाच' तथा 'गोड़ऊ गीत' कहते हैं। ये गीत 'हुरका' बजाकर गाए जाते हैं। गाने बजाने वाले बहुधा स्वांग, विचित्र भाव-भूमि और कथन द्वारा लोगों को हँसाने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए ये नृत्यगीत बहुधा लड़कों और युवकों को अधिक रुचिकर होते हैं। गोस्वामी जी द्वारा 'गोड़ऊ-शैली' में पद-रचना करना तथा उसमें भोजपुरी शब्दों और प्रयोगों की अधिकता इस बात का सूचक है[1] कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था भोजपुरी प्रदेश में व्यतीत हुई थी।

उक्त प्रदेश में कहीं-कहीं लोग होली के दिन मनोरंजनार्थ विलक्षण शोभायात्रा निकालते हैं। इस शोभायात्रा में मनचले लड़के और युवक मुंह पर कालिख और चूना पोतकर, शरीर को विचित्र प्रकार से चित्रित कर अथवा विचित्र वस्त्र धारण कर तथा गदहे पर सवार होकर निकलते हैं। इनकी भावभंगि और वेश-भूषा देखकर ही लोगों को हंसी आती है। जलूस में बहुधा लड़के ही रहते हैं। गोस्वामीजी ने चित्रकूट में ऋतुराज की होली का रूपक उपस्थित करते हुए उक्त दृश्य का भी चित्रण किया है यथा—

'पीठि चढ़ाइ सिसुन कपि कूदत डारहिं डार।
जनु मुंह लाइ गेरु-मसि भए खरनि असवार ॥ गी० अयो० ४७

अस्तु इस प्रकार गोस्वामी जी के भोजपुरी प्रदेश में जन्म लेने की सम्भावना की पुष्टि होती है।

इसी प्रसंग में निम्नांकित दोहा भी द्रष्टव्य है—

'बचन कहे अभिमान के पारथ पेखत सेतु।
प्रभुतिय लूटत नीच भर, जय न मीचु तेहि हेतु ॥ दो० ४४०

भर जाति का केंद्र भोजपुरी प्रदेश ही है, इसके बाहर वे नाम मात्र पाए जाते हैं मुसल्मानी काल में ये अधिकारच्युत भर बहुधा लूटमार करते और अराजकता फैलाते थे।[2] शाहाबाद के ब्रह्मपुर क्षेत्र की भी यही स्थिति थी, जिसके विषय में यह कहावत प्रसिद्ध हो गई—'तसलवा तोर कि मोर' अर्थात् भोजन बनाने की बटुलोई तेरी है या मेरी? यह कह कर उचक्के यात्रियों के भोजन

१—वि० प० १८९

२—भर की व्युत्पत्ति भार शिवि से भी की जाती है। भारशिवों ने दूसरी शती विक्रमी में कुशाणों को देश से बाहर कर अपने वैदिक धर्म का विस्तार किया था। इन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किए और लगभग २०० वर्षों तक भारत पर शासन किया। ये लोग शिव के उपासक थे। गाय और गंगा आदि तीर्थों को महत्व देते थे एवं गणतांत्रिक पद्धति से शासन करते थे।

पात्र भी छीन लेते थे।[1] अतः उचक्के के प्रतीक-स्वरूप 'भर' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी का भोजपुरी होना सिद्ध करता है। उपर्युक्त दोहे का मिलान नीचे लिखी भोजपुरी लोकोक्ति से किया जा सकता है—

'भर विलार, सदा होसियार।
लूटि परी, तहाँ टूटि परीं॥
मारि परी, तहाँ भागि चली॥'

अर्थात् भर और विडाल सदैव धूर्त हैं। जहाँ लूटने की स्थिति होती है, वहां टूट पड़ते हैं, परन्तु जहां मार-झगड़े का भय होता है, वहां से भाग जाते हैं।

गदहे, घोड़े, खच्चर और ऊँट पर बोझ लादने का प्रचलन तो सर्वत्र ही है, परन्तु बैल लादने का विशेष प्रचार भोजपुरी प्रदेश में रहा है। गोस्वामी जी ने भी इसका विवरण दिया है यथा—'बेसर ऊँट वृषभ बहुजाती।
चले वस्तु भरि अगनित भांती॥ रा० बा० ३००

गोस्वामी जी ने श्री रामचन्द्र जी के नाम के साथ 'राय' और 'साहि' आस्पद का उपयोग किया है।[2] इन दोनों अधिकार और प्रतिष्ठा सूचक आस्पदों का उपयोग न सोरों, न अयोध्या और न चित्रकूट के ही आस-पास प्रचलित हैं, वरंच काशी के पूर्वक उच्चवंश के जमींदार-परम्परा के लोगों में प्रचलित हैं तथा मुगलकाल में भी प्रचलित था। अकबर के राज्यकाल में कल्यानपुर (सारन) राज्य के अधिपति महाराज क्षेमकरन साही थे। इन्हीं की परम्परा में वर्त्तमान हथुआ (बिहार) और तमकुही (देवरिया, उ० प्र०) के ब्राह्मण राजवंश हैं। आज भी इस वंश परम्परा के लोग अनेक गांवों में 'साही' उपाधिधारी हैं। देवपुरा, गभिरार, पटेढ़ा (जि० सारन) के एकसरिया ब्राह्मण 'साही' कहलाते हैं। मुगलकाल में इनके पूर्वज राजा प्रेमनारायण साही थे। अकबर ने

---

[1] —ज्ञात होता है, आरा (अरण्य) के बनो भूमि होने के कारण प्राचीनकाल में भी यहां उचक्के निवास करते थे क्योंकि महाभारत में कारूष (आरा जिला) के राजा को 'पटच्चर-निहंता' कहा गया है यथा—

'पटच्चर निहंता च कारूषाधिपतिस्तथा'—म० आ० १८५।१६

[2] —'चेरो 'राम राय' को सुजस सुनि तेरो हर!
पायँ तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं।' क० उ० १६६

'कहौं हनुमान सों, सुजान 'राम राय' सों
कृपानिधान शंकर सावधान सुनिए'—ह० बा० ४४

'साहेब सुजान जिन स्वानु हू को पच्छ कियो,
राम बोला नाम हौं गुलाम 'राम साहि' को-क० उ० ०

राजा राजसिंह साहि को युद्ध में बन्दी बनाकर अपना मित्र बनाया था। चकवार वंश के ब्राह्मण राजा थे[1] कतिपय क्षत्रिय वंश के लोग भी साही

'राय' आस्पद अधिकांश उन ब्राह्मण वंश-परम्पराओं के साथ संबद्ध है, गाजीपुर, बलिया, देवरिया, आजमगढ़ और आरा जिला के कुछ भागों निवास करते हैं। मुगलकाल में बीरपुर (गाजीपुर) के राजा भोर राय वार ब्राह्मण थे। इनके पुत्र अंगद राय किसी कारण से मुसल्मान हो गए इनका नाम मलिक दहीरुद्दीन पड़ा। उस समय पूर्वीय प्रदेश के सामंत राजा रईस प्रायः 'राय' उपाधि धारण करते थे। स्वामी रामानन्द ने अपनी रचनाओं में 'धर्मराज'

भोजपुरीप्रदेश के लोग प्रायः 'जय' और 'जिअ' कहकर आशीर्वाद करते हैं। इस प्रकार का आशीर्वाद केवल ब्राह्मण और अपने से बड़े लोगों द्वारा ही नहीं वरंच जातिस्तर में छोटे लोग भी दिया करते हैं। शुभाकां की यह पद्धति और प्रयुक्त शब्दावली भोजपुरी प्रदेश की अपनी है, जिस प्रयोग तुलसीदास ने किया है जैसा कि कैकेयी के महल में विवर्ण पड़े दशरथ जी के यहाँ पहुंचने पर सुमंत्त जी के व्यवहार से प्रकट है तथा जिस प्रयोग जनक जी के समक्ष उनके सचिवों ने किया है यथा—

'कहि 'जय-जीअ' बैठ सिरनाई। देखि भूप गति गयउ सुखाई।
रा० अयो०

और—'भलेहिनाथ, कहि सचिव बोलाए। कहि 'जय-जीअ' सीस तिन्ह नाए।
रा० बा०

यदि भोजपुरी पद्धति के अनुसार उक्त चौपाइयों के अर्थ पर विचार किया जाय तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता। प्रायः टीकाकारों ने 'जय-जीअ' 'जयजीव' समझने की जो भूल की है, उसका कारण उनका शुभाकांक्षा करने की उपर्युक्त भोजपुरी आचार-प्रणाली से अनभिज्ञ होना है।

भोजपुरी प्रदेश में जब किसी विशिष्ट पुरुष को बैठाना होगा तो कहेंगे- बइठल जाय (बैठा जय); सामान्य बड़ों के लिए—'बईठीं (बैठिए); बराबर अथवा साधारण छोटों के लिए—'बइठ (बैठो) और विशेष छोटों के लिए- बइठु (बैठ)। भाषा के के व्यवहार में इस प्रकार का अंतर करना भोजपुरी प्रदेश की अपनी विशेषता है।

भोजपुरी प्रदेश के लोग अपनी शालीनता, नम्रता एवं विनयशील स्वभा के साथ-साथ स्वाभिमान, साहस, असहनशीलता, और वाक्पटुता के लि

---

[1]—चकवार चरित पृ० ९–१३, ८५–८९

भी प्रसिद्ध हैं। इसी से समाज के उत्तम, मध्यम और अधम लोगों के साथ उनकी बातचीत तथा व्यवहार में अंतर दिखाई देता है।

तुलसीदास जी द्वारा प्रस्तुत किए गए संवादों में स्पष्ट रूप से भोजपुरी प्रकृति की उपयुक्त विशेषता देखी जा सकती है। लोग यह आरोप करते हैं कि तुलसीदास जी ने रावण की सभा में जिस प्रकार हनुमान जी और अंगद जी से व्यवहार तथा संवाद कराया है, वह राज सभा के अनुरूप नहीं है। ऐसी ही बात परशुराम-लक्ष्मण संवाद में भी खटकती है। जिस तुलसीदास ने अयोध्या और चित्रकूट की आदर्श-शिष्टता, उच्चकोटि के विनय पूर्ण व्यवहार एवं संवादों की स्थापना की है, उनसे लंका में पहुंचकर भूल हो गई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह अंतर भोजपुरी प्रदेश के स्वभाव सिद्ध व्यवहार को प्रकट करता है।

पुत्र जन्म होने पर सारन, बलिया, देवरिया (पूर्वीय भाग) शाहाबाद (बलिया का निकटवर्ती भाग) में बधावा बजाने वालों को बुलाया नहीं जाता, वरंच वे स्वय उक्त समाचार सुनकर अपने मालिक (जमीदार) के यहां बधावा लेकर जाते हैं। कहीं-कहीं तो प्रतिदिन दोनों समय १२ दिनों तक जब तक जन्मोत्सव की सम्पूर्ण विधि पूरी नहीं हो जातीं, बधावा बजाने की परिपाटी है, किन्तु इसके विपरीत अन्य स्थानों पर जब बधावा बजाने वालों को बुलाया जाता है, तब वे बधावा बजाने जाते हैं। अवध की इसी परिपाटी के अनुसार तुलसी दास जी ने राम जन्म होने पर श्री दशरथ जी द्वारा बाजा बजाने वालों को बुलवाया है, यथा—

'दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुं ब्रह्मानंद समाना॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बुलाइ बजावहु बाजा॥
रा० बा० १९३

किन्तु अपने जन्म-काल के विवरण में उन्होंने बधावा बजाने वालों का समाचार सुनकर स्वयं जाना लिखा है, यथा—

'जायो, कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि'—क० उ०

जिससे ज्ञात होता है कि तुलसीदास का जन्म भोजपुरी-प्रदेश के उपयुक्त भाग में ही कहीं हुआ था एवं वे प्रतिष्ठित जमीदार वंश में उत्पन्न हुए थे। इस कथन से उनके राजापुर, सोरों, काशी और अयोध्या में जन्म लेने का स्वत: खंडन हो जाता है क्योंकि इन सभी स्थानों पर पुत्रोत्सव के समय बाजा बजाने वाले बिना बुलाए किसी के यहां नहीं जाते वरंच किसी को आवश्यकता हुई तो वह उन्हें बुलवाता है।

वाराणसी से पूरब दूसरे दिन बारात रखने को 'मरजाद रखना' तथा पश्चिम

में 'बड़हार रखना' कहते हैं। पूरब में बड़े लोगों के यहां एक-एक महीने 'मरजाद रखने' का रवाज रहा है। लड़की वाले बारात को अपने यहां औ दिनों तक रोक रखने में अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं। गोस्वामी जी ने जनक में श्री रामचन्द्र जी की बारात का अधिक दिनों तक 'मरजाद' रखवाया जिससे उनका वाराणसी से पूरब का होना सिद्ध होता है, पूर्वीय प्रदे विवाहोपरांत वरुण पूजा की विधि होती है। इसका शास्त्रीय नाम चतुर्थी है परन्तु पूरब में इसे 'कंकन छोड़ना' और पश्चिम में 'बनवार' या 'मौर सेरवा कहते हैं। गोस्वामी जी ने उक्त अवसर पर 'कंकन छोड़ने' का ही वर्णन कि है 'मौर सेरवाने' का नहीं, यथा—

'सुदिन सोधि कल कंगन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे॥ रा० बा० ३६

भोजपुरी में 'काछने' का अर्थ नृत्य के निमित्त कच्छा बांधकर वेष-वि करना होता है। उक्त प्रदेश में बड़े लोगों की बारात की अगवानी के 'बारी' कमर में एक ऐसी पेटी बांधते हैं, जिसमें बहुत सी छोटी-छोटी घं बंधी रहती हैं तथा हाथ में छड़ी लेकर कत्थकों से मिलती-जुलती वेष-भूषा नाचते और अपनी छड़ी के सहारे पंक्ति सीधी रखते हैं। इस कार्य के उन्हें पुरस्कार मिलता है, जिसे 'घंटी कछाई' का नेग कहते हैं। गोस्वामी उक्त प्रदेश के इस रीति-रवाज से परिचित थे, जैसा कि श्री बाल्मीकि जी कहलाते हैं—

'जस काछिय तस चाहिय नाचा'—रा० २।१२७

उन्होंने बारात में भेंट भेजने और 'वगमेल' चलकर मिलने की जिस का वर्णन किया है, वह भी बिहार और भोजपुरी प्रदेश के रीति-रवाज के अनुसार है।

पहले कहा जा चुका है कि 'रामलला नहछू' विशुद्ध भोजपुरी में इसकी भाषा प्रायः केंद्रवर्त्ती (बलिया की) है, यथा——

"घर-घर फिरेले नउनियां त गोतिनी बोलावे।
हमरा राम लला कर नहछू सखिन सब आवें॥
सोने के कलसा ऊपर बरे मानिक दीप हे।
मचिया बैठली कोसिलारानी उठे लाग गीत हे॥
× × ×
केकर पोखरा खनावल घाट बँधावल हे।
केकर भरेला कँहार त केहि नहवायब हे॥
राजा दसरथ पोखरा खनावल घाट बंधावल हे।
कोसिला के भरिहें कहार त प्रभु कि नहवाइब हे॥
× × ×

के दिहल चुटुकी मुँदरिया त के दिहल रूप हे।
के दिहल रतन पदारथ भरि गयउ सूप हे॥
केकई दिहली चुटुकी मुँदरिया सुमित्रा दिहली रूप हे।
कोसिला दिहली रतन पदारथ भरि गयउ सूप हे॥

× × ×

काहें रामजी सांवर लक्षिमन गोर हे।
कादहुँ रानी कोसिला परिगा भोर हे॥

उपर्युक्त गीत सं० १६६५ वि० की प्रति के अनुसार है, जिसकी पुष्पिका निम्नांकित प्रकार है।

"ऐती श्री पोथी रामजी का नहछु ···· ···· ··· ···· दसखत कीसोरदास वासींदा गआ जी प्रगना सोनउत संवत् १६६५ साल मितो माघ सुदी पंचमी दीन सामार समाप्त।"

(दे०—डा० माता प्रसाद गुप्त कृत तुलसीदास पृ० २०४)

भोजपुरी प्रदेश में वर यात्रा के अवसर पर 'नहछू' का रवाज है। इस अवसर पर नाइन वर के नाखुन काटती और नहलाती है एवं उसके पैरों में महावर लगाती है। तत्पश्चात् अन्य पौनी शृंगार प्रसाधन कराते हैं, जैसे दर्जी, सोनार, माला आदि। उपस्थित स्त्रियां सूप में निछावर डालती हैं। जिसे नाइन लेती है। दूसरे पौनी भी निछावर पाते हैं किन्तु प्रधानता नाइन की ही रहती है। इस समय नहछू के गीत गाए जाते हैं। स्त्रियां परस्पर हास-परिहास करतीं और गालियां गाती हैं। पौनी यथारुचि निछावर मांगते हैं, यथा—

"जे सब दिहल रानी से सब थोर हे।
सामी चढ़न के घोड़ा देहु मोहिं पटोर हे॥

अस्तु स्पष्ट है कि भोजपुरी समाजके अनुसार ही तुलसीदास जी ने 'नहछू' की रचना की क्योंकि मातृभूमि के समाज और भाषा का प्रभाव मनुष्य पर पड़े विना नहीं रहता।

केवल 'नहछू' की भाषा ही भोजपुरी नहीं है, वरंच नहछू का विधि-विधान भी भोजपुरी है। उसमें श्री रामचन्द्र जी के अयोध्या में न रहते हुए भी जो विधियाँ पूरी कराई हैं, वे भोजपुरी प्रदेश के नियमानुसार हैं क्योंकि वहां किसी भी मंगल कार्य में मुख्य कार्यकर्त्ता के अनुपस्थित रहने पर उसका प्रतीक स्थापित कर सम्पूर्ण कार्य किया जाता है।

इस प्रकार 'नहछू' से जो बात व्यक्त होती है, वही बात 'गीतावली' और 'जानकी-मंगल' से भी व्यक्त होती है, यथा—

'गुरु आयसु मंडप रच्यो सब साज सजाई'—गी० बा० १०१

और—'गुनिगन बोलि कह्यो नृप माँड़व छावन।
गावहिं गीत सुवासिन बाज बधावन ॥ १२७ ॥
प्रथम हरदि वेदन करि मंगल गावहिं।
करि कुलरीति कलसथपि, तेल चढ़ावहिं ॥१२९॥

स्पष्ट है कि रामजी के अयोध्या में न रहने पर भी मंगल कार्य के मंडप छाया गया है और हल्दी-तेल चढ़ाने की विधि पूरी की गई है। तेल चढ़ाने की रीति भी सम्भवतः भोजपुरी है।

तिलक चढ़ जाने और विवाह का दिन निश्चित हो जाने पर उक्त पूर्व किसी विषम दिन में अर्थात् विवाह दिन से १, ३, ५ या ७ दिन प किए गए लड़के और लड़की पर हल्दी-तेल चढ़ाने की प्रथा है। मंडप में और कलश-स्थापित कर गौरी-गणेश नव ग्रहादि की पूजा की जाती है। पांच ब्राह्मणों द्वारा हल्दी तेल चढ़ाया जाता है। फिर स्त्रियाँ हल्दी-ते कहीं-कहीं उसमें आटा मिला कर उबटन लगातीं, वर या लड़की की चावल से भरकर चुमावन करती, लोटे के जल से अर्घ्य देती और आरती कर कोहबर में ले जाती हैं। इस प्रथा का भोजपुरी प्रदेश में अनि से पालन किया जाता है, जिसका तुलसीदास जी ने भी वर्णन किया है

'प्रथम हरदि वेदन करि मंगल गावहिं।
करि कुलरीति कलस थपि तेल चढ़ावहिं ॥ जा० मं० १२९

यों तो विवाह के जेवनार में बारातियों के विनोदार्थ गाली गाने अन्यत्र भी है, परन्तु भोजपुरी प्रदेश में उक्त अवसर पर स्त्रियां जिस प्र ग्योक्ति करती हैं, उस प्रकार अन्य स्थानों पर व्यंग्य नहीं करतीं। यह बा लिखे भोजपुरी गीत में देखी जा सकती है—

"पाख बरोबर भात खइले नाद बरोबर वारा जी।
जूठी पतलिया कांखीं जांति लिहले निहुरल निहुरल जाले जी ॥
कुकुरा का भके हम डंटा चलवलीं, ये ही नगर कइसे आयो जी।
एही नगर हमार बहिन हेरइली, खाजत खोजत हम आयो जी ॥"

(अर्थात् 'हे आगंतुक ! तुमने घर की पाख तक ढके हुए भात और भरे हुए बड़ों की ढेर को चटकर लिया फिर भी तुम्हारी संतुष्टि न हुई, जूठी पत्तल कांख में दबाए दुबक कर भागे जा रहे हो। तुम्हें इस प्रका चुपके भागते देख मुझे कुत्ते का भ्रम हुआ और मैंने डंडा मारा। भई! नगर में कैसे चले आए ?' उत्तर—"मेरी बहिन इस नगर में भूल गई है। को पता लगाता हुआ यहां आया हूं।"

तुलसीदास जी ने भी उक्त अवसर का वर्णन करते हुए लिखा है—"गारी मधुर स्वर देहिं सुन्दरि विंग बचन सुनावहीं"—रा० बा०

'रामलला-नहछू' में भी उन्होंने इस प्रकार की व्यंग्योक्ति कराई है—

यथा—"काहें रामजी सांवर लछुमन गोर हे।
की दौं कौसिलहिं परिगा भोर हे।।" रा० न०

भोजपुरी प्रदेश में मरणासन्न व्यक्ति के मुंह में तुलसीदल सोने का टुकड़ा और गंगाजल देने की प्रथा है। जिसकी अभिलाषा गोस्वामी जी ने भी अन्तिम समय में कीं थी, यथा—

"राम नाम जस बरनि के, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अबहीं तुलसी सौन।।"

कृषि और खान-पान

तुलसी कहते हैं—पाहो खेती, लगन बट, रिन कुव्याज, मग खेत।
बैर बड़े सों आपने किए, पांच दुख हेत।। दो० ४७८

पाही-खेती का प्रचलन गंगा-सरयू-संगम के सुदूर-विस्तृत दियारे में ही प्रचलित है और यह खेती कष्ट-प्रद भी है। गांवों से दूर पाही (खेती के स्थान) पर अनेक नदो नाले और दियारे का घना जंगल पार कर जाना पड़ता है।[1] यहां पर कास झाऊ आदि को साफकर खेतों की तैयारी का काम भी कठिन होता है। जंगली पशु नील गाय, हिरन आदि से सदा सावधान रहना और खेतों की रक्षा करनी पड़ती है। प्रायः भूमि बबूल और झाड़बेरी के काँटों से भरी होती है तथा अनूप देश (जलयुक्त आर्द्र भूमि) होने से विशेष कर नंगे पांव चलना पड़ता है। गर्मियों में छायादार वृक्षों का अभाव होने एवं रेतीली भूमि के तपने से राजस्थान की मरुभूमि का दृश्य उपस्थित हो जाता है। नदी तट से दूर के डेरावालों के लिए शुद्ध जल दुर्लभ हो जाता है। वर्षा ऋतु तो महा-कष्ट-प्रद होती है। मचान के चारों ओर जल ही जल, कभी भोजन मिला तो कभी एक-दो दिन निरन्न रहने की भी स्थिति आ जाती है। बाढ़ को स्थिति में सर्पादि कृमि मचान और छान पर आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, उनसे सावधान रहना पड़ता है। पाही की खेती करने वालों के कष्ट का प्रत्यक्षीकरण गोस्वामी जी का गंगा

---

[1] भोजपुरी कहावत है—

दुइ लंगोटा तीन गोड़। तब चलीं दियर की ओर।।

अर्थात् दियारे में जाने के लिए दो लंगोटे और एक लाठी (थाह लेने के लिए) साथ में होना आवश्यक है।

सरयू संगम के निकट का निवासी होना सिद्ध करता है । यदि यह कहा जाय यात्रा में उन्होंने उक्त कष्टप्रद-दृश्य का अवलोकन किया होगा, तो यह ठीक क्योंकि पाहो की खेती विशेषकर वर्षा ऋतु में ही कष्टप्रद होती है और वर्षा में साधु-सन्यासी एक स्थान में टिक कर रहते हैं, उनके लिए चातुर्मास्य वर्जित है। उस समय तो साधारण पथिक भी वर्षा ऋतु में यात्रा नहीं करते गोस्वामी जी के ही शब्दों में—'जहं तहं रहे पथिक थकि नाना (रा० कि०

बलिया के पूर्वीय भाग में दियारे की भूमि होने से बवूल के पेड़ों की कता है। बाँगर की ऊसर भूमि में भी बबूल और सिहोर के बन मिलते यत्रतत्र बहेरे के वृक्ष भी दिखाई देते हैं। ये तीनों प्रकार के वृक्ष अपने आप हैं और निकृष्ट कोटि के माने जाते हैं फिर भी भूमि को क्षरण से बचाने के इन वृक्षों की रक्षा की जाती है, परन्तु गंग-बरार होने के डर से बहुधा आ वृक्ष नहीं लगाए जाते। गोस्वामी जी ने उक्त दृश्य और जन भावना का खींचा है यथा—

'ववुर बहेरे के बनाइ बाग लाइयत' (क० उ० ८२)
'सठ रूंध न साखि सिहोरे' आदि ।

सरयू नदी के उत्तर पार सारन जिले में भांग अपने आप जंगल सा उप है। किसान अपने खेतों से इसे निराकर निकाल देते हैं। यत्रतत्र पड़ती भूमि और सड़कों के किनारे इसके पौधे कई फीट तक उपजते हैं तथा भड़ भूजे भाँड़ झोकने के काम में लाते हैं। बिहार में भाँग एक निरर्थक घास सम जाती है। इससे खेतों की फसल मारी जाती है और इसे पशु भी नहीं खाते इसलिए जब कोई पूर्वीय भोजपुरी प्रदेश की स्त्री किसी किसान को शाप देती तो कहती है—'तेरे खेत में भाँग उपजे।' 'भाँग खाये होना' एक भोजपु महावरा है, जिसका अभिप्राय है—'बुद्धि का बेठिंकाने होना।' इसी प्र 'भंगुआना' का अर्थ होता है—तंद्रित होना या नशे में होना। इस प्रकार भाँ छपरा–बलिया मंडल में एक अनुपयोगी और अनादृत वस्तु है, किन्तु तुलसी महिमा तो सर्वत्र ही प्रकट है, अस्तु तुलसीदास का यह कथन कि—

'सो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास। रा० १।२६

से ज्ञात होता है कि अवश्य उन्होंने स्थायी रूप से कुछ काल तक 'छपरा बलिया' मंडल में निवास किया था क्योंकि केवल दो चार दिनों की यात्रा जन भावना का सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करना कठिन है।

भोजपुरी प्रदेश में ईख की खेती विशेष रूप से होती है और उसे 'ईख' कहकर 'ऊख' कहते हैं। यह क्षेत्र 'सन' की उपज के लिए भी प्रसिद्ध है। यहाँ सन की रस्सी बटने और सुतली बनाने का व्यवसाय भी होता है। सन की

गांठ में पानी पड़ने से वह बहुत कस जाती है एवं उसका खुलना कठिन हो जाता है, इसलिए 'सन की गांठ में पानी देना' एक भोजपुरी महावरा बन गया है। ऊख की खेती प्रायः दियारे के निम्न धरातल की भूमि में होती है क्योंकि वहां तरी रहती है किन्तु इसके विपरीत वहां की ऊँची भूमि बहुधा बेकार होती है और वहां बल्मीकि आदि के बन जाने तथा झाड़बेरी आदि का जंगल होने से सर्पादि जीव निवास करते हैं। भोजपुरी प्रदेश विविध प्रकार की धान को पैदावार के लिए भी प्रसिद्ध है और धान को बखार में रखने का रवाज है। यहां कोदो की खेती भी होती है और दियारे में धान और कोदो के खेत बहुधा पास-पास होते हैं। उक्त क्षेत्र में चना और जौ की भी फसल होती है। इन फसलों के सम्वन्ध को कितनी ही लोकोक्तियां और महावरे भी प्रचलित हैं तुलसीदास ने उन लोकोक्तियों और महावरों का प्रयोग किया है, यथा—

(१) तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु धान।
अति ऊँचे भूधरन पर भुजगनि हा को थान ॥ दो०

(२) ऐसी हठ जैसी गांठ पानी परे सन की'—क० उ०

(३) आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है'—क० उ०

(४) मानत हौं चारिफल चारि ही चनक को'—क० उ०

(५) करइ कि कोदव बालि सुसाली'—रा० मा०

(६) सूखत धान परा जनु पानी—रा० मा०

(७) सुचि सुन्दर सालि सकेलि'—क० उ० १०३

(८) होइहि जव कर कीट अभागा'—रा० मा०

(९) विविध बिधान धान जरत बखारहीं—क० सु०

पहले बताया जा चुका है कि तुलसीदास ने खानपान संबन्धी जो विवरण दिए हैं, वे भोजपुरी प्रदेश के अनुसार हैं, जैसे—दही चिउरा, दाल भात, दही-भात, मत्स्य-मांस, सत्तू, साग, पीना (खली) कोदो का कन चना, संधान (अचार) पकवान और पुआ। सत्तू को भोजपुरी प्रदेश में 'सतुआ' कहते हैं। उसे मट्ठा अथवा जल से सानकर खाते एवं जल में घोलकर पीते हैं। तुलसीदास ने भी उसके खाने की यही बिधि बताई है, यथा—

'सोनित में सानि सानि गूदा खात सतुआ से.
एक प्रेत पियत बहोरि घोरि घोरि कै'—क० ल०

'चना चाटना' गरीबी का द्योतक है। साग खाना बलवर्द्धक नहीं माना जाता जैसा कि निम्नांकित लोकोक्ति से प्रकट है—

'मांस खइले मांस बढ़े, घी खइले बल होइ।
सागपात खइले पेट बढ़े कहांले बल होइ॥'

पीना (पोस्ते के दाने की खली) और कोदो का कन (टूटा चाव बहुत ही गरीब लोगों का भोजन है। तुलसीदास जी भी कहते हैं—

(१) देखे नर नारि कहैं साग खाइ जाए माइ
बाहु पीन पांवरनि पीना खाइ पोसे हैं—गी० बा०
(२) हुनी ललात कृसगात खात खरि मोद पाइ कोदो कनै—गी०

इस प्रकार तुलसीदास ने भोजपुरी उपज और खानपान सम्बन्धी जो विवरण दिया है उससे उनकी भोजपुरी प्रदेश से बाल कालिक लगाव प्रकट है।

भाषा

तुलसीदास जो ने तत्कालीन परिपाटी के अनुसार अपनी रचनाओं माध्यम भी ब्रजी या अवधी रखा। उसमें सस्कृत शब्दावली का बाहुल्य है अपभ्रंश के रूप भी मिलते हैं किन्तु उसकी एक ध्यातव्य भाषा सम्ब विशेषता की ओर विद्वानों का ध्यान प्रायः नहीं गया है, वह है भोजपुरी-भा का प्रभाव। उनकी रचनाओं में भोजपुरी शब्द योजना के अतिरिक्त भोजपु उच्चारण पद्धति एवं विभक्तियों का प्रयोग भी सामान्य रूप से हुआ है जो ब्र और अवधी से सर्वथा भिन्न है।

(१) खड़ी बोली और ब्रजी के 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण क्रमशः अव में 'अइ' और 'अउ' एवं भोजपुरी में 'अय' और 'अव' होता है।[1] गोस्वामी ने प्रायः भोजपुरी प्रयोग को ही अपनाया है जैसे—नयन, मयन, मयना, क भवन, अवसर।

(२) प्रायः अकारांत स्त्रीलिंग शब्दों को 'इकारांत' तथा पुलिंग शब्दों 'उकारांत' करने की प्रबृत्ति भी भोजपुरी में पाई जाती है जैसा कि—ह (ब्रह्म), रामू, सामू, मंगरू, संवरू, पलकू, कौलू, बाति, राति, रहनि, चा आदि भोजपुरी नामों के प्रयोग में देखा जा सकता है। गोस्वामी जी की रचना में भी यह विशेषता पाई जाती है यथा—रामु, बलु, कपारु, जीति, हारि, मा आदि।[2]

१—कहीं कहीं अपवाद भी होता है जैसे—नइया, बउराह

२—भोजपुरी की यह विशेषता (जो क्रमशः कम होती जा रही है) अपभ्रं की देन है जैसा कि डा० नामवरसिंह ने लिखा है—'अपभ्रंश की इ विशेषताओं में से उकारांत प्रबृत्ति की बहुलता भी एक है।'

अपभ्रंश को यह उत्तराधिकार प्राकृत से प्राप्त हुआ है क्योंकि प्राकृत ध पद, ललित-विस्तर और सद्धर्म-पुंडरीक जैसे बौद्ध-ग्रंथों में भी यह प्रवृत्ति जाती है। (दे०—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० ३४)

(३) भोजपुरी में कर्म को क्रम या करम और कर्मनाशा को 'करमनासा' या 'क्रमनासा' कहते हैं। गोस्वामी जी ने भोजपुरी प्रयोग के अनुसार ही इन शब्दों का व्यवहार किया है यथा—मनवच क्रम बानी (रा० बा० १८६), क्रमनासा, करमनास जल।

(४) कर्ण कटु मूर्द्धन्य अक्षरों का प्रयोग भोजपुरी में प्रायः नहीं होता और क्त, ण, ष, श, क्ष, ज्ञ, के स्थान पर क्रमशः क या ग, न, ख या स, छ ग्यँ बोलते हैं। तुलसीदास जी की रचनाओं में भी यह विशेषता देख सकते हैं। यथा—भगत, रिषि, सरम, उत्तर, ग्यान, गुन, पच्छ, दछ, सठ।

(५) भोजपुरी में निश्चयात्मक 'भी' और 'ही' के स्थान पर शब्दांत में ओकार, एकार या ऐकार का योग कर देते हैं जैसा गोस्वामी जी ने किया है यथा—सांचो, पाचो, सपनो, सारिखो, पारिखो, सारो, दयावने, तिहारिये, रावनो, सावनो, न्यारिए, दुनिये, छाहैं, घाहैं, सरलै, दंडै आदि।

(६) भोजपुरी में प्रयुक्त होनेवाली कारकों की समस्त विभक्तियां इनकी भाषा में मिलती हैं, जैसे—जननी निरखत बान धनुहियां (गी० अ०) घर घरनि यह चरचा चली (गी० उ०), हम पख पाइं पींजरनि तरसत (गी० अ० ६६), अवधेस के द्वारे सकारे गई (क० बा० १) हाथी हथिसारें जरे (क० सु० २३) अवध प्रवेस कीन्ह अँधियारें (रा० अ०) निज नयननि देखा चहौं नाथ तुम्हार विवाह (रा० बा०) और हास्यो हिय खारो भयो भूसुर डरनि (वि० २४७) में क्रमशः कर्म की विभक्ति 'या' अधिकरण की विभक्ति में, माहिं, माहँ (माँ), महँ इकार और एकार करण और अपादान[1] की विभक्ति 'नि' देख सकते हैं सम्बन्ध की भोजपुरी विभक्तियों का प्रयोग भी तुलसीदास ने किया है. जैसे—आपनि, हमरि, हमार, अरिहुक, सबकर सबकेर, सम्प्रदान में लागि (ला), निति (नेती) एँ, ऐं तथा ही, भी तक के बदले ए, ऐ, ओ और लगे (ले) का प्रयोग। भोजपुरी में कर्त्ता की कोई विभक्ति नहीं होती, अस्तु उनकी भाषा में भी इसका प्रयोग नहीं मिलता।

(७) भोजपुरी की लिखावट सम्बन्धी विशेषताएं भी तुलसीदास जी की रचनाओं में पाई जाती हैं जैसे 'ख' के स्थान पर 'ष' लिखना और उच्चारण संबंधी विशेषतायें भी जैसे 'ड़' को प्रायः 'र' कहना; तथा अनुस्वार का 'न' के रूप में प्रयोग। जैसे—मुष, दुष; घोरे (घोड़े), बनसी आदि।

(८) उत्तम पुरुष एक वचन में हम, हमार का प्रयोग, जैसे—हमहुं कहब

---

[1] १—करण और अपादान की तें, सें, सौं विभक्तियों का प्रयोग भी भोजपुरी में होता है, जिनका प्रयोग तुलसीदास ने किया है।

(रा० मा०) हम हमार आचार बड़ (दोहा०) हमरि बेर कस भयउ कृपण (वि० प०) तथा मो, मोर तों, तैं ते आदि सर्वनामों का प्रयोग।

(९) खड़ो बोली के सर्वनाम कौन, जो, वह का रूप अवधी में को, जो, सो होता है, परन्तु भोजपुरी में के (कवन) जे, (जवन) से (ते) होता है, जिसका प्रयोग तुलसीदास ने किया है यथा—कवने अवसर का भयउ, 'जे राउर अहि-अनभल ताका। ते पावइ यह फल परिपाका ॥' रा० मा०

(१०) खड़ो बोलो के आकारांत और ब्रजी के ओकारांत शब्द बहुधा भोजपुरी ५ 'अकारांत' होते हैं जैसे—छोट, बड़, हमार, नियार ।

(११) भोजपुरी प्रवृति के अनुसार ह्रस्व 'एकार और ओकार का प्रयोग' भी तुलसीदास ने किया है जैसे एहि (रा० बा० २३४) जेहि (रा० बा० १८६) मोहि-तोहि (वि० प०) आदि।

(१२) खड़ी बोली के भूतकालिक क्रिया गया, हुआ का रूप ब्रजी में गा, भो, अवघो में गवा, भवा और बनारसी भोजपुरी में गा, भा होता है। रामचरित मानस में भोजपुरी रूपका ही प्रयोग देखा जाता है यथा—भा सबके मन मोद न थोरा (रा० मा० अ० १८५)

(१३) अवधी में खड़ो बोली की भविष्यत् कालिक क्रिया आऊँगा, जाऊँगा आदि का रूप अवधी में क्रमश आवन जान आदि होता है किन्तु भोजपुरी में बकारांत आउब (आइब), जाब (जाइब) आदि होता है, जिसका प्रयोग तुलसीदास की रचनाओं में मिलता है और इसी प्रकार भविष्यत् कालिक 'हैकारांत' क्रिया का प्रयोग भी जैसे—पाइहै (पैहैं)।

(१४) भोजपुरी प्रवृत्ति के अनुसार ए 'ओ' का ह्रस्व प्रयोग भी तुलसोदास ने किया है, यथा—मोहि, तोहिं, सोइ, जोइ, कहेउ, दहेउ, जेहि तेइ।

(१५) भोजपुरी के पुराने रूप जिनका प्रयोग लोकगीतों में मिलता है, जैसे—मातहिं, सोवहु, आनहु, जाहु, जगावहु।

(१६) भोजपुरी में शब्द के प्रथम दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है जैसे—अकास, अहार, अधार, जिअन, इसर आदि। इसी प्रकार बहुधा आदि का ह्रस्व दीर्घ वन जाता है जैसे—सोख, ऊख यह प्रवृति तुलसी की भाषा में भी है।

(१७) हलन्त वर्ण पूर्णाक्षर वन जाता है अथवा उसका लोप होकर पूर्ववर्ती वर्ण दीर्घ हो जाता है जैसे—पहलाद भरम, हरीचन्द, पून (पुण्य), करन, विवरन, आगि आदि। यह प्रवृत्ति भी तुलसी की भाषा में है।

(१८) 'ऋ' के स्थान पर 'रि' इ, या ई हो जाता है और पूर्वी भोजपुरी में 'ड़' के स्थान पर 'र' बोलते हैं जैसे—रिषि, रितु, तिन (तृण), धीठ

(धृष्ट) घोरा, खेरा, रगर आदि। तुलसीदास ने भी इन नियमों का पालन किया है।

(१९) भोजपुरी में संयुक्ताक्षर की प्रवृति नहीं है। जैसे—आन, रात, मीठ, लखन, दुआर, भगति आदि।

(२०) भोजपुरी में प्रायः शब्दादि या शब्दांत के वर्ण को सानुनासिक कर देते हैं, यथा—गाउं, नाउं, सभाँ, गेंस, पूंछ, छूंछ, साँथरी आदि।

(२१) अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषा के शब्दों को प्रत्यय के योग से तत्सम या तद्भव रूप में अपनाने की प्रवृति है।

इसके संबंध में श्री पं० रामबली पांडेय लिखते हैं—

"मूलतः यह (भोजपुरी) उच्चारण प्रधान तथा तद्भव मूलक प्रवृति की उपभाषा है अतः इसमें तद्भव शब्दों की संख्या सर्वाधिक है। धातु तथा प्रत्यय के सहयोग से शब्द का निर्माण होता है। भोजपुरी भी इसी प्रक्रिया से शब्द सृष्टि करती है। हिन्दी और भोजपुरी के धातु रूपों में अधिक समता होते हुए भी प्रत्यय के प्रयोग में पर्याप्त भिन्नता है। इसमें हिन्दी की अपेक्षा भोजपुरी अधिक स्वच्छंद है। व्याकरण के अनुशासन को यह बहुत दूर तक स्वीकार नहीं करती। अपनी इसी प्रवृत्ति के अनुसार एक ओर तो यह संस्कृत के शब्दों में अरबी-फारसी आदि के प्रत्यय उपसर्गों को संयुक्त करती है तो दूसरी ओर संस्कृत के उपसर्ग प्रत्यय को अरबी-फारसी तथा अन्य विदेशी शब्दों में जोड़ कर एक नई रूप रेखा प्रस्तुत करती है।"[1]

भोजपुरी की उपर्युक्त विशेषता तुलसीदास की भाषा में भी देखी जाती है यथा—सरोकता (शरीक + ता), हलाकी (हलक + ई), जमाती (जमात + ई) गरजी (गरज + ई), कहरी (कहर + ई), कसमसात (कशमकश + त), गुदरत (गुजारिश + करत), जेरो (जेर + ओ), दगो (दाग + ओ), सौदासूत (सौदा + सूत्र) अलायक कुसाहेब आदि।

प्रत्यय के योग विदेशी भाषा के शब्दों को नया रूप तथा अर्थ देकर अपना लेने की प्रवृत्ति भोजपुरी में आज भी पहले जैसी है, यथा—अदना (अरबी शब्द, अर्थ छोटा) + आर = अदनार (अर्थ अत्यन्त कोमल बतिया), स्कूल का भोजपुरी रूप इसकूल है, इसमें 'इहा' प्रत्यय जुड़ने से 'इसकुलिहा' शब्द बनता है जिसका अर्थ है स्कूल में पढ़ने-पढ़ाने वाले लोग। इसी प्रकार गरजू, खरची वेदसा, कुहाल, निदरदी शब्द बने हैं।

संस्कृत, अपभ्रंश और देशज शब्दों में भी भोजपुरी प्रत्ययों का योग कर नए शब्द गढ़ लिए जाते हैं। गोस्वामी जी की भाषा में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती

---

[1] —उपलब्धि (काशी-विद्यापीठ) सं० २०२३ अ० २ पृ० २७

है। यथा--कुटिल (संस्कृत) + आई=कुटिलाई, हत्थ + आ = हत्था या हथ अर्थात् हाथ की छाप, घरु के मध्य में 'ऐं' प्रत्यय लगने से 'घैरु' कवाड़ो से कबारु आदि।

गोस्वामी जी की भाषा में भोजपुरी के ऐसे विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं, जिनका प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने वाल्यावस्था से उक्त प्रदेश में निवास किया हो, यथा—'तुलसी जग में फल कौन जिए, कुहत कसाई है, जोरी जुग-जुग जियो, न लागे मुँह कारिखी, कपि सों न लागि रे, वानरु वड़ो बलाइ, जल खाइ रहा है, गई बहोर, जूथ जोरि, पढ़ायो है, खर-सूकर-स्वान समान, बाहु धुनत आदि। इसी प्रकार भोजपुरी शब्द जानीं (समझिए) तानी (तानें) आदि हैं (दे०—क० लं० २०)

भोजपुरी में किसी के नाम के साथ सम्बन्ध सूचक 'के' विभक्ति का प्रयोग करने से उक्त व्यक्ति के पुत्र का वोध होता है। तुलसीदास ने भी इस प्रकार के प्रयोग किए हैं जैसे 'समीर के (क० सु० २)। इसी प्रकार भोजपुरी शब्दों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति अधिक है और गोस्वामी जी की भाषा में इस प्रकार के प्रयोगों की बहुलता है यथा—जुग-जुग, फेरि-फेरि, हेरि-हेरि, निज-निज, देस-देस, खोरि-खोरि, हाँकि-हाँकि, फेंकरि-फेंकरि, मारु-मारु, घरु-घरु, कहरि-कहरि।

तुलसीदास ने बहुधा ऐसी उत्प्रेक्षाओं जैसे—'जनु आजु ही जाए' और उपमाओं का प्रयोग किया है जिनका भोजपुरी प्रदेश में प्रयोग होता है जैसे—'कीर के कागर ज्यों नृप चीर' 'सुग्गेकी पांख' का राजसी वस्त्र से उपमा देना भोजपुरी ही प्रयोग है जैसा कि भोजपुरी गीतों में पाया जाता है।[1] भोजपुरी में 'उपमान और उसके धर्म को (वाचक का लोप कर) सामासिक रूप में बोलने की प्रवृत्ति है जैसे—लालटेस, करिया भुचेंग, लाल मजीठ, पोयर हरदी, हरियरदूब, तेज तरुआरि, पियासल पपिहरा आदि। इस प्रकार के प्रयोग तुलसीदास की भाषा में भी मिलते हैं यथा—'वरदंत की पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव, सुत सुतबधू देवसरि बारी, तनकी दुति स्याम-सरोरुह, जानकी चरन जल-जात, लोचन कोए[2] आदि। इसी प्रकार विशेषणों और एकही अर्थ के दो शब्दों का योग भी पाया जाता है जो भोजपुरी की विशेषता है जैसे–'कामधेनु-कामतरु

१—सँवरो जी के चीर देखीं सुगवा के पँखिया।
अमवा के फारा जइसे सँवरो जी के अँखिया॥
—सँवरो जी की लोक कथा से

२-भोजपुरी प्रदेश में कटहल के 'कोए' से 'आंख' की उपमा दी जाती है।

कुंदइंदुकपूर गौर, रांक सिरोमनि काकिनी-भाग, कमठ-पीठि पविकूट कठोरा' आदि।

तुलसीदास की रचनाओं में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिन पर भोजपुरी प्रभाव लक्षित होता है, विशेषकर आरा बलिया का प्रभाव, जैसे—'टाटिन्ह को परदा' गंगा-सरयू के कारण परिवर्त्तनशील भूमि होने से यहां प्रायः टटऊ-घर बनते हैं; 'कांट-कुराय-लपेटन-लोटन' और 'ठावहिं ठांव बझाऊ' की स्थिति प्रायः वहीं हैं। नाना प्रकार के अनाजों की अधिकता होने से उनका घर-आंगन में 'कूरा' भी वहीं लगाते हैं। वहीं पर उपजाति के अर्थ में 'कुरी' का प्रयोग होता है। 'सतुआ' खाने का भी वहीं प्रचलन है। वहां ही 'नांगो फिरै कहै मांगनो देखि न खांगो कछू' का उदाहरण मिलता है, वहीं जूथ जोरते हैं' तथा वात-बात में 'फरसा वांस सेल सम करहीं' का दृश्य दिखाई पड़ने लगता है। वहीं गंगा-सरयू में नदी-नारे मिलते और बाढ़ से उनके करारे डूब जाते हैं तथा तटवर्त्ती वृक्ष वेगवती धारा में विलीन होते रहते हैं यथा—

'बोरति ज्ञान विराग करारे। बचन ससोक मिलत नदनारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरजतट तरुवर कर भंगा॥
रा० अ० २७६

भोजपुरी प्रत्यय और उनसे बने शब्द तथा भोजपुरी उपसर्ग और उनसे बने शब्द जिनका प्रयोग तुलसीदास जी की रचनाओं में पाया जाता है इस प्रकार हैं—

कृदंत-प्रत्यय

१. आर—बढियार, पैठार, पइसार जेंवनार, निरुआर, डिठिआर, उंजियार
२ वार—रखवार, खेलवार।
३ दार—सुखदार।
४ हार—मरनिहार, अंगवनिहार, सोखनिहार, हरनिहार, खेलनिहार उथपनिहार, जाननिहार, गंजनिहार, बेचनिहार। रोवनिहार, लजावनहार, निवाहनहार, बेंटावनिहार पावनिहार।
५ ऐया, इया—देवैया, लेवैया, खेवैया, छमैया, पढ़ैया, कढ़ैया गढ़ैया, जितैया, डटैया, कटैया, बटैया, बेंटैया, दलैया बढ़ैया। व्यवहरिया, वजनिया, रिसिया।
६ यल, इल—मरायल, बिगरायल, घायल, उताइल, संजोइल।
७ ई—खरखौकी, बतकही, बिगरी।
८ ऊ, उ, व—जुझाऊ, बझाऊ, लगाऊ, बटाऊ, जायऊ, बनाऊ पछिताउ, दूराउ, बनाव समाउ।

९ अत—सूखत, सकुचत, विहरत, विछुरत, डाढ़त, निहारत, वसत फरत,
बिगरत, कंहरत, निसरत, तलफत, पैरत, डरपत, बरषत फिरत,
करषत, हिहिनात, घहरात, विललात, अकुलात, चिलात।

१० अन, आन—ओढ़न, डासन, भानन, बाजन, दलकन, लपेटन, लोट
बँघान, सँधान, भगान।

११ नी,—करनी, कहनी, जरनी, घातिनी, अनपायनी।

१२ वन-सुहावन, भयावन, नसावन, सतावन, लजावन, सिखावन, मनभावन,
परावन, दयावन, पहिरावन, बँटावन, बढ़ावन।

१३ ब—कहब, करब, गहब, चलब, सहब, जितब, भरब, बरनब, जानब,
रहब, आउब, पाउब, निबाहब, त्यागब, तोरब, देब, मांगब।

१४ अल—दिहल।

१५ नि—जरनि, ढरनि, बोलनि, रहनि, नवनि।

१६ औरि, औरी--लहकौरि।

१७ आव, आउ, आई—जनाव, लखाउ।

तद्धित प्रत्यय

१ आई[1]—मनुसाई, कुटिलाई, छलाई, खलाई, विकलाई, खोटाई,
अधिकाई, भुठाई, मिताई, करुआई, अधमाई, कलुषाई, बरिआई, गरुआई,
पहुंनाई, रौताई, सुराई, सेवकाई, वहुताई, निपुनाई, मचलाई।

२ अई--बैदई, मतेई, खलई।

३ ई—सेवी, नेगी, गरजी, उतपाती, जमाती, कोही, सनेही, लालची।

४ इल, ईल, उल—आगिल, पाछिल, हठील; छबील, बातुल।
[गहील, संजोइल, उताइल।]

५ इत, ऐत--नानइत, विरुदैत।

६ आँ, वाँ, वा—इहाँ, उहाँ, तहवाँ, जहवाँ, हरवा।

७ उंग, इंग—भुटुंग, झोंटिंग।

८ आ, या—फेरा, घट्ठा, टीका, कनगुरिया।

९ आह, आहि—बउराह, तमाहि।

१० गर--कनिगर।

११ कारी--भयकारी; छलकारी, गुनकारी; गतिकारी; लयकारी; खयकारी;
सुखकारी बसकारी।

---

[1] —कहीं-कहीं यह प्रत्यय भाववाचक संज्ञा में भी लगाया जाता है जैसा
तुलसीदास ने भी किया है जैसे—जड़ताई

१२ नन्ह (बहुबचनान्त)--घटन, पटन, छटन, दीनन, अनाथन, आँचरन्ह, लटन, पायन, लोगन्ह, अँगुरिन, रोगन, भूतन, टाटिन; लोथिन; राकसन; पींजरन; पोथिन ।

१३ नी०--घरनी ।

१४ क[2] —केतिक; घरीक; घूटक; थोरिक ।

१५ हा + ई----हरहाई; धनुहाई; भँड़िहाई ।

१६ यन; याँ[3] (बहुबचनांत)-----बतियां; पनहियां, धनुहियाँ; सगुनियन ।

१७ धारी—मूरतिधारी, तनुधारी, भूषनधारी

१८ आर, आरा—मनिआरा

१९ ओर --पटोर

२० हुंड़—अगहुंड़

२१ इया—नउनिया, बजनिया, व्यवहरिया, रिनिया ।

२२ रा, रे—हियरे

२३ औवा, वा—हरवा, पतौवा

उपसर्ग

१ अन—अनहित, अनइच्छित, अनभल, अनमोल, अनबरिसे, अन समुझे, अनविचार, अनपायनो, अनअहिवात ।

२ अध—अधमारे. अधजरति ।

३ कु—कुचालि, कुआगि, कुभाँति, कुरुचि, कुराज, कुपीर, कुबंधु, कुअवसर, कुचाह, कुबोल, कुधातु, कुसमाज, कुदाना, कुब्याज, कुबास, कुठाट, कुकाठ, कुनाज, कुफेर, कुसाज, कुवस्तु, कुमातु, कुदित, कुदाव, कुघाव, कुठाहर, कुदेस, कुगाँव, कुजोग, कुरोग, कुदाव, कुमनोरथ, कुघात, कुठाँव ।

४ नि, निर—निरवोट, निसोच, निषेध, निकाम, निकाज, निसंक, निलज, निबल, निरबल, निरजोस, निरनय, निडर ।

५ बे, बिन—बेहाल, बिनऽपराध, बिनपूछे ।

६ सु—सुबास, मुलच्छन, सुनाज, सुराज, सुदिन, सुदेस, सुजोग, सुमति, सुगति ।

७ अ—अकाज, अकारन, अपेल, अफल, अगुन ।

८ वि—बिचल, बिकल, बिलग, बिराग, बिहून ।

२—‘क’ वस्तुतः ‘एक’ का घिसा रूप है ।

३--आजकल बहुबचनांत ‘या’ के स्थान पर ‘यन’ का प्रयोग होता है और एकवचन में ‘या’ का प्रयोग होता है ।

९ भ—भदेस

१०—औ—औखट, औढर, औचट।

भोजपुरी में दो भिन्न भाषाओं के शब्दों का सामासिक योग भी होता है जैसे—अक्लि-बुधि, सादी-बिआह, धनी-गरीब, बीर-बहादुर, शिव-बकस आदि इस प्रकार के सामासिक-शब्दों का प्रयोग गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं बिना हिच-किचाहट के किया है, जैसे—सीसताज (क० लं० ३०) खास (क० उ० १६६), दया-दरिया (क० उ० ४६), सूर-सिरताज (क० २०) राम-गुलाम (ह० बा० ३६), पानिपाक (ह० बा० ४०) सबलायक।

मातृभाषा के प्रयोग मार्मिक स्थानों पर ही प्रकट होते हैं। बहुधा भय, शो आश्चर्य, आवेश, उत्तेजना और उत्साह की स्थिति में मातृभाषा के प्रयो मनुष्य के मुँह से अनायास निकल पड़ते हैं। गोस्वामी जी की रचनाओं में स्थलों पर प्रायः भोजपुरी के प्रयोग आ गए हैं। मंथरा और कैकेयी संवाद भोजपुरी छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है यथा—

'कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करबि केहि कर बलु पाई॥
फोरे जोग कपार अभागा। भलो कहत दुख रौरेहु लागा॥
कहहिं झूठफुर बात बनाई। ते प्रिय तुमहिं करुइ मैं माई॥
हमहुं कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिंत मौन रहब दिन-राती॥
रा० अ

कवि की निम्नांकित उद्भावना और भोजपुरी लोक-गीत की तुलना जा सकती है :—

"तुम सहित गिरिते गिरौं, पावक जरौं जलनिधि महँ परौं।
घर जाउ, अपजस होउ, जग जीवित विवाह न हौं करौं॥ रा० बा

गीत

"गउरा ले उड़ब, गउराले बूड़ब गउरा ले खिलबों पताल।
अइसना बउरहवा के गउरा ना देबों, बलु गउरा रहिहें कुँवारि॥

भोजपुरी में 'करप' तनाव के अर्थ में, मोढि उपेक्षा या अनुत्साह के लिए 'अद्य विद्यमान होने, 'घन' अधिकता, 'धाव' चोट लगने, 'चपरि' उत्साह से और 'चो उत्साह, 'गठबंधन' मेल, 'भरदर' सर्वत्र अधिक होना 'बरानां' चुनकर अलग करना 'गारना' निचोड़ना, 'ओढ़न-डासन' अधिक उपयोग 'बातकही' बातचीत, 'मामिल अभियोग, 'रैयत' साधारण प्रजा 'उपारना' उखाड़ना, कुहना 'बुरी तरह मारना 'बास' महँक और 'बसाना' दुर्गंध करना, 'गिलना (लिलना=निगलना) 'मोवना

भिगोना, 'गोवना' छिपाना, 'पाछना' हल्के हाथ चमड़े पर छुरा मार-मारकर खून निकालना, 'अढुक' रास्ते की ठेस 'छूँछ' रिक्त, 'सार-संभार' संरक्षण, 'लरिकाइ' बाल स्वभाव, 'छेकना' घेराव करना, 'लवलेस' थोरा भी, 'सोधना' पता लगाना 'नान्ह समान और 'गहबर' फले फूले के अर्थ में प्रयुक्त होता है। गोस्वामी जी की रचनाओं में भी इन शब्दों का प्रयोग कथित अर्थ में देख सकते हैं यथा—

'तुलसी लोग रिझाइबो करषि कातिबो नान्ह। (दो० ४९२) उन किन्हीं मीठि इनको सुदीठि दई है (गी० अ०) सोमति लखि अत अछत तनु, (दो० ४९७) करतें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ (दो० ५०१) चपरि चढ़ायो चाप (क० बा०) जथा मत्त गजराज लखि सिंह किसोरहिं चोप (ए० मा० बा०) गठ बंध ते परतीति बड़ (दो० ४५३) भरदर बरसत कोस सत बचे जे बूँद बराइ (दो० ४०२) अमिय गारि गारेउ गरल (दो० ३२८) लोभै ओढ़न लोभै डासन (रा० मा० उ०) करतबतकही अनुज सन (रा० मा० बा०) परे मामिला जान (दो०) जरि तुम्हारि चह सवति उपारी (रा० मा० अ०) कुहौ कुरंगहिं राग (दो० ३१४) कलि कुहत कसाई है (क० उ०) तेहि न बसात जो खात नित लहसुन हूं को बास' (दो० ३५५) मकु मेघहिं गिलई (रा० मा० अ०) कछुक देब माया मति मोई (रा० अयो० ८५) रहसी पीर बिहँसि उर गोई (रा० अयो०) मरम पाछि जनु माहुर देई (रा० अयो०) अढुक परहिं नहिं चलहिं पथ (स० अयो०) बात शुभ छूँछी (रा० अयो०) विधिगति जनु छेंका (रा० बा०) बन गहबर भारी (रा० अयो० ८४)

भोजपुरी में 'माथ उघारल' परदे से बाहर जाने के अर्थ में 'बिना आगखर के जरल' द्वेष करने के अर्थ में,'दुअरां से भिखमंगा लौटावल' कंजूसी के अर्थ में, 'हगना' किसी पर कोचड़ उछालने के अर्थ में 'ढ़ोल्देना' कड़ा नियंत्रण में न रखने या नियंत्रण से बाहर कर देने के अर्थ में, 'आंखिवाला का कवन आंखिवा? नासमझी के काम करने के अर्थ में, मेहरारु के बुद्धि ओठे पर रहेला (अधर बुद्धि) बिना सोच-विचार के कुछ करने-कहने के अर्थ में 'गढ़ि-गुढ़ि' या 'गढ़िछोलि बात बनाने के अर्थ में, 'हाथ लगावल' सहायता करने के अर्थ में, 'माया ना लागल' भुलावे में न पड़ने के अर्थ में प्रायः प्रयोग में आता है। जब कोई अतिशय अनुचित या: असत्य बात मुंह से निकलती है तो सुनने बाला प्रायः कह देता है कि—'जीभ गलिजाई, मुंह में कीरा परी' भोजपुरी में 'मुंह लटियानो' भूख-प्यास और थके होने की दशा द्योतक है। भोजपुरी के ये सभी प्रयोग तुलसीदास जो की भाषा में उपलब्ध हैं जैसे—'सीसउघारन किन कह्यो (दो० २५४) जरै बिन आग (दो० ३८८) ठाढ़ो द्वारन दै सके (दो० ३८२) काग अभागे हगि

भगो महिमा भई कि थोर (दो॰ ३८४) डिठिआरो केहि डीठि (दो॰ ४८१) इहां न लागिहि राउरि माया (रा॰ मा॰ अ॰) गरिन जीह मुंह परेउ न कीरा (रा॰ मा॰ अ॰) लागि मुंह लाटो (रा॰ अ॰) आदि । इसी प्रकार 'जोहसि सोहहि जनम-मरन, बीछी मारना, गोड् को गाई करना, थोड़ा कहना बहुत समझ यही नहीं तुलसी ने सैकड़ों ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो भोजपुरी के यथा आदि ।

क्रिया शब्द—कहां जाईं ? का करीं ? कृपाकरीं, कहत चलु, आउब, कहब करब, देब, सहब, चलब, सुनब, दिहल, दिहली, आउ, गाउ, जिआउ, लिखाइ पिआउ, निबाहु, जरिजाउ, छांड़, गने, भने, धरु भरु, मारु मारु, करु, होइ सोहाइ, डेराइ, डेरात, झांकी, जानी, देऊँ (देईं) लेऊँ (लेईं) तानी, चाहो छुटत, लुटत, खात, खुनसात ललात, बिललात, पाइहै (पइहै) होइ, ले देइ, गाइहै (गइहै), सिधाइहै, बाँचीं, कहहिं (कही), सुनहिं (सुनी) गावहि काहि

सामान्य क्रिया— अँगवना, अँचवना, जँकनना, अटकना, अघाना, अयक्ष अमाना, अकुलाना, अरना अरँगोना, अवडेरना, अवरेखना (उरेखना) अरपना आंजना, आनना आरिकरना, इतराना. उचकना उचाटना, उकठना उतर (डेरा डालना) उतराना, उघरना उधारना, उजारना, उपारना, उपाट उवटना; उबरना उबारना, उमगना, उलटना (ध्वंस करना), उसकं औंजियाना, ओड़ना, कटकटाना, कदराना, कररना, करकना, कलपना, कथ लाना, कसना, कसकना, कबारना, कढ़ना, काढ़ना; काँड़ना, काछना, काल कुहना, कोरना, कोंहाना, खगना, खचना, खटना खनना, खरकना, खसना खांचना, खिसियाना, खीझना, खुनसाना, गड़ना, गढ़ना, गढ़वाना, गनना, गपना गम होना, गँवाना, गाजना गाँथना, गारना, गिलना, गुहना गुदरना गुदा लगना, गोवना, घर करना, घर जाना (बरबाद होना) घालना, घेरना, घल पुरना, चरफराना, चांड़ना, चांपना, चाकना, चटकन, बजाना, चिकरना, चि वना, चिपटना, चिपरना, चीन्हना, चीखना, चुचाना, छरना, चुचकारना, चुबना चुआना छूटना, छकना, छपना, (छिपना, काटना), छिपना, छेंकना, छोरना (छीनना) जटना. जनाना, जनमना, जारना, जिआना, जुड़ाना, जुरना, जोरना, जेवाना, जूझना जोगवना, जोरना (जुटाना), जोर करना, जोहना झइँ आना, झंखना झँपना, झपटना झरकना; झलकना; झहराना; झांपना झौंसना; टकटोरना; टसकना; टूटना; टेकना; टेवना; ठटना, ठठाना; ठहर ठानना ठिठकना; ठुमुकना, ठेंठाना; डफोरना, डसाना, डहकना, डांड़ना, डाड़ डेराना, डोलना (चलना) ढंढोरना, ढ़रकना; ढकेलना, ढांकना, ढ़ारना, विगार ढाहना, तनना, तमकना, तजना (तिजना) तरपना, तरसना, तरकना, तरेर खबठिना, कमाना, खपना, टांचना, औंटना, जामना, तावना, जेंवा

तलफना, ताकना, तानना, तूरना, तोपना, तोषना थाकना (स्तब्ध होना), थाकना, दपटना, दबना, दबकना, दबोरना, दवरना, दलकना, दागना, दारना, दाहना, दुलारना, धरना, धसना, धसकना, धावना धुकना, धूतना, धोवाना, नबना, नवाना, निबरना, निकसना, निकारना, निचोरना, निबहना, निबुकना, नियराना, निहारना, नेवतना, निसरना, नेवारना, पँवारना, पछोरना, पछारना, पठाना, पढ़ाना, (सिखाना), पतियाना, पराना, परिखना, पटतर देना, परिछना, पलुहना, पसारना, पहिराना, पाछना, पागना, पाना (तुलना में आना) पियावा पिराना, पुरना, पेलना, पेन्हाना, पैरना, पोषना पोहना, प्रचारना, (ललकारना) पौढ़ाना, फवना, फरकना, फहराना, फिरना, (बदलना, लौटना) फिरना, फाटना, फेरना, फेंकरना, फोरना, बटोरना, बदना, बढ़ाना, बलकना, बहुरना, बहोरना, बउराना, बरना, बुताना, बइसना, बकना, बरजना, बसाना (बस चलना, दुर्गंधि करना), बांचना (बझाना, बढ़ना , बाजना (बाजा बजाना, कुश्ती लड़ना) बादि बढ़ाना, बारना (जलाना), बाढ़ना, बिथकना, बिरुझना बिलखना, बिलगाना बिललाना, बिराना, बिलपना, बियाना, बिसरना, बिसारना, बिहंसना, बिहरना बुताना बुबकना, बूड़ना, बूझना, बेसाहना, बैसना, बोरना बौराना, भँभेरना भटकना, भंजन करना, भनना, भभरना, भहराना, भरुआना, भच्छना, भांड़ना, भानना भांजना (उठाकर चक्कर देना) भाषना, भिताना, भिरना, भींजना, भेंटना (पाना, किसी से मिलना) भेंवना, भोरपरना, मचना, मेलना, मल्हाना, मरदना, मरोरना, महना, मसकना, माखना, माचना, मातना, मींजना, मुअना, मुरना, मूँदना, मुसकाना, मोवना, रच्छना, रटना, ररना, राखना, राजना, रिसियाना, रोझना रेंगाना. रोपना, रुंधना, रौंदना, लखना, लखमेंन आना, लपेटना, लगना (झगड़ना) मुंह लटियाना, लगन धरना, लटना, ललाना, लरखराना, लहलहाना, ललकना, लहकना, लागना, लहना, लुकाना, लोपना, सकाना, सकोरना, सनकारना, सहना, सरहना, संचना, साधना, (बदलालेना, नापना), सानना, साधना, (सिद्ध करना) सिधाना, सिधारना, सिमिटना, सिराना, संवारना, संबोवना, सुगाना, (सुगबुगाना) सिहाना, सुटुकना, सुरति करना, सूतना, सोधना, सहाना; हँकारना; हगना; हनना; हलना; हरकना; हटकना; हथवासना; हलोरना; हहरना; हहराना; हांकना; हारना; (थकना) हिकरना; हींचना; हुमकना; हुलसना; हेरना; हाट उठाना; हुनना, हालना, हथवासना, मचलना

संज्ञादि शब्द—अँवराई, अकस (बैर) अंगुरी अगवानी, अगुवाई, अगाध अचिरज, अछत, अजस, अटारी, अढूक, असवार, अनभल, अचगरि, अस्थान अनहित, अनैसा, अनट, अनइस, अनाज, अपत, अपछरा, अधार, अमरष अवघट, अदिन, असगुन, असवार, असनान, असीस, अवां, अमारी अँखियन, अघर-

बुधि, अहन, अहेरी, अहिवात, आउ, आढ़, आरि, आँच, आँचर,
आक, आखत, आगी, आदित, आछा, आनि (इज्जत) इरषा, उचाट,
(उन्नति), उजिआर, उपरना, उतकरष, उदबेग, उछाह उपही, उपाधि,
उकुति, ऊसर, उनवनि, ऊख, ऊखरम, उपाधि, उतराई, ऐपन, ओत,
(गिरवीं) ओझरी, ओसर ओहार, औत, औसरा, औगुन, कथरी, करवा,
करष, करार (तट) करेरी (कोर), कंटक (शत्रु) कनखियन, करम (
कुपनाई, कठवति, कठौता, कबारु, कलेस कलेवर, कलोर, कहार, कवर,
करतूति करक, कराह, कथा, (बात का बिस्तार) कलस, करतब, कहनो,
उति (कथन) कलई, (धोखे का आवरण), कलाप, काँख, काँच,
कनगुरिया, कानि, काई, काठ, कियारी, कीरा, क्रिया (अंत्येष्ठि), कुकुर
कुसल-प्रस्न, कुठाट, कुरी, कुमंत, कूटि, कूँड़ा कूँड़ि कूरा, केस, कोस,
कोठि, कोंहड़ा, कोहबर, कोपर, कोए, कोर, कौर, खटोला, खप्पर, खप,
खभारु, खरी, खरिया, खरभर, खरखौकी, खलक, खसम, खार, खाल,
खाजो, खीझि, खीन, खुनिस, खुरपा, खूंट, खूसर, खेस, खेह, खेत, (युद्ध
खेलनिहार, खेवैया, खेलवार, खेवा, खेला, खोंच; खोटाई, खोरिका,
(तमाशा); गँस; गन, गम, गरद: गहन; गहगह गरदनि, गति, गंठबंध, गढ़;
गथ; गच, गलबल, गठरी: गाड़र; गादर, गाइ, गौंउ; गाजन; गाढ़, गाड़,
गारी, गाथा, गीध गुदारा; गुन, गुमान; गूदा; गेड़ुआ, गोठ; गोड़;
गोहारि, घट्ठा, घटा (भीड़) घरनी; घरौंदा; घवरि, घनघमंड; घरभाव
घाउ; घात; घानीं; घाम; घिन, घुरबिनिया घूंघट; घूंट; घूर; घैरु घरु (
घोरा चंवर; चंग, चकोट, चटकन, चउथि, चपेट; चपेटा; चबेना
चमगादुर, चरित्र, चढ़ाई, चाउ; चाउर; चाक; चाँड़; चालि, चाका;
चाप; (चोप); चाम; चारा चाँचरि चिकार; चितवनि, चिया; चिन्ह
चीन्हा (प्रमाण); चीठी, चुआ (चौंआ); चुनौती; चूक; चोप, चौकी;
छलछाव; छगन-मगन; छबील; छर, छरभार, छलक, छाम, छाँह छिया;
छेरी, छोह छोहरा; छोंड़ी (छौड़ी) छौना, जट, जतन; जता, जई; जनम (
जनेत; जनवासा; जनेउ जरि; जराव, जरनि, जटाइ, जमात, जवारु;
जायऊ (त); जिनिस जीन; जुगुति जूथ जेठ जोटा; जोति, जौंक, जोबन,
जोर; झइं, झकझोर, झपट, झलक; झलका, झरोखा, झरि, झार; झारि;
झूठफुर, झून (झोन) झोटी; झोरीं; टहल, टाट; टाटो टाँकी; टीका, टोढ़ी;
टेक (सहारा) टोना, टोल; ठकुराई; ठवनि ठहर; ठट्ठ; ठाँव. ठाला, ठाकुर;
ठौर, डग, डगर, डर, डाँग (र), डांड़ा, डाढ़ा, डाबर, डीठि डाँवाडोल,
डोल, डोरी, डोवा, ढरनि, ढिठाई; ढेला, तपखप, तमक; तमाइ, ताय,

ताल, ताँवरि, थापना, थारो; थाती, थाह, दछिना दसगात, दाव; पाप (ताप) हेंड़ी, दरार, दरेरा; दलकन, दाम; दाया.. दारु दाढीजार (दहिजरा) दिस्टि दीठि; दुलही दुलहा, दुआर; दुलार; दुराव; दूतभूत; दुचित (दोचित); देव (मेघ); देवर, देहरि; दोहरा दोहाई; धँधरच (ढँढ़नच , धर; धनुही, धनुहाई धमोई; धावन, धारि धाह धुरिधानी धीय; धुंध धुजा; धूरि, धेउ, धौंज, धौरहर धोल; नकवानी; नटैया, नहछू, नहरनी नहरुआ, नवनि, नाता, नाक (इज्जत) नाव; निलजई. निहोरा, निर्नय निरुआर निहचय; निंगा, निवाह (पहुंच); निरजोस; नेंइ; नेह, नेगचार, नेगी; नेहनाता, नेगजोग; नेवत; नैहर, पंगति पछिताउ, पनिघट, पति (प्रतिष्ठा), पहार; पहुंची; पँवारा, परेखा पटा; पटोरा, पंथ परई; पठावना; पलंग; पइसार; परतीति, पनही; पनार, पच्छ; पखाउज, पखवारा परघर, परवाहि, पहुनई, परछाहीं; परिछन परदा (छिपाव), परावन, पहिरावन पहरु; पाँति, पात, पसेउ, पातरो (पतरी), पाती, पालकी, पायक; पासा; पियार, पाहुन; पांसुरी; पिरीत; पीना, पीढ़ा, पूत; पेटारी; पैंत; पोख; पोखरी, प्रचार (ललकार) प्रसाद प्रापति, प्रतच्छ, पतोहू; पापिनि, पखान, पिहानी, फीक, फूँक फरहार; फरसा, फराक फँग (फड़) फलँग, फलांग, फेंट; फेर;, बनसी बटोही; बाढ़आरि, बनरा; वरद, बसह; बरी; बरिआर बरिआई; बरिआत; बरषासत बछरु, बकुचा, बकसीस; बड़ाई; बरबर; बनि (मजूरी); बरतोर; बगमेल; बयारि, बतास, बरिस; बरेखी; बरखा; बंब, बलाइ, बसूला, बढ़ावन, बतबढ़ाव, बहुताई बिजन, बतकही, बनिज: बतिया; बाति; बाँट, बाजन; बाट, बादि, बयर बनचर बहरी बांझ; बार बादर; बारी (बाग) बिरवा बिवान (अर्थी) बानइत; बाना; बित्त (शक्ति) बिल; बिहान; बिंध्य; बीछी बुबुक; बुँदिया; बिधंस; बिरिछ बिसमय (दुःख) बुढ़ाई, बूँट; बूझि; बेदन; बेवान; बेरा; बेलि; बेल; बैदई, बोल; बिकलई, बिसेक, बिरिया (बेराँ), बौंड़ि; भँड़िहाई, भंडार, भंड, भँड़आ भरम, भर, भइँसा, भदेस, भरोसा भँभेरि भाषा, (कथन) भनिति; भानस, भार, भाउ, भौंड़ा भांवरि, भाथी, भावी, भिनुसार, भीर (कष्ट); भीति (दीवार) भोर (भूल) भिखारि, भुआल, भुईं भूँभुरि भोरि, मनसा, मनुसाइ, मंजीर, मजूरी, मया, मरमु; महतारी, मही (मट्ठा), महाजन, मसान, माथ, माँड़व, मान (अधिकार सीमा; मान्यता), माखी, माई, मारि मानी, माख' माल (मल्ल) माटी, माहुर, मिताई; मोठि, (उदासीनता), मोत, मुरछा, मुरछाई; मूठि (दस्ता) मूर मूरति, मेंडुक, मेघडंबर, मोट, मोटरी, मोल. मोह (प्यार) रखवार, रगर, निवास, रटन; रहँट, रती, रहनि, रव (गति), रहस, राउत, रारि, रासि, राकसन, रायमुनी; रिनिया रिरिहा; रुख, रुखानी, रूप (रूपा), रीझि, रिस, रेता, रेंड, रैअत, रौताई, लजारु, लवनि, ललना, लगन, लगाम, लबार, लाजपति,

लवाई, लच्छ, लरिका, लरिकाईं, लय, लागा, लखाउ, लाटी, लात,
लालसा, लाह, लागि लामू (लामि=भारदेना), लिलार, लूक लूगा, लेखा,
लोथि, विदा, सँघाती, संघार संगी, सजाइ, सकु, सकारे, सतुआ सलील;
सरम, सही, सहेली, सरौं, सगुन सगुनी, सरहना, सरखत, सरई, सतिभाउ,
सहम, सकति, सराध, संभार, सगा सगाई, सठ, सवति, संजम, समाव,
सहिदानी, साँसति, साँच साबर साल (दर्द जलन), साधुपना, साटक
सावज, संग, संगी, सांठ, साका सान, सादा साखी, साँझ साँच साथरी,
साहवी, सियनि, सिरिस सींच सीठ, सींक सिख, सिहोर, सिखावन,
(आमान्न) सुपेती, सुरति (सौन्दर्य, याद) सुफल, सुबरन, सुवास, सूम,
सुमिरन, सुधि, सुभाउ, सून, सेंदुर, सेल्ही, सैन, सै (सौ), सोध, सोर,
सोहागिन; सोच; सोंधाई, हँकार, हड़ावरि (हड़वारि). हथेरी, हद,
हलक, हरहाई, हथा, हरवा, हित (नातेदार), हरांस, हांक;
हारि (पराजय समूह); हुलास, हिंडोला, हेला; होनहार,
अँगवनिहार, अँकरे, अटखट अटपट अनेर, अनमोल; अपत; अचेत; अपेल;
औंघर. अकसर, अनइस; आइ; आगर; आउबाउ; आगिल आछे (आछा);
उजागर; उरिन; उकठः उबेना; उतंग; उतपति; ऊंच; औढ़रदानी;
कपिला; करिया; करबर; कलबल; करमठ; कठमलिया; करुई;
कांच; कादरः कुंआर; कुमंत, कुलघाती; कूर; कोरा; कोही; खचित
खपुआ; खयकारी; खिरिर, खीन; खुआर, खोटो; गंवार; गरजी;
गहवर; गहगहे; गभुआर, गाढा; गाहा; गुनी; (गणक); गुमानी;
घटाटोप; घाटि,, चक्रित,, चरफर, चांड़; चोख; छपनिहार; छुंछ,
जमाती; जियत, जुझाऊ; जुझार; जोधा; झांवर, झीन,, झुकरे; झून;
टांट, टेढ़, टेवैया; ठाढ़; डोरियाए. (डोरिआइल); ढीठ; ढील; तोत,
तराक; तिकोन; तिक्खन; तोछि; तोसर; तेजी; तोराव; थकित,
दिढ़, दिहल, दुइ, दूजा, दू, दूबरि, दूना, दूसर, देखनजग, देवैया,
नांग, निगा, निकाम, निगोड़ी, निसोच, निसोत, निहाल, नीक, नेही

प्रवान, पाक (ल), पाइमल, पाछिल, पारिख, पियर, पैरत, पोच,
बजारी, बड़जोर, बरिआर, बड़, बलजोर, बरिबंड, बंगर, बंका,
बजनिया, बेवहरिया, बाउर; बांका, बांकुरा, बोतुल, बूढ़ा, बानइत,
बिहंडन, बिगरायल, बिगरो, बिहरत, बिहून, बेसाह, भल, मरायल,
मगन, माते (मातल), मा नो, मारुख, मोट; रंचक, राड़, रिष्टपुष्ट,
(लटल), लेवैया, सतावन, सुहावन, सांकर, सांवर, सूखत, सूध, सुचित,

अकाज, अटक, अनरथ, अगहुंड़, अनत, अनेसा, अपनीअपना, अस,

अवरो, आजुकाल्हि, आन, आनहि आन, आय-आयु, आरौ (आरीं), अहोरे, उपही, इहां, उहां, ऊब, एकटक, एतना, एते, एतनिय, एही विधि, ऐसइ, ओट, ओर, कनखी; कछुवे, कत; कतहुं; कबहीं; कबहुं; कवनी विधि; करवट; कस; कसरे, कहँलगि, काहें, काहेरे; कादहुं; किधौं; काल्हि; कुल्हि; केता; खोंग; खाटो-मीठो; खारि-खोरि; गँवहीं; गलबल; गहगह; चटाक; चहुंफेरा, जनि; जस; जसजस; जहवां; जुग-जुग; जेता, जौं, झकझोर; झारो, टूक; टूकटाक; टूक-टूक; तस; तस-तस; तबहीं, तहवां; तराक; तुरत; थोर-थोर; थोरिके; दाहिन; देत लेत; दाहिने बाएं; दहपट; दिनहिंदिन; दूसरी ओर; दूरि; नत; नाईं; नान्ह; नाहित नापजोख; निपट, निवारन; नियरे, पाछे; पाछे-पाछे; पटतर; फेरि; फेरिफेरि; फेरफार; फांकट; बरन-बरन; बारापार; बांव; बिचल; बेगि; बेर; बेहाल; भरिपेट; भाई रे; भिया; भेद; मनही मन; मने; मरतीबार; मांझ; रीझि-बुझि; लगि; लयलीन; लागि; लेखेजोखे; सरबरि; सराक; सरिस; सरवस; समैसिर; सहज; सँतिहु; हमरि बेर; हलबल; हेंठ आगिली, पछिलो, भांति, कवनोभांति।

आप; *आपन; एहि; ओही; ओहूं; कवन; कस ? का ? की; के; केकर; केहू; केउ; जिन्ह; जेही; जे; जेऊ; तिन्ह; तूही; ते; तेहि; तेऊ; तैं; तोर; मैं (में); मोर; मो; मोते; बहिके; हम (एकवचन); हमार; हमरे; हमरो, हमहूं, राउर; रौरे।

पुरुष पद्-प्रतिष्ठा की दृष्टि से तीन स्तर के होते हैं जिसे विशिष्ट, सामान्य और लघु कह सकते हैं। भोजपुरी में इन तीनों प्रकार के पुरुषों के लिए व्यवहृत संज्ञा, सर्वनाम, संबोधन, विशेषण और क्रिया में अन्तर पड़ता है जैसा कि नीचे के कोष्टक में देखा जा सकता है :—

	विशिष्ट	सामान्य	लघु
संज्ञा —	तुलसी जी	तुलसी	तुलसिया
सर्वनाम (म० पु०)	रउआँ, राउर	तू, तोहार	तें, तोर
(अ० पु०)	उहाँका, इहाँका	ऊ, उनक, उनकर	ऊ. ओके, ओकर
सम्बोधन	हे भगत जी !	ए भगत !	रे भगतवा !
विशेषण	पंडित जी	पंडित	पंडितवा
क्रिया	खइलीं	खइले, खइलन	खइलस
विधि क्रिया	खाईं	खा	खो
प्रेरणार्थक	खियवाईं	खियवाव	खियवाउ

यह तीन प्रकार का प्रयोग, भेद, ब्रज और अवधी में नहीं है। यह भोजपुरी की निजी विशेषता है। इसी भाषा गत विशेषता को ध्यान में रखकर तुलसीदास

जी ने लिखा है कि नीच लोगों का नाम हो जाने पर देवताओं के नाम का
लघुतावाचक प्रयोग होने लगता है यथा—

'तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम।
देवी देव पुकारियत, नीच नारि नर नाम॥ दो० ३६०

भोजपुरी लोक गीतों में कभी-कभी राम और कृष्ण को पर्याय समझ लिया गया है, यथा—'मधुवनवाँ में 'राम जी' बँसिया बजाइ गइले।' गीत के टेक में श्रीकृष्ण चन्द्र जी के लिए 'रामजी' का प्रयोग हुआ है। गो० तुलसीदास ने भी अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रयोग कर दिए हैं, यथा—

सींव न चापि सको कोऊ तब जब हुते राम-कन्हाई॥ कृ० गी० ३२

'चौदसि चौदह भुवस अचर-चर रूप गुपाल।
भेद गए बिनु रघुपति अति न हरहिं जग जाल॥
श्रुति-पुरान-बुध संमत चाँचरि चरित मुरारि।
करि बिचार भवतरिय परिय न कबहुं जमधारि॥ वि० २०
तुलसीदास प्रेम बस श्रीहरि देखि बिकल महतारी।
गद्‌गद् कंठ नयन जल फिरि-फिरि आवन कह्यो मुरारी॥ गी० अ

उपर्युक्त उद्धरणों में पहिला 'कृष्ण गीतावली' का है, जिनमें कृष्ण के स्थान पर 'राम' का प्रयोग हुआ है और दूसरे तीसरे उद्धरण 'विनय-पत्रिका' एवं 'गीतावली' के हैं, इनमें 'राम' के स्थान पर 'गुपाल' और 'मुरारि' का व्यवहार हुआ है। ये दोनों नाम श्री कृष्णचन्द्र जी के हैं, न कि श्री रामचन्द्र जी के। अतः इन प्रयोगों को 'भोजपुरी' परम्परा के अनुसार ही कहा जा सकता है।

एक भोजपुरी सोहर में 'सुमित्रा' के एक पुत्र 'लक्ष्मण' ही बताए गए
यथा— 'कोसिला के भइले श्री रामचन्द्र, सुमित्रा के लछुमन।
केकई के भरत चतुरगुन तीनहुं घरें सोहर॥"

तुलसीदास ने भी श्री रामचन्द्र जी द्वारा कहलाया है—

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम प्रान अधारा॥ रा० लं०

स्पष्ट ही इस उक्ति पर भोजपुरी छाप है।

तुलसीदास जी की रचनाओं में भोजपुरी लोकोक्तियों का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है यथा—

(१) अपना दुआर पर कुत्तो बरियार ह।
'बलवान है स्वान गली अपनी'—क० लं० १३

(२) मुँह में राम बगल में छूरी' और 'ऊपर से राम-राम भीतर से सिद्ध काम।

करि हंस को वेषु बड़ो सब सों तजि दे, बकबायस की करनी।
—क० उ०

(३) भेखे भीख मिलेला
भेष प्रताप पूजियत तेऊ—रा० वा०

(४) 'कर करवा कोपीन' और घन मधे कठवत पोशाक मधे जामा।
'कृस गात ललात जो रोटिन को घर बात घरें खुरपा खरिया' ॥
—क० उ० ४६

(५) 'जहाँ राम धनी तहाँ कौन कमी।'
'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
रा० उ० २१

(६) दुख में राम मन परे ले।
'जहाँ सब संकट दुर्घट सोच, तहां मेरो साहब राखै रमैया'
—क० उ० ५३

और—'रघुनाथ विना दुख कौन हरै'—क० उ० ५५

(७) खूँटा का बले वाछा कूदेला, बड़का का कुकरो के मान होला।'
'स्वामी के सनेह स्वान हू को सनमान है—क० उ० ६४

(८) मुँड़ी में वार ना तीन पाव के छूरा।
'भेंट पितरन को न मूड़ हूं में बार है'—क० उ०

(९) चाम के कोठिला कुकुर रखवार।
'पाहरुई चोर देखि हिय हहरान है'· क० उ० ८०

(१०) गुने उने मति कोई, राम करिहें सो होई।
'तुलसी अकाज काज राम ही के हाथ सब'—क० उ०

११ अपनी करनी पार उतरनी।
'कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा (रा.मा.)

१२ गेहुंवन के बच्चा आ मोखालिफ के छोट ना बूझे के।
'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहिगनिय न छोट करि' (रा० अ०)

१३ मुअलो पर वैद अइले।
'का वर्षा जब कृषी सुखाने (रा० बा०)

१४ बड़ के बाति जान का पाछे।
'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाय बरु बचन न जाई (रा० अ०)

१५ 'वरियार सि बैर ना बेसाहे के या जबरा मारे रोये न देय।'
समरथ पापी सो बयर जानि बेसाही मीच (दो० ४६९)

१६ आगि लगला पर कुँआ खनल।
कूप खनत मन्दिर जरत (दो० ४८७)

१७ पनहियो का आपन गोड़ चिन्हाला।

बिन आँखिन को पानही पहिचानत लखि पाय (दो० ४८२)
१८ सुतला के जगावल जाला, जगला के केहूं का जगाई ?
जो सुनि समुझि अनीति रत जागत रहे जु सोई।
उपदेसिबो जगाइबो तुलसी उचित न होइ ॥ दो० ४८६
१९ बहुवंस बढ़ल ना निमन ह ।
बहु सुत बहु रुचि बहु बचन, बहु अचार व्यवहार ।
इनको भलो मनाइबो, यह अज्ञान अपार ॥ दो० ४९०
२० सभ के दवा ह, सक के ना ह ।
तुलसी जु पै गुमान को होतो कछू उपाउ ।
तो कि जानकिहिं जानि जिय परिहर ते रघुराउ ॥ दो० ४९३
२१ बड़ के बड़ बाति ।
'बड़े बड़ाई पै लहहिं (दो)
२२ बड़ का कगरीं छोटो के गुजर होला ।
प्रभु समीप छोटे बड़े रहत निबल बलवान (दो० ५२७)
९३ ए छूँछा तोके के पूछा ।
तुलसी स्वारथ मीत सब (दो०)
२४ 'अधजल गगरी छलकत जाय' और 'भारी रहैं भार से पतुकी फँफाे
छुद्र नदी भरि चली उतराई (रा० कि०)
२५ भीख में भीख दे, तीनि लोक जीति ले ।
'जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान (दो० ५६१)
२६ बांहि धइला के लाज ह ।
कै राखै कै संग चलै बांह गहे की लाज (दो० ५४४)
२७ साँप छछुनर के हाल ।
भई गति साँप छछुंदर केरी. (रा० अ०)
२८ जे गुर से मुए ओके माहुर ना दीहल जाला ।
जो मधुर मरै न मारिए माहुर देइ सो काउ (दो० ४३२)
२९ 'कहल ना जाला कइल जाला' या 'कहि देखाई कि करि देखाई।'
सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु (रा० बा०)
३० खालां ऊँचां देखि के डेग डालल जाला ।
तुलसी सुमति सराहिए मग पग धरइ विचारि (दो० ४४३)
३१ मोका के चूकल आदमी डाढ़ि के चूकल बानर कहीं के ना होला।
'लाभ समय को पालिबो' हानि समय की चूक (दो० ४४४)
३१ बेरा के सतुआ निमन कुबेरा के सोहारी ना निमन ।

तुलसी मीठीं अमी ते मांगी मिले जो मोच
सुधा सुधाकर समय बिन कालकूट तें नीच (दो० ४४६

३३ समय पाके सभ होला ।
समयहिं साधे काज सब (दो० ४४८)

३४ धरम करत में होखे हानि । तबों ना छोड़ी धरम के बानि ॥
सहि कुबोल सांसति सकल अँगइ अनट अपमान ।
तुलसी धरम न परिहरिअ कहि करि गए सुजान ॥ (दो० ४६६)

३५ हाथी चलल जाला, कुकुर भूँकत जाला ।
के निदरहु कै आदरहु सिंघहि स्वान सियार (दो० ३८१)

३६ जे गाड़ा गड़ाईकरी से गाड़ा भरसाईं परी ।
पर सुख संपति देखि सुनि जरहिं जे जड़ बिनु आगि ।
तुलसी तिनके भाग तें चले भलाई भागि ॥ (दो० ३८८)

३७ बाँस का जरी घमोइ ।
होंहिं कपूत सुपूत तें (दो० ३६८) वेनु बंस सुत भयऊ घमोई ।

३८ उखिहाड़ी ऊखि न दे भेली देवे के कहे ।
ठाढ़ो द्वार न दे सके (दो० ३८२)

३९ मीठो आ भरि कठवति ।
मीठो अरु कठवति भरो रौताई अरु खेम (दो०)

४० कुकुर के मारी काति दुलारींत चाटी ।
खल परिहरिय स्वान की नाईं (रा०)

४१ बोल ना बोले के ।
बोल न मोटे मारिए (दो०)

४२ मजा मारें गाजी मियां मारि खाय डफाली ।
खातो दीपमालिका ठठाइयत सूप हैं (क० उ० १७१)

४३ जे ना हमरा राम के, से कवना काम के ।
नातो नेह राम सो मानिए सुहृद सुसेव्य जहाँ लौ ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटे बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥ बि० प०

४४ राजा हरीचंद पर विपति परी । पकवल मछरी जल में परी ॥
भरद्वाज सुनु जाहि जब होत विधाता बाम ।
धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम ॥ रा० मा०

४५ सावन का आन्हर का हरिअरे लउकेला ।
तुलसी सावन के अन्धहिं ज्यों सूझत हरो हरो । क० उ०

४६ सांच का कवन आंच ।

तन तिय तनय धाम धन धरनी ।
सत्य संघ कहं तृन सम बरनीं (रा० आ० ३५)

४७ भुजो खाए के ओ फांड़ो टोए के ।
दानि कहाउब अरु कृपनाई (रा० अ० ३५)

४८ हरही का सुरही सुरहो का हरही
होय अनभलो कै भलो होय भलो कै पोच (दो०)

४९ नष्ट देवता के भ्रष्ट पूजा ।
तस पूजा चाहिए जस देवता (रा० अ०)

५० बांझ का जाने परसवतो के पीरा ।
बांझ कि जान प्रसव की पीरा (रा० बा० ९७)

५१ मुंह के मीठ मन के करिया ।
मन मलीन मुंह मीठ नृप (रा० अ०)

५२ मधुरी बानी वेईमान के निसानी ।
सुन्दर केकी पेख बचन सुधा सम असन अहि (रा० बा०)

५४ आन के अन्न धृक जोवन ।
पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं (रा० बा०)

(५५) संगति पाइ न सुधरे ताके बड़ा अभाग ।
सठ सुधरहि सत-संगति पाई (रा० बा० ३)

(५६) कोइरी का जाने जवाहिर के मोल ।
साक बनिक मनि गुनगन जैसे (रा० बा० ३)

(५७) भल मरै भलाई के, खल मरै खलाई के ।
भले भलाई पै लहहिं लहहिं निचाई नीच (रा० बा० ५)

(५८) अपनी करनी पार उतरनी ।
जो जस करै सो तस फल चाखा (रा०)

(५९) पानी पीं छानि के, गुरु करीं जानि के ।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने (रा० १।६)

(६०) स्वभाव ना बदले ।
होय निरामिष कबहुं कि कागा (रा० बा०)

(६१) रहीं बंसहर में सपना देखीं धौरहर के ।
चहिय अमिय जग जुरै न छाछी (रा० बा०)

(६२) कवन गनै भकभवनपुरी के ।
गज, पिंगला, अजामिल से खल गनै कवन (वि० २१२)

(६३) ना हर चलै न चलै कुदारी ।
बइठल भोजन देसु मुरारी ॥

तेरे राज राय दसरथ को लयो बयो बिनु जोतो (वि० १६१)
(६४) आँखि मूँदि दीं त कहीं कुछ नइखे।
मूँदिय आंखि कतहुं कछु नाहीं (रा० बा०)
(६५) राम बिना गति दूसर नाहीं।
एक गति राम भवदीय पदत्रान की (वि० २०६।१)
(६६) आन के कुँआ खनेला से अपने भगाड़ में गिरेला।
कूप खनै जे पर कहं ते सठ तेहि कूप परै (वि० १३७।५)
(६७) धोबी के कुत्ता न घर के न घाट के।
धोबी को कुकुर न घर को न घाट को (क० उ०)
(६८) चोन्हल चोर जान मारेला।
चीन्हो चोर जीय मारिहै (वि० २६४।४)
(६९) टुटही बाहिं फुटही आँखि दुख देवे के ह, काम देवे के ना ह।
टूटियों बाँह गरे परै फूटेहु विलोचन पीर होत हित करिए
(वि० २७१।४)

(७०) अपना-अपना फेर मे दुनिये बा।
अपने को भलो को न चहत (वि० १३३।२)
प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो (वि० २४६)
(७१) अन्त भला तो सब भला।
राढउ राउत होत फिरि के जूझे (वि० १७६)
(७२) जोना राखी आपन नारि।
से का लागी गांव गोहारि।
सहज एकाकी के भवन कबहुंकि नारि खटाहिं (रा० बा०)
(७३) माथ काट के केश के रच्छा।
पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा (रा० बा०)
(७४) दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँक कर पीता है।
दूध को जरो पियन फूंकि फूंकि मह्यो हौं (वि० २६०)
(७५) राम करें से होई, गुनोउनों मति कोई।

उनकी कथन शैली में भोजपुरी वाग्धारा के साथ-साथ अनेक भोजपुरी मुहावरों का भी प्रयोग देखा जा सकता है, जैसे—(१) उघरना (२) ऊसर में बरसना (३) आधी कौड़ी का होना (४) ढील करना या देना (५) लकीर खींचना (६) जनम भरना। (७) मन मार के रहना। (८) आउबाउ करना। (९) भर लेना। (१०) छाती पर पत्थर रखना। (११) दूध (घी) की माखी होना। (१२) बांह देना। (१३) राख में होमना। (१४) बिना

आग खर जलना। (१५) द्वार पर पड़ना। (१६) अपनी ढरनि ढरना। (१७
मन फिरना। (१८) आँख फेरना। (१९) छांह छूने में सकुचना। (२०) मुं
बाना। (२१) मुंह में छार न पड़ना। (२२) धूल फांकना। (२३) वां
गहे की लाज करना। (२४) पेट खलाना। (२५) नाच नाचना। (२६
चियां चलना। (२७) मूडमारना। (२८) हिया हारना। (२९) सम
समझना। (३०) ओट लेना। (३१) भुजा उठाकर कहना। (३२) कूकर-सू
का जीवन जीना। (३३) बनिआना। (३४) बात न पूछना। (३५) खरे
साथ खोटे का चलना। (३६) विना मोल बिकना। (३७) पोठ देना। (३८
समाव न होना। (३९) ठाकुर ठांव न होना। (४०) सब जगह समाना। (४१
साका चलना। (४२) भरपेट विगाना। (४३) अपना दावसू झना। (४४
दूसरे का नाम बेंचकर पेट भरना। (४५) ठकुर सुहाती कहना। (४६) आं
देखाना। (४७) आंखतर कोई न आना। (४८) जीभ कढ़ाना। (४९)
आस पूजना। (५०) दूसरी जीभ करना। (५१) दाहिन वामन जानना।
(५२) दाहिने होना। (५३) बोया लुनना। (५४) आंख की पुतरी बनना।
(५४) नयन का फल मिलना। (५५) कान न करना। (५६) रुख देखना
(५७) जरे पर लोन लगाना। (५८) बीछी चढ़ना। (५९) माया न लगना
(६०) पाछकर माहुर देना। (६१) हाथ मींजना। (६२) मनोरथ छूं
होना। (६३) आंखवाला होना। (६४) सीस पर मीच नाचना। (६५
सूखते धान पर पानी पड़ना। (६६) बलाइ होना। (६७) बांस की जड़
घमोय होना। (६८) बेर सम्भालना। (७९) फूंक से पहाड़ उड़ाना। (७०
धूल की रस्सी बटना। (७१) नयन तरेरना। (७२) थैली खोलना। (७३
पटतर देना। (७४) कोहड़े का बतिया होना। (७५) दोनों हाथ में मोद
होना। (७६] वसा घर उजाड़ना। (७७) जरि उपारना। (७८)
हारना। (७९) गालगूल करना। (८०) ताव देना। (८१) ताव खाना।
(८२) कुछ चारा न होना। (८३) फूला फिरना। (८४) गाल फुलाना। (८५
नकवानी आना। (८६) कोख जुड़ाना। (८७) मुहांचाही होना। (८८
फूला न समाना। (८९) पेच पड़ना। (९०) भँड़िहाई करना। (९१
घुरविनिया करना। (९२) घर ही को बड़ा होना। (९३) दाव देना। (९४
गोड़ गड़ना। (९५) जोगाना। (९६) लोहा लेना। (९७) भेष से
मिलना। (९८) उघरने पर निबाह न होना। (९९) पाले पड़ना
(१००) सन की गाँठ में पानी पड़ना। (१०१) मुंह लटियाना। (१०२)
छाकर आग रखना। (१०३) अमृत फेंक विष पीना। (१०४) पेड़ काट
पल्लव सींचना। (१०५) मरन का ठाट ठटना। (१०६) काल का

हीना। (१०७) बावँ होना या देना। (१०८) बांह बसाना। (१०९) शिर पर हाथ देना या रखना। (११०) गिनती में न होना। (१११) लासा लगाना। (११२) पहिले गनाना। (११३) मुंह फेरना। (११४) गनिगनि गारी देना। (११५) पंथ चितवना। (११६) सिर धुनना। (११७) मुंहमागा पाना। (११८) सुख से सोना। (११९) पत्तल चाटना। (१२०) बालू से तेल निकालना। (१२१) पत्यर पर कमल (दूब) जमना। (१२२) पूतरा बांधना। (१२३) पासंग में न पूजना। (१२४) पेट में समाना। (१२५) मनमिलना। (१२६) मुंह जोहना। (१२७) छांह करना। (१२८) चित्त (मन) डुलना। (१२९) मन न अघाना। (१३०) कौर पर जीना। (१३१) कुपंथ परलात देना। (१३२) पंथ जोहना। (१३३) मरे को मारना। (१३४) स्वार्थ का साथी होना।(१३५) ठौर ठिकाने का होना। (१३६) जूता पकड़ना (१३७) काल के घर जाना। (१३८) मल से मल धोना (१३९) आँख निकाल के देखना। (२४०) आंखकी पुतरी बनाना। (१४१) वेकूच मुकाम का होना। (१४२) सिर पर काल नाचना (१४३) हरिअरे सूझना। (१४४) मसान जगना। (१४५) गाय मारना। (१४६) सूख जाना। (१४७) मन मारना। (१४८) हृदय में साल होना। (१४९) गाल करना। (१५०) दूध मुंहा होना। (१५१) दो सिर होना। (१५२) रक्षक का भक्षक होना। (१५३) बड़ा (१५४) गाल होना। विधि का दाहिने होना। (१५५) आंख में रखना।

झलक

कवि लोग संवाद आदि के प्रसंग में पात्र के अनुसार भाषा का प्रयोग करते हैं। विशिष्ट पुरुषों की वाणी सुसंस्कृत होती है, परन्तु सर्वसाधारण को भाषा में साधारण बोल-चाल के शब्द होते हैं। संस्कृत के कवियों ने भी पात्र भेद के अनुसार भाषा का प्रयोग कराया है। तुलसी की वाणी में भी हम इस प्रकार का प्रयोग देख सकते है। कैकेयी-मंथरा और राम निषाद के संवाद द्वारा तुलसी के प्रकृत-मातृभाषा की पहचान की जा सकता हैं. कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—जारैं जोगु सुभाव हमारा।
अनभल देखि न जाय तुम्हारा। रा० अ० १६

२—नैहर जनम भरब बरुजोई।
जियत न करबि सवति सेवकाई॥
अरिबस देव जिआवत जाही।
मरन नीक तेही जियन न चाहो॥ रा० अ० १२

३—हम सब भांति करब सेवकाई।
करि केहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड़ गिरिकंदर खोहा।
सब हमार प्रभु पग-पग जोहा॥ रा० अ० १३
४—जाब जहां लगि तहँ पहुंचाई।
फिरब बहोरि तुमहि सिरु नाई॥ रा० अ० ११२
५—तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई।
बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
जो प्रभु अवसि पार गा चहहू।
मोहि पदपदुम पखारन कहहू।
६—कृपा सिंधु बोले मुसकाई।
सोइ करहु जेहि नाव न जाई।
बेगि आनु जल पायं पखारू।
होत बिलंब उतारहि पारू॥ रा० अ० १०१

कवितावली, विनय पत्रिका आदि में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते

१—एक कहैं एकनतें—'कहां जाई, का करीं ? (क० उ०)
२—राम कहत चलु, राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहित परिहे भव बेगार में छूटत अति कठिनाई रे॥
बांस पुरान साज सब अठकठ सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल यह कुटिल करमचंद मंदमोल बिनु डोला रे॥
वि०

स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर तुलसी ने भोजपुरी अथवा भोजपुरी भाषा का प्रयोग किया है। भोजपुरी शब्दों के अतिरिक्त वाक्यांश और पूरे वाक्य तक भोजपुरी के हैं।

आगे यह बतलाया गया है कि तुलसीदास का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था, वरंच उन्हें कुलक्षणी समझकर लोग 'सुलहा' कहने लगे थे। शब्द भोजपुरी भाषा में कुलक्षणी के लिए प्रयुक्त होता है, एवं बलिया से णसी तक ही इसका विशेष प्रचलन पाया जाता है, अस्तु इस प्रयोग के पर तुलसीदास का भोजपुरी-प्रदेश का निबासी होना सिद्ध होता है और भी मुख्य रूप से बलिया से वाराणसी के मध्य का निवासी होना।

गुणकर्म के अनुसार तुलसी के 'रामबोला' नाम का प्रयोग भी पूर्वीय-प्रदेश का होना प्रकट करता है क्योंकि इस प्रकार के गुणपरक नाम पूर्वीय-प्रदेश में ही प्रचलित हो जाते हैं, तुलसीदास की माता का नाम

कहा जाता है। हुलस और हुलास शब्द का प्रयोग भी भोजपुरी भाषा में विशेष रूप से पाया जाता है। इन नामों वाले लोग भी प्रायः मिलते हैं तथा इन नामों वाले गांवों की भी अधिकता है, इसलिए इस आधार पर भी यह संभावना की जा सकती है कि हुलसी और उनके पुत्र तुलसी पूर्वीय भोजपुरीप्रदेश के निवासी थे।

श्री रामचरितमानस का रूपक उपस्थित करते हुए गोस्वामी जी ने जिस प्रकार गंगा-सरयू और सोन की 'तिमुहानी' का विशद वर्णन किया है, उस प्रकार अन्य नदी-संगमों का नहीं। यही रूपक पूर्ण होता और राम-कथा के तीनों अंगों की समन्विति होती है जिससे इस बात की झलक मिलती है कि तुलसी की जन्म भूमि तथा बाल्यावस्था की निवास भूमि इधर ही कहीं थी तथा वह भूमि भीं इधर ही थीं, जहाँ गुरु से उन्होंने रामकथा सुनी क्योंकि मानस का चतुर्थ घाट इसी भूमि में पूरा होता है तथा 'मानस' को सर्वांग पूर्णता भी यहीं होती हैं।

यथा—"राम भगति सुरसरितहिं पाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जस पावन। मिलेउ महानद सोन सुहावन॥
जुग बिच भगति देव धुनि धारा। सोहत सहित सुबिरति बिचारा॥
त्रिविधि ताप त्रासक तिमुहानी। राम सरूप सिंधु समुहानी॥
रा० बा०

भीतरी-झलक में बताया गया है कि विश्वामित्र जी का यज्ञ पूरा हो जाने के पश्चात् जनकपुर जाने वाली ब्राह्मण मंडली में श्री रामचन्द्र जी के साथ तुलसी भी दिखाई देते हैं, परन्तु विशेषता यह है कि यहां पर राम तुलसी के जीवन धन' (गी० १।५६) और 'प्राण–पियारे' (गीं० १।६८) के रूप में है, अतः तुलसी सब कहीं उनके साथ-साथ देख पड़ते हैं, यहां तक कि फुलवाड़ी में भी उनके राम के साथ विद्यमान होने का संकेत मिलता है, यथा—

'राघौ जू श्री जानकी-लोचन मिलबे को मोद;
कहिबे को जोग न मैं बातें सी बनाई हैं।
स्वामी; सीय, सखिन्ह, लषन तुलसी को तैसो,
तैसो मन भयो जाकी जैसिए सगाई है ॥ गी० १।७१।४

रंग भूमि में श्री रामचन्द्र जी कृपादृष्टि से तुलसी की ओर देख देख कर मुस्करा रहे हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि जनक पुर में राम के साथ विचरने वाले तुलसी राम के लघु समवयस्क हैं। वे केवल तुलसी हैं तुलसीदास नहीं हैं।

अयोध्या में भी भगवान् राम की बाल लीला के दर्शनाभिलाषी तुल दिखाई पड़ते हैं; परंतु वे तुलसी न होकर तुलसीदास हैं। वहां उनका निवा अयोध्या में जन्म लेने के कारण नही वरंच बाललीला के दर्शन लाभ को भाव से है। जिस बाललीला को देखने के लिए देवता गण; इन्द्र और सूर्य परस्पर स्पर्द्धा करते हैं (गी०बा० २८।५) भगवान शंकर और ऋषि-मुनि योग-समाधि का त्याग कर वहां पधारते हैं (गी० १।३२।७) तो भला तुल दास उस लाभ से अपने को वंचित कैसे रख सकते थे; जब कि उन्हें मोक्ष परित्याग कर राम की सगुण उपासना ही अभीष्ट है; यथा—

निजइच्छा प्रभु अवतरहिं, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तह; रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥ दो०१२४

अयोध्या वासी तुलसी राम की जूठनि के अभिलाषी हैं।[1] वे दूर ही से के रूप रस का पान करते और लीला का सुखानुभव करते हैं और कभी-क उनके साथ क्रीड़ा-समारोह में सम्मिलित होने की अभिलाषा भीकरते हैं किंतु समय भी वे अपनी दीनता ही व्यक्त करते हैं जिससे स्पष्ट है कि यहाँ पर तुलसी का व्यावहारिक संबंध तथा परिचय उतना घनिष्ठ नहीं हो पाया जितना जनकपुर में देखा जाता है।

बनमार्ग में तुलसो तेजपुंज लघुवयस तापस के रूप में राम के सम्मुख हैं और अपने इष्ट देव को पहचान कर प्रेम विह्वल हो 'दंड जिमि' चरणों में जाते हैं (रा०आ०भ०११०) बनमार्ग के निवासी रामरूप का दर्शन कर प इस प्रकार कहते हुए पाए जाते हैं।

'एक कहै बाम बिधि दाहिनों हमको भयो,
उत कीन्ही पीठि इत को सुदीठि दई है।
तुलसी सहित बनबासी मुनि, हमरिऔ
अनायास अधिक अघाइ बनि गई है॥ गी०अयो० ३४।४

और— दसचारि बरिस बिहार बन पदचार
करिबे पुनीत सैल सर सरि मही है॥
मुनि सुर सुजन समाज के सुधारि काज,
बिगरि-बिगरि जहाँ-जहाँ जाकी रही है।
पुर पाँव धारिहैं उधारिहैं तुलसी हू सेजन;
जिन जानि के गरीबी गाढ़ी गही है॥गी०अ०४१।३-४

इस पकार तुलसी तीन स्थानों पर तीन रूपों में राम के साथ अपने प्रकट करते हैं

---

[1] —मन भावतो कलेऊ कीजै। तुलसीदास कहँ जूठनि दीजै॥ गी० १।३

१-जनकपुर में—किशोरावस्था प्राप्त श्रीराम जी के लघु समवयस्क परम- मी सखा-भक्त के रूप में जिसकी राम से घनिष्ठता प्राप्त हो चुकी है।

२-अवध में—भगवान् राम की बाललीला और प्रसाद के अभिलाषी वयस्क धक-भक्त के रूप में, जिसका राम से दूर का परिचय है एवं पूर्ण घनिष्ठता प्त नहीं हुई है।[1]

३-यमुनापार वनमार्ग में—विरक्त भेषधारी लघुवयस तेजपुंज तापस-कवि रूप में, जहाँ राम चरणों में पड़े तुलसी को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं, र सीता जी पुत्र जानकर आशीर्वाद देती हैं।

तुलसी की इन उपर्युक्त परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए निम्नांकित थ्य तक पहुंचा जा सकता है—

१-ववसर क्षेत्र से जनकपुर तक राम के साथ रहने वाले तुलसी की बाल्यावस्था ववसर क्षेत्र में ही बीती थी, जिससे तुलसी की जन्मभूमि तथा गुरुभूमि इधर ही कहीं होने की पुष्टि होती है।

२-अवध में—तुलसीदास की जन्मभूमि न होकर निवास भूमि थी, जहाँ न्होंने वैरागी हो जाने पर राम का प्रसाद पाने के लिए भक्ति भावना से वास किया।

३—यमुनापार चित्रकूट के मार्ग में कहीं तुलसी की तपोभूमि थी, जहाँ न्होंने 'लघुवयस' अर्थात् युवावस्था में ही तपस्या की थी। उस समय वे विरक्त षधारी थे और कविता भी करते थे। यहाँ के तपस्वी तुलसी राम-सीता के राने परिचित जान पड़ते हैं क्योंकि यहां तपस्वी बिना पूर्व परिचय दिए राम चरणों पर पड़ जाता है राम भी बिना कुछ कहे सुने उसे उठाकर हृदय से गा लेते हैं। लक्ष्मण जी के साथ भी उसका ऐसा ही व्यवहार होता है एवं ता जी उसे पुत्र जानकर आशीर्वाद देती हैं। इस प्रसंग के अनुसार तुलसीदास यमुनापार के राजापुर अथवा अन्यत्र किसी भी स्थान में जन्म होने का रोध पड़ता है क्योंकि यदि तुलसीदास की जन्मभूमि इधर कहींहोती तो हां पर उनका राम-सीता और लक्ष्मण के साथ प्रथमबार परिचय हुआ होता वं कुछ न कुछ बातचीत मुखर हुई होती।

—एक बात विचारणीय है कि अवध में जन्म लेने वाला ब्राह्मण राम के घर अग्राशन खाने की अभिलाषा करता न कि जूठन! स्थानीय सुपरिचित होने से उसे जूठन देता भी कौन? जबतक तुलसी से राम और अवधवासी अपरिचित थे, तबतक वहां तुलसी को राम का जूठन मिलता रहा, किन्तु जब वे ववसर में सुपरिचित हो गए, फिर उन्होंने जूठन की मांग कहां की?

वहां के लोगों के इस कथन से कि—

'तुलसी सहित बनवासी मुनि हमरिऔ,
अनायास अधिक अघाइ बनि गई है।'

तुलसी का यमुनापार के बनवासी मुनियों के साथ तप करने की हो होती है, वहां जन्म धारण करने का संकेत नहीं मिलता; वरंच वहां के द्वारा 'पुर पाँव धारिहैं उधारिहैं तुलसी हूं से जान' कहे जाने से यह भ है कि तुलसीदास यहां से अन्यत्र के कहीं के रहने वाले थे एवं कुछ दिनो तप करने के लिए ही यहाँ आए थे। इससे यह भी झलकता है कि तुलसी कोई विशिष्ट नाता-सम्बन्ध भी राम के साथ था, जिसकी पूर्णता राम के में पहुंचने पर होती। आगे बतलाया गया है कि यह सम्बन्ध दो का था—

१—तुलसी रामचन्द्र जी के सगोत्री अर्थात् वसिष्ठ गोत्र के थे।

२—उनकी माता गौतम गोत्र की कन्या थीं, जिनका पितृगृह (बिहार) में था। सीता जी के पितृकुल का गोत्र भी गौतम ही था।

इन्हीं सम्बन्धों को तुलसी ने राम से इस प्रकार निवेदित किया है—

'तुलसी तिहारो 'घर जायऊ' है घर को।'

जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कथनानुसार 'दिल्ली विश्ववि में होने वाली 'भारतीय-हिंदी परिषद' से नद्ध 'तुलसी परिषद' में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विनोद में कहा था कि—"यदि कोई मुझसे पू तुलसीदास का जन्म स्थान कहाँ था तो मैं कहूंगा, बलिया।"

विद्वानों का विनोद भी निराधार नहीं होता, अस्तु आचार्य द्विवेदी कथन से अवश्य यह व्यंजित होता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी में स्वभाव' पाए जाते हैं जिनके आधार पर उन्हें बलिया का निवासी सके और ये गुण-स्वभाव उनकी भाषा और आचार-विचार की प्रणाली सकते हैं। हो सकता है कि श्री द्विवेदी जी ने इस पर कुछ विशेष विचार किया हो और उन्हें 'हुलासो सती' का भी पता हो क्योंकि का स्थान उनकी जन्म भूमि के निकट ही है।

श्री ग्रियर्सन, चटर्जी आदि कतिपय विद्वानों का यह कथन कि भाषा पर 'राम चरित-मानस' का प्रभाव पड़ा है, वस्तु स्थिति न समझने के उलटा अनुमान है। वस्तुतः गोस्वामीजी भोजपुरी प्रदेश के केंद्र 'ब निवासी थे, इसलिए उनकी वाणी भोजपुरी प्रभाव से प्रभावित है और चरित-मानस पर 'भोजपुरी क्षेत्र' के आचार-व्यवहार तथा भाषा का

प्रभाव है। गोस्वामीजी की रचनाओं में भोजपुरी लोकोक्तियों और प्रयोगों की जो बहुलता देखी जाती है उसका यही कारण है क्योंकि यदि 'रामचरित-मानस का भोजपुरी प्रदेश के भाव-भाषा और आचार-व्यवहार पर प्रभाव पड़ा है तो उसका अन्य प्रदेशों पर ऐसा ही प्रभाव क्यों नहीं पड़ा ? जब कि समस्त उत्तर-भारत में समान रूप से 'श्री रामचरित-मानस' का पठन-पाठन होता रहा है।

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' को वहीं तक अप्रामाणिक कहा जा सकता है, जहां तक उसपर सांप्रदायिक रंग चढ़ा हुआ है अथवा उसके वे अंश प्रक्षिप्त हैं या उसका कथन दूसरे पुष्ट प्रमाणों द्वारा कट जाता है, किन्तु इन दोषों की काई को हटाकर शुद्ध जल को ग्रहण करने में तो कोई हर्ज नहीं हैं 'वार्ता' का कहना है कि—तुलसीदास पूर्व के निवासी थे।' पूर्व का अभिप्राय काशी का पूर्वीय प्रदेश ही हो सकता है। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार श्री तुलसीसाहब श्री ग्रियर्सन साहब और श्री शिवसिंह सेंगर के कथनों का परिमार्जन कर देने पर उक्त स्थान बलिया जिले का राजापुर ही ठहरता है। इस क्षेत्र में तुलसीदास की जीवन सम्बन्धी स्मृतियाँ, लोकोक्तियों; उपख्यानों और विशेष स्थानों के रूप में तो बिखरी ही पड़ी हैं, वरंच उनके कथनों के अंतर्साक्ष्य से भी इसकी भली भाँति पुष्टि होती है। तुलसीदास की रचनाओं द्वारा उनके व्यक्तित्व और कुल की जैसी झलक मिलती है उसकी भी संगति कथित राजापुर को उनकी जन्म भूमि मान लेने से बैठ जाती है और यदि—'जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि। उत्तर दिसि सरजू बह पावनि।' को उनकी जन्मभूमि का संकेत माने तो उसकी भी क्योंकि सरयू की धारा यहां से उत्तर दिशा में ही बहती है।

हुलसी-स्थान

यों तो सतीचौरे और ब्रह्मस्थान प्रायः प्रत्येक पुराने मध्ययुगीन गांव में मिलते हैं, परन्तु जिस प्रकार भोजपुरी प्रदेश में दो ब्रह्मस्थान—मैरवा (सारन) के हरीराम ब्रह्म तथा चैनपुर-भभुआ (शाहाबाद) के हरसू ब्रह्म विशेष प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार तीन सतियां बिहिया (शाहाबाद) की महतिनसती, रसड़ा (बलिया) की ब्रह्माइन सती और हल्दी (बलिया) की हुलासीसती विशेष प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों पर दर्शनार्थ तथा मनौतियां चढ़ाने के लिये दूर-दूर से लोग आते रहते हैं।

हुलासीसती का स्थान बलिया नगर से ९ मील पूरब गंगा तट पर स्थित है। हल्दी और उसके आस-पास के अधिकांश लोग हुलासीसती के विषय में कुछ भी बतलाने से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं; फिर भी को गो

बतलाते हैं, उसमें भी एक रूपता नहीं है। सामान्य रूप से लोगों की
उनके ब्राह्मणी होने की है। जब प्रसिद्ध तीन सतियों में महतिन और
ब्राह्मणी हैं तो इस प्रकार भी हुलासो सती के ब्राह्मणी होने की धारणा को
मिलता है।

कई स्थानो के भिन्न भिन्न व्यक्तियों से ज्ञात हुआ कि हुलासो सती
की ब्राह्मणी थीं, परन्तु स्वयं रेपुरा के द्रोणवार ब्राह्मण उनको अपनी
का स्वीकार नहीं करते। उनका रेपुरा में निवास भी पौने दो सौ वर्ष के
ही का है, जबकि हुलासो सती का स्थान स्पष्ट रूप से इससे कहीं पुराना
कुछ लोग हुलासो सती को राजपुर की ब्राह्मणी बताते हैं। वहाँ के
प्राप्त ७१ वर्षीय शिक्षक रामदास कुंवर के कथनानुसार हुलासो सती उन्हीं
वंश परम्परा में थीं। उनका तर्क यह है कि उनकी वंश-परम्परा के लोग
सती की पूजा प्रत्येक शुभ अवसर पर कुलदेवी मान- कर करते आ रहे हैं।
केवल इसी आधार पर हुलासो सती को उनकी वंश परम्परा का स्वीकार
किया जा सकता। यह होते हुये भी हुलासो सती के रेपुरा-राजपुर की
होने की जनश्रुति सत्य प्रतीत होती है, जैंसा कि आगे स्पष्ट किया गया

श्री रामदास कुंवर हल्दी क्षेत्र के स्थानीय इतिहास के जानकार माने
हैं, उन्होंने बताया कि इस क्षेत्र के कोई-कोई पुराने लोग हुलासो सती को
सीदास की माता के रूप में ही मानते थे।[1] और मेरे मित्र श्री पं० वत्सराम
'सुजान' का ऐसा ही अनुमान था, किन्तु कोई सबल प्रमाण नहीं
कारण ही उन्होंने अपनी नोटबुक में इसका उल्लेख नहीं किया।[2] एक और
उन्होंने यह बताई कि हमारी वंश परम्परा के शांडिल्य ब्राह्मण विसूपुर
नेनीजोर (शाहाबाद) में बसते हैं। उनके यहां तथा हमारे यहां की
रागत जनश्रुति के अनुसार नरहरि स्वामी नाम के एक साधु हमारे
हो चुके हैं।

'गौतम चन्द्रिका' के अनुसार नरहरिदास का शांडिल्य गोत्रीय होना
है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि वे हथौंज [बलिया] के निवासी थे।
पुर के शांडिल्य-गोत्रीय ब्राह्मणों का मूल स्थान हथौंज ही है। आगे बताया

१—जमुवां (बलिया) के श्री साधुशरण सिंह ने भी परिश्रम पूर्वक पता
कर यही सिद्ध किया है, जिसे 'आज' में प्रकाशिन भी कराया है।

२—पुस्तकों में तुलसीदास की जन्मभूमि 'राजापुर' (बांदा) छपा
होने के कारण हुलासा सती के सम्बन्ध में सन्देह हो जाना

है कि हुलासो सती वस्तुतः तुलसीदास की माता हुलसी ही हैं। इसलिये ऐसा ज्ञात होता है कि नरहरिदास और तुलसीदास के सम्बन्धों के आधार पर ही राजपुर निवासी नरहरिदास की वंश परम्परा में हुलासो सती की पूजा कुलदेवी की भांति प्रचलित हो गयी; किन्तु यदि हुलासो सती को हुलसी माता से अभिन्न मान लिया जाय तो उनका गोत्र वसिष्ठ पड़ेगा, जैसा कि तुलसीदास के अन्तर्साक्ष्य से झलकता है। इस समय वसिष्ठ गोत्र के ब्राह्मण राजपुर में नहीं हैं, परन्तु इससे हुलासो सती के उस स्थान के होने का निषेध नहीं होता क्योंकि समय परिवर्त्तनशील है और गंगातट की भूमि विशेष रूप से परिवर्त्तनशील है। वहां प्रायः थोड़े-थोड़े दिनों में परिस्थितियां बदला करती हैं। लोग एक स्थान छोड़ दूसरी जगह जाकर बस जाते हैं तथा अपने कुल और स्थान के इतिहास से अनभिज्ञ हो जाया करते हैं। वस्तुतः पुराना राजापुर जो हुलासो सती के स्थान के निकट गंगा के उत्तर पार स्थित था, गंगा की धारा में ढह जाने के कारण इस समय गंगा के दोनों पार कई स्थानों पर बस गया है। गंगा के उत्तरपार राजपुर और रेपुरा [राजापुर ∠ राजपुरा ∠ रयपुरा, ∠ रेपुरा] ऐसे ही गांव हैं तथा दक्षिणपार का राजापुरा-गंगौली भी है जहां वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मणों के सैकड़ों परिवार निवास करते हैं।

हल्दी और परसिया के काकन राजपूत एक ही कुल के हैं तथा इन्हीं की अधिकृत भूमि के अन्तर्गत हुलासो सती का स्थान है किन्तु परसिया के लोगों को हुलासो सती के विषय में कुछ भी पता नहीं है कि वे कौन हैं।

हल्दी के कई काकन राजपूतों का कहना है कि हुलासो सती उन्हीं की वंश परम्परा में थीं एक सज्जन ने बताया कि उनका नैहर [पितृगृह] हल्दी से सटे हुये बादिलपुर गांव के गोहलोत राजपूत वंश में था। हुलासो सती का गौना भी नहीं हुआ था तभी उनके पति आशाकुंवर भैंस चराते समय भैंस की पीठ पर से गिरकर परलोकगामी हुए। पति के परलोक गमन की सूचना जव हुलासो सती को मिली तो वे सोलह श्रृंगार और बारह आभरण धारण कर हंसी खुशी के साथ पति की चिता के पास पहुंची तथा पति के सिर को गोद में रखकर चिता में बैठ गई। उनके शरीर से स्वतः अग्नि की ज्वाला निकली, जिसमें दोनों के नश्वर शरीर भस्मीभूत हो गये।

हुलासो सती के स्थान के निकट दो ब्रह्म तथा तीन अन्य सतियों के स्थान हैं। इनमें हुलासो सती से पूर्व दिशा में स्थित मतुरना सती को उनकी सास बताया जाता है। पश्चिम दिशा में स्थित सती कनौजिया ब्राह्मण वंश की बताई जाती है। यहां एक विशाल और पुराना वटवृक्ष है, जिसका कुछ अंश जीर्णशीर्ण होने के कारण आंधी से टूट गया है और उसके टूटने से सतीचौरा भी

भग्न हो गया है। यह वटवृक्ष सतीचौरा की अपेक्षा नवीन प्रतीत होता है क्योंकि वह सती स्थान से कुछ दूर हटकर है। शेष सती स्थानों तथा ब्रह्म स्थान के वृक्ष उद्ध्वस्त हो गए हैं, जिससे उन स्थानों की प्राचीनता प्रकट होती है। इन स्थानों से अलग वायव्यकोण में एक छोटा सा टीला है, जो समभूमि से थोड़ा ऊँचा है और जिसपर जंगली पेड़-पौधे उग आये हैं। इस टीले के दक्षिण और उत्तर के हिसाब से स्पष्ट रूप से दो भाग हैं, इनमें एक घरनी कुंवर के और दूसरा रघुकुंवर के मकान का डूह है। ये दोनों भाई क्रमशः हल्दी और परसिया के काकन राजपूतों के मूल पुरुष थे जो तीन भाई थे। बड़े भाई का नाम हेमा-कुंवर था, जो आजन्म अविवाहित रहे। इनका स्थान उत्तरी टीले के पूर्वीय भाग में एक वटवृक्ष के नीचे बताया जाता है, जहां ये कुटी बनाकर रहते थे। वटवृक्ष के चारों ओर ईंटों से घेरकर एक ऊंचा चबूतरा बना दिया गया है, जो नवीन है। दक्षिणी टीले पर थोड़े दिनों पूर्व एक ब्राह्मण साधु रहते थे। यहां उन्होंने एक कुंआ बनवा दिया है। टीले पर उनकी लघुकुटिया का ध्वंसावशेष विद्यमान है। इस स्थान के उत्तर ओर लगा हुआ एक छोटा सा वन है जो १० बीघे से अधिक होगा। इसमें लोगों ने बांस की खूंटें तथा अन्य उपयोगी पेड़-पौधे लगा रखे हैं।

१९वीं शती विक्रमी के मध्य में हेमा कुंवर, घरनी कुंवर और रघु कुंवर तीनों भाई हल्दी राजा के सिपाहियों में भरती हुए। ये तीनों भाई शरीर से बड़े बलवान और शूरवीर थे। इनके वंशज भी ऐसे ही थे इसलिये हल्दीके राजा दलगंजन देव ने इनकी भैंसों के चरने के लिए तीन सौ बीघे भूमि दी, जिसमें हुलासो सती का स्थान और उसके साथ सैकड़ों बीघे भूमि में फैला हुआ वन भी था। इस बेचिरागी मौजे का नाम 'कपूरपार' है। आज भी इस मौजे की सम्पूर्ण भूमि पर हल्दी और परसिया के काकन राजपूतों का अधिकार है। इस भूमि में जो उपज होती है, उसमें से वे लोग हुलासो सती के नाम से अगऊँ निकालते हैं और उसी के द्वारा उक्त स्थान की व्यवस्था करते हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि हुलासो सती के स्थान की व्यवस्था करने के कारण ही उन्होंने उक्त सती को अपनी वंश परम्परा का समझ लिया है, जो उनका निराश्रम है क्योंकि प्रायः यह नियम है कि जो जिस स्थान का अधिकारी होता है, वही उस स्थान के अन्तर्गत पड़ने वाले सार्वजनिक देव स्थानों की भी व्यवस्था करता है। अस्तु यही सम्भव है कि कपूरपार की बनो भूमि जो हुलासीसती के स्थान से संलग्न थी हल्दी-परसिया के काकन राजपूतों के अधिकार में आ जाने के कारण सती स्थान की व्यवस्था का भार भी उन पर आ पड़ा। उनके द्वारा उक्त भूमि की उपज से अगऊँ निकालने की प्रथा से भी यही बात सिद्ध

हुलासो सती के चौरे के दृश्य

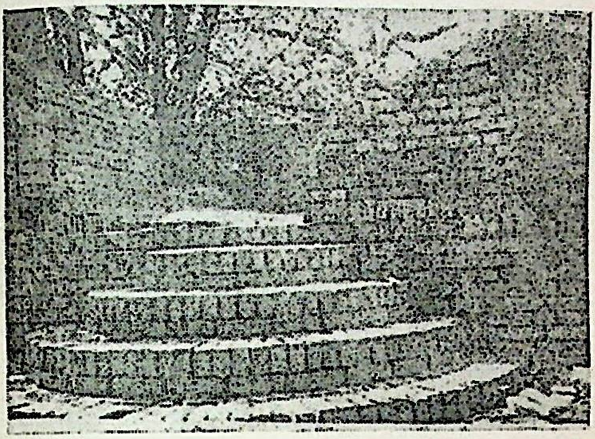

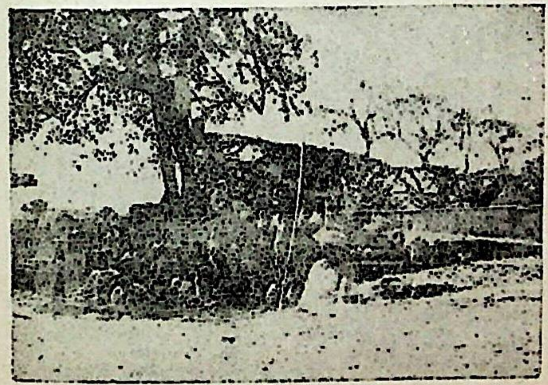

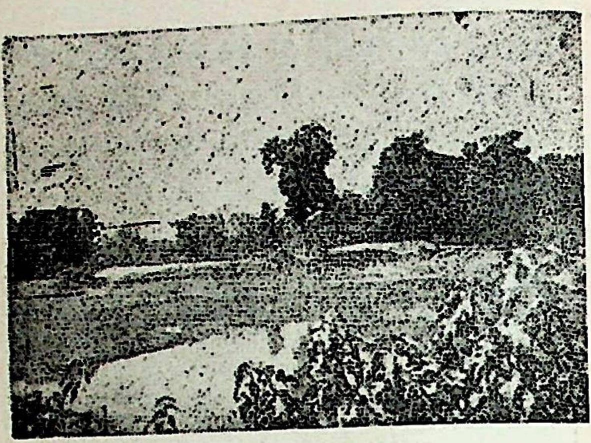

सीताकुण्ड (परसिया) बलिया

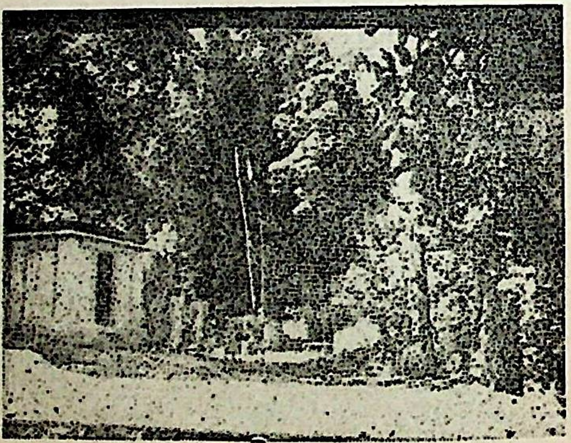

सीताकुण्ड का पराशर स्थान

होती है। यदि उक्त भूमि हुलासो सती के स्थान से संलग्न न होती तो उस स्थान की व्यवस्था और पूजा के लिए उक्त भूमि की उपज से अगऊँ निकालने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके अतिरिक्त अन्य कई बातें ऐसी हैं, जिनसे हुलासो सती के काकनवंश की होने का निषेध होता है और वे ब्राह्मणी ठहरती हैं।

हल्दी के प्रसिद्ध कवि पं० बख्शराम पांडेय 'सुबान' की नोट बुक जो उनके पुत्र श्री रामानन्द पांडेय और पौत्र व्यासमुनि पांडेय के अधिकार में है, उसके पृष्ठ ८५ पर धरनी कुँवर की जो वंशावली अंकित है, उसके अनुसार धरनी कुँवर के तीन पुत्र—रामदास, विधाता और निहाल हुए। इनमें विधाता के दो पुत्र दीप और भंवर तथा भंवर के दो पुत्र दसवन्त और जुवराज हुए। जुवराज के हल्लू, और उनके द्वारका, द्वारका के मनभरन आदि सातपुत्र एवं मनभरन के तीन पुत्र जगदेव, बच्चा और जगमोहन हुए, जो इस समय विद्यमान हैं। जगमोहन के पुत्र नन्द जी की आयु सं० २०२७ वि० में लगभग ३५ वर्ष की है। इस प्रकार धरनी कुंवर से नन्दजी सातवीं पीढ़ी में आते हैं। परसिया के काकन वंश की वंशावली के अनुसार रघु कुँवर के पुत्र बुन्देला कुंवर से होती कुंवर आदि सात पुत्र बड़ी पत्नी से और मनोहर आदि तीन पुत्र छोटी पत्नी से हुए। इस परम्परा की भी रघु- कुंवर से आठवीं पीढ़ी चल रही है। इसी प्रकार हल्दी के वर्त्तमान राजा ब्यंकटरमण प्रताप देव राजा दलगंजन देव से ७वीं पीढ़ी में पड़ते है। दलगंजन देव का राज्यकाल सं० १८५६ से १८८३ वि० तक हैं, अस्तु यही समय धरनी कुंवर और उनके भाइयों का है। इस हिसाव से वे अधिक से अधिक पौने दो सौ वर्ष पहलें के सिद्ध होते हैं किन्तु हुलासो सती का स्थान अनेक सूत्रों से इससे सैकड़ो वर्ष पुराना प्रमाणित होता है। जबकि काकन वंश के राजपूत यहां आए भी न थे।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों की दुर्बलता के कारण १९वीं शती के आसपास वर्तमान बलिया मंडल के पश्चिमी भाग में कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिनके फलस्वरूप वहां के कतिपय सत्ताधारी सामन्तों और परिवारों को अपना प्रदेश छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा। इसी समय किड़हिड़ापुर के आसपास के अधिकांश तटिहा राजपूतों को भी उक्त भूखण्ड त्याग करना पड़ा। ऐसी ही स्थिति में परसिया गांव के तटिहा लोगों के पूर्वज परसिया के वन में आए। उस समय वहां कोई बस्ती न थी, केवल सीताकुंड में कुछ ब्राह्मण परिवार के लोग तुलसीदास जी के समय से ही निवास करते आ रहे थे। अस्तु परसिया गांव की नींव परसिया में तटिहा राजपूतों के आगमन के साथ ही

पड़ी। उस समय यहां बन था। हल्दी के राजा ने उक्त क्षेत्र में कुछ ब्राह्मणों और तटिहा राजपूतों के निवास से भयभीत होकर यहां से भगाने का भरसक प्रयत्न किया और इसी के लिए हल्दो में निवास कर अपने सहायक लोगों को बसाया। काकन राजपूतों के पूर्वज हेमा कुंवर भी उसी क्रम में हल्दीराज की नौकरी में आए। परसिया में इनकी तटिहा लोगों से ३०-३५ वर्ष बाद अर्थात् उन्नीसवीं शती विक्रमी के अन्त बसी। जनश्रुति के अनुसार तटिहा राजपूतों के आगमन के पूर्व भी हुला सती का स्थान और कपूरपार का विस्तृत वन विद्यमान था अस्तु उनके आने वाले काकन राजपूतों से हुलासो सती का सम्बन्ध जोड़ना युक्तियुक्त कहा जा सकता।

आशा कुंवर का नाम घरनी कुंवर और रघु कुंवर की वंशावली में है, इसलिए जिस प्रकार आशा कुंवर का नाम कल्पित है, उसी प्रकार विषय में उक्त जनश्रुति भी कल्पित कही जा सकती है। किन्तु यदि वे अप्रसिद्ध उपनाम के साथ घरनी कुंवर या रघुकुंवर की वंश परम्परा में हुए हों तो उनका समय अधिक से अधिक सवा सौ वर्ष पीछे जा सकता है क्यों मतुरना सती को अधिक से अधिक रघुकुंवर की पुत्रवधू मान सकते हैं, इस प्रका उनके पुत्र आशाकुंवर का समय २०वीं शती विक्रमी का प्रारम्भ हो सकता जिससे किसी भी प्रकार हुलासो सती के समय का मेल नहीं मिलता।

हुलासो सती के स्थान का वटवृक्ष देखने से ही उसकी कई सौ वर्षों पुरातनता प्रकट होती है। यह वटवृक्ष अकेले ही सवाचार एकड़ भूमि को आच्छा दित किये हुए था जिसका मानचित्र विद्यमान है। मूलवृक्ष जिसकी जड़ में का चौरा था, अब पूर्णतया नष्ट हो चुका है किन्तु उसकी एक बरोह (वृक्ष शाखाओं से निकलने वाली जड़) वहां पर स्वतन्त्र बृक्ष के रूप में खड़ी है इसी प्रकार की अन्य कई बरोहें दूर-दूर पर स्वतन्त्र वृक्ष का रूप धारण कर है। इनमें कितनी ही बहुत पुरानी होने से खोखली हो गई हैं तथा टूट है। इस प्रकार यह सतिवढ़ स्वतः अपना साक्षी है और अपने को कई सौ वर्ष पुरा बतलाता है, इसके सामने हेमाकुंवर के स्थान का वटबृक्ष निपट नया दि देता है। देखने से ही दोनों की आयु में कई सौ वर्षों का अन्तर स्पष्ट हो जा में। सतीचौरों पर सतियों की स्मृति में सती होने के वाद ही वृक्षारोपण जाने की परिपाटी रही है और वहां प्रायः बटवृक्ष ही लगाये जाते थे, सती स्थान को 'सतिवढ़' या 'सतिवड़' कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति (पंजाबी का बढ़ या 'बोढ़' खड़ी बोली का बड़ और भोजपुरी का से हुई है इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि पहले सती स्थान पर देवत्व और

के प्रतीक वटवृक्ष का ही आरोपण किया जाता था बाद में सतिवढ़ शब्द सती-चौरे का द्योतक बन गया।

हल्दी नाम हुलसोदह या हुलसीडोह का विकसित रूप भी हो सकता है, यथा—हुलसीडीह ∠ हुल्डोह ∠ हुल्डी ∠ हल्दी। इस प्रकार स्पष्ट है कि हल्दी का नामकरण हुलसी सती के नाम से हुआ है। हल्दी राजवंश के राजा धीरदेव ने हल्दी में कोट बनवाई थी। उस समय भी उक्त स्थान का नाम हल्दी ही था। धीरदेव का राजत्वकाल सं० १७७० वि० है। इस प्रकार हुलासो सती की स्थिति हल्दी में काकन राजपूतों के आगमन से कम से कम डेढ़ सौ वर्ष पहले की सिद्ध होती है!

राजपूतों में अपने से उच्च वंश में ही कन्यादान देने का नियम रहा है, जिसका कड़ाई से पालन किया जाता था। गोहलोत राजपूत कुल जिसमें राणा-प्रताप का सिसोदिया वंश भी सम्मिलित है राजपूतों में श्रेष्ठ माना जाता है, जैसा कि श्रोत्रिय पं० छोटेलाल शर्मा अपने ग्रन्थ 'जाति अन्वेषण' में गोहलोतों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—यह वंश प्रतिष्ठित है। अभी भी इस वंश की प्रतिष्ठा विशेष है। श्री ज्वाला प्रसाद मिश्र ने भी 'जाति भास्कर' में इस वंश-परम्परा को प्रसिद्ध और श्रेष्ठ बताया है।

गहलोतों की गणना राजपूतों के प्रसिद्ध छत्तीस राजकुलों में की जाती है किन्तु इसके विपरीत काकन वंश की प्रतिष्ठा राजपूतों में कम है। बहुत से लोग काकन राजपूतों के राजपूत होने का भी निषेध करते रहे हैं।[1] ऐसी स्थिति में गोहलौत कुल की कन्या हुलासो सती का विवाह काकन कुल के आशाकुंवर से होना सामाजिक नियम के विरुद्ध होने से सत्य नहीं प्रतीत होता एवं किसी चरवाहे के भैंस की पीठ पर से समतल भूमि में गिर कर मरने की बात भी असंगत लगती है।

'सुजान कवि ने अपने एक हस्तलेख में हल्दी का इतिहास लिखा है। इस हस्तलेख में मार्च सन् १९२६ ई० तक की घटनाओं का विवरण दिया गया है। उसमें प्रायः हल्दी में निवास करने वाली सभी जातियों के इतिहास उनकी वंशावलियों और विशिष्ट पुरुषों की चर्चा है। उनके विषय में छोटी-छोटी बातों तक का उल्लेख किया गया है। इसमें हुंलासी सती के कुंए का उल्लेख है, परन्तु उनका काकन वंश से किसी प्रकार के सम्बन्ध होने का उल्लेख कहीं भी नहीं है, जिससे प्रकट होता है कि हुंलासो सती के काकन वंश का होने की जनश्रुति

---

[1] —ज्वाला प्रसाद मिश्र—जाति भास्कर
छोटे लाल शर्मा—जाति–अन्वेषण

सन् १९२६ ई० तक प्रचलित नहीं हुई थी क्योंकि यदि उसका पता कविवर सुजान को होता तो वे उसका उल्लेख अवश्य किये होते। इस समय भी हुलासोसती के काकन वंश की होने की जनश्रुति कुछ स्थानीय काकन राजपूतों के अतिरिक्त दूसरे लोगों को ज्ञात नहीं है। सन् १९५२-५३ ई० मेंहल्दी के निकटवर्ती छितौनी के उच्च-मा०-वि० में इस लेखक को अध्यापन कार्य करने का अवसर मिला। उससमय इसने स्थानीय इतिहास की भी खोज की किन्तु किसी ने इससे उपर्युक्त जनश्रुति की चर्चा नहीं की, जिससे ज्ञात होता है कि हुलासोसती के काकन वंश की होने की जनश्रुति इधर के १५-१६ वर्षों के भीतर ही प्रचलित हुई है। हल्दी के कतिपय काकन राजपूतों ने उसी प्रकार भ्रम सेहुलासोसती को अपने वंश का मान लिया है, जिसप्रकार वे भ्रमवंश अपनी वंश-परम्परा को हल्दी राजवंश के साथ रायरतनपुर (मध्यप्रदेश) से आया बताते हैं। काकन राजपूतों का मूल स्थान काकंदपुर (खुखुन्दू) देवरिया मंडल में नोनखार स्टेशन के पास है, जहाँ से ये लोग सुल्तानपुर, फैजाबाद आदि जिलों में फैले और वहाँ से परिस्थिति वंश पलटकर कुछ लोग १८-वीं १९ वीं शती में गाजीपुर, बलिया, सारन आदि जिलों में जाकर बस गये। किन्तु इसके सैकड़ों वर्ष पहले हल्दी राजवंश के लोग उत्तर भारत में आकर बस गए थे। जब दक्षिण में काकन गए ही नहीं तो फिर हल्दी राजवंश के साथ उनके उत्तर-भारत में आने का प्रसंग ही कैसे उठ सकता है?

हुलासोसती की पूजा सभी जातियां के लोग करते हैं। उक्त सती स्थान के पुजारी ब्राह्मण हैं। बांसडीह के मिश्र उपाधिधारी कश्यपगोत्रीय राढ़ी ब्राह्मणों तथा कतिपय भूमिहारब्राह्मण वंश-परंपराओं में हुलासोसती कुलदेवता की भांति पूजित हैं। इन बातों से उनका ब्राह्मणी होना प्रकट होता है क्योंकि ब्राह्मणेतर जातियों की सतियां केवल अपनी ही जाति द्वारा पूजित होती हैं किन्तु ब्राह्मणी सतियों की पूजा स्वयं ब्राह्मण एवं अन्य सम्पूर्ण जातियों के लोग करते हैं।

सुजान कवि के नोटबुक से विदित होता है कि हल्दी से ईशान कोण पर हल्दी मौजे के अन्तर्गत ही हुलसछपरा नामक एक पुराना गांव था जहां प्रधान रूप से हल्दी राजवंश के पुरोहित ओझा ब्राह्मणों की बस्ती थी। यह गांव गंगा की धारा में विलीन हो गया है। इसी प्रकार हल्दी के नैऋत्यकोण में 'हुलसडेहरा' नामक गाँव था जो सन् १८४० ई० अर्थात् सं० १८९७ वि० के पूर्व ही गंगबुर्द होकर गंगा के दक्षिणपार बस गया है। इसमें तिवारी ब्राह्मणों का बाहुल्य है।

इन दोनों गांवों की पुरानी स्थिति हुलासोसती की उतनी ही प्राचीनता

सिद्ध करती है क्योंकि उन्हीं के नाम पर इन गांवों का नामकरण हुआ है। इन गांवों के ब्राह्मण प्रधान होने से भी हुलासोसती का ब्राह्मणी होना झलकता है। इस क्षेत्र में हुलासोसती के साथ-साथ तुलसी के नाम पर भी गांव मिलते हैं जैसे तुलसी छपरा; तुलसीछापर तुलसीपुर तुलासपुर आदि। दूसरी बात यह है कि इस क्षेत्र की यात्रा तुलसीदास द्वारा किया जाना प्रसिद्ध है। ब्रह्मपुर के पास राजपुर [शाहाबाद] में उनके स्मारक तुलसी कुंड, तुलसीचौरा आदि प्राचीन स्थान हैं। उन्होंने हुलासो सती के स्थान की यात्रा की। वहाँ कार्तिक पूर्णिमा के स्नान का मेला लगता है। हल्दी में नवरात्र का मेला भी लगता है। सीता-कुंड पर कार्तिक शुक्ल ४ को पंचकोस का अंतिम ठहराव पड़ता है। यहां पर अनन्तचतुर्दशी के दूसरे दिन भाद्रपद शुक्ल १५ को कुंड में स्नान करने का विशेष नियम है। सम्भव है हुलासोसती की यही निधन तिथि रही हो।

इस प्रकार हुलासोसती से तुलसीदास का घनिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है। हुलासोसती की विशेष प्रसिद्धि और महत्व उनका तुलसीदास की माता होने के कारण भी हो सकता है क्योंकि बड़े पुत्र की माता बड़ी मानी जाती है। हुलासो सती के निकट अपनी आध्यात्मिक माता सीताजीके नाम पर कुंड स्थापित कर तथा उसे तीर्थ का रूप देकर तुलसीदास जी ने अपनी लौकिक और पारलौकिक माताओं में जो एकात्म्य स्थापित किया है, उससे भी हुलासोसती का उनकी माता हुलसी होना सिद्ध होता है। हुलासोसती को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर तुलसीदास द्वारा अनेक स्थानों की स्थापना की गई है तथा नामकरण किये गये हैं जैसे नन्दपुर, हाँसनगर, मेघामठ, शिवपुर, रामपुर, बजरहा आदि। तुलसीदास द्वारा स्वयं स्थापित इस प्रकार के स्मृति चिह्न अन्यत्र नहीं मिलते; जिससे तुलसीदास का हुलासोसती से स्पष्ट सम्बन्ध सिद्ध होता है और यह सम्बन्ध माता-पुत्र का ही हो सकता है।

चतुर्थ अध्याय

सूकरखेत

कुछ तो साधनों की कमी और कुछ अपूर्ण उपलब्धि के कारण तुलसी-कथित 'सूकर खेत' की खोज-सम्बन्धी स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उनकी जन्मभूमि की। बहुधा किसी एक बात को लेकर उसके अनुसार धारणा बना ली गई है अथवा जान-बूझकर किसी आग्रह को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार तुलसी की जन्मभूमि के विषय में अपना-अपना आग्रह है, उसी प्रकार उनके 'सूकरखेत' के सम्बन्ध में भी विभिन्न मान्यताएँ हैं।

तुलसी ने 'सूकर खेत' के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।
तदपि कही गुरु बारहिं बारा।
समुझि परी कछु, मति अनुसारा॥
भाषावद्ध करब मैं सोई।
मोरे जिय प्रबोध जेहि होई॥

अस्तु इस कथन से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि उन्होंने 'सूकरखेत' नाम वाले किसी स्थान में अपने गुरु जी से 'राम कथा' का श्रवण किया था, परन्तु उस समय वे इतने अबोध थे कि प्रथम बार रामकथा को भली-भाँति हृदयंगम नकर सके, जिससे गुरु जी को पुनः-पुनः वह कथा सुनानी पड़ी, तब कहीं जाकर वे राम कथा को हृदयंगम कर सके।

'श्री गोसाई चरित' में भवानीदास ने 'सूकरखेत' के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया है—

"दुतिय वास अघनास किय; पावन सूकर खेत।
त्रय जोजन जो अवघ ते, दास दरस सुख देत।
जहँ श्रीगुरु नरसिंह सन, सुनी कथा लहि ज्ञान।
सो अनादि तीरथ विदित, सगुन देव असथान।

'श्री गोसाई चरित' में वर्णित 'सूकरखेत' को आजकल 'पसका' कहते हैं। यह स्थान गोंडा जिले में घाघरा और उसकी एक सहायक सरयू नदी के संगम पर स्थित है। आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय ने 'सूकरखेत' को विवाद का विषय} स्वीकार करते हुए भी यह लिखा है कि "राम भक्तों का परम्परागत 'सूकरखेत' अवध का सूकरखेत ही है' और आज भी यहां अग्रदास का अखाड़ा, जिसे तुलसीदास के गुरु का स्थान बताते हैं, विद्यमान है। तुलसीदास का अग्रदास से जो लगाव है उसको अभी तक स्फुट नहीं किया गया किन्तु अथवा

तो मानस की टीकाओं से सिद्ध ही है कि तुलसीदास का सूकरखेत गोंडा का सूकरखेत ही है।

श्री पांडेय जी ने जिस दृढ़ता के साथ गोंडा जिले के 'सूकरखेत' को मान्यता दी है, उस दृढ़ता के साथ उन्होंने अपने कथन की पुष्टि के लिए कोई विश्वसनीय आधार नहीं प्रस्तुत किया।

वराहावतार की कथा का मूल वैदिक-साहित्य में मिलता है।[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एमुष वराह ने जो तैत्तिरीय के अनुसार प्रजापति का अवतार था, जल में डुबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया (श० ब्रा० १४।१।२।११ और तै० उ० ७।१।५।१) ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने एमुष वराह का क्षीरपाक ग्रहण किया। इस रूपक का स्पष्ट ही यह अर्थ है कि जहां पहले वराह की पूजा होती थी, वहां विष्णु और इन्द्र की पूजा होने लगी। आदि वराह को विष्णु का ही एक अवतार माना गया है। भारत से पश्चिम के देशों में निवास करने वाले आर्य (असुर और नाग) इन्द्र के विरोधी और वरुण के उपासक थे।[2] वरुण जल के देवता तथा पश्चिम दिशा के अधिपति माने गए हैं। इसलिए पृथ्वी को जलाकीर्ण करने का कार्य वरुण का है जो पश्चिमी देशों में हुआ और पृथ्वी का उद्धार भी आदिवराह ने वहीं किया। आदिवराह का क्षीरपाक (हविष्य) विष्णु ने ग्रहण किया और उस यज्ञ में इंद्र पूजित हुआ। अस्तु इस रूपक से भी यही प्रकट होता है कि वराहावतार का मूल स्थान पश्चिमी एशिया है।

पुराणों में पृथ्वो को ४ दलों वाला पद्म (कमल) कहा गया है,[3] जिसकी कर्णिका सुमेर है—

> 'भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वा कुरवस्तथा।
> पत्राणि लोक पद्मस्य मर्यादा शैल वाह्यतः॥ ब्रह्मांड पुराण

सुमेर के दक्षिण में भारत, पूर्व में भद्राश्व (चीन) उत्तर में कुरु (मध्येशिया और साइबेरिया) तथा पश्चिम में केतुमाल (शकस्थान से योरप तक का देश) सूर्य सिद्धांत के भूगोलाध्याय के अनुसार भी प्रमाणित है। डा० वासुदेव णशअ अग्रवाल लिखते हैं—

१—वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय।
अर्थात् आदि वराह ने सूकर रूप धारण कर महासिंधु से पृथ्वी को ढूंढ़कर उसका उद्धार किया (अथर्ववेद, पृथ्वी सूक्त ४५)

२—विश्वेततां विष्णुराभर दुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान क्षीरपाक मोदनं वराहमिंद्र एमुषम्॥ ऋ० ८।१७।१०

३—पद्म पुराण सृ० अ० ४०, मत्स्य पुराण अ० १६९, मार्कंडेय पुराण

'सुमेर (पामीर) के पश्चिम में केतुमाल वर्ष कहा गया है जिसकी स पक्की पहचान उस देश में वंक्षु नदा (आक्सस) कही गई है। वहां विष्णु पूजा वराह के रूप में होती थी। वस्तुतः कम्बोज या पामीर पठार से सासा ईरान तक गुप्त युग में वराह की मान्यता प्रचलित थी।[४]

इससे स्पष्ट है कि वराह पूजा का प्रचलन सर्वप्रथम पश्चिमी एशिया में हुआ उसके बाद वह भारत के अन्य भागों में फैला। इसका एक प्रमाण यह है कि उधर से आने वाले शाक द्वीपी ब्राह्मणों की कुलदेवी 'वराही' है।

एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिरः।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः॥
बलिर्वेरोचनो राजा नरकः पृथिवी जयः।
प्रह्लादो बिप्रचित्तिश्च कालखंजाश्च दानवाः॥

महा० स० ९।११।

पुराणों से भी ज्ञात होता है कि आदि वराह का अवतार रसातल (नागलो में हुआ था यथा—

शूकरेण हिरण्याक्षो लीलया च रसातले।

—ब्रह्मवैवर्त पुराण ४।५६।

मत्स्यपुराण के अनुसार भी मूल शूकरक्षेत्र भारतवर्ष के बाहर शाक द्वी में है, यथा—— 'तस्यापरे चाम्बिकेयः सुमनाश्चैव सस्मृतः।
हिरण्याक्षो वराहेण तस्मिन् शैले निषूदितः। म० १२१।

बाल्मीकि रामायण में सुग्रीव ने 'वाराह पर्वत' की स्थिति पश्चिमी देशों बताई है। पारियात्र के पश्चिम बज्र पर्वत तत्पश्चात् चक्रवान और तत्पश्चा वाराह पर्वत है जो ६४ योजन विस्तार में है, यथा—

योजनानि चतुः षष्टि वराहो नाम पर्वतः।
सुवर्ण शृंगः सुमहा नगाधे वरुणालये॥ वा० रा० ४।४२।।१०

इस प्रकार वाराह पर्वत की स्थिति टर्की या योरप में है। पश्चिमी ए में वराह पूजा का प्रचलन प्राचीन काल में था और इसी परम्परा के अनु उक्त क्षेत्र में वराह-बध वर्जित था, जिसे मुसलमानी धर्म में आज स्वीकृति मिली है एवं मुसलमान शूकर-वध करना हराम (पाप क मानते हैं।

---

[४] —मार्कंडेय पुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १५५

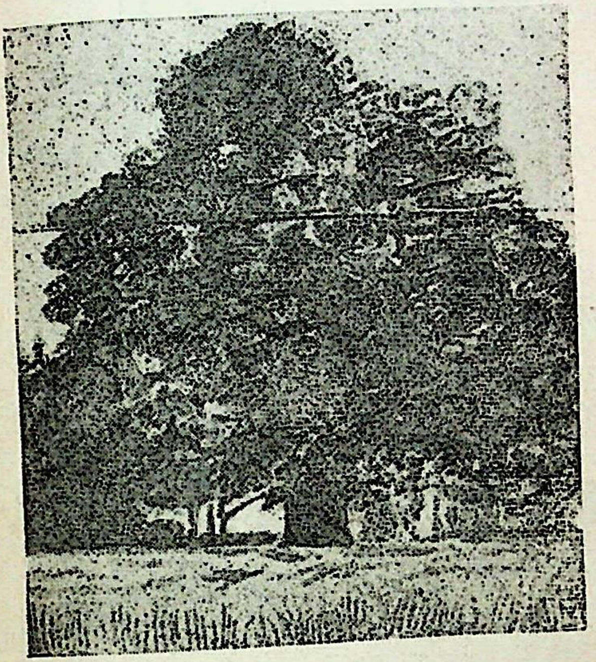

सूकरखेत का वटवृक्ष गभिरार जिला सिवान (सारन)

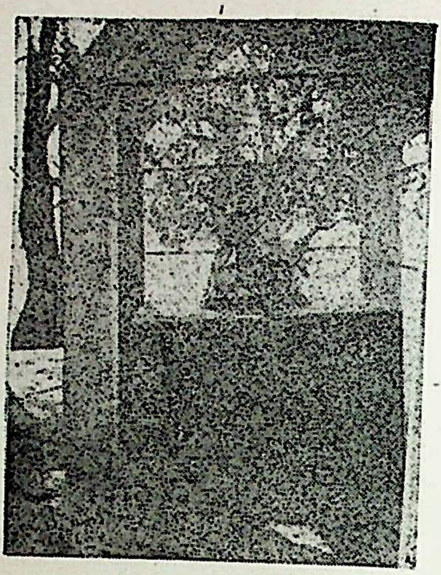

तुलसी चौरा (रघुनाथपुर) जिला भोजपुर, विहार

ब्रह्मपुर के शिव मन्दिर का वाह्य दृश्य जिला भोजपुर, विहार

आचार्य चतुर सेन शास्त्री के कथनानुसार—'केतुमालद्वीप में वराहमूर्ति की पूजा होती थी। अनेक शक-क्षत्रप भी वराह पूजन करते थे।[१] इंगलैंड, स्वीडन, नारवे और जर्मनी में भी वराहवंश के अवशेष हैं। योरप के उत्तर भाग में केतुमाल प्रदेश था, जिसे अब 'कोलापेनिन्सुला' कहते हैं। यहां की जनता और स्थानों के नाम भी वराहवाची हैं।

वायु-पुराण में वराह द्वीप की गणना हिंदेशिया के द्वीपों के अंतर्गत की गई है,[२] यथा—

'अंग द्वीपं यवद्वीपं मलय द्वीप मेवच।
शंख द्वीपं कुश द्वीपं वाराह द्वीप मेवच॥
एवं षडेते कथिता अनुद्वीपा समंततः।
भारतं द्वीप देशोवै दक्षिणे बहु विस्तरः॥

मत्स्य पुराण के अनुसार भगवान वराह का प्रसिद्ध स्थान गोमती तट पर नैमिषारण्य (सीतापुर) में है, जैसे—

'तदे तन्नैमिषारण्यं सर्व तीर्थ निषेवितम्।
देव देवस्य तत्रापि वराहस्यतु दर्शनम्॥ २२।१५

भारत में अनेक स्थलों पर वराह-मूर्ति के दर्शन होते हैं। एवं उत्खनन में भी वराह-मूर्तियाँ मिली हैं। महाभारत सभापर्व (२१।२) के अनुसार राजगिरि (मगध) के पास के एक पर्वत का नाम वराह पर्वत है।[३]

अस्तु मूल वराह-क्षेत्र भारत के बाहर है तथा विदेशों में भी उक्त क्षेत्रों की व्यापकता है और भारत वर्ष में तो है ही। भारत वर्ष में जहाँ कहीं वराह-क्षेत्र निर्मित किए गए, भगवद्भक्तों के द्वारा ही निर्मित किए गए एवं प्रतीकात्मक होने से प्रायः सभी समान हैं, तब 'पसका' को ही 'रामभक्तों' का परंपरागत 'शूकर-क्षेत्र' कहने में कोई विशेषता नहीं है।[४]

१—शक लोग टर्की तक फैले थे, अतः बेरुत नगर का नाम वराहवाची ज्ञात होता है।

२—बोर्नियो (यह द्वीप अंग्रेजों तथा डचों के अधीन रहा है, अतः 'बोर्नियो' नाम भी उन्हीं का दिया हुआ है, जो 'बाराह द्वीप' का अपभ्रंश है। अंग्रेजी में 'बोर' वराह का ही पर्याय है।)

३—'वैहारो विपुलः शैलो वराहो ऋषभस्तथा।'

४—भारत वर्ष में वराह और उसके पर्यायवाची नामों पर बसे हुए गाँव, तालाब, नदी-नाले आदि की कमी नहीं है, यथा—वारामूला (कश्मीर) बराह क्षेत्र (नेपाल) वराह गांव (राजस्थान, गुजरात) कोइलवर (विहार) कोल्हापुर (महाराष्ट्र) कोल (अलीगढ़) वरह, कोलअसला (बनारस) सोरों (एटा)।

यदि यह स्थान परंपरागत 'सूकर क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित होता तो यहाँ परंपरा से वराह भगवान की नियमित पूजा और वराहावतार के दिन उत्स मनाने का प्रचलन भी होता, इस स्थान का नाम और विवरण इतिहास पुरा एवं पुराने ग्रंथों में भी होता क्योंकि यह स्थान अयोध्या की ८४ कोस परिक्रमा के अंतर्गत है।

श्री भवानीदास कृत 'तुलसी-चरित' में पसका को 'सूकरखेत' कहे जा का कारण ग्रन्थ-रचयिता का अनुमान मात्र है। वहां पर पुरानी वराह मूर्ति देखकर ही उन्होने उसे तुलसीदास का सूकर-खेत अनुमान कर लिया। यदि स्थान तुलसीकाल में सूकरखेत के नाम से प्रसिद्ध होता तो आज वह पसका क्यों कहा जाता।[1] 'पसका' नाम अपने तत्सम रूप में नहीं है,[2] अस्तु इस नाम के तद्भव रूप में प्रचलित होने में भी शताब्दियों का समय लगा होगा भी यह 'शूकर क्षेत्र' का विकसित तद्भव नाम नहीं है।

यदि कोई स्थान वराह-मूर्त्ति के होने से ही 'सूकर-खेत' मान लिया जा तो देश मे अनेक 'शूकर-क्षेत्र' निकल आयेंगे, जैसे—बुन्देलखंड में कालि और दुघही आजमगढ़ मंडल में लालगंज तहसीलके अन्तर्गत डुभावें (हविस-दह) और पल्हना नामक स्थान, कन्नौज (फरुखाबाद), सैदपुर भीत (गाजीपुर) गया जिले के नवादा उपमंडल का अफसाँर नामक स्थान आदि किन्तु इनमें से किसो भी स्थान का नाम 'शूकर' या वराहवाची नहीं है वरंच ऐसे बहुत से शूकरवाची या वराहवाची स्थान हैं जहाँ वराह मूर्ति नहीं है, जैसे—वराहक्षेत्र (नैपाल) सोरों (एटा), सुअरहा (बलिया) आदि।

तीसरी बात यह है कि जब अग्रदास और तुलसीदास के परंपरा संबंध का ही पता नहीं, तो लोगों का यह कथन कुछ आधार नहीं रखता

बलिया और उसके आसपास के जिलों में इस प्रकार के अनेक स्थान हैं।

बलिया—सुअरहा, सियरहा कोल, वारापन, बाराडीह, बरहुंचा सुकरौली, सकरपुरा, सुरहा (सूकरदह) सुरही, सुरहिया अदमापुर, बरचा।

सारन— सुअरही, सकरा, शिवपुर-सकरा, बारा बरदहा बरवा बरहोंवा, वरहन, घोंणी नदी, सुकरौली, आदमपुर (आदिम बराह)

आरा—सुअरा टांड़, सुअरा नदी।

गाजीपुर—वेटावर (वटवराह) वराही

[1] —भाद्रपद शुक्ल ३ को अपराह्ण में आदिवराह का अवतार हुआ।

[2] —पसका की व्युत्पत्ति पशु, पाश, पाशिक और पश्यकः से सम्भव है।

जहाँ तुलसीदास के गुरु रहते थे।

चौथी बात 'मानस' के टीकाकारों के सम्बन्ध की है। ये टीकाएँ जब तुलसीदास के निधन के सैकड़ों वर्ष बाद की लिखी हैं, तो स्पष्ट है कि इनपर श्री गोसाई-चरित' की छाप पड़ी है। स्वयं जब श्रीगोसाई चरित की ही रचना तुलसीदास के साकेतगमन से डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक समय बाद हुई और उसमें वर्णित अनेक बातें इतिहास विरुद्ध काल्पनिक तथा अप्रामाणिक सिद्ध होती है[1] तो ऐसी दशा में उसका 'सूकरखेत' सम्बन्धी विवरण भी बिना विचार किये प्रामाणिक मान लेना युक्ति युक्त नहीं है[2] एक और बात है, जब टीकाकारों[3] ने उक्त स्थान का नाम वराहक्षेत्र लिखा है तो तुलसीदास ने उसका पर्याय अप्रसिद्ध नाम क्यों लिखा ?

जिस प्रकार तुलसीदास जी के ही कथन से 'सोरों (एटा) उनका वह 'सूकर खेत' सिद्ध नहीं होता, जहाँ उन्होंने गुरु से 'रामकथा' सुनी थी क्योंकि सोरों-सामग्री के अनुसार उनके गुरु नरसिंह शुक्ल एक सुसंपन्न गृहस्थ आचार्य और वहां के चौधरी थे।[4] इसलिए यदि वे रामकथा का उपदेश करते तो केवल तुलसी के निमित्त ही नहीं, वरंच व्यास की भाँति बहुत से श्रोताओं की सभा में बैठकर करते, किन्तु तुलसी के कथन से विदित होता है कि उनके गुरु ने केवल उन्हीं के लिये बार-बार रामकथा का उपदेश किया था। दूसरी बात यह है कि वहां के वातावरण में सामर्थ्यवान गुरु नरसिंह शुक्ल से लालित-पालित होने पर

१—'गोसाईचरित' में वर्णित बहुत सी बातें इतिहास के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं — रामचन्द्र शुक्ल—हि०सा० का इतिहास पृ०१२५

'गोसाईं चरित' गोसाईं जी की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्ष बाद रचा गया अतः इसमें अप्रामाणिक बातें भी आ गई हैं।

(डा० किशोरी लाल गुप्त--गोसाई चरित पृ०३०-३१)

'इसको (गोसाई चरित को) भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

(डा० भगीरथ मिश्र- -रामरसायन पृ०५२)

२—दे०—प्रथमाध्याय

३—रामायण मानस प्रचारिका (स०१९३२ वि०) पृ०१२४

अयोध्या का इतिहास—लाला सीतारामकृत पृ०१४

४—'तब अनाथावस्था में नगर के चौधरी सनाढ्यकुलरत्न सर्वशास्त्रज्ञ श्री पं० नरसिंह जी ने इनको (तुलसीदास को) पालापोसा, पढ़ाया- लिखाया और गृहस्थ बनाया।' —श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' (सुकवि सरोज पृ० १)

उनके 'कलिमल ग्रसित-विमूढ़' होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि सामग्री के अनुसार ऐसा कोई कारण वहां उपस्थित नहीं था।

अस्तु उसी प्रकार तुलसीदास के ही कथन से पसका (गोंडा) के भी कथित 'सूकर खेत' होने का समर्थन नहीं होता। यह स्थान अयोध्या को कोस की परिक्रमा के अन्तर्गत है। अस्तु परिक्रमा काल के अस्त-व्यस्त गुरु द्वारा विस्तार से राम-कथा का उपदेश दिया जाना और बालक एवं ग्रसित विमूढ़' शिष्य द्वारा उसे श्रवण कर हृदयंगम किया जाना संम्भव नहीं पड़ता। उपदेश के निमित्त एकांत वातावरण और गुरु शिष्य का प्रस्तुत मनोयोग अनिवार्य है, परन्तु भीड़भाड़ की स्थिति में मनका चंचल रहना विक है। पथ चलने से उत्पन्न श्रांति-क्लांति और विश्रामस्थल पर व्यवस्था चिन्ता भी उपदेश की ओर श्रोता-वक्ता की प्रवृत्ति में बाधक है। परिक्रमा अल्प-कालिक अवधि में 'रामचरित मानस' जैसी सुविस्तृत कथा की एक भी असम्भव है, किन्तु तुलसी को स्वकथित 'सूकर खेत' में लगातार रामकथा सुनने का अवसर मिला था, जिसमें एक साथ महीनों क्या वर्षों समय लगा होगा।

यदि मान लिया जाय कि पसका में नरहरिदास का स्थायी आश्रम अथवा कुछ काल वहाँ ठहर कर उन्होंने तुलसीदास को राम-कथा सुनाई ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है; और जबकि पसका अयोध्या के है, तो किसी भी रामभक्त सन्त का पसका की अपेक्षा अयोध्या में स्थायी से निवास करना अधिक युक्तियुक्त है। यदि पसका तुलसीदास-कथित सूकर होता तो वे उससे अयोध्या की समीपता का उल्लेख अवश्य किए होते। दास के अपने विषय में जो उल्लेख हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि उनको भूमि किसी शिवपीठ के निकट थी और शिव की ही कृपा से उन्हें राम मानस लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी, किन्तु पसका में या उसके आसपास शिवपीठ नहीं है। तुलसीदास ने 'मानस' के प्रारम्भ में रामकथा का जो बांधा है, उसमें भी पसका वाले सूकरखेत की ओर कोई संकेत नहीं है वराह मूर्त्ति की ही चर्चा है।

इसके अतिरिक्त 'श्रीगोसाईं चरित' के तुलसीदास अपने आश्रम में भी उसके प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता व्यक्त करते नहीं दिखाई देते, जो भव प्रतीत होता है। इसलिए पसका में वराहमूर्त्ति होने तथा उसके का निकटवर्ती होने के कारण ही 'मानस' के टीकाकारों और 'श्री चरित' के लेखक ने उसे तुलसी-कथित 'सूकरखेत' समझने की धारणा बना

गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि तुलसी कथित 'सूकरखेत' में कोई राहमूर्ति न थी। वहां पर लोग किसी वटवृक्ष के नीचे वेदी बनाकर [१] मोथा ारा 'आदिवराह' को पूजा करते थे, परन्तु पसका में 'वराहमूर्ति का दर्शन ूजन होता है। अतः उपयुक्त सभी बातों के अनुसार पसका स्थित सूकरखेत के तुलसी कथित सूकरखेत होने का निषेध होता है।

दूसरा पक्ष सोरों (एटा) का है जिसे उक्त 'सूकरखेत' बताया जाता है और जिसके प्रमाण में बाँदा गजेटियर का निम्नांकित लेख प्रस्तुत किया जाता है, यथा 'कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल में (स० १६१३-६२) एक संत जिसका नाम तुलसीदास था और जो सोरों तहसील कासगंज जिला एटा का निवासी था, यमुनातट के उस जंगल में आया. जहां इस समय राजापुर आबाद है और वहाँ पर ईश्वरप्रार्थना और ईश्वरध्यान में दत्तचित्त रहने लगा।'

सोरों के तुलसीदास द्वारा वर्णित 'सूकरखेत' होने का निराकरण प्रथमाध्याय में भी किया जा चुका है। 'सोरों' शूकर का अपभ्रंश है भी नहीं क्योंकि 'शूकर' का अपभ्रंश 'सूअर' होता है एवं जब एटा गजेटियर में सोरों के विवरण के साथ तुलसीदास की कहीं चर्चा नहीं तो फिर बाँदा गजेटियर के आधार पर तुलसीदास को सोरों से संबद्ध करना, कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। विचित्र बात तो यह है कि राजापुर में इस प्रकार की कोई जनश्रुति भी प्रसिद्ध नहीं रही है। इससे तो यही पता चलता है कि बांदा गजेटियर के लेखक ने 'सूकरखेत से अनभिज्ञ और सोरों से अभिज्ञ रहने के कारण ही भ्रमवश सोरों को सूकरखेत मान लिया और फिर अपने मन से उसका पता 'तहसील कासगंज जिला एटा दे दिया। अतः गजेटियर के उक्त कथन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय ने भी इसी आधार पर बांदा गजेटियर के कथन का खंडन किया है।

इतना तो कहा जा सकता है कि गजेटियर के लेखक ने 'सोरों' का पता अपने आप ही दिया होगा अथवा उस लेख से लिया होगा, जिसके आधार पर उसने उसका निर्माण किया है। मूल में सोरों किंवा सूकरखेत नाम रहा होगा और लेखक ने उसका निर्देश 'तहसील कासगंज जिला एटा में' अपनी ओर से

१—देवता की वेदी बनाकर पूजा करने का प्रचलन पूर्वीय उत्तरप्रदेश और बिहार में है।

कर दिया होगा। जो हो; दूसरे संस्करण में कुछ और भी तुलसीदास के में उसमें जोड़ दिया गया है और अब ग़जेटियर में उसको यह रू गया है।[1]'

ध्यान देने योग्य बात यह है कि पश्चिम में लिखी गई 'दो सौ बावन- और सोरों के निकट निवासी 'तुलसी साहब' को 'सोरों' और 'तुलसीदा किसी भी सम्बन्ध का पता नहीं है, न जन्मभूमि के रूप में और न निवास के रूप में। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सोरों के आसपास कोई ऐसी जन प्रचलित नहीं रही है जिसके अनुसार 'सोरों' को तुलसीदास की गुरुभूमि, भूमि या निवास भूमि माना जा सके।

यदि मान भी लिया जाय कि बाँदा-गजेटियर के लेखक ने राजापुर (की जनश्रुति के आधार पर ही तुलसीदास का सोरों (एटा) से राजापुर (में आना लिखा, तो उस जनश्रुति का क्या ठिकाना! क्या लेखक की जनश्रुतिकार भी अपने कथन में 'नमक-मिर्च' नहीं मिला दिए होंगे और अनुमान एवं अधूरी जानकारी का सहारा लेकर परम्परागत जनश्रुति में वर्त्तन नहीं कर दिए होंगे? कभी-कभी जनश्रुतियाँ पूर्णतः तथ्य के विरुद्ध मनगढन्त ही होती है अतः केवल राजापुर की जनश्रुति को प्रमाण मानकर बात का निश्चय नहीं किया जा सकता। गजेटियर का लेख इतना पुराना नहीं है कि उसे प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया जाय। उसके लेखक ने यह नहीं लिखा कि उसे उक्त जानकारी कहाँ से प्राप्त हुई?

श्री डा० भगीरथ मिश्र ने 'शूकर क्षेत्र' के संबंध में अपना विचार प्रकार व्यक्त किया है—'शूकरक्षेत्र' नाम के अधिकारी दो स्थान प्रस्तुत जाते हैं—एक तो प्रसिद्ध सोरों है और दूसरा गोंडा जिला में सरयू के कि तीर्थस्थान, जिसे पं० रामबहोरी शुक्ल ने प्रस्तुत किया था। यदि गोस्वा तुलसीदास का जन्म राजापुर माना जाय, तो तुलसी गुरु की खोज में राम सुनने राजापुर से उस अप्रसिद्ध 'सूकरखेत' क्यों जाते? अधिक प्रसिद्ध स्था प्रयाग, काशी और चित्रकूट थे, जहाँ वे बड़ी सुगमता से जा सकते थे। वास्त में प्रामाणिक गोंडा वाला शूकर-क्षेत्र नहीं। एक तो सोरों है, दूसरा बिहार जो 'वाराह क्षेत्र' माना जाता है। राजापुर से सोरों जाना भी कुछ तुक नहीं दीखता, क्योंकि तुलसी बहुत छोटे थे और निपट असहाय भी थे। फि ही उतनी दूर 'निज गुरु' भी कैसे हो सकते थे।[2]

---

[1] —तुलसीदास पृ० १२-१३

[2] —तुलसी रसायन (साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद) पृ० ६०-६१

सूकरखेत के सम्बन्ध में एक तीसरा पक्ष भी है, जो कहीं-कहीं किसी रूप में मुखर होता दिखाई दे रहा है जैसा कि डा० राजनाथ पांडेय को त्रिभुवन विश्वविद्यालय (नेपाल) की किसी गोष्ठी में वहां के लोगों ने अभी हाल ही (सं० २०२३ वि०) में इस प्रकार बताया है—

'जिन गुरु श्री 'नरहरि' का तुलसीदास ने "रामचरित-मानस' में स्मरण किया है, उन श्री नरहर्यानन्द का आश्रम आज भी नेपाल राज्य की सीमा में स्थित 'वराह क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध तीर्थ है।'[१]

श्री पांडेय जी ने तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त निम्नांकित शब्दों को उद्धृत किया है जिन्हें वे नेपाली भाषा का बताते हैं यथा—रूख (वृक्ष), परिखना (प्रतीक्षा करना), जान (ज्यान=गति), उबोठें (उमठे=उबकाई आना या दाँत फटना), कत (कितना), खेहरखाउ (मिट्टी का खाया हुआ, मिट्टी का लोंदा), गढ़ोले, (गढ़ किले=गूढ़), थप्यो (स्थापित किया), नै (ही), दादि (दादनि=वेतन की अग्रिम रकम), बांची (बांच्यों=अमृत), भभरि (भभाड़=भँभाना,) भूंभुरि, लागि, लिए), हाते (विनष्ट), हेरिए (हेर्नु= देखना)

और वे आगे कहते है—'जिन तथाकथित शब्दों का उल्लेख हुआ है उनके तथा अनेक पूर्वी बोलियों में प्रयुक्त तुलसी साहित्य के शब्दों के आधार पर निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्वांचल में मैथिली भाषा-भाषी क्षेत्रों से और कहें तो कह सकते हैं कि कुछ हद तक नेपाली भाषा-भाषी क्षेत्रों से भी तुलसीदास का कुछ अधिक समय तक अवश्य सम्पर्क रहा है। जिस कोटि के शब्दों का उल्लेख हुआ है, उससे यह भी प्रतीत होता है कि वह सम्पर्क बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था में ही रहा होगा। यही कारण है कि तुलसी साहित्य में अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं, जिन्हें नेपाली भाषा-भाषी बन्धु नेपाली भाषा का मानते हैं।. नेपाली भाषियों में तुलसी की लोक-प्रियता का धार्मिक और सांस्कृतिक साम्य के अतिरिक्त यह साहित्यिक सम्बन्ध भी एक अत्यन्त पुष्ट और प्रबल आधार है।[२]'

श्री पांडेय जी का उपर्युक्त लेख प्रकाशित होने से तीन वर्ष पूर्व स्वयं इस ग्रंथ के लेखक ने स्वसंपादित 'चतुर्मुख-पत्रिका' में तुलसी के 'सूकरखेत' के सम्बन्ध में अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया था—

१—'आज' ६ अगस्त १९६७ ई० पृ० १०

२—वही पृ० १५

"मेरे अनुमान से गोस्वामीजी को गुरु द्वारा जिस शूकरक्षेत्र में राम की उपलब्धि हुई, वह स्थान नैपाल का वाराह-क्षेत्र है, जो मोरंग जिले सप्तकोशी और कोकहा नदी के संगम पर स्थित है तथा जो प्राचीनकाल साधु-संन्यासियों, विशेषकर राम भक्तों का केन्द्र बन गया है। यहां पुरा समय से अब तक रामधूनी जल रही है। यह स्थान जनकपुर के नि भी है।¹"

'गोस्वामी जी के समय में नैपाल का उक्त बाराह क्षेत्र राम-कथा को च का केन्द्र बना हुआ था। गोस्वामी जी से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व महर्षि कनक-राजदेव जी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर इसी बाराह क्षेत्र में रहने लगे थे इन्होंने बाल्मीकि रामायण पर कनक टीका लिखी। इन्हीं महर्षि के नाम पर यहाँ की एक नदी का नाम कनकाई या 'कनक' माई पड़ गया। इस आधार पर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि गोस्वामी जी की गुरुभूमि नैपाल का बाराह क्षेत्र रहा होगा।"

"महर्षि कनकदेव जी की तपोभूमि बलिया जिले में 'कंसो-पटना' नामक स्थान बताया जाता है। यहाँ उनके द्वारा संस्थापित कनकेश्वर-महादेव का मन्दिर भी है जहाँ से 'कंसोक्षेत्र' की पंचकोसी यात्रा का प्रारम्भ किया जाता था।²"

गतवर्ष इस लेखक की नवीन खोजों के फलस्वरूप जो उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे लेखक का उपर्युक्त विचार बदल गया है किन्तु उक्त उपलब्धियों के सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व श्री पांडेय जी के कथन पर विचार कर लेना आवश्यक है। उनके कथनानुसार :—

(१) नैपाल के वाराह क्षेत्र में तुलसीदास के गुरु नरहरिदास का कोई स्थान बताया जाता है। (२) तुलसी साहित्य में कथित नैपाली शब्द तथा पूरवी शब्द मिलते हैं, जिससे तुलसीदास का नैपाल के कुछ भाग तथा मिथिला में निवास करना सिद्ध होता है, खासकर वाल्यावस्था अथवा कैशोरावस्था में। नेपालीभाषियों में तुलसी की लोकप्रियता का धार्मिक और सांस्कृतिक साम्य के अतिरिक्त यह सम्बन्ध भी एक अत्यन्त पुष्ट और प्रबल आधार है।

श्री पांडेय जी की उपर्युक्त संस्थापनाओं के सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है—(१) नैपाल के वाराह क्षेत्र में नरहरिदास का स्थान होने पर भी उसे तुलसीदास-कथित 'सूकरखेत' मानना युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि वाल्यावस्था में जबकि वे 'अति अचेत' थे उनका गुरु के साथ भी अपनी जन्मभूमि से उतनी दूर

१—चतुर्मुख (त्रैमासिक) सं० २०२१ अंक ३ पृ० ५५

२—चतुर्मुख सं० २०२१ अं० ३ पृ० ५६

बीहड़-स्थान पर जा सकना और निवास करना संभव नहीं प्रतीत होता। दूसरी बात यह कि यदि उन्हें उक्त वराहक्षेत्र अभीष्ट होता तो वे उसे 'सूकर-खेत क्यों कहते ? गौतम-चन्द्रिका से विदित होता है कि नरहरिदास एक परिव्राजक साधु थे तथा उनका एक स्थान नर्मदातट पर भी था।[1] अस्तु उनके स्थान की वराहक्षेत्र में भी संभावना हो सकती है और यह भी संभव है कि तुलसीदास ने भी मिथिला में कुछ काल तक निवास किया हो एवं उसी क्रम में 'वराह क्षेत्र की यात्रा भी की हो क्योंकि वहां के प्रसिद्ध 'चतरा (चैत्यवाराह) मठ' का संबंध १६ वीं शती से ही वर्त्तमान बलिया जिला स्थित 'कंसोपटना' राज्य से था। यहां उक्त मठ को 'सराय भारती' नामक गांव की माफी मिली थी और बाद में सरयूतट स्थित 'डुहा-विहरा' की माफी मिली।[2] गौतम चन्द्रिका और गोसाई चरित से भी तुलसीदास जी का मिथिला जाना प्रमाणित है किन्तु ये बातें तो उनकी प्रौढ़ावस्था की हैं।

(२) श्री पांडेय जी ने नैपाली भाषा के जिन शब्दों को उद्धृत किया है उनमें प्रायः सभी का प्रयोग भोजपुरी में होता है, जैसे—रूख, जान (अतिशय प्रिय अर्थात पति), डबीठना, कत खेह, गहीलें (गहिर या गचकील) थापना, दादि (दादनी), बँचना, भभरि (भय से रोमांचित होना) भूभुरि (धूल भरी अत्यंत तप्त भूमि), हाते (हत) और हेरना (दिखना) का। वस्तुतः नैपाली और मैथिली भोजपुरी की पड़ोसी भाषाएँ हैं। इसीसे इनमें शब्द साम्य पाया जाता है। धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं, भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी नैपाल का तराई भाग, मिथिला और भोजपुरी प्रदेश की एकता रही है और है।

यदि तुलसी-साहित्य में नैपाली-भाषा के दो एक शब्द आ भी गए हों तो उनके आधार पर यह मान लेना उचित नहीं होगा कि तुलसीदास ने बाल्यावस्था

१—आपु अवध ते कासी आए। पुरी नर्मदा तट गृह छाए॥

२—श्री मनमुकुन्द भारती चतरामठ (वराह क्षेत्र नैपाल) में रहते थे। उनके शिष्य श्री गोपालभारती को डूहा-विहरा की माफी मिली। डूहा में इनकी शिष्य-परंपरा इस प्रकार है—(३) सर्व श्री कल्यान भारती, (४) देव (५) गया (६) खगेंद्र या वनखंडी जी; इनकी समाधि सीसोटार में है। (७) टोडर (८) संग्राम (९) रामदत्त (१०) निर्भय (११) बलजोर (इन्होंने छिलकर और सीसोटार की सीमाबंदी की पंचायत में सीसोटार का पक्षपात किया) (१२) देवनारायण (इन्होंने सीसोटार में अपने १८ बीघे का बाग जो पुण्यार्थ; या कटवा कर खेत बना दिया) (१४) हरिशंकर (१५) उमापति (१६) सच्चिदानन्द (आयु लगभग ६० वर्ष)

यदि एक पीढ़ी २५ वर्ष की मान लें तो उक्त वंश परंपरा को डूहा में रहते हुए चार सौ वर्ष से अधिक हुए।

या कैशोरावस्था में वहां निवास किया था। तुलसीदास की भाषा में तो गुजरा मारवाड़ी और बंगाली शब्द भी मिलते हैं, जैसे मूको, म्हाको; थाकौ (क० २१) आदि। वे साधु थे, उन्होंने सारे भारत का और भारत से वाहर सरोवर तक का पर्यटन किया था, अतः उनकी भाषा में उपर्युक्त प्रयोगों मिल जाना असंभव नहीं है। (

यह पहले कहा जा चुका है कि तुलसीदासजी की जन्मभूमि वर्त्त बलिया जिले में बलिया नगर से ९ मील पूरब गंगातट पर है। यहां तुलसी की माता 'हुलासीसती' का स्थान भी है। इसके ठीक १४-१५ मील सरयूतट पर उनकी गुरु भूमि सूकरखेत है तथा इसके अंतर्गत ही सुअहीं (सुअ 'कोल' कोल्हवरा, और सुअरहा गांव हैं। दियारा 'सुअरहा' और 'दियारा को एक ही क्षेत्र के दो भाग हैं। इनका विस्तार कोसों तक है। गंगबुर्द होने पूर्व यह क्षेत्र सरयू के उत्तर-तट पर वर्त्तमान सारन जिले में स्थित था। य

क्षेत्र सरयू के उत्तर तट पर वर्त्तमान सारन जिले में स्थित था। य

तीन नदियों का संगम है। उत्तर से 'घाघरा नदी आकर सरयू में मिलती है इस नदी का निकास 'सासामूसा' के निकटवर्ती किसी ताल (चंवर) से है इस नदी को भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, सिवान में 'दाहा' रामगढ़ में 'बाणेश्वरी' या 'बानगंगा' और अनेक स्थानों 'सूँडी' या 'सुरी' कहते हैं।[1] दक्षिण से आकर मिलने वाली छोटी नदी का 'दाहा' है। यह बलिया जिले के एक दह से निकलती है। जिसका प्रार 'सकरपुरा' नामक स्थान से हुआ है। सम्भवतः यह नाम 'शूकरपुरा' का अप ज्ञात होता है। इन नदियों का 'दाहा' नाम दह (झील) से निकास होने कारण पड़ा है। 'वाणेश्वरी' या 'वानगंगा' नाम पड़ने का कारण यह बता जाता है कि जब जनकपुर से श्रीरामचन्द्र जी की बारात अयोध्या लौट र थी, उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने वाण मार कर भूमि से जलधारा प्रकट की जो उक्त नाम से विख्यात हुई। 'सुरी' शब्द वस्तुतः 'शूकरीय' का अपभ्रंश है यह नाम इसकी संगमभूमि का 'शूकर क्षेत्र' नाम होने के कारण पड़ा है।

घाघरा और सरयू के संगम पर चैत्र रामनवमी को गंगास्नान का प्रसि मेला लगता है। कार्त्तिक-पूर्णिमा का मेला संगमस्थान और कुछ पूरब हटक 'गोदना-सेमरिया' में लगता है। घाघरा से कुछ पूरब हटकर 'घोघरी' नदी बह है। इसका निकास सिधवलिया के निकटवर्ती 'अगहराताल (चँवर) से है

---

[1] —इस नदी का पुराना नाम घाघरी ही है, जैसा कि चैनपुर स्टेट, कुसुमा आदि की जमीदारी के कागज और खतियान में देखा जा सकता है।

उक्त चँवर से करमई चँवर तक यह साधारण नाले की भांति है। कहते हैं कि गोरयाबाबा[१] ने यहां पर इसके बल को तोड़ दिया है, परन्तु यहां से आगे बढ़ने पर इसका पाट चौड़ा और गहरा हो जाता है तथा यह तीव्रवेग से 'घुघुंर' करती हुई बहने लगती है। क्रमशः वाला, हरदिया (चिमनपुरा) और बलुआ (धर्मवारी) तक पहुंचकर इसका प्रवाह अधिकाधिक तीव्र हो जाता है, जिसके विषय में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

"अगहरा में अगरइली, करमई में भुलइली ।
गारयाबाबा से राह पूछिके दखिन मुहें गइली ।।
बाला में हाला, हरदिया में रंग ।
बलुआ पर जाके बनवले बा ढग ।?"

यह नदी आजकल शीतलपुर के पास मही में मिलती है। यहाँ से मही[२] की एक धारा अलग गंगा में जा मिली है। मही के संगम पर भारत का सर्व प्रसिद्ध हरिहर क्षेत्र का मेला लगता है।

गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि तुलसी-काल में घाघरा और सरयू के संगम पर शूकर-क्षेत्र था; यथा—

'सरऊ अपर घाघरी दोऊ । संगम तीर्थराज सम सोऊ ।।
धवलि जेठ एकादसि माहीं । तहाँ विपुल नरनारि नहाहीं ॥
बहुरि बराह खेत मोथा संचि । पूजहि बटु बराह वेदी रचि ॥'

इससे स्पष्ट है कि सरयू और घाघरी ये दोनों नदियां जहां मिलती हैं, वह स्थान संगम होने से तीर्थराज के समान माना जाता था और वहाँ ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी को बहुत से स्त्री पुरुष नहाते थे और वहां से 'वराह क्षेत्र' जाते थे। वे वहां मोथा की जड़ें उखाड़कर किसी वटवृक्ष के नीचे जो 'वराहवट' कहलाता था, वेदी बनाकर द्वादशी को वराह भगवान की पूजा करते थे।

---

[१] —गोरयाकोठी से लगभग ३ मील पूरब घाघरी के तटपर गोरयाबाबा का स्थान है। यहां माघ और ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष में प्रति मंगलवार को मेला लगता है और लोग प्रायः 'सुअर के छौने की बलि देते हैं। आदिवासी जातियों के देवताओं की नामावली में 'गोरया' का नाम मिलता है। बलिया सारन आदि जिलों के बारी आदि और शाहाबाद जिले में धोबी तथा कहीं-कहीं ऊंची जाति के लोग गोरया की पूजा करते हैं। (दे०—अँजोर कला ५ किरिन ३-४ पृ० १५ सन् १९६४-६५, पटना)

[२] —गंडकी का ही पुराना नाम 'मही' है। यह नाम वाल्मीकि रामायण और बौद्ध जातक ग्रन्थों में भी आया है यथा—

'महीं कालमहीं चापि शैल कानन शोभिनीम्'—वा० रा० ४।४०।२२:

शुक्ल पक्ष की द्वादशी भगवान विष्णु की तिथि मानी जाती है, इसलिए पुराणों में उस दिन विष्णुपूजा का विधान है। विष्णु का वराहावतार होने से उक्त तिथि को वराहद्वादशी भी कहते हैं। माघ मास में शुक्लपक्ष की द्वादशी को वराहपूजन का विशेष महत्व है।

तुलसीकाल से अब तक इन नदियों के मार्ग में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। आज से दो सौ वर्ष पहले घोघरी नदी बाबा दुनिया राम के स्थान माघर गांव से सटकर बहती थी, परन्तु आज बहुत हटकर बहती है जैसा कि इस प्रचलित पद से प्रकट है—

> ‘घाघर नदिया साघर गांव। दुनिया राम के उहे ठांव॥’

सन् १८८१ ई० में गंडक से नहर निकाल कर दाहा (घाघरा), मही, घनै और घोघरी इन चार धाराओं में मिलाई गई थी और इस प्रकार इन नदियों का मार्ग परिवर्तन किया गया था।[1]

यदि गौतमचन्द्रिका में वर्णित ‘सरयू-घाघरी’ का संगम स्थल गोंडा जिले का पसका नामक स्थान माना जाय तो यह बात ठीक नहीं ठहरती क्योंकि उक्त वर्णन में सरयू की प्रधानता तथा अपर कहने एवं बाद में नाम लेने से ‘घाघरी’ की अप्रधानता सिद्ध होती है किन्तु संगमस्थल पर स्थिति इसके विपरीत है क्योंकि यहां कही जाने वाली घाघरा (९०० मील लम्बी) सदा जल से भरी रहने वाली एक बड़ी नदी है, परन्तु सरयू (७० मील लम्बी) बरसाती नदी है। दूसरी बात यह है कि आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले और तुलसीकाल में यहाँ सरयू-घाघरा का संगम होता भी नहीं था। वह कहीं अयोध्या के निकट होता था,[2] जैसा कि ‘शर्की राज्य और जौनपुर का इतिहास’ पृ० १४८ पर श्री सैयद एकबाल अहमद लिखते हैं—“डेढ़ सौ वर्ष पूर्व यह नदी (सरयू) गोंडा जिले में बहती हुई कहीं आगे जाकर घाघरा में मिलती थी। एक अंग्रेज व्यवसायी जो पर्वत से जंगली लकड़ी काटकर लाया करता था, इस नदी को दिशा परिवर्त्तन करके आजकल की दिशा पर लगा दिया।”

१—सारन जिलादर्पण—गदाधर प्रसाद अम्बष्टकृत पृ० २३

२—श्री अबुल फजल कृत ‘आईने अकबरी, मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूंनी कृत “मुतखबुत्तवारीख पृ० १५२-५३ और फैजाबाद गजेटियर का हवाला देते हुए श्री सैयद एकबाल अहमद लिखते हैं—

> ‘नगर (अयोध्या) के एक कोस पर घाघरा नदी सरयू से मिलती है और किले के नीचे से बहती है (शर्की राज्य जौनपुर का इतिहास पृ० ८९)

तीसरी बात यह है कि अयोध्यापुरी से होकर बहने वाली रामायण, रामचरित-मानस और पुराणों में वर्णित प्रसिद्ध सरयू नदी को नेपाल में कर्णाली; अवध में घाघरा और भोजपुरी प्रदेश में सरयू (सरजूजी) या देवा (देहवा) कहते हैं[1] अस्तु यदि मान लिया जाय कि गौतम चन्द्रिका के लेखक द्वारा वर्णितः सरयू अवध की घाघरा ही है तो 'घाघरी' नाम किसके लिए आया है, क्योंकि पसका के पास उसमें मिलने वाली नदी का नाम भी तो 'सरयू' ही है अतः इसके अनुसार गौतमचन्द्रिका का लेख इस प्रकार होना चाहिए था—

"सरजू अरु लघु सरजू दोऊ। संगम तीर्थराज सम सोऊ॥"

किन्तु उक्त लेखक ने 'सरजू अपर घाघरी दोऊ' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि उसका अभीष्ट सारन (बिहार) जिला के अन्तर्गत सरयू और घाघरी का संगम ही है क्योंकि यहां उक्त वर्णन के अनुसार ही सरयू की प्रधानता और घाघरी की अप्रधानता है। घाघरी (दाहा) एक छोटी (६० मील लम्बी) नदी है। गौतमचन्द्रिका में उल्लिखित लघुतावाचक 'घाघरी' नाम भी उसका छोटा होना ही प्रकट करता है।

सरयू और घाघरी का संगम पहले गभिरार (गंभीर धार) और कचनार (कच्छ नार) के बीच होता था, किंतु आजकल उक्त संगम वहां से कई कोस पूरब हट कर ताजपुर में होता है। पुराना संगमस्थान तारी-निखती (निष्कृति—पापमुक्त करने वाला स्थान) से घूरघाट (गुरु घाट) तक नदी के प्रवाह के दूर हट जाने से ताल के रूप में परिवर्तित हो गया है, जो कंसाड़ (पंकिल ताल) के नाम से प्रसिद्ध है। सुअरहा के उत्तर और कंसाड़ के दक्षिण सरयू के उत्तरतट पर 'बरवानवादा' नाम का गाँव है। बरवा की व्युत्पति 'वट-ग्राम, वराह ग्राम, या 'वट वाराह' से हुई है। यहीं वह वटवृक्ष था, जहां लोग वराह वेदी बनाकर आदि-बराह की पूजा करते थे।[2]नवादा' शब्द' नव्य धाम' का

१—दे०--नेपाल का नवीन भूगोल (राष्ट्रीय पुस्तक मंडल,वीरगंज नेपाल)
दे०---शर्की राज्य और जौनपुर का इतिहास पृ० २२२

२—दे०—सारन जिला दर्पण (बाल शिक्षा समिति, बाँकीपुर) पृ० ६

३—उक्त वट वृक्ष के विषय में कहा जाता है कि वह गभिरार में विद्यमान है। यह इतना विशाल और सुविस्तृत है कि बहुत दूर से दिखाई देता है। इस देववृक्ष को किसी प्रकार की हानि कोई नहीं पहुंचाता। इस की पत्तियां भी तोड़ना वर्जित है।

विकसित रूप है जिसका अर्थ है पूज्य और स्तुत्य धाम। यदि नवादा की व्युत्पत्ति 'नौ+धाम' से की जाय तो उसका अर्थ होगा - नावों के ठहरने का स्थान अर्थात् नदी का घाट। भूमि का कटाव होने तथा नदी का प्रवाह परिवर्तित होते रहने के कारण इस क्षेत्र का कोई भी स्थान अपने पहले की स्थिति में नहीं रह गया। पुराने स्मृति-चिन्ह नदी के गर्भ में समा गए तथा बसे हुए गांवों का स्थानांतरण होता रहा। यही कारण है कि एक ही ग्राम बिभक्त होकर उसी नाम से नदी के दोनों पार अनेक स्थानों पर बस गया है, अस्तु एक ही नाम वाले कई गाँव उक्त क्षेत्र में पाये जाते हैं; जैसे—आदमापुर, कोंसड़ चांदपुर, रामपुर आदि।

ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि सारन मंडल में दरौली (जहां घोंणी नदी का संगम है घोंणी शब्द शूकर वाची है–देखिये अमर कोश) से लेकर घूर घाट (जहां घाघरी का संगम होता था) शूकर क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध था।

घर्घरा' या 'घुघुरी' से व्युत्पन्न नाम वाले अन्य नदी नाले भी पाए जाते हैं। महाभारत (वनपर्व ८२।१०२) के अनुसार श्री वटुक प्रसाद मिश्र ने 'ब्राह्मणोंत्पत्तिभास्कर' में लिखा है।

देविकाघर्गरा चैव सुपुण्या सरयूस्तथा ।
एतानि पुण्य तीर्थानि हिमाद्रेः संप्रसुस्रुवुः ॥७॥
सुपुण्या देविका चैव घर्घरा च तथैव च ।
हिमवत पर्वताभ्यासे प्रविष्टा सरयू नदी ॥२२॥ अ०५

इससे ज्ञात होता है कि घाघरा नदी हिमालय से निकल कर हिमालय प्रदेश में ही सरयू में मिल जाती है। बहराइच से निकल कर गोंडा जिले के पसका नामक स्थान पर मिलने वाली सरयू की सहायक नदी का नाम भी सरयू बताया जाता है[1] और इधर सरयू को घाघरा कहते हैं। रामपुर अटोली (सारन) के पास घघया ताल है। मुजफ्फरपुर जिले में घाघरा नदी है जो गंगा में मिलती है। श्री पं० रामपूजन पांडेय कृत 'ककुत्स्थ-चरित्र' पृ० १९ के अनुसार खुखुंदू ग्राम (देवरिया) के निकटवर्ती एक नाले का नाम 'घघया' है। हिसार जिले की एक नदी घगघर है। सारन जिले में घोंणी (शूकरी) घोघो,

---

१—सरयू या सरजू प्राचीन इतिहासों में घाघरा को कहा गया है, परन्तु आज घाघरा की एक सहायक नदी का नाम है, जो नैपाल के पर्वतों से निकल कर ७० मील प्रवाहित होने के उपरान्त कटाईघाट के निकट घाघरा में गिरती है। सैयद एक़बाल अहमद—शर्की राज्य और जौनपुर का इतिहास पृ०२२२

घोघरी[1] नाम की नदियाँ हैं। बस्ती की एक नदी का नाम घोंघी और पड़रौना (देवरिया) की एक नदी का नाम 'घाघी' है; जिसके किनारे झाऊ के वन हैं यथा-'घाघी नदी झाऊ बन' जनश्रुति प्रसिद्ध है।

इन विभिन्न छोटी-बड़ी नदियों के नामैक्य के चार कारण हैं :—

(१) मनुष्यों द्वारा स्थान परिवर्तन—प्रवासी लोगों ने अपने पूर्व स्थान की स्मृति में नए स्थानों और नदियों के नामकरण किए। (२) नदियों के स्थान परिवर्त्तन के कारण उनकी विभिन्न धाराएँ परस्पर अंतर पड़ जाने पर भी एक ही नाम से पुकारी जाती रहीं। (३) तीसरा कारण किसी विशेष लक्षण की समानता और (४) चौथा कारण किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति है। इन्हीं कारणों से एक नाम की नदियाँ और तीर्थस्थान भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित हो गए।[2] बलिया और सारन जिलों में परस्पर पास-पास 'शूकर क्षेत्र' या 'बाराह क्षेत्र' के अपभ्रंश नाम वाले जो बहुत से स्थान पाए जाते हैं, उसका कारण भी यही है, जैसे—सुकवा, सकरपुरा, सकरा, सुकरौली, सुअरहा, सुअहीं, बरहन, बरदहा, बरौली, बरोहाँ, बारा, बरई; बरवा; बाराडीह; बारापन; बरहुंचा; बरपलिया; बरहज; बरहुलिथा, बरईपट्टी, बहेरा, बहरौली, बारासिंगहा, कोल; कोल्हुआ। इधर बराह की उपासना विशेष रूप से प्रचलित होने का एक प्रमाण यह भी है कि यहां के बहुत से घरानों की कुलदेवी वाराही हैं औकई में कुल देवता की भांति भगवान वाराह की पूजा आज भी प्रचलित हैं, जैसे—लौहर-देवकली आदि के शाकद्वीपी ब्राह्मणों के प्रत्येक घर में वाराही देवी का एक विशेष स्थान होता है। इसी प्रकार सिकंदरपुर क्षेत्र के बाछापार आदि गावों में बाराह पूजा का प्रचलन है। यहां भी प्रत्येक घर में एक देवस्थान होता है,

---

१—कः कः कुत्र न घुर्घुरायित घुरीघोरो घुरेच्छूकरः (काव्य प्रकाश)-

२—हरयू (ईरान) और सरयू (उ०प्र०) सरस्वती (उत्तरभारत) और सरस्वती (दक्षिण) आदि नाम मनुष्यों के स्थान परिवर्त्तन के कारण, छोटी सरयू (बलिया) पुरानी सरयू (आजमगढ़) और सरयू (अयोध्या), छोटी गंडक (देवरिया) बूढ़ी गंडक (मुजफ्फरपुर) और बड़ी गंडक (सारन) नदियों के स्थान परिवर्त्तन के कारण; सप्तकोशी (नैपाल) और सप्तगंडकी (नैपाल) नाम लक्षणों की एकता के कारण; काली (उ० प्र०) और काली (नैपाल) नाम विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु रखे गये हैं।

जहां मुख्य त्योहार नवान्न एवं अन्य शुभ अवसरों पर कच्छप; वाराह; नृसि विष्णु, हनुमान और श्री दुर्गाजी की वेदी पर अन्न को वलि दी जाती है। इधर राजपूतों की एक उपजाति 'बरहिया' नाम से प्रसिद्ध है। संभव है; ये लो पहले आदिवाराह के उपासक रहे हों। श्री राहुल सांकृत्यायन के 'सांकृत वं नामक पुस्तक से विदित होता है कि सांकृतगोत्रीय मलैयापांडेय वंश में सूअ को टींक कर बाहर छोड़ देने की पूजा-पद्धति प्रचलित है। वराह पूजा की ऐसी ही पद्धति शाहावाद जिले के कुछ ब्राह्मण वंशों या अन्य लोगों में भी प्रचलित है। इधर के बहुत से स्थानों; नदियों और जलाशयों के नाम 'वाराह' या शूकर वा होने का एक कारण यह भी ज्ञात होता है।[२]

मनियर के बहेरा और सरयू के संगम पर परशुराम जी का मंदिर है, जहाँ प्रति वर्ष अक्षय-तृतीया (बैसाख शुक्ल ३) को परशुराम-जयन्ती' का मेला लगता है इसके पास ही रिगवन (ऋषि वन) और इचौना (ऋचीक वन) नामक स्थान हैं। महर्षि भृगु के पुत्र ऋचीक मुनि, भगवान परशुराम के पिताम थे। श्री परशुराम जी का मंदिर बन्दोबस्त से पहले 'हथउंज' ग्राम की सीमा में था और वहाँ के शांडिल्य नैनीजोरा ब्राह्मण ही उक्त मन्दिर की व्यवस्था करते थे। ध्यान देने की बात यह है कि इस वंश-परम्परा के ब्राह्मण तुलसीदास की जन्मभूमि के निकट राजपुर, बिगही-बहुवारा नैनीजोर और उनकी गुरुभूमि सुअरहा के निकट 'नेवारी' में बसे हुए हैं। इनके गुरु श्री नरहरि दास इसी वंश परम्परा में थे। नेवारी से एक मील पर गभिरार में भी परशुराम जी का मंदि है और अक्षय-तृतीया[३] का मेला लगता है। सोहनाग (देवरिया) में भी

---

[१]—दे०—श्री पांडेय सूर्यनारायण शर्मा कृत सैनिक ब्राह्मण' पृ०२१५

[२]—पुराणों से विदित होता है कि राजपूत काल तक विष्णु के मत्स्य कच्छ वराह और नरसिंह अवतार की पूजा का विशेग प्रचलन था और कितने ही जातियाँ कुलदेवता के रूप में इनकी पूजा करती थीं। संभवतः इसी आधार पर ब्राह्मणों और राजपूतों के विभिन्न वर्गों के मच्छ (सारस्वत) ददिए (सारस्वत) कछवाह (राजपूत) कूर्मवंशी (राजपूत) कुर्मी (एक जाति) वरहिया (राजपूत) आदि नाम पड़ गए। बहुत से स्थानों के नामकरण का कारण भी उक्त देव स्थानों का होना ज्ञात होती है जै मंछ, मछियांव, मछरगांवाँ, मतसा, कछवा, कछुवरा ददरी (दद्रु कच्छ दादर, करमा करमौता (कूर्मावत), करोम (कूर्म गाँव); करमैनो, वरह, बरहन, सिअरहा आदि।

[३]—इसी दिन परशुराम अवतार हुआ था। तथा स्वामी रामानन्द का साकेतगम भी इसी दिन हुआ था।

परशुराम जी का प्राचीन मन्दिर है और यहाँ भी अक्षय तृतीया का मेला लगता है। इस प्रकार शांडिल्य गोत्र के ब्राह्मणों का परशुराम जी की उपासना से कुछ विशेष लगाव प्रकट होता है क्योंकि सोहनाग भी शांडिल्य गोत्र के ब्राह्मणों का केन्द्र है, उनके प्रसिद्ध डोह पिंडी और नदौलो यहीं हैं। जनश्रुति के अनुसार कश्यप के हवनकुंड से शांडिल्य की उत्पत्ति पिंडी में हुई थी तथा उनका आश्रम भी यहीं था, जैसा कि—सरवरिया ब्राह्मणोत्पत्ति-प्रदीप पृ० ३३ पर लिखा है कि—"जहाँ पर इस समय पिंडी है, वहीं कश्यप के अग्नि कुंड से अग्नि देव की उत्पत्ति हुई और अग्नि से शाडिल्य हुए।'

इस केन्द्र के आस-पास सरवरिया ब्राह्मणों के कई प्रसिद्ध कुलों की निवास-भूमि है, जैसे—गर्दभीमुख—शांडिल्य गोत्र के पिंडी, नदौलो आदि; पाला के शांडिल्य गोत्र के उकिना आदि; वत्सगोत्रीय पयासीमिश्रों के पयासी, नगर, दोगारी आदि, भार्गवों के भागलपुर और गौतम-गोत्र के रोहिनिया-पिपरा आदि। इसी आधार पर 'गौतम चंद्रिका' में कहा गया है—

"सांडिल ऋषि आश्रम थल पासा। जहँ तहँ सरुवारिन को बासा।
रामप्रदत्त भूमि अधिकारी। खल दल दलन धर्म धनुधारी॥"
सांडिल गोत्रज नरहरि स्वामी। ज्ञान निधान भक्ति पथगामी॥

पहले कहा गया है कि पुराने समय में 'सुअरहा क्षेत्र' सरयू के उत्तरपार था। इससे लगे हुए सारन जिले में नरहन और नेवारी नामक स्थान हैं एवं इससे कुछ हटकर ईशान कोण में नरवन है।[1] ये नाम क्रमशः 'नरहरिवन' और 'नरहरिवारी' का अपभ्रंश है। यहीं दक्षिण ओर बलिया जिले में नाहरपुर (कदाचित् नरहरपुर का अपभ्रंश) है। सारन जिले में नरहरपुर नाम के अन्य कई स्थान भी हैं जैसे—नरहरपुर (छपरा से उत्तर) नरहरपुर (मदारपुर मेले के पास)

---

[1] १—एकसरिया ब्राह्मणों का दबाव पड़ने से राजपूतों का एक उपवर्ग 'नरवन' से हटकर सरयू के दक्षिण पार वर्तमान बलिया जिले में बस गया। इस वंश के लोग बाँसडीह, सुखपुरा आदि स्थानों में बसे हुए हैं और 'नरवनी' नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री सूर्यनारायण सिंह ने नरौनी राजपूतों का आना 'नरवर (मध्य भारत) से लिखा है किन्तु उनका कथन वस्तुस्थिति के विपरीत है क्योंकि यदि नरौनी लोग 'नरवर' से आए होते तो 'नरवरिया' कहलाते, न कि नरौनी ? 'नरवर' से बाहर जाने वाली कई जातियाँ 'नरवरिया' ही कहलाती हैं जैसे शिवहरे (कलवार) का एक भेद 'नरवरिया' है।
(दे०—पं० छोटेलाल शर्मा कृत 'जाति-अन्वेषण भाग १ पृ० २०६)

गौतम-चंद्रिका से विदित होता है कि 'नरहरि दास' अपने समय के
साधु थे और उनका स्थायी आश्रम 'सूकरखेत' में ही था।
शरीर त्याग के निमित्त वे काशीवासी हुए थे। अतः उक्त क्षेत्र
भक्तिकाल के उस महारथी के नाम पर स्थानों और तपोभुमि का नामकरण
असम्भव नहीं जान पड़ता। नेवारी और नरहन के सूकरखेत (आधुनिक
से लगे हुए होने के कारण भी उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। गो०
ने 'कृपा-सिंधु नर रूप हरि' कहकर गुरु की वन्दना की है और इस
भी उनका 'सामर्थ्यवान पुरुष' होना प्रकट होता है।

सारन जिले में नरहन के पूरब गंगापुर-सिसवन है। इसी के उत्तर २-३
पर रामगढ़ के पास मेंहदार का प्रसिद्ध शिव-मन्दिर है, जहां वर्ष में कई
(शिवरात्रि, राम नवमी, दसहरा आदि के अवसर पर) लगते हैं तथा जहां
जिलों के यात्री जल चढ़ाने जाते है। मंदिर एक विशाल तालाब के तट पर
है। मुख्य तालाब का क्षेत्रफल ५०० बीघे बताया जाता है। 'सारन
दर्पण' के अनुसार इसका विस्तार ३ कोस में है। इस तालाब का निर्माण
का प्रतापी प्रतिहारवंशीय सम्राट् निर्भयराज महेंद्रपाल (सं० ९४२-९६७
ने कराया था। बंगाल-विहार और नेपाल विजय के उपलक्ष्य में उसने यहां
प्रसिद्ध यज्ञ किया और अपने आचार्य अजयदेव को पाँच गांवों का
दिया। इन्हीं की परम्परा में सारन जिले के एकसरिया भूमिहार-ब्राह्मण

१—जिस समय सम्राट महेंद्रपाल ने मनियर के निकट कोट का
कराया, (इस स्थान को आजकल 'कोटवा-महेंदरा' कहते हैं।)
समय उसने अपने आचार्य अजयदेव के नाम पर अजयपुर (
और अजय नगर (अजनेरा) तथा उनकी जन्मभूमि के नाम
हस्तिनापुर (हथौज) नाम के ग्राम बसाए । ये सभी स्थान
पास-पास हैं। यहाँ इनका पुराना पोखरा गुरु पोखर(गोर-पोखर) भी है
अजय देव की वंश परम्परा में क्रमशः—(१) बिन्दु देव (२)
(३) बहासु देव, (४) ईश्वर देव, (५) गंगाधर देव, (६) असुव
(७) मौलि दीक्षित, (८) प्रमुनाथ दीक्षित और (१०) जगरनाथ
प्रथम हुए। मुहम्मद गोरी के आक्रमणों से दिल्ली राज्य और
का पतन हो जाने पर एवं हस्तिनापुर के उजड़ जाने पर ये लोग
पूर्वीय-जागीर में चले आए। उपर्युक्त वंशावली क्रमबद्ध नहीं है
क्रमबद्ध वंशावली दूसरे जगन्नाथ दीक्षित से मिलती है।

जिनका अधिकार कभी सारन जिले के बाहर सरयू के दक्षिण पार तक था। मेंहदार के निकटवर्ती भजौना (भोज वन) का नामकरण महेंद्रपाल के पिता सम्राट मिहिरभोज के नाम पर हुआ है। सिसवन के दक्षिण भोजपुरवा और भोज छपरा नामक स्थान हैं। बलिया में फरसाटार के निकट का भोजपुर, द्वाबे का भोजापुर बनारस जिले का भोजूवीर एवं शाहाबाद (आरा) जिले के भोजपुर[1] का नामकरण भी इसी सम्राट के नाम पर हुआ है। आगे चलकर आरा स्थित भोजपुर को केन्द्र मान कर भोजपुरी भाषा और भोजपुरी प्रदेश का नाम पड़ गया।[2] दिघवा-दुबौली (सारन) में महेंद्रपाल का एक ताम्र-पत्र मिला है, जिसके द्वारा उसने दिघवैत भूमिहार ब्राह्मणों के पूर्वज को 'पनियाक'[3] गांव का अग्रहार दिया है।

सूकरखेत (सुअरहा) के दक्षिण सरयूतट पर कोटवा महेंदरपुर नामक स्थान हैं जिससे ज्ञात होता है कि 'कोटवा' में महेंद्रपाल की कोट थी। यहां कोट होने से इस बात का भी पता चलता है कि उक्त स्थान बंगाल-बिहार के नाके पर था।

१—श्री दुर्गाशंकर सिंह ने भोजपुर (शाहाबाद) की व्युत्पत्ति धार के परमार वंशीय राजा भोज के नाम से की है, जिनकी दानशीलता प्रसिद्ध है किन्तु परमारवंशीय भोज का पूर्वीयप्रदेश में आने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए उक्त अनुमान निराधार है।

२—इस राजा ने 'श्रीमदादि वराह' की उपाधि ग्रहण की थी और उसके सिक्के पर इसके लेख के साथ वराह-अवतार का सुन्दर अंकन हुआ है। इस तथ्य के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि यह राजा वराह-अवतारी विष्णु का परम भक्त था और भारत भूमि की रक्षा एवं उद्धार में उसके किए गए प्रयत्नों की तुलना वराह भगवान को इस लीला से की जाती है। अरब के मुसलमानों के अनेक प्रारम्भिक आक्रमण इस सम्राट की अजेय सेनाओं ने असफल किए थे। अरब इतिहासकारों ने भोजदेव के प्रताप से अरब सैनिकों में व्याप्त भय का स्पष्ट वर्णन किया है। इस सम्राट के शासन का विस्तार उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा के पार तथा पूर्वी पंजाब से लेकर पूरब में बंगाल तक फैला था।

(आज ३ मई १९७० ई० पृ० १२ का० ५)

३—इस गांव की पहचान दरौली (सारन) निकटवर्ती 'पुनक' से की जा सकती है।

नाके पर स्थित होने से 'सूकरखेत' को राजनीतिक-उपयोगिता तो थी ही, मुनियों की तपोभूमि होने से वह तीर्थक्षेत्र भी था। ऐसे ही स्थान पर महें ने अपने पिता और अपने आराध्य देव भगवान 'आदिवराह' की मूर्ति स्था कर उक्त क्षेत्र के महत्व को और भी बढ़ा दिया। 'वराह' का ही पर्याय 'सू और 'कोल' है, अस्तु यह देव स्थान 'शूकर क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] क्षेत्र में बहुत से मेलों का लगना भी इसकी पुरातनता का द्योतक है।[2]

महाराज महेंद्रपाल और उनके पिता मिहिरभोज (सं० ८९३-९०८ वि. दोनों ही भगवान् के जगदोद्धारक 'आदि वाराह' रूप के उपासक थे। इनके सि पर एक ओर 'आदिवाराह' का चित्र और दूसरी ओर 'श्रीमद् आदिवा अंकित है। कन्नौज में लगभग ७०० ई० की बराहमूर्त्ति मिली है। वा भगवान वीरभाव में पृथ्वी का उद्धार करते दिखाए गए हैं। महेंद्रपाल ने राजाओं को परास्त कर उत्तरबंग को भी अधिकार में कर लिया। यह उदार एवं विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था। संस्कृत के प्रसिद्ध क और नाटककार राजशेखर जो यायावर (अप्रतिग्राही) ब्राह्मण थे, इसके दर में रहते थे।

जैसे आदिवाराह ने रसातल को गई हुई पृथ्वी का उद्धार किया था, ही प्रतिहार वंश के इन सम्राटों ने, विदेशियों के चगुल से देश को रक्षा की प्रतिहार का अर्थ है द्वार-रक्षक। भारत का द्वार-रक्षक होने तथा आगे बढ़ने

१—स्थानों के नाम से नामकरण-काल की उनकी परिस्थिति और इतिह का पता चलता है। किसी स्थान का नामकरण कब और क्यों हुआ उस समय उसकी क्या परिस्थिति थी ? इसका बहुत कुछ पता केव नाम से चल जाता है, इसलिए इतिहास के अनुसधायक के लिए नामों की बड़ी उपयोगिता है।

—विकास को एक धारा भाग १ पृ० १५७

२—भाद्रपद के शुक्ल पक्ष में लगने वाले मेले चाहे नए हों या पुराने कि उनकी परम्परा वाराह-जयन्ती के उस मेले की याद दिलाती है उक्त अवसर पर कथित शूकरक्षेत्र में लगता होगा। शूकरक्षेत्र के नष्ट भ्रष्ट हो जाने से मेला भी पाश्ववर्ती विभिन्न स्थानों में बिखर गया भाद्रपद के शुक्लपक्ष से आश्विन के कृष्णपक्ष तक इधर कई स्थानों प मेले लगते हैं जैसे सुल्तानपुर (बलिया) आदि।

अरबों को परास्त कर अपनी प्रबल शक्ति के कारण भारत में विदेशी आक्रमणकारियों का प्रवेश न होने देने के हेतु ही प्रतिहारवंश उक्त महत्वपूर्ण उपाधि का अधिकारी बना था। ये लोग मूलतः ब्राह्मण थे, परन्तु बाद में अपने गुण-कर्म और क्षत्रियों से वैवाहिक-संबंध करने के कारण राजपूत बन गए।[1] ह्वेनसांग के यात्रा विवरण के अनुसार मालवा में ब्राह्मणराजा

१—ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित होता है कि मुगल काल तक ऐश्वर्यशाली-कुलीन ब्राह्मण क्षत्रिय-कन्याओं से विवाह कर लेते थे और इसे समाज में बुरा नहीं माना जाता था। महाभारत में क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण ही से बताई है यथा——

क्षत्रियस्याति वृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः।
ब्राह्मेव संनियंतृस्यात् क्षत्रं हि ब्रह्म संभवम्।

इसके अतिरिक्त राजपूत राजाओं के शिलालेखों और राजपूत जातियों की वंशावलियों से विदित होता है कि अधिकांश राजपूतकुल ब्राह्मण वंश-परंपराओं से संवद्ध हैं (दे०—विकास की एक धारा भाग२ अध्याय १ में राजपूत-प्रकरण राजपूत) जाति क्षत्रियों को ही स्थानापन्न है। इसे क्षत्रिय भी कहा जाता है। श्री ग्रांटडफ ने मराठों का इतिहास अ० १ की टिप्पणी (पृ० २९) में लिखा है कि "राजपूतों के पिता तो क्षत्रिय थे, परंतु उन की माताएँ क्षत्रियेतरवर्ण की थीं।" उनका यह कथन उनके द्वारा हिन्दू-समाज के संगठन का सम्यक् अध्ययन न करने और उससे अनभिज्ञ होने के कारण है क्योंकि हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार उच्चवर्ण के पिता द्वारा निम्नवर्ण की पत्नी से उत्पन्न संतान माता के वर्ण के होती है और इसके विपरीत होने पर अंत्यज संकर वर्ण की। अस्तु राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार के कथन हिन्दू-समाज-रचना के विरुद्ध अयुक्त और अप्रामाणिक हैं। राजपूत और ब्राह्मण वंशावलियों, जनश्रुतियों और ऐतिहासिक उल्लेखों से भी इसका विरोध होता है क्योंकि बहुत सी राजपूत वंश-परम्परायें ब्राह्मणों से ही प्रादुर्भूत हैं, जैसे——गोहिल, सिसौदिया, विलकैत, विलखरिया, दीक्षित, दीनदीक्षित, गौतम, विसेन; सेंगर, चौवरिया, किनवार, दोनवार, वेरुवार तटिहा, नोन्हउलिया आदि। ये राजपूत वंश मुख्यतः भूम्याधिकारी (अप्रतिग्राही) ब्राह्मण वंशों से सम्बद्ध हैं (दे०—ब्राह्मण राज-परिचय एक मैथिल परमहंसकृत) जैसा कि उक्त वंशों की वंशावलियों, शिलालेखों ताम्रपत्रों, ऐतिह्यो [इतिहास] और जनश्रुतियों से प्रकट हैं। किनवार दोनवार, वरुवार, तटिहा, नोन्हउलिया आदि शाखाओं का प्रादुर्भाव तो इन्हीं नामों वाले भूमिहार-ब्राह्मण उपवर्गों से १७ वीं-१८ वीं शती में ही हुआ।

राज्य करते थे जो वस्तुतः 'प्रतिहार' ही थे। राजा कक्क के सं० ९१८ वि घटियाल वाले शिलालेख तथा राजा बाहुक के जोधपुर वाले प्राचीन शिला में प्रतिहारों (परिहारों) की उत्पत्ति अहिच्छत्रा के हरिश्चन्द्र नामक और उसकी पत्नी भद्रा से कही गई है। डा० ताराचंद 'हिन्दुस्तान के इति पृ० ९८ पर लिखते हैं कि प्रतिहारों का आदि-पुरुष 'रोहिल्लाधि' था। उसने विवाह किए। इन में से एक स्त्री ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्राणी थी ;'

इस कथन के अनुसार भी प्रतिहारों का ब्राह्मणवंश परम्परा में होना सिद्ध है क्योंकि उन दिनों ब्राह्मण को ही ब्राह्मण कन्या से विवाह करने का अधि था और वे क्षत्रिय वर्ण की स्त्रियों से भी विवाह कर सकते थे। उनकी क्षत्रि पत्नी से उत्पन्न संतान क्षत्रिय होती थी जैसा कि विष्णुस्मृति में कहा है—"अथ ब्राह्मणस्य वर्णानुक्रमेण चतस्रो भार्या भवति। तिस्र क्षत्रियस्य द्वे वैश्यस्य। एका शूद्रस्य (अ०२४) और—"समान वर्णासु पुत्राः सवर्णाः भवं अनुलोमासु मातृवर्णाः। प्रतिलोमासु आर्य विगर्हिताः (अ० १६)

जिस प्रकार बलिया जिले के राजा पुर से अनभिज्ञ होने के कारण बां जिले के राजापुर को तुलसीदास का जन्मस्थान मान लेने की भूल हुई, वै ही भूल सूकरखेत को लेकर हुई अस्तु सरयूतट स्थित बलिया जिले सुअरहा तुलसी कथित सूकर क्षेत्र है। 'शूकर' का अपभ्रंश 'सुअर' होता ही और 'हा' प्रत्यय स्थानवाची है। जैसे 'धनहा' का अर्थ धान क्षेत्र होता है, वैसे ही सुअरहा का अर्थ 'शूकरक्षेत्र' है। 'गौतमचंद्रिका ज्ञात होता है कि तुलसी के गुरु नरहरिदास का स्थायी-आश्रम 'सूकरखेत' में था, जहाँ से जाकर वे काशी में रहने लगे थे। ऊपर कहा गया है कि नाहर (नरहरि पुर) कोलवा नरहनपुर, नेवारी (नरहरिबारी) उक्त 'सूअ क्षेत्र' के ही अन्तर्गत हैं और यहीं सरयूतट पर वे रहते थे। इसी गुरुपीठ में कर तुलसी का उद्धार हुआ। हथउँज (बलिया) में भी 'नरहा' नामक टी नरहरिदास का स्मरण करा रहा है, जहाँ उन्होंने निवास किया था।

सरयू नदी के विषय में तुलसीदास जी कहते हैं :—

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह वेद पुराना (रा० बा

तथा श्री रामचन्द्र जी से भी कहलाते हैं :—

"जो मज्जहिं सो बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।'

इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि 'चित्रकूट' और 'अयोध्या' में श्री राम चन्द्र जी की समीपता प्राप्त करने से पूर्व तुलसीदास कहीं सरयूतट पर निवा कर चुके थे जिसके फलस्वरूप उन्हें चित्रकूट और अयोध्या में श्री राम की समी

पता प्राप्त करने का अवसर मिला और इसी से 'अदमा पुर' [आदिम वाराह] के निकटवर्ती सूकर खेत के निवासी को 'चित्रकूट' में भी 'आदिम वाराह' की जगदोद्धारक झाँकी दिखाई पड़ती थी, यथा—

"आदि बराह बिहरि वारिधि मनो,उठ्यो है दसन धरि धरनी" गी०अ०५०

बहुत से तीर्थ आज अपने पूर्व रूप में नहीं रहे, जैसे वाराणसी का हरतीरथ और बलिया का 'कंसोपटना' [जिसको पहले पंचकोसी यात्रा होती थी], आज अपना महत्व खो बैठे हैं तथा उनका नाम भी कोई नहीं जानता । यही स्थिति सूकरखेत (सुअरहा) की है। आज न पहले जैसे तपस्वी मुनि ही यहाँ निवास करते हैं और न यहां कोई विशेष देवस्थान ही है । इसके दक्षिण ओर स्थित चितविसाँव (चित्त विश्राम) में कभी साधक-भक्त सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो मानसिक शांति प्राप्त करते रहे होंगे किन्तु आज वहां क्या है ? गांव का नाम उस पुरानी स्थिति का स्मरण मात्र करा रहा है।

मुस्लिम-काल में भी 'सुअरहा-क्षेत्र' को तीथ रूप में मान्यता का पता चलता है क्योंकि जौनपुर के शर्की सुल्तानों के समकालीन कंसोपटना के राजा महर्षि-कनकराजदेव और गोमिलचन्द्रदेव द्वारा यहां यज्ञ किए जाने तथा ब्राह्मणों को भूमिदान दिए जाने की अनुश्रुति है। इन लोगों के नाम से भी इधर के कतिपय स्थानों का नामकरण हुआ है, यथा—धुरदेचँवर, कनकपुरघाट, । शर्की सुल्तानों आदि के नाम पर भी स्थानों के नाम रखे गये हैं, जैसे—खोजवा, गयासपुर सुल्तानपुर, हुसेनाबाद आदि।[1] मुड़ियारी अपनी बौद्ध-कालीन परम्परा की सूचना दे रहा है, जब कि यहाँ मुंडित (मुड़िया) बौद्ध साधु निवास करते थे। छितौनी, देवरार, देवरही, देवनी, देवली, देवढ़ो, शंकरपुर, देवपुरा आदि स्थान इस क्षेत्र में देवस्थानों का अधिकता के द्योतक हैं जैसा कि प्राय: तीर्थ क्षेत्रों में पाया जाता है। अतः इन कारणों से यह बात स्पष्ट होती है कि तुलसी काल तक इस पवित्र क्षेत्र की मान्यता तीर्थ के रूप में थी किन्तु उसके गंगबुर्द हो जाने से उक्त मान्यता कालांतर में समाप्त हो गई। जब स्थान ही नहीं रहा तो फिर मान्यता किसकी होती ?

सुअरहा क्षेत्र के तीर्थ, देवस्थान और संतो की निवासभूमि होने, अपनी जन्मभूमि का निकटवर्ती होने और अपनी वश परम्परा से सम्बन्धित होने के

१—इन राजाओं ने जहां अपने नाम की बस्तियां बसाईं जलाशयों का नामकरण किया और बांध निर्मित कराये, वहीं जोनपुर के शासकों के नाम पर भी स्थानों का नाम रखा।

—विकास की एकधारा भाग १ पृ० १६२

कारण गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरहरिदास ने वहाँ निवास किया तथा तुल दास भी उनके साथ रहे। यह स्थान तुलसीदास की कथित जन्मभूमि से कु दूर नहीं है। गोंडा स्थित सूकरखेत (पसका) और एटा स्थित सोरों को तुल दास से सम्बन्धित करने पर सबसे कठिन असंभावना यह उपस्थित होती है कि बालक तुलसीदास, जबकि वे अबोध थे, अपनी जन्मभूमि 'राजापुर (बलिया से उतनी दूर गए कैसे ? उनके गुरु बाल-शिष्य से इतनी दूर की यात्रा करा भी क्यों ? नरहरिदास द्वारा बालक तुलसी को गंगातट से हटाकर सरयूतट के सुअरहा नामक स्थान पर ले जाने के दो कारण हो सकते हैं — प्रथम तो नरहरिदा की अपनी सुविधा और दूसरे तुलसीदास को उनके पिता के शत्रुओं की दृष्टि से बचाकर उनकी सुरक्षा का ध्यान।

तुलसीदास द्वारा वर्णित 'सूकर खेत' सरयूतट स्थित बलिया जिले के सुअरह से लेकर सारन जिले के सुअहीं तक की भूमि ही है; यह बात इस कारण से प्रमाणित होती है कि इस क्षेत्र के आस पास तुलसी के आराध्य भगवान राम के नामों वाले बहुत से गांव हैं जैसे—रामगढ़ रामनगर, रघुबरपुर; रामपुर आदि।

श्री सियापुरा, श्रीसिया हनोथर (हनुमत् स्थल), हनुमान गंज, शिवपुर, शंकरपुर; विसुनपुरा, धर्मपुरा आदि भी हैं। सबसे प्रधान बात यह है कि इस क्षेत्र में तुलसीदास जी के माता-पिता गुरु, जन्म भूमि और स्वयं उनके तथा उनकी पत्नी के नाम पर भी स्थानों के नाम मिलते हैं, जैसे—हुलासगढ़ (हुलसी गढ़) रघुनाथपुर (यहां थाना है), नरहन; नेवारी। ये स्थान मनियर से पूरब थोड़ी दूर पर ही परस्पर पास-पास हैं। इधर एक गांव तुलसी छपरा भी है। हुलास गढ़ से लगा हुआ सारन जिले में आदिमपुर (आदिवाराह क्षेत्र) है तथा यहां से पच्छिम ओर ४-५ मील की दूरी पर बलिया जिले में भी इसी नाम का एक गांव है। इसके निकटवर्ती सिकंदरपुर का एक महल्ला तलसरा (तुलसीपुरा) कहलाता है। यहां से थोड़ी-थोड़ी दूर पर नरहनी (नरहरि अवनि) और गोसाईं पुर नामक स्थान हैं। इधर तुलसीताल भी है।

बलिया जिले में इस नाम के कई स्थान हैं। इनमें एक तुलसीदास जी की कथित जन्मभूमि के अति निकट है। इसी प्रकार सारन जिले में बसंतपुर के पास हुलास छपरा, हुलेसरा (हुलसीपुरा) और हिलसड़ (हुलसीपुर) नामक गांव हैं। सिकन्दरपुर के पश्चिम का 'हड़सर'. 'हुलसी पुर' का अपभ्रंश हो सकता है।

'श्री रामचरित मानस' का निकास शिव-पार्वती के संवाद रूप में कैलास-क्षेत्र में हुआ। तत्पश्चात् उसके तीन वाचन और हुए। अन्तिम वाचन श्री तुलसीदास जी के गुरु नरहरि दास और तुलसीदास के संवाद के रूप में मानस-

नंदिनी सरयू का प्रतीक बन कर रामभक्ति रूपी सुर-सरिता में जा मिला।[१] इस प्रतीक-संकेत से इस बात की झलक मिलती है कि तुलसीदास जी को जिस 'सूकरखेत' में उनके गुरु ने रामकथा का उद्बोधन किया, वह 'सूकरखेत' कहीं गंगा और सरयू के संगम के निकट था क्योंकि वहीं अन्तिम वाचन के बाद रामकथा का समापन होता है और वहीं से राम-भक्ति रूपी सुर-सरिता की समन्वित पावन धारा के रूप में वह सर्व-साधारण के हित की दृष्टि से लोक में प्रकट होनी है। इस आधार पर तुलसी के 'सूकरखेत' की उपर्युक्त स्थिति ही अधिक प्रामाणिक ज्ञात होती है।

कुरुक्षेत्र नहीं सूकर खेत

'आज' ९ अगस्त १९७० के तुलसी जयन्ती विशेषांक में श्री उदय शंकर दूबे का एक लेख छपा है—'कुरुक्षेत्र-जहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने राम कथा सुनी।' इस लेख में श्री रामचरित मानस की कतिपय पांडुलिपियों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि गोस्वामी तुलसीदास ने बाल्यावस्था में जहां गुरु के द्वारा राम कथा का श्रवण किया था, वह स्थान 'कुरु क्षेत्र' है। लेखक के अनुमान का आधार निम्नांकित पांडुलिपियां हैं :—

[१] मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकुरषेत।
(दतिया राजकीय पुस्तकालय की प्रति सं० १८२४ वि० में वाराणसी में लिपिबद्ध)

[२] मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सोई कुरखेत।
(श्री हीरालाल दूबे खमरिया, वाराणसी की प्रति, लिपिकाल, संम्वत १८३९ वि०)

[३] मैं पुनि निज गुरू पह सुनी कथा जाइ कुरखेत।
(स्वयं लेखक की सं० १८५१ वि० की प्रति)

[४] मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा रुचिर कुरखेत।
(सम्वत १८५९ की कानूनगोपुर जि० वाराणसी के श्री शिव प्रसाद खरे की प्रति)

[५] मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सुरस कुरषेत।
(ना० प्र० सभा काशी की प्रति, लिपिकाल सं० १८६५ वि०)

१—राम भगति सुरसरितहिं पाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥

[६] मैं पुनि नीज गुर सन सुनी कथा सोर कुरखेत।

(श्री मन्नू लाल पुस्तकालय गया, लिपिकाल सं० १८६७ वि०)

[७] मैं पुनि निज गुर सन सुनो कथा सु तू यह कुर खेत।

(शिवगिरि मठ दतिया, लिपिकाल सं० १८७४ वि०)

[८] मैं पुनि निज गुर सौ सुनी कथा सकल कुरषेत।

(श्री महेश मिश्र दतिया, सं० १८८० वि०)

[९] मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सेष कुरषेत।

(ना० प्र० सभा काशी, छतरपुर से प्राप्त, अनुमानतः १९ वीं शती)

[१०] मैं पुनि निज गुरसन सुनी कथा रुचिर कुर खेत।

(श्री त्रिलोकी नाथ पुरवार, गिरजापुर, जिला—मिर्जापुर)

[११] मैं पुनि निज गुर सन सुनि कथा रुचिर कुर खेत।

(निर्णय सागर प्रेस बम्बई से सं० १९४७ में प्रकाशित)

उपर्युक्त उद्धरणों के विषय में निम्नांकित बातें विचारणीय हैं :–सं० १८ वाली प्रति में लिखित 'सूकुर खेत' और 'सूकरखेत' में जो पाठ भेद है, सामा है जिससे अर्थ में अन्तर नहीं आता परन्तु सं० १८५१ वि० से सं० १८८० त की प्रतियों का पाठ भेद स्पष्ट है। इनमें से दो प्रतियों में रुचिर 'कुरखे है जो निर्णय सागर-प्रेस से प्रकाशित भी हुआ है। ये दोनों प्रतियाँ वाराण के आस-पास मिली हैं अस्तु इनको प्रतिलिपि की परम्परा एक हो सकती है छप भी गई। शेष सात उद्धरणों में क्रमशः 'सोई कुरखेत, सुरस कुर खेत, सो कुर खेत, सु तू यह कुरखेत, सकल कुर खेत और सेष कुरखेत' आया है। इ पाठ भेदों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा लिपिदोष के कार हुआ है। इसमें तीन प्रतियां तो दतियां और छतरपुर की होने से एक ही क्षे की हैं। जिनमें दो का क्रमशः 'सु तू यह' और 'शेष' प्रयोग अर्थ की दृष्टि भी भ्रष्ट है। इसलिये सम्भवतः तीसरी प्रति में संशोधन करके 'सकल' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'सुरस' का प्रयोग भी संशोधन का ही परि है। सोइ और जाइ के विषय में भी यही अनुमान किया जा सकता है। 'सो स्पष्ट ही लिपिक को भूल है। 'सूकरखेत' में 'सू' के विभिन्न रूपों में परिवर्ति हो जाने या छूट जाने पर जो 'कुरखेत' शेष रह गया है, वह उक्त लिपिकारों भ्रम का कारण बन गया है।

पाठान्तर के निम्नांकित कारण होते हैं :—

१—सुधार की चेष्टा कभी-कभी लिपिकार तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम निरर्थक लगने वाले शब्दों के स्थान पर सार्थक लगने वाले शब्द, अशक्त शब्दों के स्थान पर सशक्त शब्द रख देते हैं एवं छन्द, भाषा, भाव अर्थ विशेष चमत्कार आदि की दृष्टि से भी शब्द परिवर्तित कर देते हैं।

२—अज्ञता शब्द की बनावट, उच्चारण और प्रयोग से अनभिज्ञ होना लिखावट में भूल, पढ़ने में भ्रम, श्रुत दोष, अशक्त लिपिका प्रयोग, पूर्व लेख की त्रुटि, अर्थ न समझना, भाषा का ज्ञान ठीक न होना आदि दोषों से भी पाठान्तर हो जाता है।

उपर्युक्त उद्धरणों में 'सूकरखेत' के स्थान पर जो कुरुखेत का प्रयोग देखा जाता है, उसमें भी पाठान्तर के उपर्युक्त कारण ही विद्यमान हैं क्योंकि ये पाठ भेद न तो प्राचीन प्रतियों में पाये जाते हैं और न वे सामान्य रूप से प्रचलित ही हैं। श्री डा० माता प्रसाद गुप्त के 'रामचरित मानस का पाठ भाग १ (साहित्य कुटीर प्रयाग सन् १९४९) में उपर्युक्त पाठ भेदों का कहीं उल्लेख नहीं है। उन्होंने जिन प्रतियों के आधार पर पाठ भेद तैयार किया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

सं० १६४१ की हरिदास वाली प्रति, सं० १६४३ को लिपिवद्ध दो प्रतियां, सं० १६६१ की श्रावण कुंज (अयोध्या) की प्रति, सं० १६६४, १६७२, १६९३, १६९७ और १७०२ वि० की विभिन्न प्रतियां, सं० १७०४ की काशिराज संग्रहालय की प्रति सं० १७१४ की छक्कन लाल वाली प्रति, सं० १८६२ की शुभनारायण चौबे की प्रति; सं० १७८१ की का० ना० प्र० सभा के कला-भवन की प्रति, सं० १८७८ की निजी प्रति। इसके अतिरिक्त सं० १९०५, सं० १६६४ (राजापुर) तथा सं० १८८१ की प्रति । इनमें चार को छोड़ शेष बारह प्रतियां 'कुरखेत' पाठवाली प्रतियों से पुरानी और पांच तो तुलसी के जीवन काल की ही हैं।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सपादित मानस के काशिराज सस्करण में भी कथित पाठभेद का उल्लेख नहीं है। यह पाठ भेद जिन प्राचीन प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया है, उनमें 'कुरखेत' का कहीं पता नहीं है। देखिये-पृष्ठ ४६०-६१)। इसी प्रकार काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित प० शम्भूनारायण चौबे के मानस-अनुशीलन' में भी 'कुरखेत' वाले पाठ की कहीं चर्चा नहीं है देखिए सं० २०२४ में प्रकाशित प्रथम सस्करण पृ०५१) अस्तु 'कुरखेत' सम्बन्धी पाठों के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष निकाला जा सकता।

१—यह पाठ भेद प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलने से प्रमाणस्वरूप स्वीकार

नहीं किया जा सकता। जन्मभूमि से सैकड़ों मील दूर जबकि तुलसी अबोध थे उनका कुरुक्षेत्र में जाकर कथा सुनना असम्भव लगता है। यह लिपिकार की भूलचूक और प्रमाद का फल है।

२—पाठान्तर तैयार करने वाले उपर्युक्त तीनों मनीषियों के समक्ष कुरखेत पाठांतर वाली प्रतियाँ रही होंगी किन्तु उन्होंने उस पर विचार करना अनावश्यक समझा।

३—'कुरखेत' वाला पाठ परम्परागत सामान्य मान्यता के विरुद्ध है। थोड़ी सी एक क्षेत्रीय प्रतियों और एक अल्प सीमित काल अर्थात् ३० वर्षों के भीतर लिखी गई प्रतियों के अतिरिक्त व्यापक देश-काल में उसका प्रचलन नहीं पाया जाता।

४—जिस राम कथा को भगवान शंकर ने भगवती पार्वती से, काकभुशुण्डि ने गरुड़ से और याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कहा था, वही कथा तुलसी से उनके गुरु ने कहा, इसलिए मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो, तक का पाठ तो तुलसी वचन विशुद्ध ही कहा जायेगा और अन्त का कुरुखेत भी अपने स्थान पर ठीक ही है, अस्तु परिवर्तन केवल एक अक्षर 'सु' के कारण हुआ है। यहां पढ़ने में प्रवाह थोड़ा अवरुद्ध होता है जिसे ठीक करने की चेष्टा से लिपिकारों ने भूल कर दी है एवं उन्हें सुकुरखेत (सूकरखेत) को 'कुरखेत' समझ लिया है। यह भूल तो सूकर खेत में सो सू के एक साथ में होने से भी हुई हैं।

५—उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि 'सो' तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त पाठ होना चाहिये; अस्तु जहाँ 'सो' के अतिरिक्त अन्य पाठ आया है, वह शुद्ध नहीं कहा जा सकता, जैसा कि नं० १, २ के अतिरिक्त अन्य सभी प्रतियों में देखा जाता है। पहली प्रति में 'सूकरखेत' ही 'सुकुरखेत' लिखा गया, जैसा कि भोजपुरी की 'आकार' को 'उकार' करने की प्रवृत्ति है किन्तु नं० २ में 'सोई' आ जाने से 'सु' पाठ प्रवाह से अलग हो गया। शेष सात प्रतियों में 'तुलसी कथित' 'सो' का अभाव है, जिससे उन पाठों को प्रमाण स्वरूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनका तुलसीकृत होना तर्क सम्मत नहीं है।

——

पंचम अध्याय

जाति और उपवर्ग

तुलसी जैसे महापुरुष का आविर्भाव किस महान् जाति और उसके किस उपवर्ग में हुआ, इस की खोज आवश्यक और महत्वपूर्ण है किन्तु इसकी खोज के साधन क्या हैं ? कहा जाता है कि 'साहित्य' समाज का दर्पण है, परन्तु साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं स्वयं साहित्यकार का भी दर्पण है। साहित्य और साहित्यकार का सम्बन्ध परस्पर अन्योन्याश्रित है। इसलिए साहित्यकार के परिचय हेतु उसके साहित्य का अध्ययन वैसे ही उचित और अपेक्षित है जैसे किसी स्थान की जानकारी के लिए उसका मानचित्र (नकशा) अपेक्षित है। भोजपुरी प्रदेश में एक कहावत प्रसिद्ध है—'जैसा देश वैसा भेष' जैसो जाति वैसो वात अर्थात् मनुष्य के वाह्य उपकरणो से उसके निवास स्थान की पहचान होती है और उसकी वाणी और आचार-व्यवहार से उसकी जाति और वंशगत विशेषताओं का पता चलता है।[1]

उच्च ब्रवांह्मण श

वाणी व्यवहार की कसौटी है और व्यवहार कुल परम्परा की क्योंकि व्यवहार की शिक्षा कुल परम्परा से मिलती है। व्यवहार में शील-शिष्टाचार का प्रथम स्थान है,[2] तत्पश्चात् कुलाचार, धार्मिकक्रियां, मान्यता, विधि-निषेध, कथन-शैली, आदर्श-स्थापन, संग-साथ और विरोध का। इन सारी बातों का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर पड़ता है। अतः इन सम्पूर्ण बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि तुलसीदास उच्च ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने

१—'यदा यदा मुंचति वाक्य वाणं तदातदा जातिकुल प्रमाणम्'
'आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषण'—चा० नी० ३-२
और—देश जानिए भेस सों कुल जानिए आचार।
प्रीति जानिये रीति सों जन जानिए व्यवहार॥
—विभूति सतसई

२—शीलो भूषयते कुलम्—चाणक्य ८।१४

बड़े कुल के अंतर्गत देवता, मुनि और ब्राह्मण वंश की हो स्थापना की है। अस्तु इन्हें हीं उन्होंने 'भलाकुल'[२] तथा 'सुकुल'[३] भी कहा है। गोस्वामी जी का जन्म किसी सुकल या भले कुल में हुआ था, इसे उन्होंने स्वयं ही बता है। उन्होंने अपने कुल को कहीं हीन नहीं कहा, वरन् अपने को ही 'कुल-कर-तूति-हीन[४] कहा है; इस से स्पष्ट है कि उन का जन्म एक श्रेष्ठवंश में अव कुलीन वंश में हुंआ था, जो आचार-व्यवहार में भी श्रेष्ठ था, एवं जो 'सुकु अर्थात् अच्छे गुणों से युक्त और निर्दोष भी था। उन्हें ऐसा शरीर मिला था जि पाकर मनुष्य 'परमपद' प्राप्त करता है तथा जो ज्ञान का भवन है।[५] ऐ शरीर ब्राह्मण ही का माना जाता है; अतः इस प्रकार गोस्वामी जी के ह कथन से सिद्ध होता है कि उनका जन्म एक आचार-विचारनिष्ठ कुलीन ब्राह्म वंश में हुआ था।

एक स्थान पर वे कलियुग को फटकारते हुए कहते हैं :—

'ब्राह्मण ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्योंही तिहारे हिए न हिते हौं
(क०उ० १०२

इस प्रकार भी उनका धर्मनिष्ठ ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। डा० माताप्रसा गुप्त कहते हैं कि इस बात में कदाचित संदेह नहीं किया जा सकता कि तुलसी दास ब्राह्मण थे, न केवल इसलिए कि इसके विरोध में कोई साक्ष्य प्राप्त न है, वल्कि कवितावली के निम्नलिखित छंद (उ०का०१०२) से भी यही ध्व निकलती है।[६] आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय के कथनानुसार तुलसीदास वास्त में थे श्रेष्ठकुल के बालक ही, उनका जन्म ऐसे कुल में हुआ अवश्य था; जिसे उनको उच्च से उच्च कुल के सभी अधिकार प्राप्त थे। इसी को यों भी कहा ज सकता है कि तुलसीदास उच्च कुल के ब्राह्मण थे।[७]

जो लोग 'जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी-जनक को' के अर्थ की भ्रांति में तुलसीदास को 'जारज' सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें इसी पुस्तक के 'अन्तर्साक्ष्य-प्रकरण' (अध्याय २) में उक्त छंद की

१—सुर-मुनि विप्र विहाय बड़े कुल गोकुल जन्म गोपगृह लिन्हों—वि०२४०
२—भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म—वि०३३
३—दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को—वि०१३५।१
४—मन-वचन-मलीन, हीन कुल-करतूति हौं—वि०६९
५—ज्ञान-भवन तन दियहु नाथ सोउ पाय न मैं प्रभु जाना—वि०११४।१
६—तुलसीदास पृ०१६१
७—तुलसीदास पृ०३०

व्याख्या देखनी चाहिए। क्या 'पाय-संतान के जन्म में बधावा भी बजता है? यदि बधवा बजा ही तो 'परिताप पाप' का प्रश्न क्यों? दूसरी बात यह है कि जब तुलसीदास अपने वंश को 'सुकुल' अपने समाज को भला समाज तथा अपने शरीर को भी 'भला' बताते हैं[1] तो इस के विपरीत उन के कुल, समाज तथा शरीर को लांक्षित करने का प्रश्न कहां उठता है?

श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित कहते हैं कि गोस्वामी जी से बहुधा लोग उनकी जाति वंश, स्थान गोत्रादि के विषय में प्रश्न करते थे, पर वे सदैव इस बात को छिपाने का प्रयत्न करते थे। अधिक आग्रह पर चिढ़कर कहते थे—

मेरे जातिपांति न चहौं काहू की जातिपांति,
मेरे कोई काम को नो हौं काहू के काम को।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को ॥
अतिही अयाने उपखानो नहीं बूझै लोग,
साहिब को गोत गोत होत हैं गुलाम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को ॥ क उ०१०७

"इससे विदित होता है कि उनकी जाति अवश्य संदिग्ध थी तथा लोगों को इस बात का भी पता न था कि वे कहाँ के निवासी थे।"[2]

आगे चलकर वे ही कहते हैं—"इन्हें भारत भूमि और उत्तम कुल में जन्म लेने का गर्व था।"[3]

इस प्रकार के परस्पर विरोधी विचित्र कथन से तो यही प्रकट होता है कि समीक्षक का मस्तिष्क स्वयं उलझा हुआ है तथा किसी निर्णय तक पहुँचने में असमर्थ है क्योंकि जिसकी जाति हो संदिग्ध उसे उत्तम कुल में जन्म लेने का गर्व कैसे? उक्त छन्द में ही गोस्वामी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि उनकी जाति पांति के सम्बन्ध में जो आक्षेप किये जाते थे, वे 'कुल-गोत्र' सम्बन्धी न थे, वरंच वे व्यक्तिगत 'आचार-व्यवहार' सम्बन्धी थे, यथा—

१—समाज सरीर भलो लहिके—वि० ३३

२—तुलसीदास और उनके ग्रंथ पृ० ४५

३—वही पृ० ४४

'साधु क असाधु के भलो के पोच सोच कहा;
का काहु के द्वार परौं; जो हौं सो हौं राम को ॥'

आज भी लोगों के व्यक्तिगत आचार व्यवहार पर आक्षेप किए जाते और थोड़े दिनों पूर्व तक सामाजिक मर्यादा के अनुसार स्पृश्यास्पृश्य का करने वाले लोग जाति से वहिष्कृत कर दिए जाते थे। उन्हें दंड का भागी पड़ता था और प्रायश्चित करना पड़ता था। कहीं-कहीं किसी-किसी जाति आज भी यह नियम है किन्तु इसके लिए व्यक्ति के कुल और जन्म को नहीं कहा जा सकता फिर तुलसी की निर्मल काया पर उक्त गदगी फेंकने इस प्रकार भगीरथ प्रयत्न क्यों ?

ऐसी ही शंकाओं का समाधान करते हुए आचार्य पं० चंद्रवली पां कहते हैं[1]—'सचमुच अब भी ऐसे 'अति ही अयाने' लोग हैं, जो यह भी जानते कि साधु-संत का गोत्र नहीं होता। उनको गोत्र की चिन्ता नहीं जाती। उनका तो अलग संप्रदाय बन जाता है और तुलसी का संप्रदाय प्रत्यक्ष ही रामावत। फिर तुलसी खीझकर ऐसे 'अति ही अयाने' महात्मा को दो टूक उत्तर नहीं देते तो और करते क्या ? फिर भी यदि इतने से न हो तो इतना और भी जान लें कि साधु होने से तुलसी को 'जाति-पांति' बढ़ी नहीं, प्रत्युत घट ही गई। कारण कि—

'रटत-रटत लट्यो जाति-पांति भांति घट्यो'
जूठनि को लालची चहौं न दूध नह्यौ हौं ।' वि० प०

जिन्हें भारतीय-संस्कृति का सामान्य ज्ञान है वे भी जानते हैं कि भारत 'साधु-संन्यासी' अपने कुल, वंश परम्परा और जन्मभूमि के सम्बन्ध में करने पर उत्तर नहीं देते एव उनसे इस प्रकार के प्रश्न करना अनुचित एवं विरुद्ध समझा भी जाता है। कारण यह है कि शरीर और शरीर के अनात्म-तत्त्व के अंतर्गत होने से साधु संन्यासियों की आसक्ति उसकी ओर रह जाती। उनके मन से जातिमद और कुलमद दूर हो जाता है तथा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में नाम और यश की से रहित महात्मा अपना फोटो भी नहीं लेने देते। फिर उनसे यह आशा की जाय कि वे अपने कुल, वंश-परंपरा और जन्मभूमि का ढिंढोरा पीटेंगे। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं—

"कवियों और महात्माओं में बहुत दिनों से आत्मगोपन की प्रथा सी आ रही है। अपनी रचनाओं में अपने संबन्ध में कुछ अधिक कहना, वे श्लाघा समझते हैं। यही बात गोसाईं तुलसीदास के सम्बन्ध; में भी है।

१—तुलसीदास पृ० ३१

गोस्वामी जी को जातिपांति के पचड़े से क्या मतलब! उनके लिए तो सारा संसार हो 'सियाराममय' हो चुका था। जहां पहुंच कर धनमद, बलमद, विद्यामद, कुल-कुटुम्बमद के साथ जातिमद का भी नशा सिर से उतर जाता है, उस स्थान पर तुलसीदास पहुंच चुके थे। उनके मतानुसार राम के दरबार में पहुँचने की कसौटी ही यह है जैसा कि वे कहते हैं—

'कह्यो न परत बिनु कह्यो न रह्यो परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों बलि दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप पीनता ॥१॥
एही दरबार है गरब तें सरब हानि,
लाभ योग-छेम को गरीबी मिसकीनता
मोटो दसकंध सो न दूबड़ो बिभीषन सों
बूझि परी रावरें की प्रेम-पराधीनता ॥३॥
यहां की सयानप अयानप सहस सम,
सूधो सतभाय कहे मिटति मलीनता ॥ विनय० २६२

गौतम चन्द्रिका से ज्ञात होता है कि जब गोस्वामी जी ने जातिपांति के पचड़े से ऊपर उठकर 'राम-भक्ति' का प्रचार करना आरम्भ किया और उनके सत्संग में सभी जातियों के लोग पहुंचने लगे, तब सबके साथ उनका समान व्यवहार देखकर कुछ दंभी और कपटी रुढ़िवादी ब्राह्मण उनके व्यवहार को अपनी जीविका में बाधक मान उनको द्वेषवश पतित और कुजाति कहने लगे; यथा—

'कलि कोविद भट जहँतहँ धाए।
ढँड़रच धर्मकेतु फहराए ॥
जोरि पंच मंडली बनाए।
तुलसिहिं पतित कुजाति बताए ॥

कवितावली (उ० का० १०६-१०७) से भी विदित होता है कि वे राम-भक्ति के नाते सबको समान दृष्टि से देखते थे और उनके मन से जातिपांति की संकीर्ण भावना निकल गई थी, जिससे जातिपांति के कट्टर समर्थकों में उनके प्रति असन्तोष था और वे उनके तत्संबन्धी व्यवहार की आलोचना एवं निन्दा करते थे।

इस 'ढँड़रच' का तुलसीदास ने क्या उत्तर दिया यह भी देख लेना उचित होगा—

तुलसी श्रवन परी सो बाता। बोले हुलसित पुलकित गाता ॥
धनि धनि पंच अनुग्रह कीन्हें। पंचकोस अघ निज सिर लीन्हें ॥

पतित सिरोमनि मोहिं जो पावहिं। रामपतित पावन कहलावहि
बानो ऊँच पतित पावन को। राम नाम कलिमल दावन को।
राम स्वामि हम रघुपति चेरे। इहई अमिट रेख सिर मेरे॥
जाति-कुजाति तें छगरे को। पतित हमहिं हरि बिन उधरे को

गौतम-चन्द्रिका के उपर्युक्त विवरण द्वारा गोस्वामी तुलसीदास के जां पांति सम्बन्धी विवाद का रहस्य स्पष्ट हो जाता है, अस्तु इस प्रकार के सन्दे का सम्बन्ध उनके जन्म के साथ जोड़ने वाले लोग कितने भ्रम में हैं, यह की आवश्यकता नहीं रह गई।

सरयूपारी-ब्राह्मण—

गोस्वामी जी किस ब्राह्मण उपवर्ग में उत्पन्न हुए थे, यह अबतक विवाद विषय बना हुआ है। महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी की स्थापना के सार डा० ग्रियर्सन ने इन्हें सरयूपारी माना है। वे कहते हैं—

'तुलसीदास सरयूपारीण ब्राह्मण थे, कान्यकुब्ज नहीं क्योंकि कान्यकु ब्राह्मण दान लेना तथा भिक्षा याचना आदि गर्हित मानते हैं, किन्तु कवि स्वतः कवितावली (उ० का० ७२) में अपने जन्म के सम्बन्ध में कहते 'जायो कुल-मंगन' कहा है।[1]

परन्तु यह ऊहा' उक्त छन्द का अर्थ करने में भ्रांति हो जाने के का हुई है क्योंकि 'कुल-मंगन' का सम्बन्ध 'जायो' क्रिया से न होकर 'बधा बजायो' क्रिया से है।[2] डा० माताप्रसाद गुप्त 'कुल-मंगन' को सरयूपारीण द्योतक नहीं मानते, उनका कहना है कि 'मंगन' शब्द से उसका साधारण ही लिया जा सकता है।[3] आचार्य चन्द्रबली पांडेय और पं० रामनरेश त्रि भी 'मंगन' को सरयूपारी के लिये रूढ़ नहीं मानते, वरंच उसे सामान्य ब्राह्मण का द्योतक समझते हैं।[4]

राजापुर का उपाध्याय वंश, जिसके पास 'तुलसी-सम्बन्धी कुछ सा विद्यमान है, सरयूपारी है किन्तु इसके आधार पर तुलसीदास को सरयू नहीं माना जा सकता। यह वंश राजापुर में 'तुलसी-मन्दिर' का पुजारी

१—डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० १६६

२—इसी पुस्तक के अध्याय २ में 'कुल मंगन' का अर्थ और तत्सम्बन्धी की व्याख्या देखिए।

३—डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० ११३

४—तुलसीदास पृ० ३० (सं० २०१४ का संस्करण) तुलसीदास और काव्य पृ० ७

अश्वादि वाहने दक्षः संग्रामे निर्भयः सदा।
राज विद्या सुनिर्धाता, स राजा ब्राह्मणः स्मृतः ॥ स्कं० पु०

ब्राह्मण के दो भेदों का विवरण महाभारत शान्ति पर्व में इस प्रकार दिया है—

'ब्राह्मणाद्विविधा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च, निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥

मनु ने भी प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का विवरण दिया है, देवल स्मृति आश्रमोपनिषद्, बौधायन सूत्र आदि में दो भेद यायावर (अप्रतिग्राही) और शालीन (प्रतिग्राही) किए गए हैं, जिनमें 'यायावर' को श्रेष्ठ माना गया है यथा—

"द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च। तयोः यायावर प्रवरो याजनाध्यायम प्रतिग्रह रिकृथ संचय वर्जनात्"—देवल

और—"शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्यावरयातीति यायावरम्"
—बौधायन

ब्राह्मणों का यह द्विविध भेद गुण-कर्म स्वभावानुसार परम्परागत है। तुलसी-काल में ये दोनों प्रकार के ब्राह्मण अपने ब्राह्मण धर्म से गिर गए थे और ब्रह्म तेज से रहित हो गये थे। तभी तो नाम मात्र के ब्राह्मण बनकर वे समाज में अपने गौरव को खो रहे थे और शूद्र स्वभाव के लोग भी उन्हें डाँट बतलाते थे, यथा—

'बादि शूद्र कह द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि ॥

तुलसीदास को समाज के इस नेतृ वर्ग को देखकर ग्लानि होती थी। ब्राह्मणों का प्रथम वर्ग वेद धर्म की उपेक्षा करने से कलिमल (काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य) से युक्त हो परस्पर छल प्रपंच और कलह में रत था तथा दूसरा ब्राह्मण वर्ग आत्म गौरव के नष्ट हो जाने और कायर दुःखी-दरिद्र होने से निंदित भिक्षा-वृत्ति को ही ब्राह्मण धर्म मान बैठा था,[१] फिर भी समाज में उसे भिक्षा नहीं मिलती थी।[२] प्रथम वर्ग मद-मात्सर्य से युक्त हो असामाजिक बन गया था और दूसरा वर्ग 'दारिद-दुखारी-भीरु' होने के कारण परमुखापेक्षी तथा

१—दारिद-दुखारी देबि ! भू सुर भिखारी भीरु
काम कोह लोभ मोह कलिमल घेरे हैं—क० उ० १७४

२—भूसुर लहै न भीख—दो० ४२७

समाज में उपेक्षित हो रहा था।[1] उपयुक्त कर्णधार के बिना समाज की नौ डगमग हो रही थी। ब्राह्मणों में सामाजिक उत्थान के हेतु सेवा और त्याग क अभाव देखकर कोई भी समाज का हित चिंतक दुःखी हो सकता था। कदाचि इसी से गोस्वामी जी ने पुरोहिती को निंद्य माना है[2] और ब्राह्मणों के लो प्रवृत्ति की भर्त्सना की है। ब्राह्मण जमींदारों के छल-कपट से भी वे सन्तुष्ट थे।[3] उनके अनुसार ब्राह्मण में तप और त्याग की प्रधानता होनी चाहिए क्योंकि ब्राह्मण का बल, तप और त्याग ही है, यथा—

'तप-बल विप्र सदा बरियारा'—रा० बा० १६५

और—'चाहिय विप्र उर कृपा घनेरी'—रा० बा० २८२

त्यागी-तपस्वी ब्राह्मण के ही अनुशासन में रहकर समाज सुखी-सम्पन्न सकता तथा उन्नति कर सकता है यथा—

'विप्र वंस की अस प्रभुताई। अभय होइ जो तुमहिं डेराई॥
रा० बा० २८

और राम-राज्य की स्थापना का आधार ऐसे ही ब्राह्मणों की सेवा है यथा—

'राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकहिं फनीस सारदा॥
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नर-नारी॥
रा० उ०

त्यागी-तपस्वी ब्राह्मण की सेवा से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है। इस प्रका ब्राह्मणों की सेवा में रहने से देवता और मुनि भी प्रसन्न रहते हैं—

'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मनक्रम वचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥
रा० उ

क्योंकि ब्राह्मण की सेवा में रहने से धर्म की प्रवृत्ति होती है यथा—

'द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री'—रा० उ०

---

[1] —बड़े विबुध दरबार तें भूमि भूप दरबार।
जापक पूजक देखियत, सहत निरादर भार॥ दो० ३९३

[2] —श्री स्वामी विवेकानन्द को भी ब्राह्मणों में समाई हुई असाधा भावना को देखकर कहना पड़ा—"पुरोहिती स्वभावतः निर्दय हृदय-हीन वस्तु है (पृ० १०९) उनकी उत्पत्ति शताब्दियों के कुसं तथा अत्याचार से हुई है। सर्वप्रथम पुरोहिती के छल को उखार फेंको।"—शिक्षा-संस्कृति और समाज पृ० १०८

[3] —बिनु प्रपंच छल भीख भलि लहिय न दिए कलेस—दो० ३९४

धर्म ही के आधार पर समाज खड़ा है और गतिशील है अतः समाज की सुरक्षा तथा विकास के लिए ब्राह्मण का अनुशासन आवश्यक है। ब्राह्मण की सेवा में रहने से ज्ञानोदय और भगवद्भक्ति की भी प्राप्ति होती है।[1] इसलिये ब्राह्मण सेवा की गणना नवधा-भक्ति के अन्तर्गत की गई है।[2] इस प्रकार स्वार्थ-परमार्थ दोनों दृष्टियों से ब्रह्म-सेवा का महत्त्व है। इसके विपरीत ब्राह्मण से द्रोह करने वाले की दुर्गति होती और उसका नाश हो जाता है।[3] भूल से अपराध कर देने पर भी ब्राह्मण अवध्य है, उस पर बल प्रयोग नहीं किया जा सकता।[4]

वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान है क्योंकि यदि ब्राह्मण समाज रूपी शरीर का अनुशासन-कर्त्ता मुख है तो क्षत्रिय उसकी रक्षा करने वाला बाहु। इसलिए क्षत्रिय शक्ति का प्रतीक है तथा युद्ध के लिए सदा तैयार रहता है यथा—

‘क्षत्रिय तन धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पामर जाना ॥

क्षत्रिय को खलों के नाश और सज्जनों की रक्षा में सदा तत्पर रहना उचित है। श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—

‘हम क्षत्रिय मृगया बन करहीं। तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं ॥’

क्षत्रिय के बाद वैश्य का स्थान है। वैश्य व्यवसायी होता है। वह अपने उत्पादन तथा विनिमय प्रसाधन द्वारा समाज का विकास करता है। वैश्य में त्याग की प्रवृत्ति कम किन्तु संग्रह की प्रवृत्ति अधिक होती है, इसी से समाज में उसका स्थान तीसरा है। प्राचीन काल तथा गोस्वामी जी के समय में भी कृषि-व्यवसाय सभी वर्णों के लोग करते थे, परन्तु वाणिज्य-व्योपार प्रायः वैश्य ही। वे धन द्वारा कला का भी संरक्षण करते थे। वैश्य का धनी मानी, दानी और सच्चरित्र होना ही उसकी शोभा है यथा—

‘बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँ भूप रमा निवास तहँ की संपदा किमि गाइए ॥

१—‘सर्वात्मनं महात्मनं विधूवमिव पावकम्।
तं पश्यंति महात्मानो, ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥’

२—भगति के साधन कहौ बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति नीती ॥
रा० अ० १६

३—बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे—रा० उ०

४—चल न ब्रह्म कुल सन बरिआई। सत्य कहौं द्वै भुजा उठाई—रा० बा०

बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुं कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित्र सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥
रा० उ० २८

वर्णों में चोथा स्थान शूद्र का है क्योंकि वह पशु प्रवृत्ति का होने से आचार-विचार-हीन, अहंमन्यता युक्त और विषयी होता है। इसलिए उसका नियमन भय द्वारा आवश्यक होता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

'ढोल गँवार सूद्र पसु-नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥'

विद्वान होने पर भी शूद्र दुर्गुणों से मुक्त नहीं हो पाता, यथा—

अधम ज़ाति मैं विद्या पाए। भयउँ जथा अहि दूध पिआए॥

× × ×

मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहइ न मोहिं सुहाई॥
रा० उ० १०६

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि गोसाईं जी के मतानुसार वर्ण-व्यवस्था में केवल जन्म ही हेतु नहीं, वरंच गुण कर्म स्वभाव भी है।[1] जिसमें ब्राह्मण के गुण नहीं, वह ब्राह्मण न होकर 'ब्रह्म-बंधु' और जिसमें क्षत्रिय के गुण नहीं, वह क्षत्रिय न होकर क्षत्रबन्धु है जैसा कि राजा प्रताप भानु को शाप देते हुए ब्राह्मणों ने संबोधित किया था—

'क्षत्रबन्धु तैं विप्र बोलाई। घालै लिए सकल समुदाई॥
ईश्वर राखा धर्म हमारा। जैहसि तैं समेत परिवारा॥रा०बा०१७

---

[1] —सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म, ब्रह्म चेंद्रिय निग्रह।
सर्व भूत दया ब्रह्म एतद् ब्राह्मण लक्षणम्—वशिष्ठ
शमोदमस्तपः शौचं क्षांति रार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्—भगवद् गीता
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः—मनु
शौर्यं तेजो धृति दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्—गीता
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च।
वणिक पथं कुसोद च वैश्यस्य कृषिमेव च—मनु
एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समासत्
एतेशामेव वर्णानां शुश्रुषा मनु सूयया—मनु

सामाजिक मर्यादा की रक्षा और विकास के लिये वर्ण व्यवस्था एक उपयोगी विधान है। किसी भी व्यवस्था के संचालन के लिये अगुआ की आवश्यकता होती है। समाज का अगुआ ब्राह्मण है, इसलिये समाज का ब्राह्मण के अनुशासन में उसीप्रकार रहना उचित है जिसप्रकार परिवार पिता के अनुशासन में रहता है। पिता कभी-कभी किसी कारण क्रोध करता है, कटुवचन कहता है और दण्ड भी देता है परन्तु फिरभी वह पूज्य है। पिता की त्रुटियाँ नहीं देखी जातीं, उसके पद की प्रतिष्ठा की जाती है। परिवार में जैसे पिता की स्थिति है, वैसे ही समाज में ब्राह्मण की स्थिति है, इसीसे गोस्वामीजी श्रीरामचन्द्रजी द्वारा कहलाते हैं—

सापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥
पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥
रा० आ० ३४

पहले कहा गया है कि मध्ययुग में ब्राह्मणों से द्वेष करने, अवैदिक बौद्ध-जैन धर्म स्वीकार कर लेने तथा विदेशियों के आक्रमण के कारण प्रायः क्षत्रियों का भारतभूमि से लोप हो गया। ऐसी दशा में ब्राह्मणों द्वारा गठित क्षत्रियों की स्थानापन्न 'राजपूत' जाति का उदय हुआ। सामाजिक मर्यादा की रक्षा और विकास के लिये ही ऐसा किया गया।[1]

जैसे सामाजिक मर्यादा की रक्षा और विकास के लिये 'वर्ण-व्यवस्था' आवश्यक है, वैसे ही व्यक्ति के विकास के लिये 'आश्रम धर्म' का पालन आवश्यक है। आश्रम भी चार हैं[2]—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—नियमपूर्वक गुरुकुल में रहकर विद्यादि गुणों के अर्जन और शारीरिक-मानसिक विकास के निमित्त।

(२) गृहस्थाश्रम—धर्मपूर्वक अर्थ संग्रह कर सांसारिक कामनाओं की पूर्ति, लौकिक श्रेय-प्रेय और सुख अभिवृद्धि के निमित्त।

(३) वानप्रस्थाश्रम—परलोक की भावना से मनको विषयों की ओर से खींचकर तप की साधना द्वारा ईश्वर की ओर लगाने के निमित्त।

(४) संन्यासाश्रम—ज्ञान-भक्ति द्वारा सांसारिक वासनाओं की निवृत्ति, पूर्वक आत्मिक विकास और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के निमित्त। इस आश्रम का उद्देश्य सांसारिक बंधनों से छुटकारा और शाश्वत सुख की प्राप्ति है, जिसे मोक्ष कहते हैं, जो जीवन का चरम लक्ष्य है तथा जिसका अधिकारी प्रायः साधना-

---

१—दे०—विकास की एक धारा भाग २ अ० १

२—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ मनु० ६।२७

शील पवित्रात्मा ब्राह्मण ही होता है क्योंकि वह स्वभाव से ही सात्विक वृत्ति का निष्पाप होता है एवं उसकी सांसारिक वासनाएँ ज्ञान-वैराग्य के कारण क्षीण हो गई होती हैं।

गोस्वामीजी के समय के पहले से ही आश्रम व्यवस्था विकृत हो गई थी यहाँ तक कि अनाधिकारी लोग सन्यासी तक होने लगे थे यथा—

ज़े बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाय होहिं संन्यासी॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

आश्रम व्यवस्था के व्यतिक्रम से समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, वह भी देख लेने योग्य है, यथा—

बहुदाम संवारहिं धामजती। विषया हरि लीन्ह गईं विरती॥
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥
कुलवन्ति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निवेरि गती॥
सुत मानहिं मात-पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पियारि लगी जबतें। रिपु रूप कुटुम्ब भए तबतें॥ रा०उ० १०१

और—

'सब लोग वियोग विसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए॥
दम दान दया नहिं जान पनी। जड़ता परवञ्चनताति घनी॥
तनु पोषक नारि नरा सगरे। पर निंदक जो जगमो बगरे॥ रा०उ० १०२

वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं होने से सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न होती है। लोग आचार-विचार और धर्म-कर्म से रहित हो जाते एवं समाज में संकरता की वृद्धि होती है—

भए वर्ण संकर कलिहिं, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुःख, भय रुज सोक वियोग॥

इसलिये वर्णाश्रम धर्म का पालन व्यक्ति के विकास एव सामाजिक-उत्थान हेतु परमावश्यक है। तुलसीदास ने सामाजिक सुव्यवस्था और मर्यादा की रक्षा के लिये ही वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन किया है, न कि ऊँचे कुलवालों के महत्त्व-प्रतिपादनार्थ ? यदि उच्चवंश में निम्नकोटि के पुरुष हों तो उनसे अच्छा तो निम्नकुल ही है जिसमें रामभक्त और लोकोपकारी पुरुष उत्पन्न हों यथा—

"ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥ ३८ ॥
अति ऊँचे भूधरनि पर, है भुजगनि को थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ईख, अन्न अरु पान ॥ ३९ ॥ वै० सं० ॥

तुलसीदास द्वारा स्थापित वर्ण व्यवस्था किसी के मार्ग में रोड़ा बनकर नहीं अटकती और न उससे किसी का विकास ही रुकता है। भक्तिमार्ग मानवमात्र के लिये समानरूप से कल्याणकारी है और उक्त भूमि पर सबको समान अधिकार है वहाँ सब समान हैं। गोस्वामीजी ने श्रीरामचन्द्रजी से भी कहला दिया है।

'मानउँ एक भगति कर नाता'

भक्तिमार्गी होने से ही श्री रामचन्द्रजी शबरी के जूठे बेर खाए थे और केवट को गले लगाया था। तुलसीदास ने भी अपने इष्टदेव से ही प्रेरणा पाकर स्वपच को गले लगाया। उनके सत्संगियों में हरिजन और मुसलमान भी थे। यही कारण है कि काशी के रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उनको 'कुजाति' और पतित कहा, किन्तु उन्होंने किसी की परवाह न की एवं अपने राम का अनुकरण करते रहे। उनकी सच्ची भक्ति तो यही थी। उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था भक्तिमार्ग में बाधक न होकर साधक थी।

तुलसीदास और ब्राह्मण—कुछ लोग समझते हैं कि तुलसीदास ब्राह्मणवर्ग के विशेष पक्षपाती थे, इसी से उन्होंने कहा है—

शापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता ॥

'श्री रामचरित-मानस' से और भी अनेक उदाहरण दिये जाते हैं और अपने पक्ष का समर्थन किया जाता है, अस्तु तुलसी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय इस विषय पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

ब्राह्मण वर्ग समाज का एक प्रमुख अंग है, इसलिए तुलसी की तद्विषयक विचार-सरणि पर विचार करते समय तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

तुलसी-काल राजनीतिक उच्छृंखलता और सामाजिक-विघटन का युग था। उस युग में मुगल शासकों और उनके सामन्तों का मनमाना आदेश ही कानून था। मुसल्मानी शासन और संस्कृति के अनवरत धक्के से सुगठित हिन्दू समाज जर्जरीभूत हो रहा था। हिन्दू-समाज की आधारशिला वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी, जिसको विशृंखल होने से बचाना तथा सामाजिक मर्यादा की सुरक्षा और सुव्यवस्था तुलसी का प्रधान उद्देश्य था।

सामाजिक-विघटन समाज और राष्ट्र दोनों ही के लिये घातक है। सामाजि विघटन की स्थिति में व्यक्तिवादी भावना बहुत बढ़ जाती है। जिससे असामाजि तत्वों को प्रश्रय मिलता है। राष्ट्र, जाति, समुदाय, परिवार और व्यक्ति के पारस्परिक-सम्बन्ध में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परंपरागत विश्वा प्रथाएँ और आचार-व्यवहार के पालन में अनिश्चितता आ जाती है। स्वार्थ की उच्छृंखलता के बढ़ जाने से सांस्कृतिक ह्रास होता है। लोग अशिष्ट और उद्द बन जाते हैं। परस्पर सहयोग के स्थान पर संघर्ष, प्रेम के स्थान पर घृणा, ईमानदारी के स्थान पर वेईमानी सदाचार के स्थान पर भ्रष्टाचार और परोपकार के स्थान पर अत्याचार की वृद्धि होतो है। अनैतिकता, व्यभिचार, चोर बाजारी घूसखोरी, कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा, संकीर्ण जातिवाद असामाजिक-संगठन, बेकारी व्यभिचार, जुआ, मद्यपान अपराध, अज्ञानता, अस्वास्थ्य, महंगी, चोरी-डकैती अनुचित मुनाफाखोरी आदि बढ़ने का कारण मुख्यतः सामाजिक विघटन है। तुलसीदास सामाजिक विघटन के दोषों से परिचित थे, इसलिये उस आचार-व्यवहार को बढ़ावा देना चाहते थे, जो समाज को विघटित हाने से बचाए।

हिन्दू-धर्म में समाज को विराट्पुरुष का प्रतीक माना गया है, जिसका मुख ब्राह्मण, वक्ष क्षत्रिय, उरु वैश्य तथा पाद शूद्र है। इस मान्यता का अभिप्रा यह है कि चारो वर्ण अपनी-अपनी सामाजिक सोमा के भीतर समाज के सुदृ संगठन में परस्पर पूरक बनकर मूलाधार के रूप में स्वीकृत हैं। इस सोमा-क्षेत्र में कहीं भी विकृति आ जाने पर संपूर्ण समाज के विकृत तथा विघटित होने की सम्भावना है। 'समाज व्यक्तियों का समूह नहीं, वरंच यह मनुष्य के बहुत से पारस्परिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है, इसलिए समाज के सगठन में पारस्परिक सहयाग और उसके द्वारा प्राप्त शक्ति के माध्यम से नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ती है। सहयोग का आधार मानसिक समानता है। किसी समस्या के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण, समान आचार-व्यवहार एवं मान्यता वाले लोग किसी समाज का संगठन करते हैं एवं अपनी विभिन्न योग्यता, प्रवृत्ति साधन एवं आवश्यकता के अनुसार उसका विभिन्न क्षेत्रों में विकास करते हैं। इसीसे समाज में विभिन्न पद-प्रतिष्ठा, आयु, साधन आ'द के होते हुए भी परस्पर भावनात्मक एकता होती है। इसी भावनात्मक एकता को सुदृढ़ बनाना तथा उसे जागरूक रखना सामाजिक संगठन और उसके विकास का मूल तत्व है। सामाजिक मर्यादा की रक्षा और नियमन इसी के आधार पर होता है।

समाज का आधार शिला वर्ण-व्यवस्था है, जिसको सुव्यवस्थित रूप से गठित करने के लिए समाज के पथ-प्रदर्शक (मुख) ब्राह्मण वर्ग में समाज का भावनात्मक केन्द्रीकरण तुलसीदास को अभोष्ट था, जो ब्राह्मण-वर्ग के महत्व का

प्रतिपादन करके ही किया जा सकता था। अतः तुलसीदास ने वही किया जिसे उन्हें करना था एवं जो तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल था। सूफी और निर्गुनिया संतों के द्वारा जो सामाजिक आधार भूमि में दरार पड़ रही थी, उसे तुलसीदास की समर्थ वाणी ने पाट कर पक्का पलस्तर कर दिया।

तुलसीदास संकीर्ण ब्राह्मणवादी न होकर उदार समाजवादी थे। सामाजिक-सुख-शांति और विकास ही उनका उद्देश्य था। वे जब कहते हैं कि—

पूजिए विप्र वेद विधि हीना। शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना।।

तो इसमें भी उनका उद्देश्य वही है, जो ऊपर बताया गया है। क्योंकि सामाजिक संगठन और विकास की दृष्टि से जितनी आवश्यकता सामाजिक सद्भावना की है, उतनी विविध गुणों की जानकारी की नहीं और स्पष्ट है कि शूद्र स्वभाव व्यक्तिवादी होता है, पर ब्राह्मण स्वभाव समाजवादी एवं इसी अर्थ में वेद-विद्याहीन ब्राह्मण का भी महत्त्व है। स्वभाव का सम्बन्ध कुल परम्परा से है। अध्ययन के द्वारा केवल उसे परिमार्जित किया जाता है। अस्तु सामाजिक दृष्टि से तुलसी ब्राह्मण को महत्त्व देते हैं, व्यक्ति की दृष्टि से नहीं व्यक्ति की दृष्टि से तो वे एक सासांरिक माया जाल में पड़े हुए ब्राह्मण की अपेक्षा भक्त श्वपच को उत्तम समझते हैं और उस बड़े वंश की अपेक्षा जिसमें असामाजिक तत्त्व पलता हो; उस छोटे कुल की श्रेष्ठता या उपयोगिता स्वीकार करते हैं, जो समाज सेवा की भावना से ओत-प्रोत है। दोहावली जो एक नीति ग्रंथ है उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि—'उस ऊँचे पर्वत-शिखर का कोई मूल्य नहीं जहाँ विषधर पलते हैं परन्तु उस पर्वत की नीची तराई का अधिक मूल्य है जहाँ समाज के पोषक तत्त्व ऊख और धान की उपज होती है।

ब्राह्मण स्वभाव का भूषण उसकी दया और उदारता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण क्योंकि ये गुण समाज-पोषक हैं, वह समाज में सम्मान का अधिकारी बनता है। परशुराम साक्षात् तपस्या की मूर्त्ति, परम शक्तिमान और स्वयं भगवान के अवतार हैं। वे ब्राह्मण ही हैं किन्तु उनके असामाजिक क्रूर स्वभाव के कारण तुलसी ने क्षत्रिय राम-लक्ष्मण के समक्ष नीचा दिखाया है। राम परशुराम के प्रति कहते हैं—

'जो तुम अवतेउ मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गुसाईं।।
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी।।

इन बातों से यह बात स्पष्ट व्यक्त होती है कि तुलसीदास का अभीष्ट सामाजिक सुख-शांति था और उसी के निमित्त से उन्होंने ब्राह्मण की प्रशंसा की है संकीर्ण जातिवादी मनोवृत्ति के कारण नहीं।

एकादश अध्या

स्वभाव, कर्म कौशल और व्यक्तित्व

शील-स्वभाव और अनुभव—

यों तो प्रायः सभी महान और प्रतिभाशाली पुरुष प्रकृति प्रेमी होते हैं कि अपेक्षाकृत कवियों में यह स्वभाव विशेष रूप से पाया जाता है। गो० तुलसीदा का जन्म ही प्रकृति की गोद में गगातट पर हुआ था। उनकी बाल्यावस्था वि प्राकृतिक सुषमाओं से सुशोभित गगा सरयू के संगम पर बीती और उसके बा से तो वे अनेक तीर्थों एवं वन-पर्वतों का परिभ्रमण करते हुए, प्रकृति के ना रूपों का ही दर्शन करते रहे। उनकी रचनाओं में प्रकृति के बड़े सुन्दर चि उपमा उत्प्रेक्षा और रूपकों के रूप में मिलते हैं। ये रूपक और उपमाएँ वि पत्रिका, गीतावली और कवितावली के चित्रकूट वर्णन में तथा रामचरित मा के अनेक स्थलों पर (यथा बा० १६१-६२, अयो० २३७, अर० ३३-३४, अ ३४, अर० ३८-४०, लं० १२) देखे जा सकते हैं।

उन्होंने 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' को राग के अनुसार गेय पदों ही लिखा है—रामलला नहछू, पार्वती मंगल और जानकी मंगल विवाह के अवसर पर स्त्रियों के गाने के लिए लिखे, जिससे इनका गायक होना प्रकट हो है। 'गौतम चन्द्रिका' में भी अनेक स्थलों पर उनके गायक होने की बात क गई है यथा—

'साधु अनेक एक निसि आए। तुलसी नवल विस्नु पद गाए॥'
'तुल्सी देव मंदिरन्ह जाई। बिनती करहिं विस्नु पद गाई॥'
'अटत उजेनी दासहु आए। सुपद सूर-मीरा कृत गाए॥
सुनि तुलसी बानी अनुरागी। सुखद कृस्न पद गावन लागी॥'

इससे स्पष्ट है कि वे गाने-बजाने की प्रवृत्ति रखते थे। उन्होंने 'रामचरित मानस' में राम-राज्य को अयोध्या तथा जनकपुर के विवाह मंडप की सजा का जैसा वर्णन किया है, उससे उनकी शिल्प कला के प्रति 'अभिरुचि' प्र होती है यथा—

'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा।।
किए भृंग, बहुरंग बिहंगा। गूँजहिं कूँजहिं पवन प्रसंगा।।
सुर-प्रतिभा खंभन गढ़ि काढ़ी। मंगल-द्रव्य लिए सब ठाढ़ी।।
रा० बा० २८८

श्री रामचन्द्र जी और अन्य लोगों की वेष-भूषा के जो चित्र इन्होंने विभिन्न अवसरों पर चित्रित किया है, सुन्दर और सुस्पष्ट हैं। इससे इनकी वेश-विन्यास सम्बन्धी दक्षता का पता चलता है। एक चित्र देखिए—

सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जल जाभ सरीरा।।
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।।
भाल तिलक श्रम बिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए।।
बिकट भृकुटि कच घूँघर वारे। नव सरोज लोचन रत नारे।।
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास विलास लेत मन मोला।।
उर मनिमाल कंबुकल ग्रीवा। काम कलभ कर भुजबल सीवाँ।।
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँवर सखी सुठि लोना।।
रा० बा० २३३

कवितावली से ज्ञात होता है कि उन्हें जड़ी-बूटी, टोटका तथा वैद्यक का भी ज्ञान था[१] एवं दोहावली से पता चलता है कि गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष में प्रवीण थे इससे इनकी उस प्रवृत्ति का पता चलता है जो मनुष्य को बहुज्ञ बनाती है। वे शकुनाशकुन और स्वप्न के फला-फल पर विश्वास रखते थे। 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना ही शकुन-विचार के निमित्त हुई है। 'रामचरित-मानस' में स्वप्न-फल की चर्चा कई स्थानों पर आई है यथा—

'सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी।।
दिन प्रति देखौं राति कुसपने। तुमहिं न कहौं मोह बस अपने।।
रा० अ० २०

'अनरथ अवध अरंभेउ जबते। कुसगुन होहिं भरत कहँ तबते।
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना।।
रा० अ० १५७

'लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।।
रा० अ० २२६

---

[१] —क० सु० २५, ह० बा०

'असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनै न भुज बल गर्व विसाला॥
राο लंο

'सगुन विचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहिं कृपालु रघुवीरा॥
राο लंο

होहिं सगुन सुन्दर सुभग जो जेहि कारज जात॥ राο बाο

गोस्वामीजी जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए वंश नुसार वे राजनीति से भलीभांति अभिज्ञ थे किन्तु छल-कपट, दांव-पेंच कूटनीति उन्हें प्रिय न थी जैसा कि उन्होंने दोहावली में व्यक्त किया है।[1] और शिष्टाचार कुलवान होने की पहचान है। गोस्वामी जी में ये गुण सीमा तक पहुँचे हुए थे। महाभारत में धर्मव्याध ने शिष्टाचार का प्रकार बताया है—

त्रै विद्य बृद्धाः शुचयो बृत्तवन्तो मनस्विनः।
गुरु शुश्रूषवो दांताः शिष्टाचारा भवंत्युत ॥७६॥
दातारं संविभक्तारो दीनानुग्रह कारिणः ॥८७॥
सर्वपूज्या श्रुत धनास्तथैव च तपस्विनः।
सर्वभूत दयावंतः ते शिष्टाः शिष्ट सम्मताः ॥८८॥ वनο अο

वंश-परम्परा के अनुसार ही उनका स्वभाव वीरों का सा था। उन्होंने वीरता की प्रशंसा और कायरता की निन्दा की है।[2] याचक-वृत्ति को वे ही बुरा मानते थे।[3] शरणागत वत्सलता,[4] दीनों पर दया[5] और उदा उनके स्वाभाविक गुण थे। वे कहते हैं कि कलियुग में दान[7] और भगवान

१—दोο ५००-५३०

२—'जाइ सो सुभट समत्थ पाइ रन रारि न मंडै'—कο उο

३—'अमरदानि जाचक मरहिं, मरि मरि फिर फिर लेहिं।
'तुलसी' जाचक पातकी, दातहिं दूषण देहिं॥ दोο ३७६

४—सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय तिनहिं विलोकत हानि॥ दोο ५४३

५—'धर्म की दया सरिस हरियाना'—राο उο ११२

६—'सब उदार सब पर उपकारी। रामचरन सेवक नरनारी॥ राο उο

७—प्रकट चारि पद धर्म के, कलि महं एक प्रधान।
येन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥ राο उο १०३
और—सो धन धन्य प्रथम गति जाकी'—राο माο

होगा, जैसा कि प्रायः सरयूपारी हुआ करते हैं। इस वंश के साथ तुलसीदास का वंश-गत संबंध होने के सम्वन्ध में कोई किंवदन्ती भी प्रचलित नहीं है।

ऐसी दशा में तुलसीदास के सरयूपारीण होने के सम्वन्ध में कोई दृढ़ आधार नहीं है।

सनाढ्य ब्राह्मण—

सोरों-सामग्री के आधार पर तुलसीदास की जन्मभूमि सोरों माननेवाले लोग तुलसीदास को 'सनाढ्य ब्राह्मण' और उनका आस्पद 'शुक्ल' कहते हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' में नन्ददास को तुलसीदास का भाई सनौढिया (सनाढ्य) ब्राह्मण लिखा बताया जाता है किन्तु 'वार्त्ता' के अनेक संस्करणों में यह वात नहीं पाई जाती तथा स्वयं तुलसीदास के कथन द्वारा भी इसका विरोध हो जाता है (दे० अध्याय १) अस्तु इसे प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। डा० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं कि "वार्त्ता के एक संस्करण में न तो यह उल्लेख मिलता है कि नंददास सनौढिया ब्राह्मण थे और न यही कि वे रामपुर के निवासी थे। × × जो बातें समस्त पाठों में समान रूप से नहीं मिलतीं, वे प्रायः प्रक्षिप्त होती हैं (तुलसीदास पृ० १५६)। पहले इस वात पर विचार किया जा चुका है कि 'वार्त्ता' एक साम्प्रदायिक-ग्रन्थ है। श्री डा० माताप्रसाद गुप्त के कथनानुसार भी यही बात प्रकट होती है यथा—

'वार्त्ता एक सम्प्रदाय ग्रन्थ है और अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा वृद्धि के लिए उसके लिए यह स्वाभाविक है कि वह ऐसे सन्तों को भी अपने सम्प्रदाय के साथ संबद्ध वतावे, जिनका कोई सम्बन्ध उक्त सम्प्रदाय से नहीं था। यही कारण है कि प्रियादास से ही नहीं, नाभादास से भी दो सौ बावन वार्त्ता' के लेखक का विरोध दिखाई देता है (वही पृ० ८०)

'वार्त्ता का रचनाकाल अधिक से अधिक उन्नीसवीं शती विक्रमी का पूर्वार्द्ध है क्योंकि श्री नागरीदास कृत 'पद प्रसंगमाला' का रचनाकाल सं० १८०९ से १८२१ वि० के मध्य है और डा० माताप्रसाद गुप्त के मतानुसार 'माला की रचना 'वार्त्ता' के पूर्व हो चुकी थी (वही पृ० ८४)

अस्तु जब उससे अन्य साक्षियों का विरोध पड़ता हो, उसे प्रमाणस्वरूप ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसीके समकालिक घट-रामायण में तुलसीदास को 'कान्यकुब्ज' ब्राह्‌मण कहा गया है यथा—कान्हकुब्ज बांभन मोरी जाता' जबकि उक्त ग्रन्थ की रचना सनाढ्य-केन्द्र में की गई थी। उसीकाल के लेखक श्री भवानीदास ने नन्ददास को 'कान्यकुब्ज' ही लिखा है और तुलसीदास को उनका गुरु भाई बताया है—

"कान्हकुब्ज एक विप्रनगर कनउज ढिगवासी।
श्री गोसाईं गुरुबन्धु, रहे श्रीकृष्ण उपासी॥
नन्ददास सुभनाम स्वच्छ कृत पद जग गावे॥
गोसाईं चरित पृ० १४०

पहले अध्याय में नन्ददास का एक पद उद्धृत है, उससे भी वे तुलसीदास
गुरुभाई ही ठहरते हैं अतः दोनों को परस्पर संगोत्र मानने का कोई कारण
दिखता। 'वार्त्ता' के अनुसार नन्ददास और तुलसीदास काशी के निकट क्षेत्र
निवासी थे किन्तु उक्त प्रदेश में सनाढ्य ब्राह्मण पाए ही नहीं जाते और
कहीं मिलते भी हैं तो उनका आगमन तुलसीकाल के बहुत बाद हुआ है[1]
'वार्त्ता' के ही प्रमाण से नन्ददास और तुलसीदास दोनों के ही सनाढ्य होने
खंडन हो जाता है।

कान्यकुब्ज ब्राह्मण—

गोस्वामी तुलसीदास के विषय में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि

'तुलसी परासर गोत दुबे पत्यौंजा को'

इस जनश्रुति के अनुसार वे कान्यकुब्ज ज्ञात होते हैं क्योंकि 'पत्यौंजा'
कान्यकुब्ज 'दुबे' वंश का निकास (मूल या डीह) है किन्तु उक्त वंश के
'पाराशर' गोत्र के नहोकर 'कात्यायन' गोत्र के हैं। दूसरी बात यह है कि
निकासों का निर्धारण और विश्वा की स्थापना अकबर के समय में हुई,
कि 'सनाढ्य-जीवन' के संपादक श्री पं० जयदयाल शर्माकृत 'ब्राह्मणोत्पत्ति
पृ० १६१ पर उल्लेख किया गया है।

तुलसीदास का जन्म उक्त व्यवस्था मान्य होने के कई दशक पूर्व हो
था, अतः इससे प्रकट है कि कथित जनश्रुति 'तुलसी-काल' की न होकर
है और संभवतः राजापुर (बाँदा) के आस-पास 'दुबे' ब्राह्मणों की बस्ती दे

---

[1]—बलिया, सारन आदि जिलों में कहीं-कहीं थोड़े से सनाढ्य ब्राह्मण
हुए हैं। इनके पूर्वज उन्नीसवीं शती विक्रमी में अंग्रेजी सेना में
होकर अथवा बैल आदि का व्यवसाय करते हुए आए; जो प्रायः दो प्र
के हैं—बदौआ मिश्र और बैलवार (बरुआ) तिवारी जिनका गोत्र
पं० गिरिराज प्रसाद शर्मा नगायच कृत 'अल्लगोत्र प्रवरावली पृ० ४९
अनुसार क्रमशः जातूकरण और अत्रि है। पं० छोटेलाल शर्मा ने ब्राह्म
निर्णय में भी बैलवार का विवरण दिया है। सिकन्दरपुर (बलिया
आदि में ये लोग भारद्वाज गोत्र के पाए जाते हैं।

गढ़ ली गई है। इसलिए इसे प्रमाण मानकर कुछ निर्णय देना उचित न होगा। जनश्रुतियाँ निराधार तथा कभी-कभी तथ्य के विपरीत भी प्रचलित हो जाती हैं अतः अन्य साक्ष्योंके अभावमें उन्हें महत्त्व देना किसी भी दशा में उचित नहीं है।

तुलसीदास को कान्य-कुब्ज सिद्ध करने के सम्बन्ध में एक तर्क यह है कि उन्होंने—"कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम कौन गजराज धौं वाजपेयो" कहकर 'बाजपेयी' के प्रयोग द्वारा अपने को 'कान्यकुब्ज' सिद्ध किया है क्योंकि 'बाजपेयी' केवल कान्यकुब्जों में ही होते हैं। किन्तु उक्त पद्यांश पर विचार करने से विदित होता है कि तुलसीदास नें यहाँ पर 'बाजपेयी' का प्रयोग उसी अर्थ में किया है, जिस अर्थ में 'सोमयाजी' का। यहाँ उनका उद्देश्य 'सोमयाग' और 'वाजपेय यज्ञ' करने वालों से है न की आस्पद- 'याजी' और 'बाजपेयी' से ? इसी प्रकार के प्रयोग उन्होंने अन्यत्र भी किए हैं यथा—

'बाजि मेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को।'

और—गज धौं कौन दिछित जाके सुमिरत लै सुनाम बाहन तजि धाए।'

'दीक्षित' का अर्थ 'यज्ञ की दीक्षा लेने वाला होता है एवं दीक्षित वंगीय ब्राह्मणों को छोड़ प्रायः उत्तर भारत के सभी प्रकार के ब्राह्मणों में मिलते हैं।[1] 'सामगान' में भी तो सभी प्रकार के ब्राह्मणों का समान अधिकार है। तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा भी है :—सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः।

यदि 'बाजपेयी' के आधार पर तुलसीदास को कान्यकुब्ज मान लिया जाय तो 'सोमयाजी' के आधार पर क्या माना जायगा क्योंकि 'सोमयाजी' या 'याजी' आस्पद वाले ब्राह्मण तो केवल भूमिहार-ब्राह्मणों में हो हैं जो पटना-मुंगेर जिलों के कई गांवों में निवास करते हैं[2] और प्रायः 'दीक्षित' परम्परा के

---

[1] —'नाना' यज्ञसमारंभन दीक्षितः कथितो द्विजः।
वाजपेयमनुष्ठाय वाजपेयीति कथ्यते ॥२३॥
सोम यज्ञ समारंभात् सोमयाजी च सोमया ॥२४॥
—श्री मुरारिदेव कृत 'कान्यकुब्ज प्रकाशिका'

[2] —'याजो' ब्राह्मण पटना जिले के गोनावां, छतियाना, बसनेमा, खरथुवा, दहाउर, नीरमपुर, बाजिदपुर, बाढ़, भटगाँव, चोरिया, डोमा, करोता, लकवोपुर, गंधरपुर, बिहटा, पुवांड़ी, घिमोय, मघड़ा, बेलछो आदि स्थानों में निवास करते हैं। इनके पूर्वजों को ५२ गांवों की वृत्ति मिलो थो। बिहार के स्वर्गीय प्रधानमंत्री सर गणेशदत्त सिंह इसी वंश-परम्परा में थे और श्री शीलभद्र याजी और पटना उच्च न्यायालय के प्रसिद्ध वकील श्री बलभद्र प्रसाद सिंह इसी परम्परा में हैं। याजी वर्तमान उन्नाव जिला से बिहार में आए थे, इसलिए वे मूलतः कान्यकुब्ज हैं।

ब्राह्मण भी भूमिहारों में ही अधिक हैं, जैसे—एकसरिया, नोन्हउलिया, कि आदि।[1] वाजपेयी, 'पुंडरीक वाजपेयी' और 'सम्राट-वाजपेयी' ब्राह्मणों में भी हैं[2], अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तुलसीदास के कान्हकुब्ज होने की बात भी ठीक प्रकार नहीं बैठती।

तुलसी साहब ने 'घट-रामायण' में तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर और जाति कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा है। 'घट रामायण' पर पहले भी किया जा चुका है जिससे स्पष्ट है कि तुलसी साहब के कथन को आँख मूँ प्रमाण स्वरूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। घट-रामायण की उन्नीसवीं शती विक्रमी के मध्य में होने से उसमें अनेक कल्पित और सुनी बातों का समावेश हो गया है और ये बातें ऐसी हैं जो तुलसीदास की एवं कर्मभूमि से दूर के निवासी द्वारा उद्धृत की गई हैं, फिर भी यदि जाय कि उन्होंने पश्चिम में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर ही जाति होगी, तो इससे भी तुलसीदास के खास कनौजिया होने की पुष्टि नहीं जैसा कि इस विषय पर आगे विचार किया गया है।

खास कान्यकुब्ज प्रदेश में रामानन्दी आदि वैष्णव-सम्प्रदायों का प्रारम्भ में कम ही था, इसलिए खास कनौजिया ब्राह्मण इससे प्रभावित हुए। पं० मुकुन्द राम कृत पुरानी कान्यकुब्ज-वंशावली में वैष्णव धर्म में होने वाले तथा अन्य प्रकार के मुद्राधारी साधुओं को निकृष्ट बताया है यथा—

'मुद्राधारी ब्रह्मचारी, मृतभोजी तथैव च।
भिक्षाचारी, मद्यपश्च वेश्यागामी ततः परम्।।१६।।

---

[1] —एकसरियों का केन्द्र सारन (बिहार), नोन्हवलियों का केन्द्र (बलिया उत्तर प्रदेश) और किनवारों का केन्द्र गाजीपुर (है। आजकल इन वंश-परंपराओं के अधिकांश लोगों ने और जमींदारों की परंपरा में होने के कारण सिंह, शाही आस्पद धारण कर लिये हैं। कुछ दीक्षित और मिश्र भी वंशावलियों से विदित होता है कि मुगल काल में प्रायः कहलाते थे। इन सभी का निकास कान्यकुब्ज प्रदेश है। से आने वाले वरुआर, 'आकिन' से आने वाले 'किनवार' और नोन्हतट से आने वाले 'नोन्हवलिया' स्थान कानपुर जिले में हैं।

[2] —जुझौतिया ब्रा० इतिहास पृ० १७४, १७८

जिन कान्यकुब्जों में आज भी 'तीन कनौजिया तेरह चूल्हा' वाली कहावत चरितार्थ होती है तथा जिन्हें छुआछूत का भूत बुरी तरह अभिभूत किए बैठा है, उन कान्यकुब्जों का 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, कहने वाले सम्प्रदाय की ओर आकर्षित होना असम्भव-सा था। अस्तु ऐसी स्थिति में निषाद को महर्षि वसिष्ठ के गले लगाने वाले और श्वपच के हृदय से हृदय मिलाने वाले तुलसी के खास कनौजिया होने की सम्भावना करना कष्ट-कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

जाति-वर्ग के गठन का आधार—

न्यायशास्त्र में कहा गया है—'समान प्रसवात्मिका जातिः' अर्थात् एक ही प्रकार से उत्पन्न होने वालों की एक जाति होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण मनुष्यों की एक जाति है। फिर भी आकार-प्रकार वृत्ति-व्यवसाय और आचार-विचार में सभी मनुष्य एक जैसे नहीं हैं। स्थान, वृत्ति-व्यवसाय, नस्ल आदि के आधार पर उन्होंने अपने अलग-अलग वर्ग बना लिए हैं। ये ही परंपरागत वर्ग भारतीय जातियों और उपजातियों के रूप में परिणित हो गए। एक वर्ग के लोगों में आनुवंशिकता के अतिरिक्त आचार-विचार और दृष्टिकोण की प्रायः समानता होते हुए भी दूसरे वर्गों से कुछ अंतर पाया जाता है।

'समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे मानव-प्रकृति के ऊपर लाद दिया गया हो, वल्कि वह सामाजिक सम्बन्धों का एक अनिवार्य जाल है। इसका अस्तित्व पारस्परिक संबंधों पर निर्भर है और मानव प्रकृति के बनाने में इसका बड़ा श्रेय है जिसको व्यक्तियों के व्यवहार से जाना जाता है। समान विचार, समान रीति-रिवाज और समान परंपराओं का होना समुदाय की विशेषता है। समाज के वयस्क सदस्य का एक चेतन जीवन होता है, जिसके अंदर आशाएँ, आकांक्षाएँ, रुचियां-अरुचियां, स्वीकृति-अस्वीकृति, विश्वास, योजनाएँ तरीके होते हैं, जिनको वह अनेक प्रकार के व्यवहारों में प्रकट करता है। इच्छाओं का रूप उसके सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर होता है।'[1]

श्री जिन्सवर्ग के कथनानुसार सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो या तो समान वंश-परंपरा के कारण अथवा समान व्यवसाय के कारण, समान धन या शिक्षा के कारण, एक प्रकार का जीवन बिताने लगते हैं, एक ही प्रकार

१—श्री मदन मोहन—समाज-शास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्त
पृ० २२, २६, १०२

के विचार रखने लगते हैं, उनका एक ही प्रकार का व्यवहार हो जाता है, एक ही प्रकार के मनोभाव एवं मनोवृत्तियां हो जाती हैं।[१]

'मनोवृत्तियों को प्रभावित करनेवाले दो कारक होते हैं, वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण। मनोवृत्तियां व्यक्ति की जन्मजात विशेषताओं, उसके अनुभवों तथा समूहों द्वारा उसके प्रति किए गए व्यवहारों के आधार पर व्यक्ति द्वारा आचरणों के प्रतिमानों के स्वीकार किए जाने से उत्पन्न होती हैं। मानसिक और शारीरिक दृष्टि से सामान्यतः लोगों की सन्तानें उन्हीं की तरह होती हैं। अब्राहम्सन का मत है कि वंशानुगत-क्रम यह निश्चित करता है कि वह व्यक्ति क्या कर सकता है, जबकि पर्यावरण यह निश्चित करता है कि वह क्या करता है।[२]

मनुष्य का स्वभाव और अनेक मानसिक गुण वंशानुक्रम के अनुसार होते हैं एवं वृत्ति-व्यवसाय, आचार-व्यवहार, रुचि आदि का सम्बन्ध भी प्रायः वंशानुगत होता है। श्री डा० गेयर के कथनानुसार 'न केवल प्राकृतिक गुण ही, वरन् मानसिक गुण भी निःसंदेह और शायद मुख्य रूप से वंशानुगति पर आधारित हैं।[३] श्री डब्ल्यु० जेड्० रिपले ने फ्रांस देश के निवासियों के जातीय गुणों के आधार पर जो मानचित्र तैयार किए हैं, उनसे भी यही बात सिद्ध है। श्री कुमारी पेरिन द्वारा साढ़े पन्द्रह सौ परिवारों के परीक्षण तथा सर्वश्री माल्ट, विंशिप, डगडेल और इस्टेबुक की जांच-पड़ताल के परिणाम-स्वरूप भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

श्री 'मैलविल जे० हर्सकोवित्स' लिखते हैं कि 'हमारे लिए यह समझना आवश्यक है कि एक जनसंख्या को दूसरी जनसंख्या से अलग करने वाले आनुवंशिक गुण अपने सब परिवर्त्तनों में उसके पूर्वजों के शारीरिक लक्षणों की सीमाओं के अंतर्गत उसी गुणवाली सन्तान उत्पन्न करते हैं।[४]

अस्तु एक साथ, एक स्थान और एक-सी परिस्थिति में रहते हुए भी भारतीय जातियों की अपनी-अपनी मौलिक विशेषताएं हैं, इसलिए किसी भी व्यक्ति के आचार-व्यवहार, व्यवसाय, रूढ़ियां और प्रथाएँ, लोक प्रचलित मान्यताएँ और भावात्मक-आधार आदि के अध्ययन द्वारा उसकी वंश-परंपरा की खोज की जा सकती है।

---

[१] —केला और दुबे—समाज-शास्त्र प्रश्नोत्तरी पृ० ६८

[२] —श्री शम्भुरत्न त्रिपाठी—समाज और अपराध पृ० ५४-५५, ९५

[३] —जाति विज्ञान का आधार (अनु०—विनोद चंद्र मिश्र) पृ० २०५

[४] —सांस्कृतिक मानव-शास्त्र (अनु०—रघुराज गुप्त) पृ० ७०

तुलसीदास जी का जन्म जिस पूर्वीय-प्रदेश में हुआ था, उस प्रदेश में प्रायः ब्राह्मणों के दो ही उपवर्ग निवास करते हैं—(१) सरयूपारी ब्राह्मण और (२) भूमिहार ब्राह्मण। प्रायः सरयूपारी ब्राह्मणों और भूमिहार ब्राह्मणो के वंशानुक्रम तथा पर्यावरण में हजारों वर्ष से अन्तर पड़ता आया है। मुगल-काल और उसके पूर्व पर्यावरण का अन्तर और अधिक था। यही कारण है कि इन दोनों वर्गों की रूचि, प्रयोजन, प्रवृत्ति, मनोदशा, भावचित्र, विचार-पद्धति, दृष्टिकोण, कथनशैली और आचार-व्यवहार में भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, जो व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप में है। इसलिए तुलसीदास के सम्बन्ध में उक्त समाजशास्त्रीय-वैज्ञानिक-विश्लेषण उचित होगा। यह एक ऐसी कसौटी है, जिसके द्वारा उनके जाति वर्ग की ठीक-ठीक परख की जा सकेगी क्योंकि—

'यो यथा प्रकृतिर्जंतु स स्वां प्रकृतिमश्नुते'—महा० वन० २०७।७६

द्विविध ब्राह्मणवर्ग—

अत्यन्त प्राचीनकाल में ही ब्राह्मणों के द्विविध वर्गो का संगठन हो गया था। एक वर्ग जिसकी जिविका का साधन पुरोहिती थी और दूसरा वर्ग जो पुरोहिती को हीन वृत्ति मानकर उससे घृणा करता था।[1] इन दोनों की उपासना-पद्धति और आचार-विचार में भी अंतर था। एक कर्मकांड का जटिल-जाल फैलाता, दूसरा ज्ञानकांड का सरल मार्ग पकड़ता; एक शालीन, दूसरा यायावर;[2] एक प्रवृति, दूसरा निवृत्ति[3] एक दान लेने का अभिलाषी, दूसरा दान देने का इच्छुक था।[4] इस प्रकार दोनों में सामाजिक दूरी और तनाव परस्पर

---

[1] —पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः— श्रीमद्भागवत ६।७।३६ पौरोहित्यं अहं जाने विगर्ह्यं दूष्य जीवनम्—अध्यात्म० अ० २।२८

[2] —शालाश्रयत्वात् शालीनत्वम्। वृत्यावरयातोति यायावरम्॥—बोधायन स्मृति द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च। तयोर्यायावर प्रवरो याजनाध्यापन प्रतिग्रह रिक्थ संचय वर्जनात्। षट् कर्माधिष्ठितः प्रेष्य चतुष्पद गृहग्राम धनधान्ययुक्तो लोकानुवर्ती शालीनः॥ देवल-स्मृति

[3] --प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविध कर्म वैदिकम्। काम्यं कर्म प्रवृत्तं स्यान्निवृत्तं ज्ञान पूर्वकम्। मनु १२।६४

[4] --द्विविधं ब्राह्मण राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतग्रहात्॥
तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिपः।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामिते। महा० शा० १६९।३९-४०
प्रतिग्रहं न गृह्णीयात् परेषां किंचिदात्मवान्।
दाताचैव भवेन्नित्यं श्राद्धानः प्रियंवदः॥ विष्णुस्मृति ३।८

बढ़ता गया। जैसा कि बौद्धधर्म के विकास का इतिहास (हिंदी-समिति लख- नऊ) पृ०२० पर श्री गोविंदचंद्र पांडेय लिखते हैं—'पुरोहितों के कर्मकांड इस युग में अनेक दिशाओं से विरोध हुआ, जिस का श्रमणों प्रबुद्ध क्षत्रियों अध्यात्मवादी ब्राह्मणों ने विरोध किया। वे आगे कहते हैं—अनेक ब्राह्मण पुरोहित थे न आचार्य। कुछ प्रशासकीय कार्यों में अधिकृत थे और कुछ जमीं अथवा क्षुद्र किसान या दरिद्र कर्मकर थे (पृ०२२)

वैदिक काल में यह वर्गभेद बहुत स्पष्ट नहीं हुआ था। स्पष्ट रूप से भेद की स्थिति बौद्धकाल में उत्पन्न हुई क्योंकि बौद्धकाल में पुरोहितों का और पुरोहिती की पूछ कम हो गई थी, इसलिए स्वाभिमानी, शक्तिशाली तपस्वी ब्राह्मणों ने पराश्रयजीवी पुरोहित वृत्ति को हीनता सूचक समझकर दिया और राष्ट्र, समाज, संस्कृति तथा वैदिक धम की रक्षा के लिए शासकों हाथ से राजसत्ता छीन ली।

शुंग, काण्व, सातवाहन, वाकाटक, पल्लव, कादंब, पारिव्राजक, शाही, आदि राजवंश उसी परम्परा में थे, जिनके अवशेष आज के भूमिहार, महिया त्यागी, चित्तपावन आदि अप्रतिग्राही ब्राह्मण हैं। भूमिहार ब्राह्मणों के कितने कुल आज भी अपने उन पुराने नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसे—सुंगनिया; कन्वा चनकिया, पूले (पल्लव) आदि। इनके अतिरिक्त निम्नांकित प्रकार के ब्राह्म भी इस वर्ग में सम्मिलित हो गए ——

(१) ज्ञानमार्गी तपस्वी ब्राह्मण, जो 'निवृत्त' या 'यायावर' कहलाते थे।

(२) वैदिक ब्राह्मण जो गुरुकुलों के कुलपति आचार्य और प्रायः अग्रहार थे एवं जिनके वंशज दिघवैत, मनेरिया द्रोनवार, गौतम आदि हैं।

(३) बड़े-बड़े वैभवशाली महाशालीन ब्राह्मण; जिनका बौध साहित्य में वि मिलता है।[1]

---

[1] १—बुद्ध के समकालीन बेठ द्वीप (आरा) और चम्पा (भागलपुर) के ब्राह्मण थे। घोटमुख ब्राह्मण को अंगदेश का राजा प्रतिदिन ५०० मुद्रायें देता था। जानुश्रेणि ब्राह्मण राजा प्रसेनजित की भाँति ठाट बा रहता था। मगध के महातीर्थ ग्राम निवासी 'पिप्पली' ब्राह्मण के स्वर्ण मुद्राओं से भरे ६० चहबच्चे थे। उसके ग्राम के चारो ओर १२ तक की भूमि उसके अधिकार में थी (अंगुतर निकाय)। मगध का सुकुलदायि ५०० विद्यार्थियों को पढ़ाते और उनके भोजन की व्यवस्था थे। बुद्ध ने उन्हें बौद्ध-धर्म में दीक्षित करने का बड़ा यत्न किया, सफल न हुए। एक ब्राह्मण नित्य ३०० व्यक्तियों को सदाव्रत दे (मज्झिमनिकाय)। कासिस भारद्वाज ब्राह्मण एकनाला ग्राम (नालं का निवासी था, वह ५०० हलो की खेती करता था। उसने बुद्ध को की थाली में खीर खिलाया।

(४) राजमंत्री, सेनापति आदि, जिन्हें राजसेवा के लिए भूमि (जागीरें) मिलती थीं।[१]

बौद्धकाल में राजसत्ता के साथ-साथ धार्मिक-नेतृत्व भी क्षत्रियों के हाथ में आ गया था बौद्ध और जैन मतों के प्रवर्तक क्षत्रिय ही थे। वैदिक धर्म का ह्रास होने से समाज में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रिय कुलीन माने जाने लगे[२] और वर्ण-क्रम में क्षत्रियों के बाद ब्राह्मणों की गणना की जाने लगी।[३] मदान्ध क्षत्रिय ब्राह्मणों का तिरस्कार करने लगे, उन्होंने वैदिक धर्म और ब्राह्मण संस्कृति की निन्दा की। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणवर्ग के हृदय में असन्तोष की ज्वाला तो अवश्य ही प्रज्वलित हुई, किन्तु उसका प्रभाव दो रूपों में पड़ा।

कुछ ब्राह्मणों ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने में असमर्थता. वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असफलता और क्षत्रियों के विरोध में अपनी अशक्तता की भावना करने के कारण प्रयत्न शिथिल हो क्षत्रियों की अधीनता स्वीकार की।[४] उन्होंने अपने को महत्वहीन मान उनका आश्रय ग्रहण किया।[५] प्रलोभनवश उनकी पुरोहितो स्वीकार कर उनके साथ चिपके रहे,[६] इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग क्या था? आत्महीनता की भावना के कारण उनके मनमें क्षत्रियादि के प्रति प्रियभाव;[७] किन्तु अपने ही उन भाइयों के प्रति जिन्होंने क्षत्रियों का विरोध कर उनसे अपने महत्व की रक्षा की थी; ईर्ष्याग्नि उत्पन्न

१--सेनापति पुष्यमित्र और यौगंधरायण, वाण, मयूर,, चाणक्य, राजशेखर विशाखदत्त आदि अप्रतिग्राही थे।

२—दे–वसिष्ठ सुत्र

३—डा० दयाप्रसाद—भारत का इतिहास

४ -सम्मान घटाने वाली पराश्रित वृत्ति होने के कारण ही शास्त्रकारों ने पुरोहिती की निन्दा की है और उसे ब्रह्म तेज का नाशक तथा जीवन को दूषित करने वाला बताया है।

५—'निराश्रया न शोभन्ते पंडिता वनिता लता।'

६ किसी प्रकार के प्रलोभन में पड़ना मनुष्य का अपने प्रति असन्तोष का द्योतक है। अपने प्रति असन्तोष का यह भाव अपने भीतर आत्महीनता के भाव को उपस्थिति को दर्शाता है। श्री लालजीराम शुक्ल—मनोविज्ञान और जीवन पृ० २६९

७—इसीको आधुनिक भाषा में गुलामी या दास मनोवृत्ति कहते हैं।

हुई; अस्तु वे लुके–छिपे अथवा प्रकट रूप से उनके निन्दक बन गए।[1] उनको स्ववर्गीय पुरोहितों मे भी भलोभांति पटरो न बैठो और वे एक दूसरे से बड़ा बनने के लिए झगड़ने लगे। यहाँ तक कि यह लाकोक्ति प्रचलित हो गई– 'बाभन, कुत्ता, भाट, जाति जाति को काट' जो आज भी चरितार्थ होती है।

मनोविज्ञान के पंडितों का यह कथन है कि किसी कारण समाज में सम्मान घट जाने और दूसरों से अपनी अवस्था को हीन अनुभव करने के कारण मनुष्य दूसरे लोगों में जब प्रधानता, श्रेष्ठता और अधिकार का आरोप करता है तो मन के स्नायु दुर्बल पड़ जाते हैं, जिससे मनुष्य आत्महीनता की भावना से ग्रस्त हो जाता है। किसी काम में विशेष प्रयत्न करने के पश्चात् भी लक्ष्य सिद्ध न होने पर वही स्थिति उत्पन्न होती है तथा किसी कारण परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ होने पर जो निराशा की दशा मन को प्रभावित करती है। उसके प्रतिक्रिया स्वरूप भी मनुष्य के मन से आत्मगौरव की चेतना नष्ट हो जाती और आत्महीनता की भावना घर करने लगती है, जो क्रमशः एक जटिल ग्रन्थि का रूप धारण कर लेती है। यदि किसी वर्ग या जाति के मनमें सामूहिक रूप से इस प्रकार की ग्रन्थि का निर्माण होता है तो वह उसका सामान्य जातीय स्वभाव बन जाता है अतः आत्महीनता की ग्रन्थि का वंश-परम्परा से भी सम्बन्ध है।

जिस जाति या वर्ग के लोग आत्महीनता की भावना से ग्रस्त होते हैं, वे प्रायः ईर्ष्यालु और शंकालु होते हैं। संकीर्ण महत्वाकांक्षा के कारण उनमें विशेषकर अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा करने की प्रबृत्ति होती है। ऐसे लोग प्रतिस्पर्द्धा से दूर भागते हैं, परन्तु दूसरों के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं।[2] श्री ए० इ० मैंडर के कथनानुसार ऐसे लोग घमंडी स्वभाव के होते

१––ब्राह्मणों में एक विशेष प्रवृत्ति होती है कि वे अपने किसी भी स्वजातीय को किसी भी गौरव पद पर देखकर ईर्ष्या में अन्धे हो जाते हैं। वे उस ईर्ष्या पर न तो विजय ही प्राप्त कर सकते हैं और न उसे गुप्त रख सकते हैं। प्रायः सभी ब्राह्मणों की ऐसी ही गति होती है। यदि उच्च पदासीन व्यक्ति किसी अन्य गोत्र या परिवार का हुआ तो वह ईर्ष्या द्विगुणित हो उठती है।

श्री ग्रांटडफ––मराठों का इतिहास (इतिहास प्रकाशन-संस्थान ४६२ मालवीयनगर इलाहाबाद) पृ० २७३

२—श्री एल्फ्रेड ऐडलर—इंडिवीजुअल साइकोलोजी .

हैं।[1] घमण्डी लोग अपनी त्रुटियों पर दृष्टि न डालकर दूसरों की ही त्रुटियों को देखा करते हैं।[2]

श्री पं० लालजीराम शुक्ल कहते हैं—'जिस व्यक्ति के मन में जितना ही अधिक आत्महीनता का भाव रहता है, उसके मन में दूसरों से आगे बढ़ जाने की उतनी ही अधिक आकांक्षा होती है।

(मनोविज्ञान और जीवन पृ० २६९)

मनुष्य के दवे भाव विचार के नियन्त्रण के वाहर होते हैं। विचार इन्हें प्रभावित नहीं करता, वरन् वे ही विचारों को प्रभावित करते हैं। मनुष्य के जैसे भाव होते हैं, उसके अनुसार वह अपने विचारों का बना लेता है अर्थात् स्वयं विचार ही भावों के अनुरूप वन जाते हैं। (वही पृ० २७०)

मनुष्य भीतर से वैसा ही है जैसे उसके भाव हैं। मनुष्य के भाव उसके विचार, कल्पना और आचरण का रूप धारण करके प्रकाशित होते हैं।

(वही पृ० ४९)

श्री ह्विस डेविड्स कहते हैं कि पुरोहित लोगों में परस्पर विरुद्ध दलवन्दी थी तथा वे लोग दक्षिणा के लिए परस्पर एक-दूसरे से स्पर्द्धा रखते थे। पुरोहितों की चाह इतनी कम थी कि पुरोहिती से सबकी जीविका न हो सकती थी। इसलिए ब्राह्मण लोग सभी प्रकार के अन्य व्यवसाय करते थे। उनमें से जो निरन्तर ही पुरोहिती न करते थे अर्थात् अन्य उपायों द्वारा जीविका करते थे, उनके धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचार प्रायः उन लोगों के विचार से विपरीत थे, जो पुरोहिती में दिन-रात लगे हुए थे। उस समय ऐसे भी ब्राह्मण पाए जाते थे, जो पूजा-पाठ की अपेक्षा तपस्या को श्रेष्ठ समझते थे। × × इन पूर्वोक्त नए विचारों की उन्नति रोकने में असमर्थ हो पुरोहित लोग इन नए विचारों को अपने समाज के अनुकूल परिवर्तित करने के यत्न करने लगे।[3]

श्री ह्विसडेविड्स के कथन का समर्थन श्री अल्तेकर के निम्नांकित कथन से भी होता है—'उस युग के शासन और न्यायालय जिस वर्णाश्रम धर्म को लागू करते थे, वह किसी पुरोहित द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए निर्मित जीवन पद्धति नहीं थी वल्कि उसमें ऐसे नियम थे, जिनके अन्दर कानून तथा दण्ड-

---

१—घमण्ड और स्वाभिमान में परस्पर बहुत अन्तर है। घमण्डी लोग अपने को वड़ा मानकर दूसरों से घृणा करते हैं, परन्तु स्वाभिमानी नम्र होते और अपने साथ सबकी प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हैं।

२--लालजी राम शुक्ल---मनोविज्ञान और जीवन पृ० १८३

३—वुद्धिस्ट-इंडिया पृ० २४७

व्यवस्था में उदारता से संशोधन-परिवर्त्तन सामाजिक-प्रथाओं के अनुसार होते रहते थे, जिनका पथ-प्रदर्शन राज्य किया करता था।[1]

इन वार्तों से स्पष्ट है कि वैदिक काल के बाद के प्राचीन-भारत में पुरोहित ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा गिर गई थी। समाज और शासन दोनों में ही उनका प्रभाव नगण्य था। पुरोहिती का त्याग करने वाले ब्राह्मणों के विचार, धार्मिक भावना और कार्य करने का ढंग पुरोहित ब्राह्मणों से बिल्कुल भिन्न था। पुरोहित ब्राह्मण आपस में भी दलबन्दी कर एक दूसरे पर कीचड़ उछाला करते थे और अनेक हथकंडों द्वारा समाज को अपने अनुकूल बनाने के प्रचार में लगे हुए थे क्योंकि उनमें परस्पर यजमान से दक्षिणा प्राप्त करने की स्पर्द्धा रहती थी। पुरोहित वर्ग की यह स्थिति इस समय भी है जैसा कि श्री स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'वे (पुरोहित) सरल सत्यों को अनेक प्रकार से घुमा फिरा कर बतलाते हैं और तुम्हें अपनी श्रेष्ठता का समर्थन करने वाली कथाएं सुनाते हैं।[2]

आत्महीनता की भावना का ही प्रतिक्रिया स्वरूप आत्म-प्रशंसा के रूप में उदय होता है। जिसको कोई बड़ाई नहीं करता, वह मनुष्य स्वयं अपनी बड़ाई करने लगता है। आत्म-प्रशंसा का ही एक रूप परनिंदा है, जिसकी उत्पत्ति घोर आत्महीनता के कारण होती है। श्री लालजीराम शुक्ल के कथानानुसार 'जो मनुष्य अपने भीतरी मन में किसी प्रकार को आत्महीनता का भाव रखता है वही दूसरे लोगों से घृणा करता है। वह उन्हें अपने से नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। दूसरों को नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करना अपनी हीनता के भाव को भुलाने का एक उपाय है। × × हम अपने ही दोषों को दूसरे में देखने लगते हैं।[3]

श्री ए० ई० मेंडर के अनुसार हीनता से पीड़ित व्यक्ति घमण्डी स्वभाव के होते हैं और श्री एडलर के मतानुसार आत्महीनता की भावना वाले लोग शंकालु, ईर्ष्यालु, आत्म-प्रशंसाप्रिय, प्रतिस्पर्द्धा से भागने वाले, असफलता के प्रति उदासीन और दूसरों की निंदा करने को प्रवृत्ति वाले होते हैं।[4] क्योंकि वे दूसरों का सम्मान सह नहीं सकते किन्तु इसके विपरीत स्वाभिमान जिन व्यक्तियों में होता है, वे दूसरों का सम्मान करते हैं और अपना अपमान सह नहीं सकते।

---

[1] १—श्री रामप्रताप त्रिपाठी—सा० भारत दि० ३ मार्च १९६८ ई०

[2] २—शिक्षा संस्कृति और समाज पृ० १०२

[3] ३—मनोविज्ञान और जीवन पृ० २२८

[4] ४—आज दि० १८-३-१९७० पृ० ११

अव्यक्त रूप से दूसरों का महत्व स्वीकार करने वाला हो उसके महत्व के प्रति द्वेष रखने के कारण उसे महत्व-हीन बनाने के उद्देश्य से उसकी निंदा करता है, परन्तु स्वाभिमानी व्यक्ति दूसरों के प्रति सहानुभूति रखते हुए अपने सम्मान की रक्षा करता है। 'आत्महीनता की मूल प्रवृत्ति की पहचान व्यक्ति अथवा जाति के व्यवहार से की जाती है। मूल प्रवृत्तियों से जाति के चरित्र का निर्माण होता है तथा उसकी आदते बनती हैं।'[1]

मनुष्य के व्यक्तित्व का गठन उसके विचारों के अनुसार होता है। विचार श्रृंखलाएँ कुल-परम्परा और परिस्थितियों के सामंजस्य से बनती हैं, इसलिए किसी का व्यक्तित्व विशेष रूप उसकी कुल-परम्परा और जीवन की परिस्थितियों का परिचायक होता है अतः किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण करके उसकी कुल-परम्परा और परिस्थितियों के विषय में जाना जा सकता है।

सरवार प्रदेश में बौद्ध-धर्म का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था,[2] इसलिए सरवारिया ब्राह्मणों में आत्महीनता की भावना की प्रतिक्रिया भी अन्य पुरोहित वर्गीय ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक हुई। उनमें चाटुकारिता और ढकोसला का स्वभाव भी प्रायः पाया जाता है। इन बातों का समर्थन 'सरयूपारीण-वंशावलियों' से भी होता है। अधिकांश वंशावलियों में अपने ही वर्ग के एक समूह को 'सवालक्खी'[3] अर्थात् अंत्यजादि से बना हुआ ब्राह्मण बताया गया है एवं दूसरों को निंदित करने वाली कथाएँ और लोकोक्तियाँ गढ़ ली गई हैं।[4]

१—शिक्षा मनोविज्ञान पृ० १६५

२—'वासिष्ठों समतिक्रम्य सर्वे वर्णं द्विजातयः' (महा० वन० ८४।४८) से ज्ञात होता है कि सरयू नदी के उत्तर पार के प्रदेश में बौद्ध-धर्म के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी एवं शूद्र भी अपने को द्विज कहने लगे थे। श्री पं० रामलग्न त्रिपाठी कृत 'सरवरिया-ब्राह्मणोत्पत्ति प्रदीप। पृ० ३०-३१ से भी ज्ञात होता है कि शरवार प्रदेश के प्रायः सभी ब्राह्मण बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गए थे, जिनको मझौली के राजा विश्वसेन ने पुनः वैदिक धर्म में प्रतिष्ठित किया।

३—सरयू-पारीण सर्वस्व पृ० १०, सरवरिया ब्राह्मणोत्पत्ति प्रदीप पृ० ७ ब्राह्मण निर्णय पृ० ५३४, स० ब्रा० वंशावली पृ० १४

४—सरयूपारीण ब्राह्मणों में परस्पर अनेक निन्दा वार्त्ताएँ, जनश्रुतियाँ, कहावतें आदि कही जाती हैं, जिनके द्वारा किसी न किसी वंश-परम्परा को दूषित बताया गया है जैसे—"मीठाबेल-ब्रह्मपुर, माईघिया गड़ही बाप बेटा तरकुल" इसका व्यंग्यार्थ यह है कि मीठाबेल-ब्रह्मपुर डोह के ब्राह्मण भर की लड़की और पासी के लड़के से उत्पन्न हैं। इसी प्रकार पंडित भरत मणि और बूढ़न बाथ की जनश्रुतियां आदि।

एक स्थल पर सरयूपारी स्वभाव का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी सहजान सरस्वती ने लिखा है :—

'याचक' (पुरोहित) दल के ही ब्राह्मण अपने-अपने प्रकर्ष के लिए परस्प एक दूसरे को इतना दबाने लगे कि एक दूसरे को नीच बनाते-बनाते यह भी कहने लगे कि हम ही असल ब्राह्मण हैं, दूसरों का तो कुछ पता ही नहीं है, तो बनावटी हैं।[1]

सरयूपारीण मनोवृत्ति के स्पष्टीकरणार्थ कतिपय संक्षिप्त उद्धरण प्रस्तुत हैं:—

(१) सबसे पहले ब्राह्मणों की संज्ञा सरवरिया अर्थात् सरयूपारीण हुई सृष्टि के आदि में सरवरिया ब्राह्मणों के सिवा अन्य ब्राह्मणों का अस्तित्व ही नहीं था।

श्री पं० रामलग्न त्रिपाठी—सरवरिंया ब्राह्मणोत्पत्ति प्रदीप पृ० ६, १

(२) आचार-विचार, रीति-रवाज सरयूपारीण-ब्राह्मणों से उत्तम अन्य देशों ब्राह्मणों में आज भी नहीं पाया जाता। पंक्ति-पावन जिसमें हैं, वे सरयूपा ब्राह्मण त्रेता के पूर्व से ही प्राचीन है, किसी की शाखा नहीं हैं।

आचार्य पं० राजनारायणशास्त्री शुक्ल—श्रीसरयूपारीण वंशावली पृ० ५-१

(३) यहाँ (बुंदेल खंड में) ब्राह्मणों की संख्या सर्वाधिक है। इनमें जुझौतिया, कनौजिया, सनाढ्य और सरवरिया विशेष हैं। सरयू तट से आए हु सरवरिया ही सबसे बड़े समझे जाते हैं।

श्री केशव चन्द्र मिश्र—चंदेल और उनका राजत्व काल (का० ना० प्र० सभा) पृ० ३

स्पष्ट है कि आत्म प्रशंसा हेतु किए गए उपर्युक्त कथन सर्वमान्य तो हैं ही नहीं, वरंच वस्तु स्थिति और वास्तविकता के विपरीत है। श्री सरयूपारीण-वंशावली तथा वटुकनाथ मिश्र कृत ब्राह्मणोत्पत्ति भास्कर में सरवरिया ब्राह्म का महत्त्व प्रकट करने के लिए दो श्लोक[2] उद्धृत किए गए हैं और उन्हें क्रमश 'बाल्मीकि-रामायण' एवं 'मत्स्य-पुराण' को बताया गया है, परन्तु वे दोनों श्लो उक्त ग्रंथों में नहीं पाए जाते। डा० श्यामलाल पांडेय ने 'अर्थशास्त्र का अध्य पृ० ५ पर कथित उद्देश्य से ही 'कामंदकनीति सार' के एक श्लोक में 'अप्रति-ग्राहकाणां' के स्थान पर 'अतिप्रतिग्राहकाणां' कर दिया है। आत्म-श्लाघ्य के ही विभिन्न रूप परनिंदा, दंभ, पाखंड और ढकोसला हैं अस्तु इनके भी उदाहर देखे जा सकते हैं।

१—ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर पृ० १०७

२—'इतोहि साखो देशः संगमोऽयं यतोऽवधिः'

और—'सारवारख्य देशोऽयं सरयूपारजाग्रजाः।"

(१) सरवरिया ब्राह्मणों में घाकर (घांगड़) कहने की बड़ी चाल है। सभी लोग सभी को घाकर कह बैठते हैं (पृ० ८६)। बहुत से बनाये हुए ब्राह्मण अच्छे घरों में विवाह कर सरयूपारीण बन गए हैं। वे अपने को शुद्ध सरवरिया कहते हैं (पृ० ८)। बहुधा देखा जाता है कि अपने नामों के अन्त में मणि और पति की पदवी लगाकर कुछ लोग उचित व्यवस्था को अव्यवस्थित कर रहें हैं। इसी तरह प्रायः सभी स्थानों में कुछ अव्यवस्थित लोग अपने सगे को भी अपना भाई नहीं कहते हैं। ये बीबी-पट्टी के हैं, ये 'पाठक' से 'सुकुल' हो गए। × × वास्तव में ये तो पांडेय थे यहाँ दुबे बन गए हैं, इत्यादि व्यवहार ब्राह्मणोचित नहीं हैं। (स० ब्रा० प्रदीप पृ० ८६

(२) शक्ति-वाहन के बनाए ब्राह्मणों की कथा भी प्रचलित है (सरयू-पारीण सर्वस्व पृ० १०)। अन्य जातियों को भी ब्राह्मण बनाकर मंत्रियों ने खिला दिया। (पंक्तिपावन परिचय)।

(३) धन्य है यह सरयूपारी की ढकोसलाबाजी संसार और शास्त्र से न्यारी (पृ० २०)। तीन गोत्र वालों की साधारण विचारशील सन्तानों ने सोचा कि आओ मिलकर हल्ला मचा दें कि हमलोग सर्वोत्तम हैं। अन्य गोत्र वाले मध्यम हैं। केवल इसी प्रसिद्धिवश आज भी भाइयों का गला घोटा जा रहा है। (स० वंशावली पृ० ७) कहते हैं कि वे ब्राह्मण नहीं शूद्र हैं, सवालक्खियों में हैं (पृ० १४).

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सरयूपारी-ब्राह्मण अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए जाति-वर्ग, आस्पद और कुल परम्परा तक बदल देते हैं और दूसरों को नीच बताया करते हैं।

गोस्वामी जी के ग्रंथों के अन्तर्साक्ष्य से विदित होता है कि उनमें आत्म-विज्ञापन और आत्म-प्रशंसा की भावना छूकर न थी। उन्होंने जो कुछ लिखा 'स्वांतः सुखाय' लिखा। जैसा कि उन्होंने स्वयं 'मानस' के मंगलाचरण में स्वीकार किया है। उनका जन्म उच्च कुल में हुआ था, उनका हृदय निश्छल और बुद्धि निर्मल थी, वे सदाचारी चरित्रवान और अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष थे, उन्हें विविध विद्याओं और शास्त्रों का ज्ञान था तथा समाज में तदनुरूप सम्मान भी प्राप्त था, फिर भी उन्होंने सर्वत्र अपनी लघुता ही प्रकट की है।[1] यथा—

'कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला, बुधि-विद्या-हीनू॥

× × ×

---

[1] —दे०—विकास की एक धारा भाग २ पृ० १५३-५५

'जो आपन सब औगुन कहऊँ। बाढ़ै कथा पार नाहिं लहऊँ॥
'अति बड़ि मोरि ढिंठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी।

रा० बा

और— 'अपत उतार, अपकार को अगार जग,
जाकी छाँह छुए सहमत व्याध बाधको।
पातक पुहुमि पालिवे को सहस्रानन सो,
कानन कपट को पयोधि अपराध को॥ क० उ

उन्होंने मिथ्याभिमान, दंभ, ढोंग और छल-कपट की सर्वत्र निन्दा की है ए मिथ्याचार को त्याज्य कहा है यथा—

'तन, गुन, धन, महिमा, धरम, तेहि बिनु जेहि अभिमान।
तुलसी जियत विडंबना, परिनामहु गत जान॥ दो० ३६०॥

दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत व्यवहार॥
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार॥ ५४८।

वचन विचार, अचार तन, मन करतब छल छूति।
तुलसी क्यों सुख पाइए, अंतर जामिहिं धूति॥ ४११॥

कहा गया है कि आत्म-श्लाघा का ही विकृत रूप दूसरों की निन्दा कर है। गोस्वामी जी के मतानुसार निन्दा सब पापों से बढ़कर पाप है (रा० उ० १२ जो लोग किसी प्रकार किसी की निन्दा नहीं करते वे सन्त और ईश्वर स हैं यथा—

'तन करि, मन करि, वचन करि, काहू दूषत नाहिं।
तुलसी ऐसे संत जन, राम रूप जग माहिं॥

वै० सं० १

उन्होंने क्षमा, कृपा और ऐश्वर्यशाली होने पर भी अभिमान-रहित रहने प्रशंसा की है। ये गुण शक्ति-सम्पन्न बड़े लोगों में ही शोभा देते हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तुलसीदास के स्वभाव का विवेचन करते हुए कहते हैं "इन्हें न तो किसी प्रकार का अभिमान था और न लोभ ही छू गया था ये सबसे नम्रतापूर्ण व्यवहार करते थे। ये परम सुशील तथा सदाचारी थे। पाखंडियों के विरोधी थे। राम को छोड़ ये किसी नर की प्रशंसा करना अनुचि समझते थे। साधु-महात्माओं पर इनकी बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी। स्वदेश और स्वधर्म का इन्हें बहुत गर्व था। तात्पर्य यह कि ये पूरे महात्मा थे।

(गोस्वामी तुलसीदास पृ० २८०)

तुलसीदास जी का कथन कि :—

'प्राकृत जन कीन्हें गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।
रामचरित-सर बिनु अन्हवाए। स्रोसम जाहिं न कोटि उपाए॥'

यह ज्ञात होता है कि वे चाटुकार न थे। वे किसी प्रकार की आशा लेकर सो मनुष्य की प्रशंसा करने के समर्थक न थे। इस प्रकार यह देखा जाता है वे पुरोहित स्वभाव की कसौटी पर ठीक नहीं बैठते, और उनका स्वभाव प्रतिग्राही ब्राह्मणों के आनुवंशिक स्वभाव से मिलता है। अप्रतिग्राही ब्राह्मण य: पराश्रय में नहीं रहने के कारण चाटुकार नहीं होते। निर्भीकता और ष्टवादिता उनकी विशेषता होती है।

अप्रतिग्राही जमींदार ब्राह्मणों का परम्परागत स्वभाव रहा है कि वे प्राय: करी नहीं करते थे तथा पराश्रित रहकर जीवन-यापन करने को हेय दृष्टि से खते थे, परन्तु इसके विपरीत प्रतिग्राही ब्राह्मण-समाज में पराश्रय पंडितों के ए शोभा की बात मानी जाती थी, जैसा कि इस उक्ति से स्पष्ट है—

'निराश्रिता न शोभंते पंडिता वनिता लता।'

तुलसीदास विना पुरुषार्थ और पराक्रम किए स्वयं भगवान की कृपा के धार पर मिली मुक्ति को भी महत्व नहीं देते। उसकी दृष्टि में अपने पुरुषार्थ ही महत्व हैं, यथा—

'तुलसी निज करतूत बिनु, मुकुत जात जब कोय।
गयो अजामिल लोक हरि; नाम सक्यो नहिं खोय॥ दो०२५३

तीर्थ और देवालय पुरोहित ब्राह्मणों की आजीविका के साधन हैं, इसलिए वे ने ही दोषों की तीखी आलोचना करने का साहस नहीं कर सकते किन्तु सीदास ने इन पवित्र स्थानों के अपवित्र वातावरण की स्पष्ट आलोचना की है र उसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है—

'सुर सदननि, तीरथ, पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहु मवा से मारिकलि, राजत सहित समाज॥ दो० ५५८

तुलसीदास ने सच्चे और सरल धर्म के राजमार्ग में आडम्बर दंभ, पाखंड र ढकोसले की निन्दा की है। जनता को आकर्षित कर अपना उल्लू सीधा करने निमित्त धर्म के सीधे मार्ग को जटिल तथा आडम्बर या पाखंड पूर्ण बनाना रोहिती स्वभाव की विशेषता है किन्तु यह स्वभाव उनमें नहीं पाया जाता।

ाजीविका—

तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से पुरोहिती की निन्दा की है यथा—

नाथ पुरोहिती कर्म अति मंदा ।
बेद-पुरान-स्मृति कर निन्दा ॥ रा० उ०

पूर्वीय प्रदेश में केवल भूमिहार-ब्राह्मण ही पुरोहिती को त्याज्य मानते उसकी निन्दा करते हैं। धनहीन और विवश होने पर भी वे प्रायः पुरोहितों ओर आकर्षित नहीं होते क्योंकि पुरोहिती करने पर उन्हें पुरोहित वर्ग के पारियों एवं मैथिलों में मिल जाना पड़ता रहा है जैसे—नगवा पांडेय और (काश्यप) तिमैज ओझा (काश्यप), बहियारी उपाध्याय (काश्यप) के दुबे, मचिमांव पांडेय (भारद्वाज) आदि। अस्तु वे जहाँ पर कान्यकुब्ज, यूपारीं और मैथिल ब्राह्मणों के यहां वैवाहिक सम्बन्ध भी करते हैं, वहां लोगों के यहां जिनका व्यवसाय पुरोहिती नहीं है तथा जो परम्परागत रहे हैं।[1] परन्तु इसके विपरीत उक्त प्रदेश के अन्य ब्राह्मण, विशेषकर पुरोहिती और दान लेने को निंद्यवृत्ति नहीं मानते भले वे स्वयं पुरोहितो न हों, जैसा कि 'श्री सरयूपारीण वंशावली' पृ० ११ पर श्री राजनारायण लिखते हैं—'छः कर्मों में दान लेना भी ब्राह्मण के लिए शास्त्र-वेद-सिद्ध यदि दान नहीं लेते तो कर्म भ्रष्ट होने से वे ब्राह्मण ही नहीं थे, यही होता है।

तीर्थादि में दान लेना पुरोहित ब्राह्मणों की जीविका का साधन है, कोई भी पुरोहित ऐसा कथन नहीं कर सकता जो उसके व्यवसाय के प्रति हो, किन्तु तुलसीदास जी कहते हैं—

'तुलसी दान जो देत है, जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवै नहीं, दाता नरके जाय॥ दो०

प्रायः पुरोहित-वर्ग के ब्राह्मण आत्म प्रदर्शनार्थ, धन-लोभ अथवा की कामना से अनेक देवी-देवताओं की अनेक प्रकार से आराधना करते हैं, उनका मन भगवान में एकाग्र नहीं हो पाता। तुलसीदास ने इस प्रकार वृत्ति को 'खोटा-चतुरपन' और ठगी कहा है—

'पात-पात को सींचिबो, बरी-बरी को लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु कोन ? दो०

उन्होंने देवोपासना में जटिल विधि-विधान को महत्व न देकर, पुरोहित ब्राह्मण करते हैं—भावना को ही प्रधान माना है, [2]यथा—

---

[1] ——प्रतिग्राही और अप्रतिग्राही ब्राह्मणों का परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी
परंपरा से नहीं होता जैसा कि निम्नांकित पुराणोक्ति से प्रकट है—
'परस्परं न विवाहः स्याच्चातुर्विद्य श्च विद्ययो':——स्कंद पुराण धर्म-खण्ड

[2] ——न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावो विद्यते देवस्यस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥ चा० ८।११

"अपनो ऐपन निज हथा, तिय पूजहिं निज भीति ।
करइ सकल मन कामना, तुलसी प्रीति प्रतीति ॥ दो० ५५४
और—'बढ़ि प्रतीतिगंठबन्धन तें, बड़ो जोग तें छेम ।
बड़ो सुसेवक साइँतें, बड़ो नेमतें प्रेम ॥ दो० ४७३

तुलसीकाल में सरयूपारी ब्राह्मणों का प्रधान पेशा पुरोहिती अथवा गुरुवाई करना था, परन्तु तुलसीदास जी के कथन से कहीं भी यह प्रकट नहीं होता कि उनकी परम्परा पुरोहिती करने वाले ब्राह्मणों की थी। उन्होंने विनय पत्रिका में अपना पेशा निम्नांकित प्रकार बताया है---

'मध्य बयस धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय'—वि०

उक्त कथन में पहले 'कृषी' का नाम होने से यहां उसी की प्रधानता व्यक्त होती है और वह उनके कुल परंपरा का व्यवसाय जान पड़ता है क्योंकि पहले मनुष्य परम्परागत व्यवसाय का ही आश्रय लेता है। वाणिज्य उनका गौण व्यवसाय है क्योंकि वह दूसरे स्थान पर आया हैं एवं उसकी स्वीकृति 'धन-हेतु' से है।[1] कहा भी है—'व्योपारेवसति लक्ष्मीः।' परम्परा से भूस्वामी होने के कारण भूमिहार-ब्राह्मण प्रधानतः कृषि-कर्म करते आ रहे है। उनके यहां वाणिज्य का व्यवसाय भी कृषि के सम्वन्ध से ही होता है जैसे खेती द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की बिक्री। गोस्वामी जी का अभिप्राय भी इसीं प्रकार के वाणिज्य से है, न कि बनियों की भांति दुकानदारी करने से ?

यदि तुलसीदास सरयूपारी वर्ग के ब्राह्मण होते तो वे अपनी दीन-दशा का ढंढोरा क्यों' पीटते ? पुरोहिती और पण्डा पुजारी के व्यवसाय के लिए न पूँजी की आवश्यकता है, न किसी विशेष अवसर की जैसा कि हँसी-हँसी में लोग यह कहा करते हैं—'लगै न बझै; चोखे फटै।' तुलसीदास जी ने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार कियो है जो जमदींारों और कृषकों के यहां ही व्यवहार में आते हैं यथा—मिलिक, कारनिक, नापजोख, खेत का धोखा, आदि ।

---

[1] —बौद्ध काल के ग्रन्थों से पता चलता है कि उस समय के ब्राह्मण वाणिज्य का व्यवसाय भी करते थे। डा० ताराचन्द ने लिखा है कि सम्राट कनिष्क के सभासद और कवि अश्वघोष की माता ब्राह्मण वणिक की पुत्री थो। आधुनिक पालीवाल और बोहरा ब्राह्मण परम्परागत वाणिज्य-वृत्तिक हैं। मार्कोपोलो (१३ वीं-१४ वीं शती) ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि 'ब्राह्मण लोग संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यापारी होते हैं। उनकी सत्यवादिता भी प्रशंसनीय होती है। वे पृथ्वी की किसी भी वस्तु के लिए झूठ नहीं बोलते।

श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है कि—'ऐसे बहुत से प्रमाण है स्पष्ट प्रकट होता है कि तुलसीदास ने 'खेतिहर' का जीवन बिताया था।[1]

वे आगे कहते हैं—"उन्होंने व्यापार भी किया था व्यापारी प्रचलित प्रयोग उनकी कविता में मिलते हैं।[2]"

किन्तु जिन प्रयोगों को उन्होंने उद्धृत किया है, वे प्रायः व्यापारी के न होकर स्वर्णकारों के यहाँ प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं जैसे—

'और भूप परखि सुलाखि तौल ताइ लेत।
लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के। (क०

उक्त उद्धरण में 'परखि' 'सुलाखि' तौल ताइ लेत' और 'लसम' शब्द के हैं परन्तु उनका सम्बन्ध 'भूप' से होने के कारण स्पष्ट है कि उन्हें इन ज्ञान जमीदार वंश का होने के कारण हुआ था क्योंकि प्रायः जमीदारों सोनार पड़े ही रहते थे और उनके यहाँ प्रायः खेती भी होती थी। साथी सब हाथी स्वान लेवा देई' का प्रयोग भी व्यापारियों का जमीदार वर्ग से सम्बन्ध रखता है क्योंकि थोड़ी सी नजर भेंट देकर से अधिक लाभ उठाते रहे हैं।

गुण—कर्म—

प्रतिग्राही ब्राह्मण न परम्परा से अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं और में ही प्रवृत्त होते हैं, वरंच शिकार जैसे कर्म से वे घृणा ही प्रकट करते इसके विपरीत प्रायः जमींदार-ब्राह्मण परम्परया अस्त्र-शस्त्रधारी और होने से शिकार में प्रवृत्त होते हैं और इसे बुरा नहीं मानते हैं जैसा कि गाए जाने वाले छठ के नीचे लिखे गीत से प्रकट हैं :—

'कथी कर धनुष कथीए कर तीर, लिहले (अमुक) बाबू धनुष
× × × x
मारल मिरिगा लिहले लटकाई। रन जिति आवेले कवनी देई के

मृगया राज-धर्म ग्रहण करने वाले ब्राह्मणों के लिए वर्जित नहीं है। ने भी अपनी रचनाओं में प्रसंगानुसार श्री रामचन्द्र जी के 'मृगया-वि वर्णन किया है। उन्होंने मृगया के जैसे स्पष्ट चित्र अंकित किये हैं, होता है कि वे कभी न कभी शिकार खेलने वालों की मंडली में अवश्य हुए थे और उसे भली-भाँति देखा था, यथा—

१—तुलसीदास और उनका काव्य पृ० १४
२—वही पृ० १४

'सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसी उर आछे॥
गी० अर० ३

शिकार एवं शिकारियों की प्रकृति और व्यवहार से भी वे पूर्ण परिचित थे, यथा—

"कोल कराल दसन छबिगाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई॥
घुरुघुरात हय आरौ पाए। चकित बिलोकत कान उठाए।
नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप हाँकि न होय निबाहु॥१५६॥
आवत देखि अधिक रव बाजी। चला बराह मरुत गति भाजी॥
ताकि तकि तीर महसि चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥
प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा। रिस बस भूप चलेउ संग लागा॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपिन मृग मग तजइ नरेसू॥
रा० बा०

यह तो है ही, तुलसीदास ने स्वयं भी श्री रामचन्द्र जी के साथ मृगया-विहार में सम्मिलित होने को अभिलाषा प्रकट की है यथा—

'उपवन मृगया बिहार कारन गवने कृपाल,
जननी मुख निरखि पुन्य पुंज निज बिचारे॥
तुलसिदास संग लीजै जानि दीन अभय दीजै,
कीजै मति बिमल गावै चरितवर तिहारे॥
गी० बा० ३६।३

अनुचित बात पर उत्तेजित हो उठना प्रायः जमींदार ब्राह्मणों का गुण है, जैसा कि श्री रेवरेंड एम० ए० शेरिंग ने अपने ग्रंथ 'ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स' में भूमिहार-ब्राह्मणों के सम्बन्ध में श्री इलियट के 'एप्लामेंटलग्लासरी' से श्री बीम्स का निम्नांकित कथन उद्‌धृत किया है :—

"ये लोग बहुत ही सुन्दर मनुष्य जाति के हैं और इनकी शरीर-रचना पूर्णतया सुन्दर और आर्यों की शारीरिक बनावट जैसी है। ये लोग साहसी और जल्दी ही उबल पड़ने वाले होते हैं।"

यद्यपि श्री शेरिंग ने बीम्स के इस मत का खंडन किया है कि 'वे शीघ्र ही उबल पड़ने वाले होते हैं, परन्तु मेरा अपना विचार है कि श्री बीम्स का कथन किसी अंश में ठीक है क्योंकि भूमिहार-ब्राह्मण सैनिक स्वभाव के और युद्धशील होते

हैं। सैनिक स्वभावतः स्वाभिमानी और असहनशील होते हैं। दूसरो बात कि भूमिहार-ब्राह्मण परम्परा से भू-स्वामी होने के कारण 'अधिकारमद' और होने के कारण 'कुलमद' की भावना से युक्त होते है अतः ये लोग स्वभावतः की अधोनता स्वीकार नहीं करते तथा अपने सम्मान, शान और मरजो के बात होने पर उत्तेजित हो उठते हैं। एक बात और है इन्हें सदैव अपनी अनुचर और आश्रित लोगों से घिरे रहने के कारण अपनी मरजो के विरुद्ध सुनने का अवसर ही नहीं मिलता एवं खुशामद पसद होने का स्वभाव बन है, इसलिए यदि कभो इसके विपरीत स्थित्ति उत्पन्न हो जाती है तो विरुद्ध अनहोनी घटना होने के कारण, इनका पारा जल्द ही गर्म हो जाती परम्परागत हाने से यह विशेषता जातोय बन गई है। यही कारण है कि तुलसीदास जी अत्यन्त अभिमान रहित और परम उदार महापुरुष थे, परन्तु जातीय विशेषता उनमें भा पाई जाती है जैसा कि उनके निम्नांकित व्यक्त है :—

'मेरोइ फोरिबे जोगु कपार किधौं कछु काहु लखाइ दियो है।
काहे न कान करौ बिनती 'तुलसी' कलि काल बेहाल कियो है।
क० उ०

'मोपर कीबी तोंहि जो करि लेहु मिया रे'—वि० ३३
'अब तुलसी पूतरो बाँधि है, मो पै सहि न जात पहिहास एते
—वि०

'हम लखि हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम अपु नीच॥ दो०
'ईस सीस बिलसत सलित तुलसी ताल तरग।
स्वान सरावगि के कहे लघुता लहै न गंग॥ दो०

तुलसीदास जी ने इस प्रकार के स्वभाव की प्रशंसा की है और भावुक बड़ो का स्वाभाविक गुण माना है यथा—

जमींदार ब्राह्मणों की एक बिशेषता उनकी व्यवस्था बुदि और पटु होना भी है। इन गुणों के दर्शन तुलसीदास जी में भी होते हैं। अपनो रचनाओं में कही भो मर्यादा का अतिग्रमण नहीं होने दिया है। मर्यादावादी होना उनकी व्यवस्था वुदि का सर्वोत्तम निदर्शन है। श्री मानस और दोहावली में राजनीतिक दांव पेच का। उत्कृष्ट विवेचन हुआ दोहावली में राजनोतिक सम्बन्धो दोहे की अपेक्षा कृत अधिक हैं, जिससे राजनीतिक रूचि का आभास मिलता है!

सत्ताधारी होने के कारण सामंत-परम्परा में कूटनीति का प्रयोग दूषण नहीं माना जाता, अस्तु उसे शस्त्र-पुराण में भी राजा के व्यवहार के योग्य और उपयोगी कहा गया है। कणिक ब्राह्मण ने धृतराष्ट्र को कूटनीति का इस प्रकार उपदेश दिया था—

'फलार्थीऽयं समारंभो लोके पुंसां विपश्चिताम्।
वहेदमित्रं स्कंधेन यावत् कालस्य पर्ययः॥
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि।
अमित्रो न विमोक्तव्यं कृपणं वह्वपिब्रुवन्।

महा० आदि० १४१।२१-२२

अर्थात् शत्रु को कंधे पर उठाए रहे, परन्तु अवसर आने पर उसे घड़े की भाँति पत्थर पर दे मारे।

भारवि कहते हैं :—

न समय परिरक्षणंक्षमं ते निकृति परेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सोंधिदूषणम्॥
द्विषतामुदयः सुमेधसागुरुरस्वंततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूति मिच्छता फल संपत्प्रवणः परिक्षयः॥

किरातार्जुनीय १।४६, २।८

अर्थात् अपकारी शत्रु के सन्धि में दोष दिखाकर संधि भंग कर देना चाहिए। इसमें राजा को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता ॥४६॥ विजयाभिलाषी बुद्धिमान को परिणाम में नाश होने वाले शत्रु के वर्तमान अभ्युदय को सहना चाहिए और परिणाम में लाभ पहुंचाने वाली वर्तमान हानि न होने देनी चाहिए।

हितोपदेश में राजा की नीति को वेश्या के समान 'अनेकरूपा'[1] और किरातार्जुनीय में राजा के चरित्र को दुर्बोध[2], कहा गया है। स्वयं भगवान कृष्ण ने सत्ता के अभिलाषी के लिए कूटनीति की उपयोगिता बताई और उसे

---

[1]—सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्त्राः दयालु रपिचार्थपरा वदान्या।
नित्य व्यया प्रचुर रत्न धनागमा च,
वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ हितो० २।१८३

[2]—कि० १।६

बुद्धिमानी कहा है।[1] कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में कहलाया
राजा ! तुम लोग जन्म से ही कूटनीति सीखते हो।'

परंपरया भू-स्वामी होने के कारण भूमिहार ब्राह्मण में भी प्राय: कूटनीतिक-चातुर्य पाया जाता है और 'भुँइहरई' या 'भूमिहारी' शब्द उक्त का द्योतक बन गया है,[2] अस्तु तुलसीदास को भी इस तुला पर तौल चाहिए। सारे संसार को सियाराममय देखने वाले तुलसीदास ने भी राज व्यवहार में कूटनीति को बुद्धिमानी कहा है :—

'सत्रु सयानो सलिल ज्यों राखि सीस रिपु नाव।
बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँ दिसि धाव॥
दो० ५

कर केकर, मनके मनहिं, बचन बचन गुन जानि।
भूपहिं भूलि न परिहरै, बिजय बिभूति सयानि॥ ५१८

और केवल सरलता को दोष मानते हैं—

'सरल वक्रगति पंचग्रह चपरि न चितवत काहु।
तुलसी सूधे सूर-ससि समय बिडंबित राहु॥
दो० ३९७

एवं समय के अनुसार साधन के उपयोग की आवश्यकता बताते है—

'लकड़ी डौवा, करछुली, सरस काज अनुहारि।
सुप्रभु संग्रहहिं परिहरहिं, सेवक सखा विचारि॥
दो० ५

इस प्रकार की नीति जमीदार वर्ग के अतिरिक्त दूसरों की समझ में आती।

---

[1]—महा० सभा० १७।७-८

[2]—'भुइँहरई' का अर्थ 'धोखे बाजी' करना भूमिहार-ब्राह्मणों के प्रति भावना या अनभिज्ञता का सूचक है। इतिहासकारों ने भूमिहा ब्राह्मणों के शिष्टाचार, सदाचरण, व्यावहारिक-ज्ञान और सामा भावना की प्रशंसा की है-(देखिए—विकास की एक धारा भा अ० ३) हाथ का गुण कार्य-कुशलता, मन का गुण किसी संकल्प गुप्त रखना तथा वचन का गुण आवश्यकता के अनुसार बोलना है इन गुणों का अर्थ कपटाचरण करना भूल है।

आदर्श स्थापना—

'श्री रामचरित मानस' में गोस्वामी जी ने जिस आदर्श-चरित की झाँकी दिखाई है; वह इस प्रकार है—

'जिनके लहहिं न रिपुरन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन डीठी॥
मंगन लहहिं न जिनके नाहीं। अस नरबर थोरे जग माहीं॥'

दोहावली में भी कहते हैं—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परतगुरु पाँय।
तुलसी जिन्हहि न पुलकतन, ते जग जीवत जाय॥ ४२॥

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वे युद्धवीर, दानवीर तथा चरित्रवान पुरुष को ही महान् मानते थे। उन्होंने अपने इष्टदेव श्रीरामचन्द्र जी और भगवान शंकर का आदर्शचरित्र भी इन्हीं गुणों के आधार पर अंकित किया है यथा—

"बोल को अटल, बाँह को पगारु दीनबन्धु,
दूबरे को दानी, को दयानिधानु दूसरो" (क० उ० १६)

और—"दानी कहुँ संकर सम नाहीं।
दीन दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं॥
मारि के मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भट मांही
ता ठाकुर को रीझि निवाजिबो, कह्यो क्यों परत मों पाहीं॥

उपर्युक्त उद्धरणों में 'बोल को अटल, बांह को पगारु, दूबरे को दानी, दिबोई भावै, मारि को मार थप्यो, भट ठाकुर को रीझि आदि पद द्रष्टव्य हैं। इन पदों के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने वंश परम्परागत गुणों का ही दर्शन कराया है। रण से विमुख होने वाले को उन्होने भर्त्सना की है और उसका जीवन निरर्थक बताया है यथा—

"जाय सो सुभट समत्थ पाइ रन रारि न मंडै" (क० उ०)

वे स्वयं एक वीर और निर्भीक पुरुष थे। उन्हें न किसी से डर था और न किसी की परवाह। यही कारण है कि उन्होंने अपने हृदय का उद्गार स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। कहते हैं—

"जग में गति जाहि जगतपति की परवाह है ताहि कहा नर को"(क०उ०२७
और—"कौन की त्रास करै तुलसी जोपै राखिहैं राम तो मारिहै को रे—
क० उ० ४८

काकभुशुंड का ध्यातव्य 'दशरथ अजिर बिहारी राम का बाल रूप है, परंतु तुलसी के आराध्य इस्टदेव अस्त्र-शस्त्र धारी, काननचारी, लोकमर्यादा की रक्षा में तत्पर तपस्वी वेषधारी असुरारी राम हैं इसी भेष में वे अपने इष्टदेव की पह-

चान कर बन मार्ग में दर्शन करते हैं (रा० अयो० ११०) और युद्धशील वी राम की शोभा हृदय में बिठा लेते हैं यथा—

राजत राम काम सत सुन्दर ।
रिपुरन जीति अनुज संग सोभित, फेरत चाप बिसिख बनरुह कर।
स्याम सरीर रुचिर स्त्रम सीकर, सोनित कन बिच-बीच मनोहर ।
जनु खद्योत निकर हरि हितगन, भ्राजत मरकत सैल सिखर पर ॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि, हरखत सकल रिच्छ अरु बनचर॥
कुसुमित किंसुक तरु समूह महँ; तरुन तमाल बिसाल बिटपबर ॥
राजिब नैन बिलोकि कृपा करि, किए अभय मुनि नाग बिबुध नर।
तुलसीदास यह रूप अनूपम हिय-सरोज बिस दुसह बिपति हर ॥
(गी० लं० १६)

दोहावली का प्रारम्भ करते समय उन्होंने राम को जिस झाँकी का ध्या किया है, वह भी अस्त्रशस्त्र धारी बन बिहारी राम का है यथा—

'राम वाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यान मय, सुरतरु तुलसी तोर ।। दो० १

प्राय: रामचरित-मानस' में भी तुलसीदास ने श्रीरामचन्द्र जी के अ शस्त्रधारी-बनचारी रूप की वन्दना की है।

तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के परशुराम- लक्ष्मण सवाद में परशुराम जी को जिस रूप में चित्रित किया है; वह तत्कालीन अहंकारी उद्धत और यु प्रिय जमीदार ब्राह्मणों का ही चित्र है जिन की भावना में अनुदारता, विचार में संकीणता और व्यवहार में कटुत्ता आ गई थी जिसे वे ब्राह्मणोचित नहीं समझते थे। अपने समाज की उक्त परिस्थिति से मर्माहत होकर और सुधार की दृष्टि से ही उन्होंने लक्ष्मण जी द्वारा परशुराम जी की अहंवृत्ति एवं दर्पोक्ति का उपहास कराया है तथा श्रीरामचन्द्र जी द्वारा व्यंग्य भी; यथा—

'जो तुम अवतेउ मुनि की नाईं । तो पदरज सिर धरत गुसाईं ॥'

संवाद की उक्त योजना द्वारा लड़ाकू ब्राह्मण वर्ग के प्रति व्यंग्य उनका उसी समाज का होना प्रकट करता है।

दान के विषय में उनका मन है कि जैसे तैसे देना ही चाहिए। सर्वोत्त कल्याण का मार्ग यही है यथा—

"प्रकट चारि पद धर्म के, कलि महँ एक प्रधान।
येन केन विधि दीन्हें, दान करइ कल्यान ॥ रा० उ०

जो दान देने में असमर्थ है और किसी को कुछ दे नहीं सकता, उसे भी चाहिए कि वह किसी से कुछ ले न।[१] यही उचित है क्योंकि जैसे देना भला काम है वैसे ही लेना नीच कर्म, जैसा कि वे अपने सम्बन्ध में कहते हैं—

"दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक,
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं।"

तुलसीदास ने कहीं भी अपनी रचनाओं में 'याचक' ब्राह्मण का चित्र अंकित नहीं किया है। उन्होंने जिन ऋषि-महर्षियों के विवरण दिए हैं, वे सभी सर्व-समर्थ सम्पत्तिशाली एवं दाता थे। महर्षि भारद्वाज के आश्रम में भरत जी का जिस प्रकार आतिथ्य किया गया, वह राजाओं के यहां भी दुर्लभ था (रा० अयो० २१४-१५) महर्षि अत्रि के यहां श्री सीता जी का दिव्य वसनभूषण से सत्कार किया गया था। महर्षि वाल्मीकि का अधिकार चित्रकूट के आस-पास की सम्पूर्ण भूमि पर था। श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे अपने रहने योग्य भूमि की माँग की थी (रा० अयो० १२६) और इसी प्रकार महर्षि अगस्त्य से पूछ कर ही उन्होंने 'पंचवटी' में निवास किया (रा० अर० १३) ब्राह्मण के वेष में राजा प्रतापभानु के साथ छल करने वाले 'तापस' ने भी अपना प्रभाव जमाने के लिए कहा था—

"आजु लगे अरु जब तें भयऊँ। काहू के गृह ग्राम गयऊँ।

महर्षि अगस्त्य के शिष्य मुनिवर सुतीक्ष्ण से जब भगवान् राम ने कहा कि— 'जो बर मांगउ देउँ सो तोंहीं' इसके उत्तर में सुतीक्ष्ण जी ने जो कहा द्रष्टव्य है—

'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझ न परइ झूठ का साँचा।
तुमहिं नीक लागे रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥
रा० अर० ११

यह तो हुई त्रेता युग की बात। कलियुग के ब्राह्मण का आदर्श भी देखिए। भगवान् शंकर के प्रसन्न होकर यह कहने पर कि 'हे द्विजवर बर माँगु' ब्राह्मण कहता है—

'जौं प्रसन्न प्रभु मोहिं पर नाथ दीन परनेह।
निज पद भगति देइ प्रभु, पुनि दूसर बर देहु॥
तव माया वश जीव जड़ संतत फिरइ भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु, कृपा सिंधु भगवान॥
रा० उ० १०८

क्या इन ब्राह्मणों को भिक्षुक कहा जायेगा ?

१—अत्रि स्मृति २२, मनु ३।१०४, चा० नी० १६।४,१५

तुलसीदास को ब्राह्मणों की दरिद्रता, भीरुता तथा भिक्षाचर्या को देख ग्लानि होती थी, जैसा कि उन्होंने देवी से प्रार्थना करते हुए प्रकट किया है—"दारिद-दुखारी देवि ! भूसुर भिखारी भीरु" तथा याचक वृत्ति को अत्यन्त ही गर्हित एवं प्रतिष्ठा गिराने वाला माना है यथा—

'सेवक सुख चह मान भिखारी। व्यसनीधन, सुभगति व्यभिचारी॥
लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥
रा० आ० १४

इतना ही नहीं उन्होंने भिक्षा वृत्ति को कुजाति बनाने वाला माना है, जैसा कि कलि के प्रसंग में कहते हैं—'सब जाति कुजाति भए मँगना (रा० उ० १०२) उन्हें बाल्यावस्था में अनाथ हो जाने के कारण तथा परिस्थिति का दूसरों से सहायता और सहयोग की जो याचना करनी पड़ी, उसके लिए भी ग्लानि होती थी, यथा—

"महिमा मान प्रिय प्रान तें अधिक
खोली खलन आगे खिनु खिनु पेट खलायो" वि० २७६

धन के बिना मरने की स्थिति में पहुंच जाने पर भी वे मित्र तक से मांगना अनुचित और नीच कर्म समझते हैं यथा—

'कृसधन सखहिं न दैव दुख, मुएहु न मांगब नीच' —दो० ३३५

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी से मांगने को वे मांगबा नहीं मानते यथा—

'तोहिं मांगि मांगनो न मांगनों कहायो' वि० ७८।४

तथापि परम्परागत स्वभाव वश उनसे भी मांगने में संकोच करते हैं और प्रकट रूप से मांगने का निषेध कर देते हैं यथा—

"जग जांचिय कोउ न, जांचिय जौं, जिय जाँचिय जानकि जानहिं रे
क० उ०

उन्होंने बार-बार कहा है—

"तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िए" क० उ० २५

और—"जानकि जीवन को जन ह्वै जरिजाउ सो जीह जो जांचति औरहिं" क० उ० २६

शास्त्रों से भी विदित है कि याचना करने से ब्राह्मण के उच्च वंश का महत्व घट जाता है।[1] तुलसीदास ने भी श्रीरामचन्द्र जी से मांगने में अपने 'जातिपद' अर्थात् 'कुल गौरव' का घटना बताया है—

"रटत-रटत लट्यो, जातिपांति भांति घट्यो"—वि० २६०

याचना करने से जातीय-स्तर का नीचे गिरना जमीदार वर्ग का अप्रतिग्राही ब्राह्मण ही कह सकता है। याचक वृत्ति न होने से उसे याचना करने में ग्लानि होती है। उसके लिए यह कर्म अत्यन्त निन्दित और मृत्यु के समान है क्योंकि वह तो दान देने में अपना गौरव मानता है यथा—

"अमरदानि, जाचक मरहिं, मरिमरि फिरिफिरि लेहिं"—दो०

गोस्वामी जी का यह कथन कि—"नाथ गरीब-निवाज हैं, मैं गही न गरीवी" उनके अप्रतिग्राही और स्वाभिमानी होने की विज्ञप्ति है। उन्होंने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए सब कहीं सिर झुकाने वाले को 'कुमति सिरोमनि' और 'कूर' कहा है, यथा—

'बर्वाहिं नवहिं निज काज सरि, कुमति सिरोमनि कूर'-दो० ४८७

वे अपने विषय में किस दृढ़ता के साथ कहते हैं—

'जे मदमार विकार भरे ते अचार बिचार समीप न जाहीं।
है अभिमान तऊ मन मैं, जन भाषिहै दूसरे दीन न पाहीं
क० उ० ९४

उक्त कथन से साफ प्रकट है कि किसी के समक्ष दीन वचन बोलना उनके कुल धर्म के विपरीत था क्योंकि आचार-विचार का सम्बन्ध कुल से होता है। पहले कहा गया हैं कि बौद्ध काल में क्षत्रियों ने धर्मकर्म में संकरता और सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न कर ब्राह्मणों का तिरस्कार करना प्रारम्भ किया जिससे स्वाभिमानी ब्राह्मण समाज और धर्म की रक्षा हेतु[1] अप्रतिग्राही बन गए और उन्होंने भूमि पर भी अधिकार कर लिया। अतः उनके स्वभाव पर शासक-वृत्ति का भी प्रभाव पड़ा, जिससे वे युद्ध विद्या में विशेष निपुण, राजनीति में प्रवीण और दानवीर बन गए एवं दान लेने से घृणा करने लगे। मनुजी ने—"स्वयंमेव ब्राह्मणे भुक्ते स्व-वस्ते एवं ददातिच' ऐसे हो ब्राह्मणों के विषय में कहा है। जातक ४।१५ से विदित होता है कि एक ब्राह्मण ने दानार्थं नौकरी तक की थी अप्रतिग्राही पिप्पलाद के पुत्र ने दान देने के लिए उद्यत इक्ष्वाकु से कहा था—

"तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप।
अहं न प्रतिगृह्णामि किञ्चिद्दं किं ददामिते॥ महा० शा०
१९९।३०

---

[1] श्रुति विज्ञान तत्वज्ञः शिष्टाचारो विचक्षणः।
स्वधर्मेण क्रियावांश्च कर्मणा सोऽप्यं संकर॥

अर्थात् हे राजा ! प्रतिग्राही ब्राह्मणों को दान दीजिए। मै दान लेने वा ब्राह्मण नहीं हूं, वरंच दान देने वाला ब्राह्मण हूं। अतः आपको जो हो मुझ से कहें, मै दूंगा।

अप्रतिग्राही ब्राह्मण वर्ग में प्रायः उपर्युक्त प्रवृत्ति आज भी पाई जाती किन्तु प्रतिग्राही ब्राह्मण समाज में प्रायः इसके विपरीत स्वभाव पाया है क्योंकि बहुधा यह देखा जाता है कि धनी होने पर भी वे दान लेने की अभिलाषा रखते है।

आचार-व्यवहार—

परम्परागत वीर जातियों के यहाँ प्रायः वीरता के प्रतीकों को पूजा 'कुला के रूप में प्रचलित है जैसे—नृसिंह जी, दुर्गाजी, महावीर जी आदि की तुलसीदास की रचनाओं में देखा जा सकता है कि उनका 'मन' वीरता के प्र का विशद-वर्णन करने में अधिक रमा है। वे क्रांतिकारी समाजवादी थे, फिर उनकी रचनाओं में सामंतवाद के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे उनके साम परिवार में जन्म लेने की सिद्धि होती है यथा—

'तेहिं अवसर जो जेहि विधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा
गजरथ तुरग, हेम गो हीरा। दीन्हें नृप नाना विधि चीर
रा० बा०

आवत जानि भानुकुल केतू। सरित न जनक बँधाए सेतू।
बीच बीच वरबास बनाए। सुर पुर सरिस संपदा छाए।
रा० बा०

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकारौं दे
सकऊँ तोर अरि अमरउ मारी। कहा कीट बपुरे नर नारी
रा० अ०

अध्याय ३ में बताया जा चुका है कि 'विनय-पत्रिका' में सर्वप्रथम, गणे सूर्य भगवान्, यमुना, गंगा, दुर्गा, शंकर, हनुमान् आदि देवताओं की स्तुति का कारण उनके कुलाचार से सम्बन्धित है।[1]

भूमिहार ब्राह्मणों के मूलस्थान (निकास या डीह) धर्मारण्य (काश प्रदेश का मदारपुर) में ही प्राचीन काल से गणेश, सूर्य, धर्मराज (यम),

---

[1] —देशाचारः कुलाचारो ज्ञात्याचारो विशेषतः।
कर्त्तव्यो विदुषा तस्य सारासार विचार्य च॥

हनुमान् नृसिंह आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी।[१] धर्मारण्य की चारों दिशाओं में क्रमशः धर्मराज (यम) गणेश, सूर्य और स्वयंभू की स्थापना की गई थी यथा—

> "पूर्वं धर्मेश्वरो देवो, दक्षिणेन गणाधिपः।
> पश्चिमे स्थापितो भानुरुत्तरे च स्वयंभुवः॥
> स्कंद पुराण ब्रह्म खंड धर्मा: महात्म्य २।११

परम्परागत रूप में इन देवताओं की पूजा भूमिहार ब्राह्मणों के यहाँ अब तक होती आ रही है।

इनके यहाँ रविवार व्रत रहने और सूर्योपासना का प्रचलन है।[२] नृसिंह जी[३] की पूजा विशेषकर बलिया और सारन जिले के तटिहा भूमिहार ब्राह्मणों के यहां और नोन्हउलिया भूमिहारों के यहां होती है। लिलकर आदि के लोग इस पूजा को वैशाख शुक्ल १४ को बड़े समारोह से करते हैं। नृसिंह जी के साथ ही धर्मराज की भी पूजा होती है। भूमिहार ब्राह्मणों के निकास कान्यकुब्ज प्रदेश में भी श्री हनुमान जी की पूजा का विशेष प्रचार है, स्थान-स्थान पर मन्दिर है जैसे कानपुर जिले के पनकी नामक स्थान पर, जहां प्रति मंगलवार को मेला लगता है। तुलसीदास जी की जन्मभूमि राजपुर (बलिया) से लगा हुआ

---

[१]—दे० चतुर्मुख (त्रैमासिक) श्रावण सं० २०२१ पृ० ३१, ३७

[२]—धर्मनाथ जी का कुंड (तालाब) कानपुर जिले के मकनपुर (प्राचीन धर्मारण्य क्षेत्र) में था, जिसे मुसलमान आक्रमणकारियों ने पटवा दिया था (चतुर्मुख श्रावण २०२१ पृ० ५१)

बलिया नगर के दक्षिण भृगु क्षेत्र में भी धर्मनाथ जी का प्रसिद्ध पोखरा (कुंड) था जो पुराने भृगु-स्थान के साथ गंगा में गिर गया। ज्ञात होता है धर्मण्य से पूर्वी-प्रदेश में आने वाले भूमिहार ब्राह्मणों ने ही अपने मूल स्थान के कुंड की स्मृति में इसका निर्माण कराया था (दे०—वही पृ० ४५) धर्मनाथ जी का पोखरा छपरा नगर में भी है।

[३]—बलिया जिले में रसड़ा के निकट कंसोपटना में जहां धर्मारण्य से पूर्वीय प्रदेश में आने वाले ब्राह्मण राजवंश की राजधानी थी, नृसिंह जी का मन्दिर था। उक्त वंश परम्परा में अद्यावधि नृसिंह जी की पूजा प्रचलित है (दे०—वही पृ० ३७) तुलसीदास ने भी लंका में प्रवेश करते समय श्री हनुमान जी द्वारा नृसिंह भगवान् का स्मरण कराया है यथा—'लंका चले सुमिरि नरहरी।'

'बजरहाँ' नामक स्थान है, जिसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट ही 'बजरंग बली' हनुमान नाम पर हुई है। इसलिए यदि तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका' में सर्वप्रथम गणेश, सूर्य, देवी, हनुमान, गंगा और यमुना के व्याज से धर्मराज आदि देवता की वन्दना की है, तो इसका अभिप्राय यह है कि इसका सम्बन्ध उनके परम्परा कुलाचार से है। मर्यादावादी होने के कारण देशाचार और कुलाचार अवहेलना वे उचित नहीं समझते थे। राम-सीता, दशरथ और अयोध्यावासि से भी उन्होंने उक्त देवी-देवताओं का स्मरण-पूजन आदि कराया है यथा—

'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥
रा० अयो०

'रामचरित-मानस' जैसी महान् कृति के पश्चात् जिसमें शिव-विवाह राम-विवाह का विशद वर्णन है ही, फिर तुलसीदास जी को अलग से 'पार्व मंगल' और 'जानकी-मंगल' लिखने की क्यों आवश्यकता हुई? इस प्रश्न के में यह कहा जा सकता है कि वे मंगल के मूल भगवान् शंकर और भगवान के चरित्र को दृढ़ता के साथ हिन्दू जीवन में ओत प्रोत कर देना चाहते जिसकी उन दिनों विशेष आवश्यकता थी क्योंकि वह दो संस्कृतियों के संघर्ष कठिन युग था।

किन्तु इतने मात्र से कथित प्रश्न का समाधान नहीं होता। तुलसीदास जी को 'मंगल ग्रंथों' के निर्माण की प्रेरणा अपने 'कुलाचार' से वाराणसी से पूरब बिहार तक प्रायः भूमिहार ब्राह्मणों के यहां यह नियम कि विवाह काल में (तिलक चढ़ जाने पर) सर्वप्रथम 'शिव-विवाह' के ही गाए जाते हैं[1] और तत्पश्चात् राम-विवाह, कृष्ण-विवाह एवं अन्य प्रकार

१—शिव-विवाह के कम से कम दो या पांच गीत गाए जाते हैं
पहले निम्नांकित गीत द्वारा 'शिव को जगाना' आवश्यक है :—

'जागीं ए सिव! सिव के दोहाई।
गाई का गोवरे महादेव अँगना लिपाई।
गज मोती मनिएँ महादेव चउका पुराई॥ जागीं……
चउका बइठलें महादेव गइले अलसाई।
हुदुकम मारि गउरा देईं दिहली जगाई। जागीं……
दुका का मरलें महादेव गइले कोहनाईं॥
वहियाँ लफाइ गउरा देइ लिहली मनाई॥" आदि

शब्दार्थ :१—हुदुका मारना=असावधान व्यक्ति को तर्जनी उँगली
गोभा देकर सजग करना, जिसे कोई दूसरा न
पाए। लफाइ=बाँह बढ़ाकर।

न विवाह संबंधी गीतों को 'मंगल' कहते हैं। इनके बाद ही 'सहाना' या सोहाग' (श्रृंगार और सजावट संबंधी गीत), झूमर, खिलौना आदि गाते हैं। मंगल गीत केवल विवाह काल में ही नहीं वरंच यज्ञोपवीत और पुत्र जन्म के अवसर पर भी गाए जाते हैं।[1] अस्तु स्पष्ट है कि मंगल ग्रंथों की रचना कुलाचार से प्रेरित होकर स्त्रियों के निमित्त की गई थी, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

'मृगनयनि बिधुबदनी रच्यो मनिमंजु मंगल हार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा सारसो ॥ पा० १६४

स्त्रियों के निमित्त होने के कारण ही इन गेय ग्रंथों का नाम 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी मंगल' रखा गया! कोहबर (केलिगृह) के गीतों में कुछ विशेष प्रकार के गीत 'जोग-जुगुति' के गीत कहलाते हैं। तुलसीदास ने भी 'जुगुति' का प्रयोग किया है यथा—

'यहि जुगति राज बिबाह गावहिं सकल कवि कीरति नई ॥ जा० मं० ॥

'राज-विवाह' के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि यह 'जुगुति' शायद ऊँचे-घरानों की पद्धति के अनुसार है।

और 'कवि कीरति नई' के प्रयोग से प्रकट होता है कि इसके पहले जो 'जोग' के गीत गाए जाते थे, वे भिन्न प्रकार के अर्थात् तांत्रिक पद्धति के अनुसार अश्लील थे (इस प्रकार के गीत अब भी गाए जाते हैं।) जिन्हें सब लोग नहीं गा सकते थे किन्तु कवि तुलसीदास ने 'जानकी-मंगल' के वैष्णवी गीतों का प्रवर्तन कर एक नई कीर्त्ति स्थापित की क्योंकि इसे 'सकल' लोग गा सकते हैं। इसलिए भी ये 'राज विवाह' के गीत हैं।

दोनों मंगलों की 'फलश्रुति' पर विचार करने से विदित होता है कि 'पार्वती मंगल' की रचना प्रचलित-परिपाटी के अनुसार की गई थी, यथा—

'कल्यान काज, उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइ हैं।
तुलसी उमा संकर प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइ हैं ॥ पा० मं०

शिव-विवाह के गीत सर्वप्रथम 'कल्याण'[2] के निमित्त ही गाए जाते हैं, इसलिए इन्हें 'कल्याण काज' के गीत कहा गया है और गाने का फल 'प्रमोद'

---

[1] —उपवीत ब्याह उछाह जे सियाराम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिन पावहीं ॥ जा० मं०

[2] —यहाँ 'जुगुति' और 'राज-विवाह' में श्लेष है अतः 'जुगुति' का अर्थ 'युक्ति' भी किया जा सकता है।

प्राप्ति बताया गया है किंतु राम विवाह के गीत प्रचलित-परिपाटी के अनु नियमित रूप से गाना अनिवार्य नहीं है अस्तु 'पार्वती-मंगल' के साथ इसका प्रचलन कर देना 'कवि' की 'नई कीरति' है और इसी से इसके विशे 'कल्यान' का प्रयोग न कर 'फलाप्ति' में किया गया है यथा--

> 'उपवीत ब्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं।
> तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिन पावहीं।
>
> जा० मं०

एक और अन्तर ध्यान देने योग्य है, वह यह कि पार्वती मंगल केवल स्त्रि के गाने के निमित्त लिखा गया क्योंकि प्रचलित परिपाटी के अनुसार उसे स्त्रि ही गाती हैं, परन्तु 'जानकी मंगल नरनारि' सबके लिए लिखा गया। यह परिपाटी में बँधा नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो गया कि 'पार्वती मंगल' की रचना कुलाचा प्रेरणा पाकर और 'जानकी--मंगल' की रचना आवश्यकता समझकर की गई यदि यह मान लिया जाय कि इन मंगल रचनाओं के बाद ही भूमिहार-ब्राह्म के यहां उक्त मंगल-गान की प्रथा चल पड़ी तो भी इससे दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध ही सूचित होता है।

विवाह के अवसर पर बारात जहां ठहराई जाती है, उस स्था 'जनवासा' कहते हैं। बिहार में भूमिहार-ब्राह्मणों के यहां बारात प्रायः लग्न पहले आती है, इसलिए अगवानी करने वाले लोग उसे जनवासा में ठहरा हैं और वहीं बेटिहा की ओर से उसके खान-पान का प्रबन्ध तथा आदर-स किया जाता है। तत्पश्चात् समयानुसार पांवड़े के निमित्त वस्त्र लेकर नाऊ पुरोहित बारात वालों को बुलाने जाते हैं।[1] द्वारपूजा तथा परिछावन और निरीक्षक का नियम सब कहीं नहीं है। विवाह के अवसर पर दोनों प लोग मंडप में बैठते हैं। इस अवसर पर वर पक्ष की ओर से कन्या की वस्त्र तथा ब्राह्मणों और नाऊ-बारी आदि याचकों को दान दक्षिणा निछावर दी जाती है।[2] गोस्वामी जी ने इन्हीं विधियों के अनुसार श्री शंकर जी श्री रामचन्द्र जी के विवाहों का वर्णन किया है। (दे० रा० बा० ३०४

---

[1] १—वाराणसी के आस-पास के गौतम ब्राह्मणों में यही प्रथा है।

[2] २—पर्दा-प्रथा के कारण कहीं-कहीं कन्या पक्ष के पुरोहित ही वर प पुरोहित का काम पूरा करते है।

जनवासे में वर का दरबार लगता है जिसे 'महफिल' कहते हैं। महफिल की सजधज दर्शनीय होती है। यहाँ नर्तक और नर्तकियाँ अपना-अपना नृत्य दिखाते और गान-वाद्य का क्रम चलता रहता है। लड़की वाला अपनी मर्यादा के अनुसार बारात को कई दिनों तक ठहराता है जिसे 'मर्याद' या 'बढ़वार' रखना कहते हैं।

बारात को भोजनार्थ निमन्त्रण देने को 'आज्ञा' या 'आयसु' मांगना कहते हैं। इस कार्य के निमित्त बेटिहा की ओर से पुरोहित भाट आदि और बन्धु-बान्धव बाजेगाजे मिष्ठान्न, भेंट और मंगलद्रव्य के साथ जनवासा में जाते हैं। वहां पर ब्राह्मण मंगल वाचन करते हैं भाट कवित्त पढ़ते हैं। पंडित और विद्वान पुरुष शास्त्रार्थ (शास्त्र-विचार) भी करते हैं। यह प्रथा आज कल "बाद-विवाद के रूप में बदल गई है।

प्रायः यह प्रथा जमीदार ब्राह्मणों के यहां विशिष्ट रूप में प्रचलित है। उनके यहां सामान्य भोज के अवसर पर भी अपने बन्धु-बांधवों के यहां पुरोहित द्वारा ही आज्ञा भेजने की प्रथा है जैसा कि चैनपुर-दुघड़ा (सारन) लिलकर (बलिया) आदि के भूमिहार ब्राह्मणों के यहां देखा जा सकता है।[1]

गो० तुलसीदास ने आज्ञा भेजने और दशरथ जी को जनकजी के यहां बुलाने का कार्य पुरोहित द्वारा ही कराया है और उस पद्धति के अनुसार कराया है जो प्रायः भूमिहार केन्द्रों में मुख्य रूप से प्रचलित है। जैसे मंगल द्रव्य के साथ निमन्त्रण देना।[2]

विवाह के पश्चात् 'वर-वधू' के गृह प्रवेशकाल में भी उनके यहाँ प्रायः कुछ विशेष व्यवहार प्रचलित हैं। व्याह के बाद शुभ-मुहूर्त में ही वर-वधू गृह-प्रवेश करते हैं। शुभ मुहूर्त आने तक उन्हें बाहर ही ठहरना पड़ता है। गृह प्रवेश होने के पूर्व दर्शकों को जिनमें स्त्री-पुरुष सभी होते हैं। पर्दा (ओहार) उठाकर 'वधू' का मुँह दिखा दिया जाता है, दर्शकगण 'वधु" को 'मुँह देखाई' भेंट देते हैं। जब वर-वधू गृह प्रवेश करने लगते हैं तो अर्घ्य दिया जाता हैं। नेगहरू (जाचक) गण मंगल-कलश, दही, मछली, आदि शुभ-शकुन दिखाते हैं।

---

[1] —विवाह, यज्ञोपवति आदि के निमन्त्रण भी पुरोहित द्वारा ही भेजते हैं, न कि नाऊ-बारी से ?

[2] —भूमिहार ब्राह्मणों के यहां जब पुरोहित विवाहादि मंगल कार्य में उनके बन्धुओं को निमन्त्रण देने जाता है तो वह हल्दी में रंगी हुई सुपारी की भेंट भी उन्हें देता हैं।

ब्राह्मण स्वस्तिवाचन करते हैं। भाट और वंदी कवित्त पढ़ते हैं। वाजे वाले बाजा बजाने तथा स्त्रियों के मंगल गायन से इतना कोलाहल मचता किसी की बात भी सुनाई नहीं देती। कुल की स्त्रियाँ अक्षतादि मांगलि और 'लोढ़ा या रई' लेकर 'वर-वधू को परिछती हैं तत्पश्चात् वरवधू सवा उतर कर अक्षतादि मंगल द्रव्य युक्त पावड़ों पर पैर रखते हुए धीरे-धीरे गमन करते हैं। पांवड़े के लिए बाँस के बने डालों का उपयोग होता संख्या में ५ या ७ होते हैं डालों पर नया रंगीन वस्त्र विछा देते हैं। पं खाली पड़े हुए डाले उठाकर आगे रखते जाते हैं। डाले रखने का काम बारी करते हैं। आँगन में पहुंचकर पुरोहित श्री हनुमान जी के स्थान पर ब द्वारा 'गणेश पूजन' और लोकपालों की पूजा कराते हैं। इसके बाद आर जाती[1] और कुल की स्त्रियाँ 'वर-वधू' की अंजलियों को अक्षत और स्वर्ण से परिपूर्ण कर 'चुमावन' करती हैं बारी चवर डुलाता रहता है। पुरोहित कुल की स्त्रियाँ 'वरवधू' पर आशीर्वादात्मक अक्षत छीटते हैं। तब व उठकर 'वर-वधू' पांवड़े पर पैर रखते हुए कोहबर (केलिगृह) में गमन है। कोहबर में कुछ विशेष प्रकार के गीत गाए जाते हैं। कुल स्त्रियाँ और हितिनें 'वर-वधू' पर अक्षत छींटती है। यहाँ सास वधू से मिलने वा और वधू को लक्ष्मी रूप समझकर उसके आगे आँचल-रोपती और 'जय ल कहती है। वधू सास को पैर छुकर वस्त्राभूषण और यथाशक्ति रुपए पैसे ना आदि की भेंट देती है इस विधि को 'गोड़लगी' कहते हैं। सास बहू का देखतीं और अपनी ओर से भी भेंट देती है। अन्य स्त्रियां भी मुँह देखती भेंट देती हैं। इस विधि को 'मुँह देखाई' कहते हैं। इसके वाद 'वरव 'दही-चीवी' पूड़ी खीर (हविष्य) खिलाया जाता है और अन्न स्पर्श क जाता है। फिर 'पासा खेलने' आदि की लौकिक विधि पूरी की जाती है। वधु के गृह-प्रवेश करते समय प्रायः बड़ी भीड़ होती है और प्रायः प्रत्येक पर नेगिओं (जाचकों) को नेग (निछावर) दिया जाता है। भाटिनों ब्राह्मणियों को वस्त्र पहनाया जाता और अन्नादि का दान दिया जाता

---

[1] —आरती की प्रथा सर्वत्र नहीं है। इसी प्रकार अन्य बातों में भी कहीं थोड़ा अन्तर है। बहुत सी बातें भोजपुरी-प्रदेश की अन्य जातियों यत्र तत्र पाई जाती हैं विशेषतः भूमिहार ब्राह्मण के।

अन्य स्त्रियों और कुल स्त्रियों की 'खोंइछ' भरी जाती है।[1]

गोस्वामी जी ने 'रामचरित मानस' में उपर्युक्त व्यवहार[2] के अनुसार ही विवरण दिये हैं। यथा—

"समय जानि गुरु आयसु दीन्हा। पुर प्रवेस रघुकुल मनि कीन्हा।।
बा० ३४७
सिबिका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी।।
बा० ३४८

"निगम नीति कुलरीति करि अरघ पावड़े देत।
बन्धुन्ह सहित सुत परिछि सब चलीं लवाइ निकेत।।
बा० ३४९

"धूप दीप नैवेद वेद विधि। पूजे बर-दुलहिन मंगल निधि।।
बारहि बार आरती करहीं। व्यजन चारु चामर सिर ढरहीं।।
बस्तु अनेक निछावरि होहीं। भरी प्रमोद मातु सब सोहीं।।
पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।।
जनम रंक जनु पारस पावा। अन्धहि लोचन लाभु सुहावा।।
मूक बदन जनु सारद, छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई।।
बा० ३५०

---

[1] १—स्त्रियों के अंचल को चावल, गेहूं, या जौ, से परिपूर्ण कर उसमें मांगलिक-पदार्थ जैसे हल्दी, शृंगार के प्रसाधन जैसे टिकुली, सेन्दुर, और चूड़ियाँ तथा रुपए-पैसे देना 'खोइँछ भरना' कहलाता है। बड़े घर की स्त्रियों को ये पदार्थ अंचल में न देकर किसी पात्र में देते हैं और उसके साथ वस्त्र इत्यादि भी देते हैं। इस अवसर पर प्रायः स्त्रियों का शृंगार भी किया जाता है।

[2] २—सामान्य अन्तर के साथ प्रायः भूमिहार-ब्राह्मणों के यहाँ सर्वत्र ही इन प्रथाओं का पालन किया जाता हैं। इसका अवलोकन दुघड़ा-चैनपुर, गोरयाकोठी (जिला सारन) आदि के एकसरिया ब्राह्मणों, लिलकर, सीसोटार (जिला—बलिया) आदि के ताँटहा ब्राह्मणों बांड़ापुर-बरेली (जिला मिर्जापुर) आदि के गौतम ब्राह्मणों और पकहा, बनबीरा (जिला—देवरिया) आदि के बगौछिया ब्राह्मणों यहां किया जा सकता है। ये सभी स्थान भोजपुरी-प्रदेश के अन्तर्गत है जिससे तुलसीदास का सम्पूर्ण भोजपुरी प्रदेश से घनिष्ट-सम्बन्ध होने की भी सूचना मिलती है।

उपर्युक्त विवरण में तुलसीदास जी ने जहाँ अनेक प्रकार के सुखों का
किया है, वहाँ समर में विजय प्राप्त करने की भी उसके अन्तर्गत गणना
और उसे सबके अन्त में रखकर उसे 'सर्वोपरि' माना है। ब्राह्मणों में भूस्वा
होने के कारण 'समर में जय पाने की सुखानुभूति युद्ध प्रिय वर्ग की ही वि
बात है।'

१७ वीं १८ वीं शताब्दी में जमींदार-ब्राह्मणों की प्रवृत्ति युद्ध और
दारी की ओर अधिक थी। वे वेद-शास्त्र का पढ़ना छोड़ राजविद्या-सीखने
थे।

राजकाज और मुसलमानो का विशेष संपर्क में रहने के कारण अन्य ब्राह्
की अपेक्षा इनके आचार-व्यवहार में भी अन्तर आ गया था, जैसा कि १७
शताब्दी के लेखक 'वेंकटाध्वारी' रचित 'विश्वगुणादर्श चम्पू' में कृशानु
उक्ति है—

"काशी के ब्राह्मण शस्त्रधारण से अपनी जीविका निर्वाह करते हैं शूद्रों
लाए गए पानी से नहाते हैं, आचमन करते हैं और देवताओं को स्नान कराते
आदि।

इसके उत्तर में विश्वावसु कहता है—"कायस्थ, राजपूत और ब्राह्मण
शस्त्र धारण करते हैं, वे यत्नपूर्वक निर्दय और शुष्क मुसलमानों को सेवा करते
देवताओं और ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं, इसीलिए वे धन्य हैं। जो विना
धारण किए ही घरों में रहते हैं, ऐसे ब्राह्मणों को केवल त्याग रूपी उदकां
ही मिलती है।"

उसी ग्रन्थ में आगे कहा गया है—"वे (काशी के ब्राह्मण) नहाकर
धोबी के धोए कपड़े जो गधों पर लादे जाते हैं, पहनते हैं। वे मुसलमानों को
हैं और छुने पर भी नहाते नहीं।[2]"

स्पष्ट है कि यह विवरण काशी और उसके आसपास के तत्काली जमीं
ब्राह्मणों को ही समक्ष रखकर लिखा गया है जो शस्त्रधारण करते थे। मुसल
के सम्पर्क में रहते थे, शाही दरबारी में उपस्थित होते थे तथा दास-दासियों
युक्त थे। इन कारणो' से उनमें स्पृश्यास्पृश्य की भावना कम हो गई थी।

१—शूद्राहृतैरम्बुभिःस्नाति आचामति देवता स्नपयति स्वरं पचत्योदनम्।
ये बातें आज भी भूमिहार-ब्राह्मणों के यहाँ पाई जाती हैं, जबकि
ब्राह्मण स्वयं जलाशय से जल लेकर देवार्चन करते हैं।

२—डा० मोतीचन्द्रकृत काशी का इतिहास पृ० २४७–४८

रामानन्द ने जो काशी या प्रयाग के जमीदार ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे, स्पृश्यास्पृश्य का विशेष ध्यान रखने वाले 'रामानुज' संप्रदाय से अपना सम्प्रदाय ही अलग कर लिया क्योंकि रामानुज सम्प्रदाय में केवल ब्राह्मणों को ही प्रवेश करने का अधिकार है। इस सम्प्रदाय के सदाचारी न किसी का स्पर्श करते हैं और न अपने वर्ग के अतिरिक्त दूसरे का छुआ हुआ भोजन ही करते हैं। इनकी सहपंक्ति नहीं होती और न इनके चौके में कोई अन्य प्रवेश ही कर सकता है। (दे०—श्रोत्रिय पं० छोटेलाल शर्माकृत 'जाति-अन्वेषण' पृ० २६०)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि—'रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानन्द ने 'रामभक्ति का द्वार सब जातियों के लिए खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संगठन किया, जो आज भी 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ११८) श्री डब्ल्यु डालस पी० हिल लिखते हैं कि "रामानुज के श्री सम्प्रदाय से रामानन्द प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परम्परानुसार सन् १२९९–१४१० का झगड़ा हो गया और वह इस सम्प्रदाय से वहिर्गत कर दिए गए। रामानन्द ने 'अवधूत-सम्प्रदाय' की स्थापना की।"

रामानन्दी अवधूत-सम्प्रदाय में जमीदार ब्राह्मण ही अधिक संख्या में सम्मिलित हुए क्योंकि वह उनके आचार-व्यवहार के अनुकूल था[1] तथा स्वामी रामानन्द उनके सजातीय थे, इसलिए उनका प्रभाव अपने समाज पर विशेष रूप से पड़ा। काशी के जमीदार ब्राह्मणो का केन्द्र होने से भी वहाँ स्वामी रामानन्द की ख्याति विशेष रूप से हुई। उन्होंने अपने अवधूत (वैरागी) संप्रदाय में बिना भेदभाव के सबको सम्मिलित किया। इनके पाँच सौ शिष्य बताए जाते हैं जिनमें १२ मुख्य हैं—

(१) अनंतानन्द (२) सुखानन्द (३) सुरसुरानन्द (४) नरहर्यानन्द (५) राजा पीपा (६) कबीर (७) भावानन्द (८) सेन नाई (९) धनाजाट (१०) रविदास (११) गालवानन्द और (१२) योगानन्द।

शिष्यगण क्रमशः ब्रह्मा, शंकर, नारद, सनत्कुमार, मनु, प्रह्लाद, जनक,

---

१—रामानन्दी-साधु बहुधा शस्त्रधारी होते है और अपने पास 'फरसा (टांगी) रखते है। तंत्र-ग्रन्थों के अनुसार 'अवधूत' के लिए दंड या फरसा धारण करना अनिवार्य है यथा—

"नृकरोटिं विधार्यांच काष्ट दंड तथा प्रिये !
परश्रु परशुं चा जिनं चैंव योगीवधारयेत् ॥"

भीष्मपितामह, वलि, यम, शुकदेव, और कपिल के अवतार माने जाते है स्वामी रामानन्द स्वयं साकेतवासी श्री राम के अवतार। स्वामी रामान अंत्यजों और मुसल्मानों को अपना शिष्य ही नहीं बनाया, वरंच अयोध्या के हिन्दुओ का जो मुसल्मान बन गए थे, पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश भी कराया कि भविष्य पुराण में उल्लेख है——

'म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन रामानन्द प्रभावतः।
संयोगिनश्च ते ज्ञेया अयोध्यां: बभूविरे ॥
कंठे च तुलसीमाला जिह्वा राममयी कृता।
भाले त्रिशूल चिह्नं च श्वेतरक्तं तदाभवत् ॥
(भ० पु० पर्व ३ खं० ४ अ० २१)

इतिहास और पुरानी वंशावलियों से विदित होता है कि राजपूत रा काल और मुसल्मानी काल में जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण पूर्वी प्रदेश में आए, वे प्र के क्षेत्र में जमीदार, काशी और उसके पूर्वी प्रदेश में भूमिहार और मिथि पश्चिमा नाम से प्रसिद्ध हुए। 'रामानन्द-धर्मप्रकाश[1]' के अनुसार श्री स्व रामानन्द का जन्म प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण 'श में हुआ था। इनके का नाम 'पुण्यसदन' और माता का नाम सुशीला था।

भविष्य पुराण के अनुसार वे काशी निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण देवल के और भगवान सूर्य के अवतार थे।[2] बावरी-सम्प्रदाय[3] के उल्लेखों के अनु उनका जन्म वर्त्तमान गाजीपुर जिले में औंड़िहार के निकट पटना में हुआ उन दिनों काशी का विस्तार उक्त पटना तक माना जाता था। अतः बा सम्प्रदाय और भविष्य पुराण के उल्लेखों में कोई अन्तर नहीं है।

रामानन्दी परम्परा स्वामी जी को भगवान् राम का अवतार मानती है जो शस्त्रधारियों में अग्रगण्य हैं। इसलिए उन्हें चाहे सूर्य का अवतार माना

---

[1] रामानन्द की हिन्दी रचनाएं पृ० ४८

[2] इत्युक्त्वा स्वस्य विवस्य तेजो राशिं समंततः।
समुत्पाद्य कृतं काश्यां रामानंदस्य. ततोऽभवत् ॥
देवलस्य च विप्रस्य कान्यकुब्जस्य वै सुतः। भविष्य पुराण

[3] इस संप्रदाय का प्रवर्तन स्वामी रामानन्द के शिष्य दयान किया।

[4] रामानंदः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले——वैश्वानरसंहिता

अथवा श्री रामचन्द्र जी का; दोनों दशाओं में उनका क्षात्रतेज से भी समन्वित होना प्रकट होता है। क्षात्रतेज की समन्विति भगवान के सभी अवतारों में हुई है।

प्रयाग से काशी और गाजीपुर तक का क्षेत्र प्रायः उन जमींदार-ब्राह्मणों का केन्द्र है जो परंपरा भूम्याधिकारी रहे हैं तथा मूलतः कान्यकुब्ज हैं, अतः इसके अनुसार भी उनके जमींदार वर्गीय ब्राह्मण होने का संकेत मिलता है। स्वामी रामानन्द द्वारा वैरागी सम्प्रदाय का सैनिक ढंग पर संगठन करने, कबीर आदि मुसलमान शिष्य बनाने तथा अयोध्या स्थित संयोगी मुसलमानों[१] को शुद्ध कर हिंदू धर्म में प्रविष्ट करने की बात से भी उनके जमींदार-ब्राह्मण होने की पुष्टि होती है क्योंकि जमींदारवर्गीय ब्राह्मणों को छोड़ दूसरे ब्राह्मण उन दिनों मुसलमानों के सम्पर्क से कोसों दूर रहते थे एवं सैनिक संगठन से उनका कोई प्रयोजन न था। 'श्रीमद् रामानन्द दिग्विजय' के रचयिता के मतानुसार श्री श्री स्वामी रामानन्द का जन्म एक सम्पन्न प्रतिष्ठित अप्रतिग्राही ब्राह्मण परिवार में हुआ था, यथा—

'महाहिरण्य प्रचयादि साध्यांस्तेने वितानान्विततान प्रवित्तः
द्विजाग्र्यवंशाधि विभूषणानां नैसर्गिको ह्येष पराध्यं धर्मः ॥२७॥
न तेऽर्थिनो भूतल राजराजादस्माद् द्विजेंद्राच्च महामनीषात्।
आविष्कृतेच्छा बहुशो निजेच्छंप्रपेदिरे ये न च भूरि रायः ॥२८॥
रा० दि० सर्ग २

और उनके पिता परम प्रतापी थे, जैसा कि उनके अवतार की भविष्यवाणी करते हुए भगवान् कहते हैं—

'तीर्थराजे प्रयागेऽहं ब्राह्मणस्य महौजसः।
सदनेऽवतरिष्यामि श्री पुण्यसदनस्य वै ॥
सुशीला तनयो भूत्वा कुशीलान्वय शालिनाम्।
रामानंदाभिधस्तेषां हनिष्याम्यासुरीं गतिम् ॥
सर्ग १।७९-८०

पूर्वी प्रदेशांतर्गत १५ वीं शती विक्रमी में 'देवल मुनि' या 'देवल तिवारी' नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के होने का पता चलता है। जो सावर्णि गोत्र के थे

४—अयोध्या स्थित जिन हिन्दुओं का सिकन्दर लोदी ने मुसलमान बना दिया था, उनका स्वामी रामानन्द ने पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश कराया।

बिहार में इस वंश-परम्परा के लोग गोत्रानुसार 'सोबरनिया', प्रयाग क्षेत्र में
के निकट ५६ गाँवों का जमीदार रहने के कारण 'छप्पन गाईं' और बलिया
गाजीपुर में बेमूपुर (पटना) से आने के कारण 'वेमूवार' कहलाते हैं। १६ वीं
१७ वीं शती में इस वंश के लोग बेमूपुर परगने के भूम्याधिकारी थे। मुसल
द्वारा आक्रांत होने पर राघव शर्मा और वीर शर्मा नामक दो भाई शाहाब
जिले में डुमरी चले आए और अपने नाना का उत्तराधिकार तथा बगसर के रा
से कई गांवों का अग्रहार प्राप्त किया एवं बलिया जिले के गड़हा परगने
अधिकार जमाया। इस समय उक्त परम्परा के लोग नरहो, सोहाँव, अमां
उजियार, भरौली, बघौना आदि गांवों में निवास करते हैं। इस वंश-स्थान
के देवल मुनि और भविष्य-पुराणोक्त देवल वंश, प्रभाव, स्थान और समय
अभिन्नता पर विचार करने से अभिन्न जान पड़ते हैं और 'पुण्य-सदन' नाम
गुणपरक ज्ञात होता है क्योंकि इस प्रकार के नाम रखने की परिपाटी प्रायः बि
और उत्तर प्रदेश में नहीं पाई जाती तथा १५ वीं शताब्दी में तो व्यक्तियों
नाम हेतु अधिकांश तद्भव और एकाध सरल तत्सम शब्दों का ही प्रयोग हो
था। जैसा कि उस समय की नामावली से ज्ञात होता है।

गो० तुलसीदास ने 'स्पृश्यास्पृश्य' के सम्बन्ध में अपनी रचनाओं में जो
व्यक्त किए हैं और जो उदाहरण उपस्थित किए हैं, उससे भी उनके पुरोहि
वर्गीय ब्राह्मण होने का मेल नहीं बैठता क्योंकि वे स्पृश्यास्पृश्य (छुआछूत)
विशेष ध्यान रखते हैं, परन्तु तुलसीदास ने महर्षि वसिष्ठ द्वारा निषाद को
लगवाया है यथा—

'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरितें दंड प्रनामू।
राम सखा रिषि बरबस भेंटे। जनु महि लुटत सनेह समेटे॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बशिष्ठ सम को जगमाहीं।

और बिना किसी हिचक के 'शबरी' द्वारा भगवान् राम का आतिथ्य करा
है। स्वयं श्री रामचन्द्र जी कहते हैं —

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥

'शबरी' भगवान राम के चरणों से लिपट गई। उसने श्री रामचन्द्र जी के
पखारे और सुन्दर आसन पर बिठाकर कंद मूल सामने रख दिया। (रा०अर०

श्री रामचन्द्र जी ने स्वयं गृद्ध की अंत्येष्टि की। वानर सुग्रीव और रा

विभीषण, जिसे तुलसी काल के मंगोलों की कोटि में रखा जा सकता है[१], को अपनी विशाल भुजाओं द्वारा हृदय से लगा लिये।[२]

इन चित्रों का अंकन करने वाले तुलसी की सामाजिक विचार सरणि स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने ब्राह्मण गुरुद्वारा शुद्र को शिक्षा देने का भी उदाहरण दिया है।[३] इतनी ही नहीं, स्वयं भी श्वपच को गले लगाकर और गो हत्यारे के साथ भोजन कर उन्होंने स्पृश्यास्पृश्य के सम्बन्ध में अपनी उदार भावना को स्पष्ट कर दिया था।[४] शास्त्रानुमोदित होते हुए भी उस काल में भी[५] इस प्रकार का व्यवहार पुरोहित समाज की प्रवृत्ति के पूर्णतया विपरीत था।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं से विदित होता है कि वे कुल परम्परा के अनुसार रीति-रवाज का पालन आवश्यक समझते थे क्योंकि उन्होंने सर्वत्र ही कुलरीति का पालन कराया है जैसा कि विश्वामित्र जी जनक जी से कहते हैं :—

'तदपि जाइ तुम करहु अब, जथा बस व्यवहारु।
बूझि बिप्र, कुलवृद्ध, गुरु वेद विहित आचारु॥ रा० बा० २८६

कुलाचार का निर्वाह जैसे जनकपुर में कराया गया है, वैसे ही अयोध्या में यथा—

'बिप्र बधू कुल वृद्ध बोलाईं। करि कुल रीति सुमंगल गाईं॥
रा० बा० ३२२

और—

'करि कुल रीति वेद विधि राऊ। देखि सबहिं सब भाँति बताऊ॥
सुमिरि राम गुरु आयसु पाई। चले महीपति शंख बजाई॥

---

[१] —विद्यापति कथित मंगोल और तुलसी कथितराक्षस की तुलना कीजिए—
काांच मांसकवहुं कर भोअण। कांद बरि रस लोहित लोअण
मो बंभन बध दोस न मानथि। परपुर जारि बंद कए आनथि॥
(विद्यापति कृत कीर्तिलता पृ० ६)
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्रामपुर आगि लगावहिं॥
(रा० बा० १८३

[२] —भुज बिसाल गहि हृदय लगावा (रा० सु० ४६)

[३] —बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं—रा० उ० १०५

[४] —दे०—तुलसीचरित

[५] —सूत्र काल के ब्राह्मण शुद्रों का पकाया खाते थे, यथा—
'आर्याधिष्ठाता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः।' आपस्तंव सूत्र २।१।२।४

रा० बा० १

परम्परागत कुलाचार का पालन जमीदार ब्राह्मणों की एक विशेषता है सामन्त ब्राह्मण परम्परा में होने के कारण उनके यहाँ कुछ ऐसी व्यवस्था पा जाती है जिससे उनकी परम्परायें टूटने नहीं पातीं एवं उनका पालन अनाव होता चलता है। उनकी परम्पराओं पर उनकी प्रगतिशील विचार धारा ब हुए वातावरण तथा परिवर्तित समय चक्र का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ने पा जैसा कि श्री टी० पी० रसेल स्ट्रेसी ने लिखा है—

"वे (भूमिहार, महिपाल) किसी भी शासन के आश्रित रह कर प्र पालन का भाव रखते थे, परन्तु इसका यह अभिप्रायः नहीं कि वे नई परिस्थि के अनुसार अपने को वदल देतें थे। उनकी परम्परायें इश परिवर्त्तनों से अछू रहती थीं और रीति-रिवाज में उन्होंने कभी भी नए वातावरण को स्वीकार नहीं किया।[1]

जमीदार-ब्राह्मणों की यह विचित्र जातीय विशेषता अर्थात् समयानु प्रगतिवादी विचार धारा का होते हुए भी परम्पराओं का परिपालन गोस्वा जी की विशेषता के रूप में भी प्रकट है, जो विचारणीय है।

मुगलकाल में राजपूत राजवंशों और भूमिहार ब्राह्मणों के यहां जिस प्रका घोर परदा-प्रथा का प्रचलन था, उस प्रकार अन्य लोगों में नहीं। इनके य वृद्धाओं तथा बालिकाओं का भी परदे से बाहर निकलना प्रतिष्ठा के विरुद्ध मा जाता था इसलिए वे लोग किसी भी दशा में अपनी स्त्रियों के परदे से बाहर न जाने देना चाहते थे। गोस्वामी तुलसीदास का निम्नांकित दोहा उनकी इ जातिय भावना को प्रकट कर रहा है, यथा—

"सीस उघारन किन कह्यो, बरजि रहे प्रिय लोग।
घरहीं सती कहावतीं, जरतीं नाह वियोग ॥ दो० २५४

'सीस (माथा) उघारना' एक भोजपुरी मुहावरा है, जिस का अर्थ है 'परदे से बाहर जाना। इसके अतिरिक्त सती प्रथा की रुढ़ि के विरुद्ध उपर्यु उपहास भी उनके पुरोहितवर्गीय ब्राह्मण होने का निषेध करता है। इससे उनक सुधारवादी मनोवृत्ति, प्रगतिवादी स्वभाव और उदार भावना का पता चल

---

[1] —दि हिस्ट्री आफ दि मुह्याल (कैप्टेन ए० एन० बालीकृत) भुमिका पृ० १४

है। इस दोहे के बाद ही तुलसीदास जी की पत्नी द्वारा कथित निम्नांकित दोहा संगृहीत है—

'खरिया खरी कपूर सँग उचित न पियतिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि, कै विमल बिवेक बिराग॥ दो०२५६

इस आधार पर ऐसा लगता है कि ये दोनों दोहे उक्त दम्पति के परस्पर कथोपकथन स्वरूप हैं एवं 'कै खरिया मोंहि मलि' कहने से भी तुलसीदास जी की पत्नी के 'परदा-नशीन' होने की झलक मिलती है।

श्री रामचन्द्र जी के वन जाने पर अयोध्या की दशा का चित्र खींचते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥'

यहाँ 'कालरात्रि' का अर्थ 'प्रलय की रात्रि' करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि वह तो अदृश्य है। उसका कोई देखने वाला नहीं होता, इसलिए 'लागति' क्रिया का सम्बन्ध उससे नहीं किया जा सकता। बिहार में भूमिहार ब्राह्मणों के यहाँ—विशेष कर शाहाबाद और सारन जिलों के मनेरिया और एक सरिया ब्राह्मणों के यहाँ—कालरात्रि की पूजा का विशेष रूप से प्रचार है। यह पूजा भादों की अमावस्या में आधीरात को होती है, इसलिए उस रात्रि को 'कालरात्रि' कहते हैं। यह रात्रि सर्वाधिक अंधकार पूर्ण और भयानक मानी जाती है, अस्तु अधिक सम्भव है कि तुलसीदास जी का अभिप्राय इसी कालरात्रि से हो और ऐसी स्थिति में उनका सामान्यतया भूमिहार ब्राह्मण समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होना अथवा उस समाज का ही होना प्रकट होता है।

भूमिहार ब्राह्मणों के यहां गाए जाने वाले गीतों[१] में जिस शील-शीष्टाचार का दर्शन होता है, उसकी झलक प्रायः गोस्वामी जी की रचनाओं में भी मिलती है। एक उदाहरण दिया जा रहा है—

क—'ए बहुआ, आवतारी गोतिनी हमार उतरि भुइयां बइठ निहुरि गोड़वा लागहु।' 'ए सासु, एक त हम पान नियर पातर, सोपारी नियर ढुरहुर। सासु दूसरे हम पिया के सोहागिन रानीरउताइन। सासु तोसरे हम बेटा

---

[१]—भूमिहार ब्राह्मणों के यहां गाए जाने वाले गीतों की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जिनसे उनकी पहचान होती है जैसा कि 'मानसमयूख' (रामनवमी अंक १९६५ पृ० ४८२) के सम्पादकीय नोट से भी व्यक्त है यथा—'यहां उद्धृत गीतों के पाठ भूमिहारी जान पड़ते हैं (साधारण) ब्राह्मण समाज के पाठ से उनमें कुछ अन्तर है।'

जनमवलीं त कइसे भुइयाँ बइठीं निहुरि गोड़वा लागीं।' 'वहुआ अति सुकुआरी त अँगया के पातर।' 'वहुआ हमहूंत बेटा जनम उतरि भुइयां बइठोले, निहुरि पैया परीले।' वहुआ, आवतारी अदरइतिन गरब जनि बोल्हु।'

अर्थात् अपने कुल की किसी आदरणीया नारी को आते देखकर अपनी पुत्रवधू से कहा—हे बहू ! हमारी गोत्रिणी आ रही हैं। तुम पलं भूमि पर बैठ जाओ और उनके पैर छुकर प्रणाम करो।'

पुत्रवधु ने कहा—हे सास ! पहले तो मैं पान जैसी तन्वंगी और जैसी सुगठित शरीर वाली हूँ, दूसरे अपने पति की प्यारी, रानी-रौतानी हूं तीसरे बात यह है कि पुत्रवती होने से मेरा मान बढ़ गया है। भला भूमि पर उतर सकती हूं और किसी के आगे झूककर नमस्कार कर सकती

सास ने उत्तर दिया—'हे बहू ! मैं भी तो अत्यन्त सुकुमार और शरीर वाली हूँ तथा मैंने भी श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न किया है; परन्तु देखो समक्ष भूमि पर उतर जाती हूं और उन्हें झुककर प्रणाम करती हूं। ये रही हैं, हमारी आदरणीया हैं, अस्तु गर्व को बातें न करो :'

ख—'पलंग पीठि तजि गोद हिंडोरा। सियन दीन्ह पग अवनिक कठो

जद्दपि गृह सेवक सेवकिनी। सब प्रकार सेवा विधि गुनी ॥
तद्दपि सिय परिचर्जा करई। सास-ससुर आयसु अनुसरई ॥"

—रा०

कान्यकुब्ज-प्रदेश के वे ब्राह्मण जो मुसल्मानों का दवाव पड़ने के अपनी सांस्कृतिक मर्यादा और महत्त्व की रक्षा के लिए कान्यकुब्ज प्रदेश काशी के आस-पास और उसके पूर्वीय प्रदेश में जा बसे।[1] 'अग्रहार' 'भूमिहार' (जागीर) प्राप्त करने के कारण इनकी संज्ञा 'भूमिहार' हुई।' मदंडिस्वामी सहजानन्द सरस्वती ने लिखा है कि 'उन्हीं कान्यकुब्जों में से

१—मदारादि पुराख्यस्य भूमिहारा द्विजास्तुये।
तेम्यश्च यवनेंद्रैश्च महद् युद्धमभूत्पुरा ॥
तेम्यश्च ब्राह्मणा सर्वे परास्ता अभवंस्ततः ॥ का० वं० पृ०
इस युद्ध में बहुत से ब्राह्मण मारे गए और जो बचे बिहार और
उत्तर प्रदेश में जाकर वस गए—चतुर्मुख श्रावण सं० २०२१

२—नदिया पंडित सभा के अध्यक्ष पं० योगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य
कास्ट्स ऐंड सेक्स' पृ० १२४-२५

व देश के नामानुसार न कहे जा सकने के कारण भूमि के ऊपर अपने बल से या न्य प्रकार से अधिकार कर लेने और विशेष रूप से कृष्यादि कराने के कारण ोरों से विलक्षण होने से 'भूमिहार' या 'भुइँहार' कहलाने लगा और जितने वान या श्रीमान् और प्रतिष्ठित राजसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण एक आचार वाले ं, वे इसी नाम से कहे जाने लगे।[1]

ये ब्राह्मण परम्परया रामोपासक थे तथा साथ-साथ हनुमत्पूजा भी करते थे योंकि इन ब्राह्मणों की स्थापना श्री रामचंद्र जी द्वारा की गई थी और उन्होंने नकी रक्षा में श्री हनुमानजी को नियुक्त किया था।[2] यही कारण है कि श्री हनुमानजी का स्थान भूमिहार ब्राह्मणों के यहाँ प्रायः घर-घर में पाया जाता है और हनुमानजी की ध्वजा लगाई जाती है। इस प्रकार श्री स्वामी रामानंद र 'राम भक्ति' एवं हनुमदोपासना का प्रभाव परम्परागत था। यही कारण है कि उन्होंने रामानुज-सम्प्रदाय से अपना सम्प्रदाय अलग करने पर 'विष्णु के स्थान र 'राम' की उपासना का अवलम्बन किया और उसके साथ-साथ 'हनुमत्पूजा' को अनिवार्य ठहराया। फलस्वरूप भूमिहार ब्राह्मण केन्द्रों में ही सर्वप्रथम रामानन्दी सम्प्रदाय के मठ स्थापित हुए।

इसके विपरीत उन दिनों पूर्वीय प्रदेश के मैथिल, सरयूपारी शाकद्वीपी आदि ब्राह्मणों पर शाक्त, शैव, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था।[3] मैथिलों और शाक-द्वीपियों पर आज भी शाक्त मत का काफी प्रभाव देखा जाता

---

[1] १—ब्रह्मर्षि वंश विस्तर पृ० १२५

[2] २—धर्मारण्यं समासाद्य ब्राह्मणनन्व पूजयेत ॥३०॥
शासनं द्विजवर्येभ्यो दत्वा ग्रामान्वहूं स्तया ॥३१॥
—स्कं० पु० ध० सं० अ० १४

[3] ३—'उत्तर भारत में मुसलमानों का शासन था और गोरखपंथी सिद्धों और नाथ साधुओं का प्रभाव भी कुछ कम नहीं था। संभव है युग की इस प्रवृत्ति के अनुरूप स्वामी रामानंद ने वैष्णवों के आचार-विचारों में कुछ उदारता ला दी हो और इसी कारण रामानुजी सम्प्रदाय के कट्टर वैष्णवों से उन्हें पृथक सम्प्रदाय बनाने की आवश्यकता जान पड़ी हो।
—स्वर्गीय डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल-रामानंद की हिंदी रचनाएँ पृ० ४६

है। सरयूपारियों की कई विशिष्ट वंश परम्पराओं के लोग अपने नामांत में नाथ, पति, मणि और 'धर' शब्द जोड़ते हैं जिससे उक्त वंश-परम्पराओं का 'नाथ' सिद्ध आदि सम्प्रदाओं से पूर्वकालिक सम्बन्ध प्रकट होता है। इनमें कुछ थोड़े से वैदिक कर्मकांडी भी थे, जिनकी परम्परा में आधुनिक पँतिहा हैं किन्तु इनकी वृत्ति पुरोहिती और गुरुआई थी, जिसे भूमिहार, ब्राह्मण निम्न-वृत्ति मानते थे। अतः अपने विशिष्ट वैदिक आचार-व्यवहार, रीति-नीति और चाल-ढाल के कारण एवं अप्रतिग्राही तथा भूम्याधिकारी (सामंत) होने से उपर्युक्त भूमिहार ब्राह्मणों का एक अलग दल ही संगठित हो गया। इनमें पूर्वीय प्रदेश के वे वैदिक भूम्याधिकारी ब्राह्मण जिन्होंने प्रतिग्रह का त्याग कर दिया था, जैसे सोहगौरिया, [शांडिल्य] सररिया [भारद्वाज]; गाना मिश्र [वत्स], गर्ग, गौतम आदि भी मिल गये।

यों तो सभी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की मर्यादा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है परन्तु उनमें भी जो शीर्ष-स्थानीय थे, उन्हीं पर मुसलमान आक्रमणकारियों का दबाव पड़ा और उन्हें अपनी संस्कृति, विशिष्ट मर्यादा और अधिकारों की रक्षा के लिए पूर्वीय प्रदेश की शरण लेनी पड़ी। अपनी कुलीनता और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए ही उन्होंने अपना वर्ग अन्य ब्राह्मणों से अलग कर लिया। ऊपर बतलाए गए थोड़े से जो अन्य ब्राह्मण इनमें आ मिले, वे भी कुल परम्परा, वृत्त-व्यवसाय और गुण-गरिमा में अपने को सर्वोपरि मानते थे। अतः यह वर्ग अन्य ब्राह्मणों के साथ खान-पान तथा शादी-ब्याह करने में अपनी हेंठी समझने लगा।

इस वर्ग की अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा वृद्धि होने से दूसरे ब्राह्मण स्वभावतः उससे आंतरिक द्वेष रखने लगे क्योंकि मन में आत्म-हीनता का भाव उत्पन्न होने पर ही मनुष्य दूसरों से घृणा और द्वेष करने लगता है तथा जिसकी तुलना में आत्महीनता की ग्रंथि उत्पन्न होती है उसकी निंदा करना और उसके दिल दुखाने का प्रयत्न करता है।[1] एवं अपने को बड़ा बताने के लिए दंभ-पाखंड और असामाजिकता का आश्रय लेता है अस्तु यह द्वेष दो रूपों में प्रकट हुआ। प्रथम यह कि भूमिहार ब्राह्मणों के विरुद्ध समाज में घृणा

१—दे० श्री लालजी राम शुक्लकृत—शिक्षा मनोविज्ञान और शिक्षा के सिद्धांत पृ० १५२

भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया और इसके लिए उनकी उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में अट्टपट्ट अफवाह फैलाई गई; जैसा कि श्रोत्रिय पं० छोटेलाल शर्मा [भूतपूर्व अध्यक्ष गौड़ महासभा] ने 'ब्राह्मण निर्णय' पृ० ९५ पर लिखा है—

.इस द्वेष ने बड़े-बड़े कुल और जाति की वंशपरम्परा का नाश कर डाला तथा उसकी महत्ता को बट्टा लगा दिया क्योंकि वर्तमान में भूमिहार ब्राह्मणों के भविष्य में जो गढ़ंत लोगों ने गढ़ी, उसको सुनकर निष्पक्ष न्यायशील मनुष्य का हृदय कंपायमान हो जाता है और भारतवासियों की परस्पर द्वेष लीला को देखकर लिखते हुए रोना आता है.।"

दूसरी प्रतिक्रिया दंभ के रूप में प्रकट हुई। पुरोहित वर्गीय ब्राह्मण अपनी विशेषता प्रकट करते हुए आत्म प्रदर्शनार्थी दंभका आश्रय लेने लगे. जिसकी खिल्ली उड़ाते हुए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि क्षमेंद्र ने कहा है:—

स्पर्शं परिहरन् याति गौड़ः कक्षा कृतांचलः।
कुंचितो नैव पार्श्वेन दंभभार. भरादिव॥

देशोपदेश

अर्थात् दंभ के भार से बोझिल गौड़ (गौड़ के अन्तर्गत पंच गौड़ अर्थात् सभी पुरोहित वर्गीय ब्राह्मणों का समावेश है) अपने कपड़ों को समेट कर और सिकुड़ कर मार्ग में चलता है ताकि किसी से उसका स्पर्श न हो जाय (यद्यपि वह मूर्ख और असंयमी है)।

इसी पर व्यंग्य करते हुए तुलसीदासजी भी कहते हैं—"जो कर दम्भ सो बड़ आचारी" एवं उन्हीं को लक्ष्यकर उनका यह कथन भी है—

हम हमार आचार बड़ भूरि भार धरि सीस।
हठि सठ परबस परत जिमि, कीर, कोसकृमि कीस॥

दो० २४३

पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण यद्यपि इन आगंतुक भूमिहार ब्राह्मणों के महत्व से द्वेष रखते थे, परन्तु सुकुले योजयेत् कन्या (चा० ३।२) के अनुसार वे नपुत्री पुत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध करने के लिए बहुत इच्छुक भी रहते थे। यद्यपि भूमिहार ब्राह्मण इस प्रकार के सम्बन्ध को अच्छा नहीं समझते थे और संकोच

पूर्वक ही स्वीकार करते थे।[1] तुलसीदास के 'काहु की वेटी से वेटा न व्याहव कहने में इसी की ओर संकेत है। आज भी संघि-स्थलों के कुलीन सरयूपारी, कान्यकुब्ज और मैथिल ब्राह्मण अपनी पुत्रियों का व्याह भूमिहार ब्राह्मणों के

---

[1] १—धर्मारण्य क्षेत्र (कान्यकुब्ज) के जिन ब्राह्मणों ने वेदत्रयी पर विश्वास रखते हुए भी जैन-बौद्ध शास्त्रों को मान्य किया, वे 'चातुर्विद्य' कहलाए किन्तु जिन्होंने राज भय और प्रलोभन से अप्रभावित रहकर दृढ़ता पूर्वक केवल वेदत्रयी को ही मान्य माना वे 'त्रैविद्य' कहलाए। 'त्रैविद्य' यद्यपि संख्या में कम (छठाँ भाग) थे किंतु उनका महत्व 'चतुर्विद्यों' की अपेक्षा समाज में कहीं अधिक ऊँचा था और भूस्वामित्व, भी बढ़ा चढ़ा था। इसीसे 'चतुर्विद्यों' के साथ 'त्रैविद्यों' का प्राय: विवाह सम्बन्ध नहीं होता था, जैसा कि स्कंदपुराण के धर्मारण्य महात्म्य अ० ३८ में कहा गया है—'परस्परं न विवाहश्चातुर्विद्य त्रिविद्ययोः।'

बहुधा भूमिहार ब्राह्मण त्रैविद्य-ब्राह्मणों की परम्परा में हैं जैसा कि इनके भूमिहार विशेषण से भी व्यक्त है क्योंकि कान्यकुब्ज प्रदेश में विशेष भूम्याधिकार उन्हीं को प्राप्त हुआ जो त्रैविद्य थे। (देखिए—स्कं० पु० ध० महा० अ० ३८) और राजपूतकाल में भी वैदिक होने के कारण प्रायः इसी परम्परा के ब्राह्मणों को अग्रहार दिए गए। (देखिए—विकास की एक धारा भाग २ अ० ३) ताम्रपत्रों, वंशावलियों एवं डा० योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि लेखकों के कथनानुसार भी भूमिहार ब्राह्मण अग्रहार भोगी सिद्ध होते हैं किंतु इसके विपरीत प्रायः सरयूपारी ब्राह्मण (पंतिहा ब्राह्मणों को छोड़कर) चातुर्विद्य कोटि के ब्राह्मणों की परम्परा में थे क्योंकि उन्होंने समयानुसार बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। [दे०—सरवरिया ब्रा० प्र० पृ० ३०] पंतिहों के यहाँ भी भूमिहार ब्राह्मणों का विवाह सम्बन्ध होने में यह कठिनाई थी कि वे प्रतिग्राही [पुरोहित] थे किंतु भूमिहार ब्राह्मण प्रतिग्रह को त्याज्य समझते थे। फिर भी जहाँ भूमिहार ब्राह्मण बहुत कम संख्या में निवास करते थे, वहाँ विवश होकर वे अपने लड़कों का व्याह जमींदार कोटि के कुलीन सरयूपारियों के यहाँ कुछ हिचक के साथ कर लेते थे एवं उसी प्रकार अब भी करते आ रहे हैं।

नहीं करते हैं।[1] इस प्रकार के ४०० चार सौ संबंधों की तालिका 'सरयूपारीण संहिता में दी गई है और इसका समर्थन १४ वीं 'सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा' [कटनी, मध्यप्रदेश] के अध्यक्ष के भाषण से होता है। इसी प्रकार की सूचियाँ ब्रह्मर्षि-वंश विस्तर पृ० १६३-२०२, 'दशविध ब्राह्मण संहिता' पृ० २८१-९६ आदि ग्र'थों में द्रष्टव्य हैं। जुझौतिया ब्राह्मण इतिहास के लेखक पं० गोरेलाल तिवारी पृ० २०९-१० पर लिखते हैं कि यह एक प्रकट सत्य है कि मैथिलों की बहुत सी कन्यायें भूमिहार ब्राह्मण परिवार में व्याही गई हैं। इसका समर्थन मुजफ्फरपुर गजेटियर जनगणना रिपोर्ट १८६५ भाग १ पृ० १९० और मिथिला मिहिर [३ जून १९२२] से भी होता है। ऐसा ही कथन सम्पादकाचार्य पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी [भारत मित्र दि० २८-१-१९१६] का है तथा एक मैथिल परमहंसकृत ब्राह्मण संबंध में उल्लिखित हैं। भूमिहार ब्राह्मण और कान्यकुब्जों का सम्बन्ध भी कुछ इसी प्रकार का है [दे०—श्री इलियट कृत सप्लीमेंटल ग्लासरी पृ० ९१]।

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म ऐसे ही जमीदार ब्राह्मण वंश में हुआ था तथा उनके द्वारा श्री रामचरित मानस की रचना और श्री रामचन्द्रजी की भक्ति के प्रचार से कम पढ़े-लिखे तथा कर्म कांड द्वारा जीविका चलाने वाले पुरोहित वर्गीय ब्राह्मणों को एक घोर धक्का भी लगा था। अस्तु वे जहाँ अन्य जमींदार ब्राह्मणों की निंदा आत्म-संतोष के लिए परोक्ष रूप से करते थे; वहाँ वे तुलसीदास के जातीय आचार-विचार पर खुलकर आक्षेप करने लगे। इन्हीं मिथ्या आक्षेपों से झुंझलाकर तुलसीदास ने इनका उत्तर दिया था—

धूत कहौं अवधूत कहौ; रजपूत कहौ; जोलहा कहौ कोऊ।

---

[1] —जिस प्रकार मैथिल-ब्राह्मणों का एक विशिष्ट वर्ग दोगमिया कहलाता है और भूमिहार ब्राह्मणों को अपनी पुत्रियाँ देता है; उसी प्रकार बस्ती गोरखपुर के सरयूपारी ब्राह्मणों का एक विशिष्ट वर्ग बड़हरिया [बड़ घर] का पांडेय; मिश्र तथा शुक्ल कहलाता है और भूमिहार ब्राह्मणों को अपनी पुत्रियाँ देता है ! इस प्रकार के सम्बन्ध इलाहाबाद; प्रतापगढ़ आदि जिलों में और वंग प्रदेश में जहाँ भूमिहार ब्राह्मण संख्या में कम हैं; साधारणतया होते हैं। इक्के-दुक्के बलिया, शाहाबाद; सारन देवरिया में भी होते आ रहे हैं। ये सम्बन्ध कतिपय प्रसिद्ध घरानों में हुए हैं; जिनसे यह लेखक अभिज्ञ है। इस प्रकार की लम्बी सूची दी जा सकती है [देखिए—अध्याय ६ में मातृकुल की टिप्पणी]

काहु की बेटी से बेटा न ब्याहब; काहु की जाति बिगार न सेऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछुओऊ।
मांगि के खैबै, मसीत को सोइवै, लेबे को एक देबै को दोऊ॥

इस छन्द के अंतिम चरण द्वारा तुलसीदास ने स्पष्ट कर दिया है कि-मैं तो राम का सरनाम गुलाम हूँ। मुझे जाति-पाँति, छुआछूत नीच-ऊँच और हिंदू मुसलमान के विभेद से क्या मतलब ? राम के नाते मेरे लिए सभी समान हैं। बिना विभेद के सबसे मांग कर खाना है तथा मस्जिद में भी सो रहना है। मेरे लिए मंदिर मस्जिद का अंतर नहीं।

तुलसीदास द्वारा ऐसा ही उत्तर देने की बात गौतम चंद्रिका में भी है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि छुआछूत तक ही आचार-विचार की सीमा मानने वाले पुरोहित ही उनके निंदक थे. पुरोहित वर्ग स्वभावतः अनुदार होता है।[1] निन्दकों द्वारा तुलसीदास को धूत, अवधूत, राजपूत और जोल्हा कहनेसे तुलसीदास के जमींदार ब्राह्मण होने का संकेत मिलता है क्योंकि धूत विशेषण एक सामन्ती विशेषता है। यह विशेषण यूरोप से एशिया तक के सामन्तों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध रहा है एवं भूमिहार ब्राह्मणों की भूमिहारी [कूटनीतिक चातुर्य) प्रसिद्ध ही है। भोजपुरी में 'अपधुत' जो अवधूत का अपभ्रंश है, ऐसे ऐश्वर्यशाली तेजस्वी या मनस्वी पुरुष के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो निबंध और निर्भीक होकर काय करता है। अवधुत के इस लांक्षणिक अर्थ को समझने के लिए स्वामी रामानंद के अवधुत सम्प्रदाय जिसे वैरागी सम्प्रदाय भी कहते हैं—के संघटनात्मक रहस्य को समझना आवश्यक है। अवधूत या वैरांगी संप्रदाय अपने समय का एक प्रगतिशील और सुधारवादी सम्प्रदाय था, जिसने निबंध होकर हानिकर अंध परम्परा तथा रूढ़ियों का विरोध किया इसलिए रूढ़िवादी लोग जिनमें अधिकतर पुरोहित वर्ग के लोग सम्मिलित थे, अवधू-सम्प्रदाय के प्रति व्यंग्य करते थे। जमींदार वर्ग के ब्राह्मणों का राजसी आचार व्यवहार भूम्याधिकारी होने के कारण बहुत कुछ राजपूतों से मिलता-जुलता है एवं वे मुगलकाल में भी राजसी ठाटबाट से रहते थे, इसलिए उनके प्रति ईर्ष्यालु और द्वेषी समुदाय द्वारा राजपूत कहकर उपहास करना स्वाभाविक ही है। यही बात जोलहा कहने के सम्बन्ध में भी है क्योंकि जमींदार ब्राह्मणों का संबंध विशेषकर मुसल्मानी दरबारों से था। भोजपुरी प्रदेश में आज भी सामान्यरूप से सभी मुसल्मानों को जोलहा कह दिया करते हैं।

---

[1] —पुरोहिती स्वभावतः निर्दय तथा हृदयहीन वस्तु है।
श्री स्वामी विवेकानंद—शिक्षा संस्कृति और समाज पृ० १०९

गोस्वामी तुलसीदास का रामानन्दी-परम्परा होना भी उनका जमीदार ब्राह्मण होना सूचित करता है क्योंकि ऊपर बताया गया है कि पुरोहित वर्ग का रामानन्दी सम्प्रदाय से मेल नहीं खाता। पुरोहित वर्ग की भावनाएँ प्रगतिमूलक नहीं होतीं और न वह सुधारवादी होता है, परन्तु स्वामी रामानन्द सुधारवादी थे जैसा कि डा० राधाकमल मुखर्जी लिखते हैं—

"रामानन्द को भारतीय इतिहास और संस्कृति के महानतम व्यक्तियों में से एक समझना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी के अन्ततक के उत्तर भारत के अधिकांश धार्मिक आंदोलनों का उद्गम एक प्रकार से रामानन्द ही थे और उन्हीं के कारण भारत का जन-सामान्य विभिन्न मतों का अनुयायी बन गया। तमिलसंतों की रहस्यवादी भक्ति, विशिष्टाद्वैत का प्रपत्ति सिद्धांत और ईश्वर का आसन्न मुक्ति प्रेम और महत्ता पर विश्वास उन्होंने दक्षिण से ग्रहण किया किन्तु उन्होंने दक्षिण की जाति रुढ़ि-वादिता के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने मीमांसासम्प्रदाय तथा वैदिक जीवन-पद्धति के व्यर्थ रुढ़ि पालन को अस्वीकार किया।[1]

शैव, वैष्णव आदि सभी भक्ति सम्प्रदायों में वैदिक कर्मकांड को महत्व नहीं दिया गया, इसलिए पुरोहित वर्ग को इन सम्प्रदायों के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। स्वामी रामानन्द ने तो भक्ति मार्ग में जाति-पाँति का भी विचार न किया, इसलिये कर्मकांड के आधार पर जीनेवाले और जाति-पाँति एवं छुआ-छूत के बल पर प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों को उनके प्रति क्यों कर रुचि होती? जब वे जातिपांति और छुआछूत का कट्टरता के साथ व्यवहार करने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय में भी कम ही सम्मिलित होते थे तो रामानंदी सम्प्रदाय में उनके सम्मिलित होने का कहाँ प्रश्न उठता है?

उससे तो उनका किसी प्रकार मेल ही नहीं बैठता था और वे उसके घोर विरोधी थे।

तुलसीदास ने उस त्रिकट युग में भी जो स्थान-स्थान पर हनुमत् विग्रह स्थापित कराए' रामदल और महाबीरदल की स्थापना की, गाँव-गाँव में रामलीला का प्रचार किया और अखाड़े खोले उससे उनकी राजनीतिक चतुरता का पता चलता है। उनकी इस सूझ से हिन्दुओं की शक्ति बढ़ी और हिन्दू राष्ट्र का संगठन हुआ। तुलसी के 'राम' मन्त्र ने विघटित होती हुई हिन्दू जाति को एक सूत्र में बाँध दिया।

पहले कहा जा चुका है कि स्वामी रामानद जमींदार ब्राह्मण थे और उनकी

१—भारत की संस्कृति और कला पृ० २८५

परम्परा में जमीदार-ब्राह्मणों का ही बाहुल्य रहा। इसी के फल-स्वरूप रामानं
सम्प्रदाय का संगठन सैनिक-व्यवस्था के अनुसार किया गया तथा वैरागी-
अस्त्र-शस्त्र धारण करने लगे। अपने पथ-प्रदर्शक साधुओं को वीर-वेष में देख
समाज का भी उत्साह बढ़ा। उसका साहस और स्वाभिमान झंकृत हो
कुंठा दूर हुई और नव चेतना नई स्फूर्ति के ताल-स्वर में नूतन जागृति ना
उठी जिसे तुलसीदास की क्रिया शीलता ने स्थाई रूप से अमर बना दिया।

आज भी रामानंदी-सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र अयोध्या स्थित सूत्रधा
साधुओं में 'नब्बे प्रतिशत' भूमिहार वर्ग के ही ब्राह्मण हैं तथा शेष दसवें भाग
ही अन्य सभी प्रकार के ब्राह्मण तथा क्षत्रिय हैं जैसा कि अखिल-भारतीय-वि
महामण्डल' के महामन्त्री श्री ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्य जी के निम्नांकित
से प्रकट है—

"अयोध्या तो श्री रामानंद सम्प्रदाय की राजधानी मानी जाती है।
× × अयोध्या में निवास करने वाले १० हजार साधुओं में ९ हजार साधु
गैर सूत्रधारी (बिना जनेऊ वाले) वर्ग के होंगे। एक हजार की सूत्रधारी स
में ९ सौ की संख्या भूमिहार ब्राह्मणों की होगी। अवशिष्ट एक सौ सूत्रधारि
में ९० प्रतिशत गैर भूमिहार ब्राह्मण होंगे और दस प्रतिशत क्षत्रिय होंगे। × ×
भूमिहार ब्राह्मण अपने जनों को देकर श्री रामानंद सम्प्रदाय को आबाद कि
हुए हैं।

—विरक्त (साप्ताहिक) दि० २३-८-१९६६ पृ० ४ कालम २

प्रायः यही स्थिति बिहार की भी है। यहाँ के लगभग ९० प्रतिशत
रामानन्दी मठों से मठाधीश परम्परा से भूमिहार ब्राह्मण वर्ग के ही हैं
उनकी वृत्ति भी प्रायः भूमिहार-ब्राह्मण भूम्याधिकारियों द्वारा दी हुई है।
ग्रन्थ के लेखक ने सारन जिले के रामानंदी मठों के सम्बन्ध में जो जाँच-पड़ता
की, उससे इस कथन का विशेष रूप से समर्थन होता है। केवल दो एक
स्थानों के ही मठस्वामी अन्यवर्ग के मिले, शेष प्रायः सभी मुख्य स्थान भूमिह
ब्राह्मण विरक्तों के अधिकार में एवं उनके द्वारा संस्थापित हैं, जैसे—को
नरहरपुर, परसा, पियरौटा, मोथहा, रामपुर, लहेजो, कोइलादेवा, सले
इजरानबाद, सम्मुआपुर, कुहैला, रामपुरवा, सिरसियाँ, पानापुर, माधोपु
चैनपुर—पियरा, बहुआरा; खैरनपुर, सरसैयां, भटकाई, माघर, हरपुर गो
कोठी, डुमरहर, अमरपुर केंवटलिया आदि। अन्य बहुत से मठों में जहां
वर्ग के मठाधीश हैं, पहले भूमिहार ब्राह्मण मठाधीश वहां भी थे।

दरभंगा जिले की एक पुरानी भूमिहार ब्राह्मण बस्ती का नाम 'रा
अयोध्या' है। रामपुर रामगढ़, श्रीरामपुर, रामचन्द्रपुर नामक स्थान तो भू

हार ब्राह्मण केन्द्रों में सर्वत्र भरे पड़े हैं। इन ब्राह्मणों के कई उपवर्गों के नाम तक 'राम' से सम्बद्ध हैं जैसे—रमैया और रामसरिया भूमिहार ब्राह्मणों के केन्द्र बिहार के एक श्रेष्ठतम धान का नाम 'राम-कजरा' है। यहां भिंडी को 'रामतरोई' कहते हैं और बेसन से बना हुआ एक प्रकार का व्यंजन रामसालन कहलाता है तथा इधर की अनेक जातियाँ अपने नाम के साथ उपाधि रूप में 'राम' शब्द का प्रयोग करती हैं।

श्री रामानन्द सम्प्रदाय में धूम्रपान का जो व्यापक प्रचार देखा जाता है, उसका कारण भी उसमें भूमिहार-ब्राह्मणों की प्रधानता ही है क्योंकि वे प्रायः धूम्रपान करते हैं; जबकि सरयूपारी ब्राह्मणों में उसका पूर्णतः निषेध है। वैरागी-सम्प्रदाय में तपस्या को जो महत्व प्राप्त है, वह निवृत्ति मार्गी (अप्रतिग्राही) ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार है क्योंकि प्रवृत्ति मार्गी (पुरोहित) ब्राह्मण तपस्या की अपेक्षा कर्मकांड को अधिक महत्व देते थे।

भाषा और कथन-शैली—

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा सम्बन्धी विशेषता के सम्बन्ध में पं० श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है कि—"तुलसीदास तत्कालीन राजभाषा जानते थे और अरबी-फारसी के बहुत से शब्द उनके घर में ऐसा घर कर गये थे कि उनके प्रयोग में उनको कुछ भी हिचकिचाहट नहीं थी।"

"पर अरबी फारसी के शब्द उन्होंने पूर्वी हिन्दी से नहीं चुने, यह हम संदेह रहित होकर कह सकते हैं क्योंकि अरबी-फारसी के शब्द उनकी मातृभाषा द्वारा उनको न मिले होते तो वे कदापि मलेच्छ शब्दों को देवताओं के पवित्र मुख में रखने की धृष्टता न करते।"[1]

तुलसी काल में पुरोहित-वर्ग की भाषा सम्बन्धी नीति यह थी—

"न पठेत् यावनी भाषां प्राण कंठगतैरपिः।"

इसलिए वे लोग न अरबी-फारसी पढ़ते थे और न अरबी-फारसी के शब्दों का उच्चारण ही करते थे। यहाँ तक कि जनभाषा में रचना करने में भी वे अपनी हेठी समझते थे तथा प्रायः उनकी बोल-चाल की भाषा भी संस्कृत निष्ठ होती थी। इसके विपरीत उन दिनों जमींदार-वर्ग के ब्राह्मणों को मुसल्मान

---

[1]—तुलसीदास और उनका काव्य पृ० ६५-६६, ६७

शासकों के सम्पर्क में रहने के कारण तत्कालीन राजभाषा फारसी पढ़नी पड़ती थी।[1] अतः उनकी बोल-चाल की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का भी मिश्रण हो जाता था। भाषा सम्बन्धी उक्त गुण तुलसीदासजी की रचनाओं में भी पाया जाता है। यद्यपि उन्होंने अपनी भाषा को सुसंस्कृत और संस्कृतनिष्ठ बनाने का विशेष ध्यान रखा है, फिर भी जहाँ चलती भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ अरबी-फारसी के शब्द निर्बाध रूप से व्यवहृत हुए हैं। कहीं-कहीं तो पूरे वाक्य और वाक्यांश तक फारसी शब्दों से परिपूर्ण हैं, यथा—

"जाहिर जहान में जमानो एक भाँति भयो (क० उ० ७६)

कियो कालिकाल कुलि खलल खलक ही (क० उ०६८) आदि।

इसी प्रकार उन्होंने फारसी मुहावरों का भी प्रयोग किया है यथा—दादि देना [क० उ० १७७], बूझिए न खाको (वि० प०), परदा न होना (नारद सों परदा न—क० उ०), हुसियार होना (ह० बा० १६)

गोस्वामीजी द्वारा प्रयुक्त अरबी-फारसी शब्दों की सूची नीचे दी जा रही है। इसके अवलोकन से विदित होगा कि इसमें बहुत से शब्द बोल-चाल के नहीं हैं जिससे यह कहा जा सके कि सर्व साधारण की भाषा से लिए गए हैं :—

अँदेसो, असबाब, उमरदराज, उसीले, कमान, कलई, कसमसत, कहरी, करामात, कागर, काहिल, किसब, कुलह, कुलि, खबरि, खलक, खलल, खवास, खसम, खाक, खाम, खास, खासा, खासी, खुमर, खूब, ख्याल, गनी, गनीम, गम, गरीब, गरीबनिवाज, गरजी, गरद, गरदनि गरूर, गुदरत, गुमान, गुलाम, जबारू, जमाती, जमानो, जरकसी, जहर, जहान, जाहिर, जेरो, जोर, तकिया, तरकसी, तुरक, ताग, ताज, ताजी, दगा, दगाबाज, दगो (दाग), दरजी, दरबार, दरिया, दादि, दिरमानी, दिल, दुनी, देवान, निसानी, नकीब, पलीता, परदा, पाइमाल, फहम, फौज, बकसीस बचा (बच्चा), बजारी, बलाइ; बहरी, बाग, बागवान, बाज, बाजी, बाजे बाजे, बिलंद, बिनाकी, बैरख, मरद, मना, मामिला, मालुम, मिलिक, मिसकीन रवा, रहम, रुख, राजी, लसम, लायक सक, सजाइ, सबील, सरखत; सरकस, सरनाम, सरम, सरीकता सिरताज, सहन, सहर, सही, सालिम, साहि,

---

[1] —राज्य तथा जमादारी का सम्बन्ध होने से × × उन्हीं यवनों के बहुत से गुण आने लग गए, जैसा कि फारसी पढ़ना।

स्वामी सहजानंद सरस्वती ब्र० वं० वि० (भूमिका) पृ० २७-२८

साहेब, साहबी, सीपर, सुमार, सूरति. सोर, सौदासूत, हजारी, हबूब, हलाकी, हवाले, हुसियार ।'

भाषा और कथन-शैली का सम्बन्ध भी कुल परंपरा से होता है, जैसा कि डा० मंगल देव शास्त्री कहते हैं—"भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय, जाति-बिरादरी रोजगार तथा पेशा के लोगों को बोलियों में प्रायः कुछ न कुछ विशेषता पाई जाती है, जो स्थानकृत नहीं होती। भारतवर्ष जैसे देश में तो जहाँ शिक्षा तथा जातीयता के भावों का प्रचार अभी कम हुआ है, यह बात प्रायः सर्वत्र देखी जाती है।'

श्री रामचरित मानस के परशुराम लक्ष्मण संवाद हनुमान्-रावण और अंगद-रावण संवाद में जिस हाजिर जवाबी निर्भीक कथन-शैली और वाक्पटुता का दर्शन होता है, वह जमीदार-ब्राह्मणों की जातीय-विशेषता के अनुसार है। अयोध्या कांड की संवादों की शालीनता भी तदनुरूप ही है। बेझिझक स्पष्ट कथन शैली तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों, कवितावली, विनय पत्रिका, दोहावली आदि में भी देखी जाती है यथा—

'प्रीति राम नाम सों; प्रतीति राम नाम की,
प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सुतिहौं ॥ क० उ० ६९'
'भले सुकृति के संग मोहि तुला तौलिये तो,
नाम के प्रताप भार मेरी ओर नमिहै ॥ ७१
मारिए तो अनायास कासी बास खास फल
ज्याइये तो कृपा करि निरुज सरीर हौं ॥ १६६
'ताकिहै तमकि ताकि ओर को ?
जाको है सब भाँति भरोसो कपि केसरी किसोर को
वि० ३१
'हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले ।
'सो बल गयो किधौं भए अब गरब गहीले । वि० ३२
'मेरो तौ थोरी है, सुधरैगी बिगरियौ,
'बलि, राम! रावरी सौ रही रावरी चहत ॥ वि० प०२५६

श्री रामू द्विवेदी और संत तुलसी साहब का साक्ष्यः—

पहले बताया गया है कि ब्राह्मणों का प्रतिग्राही (पुरोहित) और अप्रतिग्राही

१-तुलनात्मक भाषा विज्ञान पृ०१९

भेद बहुत पुराना है। शास्त्र-पुराण के कथनानुसार इनमें अप्रतिग्राही ही सर्वश्रेष्ठ और कुलीन माने जाते थे, जैसा कि 'देवल स्मृति' का वचन है—

द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च ।
तयो यायावर प्रवरो प्रतिग्रह रिकूथ संचय वर्जनात्

यही बात अन्य ग्रन्थों और इतिहास के विवरण से भी प्रकट है जिसके अनुसार शासक वर्ग के ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। अतः तुलसीदास के शिष्य श्री रामू द्विवेदी कृत 'प्रेम रामायण' में उन्हें 'कुल-शील सीमा, कहने से स्पष्ट ही गो० तुलसीदास का अप्रतिग्राही ब्राह्मण कुल में होना प्रकट होता है। स्वयं उन्हीं के कथन 'दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर, और कुल भलो' से भी इसका समर्थन होता है। ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि ग्यारहवीं शती विक्रमी से लेकर उन्नीसवीं शती तक सामंतवाद के कारण और परम्परा में श्रेष्ठ होने से जमीदार ब्राह्मण ही परम-कुलीन माने जाते थे एवं अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा विशेष प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे यथा—

भारत को इंपीरियल-गजेटियर'. भाग२ पृ० ३१५ पर लिखा है कि ११वीं १२ वीं शताब्दियाँ नवीन सभ्यता का सत्युग थीं। ब्राह्मण जन्म से ही देवता माने जाते थे। वे लोग कभी-कभी राज्य के सबसे ऊँचे पद पर भी रहते थे। हीन श्रेणी के ब्राह्मण ही लोगों के पुरोहित हुआ करते थे तथा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सर्वप्रिय देवताओं के पुजारी भी हुआ करते थे।

श्री सर रिचर्ड टेंपुल वार्ट ने 'सन् १८८० ई० के भारत का विवरण पृ०११ पर लिखा है कि—"प्रतिष्ठा की दृष्टि से वे ही ब्राह्मण बड़े माने जाते हैं जो सांसारिक व्यवसाय (जमीदारी आदि) करते हैं और अपने पुरोहित भाइयों से पृथक हैं। यद्यपि उनकी जमीदारी उत्तर भारत (हिमालयीय भाग) में कुछ कम है तथापि पूर्व, पश्चिम और मध्य भारत में अच्छी है और देश में बहुत से भागों में तो बहुत हो प्रबल या अधिक है।"

इस प्रकार जैसे 'कुल सीमा' कहने से गोस्वामीजी का 'जमीदार-ब्राह्मण' होना प्रकट होता है वैसे ही 'शील-सीमा' कहने से भी क्योंकि नीति ग्रंथों में कहा गया है—'शीलो भूषयते कुलम्' अर्थात् शील से ही कुल शोभा पाता है। इसलिए, शील कुलवान होने की पहचान है। शील की आधार-शिला लज्जा है। लज्जा को कुलीनों की विशेषता बताते हुए दुर्गा सप्तशती में उसे देवी का स्वरूप बताया गया है। शील की अभिव्यक्ति 'विनय से होती है। चाणक्य के

१—श्रद्धा सतां कुलजन प्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः परिपालय य:देवि विश्वम् ।। दु० स० ४।५

नुसार विनय की शिक्षा 'राजकुल' से लेनी चाहिए¹ अर्थात् विनयी होना 'राजकुल' में उत्पन्न होने का लक्षण है। तुलसीदास में विनय, पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ है, जिससे रामू द्विवेदी के साक्ष्य की पुष्टि होती है।

जो क्षमताशाली है, वही क्षमाशील भी हो सकता है। क्षमा बलवान की शोभा है, दुर्बल की नहीं। क्षमाशील विनय का आधार है। गोस्वामी जी ने जहाँ ब्राह्मण को क्षमताशाली होना दिखाया है, वहीं उसे असीम क्षमा दया और करुणा की मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है जैसा कि रामचरित मानस के उत्तर कांड में 'काक भुशुंड-प्रसंग' के अन्तर्गत लोमश और उज्जैनी के ब्राह्मण के चरित्र को देखा जा सकता है। ये दोनों ही तपस्वी और वृत्तिमान ब्राह्मण तथा दूसरों को आश्रय देने में समक्ष थे। इस प्रकार गोस्वामी जी के अंतर्साक्ष्य से भी रामू द्विवेदी की पुष्टि होती और गोस्वामी जी के त्रिकर्मा ब्राह्मण होने की झलक मिलती है।

गोस्वामी जी एक स्थान पर कहते हैं—

"जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥
यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि में जरै॥
वै० सं० ४१

यहाँ साधु के 'सबही विधि हीना' कहने का अभिप्राय उसके ऐश्वर्यहीन होने से है किन्तु इसके विपरीत कुलीन का ऐश्वर्यशाली होना प्रकट होता है। 'वह नित मान अगिनि में जरै' कहने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

कोई सज्जन यह शंका उठा सकते हैं कि जब तुलसीदास कुलीन वंश के थे, तो उन्होंने 'कुलीन' को निन्दा क्यों की? कुलीनों की निन्दा तो उन संतों ने की है जो स्वतः कुलीन न थे? परन्तु तुलसीदास के कथन पर ध्यान देने से उक्त शंका निर्मूल हो जाती है। उन्होंने कहीं भी 'कुलीन वंश' की निन्दा नहीं की है, वरंच उसके उन दोषों की ओर निर्देश किया है, जिनके होने से 'कुलीन' का महत्त्व घट जाता है जैसे अहंकार वश 'मान की आग' में जलना और कभी भगवान का भजन-पूजन न करना। देवी भागवत और मनुस्मृति में भी तो ऐसे लोगों को प्रकारांतर से राक्षस ही कहा गया है जो उच्च कुल में जन्म लेकर भी उच्च कुल के गुणों से रहित है यथा—

'ये पूर्वं राक्षसा राजन् ते कलौ ब्राह्मण स्मृताः।
पाखंड निरताः प्रायो भवन्ति जन वंचकाः॥

१—विनयं राजपुत्रेभ्य सुभाषितम्'—चा० १२।१८

इसी अर्थ में तुलसीदास ने भी 'कुलीन वंश' की निन्दा की है, और उसे त्याज्य बताया है यथा—

'मनि भाजन विष पारई, पूरन अमी निहार।
का छाँड़िय का संग्रहिय कहहु विवेक विचार॥ दो०
,तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि का नाम।
वै० स० ३८

स्पष्ट है कि ऊँचे कुल की उपमा मणि से की गई है एवं उसी ऊँचे कुल की भत्सना की गई है जिसमें 'हरि भक्ति' और उत्तम गुणों का अभाव है। रामचरितमानस' में भी वे कहते हैं—

'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे। उ० ८

अस्तु उनके इन कथनों द्वारा उनके कुलीन होने का निषेध नहीं होता।

घट रामायण के रचयिता संत तुलसी साहब ने गोस्वामी तुलसीदास क कनौजिया (कान्य-कुब्ज) नामधारी ब्राह्मण पूर्वी प्रदेश में नहीं पाये जाते।[1] जितने भी कान्यकुब्ज ब्राह्मण उस समय तक उक्त प्रदेश में आए, उनमें अधिकां की परम्परा भुम्याधिकारी होने के कारण 'भूमिहार' नाम से प्रसिद्ध हुई, न कि काब्यकुब्ज ?

कान्यकुब्ज ब्राह्मण परम्परा से पुरोहिती को निंद्य कर्म समझते हैं, इसी से वे सरयूपारी-ब्राह्मणों में नहीं मिल सके।[2] यदि यत्किंचित कोई कहीं उनमें मिले भी तो अपनी दीन हीन परिस्थिति से विवश होकर जीविकार्थ पुरोहिती का पेशा अपनाने के कारण अस्तु पश्चिम के लोग भूमिहार-ब्राह्मणों को कान्यकुब्ज नाम से ही जानते थे, जैसा कि 'कान्यकुब्ज वंशावलियों' से विदित है।[3]

१—बहुत से सरयूपारी पूछने पर अपने को कान्यकुब्ज कह देते हैं; परन्तु अपना निकास सरयूपारियों के डीह से ही बताते हैं।

२—सरयूपारीण-वंशावलियों में इसी आधार पर सरयूपारियों को कनौजियों से भिन्न माना है। (दे०—सरवरिया ब्राह्मणोत्पत्ति प्रदीप पृ० ९ और 'सरयूपारीण-ब्राह्मण वंशावली' पृ० १७)

३—दे०—श्री पं० हरि प्रसाद भगीरथ कृत 'वृहत् कान्यकुब्ज कुल दर्पण' पृ० ११७
श्री पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी तथा पं० मुकुन्द राम कृत कान्यकुब्ज वंशावली पृ० १०५
श्री पं० रघुनन्दन शर्मा कृत कान्यकुब्ज वंशावली आदि।

कल्पद्रुम में राजा प्रताप सिंह द्वारा तुलसीदास जी को कान्यकुब्ज लिखे जाने का रहस्य भी यही हो सकता है।

तुलसी साहब के कथनानुसार तुलसीदास को विरक्त होने से पूर्व अपने उच्च वंश का अधिक अभिमान था। मानपद में डूबे रहने के कारण वे वहुत अहंकारी और विषयी बन गए थे। मन में भूमि-सम्बन्धी भावना रखने के कारण साधुओं के पीछे लगे रहते थे और इसी आशा से साधुओं का साथ उन्हें अच्छा लगता था यद्यपि ज्ञान चर्चा से रुचि न थी यथा—

'ज्ञान हीन रस रंग संग माता। कान्य कुब्ज बाँभन मोरी जाता॥
जात भाव ऊँचा सब भाँते। कुल अभिमान मान मद माते॥
खोटा मन कछु चिन्ह अचिन्हा। ज्ञान मते मत रहौं मलीना॥
एक विधी छित रहौं सँभारे। मिले कोई संत फिरौं तेहि लारे॥
सब साथ मोहिं नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै॥'

मगध में भूमिहार ब्राह्मणों का ही परम्परागत नाम बाँभन (बाम्हन) रूढ़ है परम्परा से राजा-जमींदार और धनीमानी रहे हैं अतः तुलसीदास के विषय में ऊपर कथित दुर्गुण भी उनकी भूमिहार वर्गीय विशेषता प्रकट करता है। तुलसीदास की पैतृक-भूमि पर उनके शत्रुओं ने अधिकार कर लिया था, जिसकी चिन्ता विरक्त होने से पूर्व उन्हें सताती रहती ही थी और वे आधु सन्तों के प्रभाव या आशीर्वाद से उसे पुनः प्राप्त कर लेने की आशा रखते थे तथा इसी उद्देश्य से उनके पीछे लगे रहते थे। यह दूसरी बात है कि ऐश्वर्य नष्ट होने तथा साधु-संगति से उन्हें ज्ञानभक्ति की अनायास प्राप्ति हो गई और यह अनुभव हुआ कि

'यहि तन कर फल विषय न भाई। भजिय राम सब काम विहाई॥

रा० उ०

और—

गज बाजि घटा, भले भूरि भटा, बनिता सुत भौंह तकैं सब वै।
धरनि-धन-धाम-सरीर भलो, सुर लोकहु चाहि इहै सुख स्वै॥
सब फोकट साटक हैं तुलसी, अपनो न कछू सपनों दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकी नाथ जियैं जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥

क० उ० ४१

जैसे तुलसी साहब ने पश्चिम में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा, वैसे ही 'फांसिस बुकानन' ने सर्वप्रथम उन्हें 'र्णिया-रिपोर्ट' में 'काशी का सारस्वत ब्राह्मण' लिखा। 'उड़ती खबर' पर आधारित बुकानन के कथन को प्रमाण स्वरूप ग्रहण नहीं किया जा सकता किंतु

इससे इतना प्रकट है कि पूर्व में तुलसी को जन्मभूमि काशी क्षेत्र में होना ही प्रसिद्ध था और उनकी परम्परा सरयूपारियों से भिन्न मानी जाती थी। पूरब में भूमिहार, कान्यकुब्ज, सारस्वत आदि ब्राह्मणों को 'पश्चिमा' कहते हैं।[1] संभव है कि बुकानन ने 'पश्चिमा' को ही सारस्वत मान लिया हो क्योंकि बिहार में जैथरिहा ब्राह्मणों की प्रधानता है जो मूलतः सारस्वत हैं।[2]

इसी प्रकार एकसरिया भूमिहार और बाली महिपालों का मौलिक सबंध है।[3] बिहार के भूमिहार और पंजाब के महिपाल प्रायः एक ही वर्ग के ब्राह्मण हैं।

सन्त तुलसी साहब द्वारा अपने को गो० तुलसीदास का अवतार मान लेने की बात भी ध्यान देने योग्य है। संत तुलसी साहब सन् १८५७ के स्वातंत्र्य आन्दोलन के वीर-अग्रणी नाना साहब पेशवा के भाई चित्तपावन ब्राह्मण थे, जो भूमिहार ब्राह्मणों ही जैसे आचार—व्यवहार वाले होते हैं और उत्तर भारत में उनसे मिले भी हैं।[4] नाना साहब की पुत्री मैंना कुमारी का विवाह भी वाराणसी के भूमिहार राजवंश में होना निश्चित था।[5] अस्तु तुलसीदास का तुलसी साहब के रूप में अवतार लेने की बात इस रहस्य की ओर संकेत करती है कि गो० तुलसीदास का जन्म भी चित्तपावनों जैसे ब्राह्मण—उपवर्ग और ऐसी

१—दे०—विकास की एक धारा भाग २ अ० ३ पृ० १२०

२—सारस्वत ब्राह्मण इतिहास (श्री पं० दुर्गादत्त जोशी कृत) पृ० २०-२१
मुह्याल इतिहास (श्री चौधुरी चुन्नीलाल दत्त कृत) पृ० ५२
हिस्ट्री आफ दि मुहियाल्स (श्री कैप्टन ए० एन० वाली कृत पृ० १०४-५

३—एकसरिया और बाली ब्राह्मणों का गोत्र पाराशर है और इन दोनों का निकास (मूल स्थान) भी एकही हस्तिनापुर है जहाँ से वे दो दिशाओं में फैले।

४—हमारा इतिहास बतलाता है कि दक्षिण के चित्तपावन ब्राह्मण, बिहार के भूमिहार ब्राह्मण, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के त्यागी ब्राह्मण तथा पंजाब के महियाल ब्राह्मण एक ही परम्परा के हैं। चित्तपावनों की कई शाखाएं उत्तर भारत में आईं और यहाँ के भूमिहार ब्राह्मणों में मिल गईं। इनमें भरतपुरा, सेहड़ा आदि के कौडिन्य गोत्रीय अथर्व और धनवार राजवंश के भट्टनायक विशेष प्रसिद्ध हैं [अ० भा० ब्रह्मर्षि सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष का भाषण [देखिए—२४-२-१९६८]
—सैनिक-ब्राह्मण [श्री पं० परमेश्वर शर्मा] पृ० ६०-६१]

राज-परम्परा में हुआ था, जिसका ऐश्वर्य जाता रहा हो, जैसा कि तुलसी साहब की स्थिति थी।

तुलसीदास के निम्नांकित कथन से भी इस बात का संकेत मिलता है—

'वेद धर्म दूरि गए भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप दीन की।
दूबरे को दूसरो न द्वार राम दया धाम,
रावरीए गति बल-विभव विहीन की॥
क० उ० १७७

उपर्युक्त उद्धरण में 'भूमि चोर भूप भए' और 'बल-विभव-विहीन' की योजना द्रष्टव्य है। वस्तुतः उस युग में दूसरों को धोखा देकर भूमि हड़पने वाले लोग भी राजा बन बैठे थे। सम्भवतः इस प्रकार की धोखे बाजी के मुक्तभोगी तुलसीदास भी थे (देखिए—अध्याय ५ में 'शत्रु' प्रकरण)

प्रतीक-संकेत—

यद्यपि हिन्दू-संस्कृति ही ब्राह्मण-धर्म का प्रतिपादक है और उसमें ब्राह्मण के तप, त्याग, सदाचार आदि की प्रशंसा की गई है, फिर भी प्रायः भक्ति-सम्प्रदायवादियों ने इन समाज-पोषक गुणों को गौण स्थान दिया और वर्ण-व्यवस्था की अवहेलना की, किन्तु गोस्वामी जी को यह विशेषता हैं कि उन्होंने ब्राह्मण गुण-धर्म की गणना भक्त के लक्षणों के अन्तर्गत कर उनका भक्त में होना अनिवार्य ठहराया एवं ब्राह्मण की सेवा को भगवान के संतुष्ट करने का हेतु बताया, जैसा कि महर्षि लोमश काकभुशुंड जी से कहते हैं—

'सुनु मम वचन सत्य अब भाई। हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई॥"

'रामचरित' मानस में ब्राह्मण–सेवा को धर्म की जननी कहा गया है यथा—'द्विपद प्रीतिधर्म जनयित्री, एवं इसीसे उन्होंने 'श्री रामचरित मानस' का प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम 'महिसुर–चरण' की वन्दना की है यथा—

'बन्दौ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥'

ब्रह्मशक्ति के महत्व को प्रदर्शित करते हुए वे कहते हैं—

'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहौं द्वै भुजा उठाई॥'

और रामचद्र जी से भी कहलाते हैं।

'सब प्रकार हम तुम सन हारे। मारतहू पाँ परियतुम्हारे॥'

श्री रामचरित मानस का प्रारम्भ ही 'ब्रह्मतेज' के प्रदर्शन की भूमिका पर हुआ है। वैकुंठ के द्वारपाल 'जय-विजय' का नारद जी की अवहेलना करने

के फलस्वरूप पतन हुआ। प्रताप भानु ने ब्राह्मणों को अपने अधीन करना चाहा फलस्वरूप उनका सपरिवार नाश हुआ।

ब्रह्मशक्ति समाज का पोषक है, इसलिए उसके साथ क्षात्रशक्ति का वहीं तक समन्वय उचित है, जहाँ तक उसकी समाज के लिए उपयोगिता हो, अन्यथा रावण ब्रह्मकुल में जन्म लेकर भी राक्षस हुआ। कलियुग में ब्रह्मवंश में ही राक्षस उत्पन्न होंगे, इस पुराणोक्ति का भी यही अभिप्राय है : केवल क्षात्रबल का ही अवलम्बन करने पर भगवान् परशुराम की भी उपेक्षा हुई, अस्तु ब्रह्म-शक्ति के साथ क्षात्रशक्ति का समन्वय समाजध्वंसक रूप में न होकर समाज के पोषणार्थ होना चाहिए। महर्षि कश्यप में ब्रह्मतेज के साथ क्षात्र तेज का समन्वय लोक-भावना की दृष्टि से होने के फलस्वरूप ही वहाँ साक्षात् मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का अवतार हुआ। यही बात जनकजी के यहाँ थी, जहाँ परमशक्ति अवतरित हुईं; यथा—

‘कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन कहँ मैं पूरब वर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रुपा। कोसलपुरी प्रकट नर भूपा॥
तिन के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई॥
नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥

स्पष्ट है कि भगवान का अवतार ब्रह्म तेज और क्षात्रबल की समन्वय-भूमि पर ब्राह्मण की वाणी को सत्य करने के लिए हुआ। गोस्वामी जी ने ब्रह्मतेज और क्षात्रशक्ति का जो समन्वय कर उसका लोककल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया है, उससे उनका ऐसी वंश परम्परा के प्रति आकर्षण प्रकट होता है जो इन दोनों शक्तियों से युक्त हो।

‘सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥’

का संकेत ऐसे ही ब्राह्मण-समाज से है, जो ‘शापादपि शरादपि’ दोनों की सामर्थ्य रखता था।

तपस्या ब्राह्मण का प्रधान गुण है, इसीसे ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है और राज-शक्ति की उपलब्धि भी इसी का परिणाम है। कहा है—

‘तप चूके राज राज़ चूके नरक’

किन्तु प्रतिग्रह वृत्ति ‘ब्रह्मतेज’ का नाशक है यथा—

‘पावका इव दीप्यंते जप होमै द्विजोत्तमाः।
प्रतिग्रहेण नश्यंति वारिणा इव पावकः॥ अत्रि स्मृति १४१
और—‘प्रतिग्रहेण तेजोहि विप्राणां शाम्यतेऽनघः।

प्रतिग्रह ये नेच्छेयुः तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप ।। महाभारत

तुलसीदास ने भी 'तपबल विप्र सदा बरियारा' कहकर स्पष्ट रूप से प्रति-लाप का ही अनुमोदन किया है।

मनुष्य जैसे समाज में उत्पन्न और पालित-पोषित होता है, उसी के अनुसार : उसके भाव, विचार और आदर्श होते हैं। इस आधार को समक्ष रखकर चरित-मानस' के लंका कांड की निम्नांकित फलश्रुति विचारणीय है—

'समर विजय रघुवीर के, चरित जे सुनहिं सुजान।
विजय, विवेक, विभूति नित, तिनहिं देहिं भगवान ॥'

इसी प्रसंग में दोहावली का यह भी द्रष्टव्य है, जिसका ऐसे लोगों की ओर ज्ञात होता है, जो तुलसीदास से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित थे—

'सार दूब को स्वांग करि, कूकुर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए कीरति विजय विभूति ॥ ४१२॥

श्री रामचन्द्र जी के समक्ष भगवद् भक्तों के जो उपलक्षण महर्षि वाल्मीकि नाए हैं, उनमें एक यह भी है—

तरपन होम करहिं बिधि नाना। विप्र जेंवाइ देहिं बहुदाना ॥
रा० उ० १२६

र भी—

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति निपुन जिन्हकइ जग लीका। घर तुम्हार तिनकर मन नीका ॥
रा० अ० १३१

श्री रामचन्द्र जी की स्तुति 'गो द्विज हितकारी', 'श्रुतिसेतु पालक' आदि र की गई है। अवश्य उपर्युक्त विशेषणों की ओर तुलसीदास का ध्यान आस-पास के नित्य के व्यवहार को देखकर गया होगा। इन विशेषणों प्रयोग भूमिहार ब्राह्मणों के यहाँ सामान्य रूप से किया जाता रहा है। थोड़े समय पहले तक उनके निमित्त भेजे जाने वाले पत्रों की प्रशस्ति प्रायः लिखे ढंग से लिखी जाती थी—

"स्वस्ति श्री…… …… ……सर्व उपमायोग्य नाम उदित, परम पुनीत नीति , सामर्थ्य भार, गुनगरिष्ट, मर्यादा सागर, गऊ ब्राह्मन के रछपालक आर" आदि।

पुराने पत्रों में इस प्रकार की प्रशस्तियाँ देखी जा सकती हैं। इन प्रशस्तियों से तुलसीदास जी को सामाजिक-मर्यादा सम्बन्धी प्रेरणा मिली होगी जबकि

भूमिहार ब्राह्मणों के निमित्त इस प्रकार की प्रशस्तियों के प्रयोग की परिपा हो गई थी।[1] पुराणों में गो-ब्राह्मण, देवता और साधु-संतों का द्वेषी पापी क गया है।[2]

अपनी अभिव्यक्ति—

तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—

'जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए अन्न सबके विदित बात दुनी सों'
—क० उ

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ 'जाति' को 'सुजाति' के पहले क्यों रखा गया और जाति तथा सुजाति का अन्न खाने से ग्लानि क्यों हुई? विचा करने से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास 'सुजाति (सामान्य ब्राह्मण-क्षत्रि ने भी विशिष्ट कुलीन जमींदार-ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे और इसी से उ अपनी जाति तक का अन्न खाने में ग्लानि होती थी ? यदि वे सामान्य पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण होते तो उन्हें स्वजाति और सुजाति क्या, कुजाति का अन्न खाने में भी ग्लानि न होती क्योंकि वे पुरोहित होने के नाते सबके यह खाते पीते ही हैं।

श्री कुँवर शिवनाथ सिंह 'लोकें द्राख्यान' पृ० १६४ पर लिखते हैं कि "जिन वंशों में कोई राजा या भूम्याधिकारी नहीं रहे, वे होते-होते सबसे नीचे गि जाने लगे।" यही बात श्री मुंशी देवी प्रसाद "पड़िहार-वंश-प्रकाश' में लिख हैं, यथा—

"जिन राजपूतों के पास अब राज्य और उस राज्य की दी हुई बड़ी-बड़ी जागीरें हैं वह भोमियों तथा खेती और नौकरी करने वाले या जिनका रा

१—इस प्रकार के पत्रों का पशस्ति भाग 'सिरनामा' कहलाता है। य फारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'सिरे पर का लेख।'

२—तुलना कीजए—

पथ्वी उवाच—'सदाद्विषंति ये पापा गो विप्र सुर वैष्णवान्।
हरिं हरि कथाभक्ति तेषां भारेण पीड़िता॥
ब्र० वै० श्रीकृष्ण० खं० अ० ४

लक्ष्मण कथन—'सुर महिसुर हरिजन अरुगाई॥
हमरे कुल इन पर न सुराई॥ रा० बा० २७३

और—'साधु गाइ विप्रन के भय को नेवारिहैं—क० उ० ४२

ता रहा है और कुछ भी जमीन पास नहीं रही हो, ऐसे राजपूतों को अपने ीचा मानते हैं, चाहे वे उनके भाई ही क्यों न हों।"

उपर्युक्त बात केवल राजपूतों के ही लिए नहीं, वरंच ब्राह्मणों[1] और न्य वर्ग के लोगों के लिए भी चरितार्थ होती थी, जैसा कि प्रो० सत्यव्रत िद्धांतालंकार 'समाज-शास्त्र के मूल तत्व' पृ० १४८ पर लिखते हैं—"किसो ी तरह जो जमीदार बनते हैं उनकी एक अलग श्रेणी बन जाती है। यह कुलीन ेणी कहलाती है। दूसरों को कृषक मजदूर, किरायेदार तथा हीन श्रेणो के ोग कहा जाता है।"

अस्तु बहुधा जमीदार ब्राह्मण भूमिपति तथा कुलीन श्रेणी का होने के ारण अन्य ब्राह्मणों से अपने को ऊँचे स्तर का मानते रहे हैं[2], इसलिए उन्हें ाजा, बाबू, सरकार, मालिक, धर्मावतार आदि संबोधन ही प्रिय रहे हैं, पण्डित, ाकुर, विप्र आदि नहीं, जैसा कि पंडित स्वामो सहजानन्द सरस्वतो ने 'ब्रह्मर्षि ंश-विस्तार (भूमिका) पृ० २७-२८ पर लिखा है—

"राज्य तथा जमोदारी का सम्बन्ध होने से यवनों से बहुत काल तक विशेष म्बन्ध रहा, जिससे "'संसर्गजा दोष गुण भवंति' अर्थात् 'तुख्म तासीर सुहबते सर' के अनुसार उन्हीं यवनों के बहुत से गुण आने लग गए। जैसा कि फारसी ाना, राय, सिंह, ठाकुर; चौधुरी, बाबू आदि शब्दों से ही प्रसन्न होना; न े पांडे, तिवारी आदि शब्दों से, तम्बाकू पीना और सलाम करवाना ादि।"

सामान्य ब्राह्मणोचित विशेषणों से तो वे अपनी अप्रतिष्ठा मानते[3] और

१—वे (भूमिहार ब्राह्मण) (इतर) ब्राह्मणों के साथ स्वयं खान पान नहीं कर सकते और राजपूतों के साथ खान पान करने में केवल बहुत सो बाधाएँ हैं।

(श्री किवर कृत गाजीपुर गजेटियर पृ० ४३)

२—नीच, शूद्र तथा जाति पातितों के यहाँ का दान-पुण्य लेने से एवं उनके यहाँ पाठ-पूजन आदि करने कराने से, ऐसी दशा में ब्राह्मणों की एक अलग ही जाति बन जाती है और वे नीच श्रेणी के वर्ण—ब्राह्मण नाम से कहाते हैं, जिसका अर्थ यह है कि वे वर्णमात्र के ब्राह्मण हैं। (ब्राह्मण निर्णय पृ० ६९)

३—'कंचुकी—भो तपस्विन्!

यौगंधरायण—(स्वगत) "तपस्विन!' इति गुणवान खलु आलापः अपरिचयात तु न श्लिष्यसि मे मनसि।"

(भास कृत स्वप्न वासवदत्ता स० १)

अप्रसन्न होते थे। जमोदार-ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण ही गो० तुलसीदास भूस्वामी एवं युद्धप्रिय जमीदार ब्राह्मणों को इस मनोवृत्ति को जानते थे। यही कारण है कि उन्होंने रामचरित मानस में 'परशुराम-लक्ष्मण-संवाद' के प्रसंग में इस तथ्य को स्पष्ट किया है। जब श्री रामचन्द्र जी ने वीरव्रती महामहिमा श्री परशुराम जी को कई बार 'मुनि' 'विप्रवर' आदि कहकर संबोधित किया तो चिढ़ गए—

बार-बार मुनि, विप्रवर, कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष होइ, तुहू बंधु समबाम॥
निपटहि द्विज करि जानहि मोहीं।
मैं जस विप्र सुनावउँ तोहीं॥
मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे।
बोलसि निदरि विप्र के भोरे॥

रामचरित मानस की कथा का समापन करते समय गोस्वामो जी ने काक-भुशुंड जो द्वारा भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जिस आदर्श चरित्र का विवरण दिया है तथा कवितावली में भी जिसे ग्राह्य बताया है वह जमोदार-ब्राह्मण आदर्श के अनुरूप ही है, जैसे—

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्मपरायन सोइकुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेइ जाना॥
सोइ कवि-कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छांड़ि भजइ रघुबीरा॥

और 'स्यंदन गयंद बाजि राजि भले भले भट,
धन धाम निकर, करनि हूँ न पूजे क्वै।
बनिता-बिनीत, पूत-पावन सोहावन,
विनय विवेक विद्या सुभग सरीर ज्वै। उ० १६

स्पष्ट है कि उपर्युक्त विवरण ऐसे ब्राह्मण समाज को समक्ष रखकर लिखा गया है, जिसमें ब्रह्मतेज के साथ क्षात्र-शक्ति का भी समन्वय हुआ है। ऐसा समाज जमोदार-ब्राह्मणों का ही है[1], जिसमें जन्म लेने के कारण गोस्वामी जी

---

[1] —वैदिक ऋषि महर्षि भो प्रायः ज्ञान के साथ धन-मान की आकांक्षा रखते थे और ऐश्वर्यशाली होते थे, यथा—
'एषामह समासीमानानां वर्चो विज्ञान माददे (अथर्व ७।१३।३)
'भगश्च मे द्रविणश्च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पंताम् (यजु० १८।८) और—
'प्राचीन शालः औपमन्यवः महाशालाः महाश्रोत्रियाः (छन्दोग्य, ५।११।१)
शौनको ह वै महाशालो (मुंडक० १।१३)

ने उक्त आदर्श की स्थापना की। कुल के आचार-व्यवहार के अनुरूप ही मनुष्य का आदर्श बनता है। उपर्युक्त चौपाइयों में कथित आदर्श और निम्नांकित लोक-गीतों में कथित आदर्श जो आरा बलिया के जमीदार ब्राह्मणों के यहाँ विवाह के अवसर पर गाए जाते हैं, का मिलान किया जा सकता है—

गीत—

१—कोठा ऊपर कोठरी तापर जाजिम डसाइ हे।
तापर सुतेले बापजी, माईजी बेनिया डोलाइ हे॥
हाथ जोरि के बेटी बोले ली, बाबूजी बिनती हमार हे।
हरवाह बर जनि खोजबि बाबा, उनसे बड़ा दुख होइ हे।
ऊँचें-खाले हर चलइहें, खइहें नव-दस रोटी हे॥
पइकारी बर जनि खोजबि बाबा उनसे बड़ा दुख होइ हे॥
हाटे बाटे चाउर बेसहिहें, अंगुरिन लेखा लेसु हे।
जुआड़ी बर जनि खोजबि-बाबा उनसे बड़ा दुख होइ हे।
जुआ खेलत माई हरिहें, हमके हारत कौन देरी हे॥
मुरुख बर जनि खोजबि बाबा उनसे बड़ा दुख होइ हे।
झूठो-सांचों बेद भनिहें, सुनि के लाजिम होइ हे॥
सिपाही बर जनि खोजबि बाबा उनसे बड़ा दुख होइ हे।
डाड़ें-मेड़े मारि करिहें, करिहें कुछु ना विचार हे॥
उमराव बर रउरा खोजबि बाबा उनहुँ पंडित होसु हे
कांखे तुपक, हाथें पोथी, चाल चलेले पतिसाह के।

२—'आरे, आरे, पिपरा के पंडित, घतुरा तिवारी, पयासी
केमिसिर!
ए विप्र, खोलि दीं कवन देई के गोत्र त बाँचि
के सुनाईं।'
'बाप त हउवे रजवड़वा त माई रनिबासवानु हे।
उनकर पांचो भइया पढ़ल पंडितवा त बहिन अदरइतिनतु हे।"

गीतों का अर्थ—

१—अर्थात तिमहले पर पिताजी जाजिम डसा कर लेट रहे हैं। माताजी उन्हें पंखा कर रही हैं। पुत्री के विवाह के सम्बन्ध में बातचीत चल रही हैं। पुत्री हाथ जोड़ कर पिताजी से निवेदन कर रही है—

हे पिता ! मेरा व्याह हल जोतने वाले किसान से न करना क्योंकि उसकी बुद्धि मोटी होगी और वह अधिक खाने वाला होगा। मेरा व्याह जुआरी से भी न करना उससे मुझे कष्ट होगा। मेरे लिए मूर्खपति भी न ढूढ़ना क्योंकि वह वेद-पाठ में त्रुटियाँ करेगा, जिसे सुनकर मुझे लज्जा होगी। मेरे लिए व्यौपारी पति भी न ठीक करना क्योंकि वह बाजार में जाकर खरीद बिक्री करेगा और मुझसे खर्च का हिसाब पूछेगा। मेरे लिए सिपाही पति भी नहीं चाहिए क्योंकि वह सदा मार-झगड़े में लगा रहेगा और किसी बात पर गम्भीरता-पूर्वक विचार न करेगा। हे पिता ! मेरे लिए ऐसा वर ढुढ़ियेगा जो अमीर के साथ-साथ विद्वान भी हो और बादशाह की भाँति रहता हो।

२—अर्थात् हे पिपरा के पंडित घतुरा तिवारी और पयासी मिश्र आप अमुकी देवी का गोंत्रोच्चार करें। पंडितों ने कहा—अमुकी देवी के पिता बड़े राजा और माता रानी हैं। इनके पाँचों भाई पढ़े लिखे पंडित हैं, जिनकी ये आदरणीयाँ बहन हैं।

इन गोतों में व्यक्ति का जो श्रेष्ठ आदर्श स्थापित किया है, वह है उसका आचार-विचार युक्त विद्वान और शस्त्राधारी होना एवं इसके साथ-साथ अमीर (जमीदार) होना भी जो बादशाह के ढंग पर रहता हो। क्या यह आदर्श एक मुगल-कालीन जमीदार ब्राह्मण का नहीं है ? ४

उपयुक्त चौपाइयों में 'महि-मंडन-पंडित-दाता' का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। जिसका अर्थ है पृथ्वी को भूषित करने वाला अथवा पृथ्वी से भूषित विद्वान और दानशील ब्राह्मण। पडित शब्द विद्वान ब्राह्मणों के ही लिए उपयोग में आता है। 'दाता' वे ही ब्राह्मण हो सकते है जो सम्पत्तिशालीओर भूस्वामी हों। 'महि-मंडित' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण का भूमिपित होने की ओर संकेत हैं। गोस्वामी जी के मित्र तथा सम्बन्धी श्री कृष्णदत्त मिश्र ने गोस्वामी जी के संरक्षक टोडर रावत के व्यक्तित्व का चित्रण भी इसी के अनुरू

किया है,[1] अतः इस बात से भो उक्त मत की पुष्टि होतो है क्योंकि टोडर मोदार-ब्राह्मण थे।

गोस्वामी जी ने जिस अर्थ में 'महि-मंडित' का उपयोग किया है, उसी र्थ में 'महि-मंड' शब्द स्कन्द पुराण में भी आया है।[2] स्वामो लक्ष्मणाचार्य तोष्टाचार्य) ने 'भूमिहार-ब्राह्मण' की व्युत्पत्ति करते हुए उसका अर्थ 'भूमि-षण' ब्राह्मण किया है।[3] इस व्युत्पत्ति का समर्थन सारनाथ-संग्रहालय स्थित अभिलेख से भी होता है, जिसमें 'महिहार' शब्द का प्रयोग 'भूमिभूषण' के र्थ में हुआ है।[4] ऐसी स्थिति में हम कह सकते है कि गोस्वामी जी के 'महि-मंडित-दाता' का संकेत भूमिहार (जमोदार) ब्राह्मण समाज की ओर है।

गोस्वामी जी ने 'मंडन' शब्द के प्रयोग द्वारा ऐसा ही 'भू-स्वामित्व' संबंधी केत अन्यत्र भी किया है, यथा—'जाय सो सुभट समत्थ पाइ रनरारि न

१—कासी असी 'भूमि अधिकारी। सुकृतीधीर धर्म व्रतधारी।
चतुर्धरी पदवी सुति मंडन। अति बलवीर सत्रु मद खंडन॥
तज्ञ कृतज्ञ गुनज्ञ महाना। नम्र सुसील रहित अभिमाना॥
सरनागत रच्छक नयनागर। तोडर राउत नाम उजागर॥
मारुत सुत सेवक विदित, महावीर बल ऐन
जासु गरुअ मुग्दर गदा, कोउ भट भांजि सके न॥
भीम रुप, नहिं भोम गति, मल्ल युद्ध बिरुझान।
मल्ल मान हरिहर भजत, तोडर मल्ल अमान॥
भूसुर-सुरभी-संत हित, षंडन कलि पाषंड।
मित-महि महा-महीप-चित, खलदल दलन प्रचंड॥ गोतम चन्द्रिका

२—स नरो मंडनं भूमेर्देशश्च नगरश्च च—वै० खं०
श्रीमान् विद्वान् कुलीनों सौ स एव पुरुषोत्तमः
सर्वं तीर्थाभिषेकश्च नित्ये तस्य प्रजायते॥ प्रभास खंड

३—ह्रियते मनो अनेन इतिहारः (हारः हृदय भूषणम्) भूम्याः
अथवा भूम्याम् इति भूमिहार ब्राह्मणः।'—विकास की एक धारा हैं भाग—२
पृ० १११

४—'अहह कुमार देवी तेन राज्ञः प्रसिद्ध विहारो नब खंड मंडल महिहारः कृतो'
दे०—सैनिक ब्राह्मण पृ० ४१

मंडै"—क० उ०

यहां स्पष्ट है कि 'रन-रारि' का सम्बन्ध अधिकार से है, सनकादिमुनि श्री रामचन्द्र जी की स्तुति करते हुए कहते हैं—

'भूप मौलि मनि मंडन धरनी--ए० मा० उ० ३४

और इसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी द्वारा लंका विजय करने पर भगवान शंकर के मुख से कहलाया गया है—

'मुनि रजन महि मंडल मंडन।
तुलसीदास प्रभु त्रास विखंडन ॥ रा० मा० लं० ११

कवितावली में भी इस प्रकार का प्रयोग है—

'प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहु दंड खंडि,
मंडि मेदिनी को मंडलीक लीक लोपि हैं ॥ क०लं० १

गोस्वामी जी ने मंडप की सजावट, बारात का ठाटबाट,[1] पुत्र-जन्मोत्सव दान दहेज, उत्तर–प्रत्युत्तर और युद्धों का जैसा सजीव वर्णन किया है, उससे वे जमीदार वर्ग के ही ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। उनके द्वारा अयोध्याकांड में वर्णित राजकुल के शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, बातचीत के ढंग एवं दाव-पेंच से भी उनकी कुलीनता प्रकट होती है।

कलियुग का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी प्रारम्भ में ही कहते हैं—

'वर्णधर्म नहिं आश्रमचारी। श्रुति विरोधरत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजाशन। कोउ नहिं मानु निगम अनुशासन।
मारग सोइ जा कहँ जो भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा॥

इन चौपाइयों में परस्पर काय-कारण के रूप में सात बाते प्रस्तुत की गई है जिससे 'एकावली'[2] बनती है। एकावली के अनुसार उपर्युक्त विवरण ब्राह्मणों से सम्बन्ध रखता है अर्थात् कोई भी निगम का अनुशासन नहीं मानता इसका कारण

---

[1] —भोजपुरी—'ऊँचे महल चढ़ि अम्मा निरखेलो कत दल आवे बरिआति।
कइ से हाथी आवे, कइ सय घोड़ा; कत दले आवेले दमाद!
अर्थात् माता ऊँचे महल पर चढ़कर देख रही है कि कितनी बड़ी बारात आ रही है; उसमें कितने सौ हाथी; कितने सौ घोड़े और कितने लोग हैं।

[2] —कथन में परस्पर उत्तरोत्तर कारण-कार्य का सम्बन्ध होने से एकावली अलंकार बनता है। उद्धृत चौपाईयों में 'पण्डित सोइ जो गाल बजावा' का कार्य मारग सोइ जाकहँ जो भावा' और इसका कार्य को 'नहिं मानु निगम अनुसासन' और इसका कार्य 'द्विज श्रुतिवंचक' एवं 'भूप प्रजासन' है। इसी प्रकार इन दोनों का कार्य 'श्रुति विरोधरत सब नर-नारी' और इसका कार्य 'नहिं आस्रमचारी' तथा इसका कार्य 'वर्णधर्म नहिं' है। यहां पर ऊपर से 'वर्णधर्म नहिं' को प्रथम कारण मानकर भी उत्तरोत्तर क्रम से एकावली बनती है।

यह है कि समाज को 'निगम' द्वारा शिक्षा देकर अनुशासित रखने वाले ब्राह्मण या तो श्रुतिवंचक (वेद के नाम पर ठगनेवाले मिथ्या वादी) बन गए हैं अथवा 'भूप' प्रजाशन (राजा रईस बनकर प्रजा का शोषण करने वाले) बन गए हैं। यहां 'भूप' शब्द ब्राह्मण भूप के निमित्त आया है न कि अन्य के लिए भूप का अर्थ द्विज भूप न करने से काव्य में पुनरुक्ति दोष उत्पन्न होता है क्योंकि आगे कहा गया है —'नृप पाप परायन धर्म नहीं।' इसके अतिरिक्त इस प्रकार दो असंभावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहिली यह कि 'एकावली' टूट जाती है। दूसरी यह कि निगम का अनुशासन स्थापित कर समाज को श्रुति के अनुकूल बनाना ब्राह्मणों का काम है, किसी राजा का नहीं। अतः यहाँ गोस्वामी जी का 'भूप' से अभिप्राय केवल ब्राह्मण 'भूप' से है।[1] यह श्री

---

[1] —अत्रि स्मृति श्लो० ३७५ और स्कंद पुराण में ब्राह्मण का एक भेद 'राजा ब्राह्मण' बताया गया है, यथा—

'अश्वादि वाहने दक्षः संग्रामें निर्भयः सदा।
राज विद्यासु निर्धाता स राजा ब्राह्मण स्मृत: ॥ स्कं० पु०

'ब्राह्मण राज परिचय' में 'एक मैथिल परमहंस' ने लिखा है कि "ब्राह्मण दो प्रकार के होते है, एक राजा-ब्राह्मण और दूसरा 'भिक्षुक ब्राह्मण' (पृ० ८) जिस प्रकार पुरोहितो करना ब्राह्मणत्व या ब्राह्मण का स्वभाव नहीं बल्कि एक पेशा है, उसी प्रकार जमीदारी और कृषि भी एक पेशा है, जैसाकि वासेठ्ठ ब्राह्मण से गौतम बुद्ध ने कहा—

'ये हि केचि मनुस्सेसु गोरक्खं उपजीवति,
एवं वासेठ्ठ जानाहि 'कस्सको' सो न ब्राह्मणो।
येहि केचि मनुस्सेषु वोहारं उपजीवति,
एवं वासेठ्ठ जानाहि वाणिजो सो न ब्राह्मणो ॥
एहि केचि मनुस्सेसु 'इसत्थं' उपजीवति,
एवं वासेठ्ठ जानाहि 'योधाजीवो' न ब्राह्मणो।
योहि केचि मनुस्सेसु 'पौरोहिच्चेन' जीवति,
एवं वासेठ्ठ जानाहि 'याजको' सो न ब्राह्मणो ॥
योहि केचि मनुस्सेसु गामंरट्ठंच भुंजति,
एवं वासेठ्ठ जानाहि 'राजा' एसो न ब्राह्मणो ॥ (वासेठ्ठसुत्त—२१, २४, २६)

अर्थात् हे वासेठ्ठ! गोरक्षा पूर्वक जीविका करने वाला ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं कृषक है। व्योपार करने वाला ब्राह्मण वणिक् है। सैनिक का काम करने वाला 'युद्धजीवी' है। पुरोहिती से जीविका करने वाला 'याजक' और ग्राम-राष्ट्र का भोग करने वाला राजा है, न कि गुणकर्मानुसार ब्राह्मण ?

इस विवरण से ज्ञात होता है कि बुद्ध काल में भी ब्राह्मण कृषि, वाणिज्यादि भिन्न-भिन्न व्यवसायों में संलग्न थे एवं युद्धजीवी सैनिक और राजा-जमीदार भी थे। राजा ब्राह्मण याजक (पुरोहित) से प्रतिष्ठा में ऊँचे थे क्योंकि पुरोहित के बाद उनका विवरण देकर बुद्ध ने उनका उत्कर्ष प्रकट किया है।

मद्भागवत पुराणांतर्गत कलि वर्णन के 'राजानश्च प्रजा भक्षाः' का अनुवाद मात्र नहीं है। उन्होंने इसे अपने ढ़ंग पर प्रस्तुत किया है और इस प्रकार ब्राह्मणों की द्विविध परम्परा का विवरण देकर अपनी सामन्त परम्परा की सूचना दी है क्योंकि पुरोहित ब्राह्मण वर्ग का व्यक्ति 'द्विज स्तुतिवंचक' भूप प्रजासन' कहकर न अपने समाज की ही भर्त्सना करता और न ब्राह्मणों की द्विविध-परंपरा का ही उल्लेख करता।

उन्होंने 'रामचरित–मानस' में दो प्रकार के ब्राह्मणों को चित्रित किया है—प्रथम वे जो पुरोहित वर्ग के थे, जैसे—वसिष्ठ, सतानद और वामदेव और दूसरे वे जो अप्रतिग्राही थे, जैसे-बाल्मोकि, अत्रि, अगत्स्य, भरद्वाज, विश्वामित्र, परशुराम औरउज्जैनी का शिव भक्त ब्राह्मण। इनमें पुरोहित वर्ग के ब्राह्मणों का उन्होंने नामांकन मात्र किया है, प्रायः चरित्र प्रस्फुटित नहीं किया परन्तु अप्रतिग्राही ब्राह्मणों के चरित्र की यथावसर झलक भी मिलती है, जिससे ज्ञात होता है कि उनका मन कुछ उधर विशेष रमा है। इन ब्राह्मणों के साथ उन्होंने ब्रह्मबल और क्षात्रशक्ति दोनों का समन्वय किया है। ये ब्राह्मण वृत्तिमान थे और इनके आश्रमों में बहुत से लोग निवास करते थे। वसिष्ठ पुरोहिती करते हुए भी पुरोहिती के समर्थक न थे। यह कार्य उन्होंने विशेष प्रयोजन वश सीमित अवधि के ही लिए स्वीकार किया था। अस्तु उनका उदात्त चरित्र भी अंकित है।

गोस्वामी जी जन-साधारण की तत्कालीन दुर्दशा का चित्रण करते हुए कहते हैं—

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी'

—क० उ० ९७

इस कथन में क्रमशः चारों वर्णों की तत्कालीन जीविका का वर्णन है, जैसे—जमीदार वर्ग के ब्राह्मणों का व्यवसाय खेती, भिक्षुक वर्ग के ब्राह्मणों का व्यवसाय भिक्षा अर्थात् दान, क्षत्रियों का व्यवसाय बलि अर्थात् जीविकार्थ कर या नजर-भेंट लेना, वैश्यों का व्यवसाय वाणिज्य एवं शूद्र का व्यवसाय नौकरी। जमीदार वर्ग के ब्राह्मणों के व्यवसाय को प्रथम स्थान देने से उनकी और उनके व्यवसाय की वरिष्टता स्पष्ट है। उन दिनों खेती का व्यवसाय उत्तम माना भी जाता था; यथा—'उत्तम खेती मद्धिम बान।'

उन्होंने रामचरित मानस में जिस ब्राह्मण वेषभूषा का चित्रण किया है, वह अक्षम-अकिंचन ब्राह्मण का चित्र न होकर विशिष्ट ब्रह्मतेज के साथ अतुल क्षात्र-बलयुक्त ब्राह्मण का चित्र है यथा—

गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥
सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥
वृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृग छाला॥
कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनुसर कर कुठार कल कांधे॥
रा० बा० २६८

यही नहीं उन्होंने निम्नांकित दोहे में 'बूझिबो' से पहले 'जूझिबो' को स्थान देकर इस बात की ओर स्पष्ट संकेत दिया है कि उन दिनों जमीदार वर्ग के ब्राह्मणों को ही समाज में सर्वोच्च स्थान था और वे उसी वर्ग के थे क्योंकि पुरोहित वर्ग का ब्राह्मण 'जूझिबो' के पूर्व 'बूझिबो' को ही स्थान देता, परन्तु वे कहते हैं—

"के जूझिबो के बूझिबो, दान कि काय-कलेस।
चारि चारु परलोक पथ, जथा जोग उपदेस॥ दो० ४५१"

इसी प्रकार उन्होंने कुल धर्म की उपमा मेघ धर्म से दी है, यथा—

'कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत कुल उपजे, कुल के धर्म नसाहिं॥
रा० कि० १५

अस्तु इस प्रकार भी उनका प्रजापालक जमीदार वर्गीय ब्राह्मण होना प्रकट है।

बौद्ध जैन आदि अवैदिक धर्मों में दीक्षित होने, ब्राह्मणों से विद्वेष करने तथा शक हूण आदि विदेशी आक्रमणकारिणों से आक्रांत होने के कारण मध्ययुग में क्षत्रिय जाति का प्रायः लोप हो गया।[1] संस्कृति, समाज और देश की रक्षा का उत्तरदायित्व सब प्रकार के राष्ट्र के कर्णधार ब्राह्मण समाज के मत्थे आ पड़ा। ऐसी दशा में ब्राह्मण का महत्त्व केवल शास्त्र में प्रवीण होना ही नहीं, शस्त्र में

१—राजपूत युग के उत्तर काल में केवल शिर (ब्राह्मण) और पाद (शूद्र) ही सजीव थे। बीच के अवयव (क्षत्रिय और वैश्य) बड़ी तीव्रता से विकल और जड़ होने लगे थे (चंदेल और उनका राजत्व काल—का० ना० प्र० सभा पृ० १८५) प्राचीन क्षत्रिय जाति की स्थानापन्न राजपूत जाति की उत्पत्ति प्रायः उस ब्राह्मण वर्ग से हुई है, जो शस्त्र-शास्त्र दोनों में निष्णात था तथा जिसने देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में लेकर विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा की थी।

(दे० —विकास की एक धारा भाग २ अ० १ (राजपूत)

प्रवीण होना भी था। श्री पं० परमेश्वर प्रसाद शर्मा के कथनानुसार 'क्षत्रिय राजाओं ने अहिंसा का मन्त्र ग्रहण कर युद्ध में सेनापति का पद भी ग्रहण करना छोड़ दिया था, इसलिए बौद्ध धर्मावलम्वी राजा को सेनापति के पद के लिए ब्राह्मणों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। इससे बौद्ध काल में सेना संचालन का कार्य प्रायः ब्राह्मणों के हाथ में आ चला।[१] श्री पं० राम बहादुर शर्मा के कथनानुसार ब्राह्मणों का एक वर्ग वैदिक काल से ही शस्त्र-विद्या में प्रवीण और शासक वृत्ति का था।

'दसवीं-शती विक्रमी' के इतिहासकार 'इब्न खुर्दब' ने हिन्दुओं के सात वर्गों का उल्लेख किया है—(१) सब्कुत्रिया, (२) ब्राह्मण (३) क्षत्रिय (४) बेंसुर अर्थात् वैश्य (५) शूद्र (६) चांडाल और (७) लहुड अर्थात् घुमक्कड़। इनमें 'सब्कुत्रिया' को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। दूसरे सभी वर्गों के लोग इसके प्रति पूज्य भाव रखते थे तथा इसी वर्ग के लोग राजा बनाए जाते थे।

वस्तुतः 'सब्कुत्रिया' शासक वर्ग के ब्राह्मण ही थे। तभी तो इतर ब्राह्मणादि उनके प्रति पूज्य भाव रखते थे। दसवीं-ग्यारहवीं शती में पश्चिमोत्तर भारत पर ब्राह्मण राजा राज्य करते थे, जैसा कि 'अल्बेरूनी' के यात्रा-विवरण से विदित होता है। सब्कुत्रिया 'सर्वकर्तृ' का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है सर्व समर्थ। इस नाम का मिलान द्रोणाचार्य के कथन 'शापादपि, शरादपि' से किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी में भी ब्राह्मण दो वर्गों में विभक्त थे, जिनमें प्रथम और सर्वोच्च स्थान सर्व-समर्थ शासक वर्ग के ब्राह्मणों को प्राप्त था एवं इसीसे वे 'सर्व-कर्तृ' कहलाते थे। ब्रह्म तेज और क्षात्र-बल दोनों से संयुक्त सर्व शक्तिमान ब्राह्मणों का विवरण प्राचीनतम साहित्य में भी मिलता है यथा—

'यत्र ब्राह्मं च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्य प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना ॥ यजु २०।२५
ना ब्रह्म क्षत्र मिध्नोति ना क्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते :
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥ मनु० ६।१२२
ब्राह्मणस्यापि चेद्राजन् क्षत्र धर्मेण वर्ततः।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्म संभवम् ॥ महा० शा० २२।६
श्रूयंते हि तपः सिद्धा ब्रह्म-क्षत्र मया नृपाः ॥ वायु० ५७।१

२—सैनिक ब्राह्मण पृ० १६

तुलसीदास कवितावली में कहते हैं—

"ऊँचो मन ऊँची रुचि, भागनीचो निपट ही,
लोक रीति लायक न लंगर लवारु है।
स्वारथ अगम परमारथ कौं कहा चली,
पेट को कठिन जगजीव को जवारु है॥
चाकरी न आकरी न खेती न बनिज भीख,
जानत न कूर कछु किसन कबारु है।
तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम न तु,
भेटे पितरन को न मूँड़ हू में बारु है॥ क० उ० ६७

यह चित्र स्पष्ट ही एक ऐसे जमीदार-ब्राह्मण का है, जिसकी जमदारी जा रही है, वह ऐश्वर्य की कमी से 'ऊँचा मन' और 'ऊँची रुचि' रखते हुए भी 'लोकरीति' (दान-पुण्य आदि व्यवहार) में अपने को असमर्थ पाता है। अपने भाग्य को छोटा मान, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'लंगर' और 'लबार' बन जाता है। उसके लिए अन्य प्रकार से अपना पेट-पालन भी कठिन है क्योंकि उसने अपने जीवन में नौकरी, मजदूरी, खेती, वाणिज्य और भिक्षावृत्ति करना सीखा ही नहीं अथवा इस प्रकार की वृत्तियां अपनाने में अपनी अप्रतिष्ठा समझता है, इसलिए साधु-संन्यासी बनकर भगवान की शरण में जाने के अतिरिक्त उसकी प्रतिष्ठा-रक्षा का दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता[1]

वे अन्यत्र भी कहते हैं—

'सब अंगहीन सब साधन विहीन,
मन-वचन-मलीन हीन कुल-करतूति हौं।
बुधि बल हीन भाव भगति बिहीन,
हीन-गुन ज्ञान-हीन हीन भाग ही विभूति हौं॥ क० उ० ६६

स्पष्ट रूप से यहां सब अंगहीन होने का कारण 'भावभगति विहीन' होना 'मन-वचन मलीन' होने का कारण 'गुनज्ञान हीन' होना तथा 'कुल-करतूति' अर्थात् कुलमर्यादा के अनुसार आचार-व्यवहार से रहित होने का कारण 'भाग्य-हीन' तथा 'वैभव रहित' होना बताया गया है। वैभवरहित होने के कारण 'कुलाचार' में विरोध पड़ने की बात जमीदार-ब्राह्मण ही कह सकता है क्योंकि उन्हीं के कुलाचारों का सम्बन्ध वैभव पर अवलम्बित है।

---

[1] —वर वने व्याघ्र गजेन्द्र सेवनं द्रुमालये पत्र फलांबु सेवनम्।
तृणेषु शय्या शत जीर्ण वल्कलं, न बंधुमध्ये धनहीन जीवनम्॥
चा० नी० १०।१३

वे इसी छंद में आगे कहते हैं—"तुलसी गरीब की गई बहोर रामनाथ" इससे भी उनका जमीदार-परम्परा में होना प्रकट होता है, जिसकी जमीदारी चली जाने से प्रतिष्ठा घट गई थी, परन्तु रामकृपा से पुनः उसको प्राप्ति हुई।

प्रारम्भिक मुगल-काल 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का युग था। ज्ञात होता है कि ऐसी परिस्थिति में तुलसी को अनाथ जानकर उनके स्वार्थी-संरक्षकों, बन्धु-बान्धवों या दूसरे लोगों ने उनकी पैतृक-भूमि पर अधिकार कर लिया था।[1] उनकी रचनाओं में इस बात की झलक बहुधा पाई जाती है, यथा—

"सहवासी काचो मिलहिं, पुरजन पाक प्रवीन।
काल छेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खग मृग मीन ॥ दो०
जासु भरोसो सोइए, राखि गोद में सीस।
तुलसी तासु कुचाल तें, रखवारो जगदीस ॥

राज-समाज का 'कुसाज' और 'छल-कपट' उनका स्वतः अनुभूत था। दोहावली में उन्होंने उक्त राज-समाज और दुष्टों के कपटा चरण का जैसा विवरण दिया है, उससे यह संकेत मिलता है कि वे कदाचित उनके बन्धु-बांधव और अपना कहलाने वाले निकटवर्त्ती लोग ही थे। (दो० ४०३-४१३) और वे जमीदार ब्राह्मण थे, जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से प्रकट है—

'बिनु प्रपंच छल भीख भलि लहिय न दिए कलेस।
बावन बलि सों छल कियो दियो उचित उपदेश ॥ दो० ३६४

क्योंकि ऐश्वर्य वृद्धि के निमित्त छल प्रपंच और दूसरों को क्लेश देने की अपेक्षा 'भीख मांगना' अच्छा कहा गया है। संन्यास लेकर भीख मांगने का उपदेश नियमानुसार ब्राह्मण ही को दिया जा सकता था। उदाहरण में रखे गए बावन भी तो ब्राह्मण ही थे। ज्ञात होता है कि उनके साथ विश्वासघात और कपटा चरण करने वाले कुछ लोगों को अपने कुकृत्य पर लज्जा पश्चाताप और ग्लानि भी हुई थी क्योंकि कहते हैं—

बिबुध काज बावन बलिहिं छलो भलो जिय जानि।
प्रभुता तजि बस भे तदपि. मन को गई न गलानि ॥
दो० ३६६

---

[1] —दे०—अध्याय २ में छन्द २, ४ और ७–१२ की व्याख्या

अपनी पैतृक भूमि पर अधिकार करने वाले आसुर-स्वभाव[1] के लोगों का चित्र उन्होंने इस प्रकार खींचा हैं। इससे उनकी तत्कालीन मनः स्थिति का भी पता चलता है यथा—

"कुलकरतूति भूति कीरति सरुपगुन,
जौवन जरत जुर परै न कल कहीं।
राज काज कुपथ कुसाज भोग रोग ही के,
वेद बुधि विद्या पाइ बिबस बलकहीं॥
गति तुलसीस की लखै न कोऊ जो करत,
पब्बै तें छार, छार पब्बै पलक ही।
कासो कीजे रोष दोष दीजे काहि पाहि राम ?
कियो कलिकाल कुलि खलल खलक ही॥

क० उ० ९८

इस पद के द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि यह ऐसे ब्राह्मण समाज का चित्र है जो ऐश्वर्यशाली—राज-समाज होने के साथ-साथ 'वेद-बुद्धि-विद्या, युक्त तो था, ऐसा समाज उस युग में भूमिहार ब्राह्मण ही का था। गोस्वामी जी की पैतृक भूमि उनके बलवान सामंत बंधु-बांधवों या दूसरों द्वारा छीन ली गई थी, इसके प्रमाण उनकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर मिलते है यथा—

जीजे न ठाऊँ, न आपन गाऊँ सुरालय हू को न संबल मेरे—क०उ० ९२

'भाई को भरोसो न खरोसो बैर बैरी हू सों,
बलु अपनो न हितू जननी न जनको।' क० उ० ७७
जानकी-रवन मेरे, रावरे बदन फेरे,
ठाउँ न, समाउँ कहाँ, सकल निरपने'—वही ७८

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उनके पिता के शत्रुओं ने उनसे उनका गाँव भी छीन लिया था,[2] जिससे उनको निराश्रित होकर भटकना पड़ा था।[3] नको उनके उत्तराधिकार से वंचित करने में तत्कालीन राज्य का भी हाथ था

---

[1] —'ईश्वरो ऽ हमहं भोगी सिद्धो ऽ हं बलवान्सुखी।'—गीता १६।१४

[2] —जोरे नए नाते नेह फोकट फीके,
देह के दाहक गाहक जीके॥ वि० १७६

[3] —मेरे कोऊ कहुं नाहि चरन गहत हौं—वि०
और—'जाउँ कहां ? ठौर है कहाँ देव ! दुखित दीन को'—वि०२७४

तथा कदाचित राज्य के षड़यंन्त्र से भी वे अपने स्वत्व से रहित कर दिए गए थे, उनके निम्नांकित कथनों से ऐसी ही ध्वनि निकलती है—

'वेद–धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए—क० उ० ७७
'पाहरूई चोर देखि हिय हहरान है।'—वही ८०

गोस्वामी जी के मन से अन्यायपूर्वक किए गए 'स्वत्वापहरण' की कसक जल्दी निकल नहीं पाती थी, जैसा कि वे कहते हैं—

'बार-बार लालच धरनि धनधाम की—क० उ० १२४
और—'जाय तौ नजरनि धरनि धनधाम की'—क० उ० ११६

आखिर 'धरनि-धन-धाम की जलन' का कारण क्या है? जब किसी ने अन्यायपूर्वक छल से या बलात् उस पर अधिकार कर लिया था तभी तो उसके लिए जलन हो रही थी? इस कथन से साफ प्रकट है कि गोस्वामी जी का जन्म एक भूम्याधिकारी, सम्पत्तिशाली और प्रतिष्ठित वंश में हुआ था किन्तु इनका सब कुछ दूसरों ने ले लिया था, जिसका क्षोभ, साधु होने पर भी उनके मन से दूर नहीं हो पाता था।

उन्होंने विनय पत्रिका में भी 'कुल' और 'कारनी' का अपने से एक साथ विमुख होना बताकर 'राज्य' और बंधु-बांधवों के षड़यंत्र से अपनी भूमि पर औरों का अधिकार हो जाने की बात स्वीकार की हैं—

'राम सोहातो तोहिं जो तू सबहिं सोहातो।
काल, कर्म, कुल कारनी, कोऊ न कोंहातो॥ वि० १५१

गोस्वामी जी का जन्म एक परम्परागत जमीदार परिवार में हुआ था। यहाँ कारनी (कार्णिक=जमीदारी का पट्टा देने वाला रजिस्ट्रार) का उल्लेख इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है। निम्नांकित कथन द्वारा तो और भी स्पष्ट हो जाता है कि उनका जन्म सामंत-ब्राह्मण परम्परा में हुआ था—

'हौ सुवरन कुवरन कियो, नृप तें भिखारि करि,
सुमति ते कुमति करयो हौ॥ विनय २६६

कुछ लोग कवितावली और विनय-पत्रिका के कतिपय छन्दों का उदाहरण देकर यह बतलाना चाहते हैं कि गोस्वामी जी का जन्म एक दीन–हीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था किन्तु यदि उन्हीं छन्दों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि गोस्वामी जी निश्चित रूप से जमीदार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। अस्तु इसी ग्रंथ के अध्याय २ में उक्त छन्दों की व्याख्या देखी जा सकती है।

गोस्वामी जी एक स्थान पर अपने कष्टों[1] का विवरण देते हुए कहते है—

असन बसन हीन, विषम विषाद लीन,
देखि 'दीन-दूबरो' करै न 'हाय-हाय' को।

इस कथन से यह ध्वनित होता है कि उनका जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जो पहले धनी और संपन्न ही नहीं वरंच आसपास और दूर के लोगों में भी प्रसिद्ध था क्योंकि इन्हें 'दीन-दूबरो' देखकर लोग 'हाय-हाय' करते थे।

जो परम्परा से दीन-हीन है अथवा जिसके वंश की प्रसिद्धि नहीं है या जिससे लोग अपरिचित है उसको भीख मांगते हुए या दुःखी देखकर लोग दया तो करते परन्तु कोई 'हाय-हाय' नहीं करता। करुणा का विशेष उद्रेक उसीके प्रति होता है जो कर्म विपाकवश महान् पद से गिरकर लघु बन जाता है, जिस पर आकस्मिक विपत्ति आ जाती है और वह राजा से रंक हो जाता है। तुलसीदास की ऐसी ही स्थिति थी, जिससे उनको देखकर लोगों की करुणा उमड़ पड़ती थी और वे 'हाय-हाय करने लगतें थे।

यदि तुलसीदास परम्परया गरीब परिवार के मंगन ब्राह्मण होते तो साधारणतया लोग दया करके उन्हें कुछ दे देते, उन्हे खिला पिला देते अथवा वस्त्र देकर उनकी सहायता करते और इस प्रकार के पुण्य कार्य से उन्हें खुशी होती, उन्हें मानसिक सन्तोष होता अस्तु 'हाय-हाय' करने की स्थिति ही नहीं उत्पन्न होती, परन्तु तुलसी के कष्टों को दूर करना सबके बस की बात न थी। केवल इस स्थिति का अवलोकन कर लोग मानसिक संतुलन खो देते थे उन्हें दुःख होता था और वे व्याकुल हो उठते थे।

श्री राम-लक्ष्मण-सीता को भी तो वल्कल धारण कर नंगे पांव वनमार्ग में पैदल चलते हुए देखकर लोगों को सहानुभूति उमड़ पड़ती थी और वे दुःखी हो जाते थे। क्यों ? इसलिए कि वे राज-परिवार के थे। यही बात तुलसी के विषय में भी कही जा सकती है।

---

[1] —तुलसीदास ने अपनी अयोग्यता का जहाँ-तहाँ जो परिचय दिया है, वह इतना अतिरंजित है कि उसकी यथार्थ व्याप्ति का ठीक-ठीक पता लगाना अत्यंत कठिन है। × ×
हम तुलसीदास की स्वकथित जीवनी पर विचार करते समय विशेष सावधानी से काम लें और उससे कुछ निष्कर्ष निकालने में सदा सतर्क रहें।
पं० चन्द्रबली पांडेय—तुलसीदास पृ० १६

एक और बात है, स्वार्थ के साथियों ने तुलसीदास को 'तिजरा के टो की भांति छांड़ दिया था। स्वार्थ के साथियों की चर्चा उन्होंने अनेक बार की है यथा—'स्वारथ के साथी सब हाथी स्वान लेवा देई' 'जब जाको का तब मिले पाँय परि सो' 'चरहिं हरे तापहिं बरे, फरे पसारहिं हाथ' 'तुल स्वारथ मित सब' आदि। 'स्वार्थ के साथी' दीन-दुखियों के यहाँ नहीं होते क्योंकि उनसे तो किसी प्रकार का स्वार्थ सिद्ध होना सम्भव नहीं है। स्वाथ के साथी धनी-मानी राजा-जमीदार के ही यहां रहते हैं।[1] जबतक स्वार्थ सिद्ध होता रहता है, तबतक तो वे 'गुड़ के चिउँटा (चींटा) बने रहते हैं किन्तु ज अवसर निकल जाने पर इस प्रकार पैंतरा बदल लेते हैं जैसे कभी की जान-पहचान ही उनसे न हो।[2] ये अवसरवादी खुशामदी लोग समयानुसार घनि मित्र से घोर शत्रु तक बन जाते हैं[3] तथा स्वार्थ सिद्धि के लिये शत्रुओं के साथ षड़यन्त्र करने लगते हैं। तुलसीदास को भी बाल्यावस्था में ऐसे ही स्वार्थ के साथियों का पाला पड़ा था, जिससे स्पष्ट झलकता है कि उनका जन्म जमीदार-वंश में हुआ था। 'हाथी स्वान लेवादेई' का सम्बन्ध जमीदार छोड़ और किससे हो सकता है?

वे कहते हैं:—

द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनी दस दिसा दुख दोष दलन छम,
किया न संभाषन काहूँ॥ विनय० २७५

सोचने की बात है—जब स्वयं तुलसीदास ही स्वीकार करते हैं कि दसो-दिशाओं में दोष-दुःख दूर करने वाले क्षमताशाली दयालु पुरुष हैं, परन्तु किसी ने मुझसे बात तक न की; उसका कारण क्या है? स्पष्ट है कि उनकी जमीदारी शत्रुओं द्वारा ले ली गई थी और तुलसीदास जैसे साधनहीन व्यक्ति के लिए कोई उनलोगों से युद्ध करने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि ऐसा करने में उसे 'राज' और 'राज-समाज' से भी भय था।

गोसाई जी के निम्नांकित कथानों द्वारा भी स्पष्ट होता है कि उनका 'कुसमाज' और 'कुराज' से पाला पड़ा था और वह समाज उनका अपना

---

[1] —यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बांधवः—चा० ७।१५

[2] —'त्यजंति मित्राणि धनैर्विहीनं'—चा० १५।५

[3] —उपकार भयात् कृतघ्नी शत्रुर्भवति।

कालवर्ती समाज ही था, जो राग रोष और लोभमद से भर रहा था, यथा—

'बड़े कुसमाज-राज आजु लौं जो पाए दिन,
महाराज क्योंहू भाँति नाम ओट लई।' —विनय० २५२

'काल्हि ही तरुन तन, काल्हि ही धरनि धन,
काल्हि ही जितौंगे रन कहत कुचालि है।
काल्हि ही साधौंगे काज, काल्हि ही राजा समाज,
मसक ह्वै कहैं भारु मेरे मेरु हालि है॥ क० उ०१२०

गोस्वामी जी द्वारा निम्नांकित कथन यद्यपि अध्यात्मिक अभिप्राय को दृष्टि रखकर किया गया है, परन्तु उससे यह भी प्रकट होता है कि उनका जन्म द्धप्रिय जमीदार ब्राह्मण परंपरा में हुआ था। उस समय विजित जमीदार की र्गति हो क्या थी ? वह सदैव त्रिताप में तपता रहता था[1] अस्तु उसके लिए श्यक था कि वह लौटकर पुनः युद्ध करे। इस प्रकार वह राढ़ (कायर) लाने की अपेक्षा 'रावत'[2] होने का यश ले सकता था, यथा—

---

[1]—वरं प्राण परित्यागो मान भंगे न जीवनात्।
प्राण त्यागे क्षणं दुःखं मानभंगे दिनेदिन॥ चा० १६।१६

[2]—गौतमचन्द्रिका से विदित होता है कि गो० तुलसीदास के मित्र टोडर का आस्पद 'राउत' था, यथा—'टोडर राउत नाम उजागर' जो ब्राह्मण जमीदार थे। हिन्दू काल में सेना के एक प्रकार के अधिकारी 'राउत' कहलाते थे। मैथिल कवि विद्यापति ने भी इसी अर्थ में 'राउत' शब्द का प्रयोग किया है, यथा—

'व्याय सिंह राउत्त सुजाण। संगाम परक्कम अजुन समाण॥
कीर्ति लता पल्लव ३

और—राउत्ता रोस लग्गीआ। खग्गे ही खग्गा भग्गीआ॥ वही पृ० ४

तथा—'अस्सवार असिधार तुरअ राउत सजे टुट्टइ।' वही पृ० ४

'रावयति इति शत्रून् स रावतः' अर्थात् शत्रुओं को रुलाने वाला 'रावत' कहलाता है। राजपूत काल में 'रावत' ब्राह्मणों की उपाधि थी। इसके लिए त्रैलोक्य वर्मन आदि चंदेल राजाओं के ताम्रपत्र और कालिञ्जर, अजयगढ़ आदि के शिला लेख देखे जा सकते हैं. इनमें कई लखनऊ संग्रहालय में हैं। आज भी 'रावत' उपाधिधारी जुझौतिया कान्यकुब्ज और भूमिहार ब्राह्मण पाए जाते हैं (दे०—जुझौतिया ब्राह्मणों के इतिहास की रूप रेखा पृ० १६९ और 'कान्यकुब्ज कुल दर्पण) 'राउत' आस्पद सेनाधिकारी होने का द्योतक है। गोस्वामी जी ने भी इसी अर्थ में निषादराजगुह के नाम के साथ इसका उपयोग किया है यथा—'गुह राउतहिं जोहारे जाई (रा० अ० १११

'इनमें एको न भयो, बूझि न जूझो न जयो,
ताहि तें त्रिताप तयो लुनियत बई॥ वि० २६

इसी प्रकार—'तुलसी तेरी भलाई अजहूँ बूझे।
राढ़उ राउत होत फिरि के जूझे॥ वि० १६

गोस्वामी जी कवितावली में कहते हैं—

"मारग मारि महीसुर मारि, कुमारग कोटिक के धन लीयो।
संकर कोप सों पाप को दाम, परीछित जाहिं ग जारि के हीयो॥
कासी में कंटक जेते भए, ते गे पाइ अघाइ के आपनो कीयो॥
आजु की कालि परौं कि नरौं जड़, जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो॥

क० उ० १७

इस कथन में 'महिसुर' को मार कर शासक द्वारा जो धन लेने की बात कही है, उस रहस्य पर विचार करना है क्योंकि मुगलकाल में तो ब्राह्मणों से जजिया कर भी नहीं लिया जाता था, फिर उनको मार कर धन लेने का क्या अर्थ! वस्तुतः यहाँ 'महिसुर'[1] का तात्पर्य जमींदार ब्राह्मणों से है। 'आईनअकबरी' से विदित होता है कि उन दिनों 'बनारस सूबे' के अधिकांश अर्थात् १९ परगने भूमिहार ब्राह्मणों के ही अधिकार में थे, जिनसे कड़ाई से कर वसूल किया जाता था एवं उन्हें नाना प्रकार से दबाने तथा उनसे भूम्याधिकार छीनने का यत्न किया जाता था। शासक वर्ग की इस कुचाल के तुलसीदास स्वयं भुक्त भोगी रह चुके थे।

वे कहते हैं—

'प्रभु के बचन वेद बुध सम्मत, मममूरति महिदेव मई है।
तिनकी गति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है।
राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥

—वि० १३

स्पष्ट रूप से यह वर्णन जमींदार ब्राह्मणों के लिए किया गया है। वे ही अधिकार और भूमि के लोभ से परस्पर मदांध होकर लड़ते-झगड़ते और मोह से

---

[1] १—श्री पांडेय सूर्यनारायण शर्मा ने मुइंहार (भूमिहार) की व्युत्पत्ति भूमिसुर से की है यथा—

भूमिसुर ∠ भूमिहुर ∠ मुइँहुर ∠ मुइँहार।

वशीभूत हो रहे थे, जैसी स्थिति आज भी है। वे ही प्रायः राज-समाज में सम्मिलित होकर कलुष कुचाल की कल्पना करते थे एवं अध्यात्मवाद से विमुख हो हेतुवादी बन गए थे।

'विनय-पत्रिका' में एक स्थान पर गोस्वामी जी का कथन इस प्रकार है—

"मेरे रावरिये गति है, रघुपति बलि जाऊँ।
निलज; नीच, निरधन, निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाऊँ
॥ १५३ ॥

यह सभी जानते हैं कि जब ठाकुर (भू स्वामी) ठाँव (स्थान या भू-स्वामित्व) रहित हो जाता है तो उसका भगवान की शरण में जाने के अतिरिक्त दूसरी जगह ठिकाना नहीं लगता। किन्तु जो भूस्वामी नहीं हैं उनके लिए तो स्वयं ही 'ठाकुर' भी हैं और 'ठाँव' भी। भोजपुरी लोकोक्ति भी है—'कहाँ गाय का नइहर, कहाँ परजा का देस।' अस्तु इस कथन से यही प्रकट होता है कि तुलसीदास जमीदार वंश में उत्पन्न हुए थे और जिनकी भूमि पर दूसरों ने, अधिकार कर लिया था एवं उनको निःसहाय तथा बे ठिकाना बना दिया था। ऐसी दशा में उनके लिए भगवान् की शरणागति छोड़ दूसरा मार्ग न था?

तुलसी के जीवन में जो कटु अनुभव हुए, वे उनके जमीदार-परम्परा में उत्पन्न होने के कारण ही हुए। यदि वे जमीदारेतर ब्राह्मण होते तो उनके प्रति सभी दया करते क्योंकि दीन-दुःखी और अनाथ के प्रति तो सबके ही मन में दया उत्पन्न होती है। स्वार्थ साधन ही दया और कर्त्तव्य-पालन में बाधक है। स्वार्थ की साधना धनी-मानी ऐश्वर्यशाली लोगों के ही निमित्त से अनुकूल या प्रतिकूल रहकर की जा सकती है। तुलसी को अनाथ जानकर लोगों ने उनसे प्रतिकूल स्थिति में स्वार्थ सिद्ध किए। इसलिए उनके प्रति दया का प्रश्न ही नहीं था। दोहावली के निम्नांकित दोहे इसी की ओर संकेत करते हैं—

"हरे चरहिं तापहिं बरे, फरे पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब, परमारथ रघुनाथ ॥ ५२ ॥
तुलसी सब बाधक भए, साधक भए न कोइ।
तुलसी राम कृपालु तें, भलो होइ सोइ होइ ॥ १०० ॥
पियहिं सुमन रस अलि, विटप काटि कोल फल खात।
तुलसी तरुजीवी जुगल, सुमति कुमति की बात ॥३४३॥
बिरचि परखिए सुजन जन, राखि परखिए मंद।
बड़वानल सोषत उदधि, हरष बढ़ावत चंद ॥ ३७४ ॥

हित पुनीत सब स्वारथहि, अरि असुद्ध बिनु चाड़।
निज मुख मानिक सम दसन, भूमि परे पर हाड़
॥ ३३० ॥

तुलसीदास जी के समय में आजकल (सं० २०२७वि) की भाँति भारत में 'संतति-नियोजन' की परिस्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी, फिर भी उन्होंने 'बहुसुत' होने को दुःख और अकल्याण का कारण कहा है; यथा —

"बहु सुत, बहु रुचि, बहुबचन, बहु अचार-व्यवहार।
इनको भलो मनाइबो, यह अज्ञान अपार॥
दो० ४९०

मुगल काल में बहुत से पुत्रों का होना राजा-जमीदारों के लिए अभिशाप स्वरूप था क्योंकि भाईयों में अधिकार के लिए प्रायः कलह हुआ करता था और संपत्ति का विभाजन हो जाया करता था। जमीदार वर्ग के लिए यह स्थिति दुःखद और ह्रासकारी ही थी[1], जिसकी ओर तुलसीदास का ध्यान सामान्य रूप से गया। सामान्य रूप में उनका उक्त कथन उनके जमीदार वर्ग का होना बतलाता है।

'तुलसी काल' परस्पर राजा-जमीदारों के संघर्ष और कलह का युग तो था ही। अपना-अपना अधिकार बढ़ाने के लिए प्रायः सभी युद्धरत रहते थे, जिससे आंतरिक सुख-शांति दूर हो गई थी। नित्य बिनाश लीला घटित होने से सामाजिक विकास अवरुद्ध हो गया था। गोस्वामी जी ने कलह के इस दुष्परिणाम की ओर लोगों की जो दृष्टि आकर्षित की है, उससे भी उनका जमीदार ही होना प्रकट होता है क्योंकि अनुभूत विषय का ही उपदेश दिया जाता है। कहते है —

'सुमति विचारहिं परिहरहिं दल सुमनहुँ संग्राम।
सकुल गए तन बिनु भए, साखी जादो काम॥ ४२५
जूझे ते भल बूझिबो, भली जीति तें हारि।
डहके तें डहकाइबो भलो जो करिय बिचारि॥ ४३१॥

---

[1] —जमीदार वर्ग को छोड़कर अन्य वर्ग के लोगों में अधिक पुत्रोत्पत्ति ह्रास का कारण न होकर विकास का कारण माना जाता है क्योंकि इस प्रकार उनके यहाँ उत्पादन की वृद्धि और शक्ति का समायोग होता है किन्तु जमीदारों की स्थिति इसके विपरीत रही है।

कलह न जानब छोट करि कलह कठिन परिनाम।
लगत आगि लघु नीच गृह जरत धनिक घन धाम ॥ दो०

उस समय एक राजा-जमीदार के राज्य पर दूसरा राजा-जमीदार किस प्रकार अधिकार कर लेता था, यह तुलसीदास की आप बीती बात थी। उन्होंने 'कृष्ण गीतावली' में ऐसा ही एक रूपक बाँधा है यथा—

"कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह व्रजभूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ॥
घन धावन बगपाँति पटो सिर बैरख तड़ित सुहाई।
बोलत पिक नकीब गरजनि मिस मानहुँ फिरत दोहाई ॥
चातक, मोर, चकोर, मधुप, सुक, सुमन, समीर सुहाई।
चाहत कियो बास वृन्दावन बिधि सों कछु न बसाई ॥
सींव न चाँपि सक्यो कोऊ, तब जब हुतो रामकन्हाई।
अब तुलसी गिरधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई
॥ ३९ ॥

इस पद में 'मिलिक' 'बैरख' नकीब' आदि शब्द सरकार सम्बन्धी हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग जमीदार ब्राह्मणों द्वारा होना ही संभव है क्योंकि उनका राजकाज से सम्बन्ध था।

तुलसीदास जी ने वीर रस का बड़ा ओजस्वी वर्णन किया है और युद्ध के उत्साहवर्द्धक चित्र खींचे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि—"उत्साह नामक भाव की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष को पहुंची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रचंड है।"[1] उन्होंने कायर पुरुषों के प्रति जैसा व्यंग्य और उपहास किया है, उससे उनका वीर पुरुष होना प्रकट होता है और यह भी ज्ञात होता है कि उनका जन्म तथा पालन-पोषण ऐसे समाज में हुआ था जो रण विद्या में कुशल था, यथा—

'भरुहाए नट भाट के चपरि चढ़े संग्राम।
के वें बांधे जाइहें के भागे परिनाम ॥' दो०

तुलसीदास ने अपने दुःख-दैन्य-पूर्ण बाल्यावस्था का जो चित्र खींचा है और उसका कारण अपने दुर्भाग्य को बताया है, वह एक प्रकार का यौक्तिकीकरण है

१—त्रिवेणी पृ० १३९

यौक्तिकोरण के विषय में डा० यदुनाथ सिनहा का कथन है कि—'लोग अपनी निर्बलताओं भूलों या अपराधों को सहन नहीं कर सकते। वे उनके अन्दर आत्म-तिरस्कार उत्पन्न करते हैं, वे उनसे पलायन करना चाहते हैं, इसलिए वे अपने दोषों का यौक्तिकीकरण करते हैं। वे ऐसे तरीकों से उनके स्पष्टीकरण का प्रयत्न करते हैं, जो उन्हें अपने और दूसरों के सम्मुख अधिक स्वीकार्य बना सकें। यह प्रक्रिया यौक्तिकीकरण कहलाता है। (मनोविज्ञान पृ० २८७)

यौक्तिकीकरण मानसिक-असन्तोष की एक प्रतिक्रिया है, जिसके द्वारा आत्म-संतोष की उपलब्धि की जाती है, अस्तु इस कारण कार्य पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि तुलसीदास जी द्वारा अपनी बाल्यावस्था के दुःख दैन्य का वर्णन, उसके पहले की उनको या उनके माता-पिता के वैभवशाली होने की सूचना देता है। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का मानसिक-असंतोष उनके विरक्त हो जाने के बाद भी उनके मन में क्यों दबा हुआ था ? इसका उत्तर यह है कि विरक्ति के मूल में भी तो मानसिक-असन्तोष ही होता है। 'प्रत्येक मानसिक-प्रक्रिया कुछ संस्कारों का जाल छोड़ जाती है, जो व्यक्ति के मानसिक गठन में संरक्षित रहते हैं।

प्रत्येक अनुभव एक गुजरने वाली घटना होता है, वह एक मानसिक व्यापार होता है। जब वह होता है तो मानसिक–संरचना में परिवर्तन पैदा करता है। जब मानसिक घटनाएं गुजर जाती हैं तो अपने पीछे कुछ संस्कार जाल छोड़ जाती हैं जो संरक्षित रहते हैं। वे मानसिक ढांचे में प्रवृत्तियां छोड़ जाती हैं। बाद में जब वे जगकर सक्रिय हो जाती हैं तो अतीत अनुभवों का प्रत्याह्वान या स्मरण होता है।[1]

अस्तु तुलसीदास जी के इन कथनों द्वारा कि—'मनोराज[2] करत अकाज भयो आजु लगि, मति अति रंक मनोरथ राऊ, मति अति नीच ऊँच रुचि आछी से यह झलकता है कि उनका जन्म धनी-मानी उच्चकुल में हुआ था। 'काल

---

[1]—डा० यदुनाथ सिनहा—मनोविज्ञान (हिन्दी सं०) पृ० २२३

[2]—दिवास्वप्न (मनोराज्य) वासना के पूर्तिकारक होते हैं वे एक कार्य की योजना बनाते हैं। वे कल्पना के खेल मात्र होते हैं। वे दबी इच्छाओं की नग्निपूर्ति करते है। दिवास्वप्न के नायक कभी विजयी और कभी पीड़ित होते हैं। पीड़ित नायक के दिवास्वप्न में भी स्वस्थापन की सहज प्रवृत्ति को तृप्ति मिलती है।

डा० यदुनाथ सिनहा—मनोविज्ञान (हिन्दी) पृ० २७२

करम कुल कारनी कोऊ न कोंहातो' कहने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि वे जमीदार-वंश परम्परा में उत्पन्न हुए थे और उनके कुल के लोगों तथा करणिक आदि राजकर्मचारियों ने भी उनका विरोध कर उन्हें अनाथ बनाया एवं उनके दुःख दैन्य को बढ़ाया था, किन्तु वे न किसी को दोष देते हैं, न किसी पर रोष प्रकट करते हैं। यह कहकर कि—'मेरे ही अभाग नोंहों सकुचत सब छुइछाहूं आत्म-संतोष पाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार उनके दुःख-दैन्य की कहानी उसके मूल में उनको सामंत एवं वैभवशाली-परंपरा की ओर संकेत करती है।

संबंध—

पहले बताया जा चुका है कि बलिया नगर से पूरब हल्दो के पास तुलसीदास की माता 'हुलासी सती' का स्थान है जो कस्तुवार भूमिहार ब्राह्मण वंश की बताई जाती है। कस्तुवार ब्राह्मणों के मूल पुरुष को सम्राट् जयचन्द के भाई माधाता ने बहुत से गांवों का अग्रहार दिया था और अपना मन्त्री बनाया था। मन्त्री-परम्परा के लोगों का आस्पद 'प्रधान' है शेष लोग पांडेय' उपाध्याय राय और 'ठाकुर' उपाधियों वाले हैं। कुष्टपूत (कठौत) में निवास करने से ये लोग 'कुष्टपूतवार' कहलाए, जिसका विकसित रूप 'कस्तुवार है। आजकल इस वंश परम्परा के लोग गाजीपुर जिले के सुखपुरा, हाटा आदि, बलिया जिले के, काशीपुर, गोपालपुर, टेकार, दरामपुर आदि और शाहाबाद जिले के डूमारियों, राजापुर-गंगौत्री आदि गांवों में बसे हुए हैं।

गौतम चन्द्रिका में तुलसीदास का विवरण दिए जाने और उनकी स्मृति में उसकी रचना किए जाने से स्पष्ट है कि उनका संबंध गौतम वंश से था। उन्होंने 'हा कुल देवी गौतमी माता' कहकर गौतम वंश में अपना ननिहाल होना स्वीकार किया है। गौतम-चन्द्रिका में अन्यत्र भी उनके लिए 'गौतमी तुलसी' का व्यवहार हुआ है। गौतम वंश के आदि पुरुष कोठू (कृष्ण) मिश्र ११ वी शती में पिपरा (सरवार) से काशी में आए थे। काशी राज्य के नष्ट होने पर इनके वंशजों ने समस्त 'काशिवार' पर अधिकार कर लिया और १८ वीं शती में उनका अधिकार अवध से बघेल खंड तथा प्रयाग के पूरब से गंगा-सरयू के संगम तक हो गया था। वर्त्तमान काशीराज और राजा अवसान गंज उसी वंश-परम्परा में हैं।

श्री भगवान सिंह नें 'मानस माधुरी' की भूमिका पृ० २० पर लिखा है कि गो० तुलसीदास को ससुराल पनासा (इलाहाबाद) के हीरापुरी पांडेय-वंश में थी' उक्त स्थान पर तुलसीदास जी द्वारा स्थापित 'हनुमान जी' की मूर्त्ति

भी है[1] जनश्रुति के अनुसार यहाँ के विक्रमशाह को तुलसीदास के आशीर्वाद से एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'रामचेरी' रखा गया।

तुलसीदास की पत्नी जिस परिवार की कही जाती है, उस परिवार के लोग पनासा से दो मील दूर गंगातट पर गढ़ेल में बसे हुए हैं। हीरापुरी पांडेय वंश के पूर्वज 'पुराण पांडेय' हीरापुर (उन्नाव) से १५ वीं शती में आए थे और उन्होंने गंगा और टौंस के संगम पर 'पुराणवासपुर' बसाया, इसीका परिवर्तित रूप 'पनासा' है। पुराण पाण्डे के वंशज इलाहाबाद जिले के पनासा, लोहनपुर, रामगढ़, वीरपुर, महरूडीह, कल्यानपुर, मुंडा आदि गांवों में बसे हुए हैं। बरांव और वीरपुर का राजवंश भी इसी परम्परा में है।

काशी में गो० तुलसीदास भदैनी के जमीदार श्री टोडर ठाकुर के यहां रहते थे। टोडर ठाकुर के पूर्वज गहरवार राजाओं से अग्रहार प्राप्त कर कन्नौज से काशी में आकर बस गए थे। इनके वंश के लोग[2] तुलसीदास को निधन तिथि पर परम्परा से श्राद्ध करते आ रहे हैं जिससे प्रकट होता है कि तुलसीदास का टोडर ठाकुर से नाता-रिश्ते का घनिष्ट सम्बन्ध था। उक्त सभी वंश परम्परायें भूमिहार-ब्राह्मणों में सम्मिलित हैं।

श्री पं० परमेश्वर प्रसाद शर्मा (भूतपूर्व संस्कृति विभागाध्यक्ष, संत कोलम्ब-कालेज, हजारीबाग) के कथनानुसार भी 'गो० तुलसीदास को जमीदार ब्राह्मणों ने प्रश्रय दिया, उनकी रामायण और रामलीला का प्रचार किया कराया तथा उनके द्वारा श्री हनुमान जी के विग्रह स्थापित कराए। यहीं तक नहीं उनके नाम पर स्मारक खड़े करने वाले,[3] उनकी स्मृति में ग्रंथ रचना करने वाले और आज तक उनकी वार्षिक तिथि पर श्राद्ध करने वाले इसी समाज के लोग हैं। श्री तुलसीदास की निवास भूमि अयोध्या काशी, चित्रकूट राजापुर आदि में इसी समाज के लोगों ने अनेक कृतियां खड़ी कीं। उक्त स्थानों को इस समाज के लोग आज भी आच्छादित किए हुए हैं, जबकि वे प्रायः (काशी छोड़कर) उन क्षेत्रों के निवासी नहीं हैं।

१—पुराना मन्दिर गंगाजी में गिर गया है।

२—इस समय 'टोडर' की वंश परम्परा के उत्तराधिकारी लड़की के वंशज हैं जो गर्ग गोत्र के हैं। टोडर 'कश्यप, गोत्र के थे।

३—यह स्थिति इस समय भी देखी जा सकती है, जैसा कि बनारस जिले के 'तुलसी-आश्रम' रेलवे-स्टेशन का नामकरण किए जाने से व्यक्त है, जिसका पहले 'महेसुवा (महेश गाँव) नाम था।

प्रायः तुलसीदास द्वारा संस्थापित हनुमत्स्विग्रह और स्मृति चिह्न भूमिहार ब्राह्मण केन्द्रों में ही पाए जाते हैं जैसे गढौली (मिर्जापुर), पनासा (प्रयाग), कोट-ब्रह्मपुर (शाहाबाद), असी (वाराणसी), हनुमान गढी (अयोध्या) आदि। राजापुर का मन्दिर भी काशिराज द्वारा निर्मित कराया गया कहा जाता है। श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र 'गोसाईं तुलसीदास पृ० ११५ पर लिखते हैं कि बिहार के बढ़इया (पटना) जनपद में 'मानस' की प्राचीन परंपरा सुरक्षित की गई है।

रामनगर, वाराणसी आदि में तुलसीदास-प्रणीत ग्रन्थों की पुरानी हस्तलिपियां और उनके हस्त लेख भी सुरक्षित हैं। बलिया सारन गया, पटना चमारन और शाहाबाद तुलसीदास सम्बन्धी स्मृतियां और स्मृति चिह्नों को कहावतों, जनश्रुतियों, स्मारकों और उनके नामानुसार बसे हुए ग्रामों[1] के रूप में आज भी संजोये हुए हैं। उपर्युक्त सभी स्थान प्रायः भूमिहार-ब्राह्मणों के ही केन्द्र है जिससे प्रकट होता है कि तुलसीदास के भूमिहार-ब्राह्मणों का कुछ विशेष लगाव और अपनत्व रहा है, जो उपर्युक्त विवेचन से वंशगत होना सिद्ध है। कहा है—'स्वजातौ परमा प्रीतिः (ब्र० वै० पु० ४।३।४४) अस्तु. अपनी वंश-परम्परा से विशेष प्रीति का होना स्वाभाविक है।

कुलीनता—

जिस प्रकार फल से उसके उत्पन्न करने वाले पौधे की पहचान होती है, उसी प्रकार संतान से उसके मात-पिता और कुल-परम्परा की पहचान होती है।

---

[1] —कतिपय भूमिहार-ब्राह्मण केन्द्रों में तथा तुलसी की तथाकथित जन्मभूमि के निकटवर्ती क्षेत्र में तुलसी परिवार के नाम पर परस्पर पास-पास बसे हुए गाँव मिलते हैं, जैसे—

सारन मंडल और उसकी सीमा पर चम्पारन मंडल में—हिलसर, हुलेसरा, हुलास छपरा, हुस्सेपुर, तुलसिया, जमुआंव, राघपुर, राजापुर, जमुनापुर, तुलसीपुर, तुलसीपट्टी, हुस्सेपुर, हुसेली, रघुनाथपुर, नरहन, नरवब, नेवारी, नरहरपुर।

आरा मंडल और उसकी सीमा पर गया-पटना में—राजपुर, राजापुर, हुलस डेहरा, तुलसीपुरा, तुलसीपुर (मठ), हिलसा, हुलासगंज, तुलसीपुर तुलसी, रघुनाथपुर जमुईं मरांव।

बलिया में—राजापुर, राजपुर, हुलासगढ़, हुलसपुर, हुलसडेरा, हुलसीसती, गोसाईंपुर, तुलसी छपरा, तलसरा, जमुई, जमुआंव, रघुनाथपुर नरही नरहा, नरहनी,

व्यक्ति बहुत सी बातों में अपनी परंपरा से सम्बद्ध होता है, विशेषकर शारीरिक-गठन, मानसिक-स्थिति और गुण-स्वभाव में। श्री ई० एल० जार्डन और हरीशचन्द्र निगम के कथनानुसार 'एक समाज अथवा कुल के इतिहास' से आनुवंशिक लक्षणों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाह की सहायता लेनी होती है।"[1] इसलिए कुल से व्यक्ति को विलग करके उसके गुण-स्वभाव और कार्यों की परख नहीं की जा सकती और यदि किसी व्यक्ति के कुल परम्परा के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात न हो तो भी हम उस व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों के आधार पर उसकी परंपरागत विशेषताओं के समझने का प्रयास कर सकते हैं। व्यक्ति पर उसके वातावरण और परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है, परन्तु इनका सम्बन्ध किसी अंश में उसकी कार्य-प्रणाली और आदतों से ही होता है। बौद्धिक क्षमता, मूलभूत प्रवृत्तियों और स्वभाव बहुधा परम्परा से ही संबद्ध होते हैं। इसलिए तुलसीदास की रचनाओं के अंतर्साक्ष्य से उनके जिन गुणों की झलक मिलती है, उनके आधार पर उनके माता-पिता और परम्परागत विशेषताओं के संबंध में भी अनुमान लगाया जा सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास के ही कथनानुसार विष की लता अमृत फल नहीं फलती, कोदव के पौधे में धान की बालें नहीं लगतीं और ताल की सीपी से मोती नहीं उत्पन्न होते।[2] बड़े कुल में ही बड़े लोग होते हैं। श्री गाल्टन का कहना है कि यदि आनुवंशिक-कलात्मक योग्यता किसी व्यक्ति में न हो तो सुंदरतम पर्यावरण भी उसे उच्च कोटि का कलाकार, वैज्ञानिक, दार्शनिक या कवि नहीं बना सकता। कार्लपियर्सन ने दो हजार भाई-बहनों पर परीक्षण करके यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि मानसिक एवं शारीरिक शील-गुण वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं। टरमन ने ६४० बुद्धिमान बच्चों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि एक आनुवंशिक-गुण है। इस बात को आज तक मनोवैज्ञानिक एक स्वर से स्वीकार करते हैं।[3]

इस आधार पर विचार करने से तुलसीदास एक कुलीन वंश-परम्परा और उच्चतम माता-पिता की संतान सिद्ध होते हैं। उनमें जो आत्म गौरव की चेतना

१—जन्तु विज्ञान अ० ३९ पृ० ६१६

२—'नहिं विसबेल अमिय फल फरहीं।
'फरइ कि कोदव बालि सुसाली॥
मुकुता गहइ कि संबुक ताली।

३—समाज शास्त्री प्रश्नोत्तरी

और सामाजिक भावना देखी जाती है, उससे भी यही प्रकट होता है। उनका आदर्श महान् और लक्ष्य ऊँचा है, उनकी मनोवृत्ति उदार है, उनका परिमार्जित-आचार, शास्त्र परिशोधित व्यवहार और विवेकपूर्ण विचार-पद्धति केवल उनके श्रेष्ठ पर्यावरण के ही द्योतक नहीं वरंच उनकी कुलीनता के भी द्योतक हैं। उन्होंने अपने अनेक पात्रों द्वारा कुलीनता के महत्त्व को प्रकट कराया है[1] तथा कुलहीनता को हीनता का द्योतक माना है।[2] कुलीनता के प्रति उनका यह वाक्यांश भी उनके कुलवान होने की ओर संकेत करता है।

तुलसीदास में अद्भुत बौद्धिक-क्षमता, सूझ-बूझ और मेधा थी, जिससे प्रकट होता है कि उनका जन्म एक महान् और कुलीन वंश में हुआ था एवं वे मातृ और पितृ दोनों पक्षों से श्रेष्ठ थे। उनमें जो उदारता और समन्वयवादिता पाई जाती है, उससे उनका ऐसे महान् कुल में जन्म लेना प्रकट होता है जो व्यापक और यशस्वी रहा होगा, जिसकी छत्र-छाया में अनेक लोग पलते रहें होंगे अथवा जिसके सम्पर्क में अनेक संप्रदायों एवं विचारों के लोग आते रहे होंगे। तुलसीदास में भारत राष्ट्र और भारतीय संस्कृति के प्रति जो अनुराग देखा जाता है, उससे ज्ञात होता है कि उनकी कुल परम्परा के लोग सदा से राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रहकर अपनी कुल मर्यादा और भारतीय संस्कृति की रक्षा करते आये थे। उन्होंने राजनीति युद्ध और वीरता सम्बन्धी जो भाव प्रकट किए हैं, उससे यह पता चलता है कि उनका कुल राजनीतिक तथा युद्धवीर था। उन्होंने याचक वृत्ति और दान लेने की प्रशंसा नहीं की वरंच यहां तक कहा है—

'सर्वस दान दीन्ह सब काहू।
जिन्ह पावा राखा नहिं ताहू॥

इस प्रकार उनकी परम्परा का त्यागवीर और दानवीर होना सिद्ध होता है। तुलसीदास की प्रकृति खुशामदी न थी। उन्होंने किसी मनुष्य को प्रसन्न करने के लिए झूठी प्रशंसा करने की निन्दा की है, जिससे प्रकट होता है कि उनका जन्म एक पुरातन सामंत परम्परा में हुआ था, जो समाज में सम्मानित होने के कारण स्वाभिमानी था क्योंकि आत्महीनता की भावना रखने वाले ही खुशामदी हुआ करते हैं। तुलसीदास रामभक्त होकर भी शिव में अपनी निष्ठा

१—कुल कलंक तेहि पामर जाना,
कहउँ सुभाव न कुलहिं प्रसंसी—रा० बा० २८४
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुरतरुफूल'—रा० अयो० ३०८
२—अकुल अगेह दिगंबर व्यालो—रा० बा० ७९
कहँ हम कुल करतूति मलीनी—रा० अयो०

जिस प्रकार दिखलाते हैं, उससे उनके माता-पिता और कुल परम्परा के शैव होने की झलक मिलती है। अभक्ष्य-भक्षण की निंदा करने वाले तुलसी का जन्म संबंध उच्च-ब्राह्मण वंश-परम्परा से होना स्पष्टतः सिद्ध होता है।

तुलसीदास चित्रकूट की सभा का जैसा चित्र अंकित किया है और अयोध्या तथा जनकपुर के अनुशासन-पूर्ण शिष्टाचार का विवरण दिया है, उससे केवल इतनाहीं निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हाने उच्च वंश के शिष्टाचार का अवलोकन किया था और राज-दरबारों के अनुशासन-पूर्ण व्यवहार को देखा था, वरंच उससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि दर्बारों और उच्चवंश के शिष्टाचार की अनुभूति तथा मर्यादागत अनुशासन की अतः प्रेरणा उनकी परम्परागत विशेषता थी। रावण के दरबार में अंगद द्वारा जिस धृष्टता का व्यवहार कराया है, वह उनका अनौचित्य के प्रति तिरस्कार प्रगल्भ और निर्भीक स्वभाव, हाजिर-जवाबी आदि गुणों का द्योतक है जिसे वंशगत ही कहना चाहिए। उचित अनुशासन का स्वभावतः पालन और अनुचित के प्रति विरोध तथा तिरस्कार जमींदार परम्परा के कुलीन ब्राह्मणों का लक्षण है क्योंकि ऐसे ही ब्राह्मण स्वतः अनुशासित, स्पष्टवक्ता और निडर होते हैं। तुलसीदास अपने धर्म और संस्कृति पर आक्षेप करने वालों से बहुत जल्दी झुंझला उठते हैं, यह असहनशीलता भी वंशगत है। राम जन्मोत्सव, मंडपों की सजावट, बरात की तैयारी आदि के वर्णन से उनके सामंती स्वभाव की गंध आती है, जिसे हम उनकी वंशगत विशेषता कह सकते हैं।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर तुलसीदास की कुल-परम्परा के सम्बन्ध में इन तथ्यों की स्थापना की जा सकती है--तुलसीदास का जन्म एक पुरातन कुलीन और महान् ब्राह्मण वंश में हुआ था। उनका वंश-परम्परा से उदार, समन्वयी और भारतीय संस्कृति का पोषक था। हिन्दू धर्म, साधु-ब्राह्मण की मर्यादा और वेद शास्त्र के प्रति उसमें आस्था थी। इनके कुल के लोग यशस्वी, दानवीर, युद्धवीर, नीति-कुशल और आत्म-गौरव की भावना से युक्त सामंत (जमींदार) परम्परा में थे। उनके कुल में शिव की पूजा प्रचलित थी। वे कुलीन थे। कुलीन पुरुष स्वाभिमानी और चरित्रवान् होते हैं।

गोत्र और आस्पद —

तुलसीदासने अनेक स्थलों पर ऐसी उक्तियां व्यक्त की हैं जिनसे यह प्रकट

होता है कि उनका जन्म 'वासिष्ठ' गोत्र में हुआ था। वे गीतावली में कहते हैं—

"रघुनाथ ! तिहारे चरित मनोहर गावत सकल अवधबासी।
अति उदार अवतार मनुज वपु, धरे ब्रह्म अज अविनासी ॥
प्रथम ताड़का हति, सुबाहुबधि, मख राख्यो द्विज हितकारी।
देखि दुखी अति सिला साप बस, रघुपति विप्रनारि तारी ॥

+ × ×

मिले भरत, जननी, गुरु, परिजन, चाहत परमानन्द भरे।
दुसह बियोग जनित दारुन दुख, रामचरन देखत बिसरे ॥
वेद-पुरान बिचारि लगन सुभ, महाराज अभिषेक कियो।
तुलसीदास जिय जानि सुअवसर, भगति दान तब माँगि लियो ॥'

इस गीत में कहा गया है कि हे रघुनाथ ! आपने अवतार धारण कर सर्वप्रथम ब्राह्मणों का प्रयोजन सिद्ध किया। अस्तु अन्त में भी ब्राह्मण प्रयोजन सिद्ध करते। आप जब लंका विजय कर अयोध्या में पधारे तो आपका दर्शन कर ही लोग आनंदित हो उठे। तुलसीदास ने वेद-पुराण की विधि से शुभ लग्न में आपका राज्याभिषेक किया तथा मनमें विचार कर उक्त शुभ अवसर पर आपसे अपने लिए भक्ति का दान मांग लिया।'

ध्यान देने की बात यह है कि तुलसीदास जी महर्षि वसिष्ठ द्वारा राज्याभिषेक करने की बात न कहकर स्वयं ही वह कार्य कर रहे हैं जिससे स्पष्ट है कि वे अपने को वसिष्ट का प्रतिनिधि अर्थात् वंश परम्परा में होना मानते हैं। अन्तिम चरण से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने अन्य प्रकार की संपत्ति की आकांक्षा न कर केवल भक्ति की याचना की है, वह भी सुअवसर उपस्थित होने पर और मन में विचार करने के पश्चात्। इस प्रसंग से उनका प्रतिग्रह त्यागी ब्राह्मण होना झलकता है। इसी बात का द्योतन उन्होंने अन्यत्र भी किया हैं।

वनमार्ग में श्री रामचन्द्र जी को चलते हुए देखकर यमुना पार के ग्रामवासी लोग कहते है—

'एक कहैं बाम बिधि दाहिनो हमको भयो
उतकीन्हीं पीठि इतको सुदीठि भई है।
तुलसी सहित बनबासी मुनि, हमरि औ,
अनायास आधकु अघाइ बन गई है ॥
गी० २।३४।४

और फिर वे ही लोग कहते हैं—

'सुरमुनि सुजन-समाज के सुधारि काज;
बिगरि-बिगरि जहाँ-जहाँ जाकी रही है।
पुर पाँव धारि हैं, उधारि हैं तुलसी हू सेजन,
जिन जानि के गरीबी गाढ़ी गही है ॥ गी० २।४१।४

इन कथनों का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि यमुना पार की वनोभूमि में तुलसीदास ने भी तपस्या की, इसलिए वहां के वनवासी मुनियों एवं ग्रामीणों के साथ राम का दर्शन लाभ कर उनका अघाना स्वाभाविक है। दूसरे कथन के अनुसार राम ने वहां के देवता, मुनि और सुजन-समाज के कार्य को भी जहाँ जहाँ विगड़ा हुआ था, सुधारा, परन्तु तुलसी का विगड़ा हुआ कार्य उनके अवध में पधारने पर ही सुधारने की बात क्यों उठी ? इस प्रश्न का समाधान यही है कि राम से तुलसी का परम्परागत कुल सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध छिपा हुआ नहीं था। इसे वनवासी भी जानते थे और इसी सम्बन्ध के आधार पर तुलसीदास ने राम का राज्याभिषेक होने पर भक्ति का वरदान पाया।

यहाँ 'गरीबी गाढ़ी गही है' पर विचार करने की भी आवश्यकता है, वो निश्चित रूप से उनके अप्रतिग्राही होने का सूचक है।

तुलसीदास जी ने कवितावली में भी 'तुलसी तिहारो घर जायऊ है घर को' कहकर एक बड़े रहस्य की ओर संकेत किया है। इससे भी उनकी श्री रामचन्द्र जी से गोत्र सम्बन्धी निकटता सिद्ध होती है। 'घर जायऊ' की व्याख्या पहले की जा चुकी है, जिससे स्पष्ट है कि वे वासिष्ठ' गोत्र में उत्पन्न हुए थे। धर्मशास्त्र के अनुसार क्षत्रिय का वही गोत्र होता है जो उसके गुरु-पुरोहित का होता है यथा—

'पुरोहित प्रवरो राज्ञाम्'—आश्वलायन सूत्र
'पुरोहित प्रवरास्ते प्रवृणीरन्'—बोधायन सूत्र
'पुरोहित प्रवरो राज्ञामेते नेव वेश्य प्रवरो व्याख्यातौ'
—कात्यायन सूत्र

'क्षत्रिय वेश्य शूद्राणां गोत्रं च प्रवरादिकम्।
तथान्य वर्ण संकराणां येषां विप्राश्च याजका ॥
अग्नि पुराण

इसी से एक ही पिता की संतान होते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्र जी का गोत्र 'गौतम' और बलराम जी का गोत्र 'गर्ग' था। इसी नियम के अनुसार क्षत्रियों के एक ही कुल में भिन्न-भिन्न गोत्र पाए जाते हैं। विसेन क्षत्रियों में ही पांच गोत्र मिलते हैं। अस्तु इसी नियम के अनुसार श्री रामचन्द्र जी 'वसिष्ठ' गोत्र के थे।

यद्यपि विश्वामित्र जी के लिए 'महामुनि' 'महर्षि' आदि विशेषण ही उपयुक्त होता, फिर भी गोस्वामी जी ने उन्हें दशरथ जी द्वारा 'विप्र' शब्द से सम्बोधित कराया है यथा —

'बिप्र बचन नहिं कहेउ बिचारी'—रा० बा० २०८

और स्वयं भी उन्हें 'विप्र' कहा है, यथा—'दीन्ह असीस विप्र बहु भांति' (रा० बा० ३६०) अतः इस प्रकार भी उनका 'वसिष्ठ गोत्रीय' होना सूचित होता है क्योंकि वसिष्ठ जी की ही स्वीकृति मिलने पर विश्वामित्र जी 'विप्र" कहलाए। अस्तु उन्हें विप्र कहकर गोस्वामी जी ने अपनी उक्त परम्परा का ही निर्वाह किया है और वासिष्ठ गोत्र के दशरथ जी से भी कराया है।

गोस्वामी जी की जन्मभूमि और 'हुलासो सती' का पता लग जाने से तो यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो गई है कि वे वसिष्ठ गोत्र के थे क्योंकि हुलासो सती (माता हुलसी) को जिस वंश का बताया गया है, उस वंश के लोगों का गोत्र 'वसिष्ठ' है और उस वंश परम्परा के लोग गोस्वामी जी की कथित 'जन्म-भूमि' के आस-पास पाए भी जाते हैं।

गोस्वामी जी के गोत्र और कुल का स्पष्टीकरण हो जाने से इस बात का भी पता चल जाता है कि रामावत-सम्प्रदाय का होते हुए भी गोस्वामी जी में भगवान् शिव के प्रति भी प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति होने का कारण क्या है? गोस्वामी जी का जन्म वसिष्ठ गोत्र में हुआ था! उनका ननिहाल गौतम गोत्र में और ससुराल भारद्वाज गोत्र में थी उनकी जन्मभूमि के निकट 'संकृति' गोत्र के ब्राह्मण निवास करते थे। इन सभी कुलों के परम्परागत कुल देवता 'शिव' हैं[1] अस्तु तुलसी की शिव-भक्ति उनकी कुल परम्परा से सम्बन्धित थी।

यह स्वाभाविक बात है कि मनुष्य अपने कुल और पूर्वजों में कोई दोष देखना नहीं चाहता। उसके परिमार्जन का प्रयत्न करता या उस पर आवरण

१—इन सभी गोत्रों का वेद—यजुर्वेद, उपवेद,-धनुर्वेद सूत्र—कात्यायन सूत्र, शाखा—माध्यंदिनीय, शिखा-पाद—दक्षिण तथा देवता शिव हैं! वसिष्ठ गोत्र का एक ही प्रवर 'वसिष्ठ' या 'एका वासिष्ठ' है, यथा—''एकार्षेयस्तु प्रवरो वसिष्ठानां प्रकीर्तितः''

कहीं-कहीं तीन प्रवर भी लिखे हैं यथा—(१) वसिष्ठ, शक्ति, पराशर। (२) वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, आभरद्वसु, (३) वसिष्ठ इन्द्रप्रमद, भारद्वाज, (४) वसिष्ठ, दद्यग, आयंत्रण, (५) वसिष्ठ, पुण्यमगा, आयँवण (६) आत्रेय, अर्चिमानस, श्यावश्व।

डालना चाहता है क्योंकि दोष दर्शन से जुगुप्सा और संकोच का भाव उत्पन्न होता है। पहले कहा गया है कि गोस्वामी जी अप्रतिग्राही दल के ब्राह्मण थे, इसलिए अपने मूल पुरुष वसिष्ठ जी द्वारा की गई पौरोहित्य-वृत्ति से उन्हें संकोच होता था।[1] अतः उन्होंने 'रामचरित मानस' में एक अवसर ढूँढ कर उसका परिमार्जन करा दिया। उन्होंने इस प्रसंग द्वारा श्री रामचन्द्र जी से उस संबंध की भी याद दिलाई, जिस सम्बन्ध को भविष्य में लाभ उठाने की आशा से वसिष्ठ जी ने जोड़ा था। तुलसीदास भी तो वसिष्ठ के उत्तराधिकारी ठहरे! फिर वे उस लाभ से किस प्रकार वंचित किए जा सकते हैं? उन्होंने 'तुलसी तिहारो घर जायऊ है घर को' कहकर उसी सम्बन्ध की याद दिलाई है तथा वसिष्ठ जी से भी कहला दिया है—

"नाथ पुरोहिती कर्म अति मंदा। बेद पुरान स्मृति कर निन्दा॥
जब न लेऊँ मैं तब विधि मोहीं। कहा लाभ आगे सुत तोहीं॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥
तब मैं हृदय विचारा जोग जग्यँ व्रत दान।
जा कहँ करिय सो पैहौं, धर्म न एहि सम आन॥ रा. उ.४८

जिस प्रकार तुलसी का संबंध वसिष्ठ गोत्र के कारण श्री रामचन्द्र जी से जुड़ा हुआ था, वैसे ही उनका ननिहाल गौतम् गोत्र में होने के कारण उनका विशिष्ट सम्बन्ध श्री जानकी जी के पितृ-कुल से भी है क्योंकि श्री जानकी जी का पितृ कुल गौतम गोत्रीय था। इस प्रकार पितृ-कुल और मातृ-कुल दोनों ही सम्बन्धों से वे श्री रामचन्द्र जी के 'जाउत' थे। तीसरा सम्बन्ध उनका 'रामावत' सम्प्रदाय में होने से था। अतः इन्हीं तीनों सम्बन्धों की सूचना उन्होंने इन तीन वाक्यों द्वारा दी है कि 'तुलसी तिहारो हैं, घर जायऊ है और घर को है।

गोस्वामी जी एक कुलीन ब्राह्मण वंश-परम्परा में उत्पन्न हुए थे, इसलिए उन्होंने अपने कुल के लिए 'सुकुल' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु इस प्रयोग को देख एक दल इन्हें 'शुक्ल' कहने लगा जैसा कि श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' 'सुकवि—सरोज' भाग १ पृ० १ पर लिखते हैं—"गो० तुलसीदास शुक्ल आस्पदीय सनाढ्य ब्राह्मण थे"

१—दान प्रतिग्रहैर्दग्धा ब्राह्मणा ये जनार्दन।
प्रायश्चित्तम कुर्वाणा यान्ति सत्यमधोगतिम्॥
और—'प्रतिग्रह समर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥ याज्ञ०

एक दूसरा दल 'तुलसी परासर गोत्र दुबे पत्यौंजा को' जनश्रुति के अनुसार इन्हें 'दुबे' उपाधिधारी मानता हैं किन्तु ये दोनों ही अनुमान मिथ्या हैं जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि 'सुकुल' शब्द से गोस्वामी जी का अभिप्राय श्रेष्ठ-कुल है। यह बात 'कुल भलों' कहने से भी व्यक्त होती है तथा 'प्रेम रामायण' में श्री रामू द्विवेदी द्वारा उन्हें 'कुल-शील-सीमा' कहने से भी सिद्ध है, अस्तु 'सुकुल' शब्द 'शुक्ल' का वाचक नहीं हो सकता। रही बात दुबे आस्पद की जो केवल जनश्रुति पर आधारित होने से प्रमाणिक कैसे कही जा सकती है ?

पहले बतलाया जा चुका हैं कि गोस्वामी जी न दुवे उपाधिधारी के और न पत्यौंजा मूल के ही थे। पत्यौंजा के दुबे ब्राह्मण कात्यायन गोत्र के होते हैं यथा—

कात्यायन सुतौ युग्मौ जातौ तौ सुमहत्तरौ।
महरौळो निवास्यैकः पत्यौंजायां द्विवेदकः ॥ २।१०
कान्यकुब्ज वंशावली (पं० दुर्गादत्त कृत)

तुलसी कालीन कात्यायन गोत्र के ब्राह्मण भोजपुरी प्रदेश में हैं भी नही कुछ 'चौबे' हैं जो नए हैं।[1]

किन्तु यदि जनश्रुति को पूर्णांश में सत्य न मानकर किसी अंश में सत्य मानें तो तुलसी के सम्बन्ध में निम्नलिखित सम्भावनाएँ हो सकती है—

१—तुलसी 'पाराशर गोत्र' के 'दुबे' थे।
१—तुलसी पाराशर गोत्र के थे।
३—तुलसी दुबे थे।
४—तुलसी पत्यौंजा के दुबे थे।

कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में सिमौनी, बसही, नागरपुर और नरवरपुर के दुबे पाराशर गोत्र के हैं किन्तु इस उपवर्ग के ब्राह्मण पूर्वीय-प्रदेश में नहीं मिलते और पत्यौंजा के दुबे भी तुलसी की कथित जन्मभूमि के आस-पास कहीं नहीं है और यदि कहीं हों भी तो वे वहां के अपेक्षाकृत नए निवासी हैं।[2] पूर्वीय प्रदेश में

१—श्री रामलग्न त्रिपाठी—सरवरिया ब्राह्मणोंत्पत्ति प्रदीप पृ० ७०, ७९
भिषगाचार्य सत्यनारायण शास्त्री का अध्यक्षीय भाषण (सरयूपारीण महासभा प्रयाग)

२—कान्यकुब्ज-प्रदेश में जलारी और लहरपुर के दुबे वसिष्ठ गोत्र के हैं, परन्तु इस उपवर्ग के लोग पूर्वीय उत्तर प्रदेश में नहीं मिलते।

भारद्वाज और वत्स गोत्र के दुबे प्रायः पाए जाते है और तुलसी की कथित जन्मभूमि के निकट याज्ञवल्क्य गात्र के दुबे भी हैं किन्तु इनसे तुलसी का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे वासिष्ठ कुल के थे। अतः इस प्रकार उनके पत्यौंजा का दुबे होने की सम्भावना भी की जाती है। पाराशर गोत्र प्रधान गोत्र न होकर वसिष्ठ का गणगोत्र है, इसलिए तुलसी के पाराशर गोत्र कें होने को सम्भावना की जा सकती है। इसके तीन प्रवर वसिष्ठ, शक्ति और पराशर हैं। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति और उनके पुत्र पराशर थे।

तुलसीदास को पाराशर गोत्र का मान लेने से एक और मेल मिल जाता है क्योंकि तुलसो की कथित जन्मभूमि (राजपुर) से संलग्न परसिया गाँव है। इन दोनों गाँवों के मध्य में हुलासो सती का चौरा है। परसिया गाँव को पराशर मुनि का स्थान बताया जाता है।[1] इसी परसिया गांव में तुलसो द्वारा स्थापित सीताकुंड है। इस समय यहां पराशर्याश्रम के नाम से एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की स्थापना की गई है। बलिया-आरा मंडल में पाराशर गोत्र के हस्तगामे पांडेय यत्र-तत्र मिलते हैं, जिनमें भूमिहार और सरयूपारी दोनों सम्मिलित हैं। किन्तु इनकी बस्ती न तुलसो की कथित जन्मभूमि के निकट है, न ये यहाँ के पुराने निवासी हैं और न इस परम्परा का तुलसी के संबंध सूत्र का का ही पता है।

पाराशर गोत्र के एकसरिया ब्राह्मण सारन (बिहार) जिले में बहुसंख्यक और विशेष प्रभावशाली हैं। 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की कार्यवाही की जांच के लिए जो जांच-समिति (सिलेक्ट-कमेटी) बैठी थी, उसकी पांचवीं रिपोर्ट बंगाल प्रेसीडेंसी के विषय में प्रकाशित होकर सन् १८१२ ई० में लन्दन में छपी। उसके प्रथम भाग पृ० ५१३ के अनुसार सात सरकार सारन के १५ परगनों में से गोवा आदि १३ परगनों पर गोपाल नारायन पांच भाईयों का जमीदाराना अधिकार था, जो एकसरिया ब्राह्मण थे।[2] कहा जाता है कि मुगलकाल के प्रारम्भ तक एकसरिया ब्राह्मणों का अधिकार वर्त्तमान बलिया जिले के मझौस

१—गोत्र परक स्थानों के नामकरण अन्यत्र भी पाए जाते हैं, जैसे—गगहा (गर्ग गोत्र वालों का गाँव) गोरखपुर मंडल में, गोतमा (गौतम ब्राह्मणों का गांव) बनारस में, सँकरीडोह (संकृति गोत्र के ब्राह्मणों का गांव) शाहाबाद (आरा) में संडोला (शांडिल्य ब्राह्मणों का गांव) हर्दोई में।

२—स्वामी सहजानन्द सरस्वती—ब्रह्मर्षिवंश विस्तार पृ० ३४४-४६

पर था[1] किन्तु तत्कालीन राजनीतिक-परिस्थिति से विवश होकर उन्हें वहां से हटना पड़ा और वे छिन्न भिन्न होकर अन्यत्र जा बसे।

एकसरिया ब्राह्मणों के मूल पुरुष अजयदीक्षित हस्तिनापुर के निवासी थे। इनको कान्यकुब्जाधिप सम्राट निर्भयराज महेंद्रपाल राज्यकाल (सं० ९४२–९६७ वि०) ने वर्त्तमान बलिया उ० प्र०) और सारन (बिहार) जिलों में कई गांवों का अग्रहार दिया और उनके नाम पर मनियर के निकट अजयपुर (अझउर) तथा अजय नगर (अजनेरा) नाम के ग्राम बसाये। ये उक्त सम्राट के गुरु थे; इसलिए उसने इनके नाम पर यहाँ एक तालाब का निर्माण कराया, जो 'गुरु-पोखर' के नाम से प्रसिद्ध है और जिस स्थान पर कोट का निर्माण हुआ, वह स्थान 'कोटवा-डेरा' कहलाता है। एकसरिया ब्राह्मणों के पूर्वज सर्वप्रथम सारन जिले के 'एकसार' ग्राम में बसे, जिससे एकसरिया कहलाए।[2] आजकल एकसरिया–ब्राह्मण बलिया जिले में नहीं मिलते, परन्तु प्रारम्भिक मुगलकाल तक जब इनका भूम्याधिकारी के रूप में बलिया के पूर्वी भाग में भी रहने की प्रसिद्धि है तो ऐसी दशा में तुलसीदास का पैतृक सम्बन्ध उक्त वंश परंपरा से जोड़ना अयुक्त न होगा।

एक बात और है—एकसरिया ब्राह्मण के पूर्वज जगन्नाथ दीक्षित सं० १६०७

१—दे०—चतुर्मुख (हि० सा० परिषद् सिकंदरपुर, बलिया) सं० २०२१ अं० ३ पृ० ३७

२—एकसरिया ब्राह्मणों के पूर्वज पं० जगन्नाथ दीक्षित के छः पुत्र क्रमशः क्षेमकरन, द्विरदसिंह, हरिहर, हरिवल्लभ, विक्रम और राजीव हुए। इन लोगो ने सारन जिले के अधिकांश भूभाग पर अधिकार कर लिया। इस परंपरा में क्षेमकरन दीक्षित के चार पुत्र हुऐ—यामिनी, वनमाली, नाथ और गोपो। इन्हीं चारों के वशज चोमैया नाम से प्रसिद्ध हैं। जगन्नाथ दीक्षित के वंशज सिंह और साही उपाधियों से युक्त हैं। एकसरिया ब्राह्मणों का एक दूसरा वर्ग सहदौली डीह होने से सहदौलिया कहलाता है। ये लोग मिश्र उपाधिधारी है और दरभंगा जिले के पतौर आदि गांवों में बसे हुए है। इनका एक तीसरा वर्ग सारन जिले के पूर्वी भाग में बसा हुआ है और दीक्षित तथा मिश्र उपाधियों वाला है एवं चतुर्थ वर्ग छिन्न-भिन्न होकर अनेक स्थान में जा बसा है। इस वंश परम्परा के लोग कहीं मिश्र और कहीं 'राय' उपाधिधारी हैं।

वि० में सारन जिले के एकसार नामक स्थान पर आए[१], जो एकमा स्टेशन के पास है। इस घटना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे किसी उथल-पुथल, उपद्रव अथवा लड़ाई-झगड़े के कारण ही अपने पूर्व स्थान को छोड़कर यहां आए होंगे। यह वह समय है जब तुलसी केवल सात वर्ष के थे और असहाय होकर दर-दर की खाक छान रहे थे, पर कोई उनके मुंह में धूल डालने वाला भी न था। अस्तु तुलसी के अंतः साक्ष्य से भी उक्त समय और वंश परम्परा का मेल मिल जाता है। इसके साथ एक और मेल भी मिल जाता है कि जिस प्रकार जगन्नाथ दीक्षित ने सरयू के उत्तर पार एकसार में निवास किया, उसी प्रकार तुलसी भी सरयू के उत्तर पार 'सूकरखेत' में गुरु के शरणापन्न हुए और इन दोनों स्थानों में बहुत अधिक अन्तर भी न था। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि ये दोनों एक ही वंश-परम्परा और एक ही परिस्थिति के भुक्त-भोगी होते तो तुलसी अनाथ होकर मारे-मारे क्यों फिरते ? इसके अतिरिक्त एकसरिया वंश के तुलसी की कथित बंश-परम्परा से संबद्ध होने का कोई दूसरा प्रमाण भी नहीं मिलता है।

सरयूपारी दल के कुछ वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण तुलसीदास की कथित जन्मभूमि के निकट 'नेम छपरा' में हैं किन्तु इनका आगमन इधर डेढ़ सौ वर्षों का ही है। वासिष्ठ गोत्र के मिश्र उपाधिधारी ब्राह्मणों का एक दूसरा दल आजमगढ़ बलिया की सीमा पर नेमडोंड़, कान्तरांव, मीरदादपुर, पहाड़ीपुर, कमलसागर बस्ती आदि गांवों में बसा हुआ है। इसके बसने से इस भूभाग का नाम 'मिश्रान' पड़ गया है। इस वर्ग के लोग सरयूपारी होते हुए भी पुरोहिती नहीं करते। कहते हैं कि इनके पूर्वज जोगी मिश्र और भोगी मिश्र दो भाई बढ़नी (बस्ती) से १८ वीं शती वि० के उत्तरार्द्ध में यहाँ आये और यहाँ के किसी ब्राह्मण जमीदार की नौकरी की, जो कुष्ठ रोग से पीड़ित थे और इसी दोष के कारण उनकी इकलौती पुत्री का किसी स्ववर्गीय जमीदार ब्राह्मण के यहां विवाह नहीं हो पाता था, उससे जोगी मिश्र ने विवाह किया और दोनों भाई समान रूप से श्वसुर की भूमि के उत्तराधिकारी बने। ये लोग १८ वीं शताब्दी में इधर आए थे, अस्तु इनसे तुलसीदास की वंश परम्परा का सम्बन्ध स्थापित करने में समय, स्थान और परम्परा इन तीनों बातों का विरोध पड़ता है। संभव है नेम छपरा के वासिष्ठ ब्राह्मण भी मिश्रान से ही आए हों और नेमडोंड़ से आने के कारण अपने गाँव का नाम 'नेम छपरा' रखा हो।

---

[१] —श्री पं० जयन्नाथ शर्मा—दशविध ब्राह्मण संहिता

(पाराशर गोत्र का वर्णन)

गोस्वामी जी के ग्रंथों के अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों से विदित होता है कि गोस्वामी जी की वंशगत उपाधि 'ठाकुर' रही होगी। पुरातात्त्विक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह उपाधि राजपूत-काल में भी ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त होती थी जैसा कि उस समय के प्राप्त ताम्र-पत्रों से प्रकट है।[1] उस समय तक द्विवेदी, तिवारी, पाँडेय, पाठक, शुक्ल आदि उपाधियों का प्रारम्भ भी नहीं हुआ था। १५ वीं शती के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ठाकुर, दरभंगा राज्य के संस्थापक पं० महेश ठाकुर और आधुनिक विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ब्राह्मण ही हैं।

'ठाकुर' आस्पद विशिष्ट कुल-परम्परा का द्योतक है। राजपूत-काल में अग्रहार भोगी वैदिक ब्राह्मण या विशेष प्रकार के सेनाधिकारी ब्राह्मण तथा

१—यहां क्रमशः रापड़ी (मैनपुरी) पाली घरियापार (गोरखपुर) और मनेर (पटना) से प्राप्त सं० ११९१ वि० सं० ११९७ वि० तथा सं० ११८३ वि० के ताम्रपत्रों के अभीष्ठ अंश उद्धृत हैं—

(क) भार्गव च्यवनाप्नवानौर्व जामदग्न्येति पंचार्षेय प्रवरायवत्स भार्गव गोत्राय गाडान्वयाय ब्राह्मण वाज पौत्राय ब्रह्म पुत्राय ठक्कुर श्री दूल्ह शर्मणे शासनीकृत्य प्रदत्तो मत्वा यथा दीयमान भाग भोगकर कूटादिकं दास्यथेति। लिखितं ताम्रकमिदं ठक्कुर श्रीनारायण प्रमाणमिति॥ स्वहस्ताय॥

(ख) मौग्दल गोत्राय ठक्कुर श्रीगेयर प्रपौत्राय ठक्कुर श्री पेवल पौत्राय ठक्कुर श्री इन्द्रादित्य पुत्राय ठक्कुर श्री जयपाल शर्मणे ब्राह्मणाय ·······

(ग) काश्यप गोत्राय काश्यपावत्सार नैध्रुव त्रिप्रवराय ठक्कुर शिव पौत्राय ठक्कुर देडभ पुत्राय श्री गणेश्वर शर्मणे ब्राह्मणाय चन्द्रार्क यावच्छासनी कृत्य प्रदत्तोमत्वा यथा दीयमान भाग भोगकर प्रवणिकर तुरुष्कदंड प्रभृति सर्वदा आज्ञा विधेयो भूय दास्यथेति············लिषितं चेदं ताम्र पट्टक कर्णिक ठक्कुर श्री विश्व भूपेनेति।

ऐसा ही एक ताम्र पत्र सं० ११९९ वि० का जिसे गोविन्द चन्द्र ने वत्सगोत्र के एक ठक्कुर ब्राह्मण को दिया है; गगहा (गोरखपुर) में मिला है और एक दूसरा सं० १२०२ का लार (देवरिया) में मिला है जिसके द्वारा 'पोडाचवड' ग्राम ठक्कुर श्रीधर को दिया गया है। इनमें प्रथम द्वितीय, पंचम और चतुर्थ ताम्रपत्र लखनऊ संग्रहालय में हैं और डा० राजबली पांडेय (संप्रति—उपकुलपति जबलपुर-विश्वविद्यालयों द्वारा लिखित 'गोरखपुर–जनपद' में प्रकाशित हैं। त्रितीय बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पत्रिका (दिसम्बर सन् १९१६) के अंक में प्रकाशित है।

मुसल्मानीं काल के जमीदार-ब्राह्मण 'ठाकुर' कहलाते थे। मेवाड़ के महाराणा प्रताप सिंह ने वड़वा अमरचन्द ब्राह्मण को ताजीम के साथ ठाकुर की उपाधि दी थी और अपना मुसाहब बनाया था (राजपूताने का इतिहास भाग २ पृ० १२०८) अस्तु यह आस्पद भूम्याधिकारी होने का द्योतक है। भोजपुरी लोक-गोतों में 'ठाकुर' शब्द का व्यवहार स्वामित्व और ऐश्वर्य सूचक अर्थ में ही हुआ है यथा—(देवो के गीत में) 'रउरों त मैया तोन लोक के ठाकुर' और विवाह के गीत में 'राउर ठकुरैया बाबा रउरा के बाढ़ो' आदि। लोकोक्ति भी है—'खेल में ठकुरांई कइसन ?

'ठाकुर' शब्द गोस्वामी जी का विशेष परिचित तथा प्रिय शब्द ज्ञात होता है। उसका उपयोग उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है तथा गौरव पूर्ण स्थान पर किया है, यथा—

'ठाकुर महेश ठकुराइन उमा सी जहाँ'—क० उ०
'ब्रह्म तू हौं जीव तू ठाकुर हौं चेरो'—विनय०

अपने मित्र टोडर के लिए भी इन्होंने 'ठाकुर' आस्पद का उपयोग किया है, जिससे 'ठाकुर' आस्पद के प्रति इनको आस्था प्रकट होती है और अपनत्व भी। यही नहीं उनका प्रादुर्भाव जिस कुल-परम्परा में हुआ था, वे वसिष्ठ गोत्रीय कस्तुवार ब्राह्मण भी ठाकुर आस्पद वाले ही हैं।[1]

उत्तर-भारत में 'ठाकुर' आस्पद वाले प्रायः अप्रतिग्राही जमीदार ब्राह्मण ही होते हैं किन्तु कहीं-कहीं पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण भी 'ठाकुर' आस्पद से युक्त पाए जाते हैं, जैसे—सरयूपारी ब्राह्मणों में हन्ना (रींवा) के तिवारी 'ठाकुर' एवं 'सिंह' आस्पद वाले है।

'ठाकुर' आस्पद पूर्वी उत्तर-प्रदेश, विहार और बंगाल में केवल ब्राह्मणों के लिए रुढ़ है। मालवा और गुजरात की अनेक ब्राह्मण वंश-परम्पराओं में ठाकुर अवटक (आस्पद) का प्रचलन हैं। श्रीस्थल-सिद्धपुर के औदोच्य ब्राह्मणों में वच्छस और मौनस गोत्र के यजुर्वेदी; श्रीमाली ब्राह्मणों में कौशिक गोत्र के डिमिया, शिरखटिया, उनामणा, बजुरिया तथा गौतम गोत्र के लापसा, गिरिता-रायण ब्राह्मणों में चाट और वाघरा मूल के कोच्छस, मारडिया, भाडेरा, खेरिया; आहिरिया और मांडेरामूल के सदामस, चोपड़ा, ठिलाकर और पसे-जिया मूल के शांडिल्य; नगरौत और पठियार मुल के कृष्णात्रेय, वामणसिया मूल

---

[1] —इनमें गाजीपुर जिले के कुछ लोग 'प्रधान' और 'राय' उपाधिधारी हैं। कुछ उपाध्याय उपाधिधारी भी हैं। उपाध्याय लोग बलिया जिले में सुरहाहद के तटवर्ती भीखपुर और रेवती गांव में हैं।

सोलंस तथा कंकांसिया मूल के वत्स ठाकुर अवटंक (उपाधि) वाले हैं। प्रकार द्वारका स्थित गुग्गुल ब्राह्मणों के २१ उपवर्गों में से ६ उपवर्गों के 'ठाकुर (ठाकोर) कहलाते हैं।

पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र 'जातिभास्कर पृ० ९४ पर लिखते हैं—जो मारवाड़ी औदीच्य गुर्जर देश में रहे छोटे संवा कहे जाते हैं और जो मारवाड़, अंत- मध्यदेश, मालवा में रहे, वे बड़े-संवा कहाए। राजा की दी हुई पद्वी का अवटंक कहाता है। इनमें मुख्यराजा के अधिकारी 'ठाकुर' कहाते हैं। कर्मचारी महता कहाते हैं। पंचकुल में मुख्यों को पचोली चतुर योधा को ' कहते हैं। राजगुरु को रावल, शुद्ध आजीविका वाले को शुक्ल कहते हैं। पुराणकथा बांचने वाले को व्यास कहते है, शेष नाम दुवे आदि प्रसिद्ध हैं।'

'भार्गव-हिन्दी-शब्द कोश' में 'ठाकुर' का अर्थ इस प्रकार दिया है—'देवता की मूर्ति, परमेश्वर, पूज्य व्यक्ति स्वामी, सरदार और 'वृहत्-हिन्दी कोश' के अनुसार इस शब्द का अर्थ है—देव प्रतिमा (विष्णु की), परमेश्वर, अधीश्वर, स्वामी, नायक पूज्य व्यक्ति, क्षत्रियों की उपाधि, जमीदार; प्रदेश विशेष या गांव का मालिक, नाई।

इससे स्पष्ट है कि 'ठाकुर' आस्पद अधिकार, प्रतिष्ठा और स्वामित्व का सूचक है। उत्तर प्रदेश के राजपूत (जमीदार परम्परा के) ठाकुर कहलाते हैं किन्तु यह उनका आस्पद (अवटक) नहीं है। पश्चिम के कान्यकुब्ज, गौड़ और सारस्वत ब्राह्मणों की कुछ विशिष्ट वंश-परम्पराओं में भी नाम के साथ 'ठाकुर' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश के बनारस आदि जिलों में भूमिहार-ब्राह्मणों के लिए लोग 'ठाकुर' सम्बोधन का ही प्रयोग करते हैं।[1] मगध की एक कहावत है—

ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर। बाभन ठाकुर, नाऊ ठाकुर, ठाकुर ठाकुर॥"

अर्थात् बाभन (भूमिहार-ब्राह्मण)[2] को ठाकुर कहते हैं, नाऊ को ठाकुर कहते है और ईश्वर को ठाकुर कहते है। ये तीन ही ठाकुर हैं। बिहार के (शांडिल्य) भिठवार (काश्यप), निकतोवार (कौशिक), कस्तुवार (वशिष्ठ) आदि शाखाओं के अधिकांश भूमिहार कुलों में ठाकुर आस्पद का प्रचलन है। मैथिल और वंगीय ब्राह्मणों के अनेक विशिष्टकुल ठाकुर आस्पदधारी हैं। गहरवार राजाओं के समय में ठाकुर आस्पद सेना के एक विशेष पद का

---

[1] यही कारण है कि इधर के अनभिज्ञ लोग कभी-कभी भूमिहार-ब्राह्मणों को क्षत्रिय समझ लिया करते हैं।

[2] मगध में बाभन नाम केवल भूमिहार-ब्राह्मणो के लिए रूढ़ हैं।

द्योतक था। १२ वीं–१३ वीं शताब्दी के ताम्रपत्रों में बहुत से अग्रहार भोगी (वैदिक) ब्राह्मणों के नाम के साथ 'ठक्कुर' आस्पद का प्रयोग मिलता है जब कि ब्राह्मणों के लिए पांडेय; मिश्र, द्विवेदी, त्रिवेदी शुक्ल, राय, सिंह आदि उपाधियों का प्रचलन नहीं हो पाया था।

भोजपुरी-प्रदेश में 'ठाकुर' सम्बन्धी कई महावरे प्रचलित हैं यथा—ठाकुर ठेकान न होना (असहाय होना), ठाकुर-ठेकान करना (किसी के द्वारा सताये जाने या हानि पहुंचाने पर जमीदार से फरियाद करना), ठाकुर ठेकान को न समझना (उंछड होना), ठाकुर बनना (दबाव या धमकी देना) आदि। इसी प्रकार कहावतें भी प्रचलित हैं जैसे—'खेल में ठकुराहि कैसी' आदि।

'ठाकुर' उपाधि होने से तुलसीदास के विषय में निम्नांकित तीन बातों का पता चलता है—

(१) तुलसीदास सैनिक और सांमत ब्राह्मण-वंश-परंपरा में उत्पन्न हुए थे। यह बात उनके आचार-विचार और शील-स्वभाव के अध्ययन से भी प्रकट होती है।

(२) उनका जन्म एक पुराने कुलीन ब्राह्मणवंश में हुआ था, जिसकी परम्परा कम से कम १२ वीं शताब्दी से चली आ रही थी। यह कंस्तुवार वंश के इतिहास से भी प्रकट है।

(३) तुलसीदास के पूर्वज अग्रहार भोगी वैदिक ब्राह्मण थे। इसीसे उनमें परपरागत संस्कार के कारण भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट आस्था तथा गौरव की भावना पाई जाती है।

कस्तुवार वंश परम्परा में प्रधान (सेनाध्यक्ष, राजमन्त्री, मुख्याधिष्ठाता) राय (सामंत) और उपाध्याय (वेद-वेदांग का अध्यापन करने वाला) उपाधियों के प्रचलन से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

——

षष्ठ अध्याय

लौकिक - संबंध

तृ कुल—

'गौतम चन्द्रिका' के रचयिता श्री कृष्णदत्त मिश्र ने अपना परिचय इस प्रकार िया है—

'पितु भगवान पार्वती माता। गौतम काखिवार विख्याता॥
गंगा तीर गढौली गाऊँ। ब्रामण कृष्ण दत्त मम नाऊँ।
नीति पुनीत नाम श्रीधर सो। मुखिया ग्राम बरैनी वर को॥'

श्री भगवान मिश्र और टोडर रावत का परस्पर वंशगत घनिष्ठ सम्बन्ध था, जैसा कि कृष्णदत्त मिश्र कहते है—'टोडर अस मम जनक कुल महं घनिष्ठ संबंध।' इस कथन से ज्ञात होता है कि ये दोनों जमीदार ब्राह्मण परस्पर नातेदार थे एवं ये दोनों ही गोस्वामी जी के संरक्षक तथा मित्र थे। संभव है ये लोग गोस्वामी जी के नातेदार भी रहे हों क्योंकि गौतम चन्द्रिका में गोस्वामी जी का वर्णन तथा टोडर के वंशजों द्वारा परम्परा से प्रतिवर्ष गोस्वामी जी की वार्षिकी मनाना इसी सम्बन्ध की सूचना देता है। गोस्वामी जी कृष्णदत्त मिश्र से उनका परिचय पाकर अनायास कह उठे थे।

'हा कुल देवि गौतमी माता। तोहिं प्रसि काल ग्रसेउ कुलनाता॥
पितु सपना सुषुप्ति महँमाई। श्रुति परिबातसिमृति बन आई॥'

इस कथन से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि गोस्वामी जी का मातृकुल कृष्णदत्त मिश्र का गौतम वंश ही था। गोस्वामी जी की जन्मभूमि बगसर के

पूरबी क्षेत्र में थी, यह पहले कहा जा चुका है। उक्त क्षेत्र के जमोदार ब्राह्मणों से काशीवार गौतम वंश का भो सम्बन्ध था जैसा कि गौतम चन्द्रिका से स्पष्ट है—

'बगसर, एकसर[1], भार्गवी[2], मगहो मिथिला एहु[3]।
गौतम कासोवार के, संबंधी गनि लेहु॥'

इसी कुल सम्बन्ध के कारण उक्त ग्रन्थ में उनकी चर्चा भी की गई है। गौतम चन्द्रिकान्तर्गत तुलसीदास का यह कथन कि "हा, कुलदेवि गौतमी माता तोहि ग्रसि काल ग्रसेउ कुल नाता।" से प्रकट होता है कि तुलसीदास के जन्म-काल में उनके ननिहाल से नाता-सम्बन्ध था किन्तु माता के मरने के पश्चात् वह नाता नहीं रह गया। उपर्युक्त चौपाई में 'कुलनाता' का अभिप्राय 'मातृकुल' से ही है पितृकुल से नहीं। अस्तु मातृकुल के नाता का काल द्वारा 'ग्रास' करने का स्पष्ट अर्थ है कि उनकी माता को ग्रास बनाने के पश्चात् थोड़े ही दिनों में उनके ननिहाल के लोगों को भी काल ने अपना ग्रास बना लिया और कदाचित पितृकुल के लोगों को भो, जैसा कि 'कुलनाता में द्वन्द्वसमास करने से अर्थ निकलता है।

तुलसीदास के ननिहाल के लोग महामारी जैसी किसो भयानक बीमारी से एक साथ ही काल का ग्रास बन गए होंगे, इसकी अपेक्षा इस बात की सम्भावना अधिक है कि वे किसी युद्ध मारे गए होंगे क्योंकि वे भो तुलसीदास के पितृकुल के अनुसार ही जमींदार रहे होंगे और उन दिनों जमीदारों की स्थिति ऐसी ही थी कि उन्हें सदा शत्रुओं से भिड़न्त रहा करती थी। दूसरी बात यह है कि उन दिनों 'महामारी' का पता भी नहीं था। इसका सर्व प्रथम प्रादुर्भाव जहांगीर के समय में हुआ। अस्तु दूसरा कारण ही युक्तियुक्त है तथा यही कारण है कि शिशु तुलसी ननिहाल में न भेजे जाकर अन्यत्र भेजे गए थे।

कथित गौतम वंश के मूल पुरुष श्री कीठू (श्रीकृष्ण मिश्र) और सीठू (श्री बिष्णु मिश्र) दो भाई, वर्त्तमान देवरिया जिले के रोहिनिया-पिपरा के रहने वाले थे। सीठू मिश्र घर पर रहते थे, इसलिए उनके वंशज वहीं पर आसपास के अनेक गांवों में बसे हुए हैं तथा सरयूपारी ब्राह्मणों में सम्मिलित हैं, परन्तु कोई

१—एकसरिया ब्राह्मणों का डीह (निकास) जो सारन बिहार में है।
२—भृगु क्षेत्र (बलिया) अथवा भार्गव गोत्र के ब्राह्मणों की निवास भूमि।
३—एघु मुंगेर (बिहार) में एक स्थान है जहाँ चकवार वंश के ब्राह्मण निवास करते हैं।

मिश्र प्रसिद्ध चन्देल राजा कीर्त्ति वर्मा (राजत्वकाल सं० १११७-११५७ वि०) के सभासदों में थे। इन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध आध्यात्मिक नाटक 'प्रबोध-चंद्रोदय' की रचना की है। काशी का मिश्र पोखरा नामक स्थान इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है जहां ये रहते थे। ये बड़े सिद्ध तपस्वी और राजा बनार के दीक्षा गुरु थे। राजा ने इन्हें तंतरिया (वर्त्तमान गंगापुर) का अग्रहार दिया, जिससे इनके वशज वहीं बस गए और पूरे कसवार परगने पर अधिकार जमा लिया। इस समय उक्त वंश परम्परा के लोग, बांडापुर, बरैनी, वजहा, ठहरा महावलपुर, कटका, ड़ोली, केवटावीर, खोचमा, मितई, हरदरा, जलालपुर, माधोपुर, जखिनी, शोतीकोट आदि गांवों में बसे हुए है।

१६वीं शती विक्रमी में काशी के पास उनके ४ प्रमुख केन्द्र थे—ठटरा, मझवा (बरेनी), गंगापुर और जखिनी। ये चारों परस्पर अधिकार बढ़ाने की स्पर्द्धा रखते थे तथा कभी-कभी इसके लिए परस्पर युद्ध भी करते थे। ऐसी ही परिस्थिति में निर्वासित होकर मझवा के जगत सिंह और सकत सिंह बिहार में चले गए और वहां कल्यानपुर के राजा की सहायता से मझौली राज्य के कई परगनों पर अधिकार कर लिया। जगत सिंह सिवान के दुर्ग में और सकत सिंह बड़हरिया के दुर्ग में रहते थे। मझौली के राजा ने बादशाह से सहायता की याचना की। इनकी सहायता के लिए बंगाल से अली-बन्धुओं को भेजा गया। अली बन्धुओं की सहायता से भी जगत सिंह और सकत सिंह पराजित नहीं किए जा सके, अतः दोनों पक्षों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार बड़हरिया गढ़ अली बन्धुओं को मिल गया और वे स्थायी रूप से वहीं रहने लगे।

कुछ दिनों में जगत सिंह और अली भाइयों से घनिष्ठ मित्रता हो गई और वे एक दूसरे के यहां विश्वास पूर्वक जाने-आने लगे। एकबार अनन्त-चतुर्दशी के अवसर पर अली भाई सिवान दुर्ग में आमन्त्रित किए गए औ वे दलबल के साथ भोज खाने आए। जगत सिंह को क्या पता कि दाल में काला है जिस समय जगत सिंह अनन्त भगवान की पूजा कर रहे थे और सब लोग भोज की तैयारी में व्यस्त थे, अली के सिपाहियों ने मौका पाकर दुर्ग का फाटक बन्द कर दिया और जगत सिंह के निहत्थे लोगों पर तलवारें लेकर टूट पड़े। जगत सिंह दोनों भाई चोर दरवाजे से भागे, परन्तु शत्रु के सिपाहियों ने उन्हें देख लिया। युद्ध करते हुए दोनों भाई वीरगति को प्राप्त हुए। जहां ये लोग मारे गए, इन लोगों के चौरा बने हुए हैं और लोग पूजा करते हैं। अली ने जगत सिंह के परिवार की स्त्रियों और बच्चों तक को जीवित न छोड़ा।[1] केवल एक गर्भवती स्त्री किसी

---

[1] —ज्ञात होता है, ऐसे ही अनुभवों के कारण तुलसीदास ने दोहावली में कपटी मित्रों के कपटावरण का स्पष्ट चित्र खींचा है और उनसे सावधान किया है। कपटाचरण की भर्त्सना की है तथा सच्चे मित्र के लक्षण बताए हैं।

प्रकार बचकर निकल गई। अपने पिता के घर पहुंचकर उसने एक लड़के को जन्म दिया। उस लड़के ने बड़ा होने पर सिवान दुर्ग पर अधिकार करना चाहा सिवान पर तो उसका अधिकार न हो सका, परन्तु सम्पूर्ण गोआ परगना (सारन) उसके अधिकार में आ गया, जो जमींदारी समाप्त होने तक उसके वंशजों के अधिकार में रहा है। इस वंश के लोग सियहुता-बँगरा (महाराज गंज), करसौत, तरवारा, हरिहरपुर, लालगढ़, खोरीबारो, उजायं, पल्टूहाता, जलालपुर, माधोपुर, सँकरा आदि गांवों में बसते हैं। जहां पर युद्ध हुआ था, वह स्थान सिवान-विग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। इसी युद्ध के क्रम में कल्यानपुर (वर्तमान हथुआ) के महाराज युवराज साही ने फर्रुखसियर के समय में बड़हरिया के राजा कबूल महम्मद को रामचन्द्रपुर के युद्ध में परास्तकर मार डाला और उसके सिपाह परगने को अपने राज्य में मिला लिया।[1] उनके पुत्रसरदार साही ने मझोली नरेश का झंडा और नक्कारा छीनकर उन्हें राजचिह्न से वंचित किया।[2]

तुलसीदास के जन्म काल और बाल्यावस्था की परिस्थिति, अपने विषय में उनकी तत्कालीन अभिव्यक्ति,[3] तथा जगत सिंह के परिवार को बिनाश लीला पर विचार करने से भी इस बात को पुष्टि होती है कि तुलसीदास का ननिहाल जगत सिंह के ही परिवार में था। उक्त क्षेत्र में तुलसीदास और उनकी माता के नाम पर कई गांवों के नाम मिलते हैं। जैसे—तुलसिया (तुलसी गांव) और उसी क्षेत्र में नरहरपुर हुस्सेपुर,[4] बसंतपुर के पास हुलेसरा, हिलसर तथा हुलासो

१— दाधर प्रसाद अविष्ठ—सारन जिला दर्पण

२—ये वस्तुयें तमकुही में रखी हैं।

३—मेरे कोऊ कहुं नाहिं, मेरे ही अभाग मो से सकुचत सब छुई छाहुं,
बल अपनोन हितू, जननी न जनको' आदि।

४—पहले हथुवा-तमकुही के पूर्वज राजाओं की राजधानी कल्यान पुर में तथा तुलसीदास के समय हुस्से पुर में थी। 'हुस्से पुर' हुलसीपुर का अपभ्रंश है। इस नाम के गांव अन्यत्र भी हैं। एक सज्जन ने बताया कि चम्पारन जिले में केशरिया के पास भी हुस्सेपुर और तुलसी पट्टी नामक गांव हैं अतः इससे उक्त व्युत्पत्ति की पुष्टि होती है। हुस्सेपुर के पास ही कोइलादेवा नामक स्थान पर रामानन्दी सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मठ है। यहां के महंत हथुआ राजवंश के दीक्षागुरु हैं। इसके निकट ही नरहर पुर और तुलसिया नामक गांव है, जिससे तुलसीदास और नरहरिदास की किसी न किसी प्रकार की निकटता हथुआ राजवंश के बगौछिया ब्राह्मणों से होना झलकता है। संभव है यह सम्बन्ध तुलसीदास का जगत सिंह के यहां ननिहाल होने से ही हो। हथुआ राजवंश के पूर्वज (महाराजा जयमल्ल) जगत सिंह के सहायक थे।

कारा पतार के पास हुलास गढ़ (बलिया) मिलते हैं। इधर नरहरि दास के नाम पर भो गांवों के मिलने से उक्त संभावना का समर्थन होता है।

कुछ लोग जगत सिंह का बिहार में आगमन मरुई युद्ध के बाद मानते हैं। वह युद्ध काशिराज बलवंत सिंह और मझवा के राजा बैरोसाल के मध्य आश्विन शुक्ल १४ स० १७७६ वि० में हुआ था। जगत सिंह वैरीसाल सिंह के चाचा लगते थे और उनके पितामह बंशीधर के सगे भाई विक्रम शाह के पुत्र थे, किन्तु यदि इनको और सिवान पर अधिकार करने वाले जगत सिंह को एक माना जाय तो निम्नांकित असंभावनाएँ उत्पन्न होती हैं एवं उससे इतिहास का विरोध पड़ता है—

(१) प्रसिद्ध है कि मझवा राज-परिवार के केवल दो ही व्यक्ति मरुई युद्ध से बचकर निकल पाए थे, वे थे—बैरोसाल के पुत्र ऐनी सिंह और उनके भाई दरियाव सिंह जो पैना चले गए।[1] इनके अतिरिक्त तीसरा कोई नहीं बचा।

(२) बड़हरिया का राजा कबूल महम्मद मरुई युद्ध के पहले फर्रुखसियर के समय में विद्यमान था। फर्रुखसियर का शासन काल सं० १७७०—१७७६ वि० है। कबूल महम्मद के पहले बड़हरिया पर जगत सिंह का अधिकार था।

(३) विक्रम शाह के पुत्र जगत सिंह के भाई का नाम त्रिलोक सिंह था, जो उनके बड़े भाई थे, किन्तु सिवान वाले जगत सिंह के भाई का नाम सकत सिंह था, जो उनके छोटे भाई थे।

(४) त्रिलोक सिंह के बंशज केवल एक गांव जलालपुर (जिला-मिर्जापुर में निवास करते हैं, जबकि जगत सिंह के वंशजों का सारन जिले के बीसों गावों में विस्तार है केवल दो सौ वर्षों की अवधि में एक व्यक्ति का इतना वंश विस्तार संभव नहीं जान पड़ता।

पहले कहा गया है कि सीठू मिश्र के वंशज देवरियो मंडल के रोहिनियां, सिरा, मधुवनी, भरसी, चम्पारन आदि गाँवों में निवास करते हैं और सरयूपारी वर्ग के ब्राह्मणों से संबद्ध हैं। यदाकदा विवाह संबंध सरयूपारी और जमोदार वर्ग

---

[1] द०—श्री खैरुद्दीन का बलवन्तनामा और श्री मजहर हसन कृत तारीखे बनारस भाग १ पृ० ६८

के ब्राह्मणों के साथ सदा से होते आ रहे हैं तथा तुलसी काल में भी होते थे।

१—बस्ती जिला सरयूपारी ब्राह्मणों का केन्द्र है और वहां के सरयूपारी ब्राह्मणों की अन्य ज़िलों के सरयूपारी ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा है। श्री गोकर्णनाथ शुक्ल (गर्ग गोत्र), ग्राम—सिसवां-बुरुआर, डाकघर—सोनहा, जिला—बस्ती ने इस लेखक से बताया कि वे लोग सरयूपारीण समाज में सर्वोच्च माने जाते हैं और अपने लड़कों का सम्बन्ध भी तिवारी एवं मिश्र ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरों के यहां नहीं करते किन्तु भूमिहार ब्राह्मणों को उच्च मानकर उन्हें अपनी कन्या देते हैं। स्वयं उनकी फुआ का ब्याह उतरावल (बरवीरा के पास है) के श्री रामलाल पांडेय (भू० ब्रा०) के यहां हुआ है। सिहारी खुर्द (बस्ती) के श्री कपिलदेव शुक्ल और श्री शिवपूजन शुक्ल को फुआ का ब्याह भी भूमिहार ब्राह्मण परिवार में हुआ है। बस्ती नगर का दक्षिणी भाग 'तुर्कहिया' कहलाता है, जहां प्रतिष्ठित गर्ग-शुक्ल सरयूपारी ब्राह्मणों की बस्ती है। ये लोग प्रायः कन्या सम्बन्ध द्वारा भूमिहार ब्राह्मणों से संबद्ध हैं।

बस्ती जिले के बड़हरिया पांडेय प्रायः अपनी कन्या भूमिहार ब्राह्मणों को ही देते और पुत्र का संबंध सरयूपारियों में करते हैं। श्री पं० कमलेश पांडेय (एम० ए०, आचार्य) जो "खैर-इंटर कालेज, बस्ती में प्राध्यापक हैं, श्री भगवती पांडेय (शुक्ला-साईकिल स्टोर, गांधी-नगर, बस्ती) जो अवकाश-प्राप्त अध्यापक हैं, इसी प्रकार भूमिहार-ब्राह्मणों से संबद्ध हैं। नगर बाजार के निकटवर्ती कूढ़ा, मसहा, बक्सर, देवापार आदि गांवों के ब्राह्मणों के इस प्रकार के सैकड़ों सम्बन्ध सदा से होते आ रहे हैं। गोरखपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद आदि जिलों में जहां भूमिहार-ब्राह्मण अल्प संख्या में हैं, प्रायः इस प्रकार के संबंध होते हैं और प्रायः प्रसिद्ध और बड़े लोग संबंधित हैं। कनौजिया ब्राह्मणों से भी भूमिहारों के संबंध होते हैं जैसे श्री योगेन्द्र ठाकुर भू० ब्रा० (ग्राम—केशवपुर डा०—लालगंज, जि०—मुजफ्फरपुर) का ब्याह भिखारी तिवारी, (कनौजिया ब्रा०) ग्राम—चिमनापुर डा०—लालगंज जिला—मुजफ्फरपुर) की बहिन से हुआ है। श्री सच्चिदानन्द सिंह डा०—गोरया कोठी, जि०—सारन) का ब्याह कनौजिया ब्राह्मण (इंजीनियर) की पुत्री से हुआ है। प्रयाग और उसके पार्श्ववर्ती जिलों में इस प्रकार के सैकड़ों संबंध हुए और होते हैं।

किन्तु तुलसी का ननिहाल देवरिया मंडल में ढूंढ़ना कुछ व्यर्थ सा लगता है क्योंकि इस प्रकार का अनुमान करने के लिए कोई स्पष्ट सूत्र नहीं है।

इसी प्रकार तुलसी की तथाकथित जन्मभूमि के आस-पास के क्षेत्र में यत्र-तत्र गौतम गोत्र के ब्राह्मणों की बस्ती हैं।[2] इनमें कुछ सरवरिया ब्राह्मण वर्ग में तथा कुछ भूमिहार-ब्राह्मण वर्ग में हैं किन्तु इनके साथ तुलसी के मातृकुल का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं होगा क्योंकि इनकी बस्तियां अधिक से अधिक दस पीढ़ी की हैं अर्थात् तुलसी काल के बाद की हैं और यत्किंचित् हैं।

सरयूपारी ब्राह्मणों की अपेक्षा मैथिल ब्राह्मण जमींदार ब्राह्मणों के साथ, कन्या संबंध कुछ विशेष करते हैं।[3] गौतमचन्द्रिका के अनुसार तुलसी ने कविवर विद्यापति के वंशज रमाबन्धु ठाकुर को मातुल (मामा) कहकर संबोधित किया था एवं रमाबन्धु ठाकुर ने उन्हें पहचान कर पीतांबर दिया था। इन बातों से यह संभावना होती है कि तुलसी का मातृकुल मैथिली ब्राह्मणों में रहा होगा, परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने सीताजी को माता मानकर उस सम्बन्ध के अनुसार रमाबंधु ठाकुर को मातुल कहा था एवं मिथिला को वे अपना मातुल-गृह मानते थे।

तुलसी के मातृकुल की उपर्युक्त सम्पूर्ण संभावनाओं पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी माता बरैनी (मझवा-ठटरा) से जाकर 'बिहार में बस जाने वाले गौतम वंश की परम्परा में ही थीं। उक्त वंश के लोग बड़रम[4] नामक डीह के कारण 'बड़रमियां' कहलाते हैं।

माता-पिता—

जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दुबे, माता का हुलसी, श्वसुर का दीनबन्धु पाठक, पत्नी का रत्नावली, पुत्र का तारक और गुरु का नरहरि दास बताया जाता है किन्तु यह जनश्रुति कब और कैसे प्रचलित हुई? इसकी टोह लेने पर उक्त जनश्रुति का रहस्य खुल जाता है। सर्वप्रथम

---

[2] —जनाड़ी, करनामेपुर आदि।

[3] —मैथिल और भूमिहार-ब्राह्मणों में विवाह सम्बन्ध परम्परा से होते आ रहे हैं। मैथिल ब्राह्मणों का एक विशिष्ट वर्ग प्रायः भूमिहार-ब्राह्मणों के साथ कन्या सम्बन्ध और मैथिलों में पुत्र सम्बन्ध करने के कारण 'दोगमिया' कहलाता है। सोति (श्रोत्रिय) भी जो अपने ही वर्ग में श्रोत्रियेतर से सम्बन्ध नहीं करते, पर भूमिहारों से करते हैं।

[4] —यह स्थान सिवान (सारन, बिहार) के पास है।

श्री ग्रियर्सन ने निम्नांकित तीन दोहे उद्धृत किए किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि उन्हें यह दोहे कहां से प्राप्त हुए?

दूबे आत्माराम है पिता नाम जग जान।
माता हुलसी कहत सब, तुलसी के सुन कान ॥
प्रह्लाद उधारन नाम है, गुरु का सुनिए साध।
प्रगट नाम नहीं कहत जो, कहत होय अपराध ॥
दीनबंधु पाठक कहत, ससुर नाम सब कोइ।
रत्नावलि तिय नाम है, सुत तारक गत होय ॥

श्री शिवनंदन सहाय इन दोहों के सम्बन्ध में लिखते हैं—'उनमें इनके माता, पिता, गुरु, पुत्र, पत्नी, श्वसुर सबके नाम वर्णित हैं, परन्तु वे किस ग्रंथ के या किसके रचित दोहे हैं, यह बात आपने नहीं लिखी है। कविकृत ग्रंथों में तो दोहे अवश्य नहीं देखे जाते।'[१]

इन दोहों के सम्बन्ध में आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय का निम्नांकित मत है—'इस जगजानी बात का पता ग्रियर्सन के अतिरिक्त किसको था? किसी भी प्राणी का नाम बता तो दीजिए। जी, यह भी एक ग्रियर्सनी माया है। इसको लेकर आज तक तुलसी के जीवन में कितने जाल हुए हैं, इसे कौन कहे? अभी तो काम जारी है न? फिर चिंता क्या? स्मरण है न? तुलसी गुरु का नाम लेना अपराध समझते हैं और संकेत से 'प्रह्लाद-उधारन' बता जाते हैं। ठीक ही करते हैं। भला कोई गुरु का नाम लेता है? भूले भटके काव्य में 'कृपा-सिंधु नर रूप हरि' अथवा 'नर हरि प्रकट किए प्रहलादा' आ गया तो कोई बात नहीं। मानस पाठ में दोष क्या? किन्तु क्या तुलसी के देश में पत्नी का नाम लेना पुण्य था, जो उसका उल्लेख हो गया? अद्भुत! रहस्य।'[२]

श्री पांडेय जी के इस कथन से ही उपर्युक्त जनश्रुति की पोल खुल जाती है और जैसे ग्रियर्सन साहब का अनुमान गोस्वामी जी की जाति और जन्मभूमि के सम्बन्ध में निराधार सिद्ध है, वैसे इन नामों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। गौतमचन्द्रिका के अनुसार गोस्वामी जी की पत्नी का नाम 'यमुना' था। इस कथन की पुष्टि राजापुर स्थित माफीनामे से भी होती है, अस्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि गोसाईं जी की पत्नी का नाम रत्नावली था? अनुमान प्रमाण से उनके पुत्र का नाम 'तारक' होने की भी पुष्टि नहीं होती

१—श्री गोस्वामी तुलसीदास पृ० १२
२—तुलसीदास की जीवन भूमि पृ० २४०

क्योंकि विषय-वासना में फँसे हुए दंपति ने पुत्र का नाम 'तारक' रखा होगा ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता और यदि धार्मिक प्रवृत्ति का होने से रखा भी हो तो, इसके विषय में कोई प्रमाण नहीं।

उपर्युक्त दोहे चाहे जिसने गढ़ लिए हों किन्तु गोस्वामी जी की माता 'हुलसी' के नाम की अनुश्रुति अवश्य रही है जो रहीम कवि के निम्नलिखित दोहे के साथ अनुस्यूत है—

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय अस चाहत सब कोय।
'गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी से सुत होय ॥

अपनी रचनाओं में गोस्वामी जी ने भी कतिपय स्थानों पर श्लेष द्वारा अपनी माता के नाम की ओर संकेत किया है यथा—

'शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी।
रामचरित मानस कवि तुलसी। रा० बा०

'रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।
तुलसिदास हित हिय हुलसी सी। रा० बा० ३१

और—'रहनि-रीति राम रावरी हिय हुलसी है।
ज्यों भावे त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है ॥ वि० प०

इन उद्धरणों को उद्धृत कर आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय लिखते हैं कि—"इनमें यदि 'हुलसी' संज्ञा है तो इसका सम्बन्ध तुलसी से क्या है? संदेह नहीं कि इसमें 'हुलसी' का प्रयोग जिस ढंग पर हुआ है, उसको देखते हुए तो 'हुलसी' को माता की अपेक्षा पत्नी समझना ही उचित प्रतीत होता है। कारण यह कि तुलसी के जन्म के पहले ही उनकी माता 'तुलसी सों सुत होय' की कामना कैसे कर सकती हैं। यह कामना तो तुलसी की ख्याति के पश्चात् ही हो सकती है। हुलसी का प्रयोग तुलसी ने गीतावली में भी किया है और विनय-पत्रिका में भी। गीतावली में आया है—

'जुग-जुग कोटि-कोटि करतब करनी न कछू करनी नई।
राम भजन महिमा हुलसी हिय, तुलसी हू की बनि गई ॥
गी० सु० ३७

अस्तु इस हुलसी को लेकर इससे तुलसीदास का कोई पारिवारिक सम्बन्ध जोड़ लेना ठीक नहीं लगता। हां, यदि कोई सम्बन्ध रहा हो तो आश्चर्य भी नहीं है किन्तु झुकान हिय की ओर ही अधिक है और तुलसीदास ने सर्वत्र 'हिय-हुलास' के रूप में ही इसे अंकित किया है।" (तुलसीदास पृ०२८-२९)

श्रीयुत पांडेय जी ने 'हुलसी' के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाया है, उसके दो कारण स्पष्ट हैं—पहला यह कि उन्होंने दोहे के अर्थ पर ठीक प्रकार से विचार नहीं किया, जिसका अन्वय इस प्रकार होगा—

'सुरतिय नरतिय (और) नागतिय, सब कोय अस चाहत (कि जिस तुलसी को) हुलसी गोद लिए फिरें, (उस) तुलसी सों सुत होय।'

यहां पर यह जान लेना आवश्यक है कि भोजपुरी में 'फिरें' क्रिया का प्रयोग 'भूत' और 'वर्त्तमान' दोनों कालों में होता है। उक्त दोहे में इसका अर्थ है—'फिरती थी।' दूसरा कारण 'हुलसी' के साथ 'हिय' का प्रयोग है। यहां भी 'हुलसी' के श्लेषार्थ पर विचार करने से पांडेय जी की शंका निर्मूल हो जाती है क्योंकि प्रथम उदाहरण में स्पष्ट है कि शम्भु के प्रसाद से जो सुमति उल्लसित हुई, उससे 'रामचरित मानस' वैसे ही प्रकट हुआ, जैसे सुमति हिय हुलसी के गर्भ से तुलसी प्रकट हुआ। विनय में तो साफ-साफ 'राम की रहनि-रीति' हुलसी के हृदय के समान कही गई है। माता का हृदय ही निःस्वार्थ भाव युक्त और ममतामय होता है। गीतावली में भी यही कहा गया है कि 'हुलसी के हृदय में जो राम भजन की महिमा का विश्वास था, उसके कारण तुलसी की भी बन गई।' लोकोक्ति भी है—'बाढ़े पूत पिता (माता) के धर्मा।' अस्तु इससे प्रकट होता है कि तुलसीदास की माता हुलसी एक धर्मशीला तथा भगवद्भक्त नारी थीं। 'तुलसिदास हित हिय हुलसी सी' में तो श्लेष भी नहीं है, इससे साफ प्रकट होता है कि 'हुलसी' तुलसीदास की माता का नाम था। उन्होंने हुलसी के साथ जिस पूज्य भाव और श्रद्धा का योग किया है, उसे वे पत्नी के निमित्त कदापि व्यक्त न करते।

गौतम चन्द्रिका के निम्नांकित कथन से इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि तुलसीदास की माता का नाम 'हुलसी' था, यथा—

'राम कृपा हुलसी जनित, तुलसी विरवा सोइ।
लै हुलरावति सुरधुनी, जल अंचल महँ गोइ॥'

इससे भी बढ़कर 'हुलसी सती' के स्थान का पता लग जाने से तो इस सन्देह के लिए स्थान ही नहीं रह गया कि तुलसीदास की माता का नाम 'हुलसी' के अतिरिक्त कुछ और था। उक्त स्थान का पता लग जाने से इस रहस्य का उद्घाटन हो गया कि तुलसीदास का शैशव में ही माता-पिता से विछोह क्योंकर हो गया। पहले बताया जा चुका है कि तुलसीदास के पिता जमींदार थे और उन्होंने अपने समय की सरकार अथवा उसके पायकों से स्वत्व की रक्षा-

युद्ध करते हुए समरांगण में वीरगति पाई थी। वैधव्य दुःख की निवृति तथा उन दिनों की सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक-भावना के अनुसार हुलसी देवी शिशु को रक्षार्थ कहीं भेजकर सती हो गईं। जनश्रुति के अनुसार उन्होंने शिशु को कहीं अन्यत्र भेज दिया था।

तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—

'सो पेट प्रिय-पूत-हित राम नाम लेत हौं।

इससे ज्ञात होता है कि तुलसी को माता-पिता की उस सामान्य भावना का पता था, जिसके कारण वे पुत्र की कल्याण कामना से देवता मनाती और भगवान् का नाम लेते हैं, विशेषकर माताएँ उक्त उद्देश्य से सदा देव पूजन एवं भगवद् भजन में रत रहती हैं। तुलसी को संतति स्नेह का यह अनुभव अपनी शैशवावस्था में अपने प्रति माता की ममता देखकर ही हुआ होगा। संकटपूर्ण स्थिति में यह ममता और उमड़ पड़ती है और यदि पुत्र इकलौता हुआ तो उस अगाध ममता की कहाँ सीमा बांधी जा सकती है। तुलसी को माता की ऐसी ही अगाध ममता प्राप्त हुई थी। माता पिता ने साहस पूर्वक अपने मूल्यवान-जीवन को विप्लव की भयानक-आग में झोंक दिया, परन्तु पुत्र को प्रयत्न पूर्वक जीवन रक्षार्थ किसी सुरक्षित स्थान पर भेज दिया।

तुलसीदास की माता के विषय में विचार करते समय उनके निम्नांकित कथन को ध्यान में रखना आवश्यक है यथा—

'रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।
तुलसिदास कहँ हिय हुलसी सी ॥ रा० बा० ३१।१२

और—'सम्भुप्रसाद सुमति हिय हुलसी।
रामचरित मानस कवि तुलसी ॥ रा० बा० ३६।१

इन पंक्तियों द्वारा उन्होंने अपनी माता के उदात्त-चरित्र का जिस रूप में संकेत किया है, वह दिव्य है। इसमे यह भी ज्ञात होता है कि उनकी माता प्रसव पीड़ा के कारण उनको जन्म देकर ही मृत्यु मुख में नहीं चली गई थीं और न अभुक्तमूल में जन्म लेने के कारण उनका त्याग किया गया था, जैसा कि लोगों को भ्रम है। उनकी उपर्युक्त उक्तियों से यह स्पष्ट झलक मिलती है कि वे बाल्यावस्था में माता द्वारा इतनी आयु तक अवश्य लालित-पालित हुए थे, जिसकी स्मृति उन्हें रामचरित मानस के रचनाकाल तक थी। आयु के प्रथम ३ वर्ष तक की बातें याद नहीं रहतीं, अस्तु यह मानना पड़ेगा कि कम से कम उनकी चार वर्ष की अवस्था तक उनकी माता का स्नेहपूर्ण लालन-पालन उन्हें अवश्य प्राप्त था।

तभी तो अपने प्रति माता के पवित्र और सुस्निग्ध भावों की याद आती थी अपने हित में 'राम-कथा' की उपमा 'हुलसी के हृदय' से दी है। इससे स्पष्ट है कि माता हुलसी का हृदय अत्यंत ऊंचे और पवित्र भावों से भरा हुआ था। वे सदैव ही शिशु तुलसी का हित चिन्तन करती और हित कार्य में लगी रहती थी। जैसे रामकथा ने तुलसी का उद्धार किया, उन्हें ऊंचा उठाया और विकास की ओर प्रेरित किया, वैसे ही हुलसी ने तुलसी का ममत्व से स्नेह सिंचन किया, उन्हें अच्छे गुण सिखाये और सब प्रकार से उनके विकास की ओर ध्यान दिया। दूसरे स्थान पर तुलसीदास ने 'सुमति हिय हुलसी' का 'सम्भु प्रसाद' के साथ रूपक बांधा है, अस्तु इस प्रकार भी वे हुलसी की सुबुद्धि, विवेक साधुता, सहज दयालुता और औदार्य के महत्व को प्रकट करते हैं जो 'शम्भु प्रसाद' के समान असाधारण है।

अपनी माता के विषय में तुलसीदास की ये उक्तियां, ही उनकी माता के उन्नत चरित्र और विशाल हृदया होने की सूचना देती हैं। उन्होंने सब कहीं माता-पिता के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति प्रकट की और कराई है जिससे ज्ञात होता है तुलसीदास के माता-पिता जब तक जीवित रहे, उन्होंने शिशु तुलसी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन किया एवं उनकी सुरक्षा, शिक्षा और लालन पालन के लिए यथा सम्भव उचित उपाय किए।

तुलसीदास जी द्वारा अपने विषय में—

'मातापिता जग जाइ तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई और—'जननिजनक तज्यो जनमि करम बिनु, बिधिहू सृज्यो अवडेरे' कहने से कुछ लोग समझते हैं कि उनके मातापिता उनका जन्म होते ही उन्हें छोड़कर कहीं चले गए थे, किन्तु उपर्युक्त कथन से तुलसीदास का तात्पर्य वही है जैसा कि किसी के मरने पर उसके आत्मीयजन साधारणतया इस प्रकार कहा करते हैं—'वे मुझे असमय में असहाय छोड़कर चले गए' अथवा शोकोद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं—'हाय, मुझे किसके सहारे छोड़कर चले गए' आदि।

उपर्युक्त कथन से अवश्य यह प्रकट होता है कि उनके मातापिता का उनकी शैशवावस्था में ही उनसे विछोह हो गया था तथा उनका पालन-पोषण एक स्थान पर सम्यक् रूप से नहीं हो सका। यदि उनके ननिहाल और दूसरे नातेरिश्ते में लोग होते तो उन्हें इस परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ता और उनका लालन-पालन कहीं स्थायी रूप से हुआ होता। सम्भव हैं जैसी संकटपूर्ण स्थिति में उनके माता-पिता का उनसे विछोह हुआ था, वैसी ही स्थिति उनके नातेदारों के समक्ष भी रही हो अथवा वे सभी तुलसीदास के पिता के सहायक बनकर

रणभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए हों। जो हो, तुलसी का अपना कोई सगा-सम्बन्धी नहीं रह गया था। इसीसे उन्होंने, अपने विषय में 'करम बिनु' और 'मेरे कोउ कहूँ नाहिं' कहा है। 'विधि हू सृज्यो अवडेरे' कहने से यह भी पता चलता है कि तुलसीदास अपनी अनाथावस्था में बिल्कुल अबोध बालक न थे, परंच वे इधर-उधर घूमने की शक्ति और अपनी परिस्थिति समझने की बुद्धि भी रखते थे, अस्तु उनकी गुरु के सम्पर्क में जाने के समय की अवस्था १२-१३ वर्ष की रही होगी। ज्ञात होता है उनकी अनाथावस्था में उनके अपने लोग भी पराए बन गए थे और उनके शत्रुओं ने उनके स्वत्व पर अधिकार कर लिया था।

तुलसीदास की बाल्यावस्था इतिहास के बड़े विकट अन्धेरगर्दी काल में बीती थी। इनके माता-पिता जबकि ये अधिक से अधिक तीन चार वर्ष के रहे होंगे, काल का ग्रास बन गए। यह वह समय है जब कालिंजर के युद्ध में शेरशाह की मृत्यु हो गई थी। यों तो शेरशाह भी युद्धों में फंसे रहने के कारण अपने शासन को सुनियंत्रित नहीं बना सका था, परन्तु उसके मरने पर तो स्थिति बहुत बिगड़ गई जैसा कि डा० ताराचन्द अपने हिन्दुस्तान के इतिहास में लिखते हैं—

'शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका बेटा इसलाम शाह गद्दी पर बैठा। उसने आठ वर्ष शासन किया परन्तु शासन काल भाइयों के षड़यन्त्रों तथा प्रान्तीय विद्रोहों के कारण अव्यवस्थित रहा। उसके अनन्तर उत्तराधिकार के लिए झगड़ा खड़ा हो गया और १५५४ ई० (सं० १६११) में मुहम्मद आदिल शाह ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। यह कोई योग्य शासक न था। × × चारों ओर विद्रोह की आग भड़क रही थी।

'इससे स्पष्ट है कि उस समय उत्तर भारत में सब कहीं, गुंडागर्दी का राज्य था और उसीकी विभीषिका में तुलसीदास के माता-पिता और सगे-सम्बन्धी सभी स्वाहा हो गए तथा तुलसी को अनाथ बनकर इधर-उधर भटकना पड़ा। दुर्भाग्य ने उन्हें दर-दर का भिखारी बना दिया।

कहा जा चुका है कि हुलासी सती का स्थान जिस हल्दी (हुलसी डीह) ग्राम में है, उसका नाम पहले 'डँवरा' था। डंवरा नाम की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'डमरपुर' से हुई है, जिसका अर्थ है—उपद्रव, भगदड़ या हलचल वाला ग्राम। अस्तु इस नाम से उस सम्भावना की पुष्टि होती है, जब तुलसीदास के पिता यहां पर शत्रुओं द्वारा किए गए उपद्रव में वीरगति को प्राप्त हुए थे और उनकी माता ने उनके सहगमन कर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की।

सारन, बलिया आरा तथा इनकी सीमा से सटे हुए पटना और गया जिलों में एक विशेष क्षेत्र के अन्तर्गत 'हुलसी' की स्मृति में बसे हुए अनेक गांवों का होना यह सिद्ध करता है कि ये गांव तुलसी और उनकी माता हुलसी की स्मृति में ही बसाए गए हैं। शाहाबाद की सीमा पर गया-पटना के क्षेत्र में हिलसा, हुलासगंज, तुलसीपुर, तुलसी आदि गांव परस्पर पास-पास ही हैं। यही स्थिति वलिया सारन और आरा स्थित गांवों की है। जिनका नामकरण तुलसी और हुलसी के नाम पर हुआ है।

तुलसीदास ने पिता के नाम का संकेत कहीं किया है, या नहीं; यह बात रहस्य मय ही है किन्तु जब वे कहते हैं कि --

'मेरे तो माय-बाप दुइ आखर हौं सिसु अरनि अरो।' वि० २२६

तो ऐसा झलकता है कि उनसे पार्थिव पिता का नाम कहीं 'राम' न रहा हो। माता के न रहने पर जब पिता ही शेष रहता हैं तो माता-पिता दोनों रूपों में संतान के लिए वही आदर्श होता है। माता हुलसी न रही 'राम' नामधारी पिता का भी पार्थिव शरीर न रहा, परन्तु जब अपार्थिव शाश्वत 'राम' का संरक्षण प्राप्त हुआ तो उसमें संरक्षक पिता के साथ स्नेहमयी माता का आरोप कर लेना स्वाभाविक ही है।

वे अन्यत्र भी ऐसा ही कथन करते हैं, जिससे उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है, यथा—

बूझि अपनी, आपनौ हित, आप बाप न माय।' वि० २२०

अर्थात् हे राम! मैं अपनी बात समझकर और अपना 'हित' जानकर आप से कहता हूं कि आप मेरे पिता मात्र ही नहीं, वात्सल्यमयी माता भी हैं।' यहां भी पिता में माता की स्थापना की गई है।

और देखिए—**'माय-बाप तुही सांचो तुलसी कहत'**

यहां तक तो 'शिशु' भावापन्न तुलसी के लिए माता–पिता में अभेद है किन्तु जब वे अलग से माता रूप में श्री जानकी जी को देखते हैं तो श्री रामचन्द्र जी मात्र पिता के रूप में रह जाते हैं यथा—

'विनय पत्रिका दीन को बापु! आपुही बांचो।' वि० २५६

बाप के सम्बन्ध का प्रारम्भ किस आधार पर हुआ है, इसका भी स्पष्टीकरण कवितावली में कर दिया गया है—

'नाम के प्रताप बाप! आजु लौं निबाही नीके,
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजान हैं।'
क० उ० ८०

यदि इतने पर भी सन्देह के लिए स्थान शेष हो तो एक पग और आगे बढ़कर लोकन किया जा सकता है—

नीति औ प्रतीति-प्रीति पाल चालि प्रभु मान,
. लोक वेद राखिवे को पन रघुवर को।"

× × ×

राखें रीति आपनी जो होइ सोइ कीजे बलि,
तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को ॥ क० उ० १२२

गांवों में एक नाम वाले लोग परस्पर 'मीत' कहलाते हैं फिर 'मीत' के बच्चे जायउ' नहीं तो क्या कहलायेंगे ? एक बात और देखिए अजामिल ने तो रायण' नाम से पुत्र का सम्बन्ध जोड़ा था किन्तु तुलसी ने रामनाम के साथ ता-माता का सम्बन्ध जोड़ा है क्योंकि शिशु तो पेट के लिए ही माता-पिता पहचान करता है कहते हैं—

'जैबे की अनेक टेक एक टेक ह्वैबे की,
सो पेट प्रियपूत हित राम नाम लेत हौं ॥'
क० उ० ८२

और इस प्रकार तुलसी 'नाम के भरोसे परिनाम को निसोच है।
(क० उ० ८१)

इतने पर भी यदि कोई, चाहे तुलसीदास के पिता के नाम से श्री रामचन्द्र जी के नाम को सम्बद्ध करें या न करें। परन्तु यदि संबद्ध करना है तो मेरे मन से नाम 'राम' न होकर 'रघुनाथ' होना अधिक युक्ति युक्त है क्योंकि गोस्वामी जी ने 'करुणा-सरित-रूपी सेना के स्वामी रूप में श्री रघुनाथ जी को ही देखा या—

'आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित लिए जाहिं रघुनाथ ॥ रा० अ०

और 'रामचरित-मानस' में 'नाम' का महत्व निरूपण करने के पश्चात् श्री नाथ जी से ही कृपा-प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना की है यथा—

"भाय कुभाय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू ॥
सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा ॥
मोरि सुधारिहि सो सब भांती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ॥
रा० बा०

और उन्होंने विनय पत्रिका दीन की वाप आप ही बांचो, कहकर वार
बांचने के लिए जो 'विनय पत्रिका' दो है, उस पर श्री रघुनाथ जी को हो
हुई है यथा—

"बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की ॥
परी 'रघुनाथ' हाथ सही है ॥ वि० २७६

यहाँ अनाथ तुलसी के साथ 'रघुनाथ' का सम्बन्ध बिचारणीय है।

वे कहते हैं—'तुलसी अनाथ को सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सील सिंधु आपने सुभाय को'
ह० वा० ४१

अनाथ तुलसी के साथ 'सील सिन्धु रघुनाथ' का जो सम्बन्ध जुटा, उसे
उन्हें इस बात का सामान्य रूप से अनुभव हुआ कि—

'आरत दीन अनाथन को रघुनाथ करैं निज हाथ का छाँह'
क० उ० ११

तब उन्होंने अपने उक्त अनुभव की विज्ञप्ति की—

'स्वारथ को परमारथ को रघनाथ सों साहब खोरि न ल्लाई।'
क० उ० ५७

और सकल संसार के उपकारार्थ बड़ो दृढता के साथ यह उद्‌घोष किया—

मन सोंपन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरे?
उ० ५९

'सुनु कान दिए नित नेम किए रघुनाथहि के गुन गा करि रे।'
क० उ० २६

"तुलसी भजु दीन दयालहिं रे रघुनाथ अनाथहि दाई न तू'
क० उ० ७

तुलसी का तो भला-बुरा सब कुछ रघुनाथ के ही हाथ में है—

"तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है।'
क० उ० १०८

तुलसीदास जी का एक दोहा है—

जौं रघुनाथ तो अति भलो जो महेश बड़ भाग।
तुलसी कैसहु चाहिए रामचरन अनुराग॥ दो०

तुलसी के राम यदि परमेश्वर न भी हों तो भी उनकी यह विशेषता है कि रघुनाथ हैं। वे यशस्वी राजा और कदाचित तुलसी के पिता भी हैं, इसीसे कृतजन गुणगान की अपेक्षा न करने वाले तुलसी के लिए उनका गुणगान मलों' है।

इस प्रसंग में तुलसीदास का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

'कृपापाथ नाथ, लोकनाथ नाथ, सीतानाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िए। क० उ० २५

इस उद्धरण में रघुनाथ के प्रयोग पर ध्यान देना आवश्यक है, जो सबसे न्तिम नाम है। भला शिशु पिता का छोड़ और किसके आगे हाथ फैला सकता है। यहाँ याचना हेतु भगवान के अधिकार–सम्बन्धों का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाते हुए उसकी चरम-परिणिति रघुनाथ (पिता) में की गई है। इसी तथ्य की पुष्टि 'गीतावली' के अन्तिम-गीत से भी होती है जिसमें संक्षिप्त-रूप में सम्पूर्ण राम-चरित कहा गया है तथा जिसका प्रारम्भ रघुनाथ से होता है और अन्त में तुलसीदास पिता से भक्ति का दान मांग लेते हैं यथा—

'रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल अवधवासी।'
और-'तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति दान तब मांगि लियो।'

इतनाही नहीं विनय पत्रिका से भी इस सम्बन्ध की पुष्टि होती है यथा—

'बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं अब न तजे बनि आवे।'
(बि० ११३।३)

'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥ वि० १३५

और रामचरित मानस से भी जिसका आरम्भ रघुनाथ से और समापन रघुनाथ में होता है यथा—

'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्धमति मंजुल
मातनोति।' बा० १

और—'कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥ उ० १३०

राम की प्रियता-प्राप्ति के लिए श्री रघुनाथ जी से ही निवेदन किया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास के समक्ष 'राम' और 'रघुनाथ' में क्या अन्तर है? वस्तुतः 'राम' उनके प्रिय थे और 'रघुनाथ' उनके अभिभावक

पिता। उन्होंने सर्वत्र इसी अर्थ में 'रघुनाथ' का प्रयोग किया है, जैसा ऊप व्यक्त है। इस प्रसंग में 'बहुत नात "रघुनाथ' तोहि मोहि, अब न तजे बने आवे' की ओर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। तुलसी के भौतिक शरीर धारी पिता 'रघुनाथ ठाकुर ने उनको शैशवावस्था में, जब कि वे अत्यन्त. अबोध और असहाय थे, उन्हें निराश्रित छोड़ दिया था और इस प्रकार पिता के कर्तव्य की अवहेलना की, जिससे 'तुलसी' को बड़ा कष्ट हुआ यदि ऐसी ही पुनरावृत्ति फिर कहीं हो गई क्योंकि आप भी रघुनाथ ही हैं तो तुलसी की क्या गति होगी। मनमें यह शंका उठते ही घबरा जाते हैं और कहते हैं—'अब न तजे बनि आवे' क्योंकि हे रघुनाथ जो! पहले तो आप से मेरा एक ही नाता था और शेष नाते अन्यत्र बिखरे हुए थे। इसलिए यदि अपने यहाँ से हटाकर अन्य सम्बन्धी के यहां भेज भी दिया ता एक बात थी परन्तु अब तो बहुत से नाते आप ही से संलग्न हैं तथा मेरे लिए कोई दूसरा स्थान ही नहीं रह गया है इसलिए अब आपका पहले की भांति छोड़ना कदापि उचित नहीं है।

कहा जाता है कि शाहाबाद जिले में कौट-ब्रह्मपुर के पास बेला पतौव ग्राम में जब गोस्वामी जी गए तो उसका नाम बदलकर 'रघुनाथपुर' कर दिया गया था। क्या इस नामकरण से गोस्वामी जी के पिता का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता? जबकि उनकी गुरुभूमि और जन्मभुमि यहीं है और इसी क्षेत्र में उनके नाम पर बसे हुए गोसाईपुर तुलसी छपरा और तुलसीपुर नामक स्थान भी हैं। सूकरखेत (सुअरहा) के पास भी रघुनाथपुर है और गोस्वामी जी के जन्म स्थान के निकट भी एवं उनकी बाल्यावस्था की निवास भूमि गंगा-सरयू की संगम भूमि में भी। क्या यह रहस्य नहीं है?

कुछ लोग कह सकते हैं कि गोस्वामी जी ने तो 'गुरु पितु मातु महेश-भवानी' (रा० बा०) और 'मेरे ता माय बाप शंकर भवानियें' (क०उ०) कहकर 'शिव-पार्वती' को भी पिता-माता कहा है तो उनके पिता का नाम 'शंकर' या 'महेश' क्यों न मान लिया जाय? किन्तु ऐसी शंका युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि तुलसीदास ने शंकर-भवानी के साथ सीधे माता-पिता का सम्बन्ध कहा है उनके नाम के सम्बन्ध के कारण नहीं। शंकर-भवानी जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् के पिता माता हैं, उसी प्रकार तुलसीदास के भी हैं। उन्हीं से संसार में राम कथा का उपदेश दिया गया है अस्तु वे तुलसीदास के गुरु भी हैं। शिवपार्वती को पिता माता कहने से इस बात का भी पता चलता है कि सर्वप्रथम तुलसीदास शिव-पार्वती की ही शरण में गए थे और इसके बाद गुरु का साथ होने पर राम-भक्त बने। कौट-ब्रह्मपुर का शिव मन्दिर गोस्वामी तुलसी-

शिव की जन्मभूमि के निकट ही है। अनाथावस्था का भान होने पर तुलसीदास अवश्य उक्त मन्दिर में जाकर भगवान शंकर के शरणापन्न हुए होंगे। यही कारण है कि उन्होंने 'शिवपार्वती' के नाम को नहीं, वरंच प्रत्यक्ष ही उन्हें अपना पिता माता मान लिया, परन्तु श्री रामचन्द्र जी से उनका प्रथमतः प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर 'नाम' का सम्बन्ध हुआ। उस नाम में उन्होंने अपने पार्थिव पिता का नाम पाया यही नहीं यदि लौकिक पिता रघुनाथ ठाकुर वीर थे और उन्होंने अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए आततायी विधर्मियों से युद्ध करते हुए वीरगति पाई थी, तो पारमार्थिक पिता श्री रघुनाथ जी परमवीर शिरोमणि थे। उन्होंने धर्म-मर्यादा के रक्षार्थ बन-बन की खाक छानकर अधर्मी राक्षसों का नाश किया था। इस प्रकार इस नाम से उनकी ममता बढ़ गई। यह ममता इतनी बढ़ गई कि अनन्य भाव से उन्होंने उक्त नाम को ही अपना पिता और व्यवहार में माता भी मान लिया एवं 'माय-बबा' के राज्य में जैसे बालक निश्चिन्त रहता है, सब प्रकार निश्चिन्त हो गए।[1] गोस्वामी जी ने 'भवानी-शंकर को 'श्रद्धा-विश्वास' का रूप कहा है। किसी साधक भक्त के लिए श्रद्धा ही माता और विश्वास ही पिता है क्योंकि इन दोनों के संयोग से ही सिद्धि मिलती है। जिसे 'श्रद्धा-विश्वास' रूप 'भवानी-शंकर का बल नहीं, उसे कभी भी किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिल सकती, यथा—

'भवानी-शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरम्॥
रा० मा० बा० का०

और—'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'
कवनिउ सिद्धि कि बिनु विश्वासा
'बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम'
—रा० उ० ९०

अतः श्रद्धा और विश्वास का रूप होने से ही गोस्वामी जी ने भवानी-शंकर को माता-पिता कहा है, यह सामान्य बात है। कविवर कालिदास भी कहते है—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ'—रघुवंश

---

[1] —मेरो तो न डर रघुवीर सुनो सांची कहौं, खल अनखै हैं तुम्हें सज्जन न गमिहैं।
भले सुकृती के संग मोहिं तुला तौलिए तो, नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमिहै। क० उ० ७१

विश्वास रूप होने से 'शंकर' साक्षी भी हैं जैसा कि वे कहते हैं—

“संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो यह जीह गरो”—वि०

श्रीमद्भागवतगीता में भी ईश्वर को साक्षी कहा गया है क्योंकि जो सर्वात्मा, स्वयंभू, सम और सवकाल व्यापी है, वह शिव सबका साक्षी भी है और सबका पिता भी।

अस्तु सामान्य से विशेष संबंध का बाध नहीं होता क्योंकि तुलसीदास ने श्री रामचन्द्र जी के नाम के साथ पितृभाव की स्थापना कर और अपने को उनका 'घर जायउ' कहकर विशेष सम्बन्ध का द्योतन किया है।

गोस्वामी जी का अपने माता-पिता से उनके काल कवलित हो जाने के कारण शैशवावस्था में ही साथ छूट चुका था और ऐसी परिस्थिति में उपयुक्त संरक्षक न मिलने के कारण उन्होंने भवानी-शंकर और सीताराम से मातृ-पितृ सम्बन्ध की स्थापना की। पिता-माता उनके लिए 'सपना' और 'सुपुप्ति' के समान थे,[1] फिर भी माता-पिता के प्रति उनकी अटूट-श्रद्धा प्रकट होती है। यही बात पिता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जिनकी तुलना स्वयं भगवान से उन्होंने की है यथा—

'स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहब खोरि न लाई।'

इतना ही नहीं उन्होंने श्री रामचरित मानस में तथा अन्यत्र भी धर्म के व्यवस्थापक श्री वसिष्ठ जी तथा लोक-मर्यादा के रक्षक श्री रामचन्द्र जी द्वारा पिता के महत्त्व की स्थापना कराई है यथा—

'पिता वचन फुर चाहिय कीन्हा'—अ० का० १७४

और—'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू।
सकल धरम धरनी धर सेषू॥ वही ३०६

जो लोग यह सोचते हैं कि तुलसीदास माता-पिता द्वारा जारज होने से त्याग दिए गए थे, उन्हें इस विवेचन की ओर ध्यान देना चाहिए क्या उक्त प्रकार त्यागी हुई सन्तान माता-पिता के महत्त्व की स्थापना कर सकती है और उनके प्रति अपनी ममता व्यक्त कर सकती है? रहीम के दोहे से भी तो 'हुलसी' के महत्त्व का ही संकेत मिलता है और इस बात का भी पता चलता है कि तुलसीदास की माता तुलसी का जन्म देने के पश्चात् तत्काल ही नहीं मर गई

---

[1] —पितु सपना सुषुप्ति महँ माई। स्तुति परि बात सिम्रिति बनि आई॥
गो० व०

एवं उन्होंने शिशु को गोद में लेकर खेलाया भी था यथा—'गोद लिए हुलसी फिरें' अस्तु इससे यह भी प्रकट होता है कि शिशु को माता-पिता ने किसी विषम परिस्थिति में पड़कर ही अपने से अलग किया था, प्रसव कष्ट या अभुक्त मूल के कारण नहीं और न जारज संतान होने या गरीबी के कारण। अस्तु उक्त दोहे से इस प्रसंग की पुष्टि होती है कि तुलसीदास के पिता जमींदार थे। राज समाज से युद्ध करते हुए उन्होंने प्राण गँवाए तथा माता-पुत्र को 'राम' के भरोसे छोड़ सती हो गई।

राम भजन महिमा हुलसी हिय तुलसी इ की बनि गईं' (गी० सु०. ३७) कथन द्वारा तुलसी ने इसी की ओर संकेत किया है।

गोस्वामीजी के निम्नांकित दोहे से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि उनका जन्म एक विशाल (श्रेष्ठ) वंश में हुआ था और उनके माता-पिता भी गौरवशाली थे यथा—

तुलसी भल बरतरु बढ़त निज मूलहिं अनुकूल।
सबहिं भाँति सब कहँ सुखद दलनि फलनि बिनु फूल॥

दोहा ५२६

अस्तु गोस्वामीजी भी विशाल वट वृक्ष के समान श्रेष्ठ वंश में अपने मूल के अनुरूप ही हुए। यह उक्ति ही उस मत का खण्डन कर देती है कि गोस्वामी जी जारज होने से माता-पिता द्वारा अलग कर दिए गए थे। इस उक्ति से उनका दूरव्यापी छाया युक्त जमींदार वंश में उत्पन्न होना भी सिद्ध होता है जो दानशील और बहुतों का आश्रयदाता रहा होगा। भविष्य पुराण के अनुसार तुलसी के पिता का नाम अनप शर्मा था। यह नाम लाक्षणिक अर्थ का द्योतक प्रतीत होता है। अनप का अर्थ होगा ऐसा श्रेष्ठ पुरुष जिसका पतन न हुआ हो।

नाम—

प्रायः यह प्रश्न उठा करता है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था का वास्तविक नाम क्या था? क्योंकि स्वयं गोस्वामीजी द्वारा ही अपने दो नामों का उल्लेख करने से संदेह में पड़ना स्वाभाविक ही है। दूसरी बात यह कि साधु-महात्माओं के प्रायः दो नाम होते भी हैं-पहला घर का नाम जो माता-पिता और परिवार के लोगों का दिया हुआ होता है तथा दूसरा दीक्षा गुरु का दिया हुआ नाम जिसे गुरु अपनी इच्छा से अपनी परम्परा के अनुसार रखता है एवं वह आध्यात्मिक अर्थ का द्योतक होता है। गोस्वामी जी के ये दोनों ही नाम संभवतः आध्यात्मिक हैं। वे कहते हैं–

'राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।

वि० ७६

और—'राम बोला' नाम हौं गुलाम राम साहिको—क० उ० १००

जिससे स्पष्ट है कि इनका एक नाम 'रामबोला' था जो राम रूपी गुरु का दिया हुआ था तथा जो 'रामसाहि' का गुलाम होने के बाद पड़ा। इस नाम से यही ध्वनि निकलती है कि तुलसीदास सदा राम नाम का जप करते रहते थे एवं नामी से भी नाम को महत्व देते थे, अतः यह नाम उनके उक्त आध्यात्मिक-गुणों का द्योतक एवं गुणपरक है।

इनके 'तुलसी नाम की व्याप्ति उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में है। यह नाम अभिभावकों का दिया हुआ प्रतीत होता है जैसा कि वे दोहावली में कहते हैं :-

'केहि गिनती महँ गिनती जस वन घास।
राम जपत भए, 'तुलसी' तुलसीदास ॥५६॥

इसी प्रकार कवितावली में भी है--

'नाम तुलसी पै भोंड़े भाग ते कहायो दास,
किए अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।

क० उ० १३

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी की बाल्यावस्था का नाम 'तुलसी ही था, परंतु विरक्त होने पर वे तुलसीदास कहलाने लगे। इस नामकरण से यह भी ज्ञात होता है कि इनके अभिभावक वैष्णव-मतानुयायी थे, अन्यथा वे कुछ दूसरा ही नाम रखते।

प्रेम रामायण में गोसाईं जी के शिष्य श्री रामू द्विवेदी ने उनके नाम के बदले में 'राम किंकर' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे--'राम किंकरेण' भाषाया कृते' और 'श्री राम किंकर कृते रघुवीर काव्ये' आदि पुष्पिकाओं के प्रयोग हैं। इसी प्रकार 'तापस-प्रसंग' में भी कहा है--

'मनः कर्म वचोभिः श्री राम किंकर एव सः।'

१— मानस मयूख वर्ष १ प्रकाश ४ पृ० ४१९-२०

यह नाम भी गुणवृत्ति परक होने से आध्यात्मिक ही कहा जा सकता है। केवल इतना है कि यह गुरु का दिया न होकर शिष्य का दिया हुआ है। रामचन्द्रजी के दरबार में 'विनय पत्रिका' पर हस्ताक्षर कराने के समय श्री जी ने तुलसीदास का नाम न लेकर उनके लिए 'एक किंकर' ही कहा है। स्वयं तुलसीदास ने भी अपने लिए 'राम किंकर' का प्रयोग किया है—

'राम को किंकर सो तुलसी, समुझे ही भलो कहिबो न रवा है।'
क० उ० ५६

अस्तु रामू द्विवेदी द्वारा 'राम किंकर' नाम देने का आधार उपर्युक्त ही हो सकता है।

पत्नी-पुत्र गोस्वामी जी ने अपने ग्रंथों में कहीं स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि वे विवाहित थे अथवा अविवाहित, किन्तु एक स्थान पर वे कहते हैं—

'सो पेट प्रिय-पूत-हित राम नाम लेत हौं—

जिससे ज्ञात हुआ है कि उन्होंने वैवाहिक जीवन के साथ-साथ पुत्र सुख का भी अनुभव किया था। निम्नांकित कथन से भी ऐसी ध्वनि निकलती है कि उन्होंने विवाह करके कुछ काल के लिये गृहस्थ जीवन बिताया था, यथा—

'पर्‌यो लोकरीतिमें पुनीत प्रीति रामराय,
मोह बस बैठो तोरितरकि तराक हौं।
---ह० बा० ४०

'विनय पत्रिका' में भी उन्होंने कहा है—

जौवन-ज्वर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरे मदनबाय---८३

गोस्वामी जी मृग नयनी के असम सर' से विद्ध होने का अनुभव प्राप्त कर ही 'प्रमदा-सब दुख-खानि' कहकर उससे बचने के लिए सदा सावधान करते

२—मारुत मनरुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलि कालहु नाथ! भूमि सों परतीति प्रीति
एक किंकर की निबही है॥ वि० २७९

रहते थे। कहते हैं कि पत्नी के उपदेश द्वारा ही उनका सुप्त वैराग्य जाग
और उनका मन सदा के लिए 'राम' में रम गया। इस बात की पुष्टि
प्रियादासजी के निम्नांकित कथन से भी होती है—

तिया सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई,
भूली सुध देह भजे वाही ठौर आए हैं॥
वधू अति लाज भई, रिस सों निकसि गई,
प्रीति राम नई तन हाड़चाम छाए हैं॥
सुनी जब बात, मानौ होइ गयो प्रात
पाछे पछितात तजि काशीपुरी धाए हैं॥
कियौ तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकाश कीनो;
लीनो दृढ़ भाव नैन रूप के तिसाए हैं॥

श्री ग्रियर्सन ने गोस्वामी जी की पत्नी का नाम 'रत्नावली' लिखा है कि
पहले बताया जा चुका है कि उनका कथन निराधार है। 'गौतम चन्द्रिका' से
विदित होता है कि उनकी पत्नी का नाम 'यमुना' था और यमुना के उपदेश से
ही दृढ़ वैराग्य प्राप्त कर वे काशी आए थे, यथा—

१—कहा जाता है कि तुलसीदास अपनी पत्नी में आसक्त थे और थोड़ी देर के लिये भी पत्नी से अलग होना उनके लिए असह्य था। ए बार जब वे थोड़ी देर के लिए घर से बाहर गए थे, उनका सा उनकी पत्नी को लिवा कर चला गया। घर लौटने पर जब उन्हों पत्नी को न देखा तो सब भेद समझ गए और तुरन्त ससुराल के लि प्रयाण किया। मार्ग में नाना प्रकार का कष्ट सहकर वहाँ बड़ी रा गए जा पहुंचे उनके इस व्यवहार से पत्नी को बड़ी लज्जा हुई और उसने इन्हें फटकारते हुए कहा—

'लाज न लागत तोहिं पिय, दौरे आयउ साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह मम, तामे जैसी प्रीति।
तैसी जौं श्रीराम महँ होति न तो भव भीति॥

पत्नी के इस उपदेश से तुलसीदास के हृदय की आंख खुल गई और वे वहीं से उल्टे पांव काशी चले आए और संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो गए।

हमहुं आदि कवि बन मति आंचे । जमुना तट जमुना गृह राचे ।।
विषय सिंगारि सरूप बिगारे । रति पति बिहँसि सुमन सरमारे ।।
वपु पंच सर गीता गाई । जमुना सिष सरऊ सुधि आई ।।

राजापुर (बांदा) में उपलब्ध 'नाफोनामे' द्वारा भी इस बात का र्थन होता है कि गोस्वामी जी की पत्नी का नाम 'जमुना' था। हो सकता 'जमुना' के गुणों से मुग्ध होकर गोस्वामी जी उन्हें 'रत्नावली' कहते रहे हों न्तु ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उक्त माफीनामें द्वारा विदित ता है कि उसमें कथित माफी श्री जमुना जी के ही गुजारे के लिए दी गई थी, से स्पष्ट है कि पति से विलग होकर वे उनकी इसी साधना भूमि में निवास ती थीं। 'बांदा-गजेटियर' के अनुसार गोस्वामी जी की ससुराल 'महेवा' गांव थी, जो जमुना के तट पर है, परन्तु जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी जी की सुराल कहीं गंगा-तट पर थी। श्री भागवत सिंह मानस-माधुरी की भूमिका में स स्थान इलाहाबाद जिले का 'पनासा' गांव मानते हैं।[1] खोज करने से ज्ञात आ है कि यहां गोस्वामी जी द्वारा स्थापित 'संकट-मोचन' हनुमान की मूर्ति है राजापुर (बांदा) वाली मूर्ति के ही अनुरूप है। वहां एक पुराना तुलसी नामक स्थान है तथा गोस्वामी जी की स्मृति में परम्परा से यहां प्रतिवर्ष व मनाया जाता है और ज्येष्ठ शु० १३ को विवाह का दिन माना जाता । जिस वंश में गोस्वामी जी का विवाह होना बताया जाता है, उस वंश के पनासा से हटकर 'गढ़ैला' गांव में रहते हैं।[2]

मुगलकाल में पनासा के हीरापुरी पांडेय[3] बड़े प्रबल थे। आसपास के दार उनको शक्ति का लोहा मानते थे।[4] बहुत कुछ सम्भावना इस बात

१—(तुलसीदास का) प्रयाग निवासी भारद्वाज गोत्री हीरापुरी पांडेय सुन्दरी कन्या से विवाह हुआ। मा० मा० पृ० २०

२—पनासा गंगा और टौंस नदी के संगम पर बसा हुआ है। गढ़ैला यहां ढ़ मील पश्चिम गंगा तट पर स्थित है।

३—इस वंश के मूल पुरुष पं० पुराण पांडेय (भारद्वाज गोत्र) वर्तमान जिले के हीरापुर नामक स्थान से १५ वीं शती विक्रमी में आए और के निकट पुराणवासपुर बसाकर निवास किया। यह स्थान बाद में पुरा- पुर और फिर 'पनासा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बरांव का राजवंश तथा सा, रामगढ़, लोहनपुर, चौबारा, कल्यानपुर, महरूडीह, वीरपुर ऊंचे डीह, , इस्माइलपुर, हरीराम की सराय और भोगीपुर के जमींदार ब्राह्मण इसी म्परा में हैं। इस परम्परा के लोग अपने लड़कों का विवाह राजापुर (बांदा) उसके निकटवर्ती गांवों के प्रतिष्ठित ब्राह्मणों के यहां करते आ रहे हैं।

४—देखिए—इलाहाबाद—गजेटियर।

की है कि उनका अधिकार राजापुर (बांदा) की भूमि पर रहा होगा अथवा किसी की सहायता करने के बदले में या उत्तराधिकार के रूप में वह भूमि पनासा वालों को मिली होगी और वह भूमि तुलसीदास तथा जमुना जी के गुजारे के लिए दे दी गई होगी क्योंकि तुलसीदास अपनी पैतृक-भूमि खो चुके थे, यह बात पहले बताई जा चुकी है। राजापुर की जनश्रुति के अनुसार भी तुलसीदास ने पत्नी के कारण ही राजापुर (बांदा) में निवास किया था एव राजापुर को बसाया था। यह भी सम्भव है कि राजपुर के आसपास कहीं 'जमुनाजी' का ननिहाल रहा हो और उसी सम्बन्ध के कारण उन्होंने वहाँ निवास किया हो। पनासा वालों के लड़के प्रायः राजापुर के आसपास के ब्राह्मणों के यहां तारी, मंडौर आदि गांवों में ब्याहे जाते हैं। इस प्रकार राजापुर नामकरण का कारण भी स्पष्ट हो जाता है क्योंकि तुलसीदास की जन्मभूमि का नाम तो राजपुर या राजापुर था। यमुना जी ने उक्त भूमि की स्मृति में ही दूसरा राजापुर निर्मित कराया होगा, जैसा कि प्राचीन और मध्यकाल में प्रचलन था। तुलसीदास के विरक्त हो जाने पर यमुना जी ने उनकी मूर्ति और मंदिर का भी निर्माण कराया होगा, इसमें संदेह नहीं। ऐसी स्थिति में हो सकता है कि तुलसीदास द्वारा रचित ग्रन्थों का संग्रह भी वहां रहा हो जो समयानुसार नष्ट हो गया हो।--

जनश्रुति के अनुसार तुलसीदास को एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, जो माता पिता को शोकाकुल कर चल बसा श्री ग्रियर्सन कहते हैं कि इसका नाम तारक रखा गया था, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं। फिर भी ज्ञात होता है की यह दम्पत्ति निरा विषयी न था, वरंच उसकी भावना, गृहस्थी में रहते हुए मुक्ति प्राप्त करने की थी क्योंकि सम्भव है तुलसीदास ने निम्नांकित दोहा इसी गृहस्थी काल में रचा हो--

घर कीन्हे घर जात है, घर छाँड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाय ॥

और स्यात् इसी उक्ति के अनुसार उन्होंने चित्रकूट और पनासा के मध्य में अपनी निवास भूमि का निर्माण भी कर लिया हो। मध्य युग में ससुराल में निवास करना निन्दित अकर्मण्यता का सूचक माना जाता था, इसलिए लोग ससुराल में निवास नहीं करते थे। इससे ससुराल के लोगों की भी निन्दा होती थी और निवास करने वाले की भी। कविवर बिहारीलाल का यह दोहा प्रसिद्ध ही है—

१--भोजपुरी कहावत है--'ससुरारि का बसना, तीनि लोक नसना'

'घरहिं जमाई ज्यों घस्यो खरो पूस दिनमानु।'

तुलसीदास ने वानप्रस्थाश्रमी होने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया, यह समझना भूल होगी। नरहरिदास पहले उनके शिक्षा गुरु रहे होंगे और दीक्षा गुरु बाद में हुए होंगे। नरहरिदास के साथ ब्रह्मचर्य में रहकर उन्होंने पर्यटन भी किया और ऐसी दशा में अनेक लोगों से उनका सम्पर्क तथा परिचय प्राप्त हुआ। ग्राम की किंवदंती के अनुसार गोस्वामी जी बहुधा उस मार्ग से जाते और वहाँ ठहरा करते थे। उनकी स्मृति में वहाँ के लोग परम्परा से उत्सव मनाते आ रहे हैं। यह बात उस गांव का गोस्वामी जी से निकट सम्बन्ध का सूचक है। उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था में गोस्वामी जी का परिणय सम्बन्ध हुआ होगा क्योंकि पांच वर्ष तक विवाहित-जीवन बिताने के पश्चात् वे आनंदकानन की सेवा में गए और उनके मुक्ति लाभ करने पर २८ वर्ष की आयु में काशी के बहुत लोगों के साथ उत्तरा खण्ड की यात्रा की।

कहा जाता है कि विरक्त होने के कुछ दिनों बाद गोस्वामी जी पर्यटन करते हुए अपनी ससुराल जा पहुंचे। उस समय वहाँ उनकी पत्नी भी विद्यमान थीं। पति की झोली में पूजा के लिए खली गोपीचंदन कपूर आदि का संग्रह देख कर उन्होंने पति से कहा था कि जब इन वस्तुओं का संग्रह आप करते हो हैं तो फिर पत्नी को साथ रखने में कोई क्षति नहीं है। नहीं तो निर्मल ज्ञान वैराग्य हेतु सब प्रकार का संग छोड़ दें।

उनका यह कथन दोहावली में संग्रहीत है, यथा—

'खरिया, खरी, कपूर संग; उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै विमल विवेक विराग॥

गोस्वामी जी ने पत्नी की बात सुनकर झोली सहित सम्पूर्ण सामग्री बाहर फेंक दी और परिग्रह-रहित होकर विचरण करने लगे। सम्भवतः विशेष विख्यात हो जाने पर ही गोस्वामी जी 'संकट मोचन हनुमानजी' की स्थापना के लिए

१—तुलसी वय अठ बीस-बताई। मम वय दस अरु आठ गनाई॥
द्वितीयाश्रम आश्रित हम भए। तुलसी तीर्थाटन पथ गए॥
पण्डित कासी कवि कैलासू। मेधा भगत उजैनी दासू।
साधु वृद्ध अरु जुवा अनेका। तुलसी संग लगे गहि टेका॥
× × ×
गिरि कैलास निरखि सुख छाए। गौरि गनेस गिरीस मनाए॥
मानस सरवर सलिल नहाए। निज मानस आनन्द पुराए।: गो० च०

'पनासा' में बुलाए गए होंगे और इसी अवसर पर उनकी पत्नी से भेंट हुई होगी। कदाचित ऐसे ही अवसर पर 'राजापुर (बाँदा) में भी गोस्वामीजी द्वारा हनुमत्विग्रह की स्थापना कराई गई होगी और स्मृत्यार्थ गोस्वामी जी की मूर्ति भी बाद में स्थापित की गई होगी। पनासा के एक व्यक्ति से ज्ञात हुआ कि वे दोनों ही विग्रह वहाँ आज भी विद्यमान हैं।

उपर्युक्त प्रसंग से विदित होता है कि तुलसीदास की पत्नी श्री यमुनाजी उच्चवंश की असाधारण नारी थीं। वे साध्वी और विदुषी ही नहीं वरंच बुद्धिमती भी थीं। उन्होंने तुलसीदास का विषय-वासनाओं के दलदल से उद्धार किया था और उन्हीं ने उनके ज्ञान-वैराग्य को दृढ़कर अनन्य रामभक्ति की प्रेरणा दी थी। सम्भव है 'मानस' में 'जमगन मुंह मसि जग जमुना सो' कहकर तुलसीदास ने श्लेष में अपनी पत्नी का ही स्तवन किया हो।

बन्धु-बान्धव

नन्ददास और तुलसीदास के परस्पर भाई या गुरुभाई होने की वात कई जगह लिखी है (दे०--अध्याय १ मे 'दो सौ वावन वार्ता प्रकरण') नंददास और टोडर एक ही वंश-परम्परा में उत्पन्न हुए थे एवं श्री कृष्णदत्त मिश्र और नंददास की जन्मभूमि भी परस्पर आस-पास थी। अतः ऐसी दशा में सम्भव है नंददास, गोस्वामी तुलसीदास के नातेदारी के भाई लगते हों।

ज्ञात होता है कि तुलसीदास के बंधु-बांधव तो थे परंतु आरम्भ में वे इनसे अप्रसन्न रहते थे तथा इनके साथ उनका अच्छा व्यवहार न था, जैसा कि वे कहते हैं-

'काल, करम कुल कारनी कोऊ न कोंहातो'-- वि॰ प०

इस पद में 'कुल' शब्द बंधु-बांधव' के ही अर्थ में आया है। कवितावली में भी उन्होंने कहा है--

'भाई को भरोसो न खरोसो बैर बैरी हूँ सो",
वल अपनो न हितू जननी न जनको---क० उ०

इससे स्पष्ट होता है कि वाल्यावस्था में मातृ-पितृ हीन हो जाने के कारण उनका कोई हित चिंतक नहीं रह गया था। इनके भाई बंधु थे और शत्रु भी किन्तु भाई-बंधुओं की सहायता का विश्वास नहीं था और न अपना वल ही इतना था, जिससे शत्रुओं से वे भिड़ सकते। ऐसा प्रतीत होता है इनके 'स्वार्थ के साथी' इनके भाई-बंधु ही थे। उन्होंने इनके अनाथ हो जाने पर इनका तिरस्कार किया'। इनके अपने निकट के लोग ही इनके 'भक्षक' वन गए थे जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से संकेत मिलता है---

'सहवासी काचो गिलहिं, पुरजन पाक प्रवीन ।
कालक्षेप किमि मिलि करैं तुलसी, खग, मृग, मीन ॥ दो० ४०४
जासु भरोसे सोइए राखि गोद में सीस ।
तुलसी तासु कुचाल तें रखवारो जगदीस ॥ दो० ४०५

महाकवि भास ने श्री रामचन्द्र जी से कहलाया है—

शरीरेऽरि प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा ।
कस्य स्वजन शब्दों में लज्जामुत्पादयिष्यति ॥ प्र० का०

अर्थात— शत्रु शरीर पर प्रहार करता है, परन्तु स्वजन (बंधुबांधव) हृदय को आहत करते हैं । यह 'स्वजन' शब्द तो लज्जाजनक है ।

तुलसी ने कैकेयी और मंथरा का विवरण जिस रूप में चित्रित किया है; उससे ज्ञात होता है कि उन्होंने, वैसी नारियों का साक्षात् किया था । सम्भव है ऐसी ही नारियों के कुचक्र से वे अपने बंधु-बाधवों या नातेदारों से बिलग कर दिए गए हों । प्राय: पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में ममता और संकुचित स्वार्थ अधिक पाया जाता है और वे अंधविश्वासी भी होती हैं, अतः उनके द्वारा अनाथ तुलसी को कुलक्षणी और अभागा जान अपने परिवार से अलग कर देना स्वभाविक लगता है । गोस्वामी जी ने स्थान-स्थान पर स्त्रियों की इस मनोवृत्ति की ओर जो संकेत किया है, उसका रहस्य यही हो सकता है, यथा—

'का पावक नहिं जरि सके, का न समुद्र समाय ?
का न करै अबला प्रवल, केहि जग काल न खाय ॥ रा० अ० ४७

१—को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखा जनः ।
जनोभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये ॥ १ ॥
भवतिह्यर्थं दायादाः पुरुषस्य विपर्यये ।
पृथिव्यां धर्म दायादाः दुर्लभास्तु न संति वा ॥ २ ॥ अश्वघोष

(कौन ऐसा है जो सुखों का साथ नहीं देता, पर विपत्ति आने पर तो अपने लोग भी पराया हो जाते हैं ॥ १ धन के दायाद बहुत हैं, पर धर्म के दायाद दुर्लभ हैं या हैं ही नहीं ॥ २ ॥

(श्री पं० रामबहादुर शर्मा कृत नन्दन्या पृ० १०२ से उद्धृत)

"कवने अवसर का भयउ गयउ नारि विश्वास ।
जोग सिद्धिफल समय जिमि, जतिहिं अविद्यानास ।।

रा० अ०

ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास की ख्याति बढ़ने पर उनके वंधु-वांधवों का उनके प्रति ममत्व बढ़ गया था और वे उनको अपने यहां अनुरोध पूर्वक ले भी गए थे, जैसा कि सारन; बलिया और आरा जिले में तुलसीदास जी के जाने तथा उनके द्वारा स्थानों के नामकरण एवं स्मारकों की स्थापना से व्यक्त है। इसकी पुष्टि तुलसीदास के निम्नांकित कथन से भी होती है, यथा—

'तुलसी के दुहू हाथ मादक हैं ऐसे ठाउँ,
जाके जिए-मुए सोच करिहैं न लरिको।

ह० वा० ४२

इन कथन में 'लरिको' की व्याप्ति बधु-बांधवों की वंशानुगति तक हो है।

मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणों से विद्रित होता है कि तुलसीदास एक स्वाभिमानी बालक थे।[1] तिरस्कार की आँच से परितप्त होकर वे घर से निकल पड़े।[2] ऐसी स्थिति में उन्हें संसार का बड़ा कटु अनुभव हुआ। इनका दोष और दुःख दूर करने में सक्षम लोगों ने भी इनकी बात न पूछी![3] पूछते कैसे? एक दीन हीन अनाथ के लिए बलिष्ठ को वैरी बनाने के लिए कौन तैयार होता। दसों दिशाओं में दयालु पुरुषों की कमी न थी, परन्तु इनको कोई सहायक नहीं मिला। ये कहां नहीं गए, क्या नहीं किया, किसको सिर नहीं झुकाया[4] किन्तु जब इन प्रयत्नों का कोई फल नहीं हुआ[5] तो विवश हो साधु समाज में पहुँचे। साधु समाज में जाने के सिवा और चारा भी क्या था?

१—तुलसी चातकहीं फवै मान राखिबो प्रेम।
वक्रबुंद लखि स्वाति हूँ निदरि निबाहत नेम ।। २८६
सदा न जे सुमिरत रहहिं मिलि न कहहिं प्रिय बैन।
ते पै तिन्ह के जाहिं घर जिन्ह के हिए न चैन ।।३२९

—दोहावली

२—नगर नारि भोजन सचिव सेवक सखा अगार।
सरस परिहरे रग रस, निरस विषाद विकार ।। दो० ४७५

३—हित पुनीत सब स्वारथहिं, अरि असुद्ध बिनु चाड़।
निज मुख मानिक सम दसन, भूमि परे पर हाड़ ।।दो० ३३०

४—कहा न गयो, कहा न कियो, सीस काहि न नायो—वि० ५०

५—अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशाः शून्यास्त्व बांधवाः।
मूर्खस्य हृदयंशून्यं सर्वं शून्यं दरिद्रता ।। चा० नी० ४।१४

सन्तलोग परदुःख कातर होते ही हैं, वे तुलसी की दशा देख द्रवित हो उठे। तुलसी ने करुण स्वर में उनसे पूछा—क्या मुझे भी कहीं शरण मिल सकती है ? उन्होंने कहा—हाँ तेरी दीनता और दरिद्रता दूर करने में कोशल राज भगवान रामचन्द्र समर्थ हैं, तू चिन्ता न कर।[1] यह सुनकर तुलसी गुरु रूप श्री रामचन्द्र जी की शरण में गया और दीनता पूवक बोला—हे नाथ ! मैं अनाथ हूं, मेरा अपना कोई कहीं नहीं है। मैं आपका दास बनना चाहता हूं। गुरु ने बड़े प्यार से पीठ थपथपाई एवं बाँह पकड़ कर कहा—मेरा बान सेवकों को सुख देना है और उन्होंने तुलसी को अपना लिया।[2]

बाल्यावस्था में मनुष्य अपने लोगों के प्यार का भूखा होता हैं किन्तु तुलसी को अपनाकर प्यार और सहानुभूति प्रकट करने वाला कौन था ? चारों ओर से निराश और दुःखी तुलसी का एक सहारा मिला। राम की शरण में पहुंचने पर तुलसी ने राम ही से सब नाते जोड़ लिए।[3]

वस्तुतः राम ही संसार में सर्वश्रेष्ठ पिता, माता, सुमित्र और सुगुरु हैं क्योंकि बिना 'हरि-गुरु की करुणा के विमल विवेक की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी दशा में राम के सिवा तुलसी का और कौन पथप्रदर्शक हो सकता था ? तुलसी ने अनेक स्थानों पर 'शिव-पार्वती' को भी अपना गुरु और मातापिता माना है। पारमार्थिक दृष्टि से तुलसीदास के रामसीता और शिवपार्वती में कोई अन्तर नहीं था। व्यावहारिक दृष्टि से भी शिवपार्वती द्वारा प्रचारित रामकथा और रामभक्ति का ही निरूपण तुलसी ने किया और उसे भाषाबद्ध किया, रुद्रावतार हनुमान ने तुलसी का मार्ग दर्शन किया, इस नाते भी तो वे तुलसीदास के अपने थे।

क्या इन्हीं गुरुओं के उपदेश द्वारा तुलसी को राम-भजन का प्रशस्त पथ प्राप्त हुआ था ? जैसे कि वे कहते हैं—'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लगत राजडगरोसो।

१—हहरि हिय में सदय बूझो जाय साधु समाज।
मोहुं से कहुं कतहुं कोउ तिन कह्यो कोसल राज ।। वि० २१९

२—भीजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बांह बोलि, सेवक सुखद सदा विरद वहत हौं—

वि० ५०

३—माता च कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।
बांधवा विष्णु भक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम् ।। चा० नी० १०।१४

गुरु

'श्रीराम चरित मानस' में भी तुलसीदास जी के द्वारा कथित एकाध बातें ऐसी हैं, जिनके आधार पर हम उनके जीवन वृत्त पर कुछ विचार कर सकते हैं, जैसे—

(१) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तव अति रहेउ अचेत॥
स्रोता वकता ज्ञान निधि, कथा राम की गूढ़!
किमि समुझों मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़॥

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषाबद्ध करव मैं सोई॥ मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

रा० बा० ३०-३१

इस कथन से विदित होता है कि सुकरखेत में उनके गुरु का स्थायी आश्रम था, अथवा उक्त स्थान से उनका ऐसा सम्बन्ध था कि वे वहां लगातार कई मास तक निवास कर सकें क्योंकि उन्होंने वहीं रहकर तुलसीदास को राम-चरित-मानस में वर्णित रामकथा का बार-बार उपदेश किया। कथा की कई आवृतियां की गईं। इसमें अवश्य कई महीने या वर्ष लगे होंगे।

यह भी विचारणीय है कि उस समय तुलसीदास 'कलिमलग्रसित-विमूढ़' की स्थिति में थे, तभी तो गुरुजी को बार-बार रामकथा सुनाने की आवश्यकता पड़ी ताकि उनके मन से कलिमल दूर हो जाय। जबकि बालकों का चित्त सरल, भावना शुद्ध और विचार पवित्र होते हैं, तुलसीदास के मन पर कलिमल ने कैसे प्रभाव जमा लिया था, यह भी विचारने की बात है। उनकी अनाथावस्था में दुष्ट और स्वार्थी लोगों ने उनके विरुद्ध जो कुचक्र और दुर्व्यवहार किए उससे अवश्य उनका मन क्षुब्ध और प्रतिशोध की भावना से मलिन हो रहा होगा। उनके मनकी इसी मलिनता का प्रक्षालन उनके गुरु को अभीष्ठ था। उन्होंने रामकथा के द्वारा बारबार उपदेश देकर उनके अंतर्द्वन्द्वों का निवारण किया और उन्हें मानसिक शांति दी। यही कारण है कि तुलसीदास ने अपने गुरु को 'कृपासिंधु वर रूप हरि' कहा है तथा उनकी हृदय खोलकर भरपूर प्रशंसा की है। गुरुजी ने बोलचाल की भाषा के माध्यम से रामकथा सुनाकर तुलसी की हृदयग्रन्थि खोली थी' अस्तु तुलसीदास ने भी अपने मन के प्रबोद्ध के लिए उक्त कथा की रचना बोलचाल की भाषा में ही की। उनके इस प्रयत्न से केवल उनका ही प्रबोध होकर नहीं रह गया, वरंच उनका 'रामचरित मानस' लाखों प्राणियों के हृदय ग्रन्थि खोलने और प्रबोध देने के हेतु सुगम कुंजी बन गया।

भविष्य पुराण के अनुसार गो० तुलसीदास के गुरु का नाम राघवानन्द था जो रामानन्दी परम्परा के विरक्त महात्मा थे और काशी में रहते थे किन्तु राघवानन्द श्री स्वामी रामानन्द के गुरु बताये जाते हैं और उक्त परम्परा में आगे किसी दूसरे राघवानन्द के होने का पता नहीं चलता।

श्री विल्सन ने गोस्वामीजी के गुरु का नाम जगन्नाथदास बताया है जो श्री नाभादास के शिष्य थे, किन्तु नाभादास का समय गोस्वामीजी से पहले का न होकर कुछ बाद का ही है, अस्तु गोस्वामी जी का नाभादास की परम्परा में होना सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि नाभादास जी ने गोस्वामी जी का स्तवन जिस रूप में किया है उस रूप में कोई अपने प्रशिष्य का नहीं कर सकता। अस्तु विल्सन की बात अप्रमाणिक ठहरती है।

श्री ग्रियर्सन नें गोस्वामी जी के गुरु का नाम नरहरिदास बताया है। इन्होंने स्वामी रामानन्द से गो० तुलसीदास तक शिष्य-परम्परा की एक सूची उद्धृत की है, जिसके अनुसार गोस्वामी जी उक्त स्वामी जी से आठवीं पीढ़ी में आते हैं, यथा—(१) स्वामी रामानन्द, (२) सुरसुरानन्द, (३) माधवानन्द, (४) गरीबदास, (५) लक्ष्मीदास, (६) गोपालदास (७) नरहरिदास और (८) तुलसीदास।

यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार स्वामी रामानन्द का समय सं० १५८० वि० तक मान लिया जाय जिस पर आगे विचार किया गया है और तुलसीदास का गुरु की शरण में जाने का समय सं० १६१० माने तो रामानन्द और तुलसीदास के बीच का समय इतना कम पड़ता है, जिसके अनुसार तुलसीदास का रामानन्द की आठवीं पीढ़ी में होना सर्वथा असम्भव लगता है, जबकि साधु-संन्यासियों की पीढ़ियाँ गृहस्थों की अपेक्षा अधिक समय का अन्तर रखती हैं।

अस्तु यह सूची प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। इसका आधार ग्रियर्सन के कथनानुसार भी मौखिक ही है एवं इसका समर्थन किसी अन्य लेख या प्रमाण द्वारा नहीं होता। इस सूची में, स्वामी रामानन्द से ऊपर का क्रम भी ठीक नहीं है अतः डा० श्यामसुन्दरदास ने भी इसे अप्रमाणिक माना है। श्री रामानन्द के बारह प्रधान शिष्यों में एक नरहरि स्वामी या नरहर्यानन्द का नाम

१—फिर नाभादास जी का समय तुलसीदास के बाद पड़ता है क्योंकि उनके भक्तमाल का रचनाकाल सं० १७७५ के लगभग माना गया है।

—डा० माताप्रसाद—तुलसीदास पृ० १७४ ७५

भो आता है, किन्तु जबतक स्वामो रामानन्द के समय के विषय में निश्चय नहीं हो जाता, तबतक यह कहना कठिन है कि उक्त नरहरि स्वामी ही गोस्वामो तुलसीदास के गुरु थे।

स्वामी रामानन्द के समय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। वैष्णवी रामानन्द सम्प्रदाय में जिस रामानन्दाब्द का व्यवहार होता है, उसके अनुसार उनका आविर्भाव माघ कृष्ण ७ सं० १३५६ वि० को प्रयाग में हुआ[1] और वे वैशाख शुक्ल ३ सं० १४६७ वि० को साकेतवासी हुए। अगस्त्य संहिता के अनुसार भी स्वामी जी का आविर्भाव ४४०० वर्ष गतकलि अर्थात् सं० १३५६ वि० में हो हुआ था। 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (ले०—लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, अनु०—लक्ष्मण नारायण गर्दे के) अनुसार ज्ञानेश्वर के पिता चैतन्याश्रम स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और उन्हीं के कहने से उन्होंने पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया, जिसके बाद उनको चार सन्तानें हुईं। जिनमें दूसरे पुत्र ज्ञानेश्वर का जन्म सं० १३३२ वि० माना जाता है। इस मान्यता के अनुसार स्वामो जी का आविर्भावकाल सं० १३०० के पूर्व मानना पड़ेगा। भविष्य पुराण के अनुसार स्वामी जी सिकन्दर लोदी के राज्यकाल में विद्यमान थे जिसका राज्यकाल सं० १५४५-१५७४ वि० है। स्वामो जी के शिष्य कबीर सिकन्दर लोदी के समय विद्यमान थे। इनका समय सं० १४४५ से १५७५ तक माना गया है और सेन नाई बांधवगढ़ (रीवां नरेश) रामचन्द्र के समकालीन थे, जिनका राजत्वकाल सं० १६११-१६४८ है। स्वामी जी के एक शिष्य राजा पीपा सं० १४८२ में उत्पन्न हुए थे। अस्तु इन तथ्यों पर विचार करने से अगस्त्य-संहिता के भविष्योत्तर खंड का उल्लेख जिसके अनुसार रामानन्दाब्द प्रचलित है, प्रमाणिक सिद्ध नहीं होता। यही बात 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र के उल्लेख के विषय में भी कही जा सकती है जिसका आधार केवल जनश्रुति है। इन्हीं बातों के आधार पर मनीषी विद्वान पं० बलदेव उपाध्याय ने स्वामो जी का समय सं० १४६७से१५६७ वि० माना है।[2] सेननाई के समय का विचार करते हुए इस समय को थोड़ा और आगे भो बढ़ाया जा सकता है।

---

[1] —माघ की सप्तमी को सूर्य सप्तमी कहते हैं। यह तिथि भगवान सूर्य की अपनो तिथि है, इसलिए इस दिन सूर्य की पूजा और व्रत का विशेष विधान है। सूर्य-सप्तमो को प्रादुर्भूत होने के कारण ही कदाचित् भविष्य पुराण ने श्री स्वामी रामानन्द को भगवान सूर्य का अवतार माना है किन्तु उसके अनुसार स्वामी जी काशी क्षेत्र में अवतरित हुए थे।

[2] —भागवत सम्प्रदाय — श्री पं० बलदेव उपाध्याय कृत पृ० २५३

जनश्रुति के अनुसार शिवशंकर देव और हरशंकर देव दो भाई आरा (शाहाबाद) जनपद के गंगातट स्थित नैनीजोर गांव में रहते थे। उनसे गाय, ाट (वर्तमान हल्दी) के राजा ने देव उपाधि (अवटंक) त्याग कर अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। कोई-कोई इस राजा का नाम चंद्र देव ताते हैं। हरशंकर देव ने तो राजा की अधीनता स्वीकार कर ली और देव से वारी बन गए परन्तु शिवशंकर देव ने अधीनता स्वीकार न की और गंगा पार उत्तर दिशा में चले गए तथा जौनपुर के राज्यच्युत शर्की सुल्तान हुसेन शाह की सेवा में पहुंचे, जो उन दिनों सारन (विहार) में रहता था। सुल्तान ने हें सरयू के उत्तर तटपर भूमि दी। इसी भूमि पर इनके नाम से बसा हुआ 'शिव करा' और इनके पुत्र झोंटू कुँवर जिनका मुख्य नाम' नरहरि देव था, के नाम बसे हुए गांव 'नरहन' और 'नेवारी हैं।

कहते हैं कि एक बार शिवशंकर देव किसी कारण सिकन्दर लोदी द्वारा न्दी वना लिए गए और छः मास तक वंदीगृह में कष्ट भोगते रहे तत्पश्चात् दशाह ने इन्हें दरवार में बुलाया और इनके वलवीर्य एवं गुणों से प्रभावित होकर अपनी सेवा में रख लिया तथा इनको वर्तमान वलिया जनपद में खेजुरी पनियर तक की भूमि प्रदान की। हुसेन शाह और सिकन्दर लोदी के मध्य अंतिम युद्ध सं० १५५१ वि० में हुआ था, जवकि सिकन्दर लोदी विहार तक सेन शाह का पीछा किया और उसके समर्थकों को दण्डित किया। अतएव सी अवसर पर उसके द्वारा शिवशंकर देव वन्दी वनाए गए होंगे। इस युद्ध में ततः पराजित होकर हुसेन शाह अपने श्वसुर के यहाँ चला गया, जो बंगाल ांत का स्वतंत्र शासक था। हुसेन शाह हिन्दुओं के प्रति उदार, विद्वानों और णियों का आश्रय दाता तथा स्वयं विद्वान पुरुष था।[1] इसलिए जौनपुर से निर्वासित होने पर भी कवि, कलाकार, गुणी और विद्वान उसके यहाँ भरे हते थे।

शिवशंकर देव के दो पुत्रों में झोंटू कुँवर के वंशज सारण (बिहार) जनपद के नेवारी गाँव में और मैंन सिह के बैशज वलिया (उ० प्र०) जनगद के हथौंज ाम में हैं। झोंटू कुँवर ही तुलसीदास के गुरु नरहरिदास थे और वे ही स्वामी रामानन्द के मुख्य शिष्य नरहर्यानन्द हैं। झोंटू कुँवर के सिकन्दर द्वारा बन्दी न बनाए जाने और उनके वंशजों का हथौंज में भाग न होने से यह अनुमानित होता

---

[1] —शाहे हुसेन अहे बड़ राजा। छत्र सिंघासन उनको छाजा॥
पंडित अरु बुधिवंत समाना। पढ़े पुरान अर्थ सब जाना॥
—कुतुबन कृत मृगावती

है कि वे विरक्त होकर सं० १५५१ वि० के बाद ही स्वामी रामानन्द के शरणापन्न हुए होंगे। हथौंज में इनकी निवास भूमि नरहरि टोला के नाम से प्रसिद्ध है। सं० १५३४ वि० में बहलोल लोदी से पराजित होकर हुसेन शाह जौनपुर छोड़ बिहार में चला आया था, अस्तु झोंटू कुँवर द्वारा स्वामी रामानन्द के शिष्यत्व ग्रहण करने का समय इसके बाद भी हो सकता है। उन्हें विरक्त होने से पूर्व कुलधर्म की रक्षा के निमित्त एक पुत्र की प्राप्ति हो चुकी थी, अतः विरक्तिकाल में उनकी आयु २० वर्ष से अधिक होना सम्भव है तथा इनके अनुसार उनका जन्मकाल सं० १५३० वि० के आसपास ज्ञात होता है। गौतम चन्द्रिका के विवरण के अनुसार तुलसीदास की आयु के २८ वें वर्ष में अर्थात् सं० १६२८ में इन्होंने शरीर त्याग किया था, इसलिए इनकी आयु १०४ वर्ष की ठहरती है।

जनश्रुति के अनुसार स्वामी रामानन्द का परमायु प्राप्त करना प्रसिद्ध है। डा० त्रिगुणायत उनकी आयु १२० वर्ष मानते भी हैं। नरहरिदास के उपर्युक्त विवरण के अनुसार स्वामी रामानन्द का सं० १५३४-५१ वि० के मध्य रहना सिद्ध होता है। स्वामी जी की समन्वयवादी भावना तथा मुसलमानों के प्रति उदार नीति पर विचार करने से व्यक्त होता है कि वे जौनपुर के शर्की शासकों के उदार व्यवहार से प्रभावित थे। इसलिए उनका जन्म समय पंद्रहवीं शती के बाद नहीं ले जाया जा सकता। परन्तु वे हिन्दुओं और साधुओं पर किए गए सिकन्दर लोदी के अत्याचारों से भी परिचित थे। मुसलमानों के अत्याचार से ही बचने के लिए उस समय रामानंदी साधु अपने साथ अस्त्र-शस्त्र[1] और वराहदंत रखने लगे थे, जिसका आदेश अवश्य उक्त पंथ के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द ने दिया होगा।[2] इस प्रकार इनका सिकन्दर लोदी के राजत्वकाल तक रहना

---

[1] —इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि जब हिन्दू तीर्थ स्थानों में गोहत्या के प्रयत्न नरम उपायों से न रोके जा सके तो अपने प्राणों की परवा न कर साधुओं ने घमासान युद्ध कर पृथ्वी को पाट दिया।—डा० श्री कृष्णलाल ऐसा जान पड़ता है कि मध्यकाल की अस्थिर और अशांत परिस्थितियों में साधुओं को अपना सैनिक संगठन भी करना पड़ा होगा। सिक्ख गुरुओं का सैनिक संगठन प्रसिद्ध ही है। अब भी कुम्भ आदि अवसरों पर बड़े-बड़े अखाड़ों के साथ शस्त्रों के कुछ कलाबाज दिखाई देते हैं। सम्भवतः इनके मूल पुराने सैनिक संगठन ही हैं (रामानन्द की हिन्दी रचनाएं पृ० २९, ४७)

[2] —दंत बाराह का मुलुक मुलुक खेलि आव।

—सिद्धान्त पंच मात्रा

सिद्ध होता है, जिसका राजत्वकाल सं० १५४६-७४ वि० है। बावरी संप्रदाय के अनुसार भी वे १६ वीं शती में विद्यमान थे।[1]

स्वामी रामानन्द अपने देश काल को आपत्त कर इस प्रकार व्याप्त हो गये कि उनसे किसी संप्रदाय या व्यक्ति का सम्बन्ध जोड़ना गौरव की बात समझी गई एवं इसके लिए उनका समय उनके आविर्भाव काल से पीछे की ओर भी तथ्य के विपरीत खींच लिया गया, जैसे महाराष्ट्रीय संत निवृत्ति नाथ और ज्ञानेश्वर के जन्म का सम्बन्ध स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद से जोड़ना, जबकि इनका जन्म स्वामी जी के प्रादुर्भाव से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था।[2] स्वामी रामानन्द के जीवन काल के निर्णय के संबंध में इतनी विषमता का कारण यही है। जब स्वामी रामानन्द की परम्परा के संतों का प्रमाण उपलब्ध है तो उसे छोड़कर इधर-उधर भटकना और अटकल लगानां उचित नहीं प्रतीत होता। सामान्य रूप से कबीर पंथी और दूसरे लोग भी स्वामी रामानन्द को कबीर दास का गुरु मानते आ रहे हैं। स्वयं कबीर दास की वाणी से भी यह बात सिद्ध है यथा—

'कासी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चेताए।'

और जब प्रियादासी टीका सहित नाभादास का भक्तमाल इसकी साक्षी देता है तो उसे सीमा का पत्थर मानकर स्वामी रामानन्द का समय निश्चित करना उचित है।

---

[1] १–बावरी सम्प्रदाय की परम्परा भी स्वामी रामानन्द से मानी जाती है जिसका क्रम इस प्रकार है—रामानन्द, दयानंद, मायानंद, बावरी, बारु, यारी आदि। बावरी का समय सं० १६१२–१६६२ वि० है।
(दे०—रामानंद की हिन्दी रचनाएँ पृ० ८०)

[2] २—कहा जाता है कि महाराष्ट्र के विठ्ठल पंत ने विवाह होने के पश्चात् तत्काल ही विरक्त होकर स्वामी रामानंद से दीक्षा ली, किन्तु जब स्वामी जी को इनके विवाह का पता चला तो उन्होंने विठ्ठलपंत को घर जाने और गृहस्थ बनने का आदेश दिया। गृहस्थी में आने पर स्वामी जी के आशीर्वाद से क्रमशः इनके तीन पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्रों के नाम निवृत्ति नाथ (जन्म सं० १३३०) वि० ज्ञानेश्वर (जन्म सं० १३३२ वि०) सोपान देव (जन्म सं० १३३४ वि०) और पुत्री का नाम मुक्ता बाई (जन्म सं० १३३६ वि०) था। इन चारों बन्धुओं का महाराष्ट्र की ज्ञान योग मिश्रित भक्ति भावना पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है (दे०—पं० बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय)

कबीर दास का सिकन्दर लोदी के दरबार में बुलाना जाना[१] और शेख तकी तथा गुरु नानक से सत्संग करना प्रसिद्ध है।[२] सिकन्दर लोदो का राजत्व काल सं० १५४६ -७४ वि० है। डा० राम प्रसाद त्रिपाठी ने शेखतकी का समय १६०३ माना है एवं गुरु नानक का जन्म काल सं० १५२६ माना गया है अस्तु कबीर का समय १६ वीं शती सिद्ध है। डा० महादेव गोविन्द रानाडे ने स्वामो रामानन्द के अन्यतम शिष्य सेन नाई का जन्म काल सं० १५०४ वि० स्वोकार किया है।[३] स्वामी रामानन्द के परमायु और उपर्युक्त विवरणों पर विचार करने से स्वामो रामानन्द का वही समय निश्चित होता है जैसा कि नरहरि दास के प्रसग में पहले बताया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि रामानंद-सम्प्रदाय में 'अगस्त्य संहिता के उल्लेख को मान्यता देने के कारण, स्वामी जी के प्रादुर्भाव-काल को ही निधन-काल मान लिया गया क्योंकि ऐसा मान लेने पर अन्य तथ्यों की संगति मिल जाती है। 'राम रसिकावली' में महाराज रघुराज सिंह ने स्वामी जी की आयु 'वर्ष सप्तशत' अर्थात १०७ वर्ष लिखी है। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार वे १११ वर्ष जीवित रहे।[४] श्री नाभादास जी ने उनके विषय में—'बहुत काल वपु धारि के प्रणत जनन को पार दियो'—लिखा है। इससे भी उनका दीर्घजीवी होना प्रकट होता है। तपस्वी महात्मा का परमायु प्राप्त करना असम्भव नहीं है, अतः साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार उनकी आयु १११ वर्ष मान लेना ही युक्ति युक्त है। इस प्रकार स्वामी जी का निधन काल सं० १५७८ ठहरता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वामी रामानन्द का समय सं० १५८० तक माना है।[५]

१—कहते हैं कि सिकन्दर ने कबीर को जंजीरों से जकड़ कर गंगा में डलवा दिया, परन्तु कबीर बंधन मुक्त हो 'राम-राम कहते निकल आए।

२—शेखतकी का नाम कबीर ने बड़े आदर से लिया है, इसी से कुछ विद्वान उनको शेखतकी का शिष्य मानते हैं।

३—मिस्ट्रिसिज्म इन महाराष्ट्र

४—रामानंद की हिन्दी रचनाएँ—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल कृत पृ० ३३

५—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १२०

श्री स्वामी रामानन्द के प्रमुख शिष्य 'नरहरि स्वामी' या 'नरहर्यानन्द' ब्रह्मा के पुत्र श्री सनत्कुमार के अवतार माने जाते हैं। अवतारों की मान्यता किसी न किसी अनुरूपता को लेकर हुई है। सनत्कुमार अपने दीर्घायुष्य और होने में सदा नवीन लगने वाले शरीर के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में तक नरहरि स्वामी की आयु ९७ वर्ष मान लें तो असंगत नहीं कहा जा सकता।

'गौतम चन्द्रिका' के अनुसार तुलसीदास के गुरु नरहरि स्वामी का शिवलोक गमन वैशाख कृष्ण सं० १६२८ के कुछ ही पूर्व हुआ था, अतः इसे यदि सं० १६२७ मान लिया जाय तो इनका जन्म काल सं० १५३० ठहरता है। इस आधार पर स्वामी रामानन्द के साकेत गमन काल में इनकी अवस्था ४८ वर्ष रही होगी। इनकी लगभग ८० वर्ष की अवस्था में तुलसीदास इनके सम्पर्क में आए होंगे। उस समय तुलसीदास की अवस्था लगभग १० वर्ष रही होगी। उपर्युक्त स्पष्टीकरण से यह प्रकट होता है कि स्वामी रामानन्द के शिष्य नरहरि स्वामी और गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरहरि स्वामी परस्पर अभिन्न थे। गौतम चन्द्रिका में नरहरि स्वामी के सम्बन्ध में निम्नांकित परिचय मिलता है—

'सांडिल गोत्रज नरहरि स्वामी। ज्ञान निधान भक्ति पथ गामी।
रमि नर्मदा कुटी अगराए। रामे-स्वरहिं पूजि पुनि आए॥
चउथपनास्रम घर्म विसर्जन। चाहे करन भक्ति फल अर्जन॥
अघ गज गंजन नरहरी सूकरखेत विहाइ।
आरन्यक सुषमा भरी. कासो पहुँचे आइ।
रमि रमाय आनन्द वन, गए महासिव लोक।
गुरु पद उत्तर-कृत्य करि तुलसी भए असोक॥

'श्री रामचरित मानस' में गोस्वामी जी ने अपने गुरु के सम्बन्ध में जो संकेत दिए हैं, उनसे भी उक्त कथन का मेल बैठ जाता है यथा—

वंदौ गुरुपदकंज, कृपा सिंधु नररूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर॥ रा० मा० बा०

इससे ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी के गुरु नरहरि दास बड़े ही कृपालु मनुष्यों में सिंहवत् श्रेष्ठ, ज्ञानी भक्त और प्रकांड पण्डित थे। गोस्वामी जी की अपने महान् गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा थी। यह बात उनकी 'मानस' में की गई 'गुरु-वंदना' से प्रकट है। उन्होंने गुरु के चरण-रज की भूरिभूरि प्रशंसा की है और उसी के द्वारा अपनी दिव्य दृष्टि का खुलना बताया है, जिससे ज्ञात होता है कि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध परस्पर अत्यन्त निष्ठापूर्ण और स्नेह से ओत-प्रोत था।

'रामचंरित-मानस' की भूमिका से स्पष्ट है कि रामकथा के आदि उपदेशक भगवान शंकर हैं। उन्हीं से प्रारम्भ होकर उक्त कथा के वक्ताओं की परम्परा चल पड़ी और उसी परम्परा में गोस्वामी जी अपने गुरु से उक्त कथा का उपदेश प्राप्त किया। यही कारण है कि उन्होंने भगवान् शंकर को अपना गुरु माना है तथा—

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।
यमाश्रितोहि बक्रोपि चंद्रः सर्वत्र वंद्यते॥

और—'प्रणवौं दीन बंधु दिन दानी।
गुरु पितुमातु महेस - भवानी॥ रा० बा०

इस मान्यता का कारण उनका किसी शिव मन्दिर से वह सम्बन्ध भी हो सकता है, जहाँ बैठकर उन्होंने बाल्यावस्था में नाना प्रकार की कथाओं और धर्म का उपदेश सुना होगा[1] और भगवान शंकर में निष्ठा रखने के फलस्वरूप ही वहीं गुरु नरहरि दास का साक्षात् हुआ होगा। राजापुर बलिया को गोस्वामी जी की जन्मभूमि मान लेने पर उक्त शिव-पीठ को ब्रह्मपुर (आरा) मानना उचित है जहाँ भगवान शंकर का प्रसिद्ध प्राचीन स्थान है। इसके पास ही राजपुर और नैनीजोर में शांडिल्य गोत्र के जमींदार ब्राह्मणों की वस्ती भी है।

समाज जाति, पेशा और स्थानीय निकटता पारस्परिक सम्बन्ध का विशेष कारण होता है। श्री नरहरि दास और तुलसीदास परस्पर एक दूसरे को निकटता से जानते होंगे, अन्यथा तुलसीदास बाल्यावस्था में ही उनके साथ कैसे लग गए होते? वे स्वामी नरहरि दास का साथ छोड़कर गृहस्थ भी बन गए थे और पहले बताया गया है कि उन्होंने अपनी पैतृक भूमि के प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया था। अवश्य गुरु की अनुमति से उन्होंने विवाह किया होगा और यह अनुमति तुलसीदास की वंश परम्परा की रक्षा के ही लिए दी गई होगी वस्तु इस प्रकार की ममता बिना निकट सम्बन्ध के नहीं हो सकती। सम्भव है गोस्वामी जी का गुरु के साथ नाता-रिश्ता भी रहा हो। गुरु के सम्बन्ध में जो उन्होंने 'कृपासिंधु नररूप हरि' कहकर स्पष्ट ही उनकी जमींदार ब्राह्मण होने की ओर संकेत किया है क्योंकि मनुष्यों में सिंहवत शक्तिमान और पोषण करने में विष्णुरूप कथन कृपालु जमींदार ब्राह्मण वंश के लोगों के लिए ही व्यवहृत होता था।

---

[1] —'भोरो भलो भले भाय को भूखो, भलोई कियो सुमिरे तुलसी को'
—क० उ० १२६

आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय 'नररूप हरि' के स्थान पर 'नररूप हर' पाठ र्क युक्ति-युक्त और शुद्ध होने की सम्भावना करते हैं। यदि उनकी बात ली जाय तो इससे यह प्रकट होता है कि गो० तुलसीदास गुरु को शंकर समझते थे ; अस्तु इस मान्यता का कारण गुरु का भगवान् शंकर में निष्ठा का होना होगा। 'गौतम-चंद्रिका' से भी विदित होता है कि स्वामी हरि दास में रामावत-सम्प्रदाय का रामभक्त होते हुए भी भगवान् शंकर में निष्ठा थी क्योंकि उनका एक आश्रम नर्मदा तट पर था और वे बहुधा में रहते थे। काशी शिव भक्तों का प्रधान क्षेत्र तो है ही, नर्मदा प्राण है। मत्स्य पुराण में उसका महात्म्य वर्णन करते हुए कहा है—

'पुण्या कनखले गंगा, कुरु क्षेत्रे सरस्वती।
ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा॥
त्रिभिः सारस्वतं तोयं, सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥
१८५।१०-११

'गौतम-चंद्रिका' में स्वामी नरहरिदास के निधन का विवरण इन शब्दों में दिया है—'रमि रमाय आनंद वन, गए महा शिव लोक।' शिव लोक जाने की 'शिवोपासक' के ही लिए कही जा सकती है। ज्ञात होता है नरहरि की 'शिव-भक्ति' कुल परम्परा के अनुसार थी, जिसका उत्तराधिकार गो० सीदास को भी मिला।

गोस्वामी जी ने जैसे गुरु को शंकर-स्वरूप माना है, वैसे ही उन्होंने श्रीराम गुरु में भी अभेद माना है यथा—

'आरत-अनाथ-नाथ, कोसल कृपाल पाल,
लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं।
बूझ्यो ज्यों ही कह्यो मैं हूं चेरो ह्वै हौं रावरे जू,
मेरे कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं॥
मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा विरद वहत हौं॥ विनय० ७६

श्री रामचंद्र जी के साथ गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के नाते-रिश्ते रोपित किए हैं। जब भगवान राम की ही कृपा के फलस्वरूप उनके हृदय में

'ज्ञान-भक्ति' का प्रकाश फैला तो फिर भगवान राम को गुरु मानना उचित हो है। घट-रामायण के रचयिता तुलसी साहब के कथनानुसार गोस्वामी जी को सं० १६१४ वि० में श्रावण शुक्ल ९ को स्वयंमेव ज्ञानोदय हुआ था, यथा—

संवत् सोला से थे चौदा। ता दिन भया अगम का सौदा॥
सावन सुदी नौमी तिथि बारी। आधी रात भई गति न्यारी॥

यदि इस बात को किसी अंश में सत्य मान लिया जाय तो, यह मान लेना भी युक्ति-युक्त होगा कि इसी के पश्चात् उन्होंने गुरु नरहरि दास की शरणागति प्राप्त की होगी। 'गौतम चंद्रिका' के आधार पर यह अनुमानित होता है कि वे सं० १६२१ के लगभग तक गुरु की सेवा में रहकर शिक्षा प्राप्त करते रहें और तत्पश्चात् गृहस्थ बन गए। पाँच वर्ष तक गृहस्थ जीवन बिताने के पश्चात् पत्नी का उपदेश पाकर पुनः गुरु :की खोज में काशी आए। काशी में गुरु नरहरि दास से तो भेंट न हुई किंतु ब्रह्मचारी 'आनंद कानन' के दर्शन हुए। गोस्वामी जी ने उनकी शरणागति प्राप्त की और उन्हें विनय-पूर्वक गु बनाया ! ब्रह्मचारी जी दक्षिणात्य ब्राह्मण, बहुश्रुत विद्वान और ज्ञानी पुरु थे। उनके आश्रम में जो शिव केदार के समीप था, बहुत से विद्यार्थी वेद-वेदांग की शिक्षा प्राप्त करते थे। यहीं गौतम-चंद्रिका के रचयिता श्री कृष्णदत्त मिश्र भी सामवेद का अध्ययन कर रहे थे। श्री कृष्णदत्त मिश्र ने अपने गुरु का विवरण इस प्रकार दिया है—।

ब्रह्मचर्य व्रत रत महत् दछिनो द्विजकुल दीप।
नामानंद कानन लसत सिवकेदार समीप॥
सुद्ध बेद-बेदांग के पारंगत श्रीमान।
ब्रह्मसूत्र ज्ञाता परम, मानत सबहिं समान॥
दीन दुखी जन की करत, सेवा सहित सहाय।
साधन-हीन अनाथ तेहि, अपुनै सेवहिं जाय॥

बहुतक सिष्य ब्रह्मचारी के। सुमति सुसील सकल सुठि नीके॥
पूर्व मध्य उत्तर मीमांसा। सूत्रंहि सरुझावहिं गुरुपासा॥

ब्रह्मचारी आनंद कानन के आश्रम में रहते हुए तुलसीदास ने जनकपुर की यात्रा की और इनके उधर से लौटने पर गुरु नरहरि दास दक्षिण की यात्रा से लौटे और थोड़े दिनों काशीवास करने के पश्चात् शिवलोक की प्राप्ति की। इसके थोड़े ही दिनों बाद ब्रह्मचारी आनंद कानन ने भी मुक्ति लाभ किया। महात्मा आनंद कानन के जीवन-काल में ही गोस्वामी जी गोसाइयों के विरोध के कार

उनकी अनुमति से टोडर के लिवा जाने से असी घाट पर आ गए थे। गौतम चंद्रिका से यह भी विदित होता है कि वे किसी उजैनोदास संगीतज्ञ साधु के प्रभाव से कुछ काल के लिए कृषणोपासक गोसाईं-संप्रदाय में सम्मिलित हो गए थे।[1] परंतु थोड़े ही दिनों में उन पर से यह प्रभाव जाता रहा।

शिष्य

'गौतम-चंद्रिका' के अनुसार तुलसीदास शिष्य मंडली बढ़ाने के अभिलाषी न थे, यथा—

'मंत्र लेन बिद्या पढ़न हेतु जे सुजन जाहिं।
तिनहिं बतावहि बाति असि गुरु मति हम कहँ नाहिं॥'

फिर भी उनके एक शिष्य रामू द्विवेदी का पता चला है जिन्होंने गोस्वामी जी के जीवन-काल में ही 'प्रेम-रामायण' नामक 'मानस' की संस्कृत टीका लिखी। खोज में इस टीका की तीन प्रतियाँ मिली हैं।

एक प्रति काशिराज के सरस्वती भंडार में तथा दूसरी कलकत्ते के रायल एशियाटिक सोसायटी में है। तीसरी ब्रिटिश म्यूज़ियम लन्दन में है।[2] इस ग्रंथ की रचना सं० १६६२ वि० में तुलाराम के लिए काशी में की गई थी। तुलाराम तुलसीदास के स्नेही जान पड़ते हैं। राजापुर (बलिया) के पास तुलापुर गांव है। सम्भव है मेघामठ, नदपुर आदि की भांति इसकी स्थापना भी तुलसीदास द्वारा की गई हो।

गोसाईं पद

डा० माताप्रसाद गुप्त की खोज से पता चलता है कि काशी में लोलार्क के पास कोई 'तुलसी मठ' था, जैसा कि जयकृष्णदास कृत 'न्याय-सिद्धान्त-मंजरी' की पुष्पिका से जिसकी हस्तलिखित-प्रति 'इण्डिया-आफिस लाइब्रेरी' में है, विदित होता है। पुष्पिका इस प्रकार है—

'सं० १७९७ वैशाख सुदी पूर्णिमा लिखितम् लोलार्क तुलसीदास मठे जयकृष्णदास शुभम्'।

इन्होंने 'स्थान तुलसीदास' के नाम से दी गई एक सनद और एक माफीनामा भी ढूँढ़ निकाला है। सनद बनारस के महाराजा चेत सिंह की दी हुई है

---

[1] —अटत उजैनो दासहु आए। सुपद सूरमोरा कृत गाए।
सुनि तुलसी बानी अनुरागी। सुखद कृष्ण पद गावन लागी।
कृष्ण कीर्त्ति ध्वज सजि फहराई। तुलसिदास बजि भए गोसाईं॥

[2] —मानस मयूख वर्ष १ प्र० ४ पृ० ५१५

जो सं० १८३२ की है तथा माफीनामा बाबू शिवरत्न सिंह का दिया हुआ है जो सं० १८४८ का है यथा —

१—सनद फारसी और नागरी दोनों लिपियों में हैं, उसका नागरीलिपि वाला अंश इस प्रकार है —

'इस्तमरारी चौकीदारान ब राहदारान गुजर बानान व मुस्तकीलान वगैरे के मालूम आगे गोसाईं तुलाराम की सदाबरत वो गला वो सरंजाम सदाबरत जो साल व साल माह दरमाह बाहर से आवत्त है सो कोई महसुल और केहु बाबन से हरगीज मुजाहिम न होना चौकी पहरा से अपनी हद भर खबरदारी भरी देना डीह वा तक ताकीद बड़ा जानना ता० २१ रमजान सन् ११८३ सं० १८३२" ।

२—"लो० शिवरतन सींघ आगे मौजे कहरपुरा अमले तालुके लोहता में पन्द्रह बीगहा खेत उपजाउ आपने हीशे का हम अपने खुशी रजामंदी से श्री गोसाईं जी पीताम्बर बैस्नौं श्री अस्थान श्री गोसाईं तुलसीदास जी क क्रीश्नापंन करी दीहा जमा इस जमीन का गांव के बंदबशत पर बैठाए लीआ श्री गोशाई जी इस जमीन क्रीश्नार्पन को अपने खातिर जमा शों जोतें जोतावैं इस जमीन का श्री ठाकुर जीव को भोग लगावैं कोई हमारे में इस जमीन का मोजाहिमत न करे —

कातीक शुदी ७ सं० १८४८ शां शन् ११९९ फशली"

किंतु 'तुलसी मठ' और 'गोसाईं' आस्पद के आधार पर यह मान लेना उचित नहीं है कि उक्त मठ मोस्वामी जी के पहले से चला आ रहा था और उसके महन्तों की परम्परा में एक गोस्वामी तुलसीदास भी थे और न यही मानना उचित है कि उक्त मठ या स्थान के वैष्णव साधुओं की परम्परा ही गोस्वामी तुलसीदास से चली क्योंकि तुलसीदास जी के नाम पर मठ और स्थान की स्थापना दूसरे श्रद्धालु लोगों के द्वारा भी की गई हो सकती है। टोडर के द्वारा तुलसीदास के नाम पर अन्नसत्र (सदाव्रत) स्थापित करने की जनश्रुति भी है, महात्माओं के नाम पर उस समय अन्नसत्र स्थापित किए जाते थे।[1]

---

[1] १—ब्रजभाषा और अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास जी जिनके विषय में 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया' प्रसिद्ध है, टोडर के ही कुल के थे। इनके भाई चन्द्रहास ने इनके नाम पर भी एक अन्नसत्र (सदाव्रत) की स्थापना की थी और इसके निमित्त अपने गांव रामपुर में ९६ बीघा का एक चक अलग कर दिया था, जो 'चक नन्दा' के नाम से प्रसिद्ध है (दे०—इसी ग्रंथ का अ० १ दो सौ बावन वार्ता प्रकरण)

स्वामी जी के नाम सदाव्रत स्थापित करने का समर्थन 'गौतम चन्द्रिका से भी ता है, यथा —

'भोजन वसन हेतु जे आवहिं। ते तुलसी दल सादर पावहिं॥'

अस्तु गोस्वामी जी द्वारा निम्नांकित कथन का यह अर्थ नहीं लगाया जा कता कि वे किसी मठ के महन्त हो गए थे —

'तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूल गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हैं॥ ह० बा०४०

क्योंकि वे इसके बाद ही कहते हैं—

'नीच यहि बीच पति पाइ भरु आइगो,
विहाय प्रभु भजन वचन-मन-काय को॥ वही ४१

किन्तु उन दिनों मठाधीश होना प्रतिष्ठा की बात नहीं मानी जाती थी[1] र फिर गोस्वामी जी के सामने बाल्मीकि रामायण में वर्णित श्वान-आख्यान' अस्तु यह सोचना अयुक्त है कि गोसाईं उपाधि का कारण तुलसीदास का ठाधीश होना था। मठाधीश लोग गोसाई न कहला कर 'महन्त' कहे ाते हैं। गोस्वामी जी की रचनाओं से ही व्यक्त है कि उन दिनों गोसाईं ब्द का प्रयोग बड़ा महत्व सूचक माना जाता था। उन्होंने स्वयं श्रीरामचन्द्र े लिए सुसाई के साथ 'गुसाई' शब्द का प्रयोग किया है[2] अस्तु गोस्वामी लसीदास के महत्व की ओर आकर्षित भारतीय जन-समुदाय ने भी उन्हें ोसाईं" उपाधि से भूषित कर अपनी परम श्रद्धा का परिचय दिया था। रा कारण उनका थोड़े दिनों के लिए वल्लभ कुल में सम्मिलित होना भी हो कता है, जैसा कि गौतम चन्द्रिका से विदित होता है। श्री शिवरतन सिंह ने ोसाईं तुलसीदास के स्थान के निमित्त जो माफीनामा लिखा है, उसके द्वारा कृष्णार्पण की गई है, अस्तु इससे भी उक्त बात की झलक मिलती है।

दशनामी संन्यासी भी 'गोसाईं'' शब्द से सम्बोधित किए जाते हैं किन्तु लसीदास ने कभी किसी दशनामी संन्यासी से दीक्षा ली थी, इसका कोई माण नहीं है। दशनामी संन्यासी प्रायः शिवोपासक होते हैं। तुलसीदास जी ने रामभक्ति की पूर्णता के लिए शिवाराधना को अनिवार्य ठहराया, परन्तु यह शेषता उनकी वंश परम्परागत थी।

१—केशव कौमुदी भाग २ पृ० २६५
२—'गुसाईं सुसाईं सदा अनुकूलो'—वि० ५०

‘दास’ आस्पद

जब ‘रामानन्द-सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द और उनके शिष्य नरहर्यानन्द के नाम ‘आनंदांत’ है तो फिर नरहर्यानन्द के शिष्य तुलसीदास का नाम ‘दासांत’ क्यों ? इस शंका का समाधान आवश्यक है।

संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि स्वामी रामानन्द और वैष्णव न होकर अवधूत[1] और आचार्य थे। वे स्वयं साकेतवासी भगवान राम के अवतार माने जाते हैं अतः उनके नाम के साथ ‘आनन्द’ शब्द ही उपयुक्त है। यही बात उनके कुछ महारथी शिष्यों के लिए भी कही जा सकती है, जिनमें एक नरहर्यानन्द भी हैं।

गोस्वामी तुलसीदास समन्वयवादी भगवद्भक्त थे। उन्होंने कभी शास्त्रार्थ दिग्विजयकर और सांप्रदायिक ग्रन्थ लिखकर आचार्य बनने की आकांक्षा नहीं की। वे लोक-सम्मान को उपेक्षा की वस्तु समझते थे। उनका एक मात्र सिद्धांत था—

‘जग से रहु छत्तीस हैं, राम चरण छ-तीन।’

भगवद्भक्ति के लिए भगवच्छरणागति (प्रपत्ति) अनिवार्य है। जब सर्वत्र से ममत्व का सूत्र टूट जाता है तो राम से बधता है। स्वयं तुलसीदास कहते हैं -

‘एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास ॥ दो०

जगत की वासना, ममता, और अहकार का त्यागकर एक मात्र भगवान का भरोसा और निरन्तर चिन्तन आवश्यक है। यह स्थिति अत्यन्त दीनहीन अकिंचन बनकर दासता स्वीकार करने से ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि रामानन्दी परम्परा के सभी साधु प्रपत्तिवादी होने के कारण ‘दास’ उपाधि से युक्त होते हैं। ‘पाराशर-संहिता’ के अनुसार सभी वैष्णवों के नाम ‘दास्यांत’ होने चाहिए, यथा—

‘योजयेन्नाम दास्यांतं भगवन्नाम पूर्वकम्।’

इसी विधान के अनुसार प्रायः सभी वैष्णव अपने नाम के अन्त में शरण प्रपन्न दास आदि शब्द जोड़ते हैं एवं यही बात गो० तुलसीदास के लिए भी चरितार्थ है। उन्हीं के कथनानुसार—

---

[1] —‘ॐ अब जागे श्री रामानन्द अवधूता’—सिद्धांतपटल
‘गुरु प्रकारी ग्रन्थ २’ में रामानन्द के गुरु राघवानन्द भी अवधूत बताए गए हैं (दे०—रामानन्द की हिंदी रचनाएँ पृ० २५)

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धांत विचारि॥ रा० मा० उ० ११९

गुरु-भाई

श्री भवानीदास कृत गोसाईं चरित के अनुसार ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवि नन्ददास जी गोस्वामी तुलसीदास के गुरु भाई थे। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से भी नन्ददास का तुलसीदास का भाई होना सिद्ध होता है, यद्यपि उसके द्वारा यह पता नहीं चलता कि वे उनके गुरु भाई थे किन्तु तुलसीदास के इस कथन द्वारा कि—'भाई को भरोसो न' से तुलसीदास के सगे भाई होने का निषेध होता है, अस्तु नन्ददास तुलसीदास के गुरु भाई थे यही मानना पड़ेगा।

तुलसीदास रामभक्त रामानन्दी सम्प्रदाय के साधु थे किन्तु नन्ददास कृष्ण भक्त पुष्टिमार्गीय, अस्तु ये दोनों एक ही गुरु द्वारा दीक्षित हुए, यह नहीं कह सकते। हाँ, ये दोनों एक गुरु द्वारा शिक्षित हुए हों, यह सम्भव है। गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि तुलसीदास एक कृष्णभक्त साधु उजैनीदास के प्रभाव से कृष्ण रंग में रंगकर पुष्टिमार्गीय गोस्वामी बन गए थे। तुलसीदास के कथन से भी यह विदित होता है कि तुलसीदास कुछ काल तक 'गोस्वामी' होने से राम विमुख हो गए थे। यह असम्भव नहीं कि इसी अवधि में दोनों का एक गुरु के यहां सम्बन्ध जुट गया हो।

गौतम-चन्द्रिका से तुलसीदास के एक दूसरे गुरु भाई का पता चलता है। ये हैं—श्री कृष्णदत्त मिश्र। इन दोनों का सम्बन्ध आनन्द कानन ब्रह्मचारी के आश्रम में हुआ था, जहां श्री कृष्णदत्त मिश्र सामवेद का अध्ययन करते थे। गुरु के निधन के पश्चात् सं० १६२८ में श्री कृष्णदत्त मिश्र अपने गांव गढ़ौली चले आए और गृहस्थ बन गए। इस समय इनकी आयु १८ वर्ष की थी।[१]

शत्रु

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास का जन्म अभुक्तमूल में हुआ था। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार मूलनक्षत्र में जन्म लेने वाले लोग उदार स्वभाव और

---

[१] दे०—गौतम चन्द्रिका

सच्चे हृदय के होते हैं किन्तु उनपर संदेह और उनसे द्वेष रखने वालों की भी कमी नहीं होती। तुलसीदास का जन्म चाहें मूल में हुआ हो या न हुआ हो, पर उन्हें जन्म से ही द्वेषी-समुदाय का सामना करना पड़ा और जीवनभर उनसे छु न मिली। महत्त्व के साथ राग-द्वेष और विरोध का होना स्वाभाविक ही है।[1] इन द्वेषी लोगों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है —

१—पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी का जन्म एक प्रतिष्ठित जमीदार ब्राह्मण वंश में हुआ था। उस युग में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी और किसी की भूमि पर अधिकार कर लेना अनीति नहीं माना जाता था। अस्तु गोस्वामी जी के अनाथ हो जाने पर उनके पिता के शत्रुओं ने उनकी पैतृक भूमि पर अधिकार कर लिया इस कार्य में राज्य की प्रेरणा और 'राज-समाज' का भी सहयोग था, जिससे ज्ञात होता है कि तुलसीदास के पिता के समय से ही तात्कालिक-राज्य से विरोध चल रहा था। यह भी सम्भव है कि तुलसीदास के पिता ने जन्मते ही शिशु को रक्षार्थ कहीं अन्यत्र भेज दिया हो और स्वयं शत्रुओं का प्रतिरोध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए हों। तुलसीदास को उनके पैतृक उत्तराधिकार से वंचित करने वालों को उनका खान्दानी शत्रु कहा जा सकता है, जिसका संकेत उन्होंने अनेक प्रसंगों में किया है। गोस्वामी जी एक स्थान पर कहते हैं —

'बलि मिस देखे देवता कर मिस मानव देव
मुए मार सुविचार - हत स्वारथ साधन एव ॥ दो० ३४६

जिससे ज्ञात होता है कि उनकी भूमि 'कर' न देने के कारण राज्य द्वारा अधिकृत कर ली गई थी।

१—शक्तस्तु क्षमते नित्यं अशक्तः क्रुध्यतेनरः।
दुर्जनः सुजनं द्वेष्टि दुर्बलोवत्तरम् ॥
रूपवंतमरूपी च धनेवंतं च निर्धनः।
अकर्मी कर्मिणं द्वेष्टि धार्मिकंच न धार्मिकः ॥
निर्गुणों गुणवंतं च शक्रेतत् कलि लक्षणम् ॥ महा०
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
वरांगना कुलस्त्रीणां सुभगां च दुर्भगाः ॥ चा० ५।६

गोस्वामी जी द्वारा 'वेद धरम दूरि गए भूमिचोर भूप भए' कहने में भी ऐसा ही व्यंग्य है। निम्नांकित कथन उनके सम्बन्ध में उपर्युक्त अनुमान को और भी पुष्टि करते हैं यथा —

'राज करत बिनु काजही करहिं कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज॥ दो० ४१६
'बड़े कुसमाज-राज आज लौं जो पाए दिन, महाराज केहू भाँति
नाम ओट लईं। वि० २५२
'राज-समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।'
और—'वेद-पुरान बिहाय सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल-कराल नृपाल कृपाल न राज-समाज बड़ोई छली है॥'
क० उ० ८५

'काल तोपची, तुमक महि, दारू अनय कराल।
पाप-पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमीपाल॥ स० ६४
गोंड-गँवार नृपाल महि जवन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥ स० ६३

उपर्युक्त दोहे में 'गोंड-गंवार नृपाल महि एक बड़े रहस्य की ओर संकेत करता है। शाहाबाद जिले के विहिया परगने पर जिसमें बलिया जिले का द्वाबा भी सम्मिलित था, पहले ब्राह्मण जमीदारों के अधिकार में था। मुगलकाल के प्रारम्भ में विहिया में 'महतिन'[1] उपाधिधारी कोई ब्राह्मणी विधवा शासन करती थी। कहते हैं कि उसकी नौकरी करने वाले है 'है वंशो राजपूतों' ने जो गोंडवाना से आए थे, तात्कालिक मुसलमान शासक को मिलाकर तथा महतिन को धोखा देकर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया महतिन को इस बात

---

[1]—'महतिन' महता का स्त्री लिंग है। महता की व्युत्पत्ति महत् से हुई है। विहार में 'महता" उपाधिधारी भूमिहार—ब्राह्मण हैं। मुसल्मानी-शासन-काल में यह उपाधि विशेष पद-प्रतिष्ठा की सूचक थी, जैसा कि श्री स्वामी रामानन्दकृत 'ज्ञान तिलक' के निम्नांकित उल्लेख से व्यक्त है—
'कौनसो नगरी कौन अस्थान। कौन लोग बसें परधान॥
को है राजा, को है महता। कहो पुरुष नगरी की वाता॥
(रामानन्द की हिंदी रचनाएँ पृ० १२)

से बड़ा कष्ट हुआ और वे शाप देकर प्रज्वलित चिता में प्रविष्ट हो गईं ।[1] सम्भव है तुलसीदास के साथ भी महतिन जैसा ही व्यवहार किया गया हो, जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से ज्ञात होता है । सम्भवतः उनके साथ विश्वासघात

१—कहते हैं कि हरिहो (है है) वंश के चन्द्रज्योति देव राय रतनपुर (मध्य-प्रदेश) से विहिया (आरा, बिहार) में आए । उन्होंने वहां की ब्राह्मण रानी महतिन की नौकरी की और महतिन के विश्वास पात्र प्रबन्धक बन गए, परन्तु समयानुसार महतिन को धोखा देकर उन्होंने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया । इस विश्वासघात के लिए महतिन ने इन्हें शाप दिया कि तू यदि यहां रहेगा तो तेरा राज्य और वंश नाश हो जायगा' और स्वयं चितारूढ़ हो गईं । अस्तु शापभय से इस वंश के लोग पहले गायघाट और फिर माझी में जा बसे । माझीका भर राजा इनसे अपनी पुत्री का विवाह करना चाहता था । विवाह का दिन भी निश्चित हो गया, किन्तु उसके दरबारी पंडित और मन्त्री चन्द्रपाणि ओझा और शूलपाणि ओझा ने जो परस्पर सगे भाई थे, षड़यंत्र पूर्वक धोखे से भर राजा और उसके सारे परिवार को मार डाला तथा चन्द्र ज्योति देव को मांझी का राजा बनाया । कुछ दिनों बाद उक्त वंश के हाथ से मांझी का गढ़ निकल गया। शाहजहां ने उसे छीनकर गढ़ फुलफंद (फैजाबाद) के खेमरजीत राय को जागीर में दे दिया । (बाद में इस वंश के लोग मुसल्मान हो गए थे)

मांझी से हटने पर गंगा-सरयू के द्वावे को सुरक्षित समझकर हरिहो वंश के लोग गाय घांट-रेवती (बलिया) में चले आए । यह स्थान भी पहले महतिन के राज्य का ही एक भाग था, इसलिए इन लोगों ने 'अइमागढ़' (बलिया नगर से ५ मील पूरब है) विजित कर वहां निवास किया। तत्पश्चात् शत्रुओं से आतंकित हो बलिया से पूरब भँड़सर में आ रहे किन्तु उस स्थान को भी उपयुक्त न समझ फिर वहां से कुछ और पूरब हल्दी में स्थायी रूप से रहने लगे । यहां आने पर महतिन का शाप सत्य हुआ। बनारस के राजा बलवंत सिंह ने यहां के राजा भुवाल देव को बंदी बनाया और उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया । बलवंत सिंह के दौहित्र राजा महीपनारायण के समय बलिया जिले का पूर्वी भाग हल्दी के राजा को लौटा दिया गया, परन्तु राजा नरसिंह देव के ऋण ग्रस्त हो जाने से सम्पूर्ण भूमि पर डुमराव के राजा का अधिकार हो गया। सन् १८५७ में अंगरेजों ने इन्हे दो गांव दिए (आरा-बलिया में प्रचलित जनश्रुति, हल्दी के सुजान कवि की डायरी, सारन जिला-दर्पण और तारीखे बनारस के आधार पर) ।

हने वाले कुटुम्बी ही रहें होंगे क्योंकि अंग्रेजी काल के प्रारम्भ तक शाहाबाद के उत्तरी भाग पर ब्राह्मणों का ही अधिकार था।[१]

जासु भरोसे सोइये राखि गोद में सीस।
तुलसी तासु कुचाल तें रखवारो जगदीस ॥ ४०५
मार खोज ले, सौंह करि करि मन लाज न त्रास।
मुए नीच ते मीच बिनु जे इनके विस्वास ॥ ४०६ ॥ दोहा

संकट काल में ही शत्रु-मित्र का पता चलता है उक्त संकट काल में तुलसी-दास के स्वार्थ के साथियों की भी पोल खुल गई।[२] किसी ने समय पर उनका साथ न दिया। उन्होंने बार-बार खलों के आगे अपना पेट 'खलाया' कष्ट दूर करने में सक्षम उदार पुरुषों के यहां भी गए किन्तु किसी ने उनकी ओर ध्यान न दिया। भला एक अक्षम-अनाथ के लिए कौन तत्कालीन-राज्य और प्रबल उद्दंड क्तियों से झगड़ा मोल लेता। तुलसीदास ने अनेक स्थानों पर कहा हैं कि उनके पने लोग पराए हो गए थे। उनका घर-बार और गांव छूट गया था। राजा से भी अधिक राज समाज द्वारा वे सताए गए थे।[३]

इस बात की पुष्टि उस जनश्रुति से भी होती है, जिसके अनुसार कहा जाता है कि हल्दी के राजाओं ने कई ब्राह्मण वंशों को 'देव' उपाधि का त्याग करने के लिए वाध्य किया था। 'देव' उपाधि राजसत्ता की सूचक थी, जिसे उन ब्राह्मणों की भूमि या राजसत्ता पर अधिकार करने वाले, उन ब्राह्मणों के नाम के साथ उसे रहने देने में अपनी अप्रतिष्ठा मानते थे। जिन लोगों ने हल्दी-राज की अधीनता स्वीकार की उनकी देव उपाधि बदल कर 'कुँवर' कर दी गई

---

[१] —अंगरेजी राज्य के पूर्व डुमरांव राज्य का अस्तित्व न था। जिन ब्राह्मणों ने अंग्रेजी शासन स्वीकार नहीं किया; उनकी भूमि छीनकर दूसरों को दे दी गई। जनश्रुति के अनुसार अंग्रेजी अधिकार होने के पूर्व सेमरी के मनेरिया ब्राह्मणों का भूम्याधिकार ९८९ गांवों पर था (दे०—सैनिक ब्राह्मण पृ० २१४–२०)

[२] —हरे चरहिं, तापहिं बरे, फरे पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब परमारथ रघुनाथ ॥ दो० ५२ ॥
ज्यों जग वैरी मीन को आपु सहित बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुवीर बिनु गति आपनी बिचारि ॥ ५६ ॥

[३] —प्रभु ते प्रभु गन दुखद लखि प्रजहिं संभारे राउ।
कर ते होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ ॥ दो० ५०१

जैसे तुलसीदास की कथित जन्मभूमि राजपुर और विगही, बहुआरा के लोग 'कुंवर' कहलाते हैं। कुछ लोग सामान्य ब्राह्मणों की भांति तिवारी, पांडेय, मिश्र,, उपाध्याय आदि कहलाने लगे, जैसे —नैनीजोर के तिवारी, जनाड़ी के पांडेय, बघुरा के मिश्र, रेवती के उपाध्याय आदि जिन लोगों ने हल्दीराज की अधीनता स्वीकार न की वे अन्यत्र चले गए, जैसे हथौंज (बलिया) के नैनीजोरा ब्राह्मण,[1] धनबाद जिले के सेर गोदड़ी, चुटियारी आदि गांवों के निवासी जमींदार-ब्राह्मण आदि। सम्भव है ऐसी ही परिस्थिति में तुलसीदास भी सदा के लिए जन्मभूमि का परित्याग कर उससे अलग हो गए क्योंकि—

'अरिबस दैव जिआवै जाही।
मरन नीक तेहि जियन न चाही॥ रा० अयो०

(२) काशी में जब गोस्वामी जी की प्रतिष्ठा बढ़ गई तो उनसे द्वेष करने वाले भी प्रकट हो गए।[2] समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं, जहां कुछ लोग सरल हृदय होने से श्रद्धावश किसी की प्रशंसा करते हैं, वहीं कुछ लोग दुष्टता और द्वेष वश उसकी निन्दा करते हैं।[3] 'गोसाईं चरित' के अनुसार काशी के विद्याधर भट्ट गोस्वामी जी के ऐसे ही निन्दकों में थे, यथा—

'अरु एक पंडित हुते बड़े जो भट विद्याधर।
ते नित इरषा करहिं देखि मानता मरहिं नर॥
काशी खंड ११

१—राजा चन्द्रदेव ने नैनीजोर के शांडिल्य गोत्रीय जमींदार ब्राह्मण हरशंकर देव और शिवशंकर देव को देव उपाधिका त्याग कर अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। हरशंकर देव ने राजा के इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया और वे हल्दी राज्य का त्याग कर हथौंज (बलिया) में जा बसे। यह घटना सिकन्दर लोदी के राजत्व काल की बताई जाती है।

२—गोसाईं जी की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा देख बहुत से विद्वानों को सहन नहीं हुआ। वे लोग तरह-तरह से उन्हें कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न करने लगे। इन्द्रदेव नारायण—कवितावली सटीक उ० १६५

३—दह्यमाना सुतीव्रेण नीचाः पर यशोऽग्निना।
अशक्तस्तत्पदं गंतुं ततो निंदां प्रकुर्वते॥ चा० ३।११

गोस्वामीजी के निम्नांकित कथन से भी इस बात की झलक मिलती है—

'माँगि मधुकरी खात जे, सोवत गोड़ पसारि।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी तातें बाढ़ी रारि ॥ दो० ४६४

श्री रामचरित मानस में खल वंदना का आधार भी ऐसे ही द्वेषी लोग हैं के विषय में उन्होंने लिखा है—

सीन, अरि, मीत हित सुनत जरहिं खल रीति। (बा० का० ४)

ज्ञात होता है कि तुलसीदास से अकारण ही रोष और द्वेष करने वाले लोग (याचक) वर्ग के ही ब्राह्मण थे, जैसा निम्नांकित दोहे से झलक ती है—

'क्षमा रोष के दोष गुन, सुनि मानहिं मन सीख।
अबिचल श्री पति हरि भए भूसुर लहैं न भीख ॥ दो० ४२७

(३) 'गोतमचन्द्रिका' से विदित होता है कि काशी में आने पर गोस्वामी न्दिरों में स्वरचित पद सुनाया करते थे और उन पदों की नगर में धूम मच तथा वे पद अनेक लोगों ने कंठाग्र कर लिए थे।[1] देववाणी संस्कृत में ही ओं की स्तुतियाँ करने वाला और केवल इसी विशेषता के आधार पर में धाक जमाने वाला रूढ़िवादी ब्राह्मणों का समाज अवश्य तुलसीदास ों की आलोचना और उनकी निन्दा करता होगा। तुलसीदास ने तीर्थों में करने वाले मूर्ख पंडे पुजारियों और अधर्मी घाटियों को दान देने की थी।[2] इससे भी वे लोग उनके विरोधी हो गए थे। 'रामचरित मानस' चना हो जाने पर वह द्वेषभाव और भी उग्र हो गया, जैसा कि श्री रित-मानस पर भगवान शंकर द्वारा सही करनेकी जनश्रुति से प्रकट है। दास की रचनाओं की निन्दा करने वाले प्रायः वही लोग थे, जिनकी

---

[1] —तुलसी देव मंदिरन जाई। विनती करहिं बिस्नुपद गाई ॥
सो नइ गीत सुनहिं मन लाई। गाँवहि जहँ तह लोग लुगाई ॥
घाट-बाट घर गली अथाई। कासी रहेउ बिस्नुपद छाई ॥
—गो० चं०

[2] —सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहुँ मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज ॥५५८॥
तुलसी दान जो देत हैं जल में हाथ उठाइ।
प्रति ग्राही जीवे नहीं, दाता नरके जाई ॥५३३॥ दोहा

जीविका संस्कृत भाषा के माध्यम से चलती थी अर्थात् पुरोहित कथावाचक पं पुजारी आदि । अतः जब उन्होंने वंचक गुरुओं और मूर्ख पुरोहितों की आलोचना की[1] तो वे उनके निन्दक बन गए ।

(४) गोस्वामीजी के द्वेषियों की चौथी श्रेणी ऊपर वर्णित तीसरी श्रेणी से भिन्न न थी । ये लोग स्वामीजी की जाति-पाँति पर आक्षेप करते थे । कुछ लोग जाति-पाँति के आक्षेप का अर्थ लगा देते हैं गोस्वामी जी का 'जारज-संतान' होना किन्तु यह उनका भ्रम है । जारज सन्तान के कुल का पता नहीं होता किन्तु गोस्वामीजी के माता-पिता का पता था, उनका जन्म होने पर बधावा भी बजा था । मुख्य बात तो यह है कि गोस्वामी जी ने अपने कुल को सुकुल और भलो कुल कहा है जिससे स्पष्ट ही उनके जारज होने का खण्डन हो जाता है । रामू द्विवेदी ने भी उन्हें 'कुलशील निधि' कहकर उनकी श्रेष्ठ वंश परम्परा की सूचना दी है । सोचने की बात यह है कि यदि गोस्वामी जी 'जारज' होते तो वर्णाश्रम धर्म के समर्थक न होते । अस्तु, गोस्वामीजी पर जाति-पाँति सम्बन्धी जो आक्षेप किये जाते थे, वे 'खान-पान' सम्बन्धी थे । गोस्वामीजी अवधूत परम्परा के साधु होने एवं मधुकरी वृत्ति धारण करने के कारण खान-पान में रूढ़िवादी ब्राह्मणों जैसी कट्टरता का निर्वाह नहीं करते थे और इसी कारण रूढ़िवादी समूह उनको कुजाति कहता था । गोस्वामी जी ने अनेक स्थानों पर इस बात को प्रकट किया है ।

मेरी जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति'—क० उ० १०७
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं—विनय ७६
काहु की बेटी से बेटा न ब्याहब, काहु की जाति बिगार न सोऊ ॥
मांगि के खैबो मसीत को सोइबो लेबे को एक न देबे को दोऊ ॥
क० उ० १०६

---

[1] —सोइ सयान जो परधन हारी । जो कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
रा० उ० ९८

गुरु सिष अंध बधिर कर लेखा । एक न सुनी एक नहिं देखा ॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥
रा० उ० ९९

विप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ वृषली स्वामी ॥
रा० उ० १००

इतना ही नहीं उन्होंने स्पष्ट अपनी जाति-पांति घटने का कारण रामानंदी अवधूत सम्प्रदाय में सम्मिलित होना बताया है, यथा—

रटत-रटत लट्यो जाति-पाँति भाँति घट्यो'

यदि वे जन्मतः जाति दोष से दूषित होते तो फिर साधु होने पर जाति-पाँति घटने की बात क्यों कहते ? इस बात का समर्थन गौतमचन्द्रिका के निम्नांकित प्रसंग से भी होता है—

कलि कोविद भट जहँ तहँ धाए। ढँड़रच धर्म केतु फहराए॥
जोरि पंच मंडली बनाए। तुलसिहि 'पतित' 'कुजाति' बताए॥
तुलसी स्रवन परी सो बाता। बोले हुलसित पुलकित गाता॥
धनि धनि पंच अनुग्रह कीन्हे। पंचकोस अघ निज सिर लीन्हें॥
पतित सिरोमनि मोहि जो पावहिं। राम पतित पावन कहलावहिं॥
बाना ऊँच पतित पावन को। राम नाम कलिमल दावन को॥
राम स्वामि हम रघुपति चेरे। इहई अमिट रेख सिर मेरे॥
जाति कुजातिन ते झगरे को। पतित हमहिं हरि बिन उघरे को॥

इस कथन से स्पष्ट हो गया कि तुलसीदास के विरुद्ध ढँड़रच (ढेंडनच) करने वाले कैसे लोग थे। जाति कुजातिन ते झगरे को' कहने से ज्ञात होता है कि ढंडरच करने वालों की जाति का स्वयं ही कुछ ठिकाना न था अर्थात् वे घाटिया- पंडे पुजारी और तीर्थ गर्त या भिक्षुक वर्ग के ही लोग थे। इस प्रकार के ही लोग छुआछूत की आड़ में जीते और उसी के बल पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।[1]

(५) पाँचवें प्रकार के विरोधी वे सांप्रदायिक लोग थे, जो गोस्वामी जी द्वारा रामभक्ति के प्रचार को अपने-अपने सम्प्रदाय के मार्ग में बाधक समझते थे।[2] उन्होंने अवैदिक सम्प्रदाय वादियों की अनेक स्थलों पर भर्त्सना की है, यथा—

१—अपने भाइयों का बनाया हुआ भोजन करने में क्या पाप लगता है ? धन्य है, सरयूपार की ढकोसले बाजी संसार और शास्त्र से न्यारी।'
—श्री पं० राजनारायण शास्त्री (सरयूपारीण वंशावली पृ० २०)

२—बोध कियो सब साह को दीन्हा यह उपदेस।
कंठी माला को न अब रहै जगत महँ लेस॥
वैरागिन को दण्ड दै अरु पुनि वेष उतारि।
कंठी माला काढ़ि निज मँगवायौ सरकारि॥
गोसाई चरित का० खं० १६

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगतकलि; निंदहिं वेद पुरान ॥५५४॥
लही आँखि कब आँधरे बाँझ पूत कब पाल्याय ।
कब कोढ़ी काया लही; जग बहराइच जाय ॥
ईस सीस बिलसत विमल, तुलसी तरल तरंग ।
स्वान सरावगि के कहे लघुता लहै न गंग ॥३८३॥
अतुलित महिमा वेद की तुलसी कियो विचार ।
जेहि निंदत निंदत भए विदित बुद्ध अवतार ॥४६४॥ दोहा

यद्यपि तुलसीदास जी वेद को दुहाई देते थे और शिव-विष्णु की एकता स्थापित कर संप्रदायवाद से ऊपर उठ साम्यवादी विचार प्रस्तुत करते थे फिर भी श्री रामचन्द्रजी के प्रति उनकी अनन्यता थी। यहाँ तक कि उनके संबंध में यह जनश्रुति तक प्रचलित हो गई कि उन्होंने श्रीकृष्ण विग्रह के समक्ष तब तक सिर नहीं झुकाया जब तक उक्त विग्रह श्री रामचन्द्रजी के विग्रह में परिवर्तित न हो गया।[1] उन्होंने विष्णु भगवान के दश अवतारों में भी रामावतार को ही सर्वश्रेष्ठ माना और भगवान शंकर को महामहिम मानते हुए भी श्री रामचन्द्रजी का सेवक बताया। ये बातें शैवों और कृष्ण भक्तों को अवश्य अच्छी न लगती होंगी। ऐसा ज्ञात होता है कि शैव सम्प्रदाय के गोसाइयों ने गोस्वामी तुलसीदास का खुलकर विरोध किया[2] और वे उनको मार डालने पर भी उतारू हो गए। उन्हीं लोगों के कारण तुलसीदास केदार घाट से हटकर असी पर चले आए। जब तुलसीदास भगवान शंकर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—

'एते पर हू कोऊ जो रावरो ह्वै जोर करै,
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं।' —क०उ० १६५

---

[1] —कहा कहौं छवि आज को भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष बान लो हाथ॥

[2] —गाँव बसत बामदेव मैं कबहूं न निहोरे।
अधि भौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
वेगि बोलि बलि, बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहै सठ साखि सिहोरे॥ वि० ८

तो भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी के प्रबल विरोधी शैव सम्प्रदायवादी गोसाईं ही थे। गौतम चन्द्रिका में भी है—

'हठि ते मतवादी अभिमानी। नगर गोसाईं जे बकध्यानी।
ते सब करि कुमंत्र छल साधा। तुलसी पथ मधि जीवन बाधा॥

कदाचित् तुलसीदास के ही कारण डाकुओं ने गोसाइयों का वेश बनाकर तुलसीदास के मित्र और संरक्षक टोडर को मार डाला था। सम्भव है इन्हीं के षड्यंत्र से जहाँगीर ने भी तुलसीदास जी को कष्ट देने का विचार किया हो और पीछे अपनी भूल का परिमार्जन कर लिया हो।

तुलसीदास की कीर्ति से द्वेष करनेवालों नें उनकी मढ़ी से उनकी रचनाओं की पांडुलिपि तक निकलवा लेने का प्रयत्न किया किंतु चोरों को उनकी मढ़ी में घुसने का साहस न हुआ और उन्होंने यह बात गोस्वामी जी से व्यक्त भी कर दी।[1]

तुलसीदास अपने इन विरोधियों से कभी भी आतंकित या भयभीत नहीं हुए न विरोध ही प्रकट किया[2] क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि श्री रामचन्द्रजी उनकी रक्षा में सदा तत्पर हैं, अस्तु कोई उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता।[3]

ऊपर के विवरण से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि गोस्वामी जी के द्वेषी संख्या में अधिक थे या प्रबल थे। वस्तुतः गोस्वामी जी के मित्र-स्नेही, सत्संगी, श्रद्धालुभक्त और प्रशंसकों की ही संख्या अधिक थी[4] और उसके सामने काशी के कुछ स्थिर-स्वार्थी द्वेषी लोग नगण्य ही थे यद्यपि वे अपने षड्यंत्र से बाज

---

[1] कहते हैं कि चोरों ने वहाँ दो धनुर्धर पुरुषों को जो श्रीराम-लक्ष्मण के भेष में थे, पहरा देते हुए पाया, जिससे भयभीत होकर वे भाग गए और दूसरे दिन तुलसीदास जी से वह बात व्यक्त की।

[2] मागे फल ओड़ेहु भलो भलो न घाले घाउ।
तुलसी सबके सीस पर, रखवारो रघुराउ॥ दो० ४२४
बूझे ते भल बूझिबो, भलो जीति तें हारि।
डहके ते डहकाइबो भलो जो करिय विचार॥ दो० ४३१

[3] भरोसे राम राय को पसारि पायँ सोइये—क० ७०

[4] तुलसी देवल देव को लागे लाख, करोर।
काय अभागे हगि भगो, महिमा भई कि थोर॥ दो० ३८४

नहीं आते थे तथा वृद्धावस्था में भी उन्हें कष्ट देने के लिये तुले रहते थे। जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

'रोग निकट तनु जरठपन तुलसी संग कुलोग।

गोस्वामी जी जानते थे कि उनके शत्रु किस प्रकार के लोग हैं अतः उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ों,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जाने महा साधु खल जाने महा खल,
बानी झूठी साँची कोटि उठति हबूब है॥
चहत न काहू सों न कहत काहू की कछू,
सबकी सहत अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥ क० उ० ११८

सम्मान और प्रशंसक—

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गया कि तुलसीदास के विरोधियों में कुछ स्थिर स्थायी वर्ग के सामान्य-लोग थे और वे भी प्रायः काशी-निवासी ही थे किन्तु इसके विपरीत उनके प्रशंसकों एवं श्रद्धालु जनों की संख्या सारे देश में फैली हुई थी जो उनकी कृतियों और आचार-व्यवहार की ख्याति सुनकर मुग्ध थे। उनके दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। इस प्रकार के लोगों में सभी कोटि के मनुष्य थे। देश के प्रसिद्ध विद्वान्, राजे-महाराजे और राजकर्मचारी भी उनके दर्शनों के लिए जाते और उनके चरणों में नत होकर आशीर्वाद की आशा रखते थे। इसका उल्लेख गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर किया है, यथा—

"'घर-घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु सो अब राम सहाय॥ दो०१०६

और—'राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी को जग मानियत महामुनी सो। क० उ० ७२

अपने जीवन काल में ही गोस्वामी जी महर्षि बाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे थे। जैसा कि उस समय के प्रख्यात भक्त नाभादास जी कहते हैं—

'संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लए;
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भए ॥

भक्तमाल १२६

गौतम चंद्रिका के निम्नांकित उद्धरणों से विदित होता है कि तुलसीदास के जीवन काल में ही उनको बहुत प्रसिद्धि हो गई थी यथा—

'पुरुष दखिन पच्छिउँ उतर मनिया गनि गनवाय ।
संत सभा नाभा रहे भगत माल गुछवाय ॥
राम चरित सौरभ उड्यो, फिर आयो चौफेरु ।
मलय माल नाभा भए, तुलसी भए सुमेरु ॥
कमछा के मेघा भगत कर सुरधुनी नहान ।
तुलसी चरन पखारि गृह भजत राम धनु बान ॥
साधु-असाधु सुजाति-कुजाती । तुलसी रस बहुतक मति माती ।
भोजन बसन हेतु जे आवहिं ते तुलसीदल सादर पावहिं ॥
सुत वित नारि भगत जे जाहीं । तहँ बड़ भूपहुं के गम नाहीं ॥
देस-देस के भूपति आवहिं । तुलसिहिं संपति लोभ दिखावहिं ।
तुलसी विनय करहिं तिन पाहीं । राउरि कृपा जोग हम नाहीं ॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने । तुलसी चरन सकल रति माने ।
दान मान सम्मान प्रद, सब कहँ आपु अमान ।
तुलसी सम तुलसी लसत, तुलसी सम नहिं आन ॥

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं और गुणों पर मुग्ध होकर उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् और संन्यासी मधुसूदन सरस्वती ने यह श्लोक कहा था—

'आनन्द काननेह्यस्मिन् जगमस्तुलसी तरुः
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर भूषिता ॥

तुलसीदास स्वयं ही कहते हैं कि पहले वे वन की घास के समान थे, जिन्हें कोई जानता भी न था, परन्तु बाद में राम कृपा से वे समाज में तुलसी' के समान पूजित हुए, यथा—

'केहि गिनती महँ, गिनती जस बनघास ।
राम कृपा भयो तुलसी तुलसीदास ॥

मित्र—

गोस्वामी जी के मित्रों में अकबर के प्रधान कर्मचारियों में से राजा मा सिंह और नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना का नाम लिया जाता है। राजा मा सिंह बंगाल के राज्यपाल बनाकर भेजे गये थे अतः वे काशी होकर ही बंगा गए-आए होंगे, अतः ऐसी दशा में उनका तुलसीदास जी के संपर्क में आ असंभव नहीं प्रतीत होता। अब्दुर्रहीम खानखाना सं १६४६-४८ तक का के अधिकारी बनाकर भेजे गये थे, अस्तु इस अवधि मे उनका गोस्वामी जी से अनेकबार सत्संग हुआ होगा। गोस्वामी जी के संबन्ध में खानखाना का य दोहा प्रसिद्ध है।

सुर तिय, नरतिय नागतिय सब चाहत असहोय
गर्भ लिये हुलसी फिरे, तुलसी से सुत होय॥

जन श्रुति के अनुसार दोहे का प्रथम अर्द्ध भाग स्वयं तुलसीदास द्वारा रचि है और बादवाला खानखाना द्वारा। कहते हैं कि एक बार तुलसीदास से ए ब्राह्मण ने पुत्री के विवाहार्थ धन की याचना की उन्होंने दोहे को उक्त ढं लिख कर ब्राह्मण द्वारा खानखाना के पास भेज दिया। खानखाना ने दोहे को पूरा कर और ब्राह्मण को एक लाख रुपए देकर विदा किया।

गोस्वामी जी के काशी के मित्रों में महात्मा मधुसूदन सरस्वती का नाम लिया जाता है। इन्होंने तुलसीदास की प्रशंसा में जो श्लोक कहा वह ऊपर अंकित है। जन श्रुति के अनुसार गोस्वामी जी काशी में आने पर प्रह्लाद घाट के गंगाराम ज्योतिषी के यहाँ ठहरे और उनके लिए रामाज्ञा,-प्रश्न' की रचना की। अस्तु गंगाराम इनके मित्रों में कहे जाते हैं। गंगाराम के वंशजों के पास गोस्वामी जी का एक पुराना चित्र है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

काशी में तुलसीदास के बहुत से सत्संगी हो गए थे, इनमें सभी जातियों के लोग थे; यथा—पं० काशीनाथ, समरसिंह राजपूत, गंगाराम कवि कैलाश, उजेनीदास गायक, भजन गोप, हरिवंश, नगर सेठ जयराम, सियाराम, तमोली नाथू नापित, रामू केवट, खेलावन चर्मकार, बोधी गोंड, हरी, मीर ढाड़ी, जसव जुलाहा आदि। गोस्वामी जी की राम भक्ति के संबन्ध से किसी से घृणा नहीं करते थे। यह भी एक प्रधान कारण था, कि काशी के रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने तुलसीदास की निंदा की और उन्हें कुजाति तथा पतित कहा, किन्तु गोस्वामीजी कभी भी इन आक्षेपों से चिन्तित नहीं हुए।

गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि तुलसीदास विरक्त होने पर सर्वप्रथम आनंद कानन ब्रह्मचारी की सेवा में आए; जो केदार घाट के पास रहते थे। यहीं उनका परिचय उजैनो दास नामक किसी कृष्णभक्त साधु से हुआ। उस साधु ने पद गा-गा कर इनके ऊपर कृष्णभक्ति का रंग जमा दिया। कदाचित् उस से प्रभावित होकर ये कुछ काल के लिए कृष्ण भक्त गोस्वामी बन गए और 'कृष्ण गीतावली' की रचना की। कृष्णभक्ति पर कई छन्द कवितावली में भी मिलते हैं। महात्मा आनन्द कानन के यहाँ श्री कृष्णदत्त मिश्र सामवेद का अध्ययन करते थे। यहीं पर तुलसीदास की इनसे घनिष्टता हो गई और दोनों साथ-साथ जनकपुर की यात्रा में गए थे। श्री कृष्णदत्त मिश्र ने ही सं० १६८१ में गौतम चंद्रिका की रचना की और उसमें तुलसीदास का जीवन वृत्त भी दिया। श्री कृष्णदत्त मिश्र ने गौतम चन्द्रिका में अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

पितु भगवान पार्वति माता; गौतम कासिवार विख्याता।
गंगातीर गढ़ौली गाऊँ; सामग कृष्णदत्त मम नाऊँ॥

पं० भगवान मिश्र वरैना गांव के मुखिया और गोस्वामी तुलसीदास के संरक्षक थे। टोडर इन्हीं के मित्र तथा संबंधी थे. जिन्होंने तुलसीदास को असी पर ठहराकर रखा था। टोडर राउत काशी के जमींदार और जाति के भूमिहार ब्राह्मण थे। तुलसीदास के ये सर्वाधिक घनिष्ठ मित्र थे। गोस्वामी तुलसीदास ने किसी मनुष्य की प्रशंसा में एक शब्द भी कभी नहीं कहा किन्तु इनके शोक में इन्होंने चार दोहों की रचना की थी और विवाद उत्पन्न होने पर इनके वंशजों में एक पंचायत नामे द्वारा भूमि का बँटवारा भी कराया था। गौतम चंद्रिका में टोडर के सुन्दर व्यक्तित्व का चित्रण है। इनके वंशज काशी में हैं और तुलसीदास की निधन तिथि को प्रतिवर्ष अब भी श्राद्ध करते हैं।

सप्तम अध्याय

जीवन की परिस्थितियाँ

अभुक्त मूल मुलहा या मुरहा का अभिधार्थ है—मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने वाला बालक। चूँकि मूल नक्षत्र में जन्म लेने वाला बालक अपने अशुभ लक्षणों के कारण मातृ-पितृ-हंता और कुल-कुटुम्ब का नाशक माना जाता है इसलिए भोजपुरी में मुलहा (मुरहा) का लक्ष्यार्थ ऐसा व्यक्ति होता है, जो कुलक्षणी तथा मनहूंस हो अथवा जिसके निमित्त से किसी प्रकार का विनाश हुआ हो। निम्नांकित भोजपुरी लोक गीतों में मुरहा शब्द उपर्युक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—

१ एक बेर चलत मुरहा! मोरी नइहरवा;
लेतौं कसरिया काढ़ि लोय।[1]
२ सुतल रहलीं मैं रंगमहल में,
मुरहा के देखलो सपनवाँ अरे अरे लाल।[2]

ज्ञात होता है, अनाथ बालक तुलसी को भी कुलक्षणी मानकर लोग 'मुलहा' कहने लगे थे और इसी मुलहा शब्द के आधार पर कालांतर में उनके मूल नक्षत्र में जन्म लेने कि जनश्रुति प्रचलित हो गई।

---

१ अरे मुलहा! यदि एक बार भी तू मेरे पिता के घर चलता, तो मैं तुमसे अपना बदला चुका लेती।

२ मैं अपने रंगमहल में सो रही थी। उस कष्ट देने वाले मुलहा को मैं सपने में देखा।

जनश्रुति के अनुसार तुलसीदास का जन्म अभुक्तमूल[1] में हुआ था। उनकी ाता पुत्र का प्रसव करने के बाद ही मर गईं। पिता ने दुष्परिणाम की आशंका पुत्र का त्याग कर दिया[2] और थोड़े दिनों बाद वे भी मर गये। किंतु रहीम —'गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी से सुत होय' कहने से तो यही प्रकट होता कि माता तुलसी, तुलसी को जनम देकर तत्काल ही कालकवलित नहीं हो ग , वरन् उन्होंने शिशु तुलसी का कुछ दिनों पालन-पोषण भी किया था। लसीदास जी द्वारा—'तुलसीदास हित हिय हुलसी सी'—कहने से भी इसी ी पुष्टि होती है।

तुलसीदास के जन्म काल में अभुक्तमूल की स्थिति थी या नहीं, कुछ निश्चित से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि श्रावण शुक्ला सप्तमी को उनकी जन्म थि मान लें जैसी जनश्रुति है, तो इस बात की सम्भावना बहुत कम हो जाती है कि तुलसीदास का जन्म अभुक्त-मूल में हुआ था। इसका कारण यह है कि वण मास की पूर्णिमा प्रायः 'श्रावण' नक्षत्र में पड़ती है इस हिसाब से उस थि पर चित्रा का योग होना चाहिए। चित्रा से मूल छठा नक्षत्र है। अधिक से अधिक २-३ नक्षत्रों का अंतर पड़ सकता है, इतने नक्षत्रों का नहीं। गोस्वामी जी के ग्रन्थों का अंतर्साक्ष्य भी ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह प्रकट हो कि उन का जन्म अभुक्तमूल में हुआ था। और बात है, जब शास्त्र विधि से 'अभुक्तमू की शांति हो सकती है तो पिता ने पुत्र का परित्याग क्यों किया? तः तुलसी की अभुक्तमूल में जन्म लेने की बात ठीक नहीं जान पड़ती। सी साहब के कथन को प्रमाण मान लेने पर शायद उसका मेल अभुक्तमूल से ई ों बैठ जाय। किन्तु जब तुलसी साहब की दी हुई अन्य तिथियाँ अप्रामाणिक ने पर तिथि को भी प्रामाणिक नहीं कह सकते। हाँ, यदि जन्म तिथि दूसरी हो तो अभुक्तमूल की सम्भावना हो सकती है पर उसकी संभावना के लिए प्रयत्न ों जिसके विषय में कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता और न जिसका किसी को पता ही है।

गोस्वामी जी ने अपने को शैशवावस्था में माता-पिता द्वारा परित्याग किए ने का उल्लेख कई बार किया है, जिससे यह शंका होती है कि क्या जीतेजी

१—ज्येष्ठांते घटिकाचैका मूला दो घटिकाद्वयम्।
अभुक्तमूल मित्याहुजातं तत्र विवर्जयेत्॥ वसिष्ठ

२—संवत् पंद्रा से नावासी भादो सुदी मंगल एकादशी
भया जनम सोइ कहौं बुझाई। रु बुद्धि सुधि बुधि दरसाई॥
——घट रामायण

माता-पिता ने उनका परित्याग कर दिया था ? या उनका यह कथन आ
है जैसे--

(क) मात-पिता जग जाइ तज्यों
विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
(ख) जननि जनक तज्यो जनमि करम बिन
विधि हू सृज्यो अवडेरे।'
(ग) तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिताहूँ।

इनमें से पहले और दूसरे उदाहरण में एक ही बात कही गई है कि मात
पिता ने मुझे संसार में केवल जन्म देकर छोड़ दिया। तीसरे उदाहरण में
'कुटिलकीट' का अर्थ 'कुटिला' (केंकड़ा)' या बिच्छू' किया जाय तो तुल
दास जी के कथन से विरोध पड़ता है क्योंकि केकड़ा और विच्छू अपने बच्चों
परित्याग नहीं करते वरंच उनके बच्चे ही उनके जीवन का अंत कर उनसे
हो जाते हैं। लोकोक्ति भी है—

केरा बिच्छी बाँस। अपने जमले नास॥

इसलिए 'कुटिल कीट' का अर्थ 'केकड़ा' या 'बिच्छू' करना उचित नहीं
है। इनके माता-पिता इनके जन्म लेते ही कालकवलित हो गये थे, यह समझ
भी ठीक नहीं क्योंकि काल-कवलित हो जाने की दशा में भी जिस ढंग से
त्याग किए जाने की बात गोस्वामीजी ने कही है उस ढंग से न कहते।

सं० १६६६ की प्रति में तनुतज्यो के स्थान पर 'तनुज तऊ' पाठ है।'[1] इ
पाठ के अनुसार उक्त पद का अर्थ यह होगा कि जैसे सर्पिणी अपने बच्चों का
परित्याग कर देती है वैसे ही माता ने मुझे छोड़ दिया और पिता ने भी (
आशंका से अथवा परिस्थिति वश) मुझे छोड़ दिया। इससे यही ज्ञात होता है
कि माता-पिता को जीवितावस्था में ही उनके द्वारा लालित-पालित न हुए।
उन्होंने शिशु को अपने से अलग कहीं अन्यत्र भेज दिया होगा।

१—सं १६६६ की एक प्रति में जिसका परिचय आगे दिया जायेगा 'तनुज तऊ'
पाठ मिलता है और एक अन्य प्राचीन प्रति में जिसकी तिथि अज्ञात है और
जो प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है 'तुचा तजत' पाठ है।
—डा० माता प्रसाद गुप्त (तुलसीदास पृ० १६०)

दि 'कुटिल-कीट' का अर्थ सर्प मान लिया जाय जैसा कि कई विद्वानों ने है और जो उचित प्रतीत होता है तो इसका अर्थ यह होगा कि तुलसी- के माता-पिता उनका जन्म देकर निवास स्थान से कहीं दूर हट गये थे, प्रकार सर्प-सर्पिणी बच्चों को निराश्रित छोड़ उनसे अलग हट जाते हैं। ज्यों' के स्थान पर 'त्वचा तजत' पाठ स्वीकार करने पर यह अर्थ कुछ और हो जाता है क्योंकि त्वचा का त्याग करने पर सर्प की शिथिलता दूर हो ती है और वह तेजी से कहीं भाग सकता है। अस्तु इससे यह प्रकट होता है सी के माता-पिता उनके जन्मकाल में ऐसी विकट परिस्थिति में थे जिससे होकर उन्हें संतान को केवल जन्म देकर थोड़े दिनों में ही कहीं छोड़ देना और स्वयं सुरक्षा की दृष्टि से कहीं अलग हट जाना पड़ा (दे०—अध्याय ता-पिता) असम्भव नहीं तुलसीदास का जन्म भी वैसी ही परिस्थिति हो, जैसी परिस्थिति में अकबर का जन्म अमरकोट में हुआ था।

सी का जन्मकाल देश में राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। में दृढ़ता न थी। देश का शासन कभी एक के हाथ में आ जाता तो दूसरे और तीसरे के। ऐसी स्थिति में जमींदारों के पारस्परिक और नए होने वाले राज्यों से भी झगड़े होते ही रहते थे। बताया गया कि तुलसी का जन्म एक जमींदार ब्राह्मण-वंश में हुआ था। उनके जन्मकाल में उनके पिता शत्रु से आक्रांत और आतंकित थे।[2] तुलसीदास ने तात्कालिक

-कीट' से सर्प का अर्थ लेना ही अधिक संगत होगा।

डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० १६७

२—सं० १५८६ में घाघरा की प्रसिद्ध लड़ाई हुई जिसके बाद बिहार बाबर के अधिकार में आ गया। उसके स० १५८७ में मर जाने पर हुमायूं शासक हुआ किन्तु स० १५९६ में चौसा में उसे शेरशाह ने हराया और दूसरे वर्ष दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया। हुमायूं को भारत छोड़कर भागना पड़ा। इसी अवसर में अमरकोट (सिंध) में सं० १५९९ में अकबर का जन्म हुआ। तुलसीदास का जन्मकाल सं० १६०० है। सं० १६०२ में कालिंजर विजित करते समय शेरशाह बारूद का विस्फोट होने से मर गया। इसके बाद दस वर्ष तक पारस्परिक कलह और अशांति के वातावरण में उसके उत्तराधिकारी राज्य करते रहे तत्पश्चात् अकबर का अधिकार हो गया। यह संपूर्ण समय अशांति और षड्यन्त्रों का था। जमींदार लोग अपना राज्य बढ़ाने के लिए आपस में भी लड़ते रहते थे और मुसलमान शासकों से विद्रोह कर देते थे। अकबर ने सं० १६३१ में बिहार पर अधिकार किया। इसी वर्ष गोस्वामी जी ने 'रामचरित मानस' की रचना प्रारम्भ की।

शासन और राज समाज की जो भर्त्सना की है, उसका रहस्य यही है। आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय की दृष्टि भी इस तथ्य की ओर गई है यद्यपि उन्होंने इसे दूसरी ओर मोड़ दिया है।

उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि 'जायो कुल-मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप ! जननी जनक को' से भी होता है क्योंकि पुत्र जन्म के अवसर 'बधावा' बजने से माता-पिता को परिताप क्यों हुआ ? स्पष्ट है कि वे कठिन संकटकालीन स्थिति में थे।

डा० माता प्रसाद गुप्त 'परिताप' की संभावना पर विचार करते हुए कहते हैं कि एक अन्य सम्भावना यह भी हो सकती है कि 'मंगन' होने के कारण तुलसीदास के माता पिता बधावा लाने वाले मान्य सम्बंधी को कुछ भी भेंट करने में—अथवा उसके उपहारों के अनुरूप कुछ भेंट करने में—सर्वथा असमर्थ रहे हों।[2] आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय ने उक्त मत को निराभ्रांत बनाते हुए लिखा है कि 'डा० गुप्त को यह समझ में नहीं आती कि उन्होंने 'कुल मंगन' का अर्थ घर मंगन कैसे समझ लिया और यदि ऐसा समझ ही लिया तो उसे दरिद्र कैसे मान लिया। मगन के पास पैसा भी होता ही है। कभी-कभी तो दाता से भी कहीं आगे। आज भी भिखारी दान करते सुने जाते हैं और कभी-कभी तो धनिक के रूप में 'व्यवहार' तक पहुंच जाते हैं। दूसरी यह कि कुल मंगन दरिद्र ही थे तो उनके मान्य सम्बन्धी इतने धनी कैसे हो गये कि उनके बधावा का मूल्य इतना अधिक हो गया कि सुना नहीं कि 'परिताप पाप' से घिर गये। निश्चय ही यह तुलसी का अभिमत नहीं। उक्त पंक्ति का अर्थ नहीं। सूझ फिर चाहे जिसकी हो। 'बधावना बजायो सुनि' का अर्थ 'बधावना सु आयो सुनि' करना कहाँ का न्याय है ?[3]

डाक्टर साहब का यह कथन है कि 'बधावा' सम्बन्धी ही लाते हैं, ठीक नहीं है क्योंकि यदि इसे मान लें तो तुलसी के निम्नांकित कथन का क्या अर्थ होगा—

गृह-गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकन्द।

श्री रामचन्द्र जी के जन्मकाल में सम्बन्धी गण तो दशरथ जी के यहाँ 'बधाव' लेकर गए होंगे। अयोध्या में फिर घर-घर बधाव कैसे बजा ? वस्तु

---

[1] —दे०-तुलसी की जीवन भूमि पृ०१५९-६०

[2] —तुलसीदास पृ० १६६

[3] —तुलसी की जीवन-भूमि पृ० १५५

मंगल' का अर्थ 'पौनी' करना उचित है जैसा कि अन्तर्साक्ष्यों के विवेचन रूप में किया गया है तथा बधाव बजने से तुलसीदास के माता-पिता के वियोग का कारण उनका भावी आसन्न संकट समझना ही उचित है।

जो भी हो, तुलसीदासजी के पिता युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए और उनकी माता उनके शव के साथ सती हो गई थीं। उक्त सती का स्थान से अग्निकोण में हल्दी (राजपुर) नामक स्थान पर गंगातट स्थित और विशाल वट-वृक्ष के नीचे विद्यमान है। ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने अपनी माता को ही लक्ष्य में रखकर कहा है, जो अपने लोगों के वर्जित करने पर भी शिशु का परित्याग कर तथा पर्दे से बाहर आकर सती हो गई थी यथा-

'सीस उघारन किन कह्यो, बरजि रहे प्रिय लोग।
घरहीं सती कहावती, जरती नाह वियोग ॥ दो० २५४

तुलसी काल में बड़े घर की स्त्रियों का पर्दे से बाहर जाना अप्रतिष्ठा का कारण माना जाता था। अस्तु इस कथन द्वारा तुलसी के उस मानसिक क्षोभ की स्थिति भी व्यक्त होती है जो शैशवकाल में ही उनके मातृहीन हो जाने के कारण थी। वे झूठे दर्प के कारण युद्ध करने के परिणामस्वरूप अनाथ हो जाने से दर की ठोकरें खाने को बाध्य हुए थे, इसीसे निरर्थक युद्ध न करने की चेतावनी देते हुए कहते हैं---

जूझे ते भल बूझिबो भली जीति ते हारि।
डहके ते डहकाइबो भलो जो करिय विचारि ॥ दो० ४३०

ऐसा लगता है कि तुलसीदास के पिता को उनके उन शत्रुओं ने ही जो घर में तो उनके विरुद्ध षड्यन्त्र करते थे, परन्तु बाहर से प्रकट नहीं होते थे, मार दिया था! कदाचित उन लोगों ने उस समय के बादशाह अथवा राज्य के अधिकारियों को उनके विरुद्ध उभाड़ा था। उन सयाने शत्रुओं के विषय में तुलसीदास कहते हैं-

शत्रु सयानो सलिल ज्यों, राखि सीस रिपु नाव।
बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँ दिसि धाव ॥ दो०५२०

गोस्वामी जी ने तत्कालीन राजा; राजसमाज और अन्य समर्थ लोगों के दुराचरण की बड़ी निन्दा की है; जिससे प्रकट होता है कि इनके पिता के विरुद्ध सबकी सम्मिलित साजिश थी। राजाज्ञा लेकर कर्मचारियों ने इनको क्षति पहुंचाई थी। वे राजा को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

प्रभु तें प्रभुगन दुखद लखि प्रजहिं सँभारे राउ।
कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ ॥ दो०५०१

राजा के विरुद्ध हो जाने पर अच्छे स्वभाव के कर्मचारी भी इनके पिता के विरोधी बन गए थे क्योंकि वे तो प्रायः अवसरवादी और ठकुरसुहाती करने वाले होते हैं यथा---

अधिकारी बस औसरा भलेउ जानिबे मन्द।
सुधासदन वसु बारहें चउथे चउथिउ चंद ॥ दो० ४६६

परिस्थिति के बदल जाने पर शक्ति और सम्पत्ति के मद में श्रेष्ठ वंश के लोगों ने भी तुलसी का अपमान किया और उनको हानि पहुंचाई एवं इनके नीच शत्रुओं का साथ दिया; यथा---

तुलसी तोरत तीर तरु बक हित हंस विडारि।
विगत नलिन अलि, मलिन जल, सुरसरि हू बढ़िआरि ॥ ४६८

तुलसीदास का बाल्यकाल ही नहीं; प्रौढ़ावस्था तक का समय घोर-अव्यवस्था; अशांति, विद्रोह और उत्पीड़न का समय था। श्री डा० ताराचन्द हिंदुस्तान का इतिहास में लिखते हैं---"अफगानों को आपस की फूट ने देश में अव्यवस्था और आंतरिक कलह फैला रखा था (पृ० १८७) शेरशाह की मृत्यु (सं० १६०२) के बाद उसका बेटा इस्लामशाह गद्दी पर बैठा। उसने आठ वर्ष राज्य किया किंतु शासनकाल भाइयों के षड़यंत्रों तथा प्रांतीय विद्रोहों के कारण अव्यवस्थित रहा" (पृ० १८९) अकबर के आरम्भिक शासनकाल के विषय में वे लिखते हैं---"देश भर में विद्रोह अव्यवस्था, आंतरिक कलह फैल रहा था। इस दुर्दशा को दूर कर सुव्यवस्था स्थापित करना एक दुःसाध्य कार्य था (पृ० १९०) अस्तु स्पष्ट हो गया कि तुलसीदास की बाल्यावस्था क्योंकर कष्ट से बीती थी।

जन्मकाल और बाल्यावस्था—

ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसीदास के माता-पिता बालक तुलसी को परिस्थितिवश किसी निकट सम्बन्धी के आश्रय में भेजकर स्वयं किसी घटनाचक्र के कारण काल कवलित हो गए। समयानुसार इनके आश्रयदाता भी नहीं रहे। तुलसीदास अनाथ-अनाश्रित होकर इधर-उधर भटकने लगे।[1] ऐसी स्थिति में लोग उन्हें कुलक्षणी और अभागा मानकर अपने से दूर ही रखना चाहते

---

[1]—'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति'

वे। तुलसोदास ने स्वयं इस प्रकार के कथन किए हैं, जिनसे उनके माता-पिता द्वारा त्याग किये जाने की जनश्रु ति का समर्थन होता है, यथा—

(१) मात पिता जग जाइ तज्यों, विधिहु न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर-भाजन कादर कूकुर टूकनि लागि ललाई॥
क० उ० ५७

(२) जननि जनक तज्यो जनम करम बिनु, विधिहु सृज्यो अवडेरे॥
वि० प० २२७

(३) द्वारद्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनी, दस दिसा दुख दोष दलन-छम कियो न संभाषन काहू॥
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात पिताहू।
काहे को रोष दोष मोरे ही अभाग मोंसो सकुचत सब छुइ छाहूं॥
वि० प० २७२

किसी कारण से तुलसो के बंधु-बांधवों ने भी उनकी इस दशा में खोज-खबर न ली और समाज के लोगों ने भी उनके प्रति सहानुभूति और प्यार प्रकट करके कुछ किया नहीं।

(१) अगुन अलायक आलसो जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा के टोटक ज्यों,
औचट उलटि न हेरो॥

कुछ लोग इस कथन के आधार पर तुलसोदास को जार-सन्तान सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और अपने कथन के समर्थन में 'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात-पिताहूँ' उद्धृत करते हैं किन्तु इस मत का खंडन पहले किया जा चुका है। वहां देख लेना चाहिए।

शिशु अवस्था में तुलसीदास को संसार का बड़ा कटु अनुभव हुआ।[१] उन्हें 'बुरे-भले' सब लोगों से पाला पड़ा। उन्होंने समझ लिया कि संसार में सुहृद-मित्रों का व्यवहार भो दगाबाजी ही का सौदा-सूत है। लोग पैरों पर पड़ कर अपना काम निकाल लेते हैं, परन्तु बदले में दूसरे के लिए तनिक भी चिन्ता नहीं करते। यदि किसी की एक गुनी भलाई करते हैं तो उससे कोटि गुनी प्राप्ति को आशा रखते हैं यथा--

---

१—रिपुत्वं तु विपर्ययात् (अश्वघोष)
अर्थात् दुर्दिन में अपने लोग भी शत्रु हो जाते हैं।

(१ सुकृत कुकृत वश सबही के संग किए,
परखी पराई गति आपने हू कीयकी।
(२) नए नए नेह अनुभए देह गेह बसि परखे,
प्रपंची प्रेम परत उघरि सो ।। वि० प० २६३
सुहृद समाज दगा बाजी ही को सौदा सूत,
जब जाको काज तब मिले पायँ परिसो ।।

संसार की स्वार्थी प्रवृत्ति को देख उनके मन में वैराग्य की भावना धीरे-धीरे जमने लगी और वे साधु-सन्तों की संगति करने लगे। घट रामायण के अनुसार---

एक विधी विध रहौं सँभारे। मिलैं कोउ संत फिरौं तेहि लारे।
संत साथ मोहिं नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै॥

तुलसीदास के संत-समाज में जाने का परिणाम बड़ा सुखद और लोक मंगलकारी हुआ। सन्तों ने उन्हें राम की शरणागति प्राप्त करने का उपदेश दिया ;

(१) हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहूं सो कहुँ कतहुँ कोउ तिन कह्यो कोसल राज ॥' वि० प० २१६
(२) दुखित देखि संतन कह्यो सोचे जनि मन माहुँ।
तों से पसु पांवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुवीर ओर
निबाहू ।। वि० प० २६२

सन्तों का उपदेश सुनकर तुलसी का मन 'राम' में 'रम' गया क्योंकि बालक का मन सरल होता है। तुलसीदास को भी विश्वास हो गया कि राम ही से योग-क्षेम की रक्षा होगी, अस्तु राम के भजन-भाव में लग गए।

'बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो।'

ऐसी ही स्थिति में भाग्यवश इन्हें एक ऐसे सन्त का साथ मिल गया जो परम दयालु था, जनश्रुति इन्हें नरहरिदास के नाम से जानती है किन्तु तुलसीदास जी के कथन के अन्तर्साक्ष्य से विदित होता है कि वे गुरु स्वयं भगवान् राम थे, जैसा कि इस कथन से स्पष्ट है —

'आरत अनाथ-नाथ कोसल कृपाल पाल,
लीन्हो छीन-दीन देख्यो दुरित दहत हौं।।२

बूझ्यो ज्योंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हैं रावरो जू।
मेरो कोऊ कहूँ नाहि चरना गहत हौं॥
मींजी गुरु पीठ अपनाइ, गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा त्रिरद बहत हौं॥
वि० प० ७६।३

ऐसी ही परिस्थिति में उन्हें कभी मनुष्य रूपी गुरु भी मिल गए और इन्हीं गुरु के मुखारविंद से शूकरखेत में इन्हें रामकथा सुनने का अवसर मिला। यथा—

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सुशूकरखेत।
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
रा० च० मा०

गुरु के साथ तथा साधु समाज में रहकर इनको नाना प्रकार से रामकथा सुनने का अवसर मिला, शास्त्र-पुराणों का अध्ययन किया। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने १०-१२ वर्ष की अवस्था में साधु-समाज का साथ प्राप्त किया होगा और बीस वर्ष की आयु तक उनके साथ विद्याध्ययन भी एवं इसके बाद ही उनके गृहस्थ बनने की स्थिति उत्पन्न हुई।

उनके ग्रंथों के अंतर्साक्ष्य से यह विदित होता है कि इस अवधि में उन्होंने अपनी पैतृक सम्पत्ति या भूम्याधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया था किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्होंने अपने लिए कायर, कूर, कपूत, काहिल, आलसी; धींग, घमघूसर, कौड़ी आध को आदि शब्दों का प्रयोग किया है, यह उनकी उक्त परिस्थिति का ही सूचक है। ऐसी ही परिस्थिति में उन्हें कुल, कारनिक, राज-समाज और स्वार्थ के साथियों के कपट पूर्ण व्यवहार एवं असदाचरण का कटु-अनुभव हुआ[1] संसार में सर्वत्र अनेक दयालु और सक्षम पुरुष थे किन्तु इन्हें अकर्मण्य और निरर्थक समझकर इनकी सहायता किसी ने नहीं की।[2] इससे ज्ञात होता है कि इनके शत्रुगण अधिक प्रभावशाली एवं शक्तिमान थे तथा उनकी राज-समाज से घनिष्ठता थी। यही कारण है कि उनके विरुद्ध किसी ने तुलसीदास को सहायता करने को हिम्मत न की। अपने प्रयत्न में असफल और लज्जित होने से ही तुलसीदास ने, 'जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि'

१—जानीयात प्रेषणे भृत्यान् बांधवान् व्यसनागमे।
मित्रं चापत्तिकालेषु, भार्यां च विभवक्षये॥ चा० १।११

२—यस्यार्थः तस्य मित्राणि यस्यार्थः तस्य बांधवाः। चा० नी० ७।१५

राजापुर (बलिया) का त्याग कर उसीकी स्मृति में दूसरे राजापुर (बांदा) का निर्माण किया, उसे ही अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर वहीं अपनी गृहस्थी वसाई। बलिया और शाहाबाद जिलों के गंगा तटवर्ती गांवों में प्रायः नदी के द्वारा किनारा कटने का डर बना रहता है। नदी की धारा बराबर बदलती रहती है, इसलिए इन गांवों के निवासी धनी से धनी लोग भी पक्के मकान नहीं बनाते। अस्तु यहां केवल देवालय ही पक्के बनते हैं। क्या यह सम्भव नहीं कि अपनी जन्मभूमि राजापुर के अनुसार ही दूसरे राजापुर का भी निर्माण तुलसीदास ने किया और वहां देव मन्दिरों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पक्के मकान बनाना वर्जित कर दिया गया। मिट्टी का वर्तन बनाने के लिए चिकनी मिट्टी चाहिए। ऐसी मिट्टी बहुधा नदी तट वाले दियारे के गांवों में नहीं मिलती, जिससे कुम्हारों का निवास भी वहां नहीं होता, अस्तु यह भी सम्भव है कि तुलसीदास की जन्मभूमि में कुम्हारों की बस्ती नहीं होने से नवनिर्मित राजापुर में उन्होंने कुम्हारों की बस्ती नहीं वसाई। नाइयों और नर्तकियों के सम्बन्ध में भी यही सोचा जा सकता है क्योंकि अनुरूपता तो सब बातों में होनी चाहिए।

तुलसी ने अपने स्वार्थ के साथियों की कई स्थलों पर चर्चा की है, जिन्होंने उनका साथ छोड़ दिया था, और फिर मुड़कर भी उनकी ओर नहीं देखा। स्वार्थ के साथी वे ही लोग कहलाते हैं, जो तब तक साथ में रहते हैं; जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता रहता है या स्वार्थ सिद्ध होने की आशा बनी रहती है और जब स्वार्थ सिद्धि की सम्भावना नहीं रह जाती तो वे साथ छोड़कर दूर हट जाते हैं। तुलसीदास के स्वार्थ के साथियों का अभिप्राय भी ऐसे ही साथियों से है, अस्तु इससे यह झलक मिलती है कि तुलसीदास के माता पिता कोई समर्थ और जनपालक पुरुष थे। उनके आश्रय में पलने वाले लोग ही तुलसी के स्वार्थ के साथी थे क्योंकि उन्होंने तुलसी के मातृ पितृहीन और निस्सहाय हो जाने पर उनके पिता के उपकार के बदले उपकार करना तो दूर रहा, उनका साथ भी छोड़ दिया।

तुलसी के अपने लोगों ने भी उनका साथ नहीं दिया और उनसे किसी कारण दूर ही रहे। हो सकता है कि लोगों से उनके पिता को भी सहायता न मिली हो और वे अकेले पड़कर शत्रुओं द्वारा पराजित हुए हों, जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं—

आपन छोड़ो साथ जब, ता दिन हितू न कोय।

जब तक अपना आधार पुष्ट रहता है, तब तक दूसरे भी सुख पहुंचाते और मित्र बने रहते हैं, परन्तु जब असमय में अपनी जड़ कमजोर हो जाती है तो यही दशा होती है।

'भानु कमल कुल पोषनि हारा।
बिनु जल जारि करै तेहि छारा॥'

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी संघर्ष के अवसर पर बन्धु-बांधवों ने तुलसी के पिता का साथ नहीं दिया, अतः उन्हें शत्रुओं से भिड़ना पड़ा और इस भिड़न्त में उनका अन्त हुआ। तुलसीदास द्वारा—काल करम कुल कारनी कोऊ न कोंहातो (वि० प०)' कहने से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उनके कुल के लोग भी उनसे रुष्ट थे और इसी से उन्होंने साथ छोड़ दिया था। बन्धु-बांधवों द्वारा साथ छोड़ने के चार कारण हो सकते हैं—

(१) ईर्ष्या द्वेष, (२) स्वत्व का अपहरण या अपमान (३) लाभ की सम्भावना, और (४) दबाव पड़ना। तुलसीदास के इस कथन से कि—

'रामायन अनुहरत सिख, जग भयो भारत रीति।
तुलसी सठ की को गुनै, कलि कुचालि पर प्रीति॥
दो० ५४५

सामाजिक वातावरण को 'कलि की कुचाल' ने इस प्रकार विषाक्त बना दिया था कि सज्जनों के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। भाई को भाई के खून का प्यासा हो रहा था। सब कहीं अशांति, कलह और महाभारत का दृश्य था। रामायण की शिक्षा और राम-भरत का भ्रातृप्रेम कहने के लिए था, वस्तुतः व्यवहार में महाभारत की नीति का उपयोग किया जाता था। सम्भव है तुलसी की पारिवारिक स्थिति भी ऐसी ही रही हो, और तुलसीदास के पिता को अपने बाहरी शत्रुओं के साथ-साथ अपने भीतरी शत्रुओं का भी सामना करना पड़ा हो। बाहरी शत्रुओं पर बस चलता न देख, उस अपमान की बीज को घर ही में क्रियान्वित करने वाले लोगों की उस समय कमी नहीं थी—

फोरहिं सिल लोढ़ा सदन, लागे अढुक पहार।
कायर कूर कपूत कलि, घर घर सहस डहार॥

यह कैसे कहा जा सकता है कि तुलसी के बन्धु बांधवों में ऐसे 'कायर-कूर-कपूत-विघटन कारी' लोग न थे और तुलसीदास के माता-पिता उस संघर्ष से प्रभावित न हुए थे। उस समय तो ऐसी विघटनकारी संकीर्ण मनोवृत्ति ही चतुरता समझी जाती थी।

'पात पात के सींचिबो, बरी बरी के लोन।
'तुलसी' खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु कोन॥

संकीर्ण स्वार्थ की भावना से सामाजिक विघटन को तुलसीदास ने 'खोटा-चतुरपन' कहा है। इससे मनुष्य ठगा जाता है और उसे कष्ट ही होता है। कदाचित् तुलसी के बन्धु-बांधवों को भी अपने 'खोटे चतुरपन' का फल भुगतना पड़ा। इसी से उन्होंने सामाजिक-भावना से संगठन करने का उपदेश दिया है। साधारण जीवों का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

'गो खग, खे खग, वारि खग, तीनो माहिं विसेक।
तुलसी पीवें, फिरि चलैं, रहैं फिरैं संग एक॥ दो० ५३८

परन्तु उन कलियुगी मनुष्यों को क्या कहा जाय, जिनका सारा व्यवहार छल-पाखंड और दंभ से भरा हुआ है। जो संकीर्ण स्वार्थभाव से प्रेरित होकर प्रीति और सगाई भी करते हैं और एक दूसरे को ठगने में लगे हुए हैं—

'प्रीति सगाई सकल विधि, बनिज उपाय अनेक।
कल बल छल, कलिमल - मलिन डहकत एकहि एक॥ ५४०

दंभ सहित कलि - धरम सब, छल समेत व्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार॥ दो० ५४८

सभी अपनी-अपनी चिंता में अपना चूल्हा जलाने के फेर में पड़े हुए थे। उन्हें दूसरों के चूल्हें की ओर दृष्टि डालने का अवकाश कहाँ था ?

अनाथ तुलसी कहाँ नहीं गए, क्या नहीं किया और किस किसको सिर झुकाकर अपना कष्ट नहीं कहा, परन्तु कोई भी उनका कष्ट सुनकर उनकी सहायता करने के लिए तैयार नहीं हुआ।

'सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिनहिं बिलोकत हानि॥ ५४३

शरणागत को शरण न देना घोर पाप है इसलिए तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति भी शरणागत की रक्षा करता है (दो० ५४४) परन्तु उन्हें बार-बार प्रार्थना करने और गिड़गिड़ाने पर भी किसी ने शरण न दी, इसका कारण स्पष्ट है, इसमें वे अपना 'अनहित' समझते थे। 'अनहित' किसी शक्तिशाली शत्रु द्वारा ही संभव है। तुलसी को एक भी समर्थ पुरुष शरण देने वाला न मिला, इससे यह पता चलता है कि तुलसी का शासन से विरोध था और भय के कारण ऐसे शरणार्थी को कोई शरण देने के लिए तैयार न था। कलियुग में जहाँ स्वार्थ साधन के लिए ही

वाई और सौदावाजो की जाती है, भला कोई तुलसी को शरण देने का जोखिम किस लाभ के लिए उठाता ! यह सौदा महँगा दिखाई पड़ता था।

तुलसीकाल की सामाजिक-स्थिति, जिसका कि उन्होंने चित्राङ्कन किया है, उनका अपनी आंखों देखा अनुभूत चित्र है। उन्होंने आप बीती बताई है और उससे हम उस समय के समाज का दर्शन करते हैं। लोगों में सामाजिक और नैतिक भावना का ह्रास हो रहा था। उनमें न्याय का समर्थन और अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता नहीं रह गई थी। व्यक्तिनिष्ठता इतनी बढ़ गई थी की व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन की दृष्टि से ही लोग सोचते थे और किसी न किसी प्रकार दूसरों को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करने को हो बुद्धिमानी समझते थे। इस खोटो चतुराई का कुफल सभी को भोगना पड़ता था, फिर भी वे सामाजिक आधार पर कुछ नहीं साचते थे और न सामाजिक संगठन के महत्व को समझते थे। इससे बढ़कर सामाजिक खोखलापन क्या हो सकता है, जबकि प्रीति और सगाई का आधार भो त्याग और सेवा भाव न होकर संकीर्ण और कलुषित स्वार्थ-भावना हो गई थी। सामाजिक अंकुश कुंठित हो जाने से सामाजिक नियंत्रण भंग हो गया था। लोग मनमाना आचरण करते थे, उन पर किसी का प्रतिबन्ध न था। शास्त्र-पुराण वन में जा छिपे थे क्योंकि उनको सुनने वाला काई न था। ऐसी स्थिति में आँख उठाकर तुलसी की ओर कौन देखता और उनको दुःख गाथा क्यों सुनता ?

रोग-दुःख और बुढ़ापा

कवितावली और हनुबाहुक से ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी अन्तिम अवस्था में रोग-ग्रस्त हो गए थे। उन्होंने रोग मुक्ति के लिए भगवान शंकर, श्री रामचन्द्र जी और हनुमान जी से प्रार्थना भी की, यथा —

'अधिभूत वेदन विषम होत भूतनाथ।
तुलसी विकल पाहि, पचत कुपीर हौं।
मारिये तो अनायास, कासीबास खासफल,
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं क० उ० १६६

'गौतम चन्द्रिका' के अनुसार सं० १६६८ के बाद आधा आषाढ़ बीतने पर गोस्वामी जी को दाहिनी बांह में घोर पीड़ा उत्पन्न हुई और क्रमशः यह पीड़ा सारे शरीर में व्याप्त हो गई, परन्तु उसका निवारण भी हनुमान जी की कृपा से श्रावण मास तक हो गया, यथा —

'सोलह सौ अठसठि गति बीती। आगिलदसा चली विपरीती॥
तुलसी बाहु बढ़ी तनु पीरा। ताहि निबारे हनुमत बीरा॥
आघ असाढ़ पीर भई जोई। सावन मास निवरि गई सोई॥

इसी पीड़ा के निवारणार्थ गोस्वामी जी ने अनेक यन्त्र-मन्त्र-टोटका, औषधि-उपचार आदि किए। देवताओं से प्रार्थना की किन्तु जब किसी प्रकार लाभ न हुआ तो हनुमान ज़ी की शरण में गए और हनुमान वाहुक की रचना की। बाँह की असह्य घोर पीड़ा का वर्णन करते हुए कहते हैं —

आपने ही पापतें, त्रितापतें कि सापतें,
बढ़ो है बाँह वेदन सही न कही जाति है।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए,
बादि भए देवता मनाए अधिकाति है॥ ह०वा०३०

और 'काल की करालता, करम कठिनाई कैंधों,
पाप के प्रभाव कि सुभाय बाय बावरे।
वेदन कुभाँति को सही न जाति रातिदिन,
सोई बाँह गही जो गही समीर डाबरे॥ ह० वा० ३७

बाँह में उत्पन्न हुई बात की पीड़ा पीछे से उनके जराग्रस्त सारे शरीर में फैल गई थी, यथा —

'पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर मुँह पीर,
जराजुर सकल सरीर पीर भई है।
देवभूत पितर करम खल कालग्रह,
मोहिं पर दवरि कमान कसी दई है॥ ह० बा० ३८

इस कष्ट से हनुमत्कृपा होने पर उन्हें मुक्ति मिल गई जैसा कि वे स्वयं कहते हैं —

'खाए हुतो तुलसी कुरोग राँढ़ राकसिनि,
केसरी किसोर राखे वीर बरियाई है॥ ह० बा० ३५

बाहु-पीड़ा की शान्ति के कुछ दिनों बाद कभी गोस्वामी जी को फोड़े-फुन्सी का भी कष्ट सहना पड़ा। इसका कारण उन्होंने प्रतिष्ठा के बढ़ जाने से श्रीरामचन्द्र जी के भजन भाव में शिथिलता का हो जाना माना, यथा —

नीच यहि बीच पति पाइ भरुहाइगो,
विहाय प्रभु भजन वचन मन काय को।
तातें तनु पेखियत घोर बरतोर मिस,
फूटि-फूटि निकसत है लोन रामराय को॥ ह० बा० ४१

इस रोग की निवृत्ति कब और कैसे हुई, इसके विषय में कुछ निश्चित रूप नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह ज्ञात होता है कि उनको जरावस्था व्याधिग्रस्त होने के कारण भो जर्जर हो गई थी जिसके कारण वे जीने की क्षा मरने की ही अभिलाषा रखते थे। निम्नांकित कवित्त जीवन के प्रति ही उपेक्षा भाव और उदासीनता को प्रकट कर रहा है —

'जीयों जग जानकी-जीवन को कहाय जन,
मरिबे को बारानसी बारि सुरसरि को।
तुलसी को दुहू हाथ मोदक है ऐसे ठाउँ,
जाके मुए जिए सोच करिहैं न लरिको॥ ह० बा० ४२

और—'जीवे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं,
मालुम है तोंहिं मरिबेई को रहत हौं।

× × ×

ज्याइये तो जानकी रमन जन जानि जिय,
मारिए तो मांगी मीच, सूधिए कहत हौं॥ क० उ० १६७

परन्तु मांगने म न मृत्यु ही मिली और न रोग कष्ट ही दूर हुआ अस्तु अन्त में निम्नांकित निवेदन कर चुप हो गए —

कहौं हनुमान सों सुजान रामराय सों,
कृपा निधान शंकर सावधान सुनिए।
तुमते कहा न होइ, हाहा, सो बुझैये मोहिं,
महूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिए ह० बा० ४४

उनका अन्तिम जीवन 'चरम वैराग्य' और सांसारिक जोवन से निराश की स्थिति में वीत रहा था, जैसा कि लिखे कथन से व्यक्त है —

,कियो न कछू, करिबो न कछू;
कहिबो न कछू मरिबोइ रह्यो है। (क० उ० ६१)

महा-प्रस्थान

'गौतम चन्द्रिका' में गोस्वामी जी के महाप्रस्थान का विवरण निम्नांकि शब्दों में दिया है —

तुलसी निकट बुढ़ाई आई । रामधाम के खबरि जनाई ॥
जग अनित्य महँ नित्य विलासा । कोजिए विस्ववासपुर वासा ॥
तनु ऊन दून मानस बल । हरिहिं समरपे सकल सुकृत फल ॥
अहंकार-मन-मति-चित असी । जीवन मुक्त भक्ति अवतसो ॥
अकल सकल गुन दोष बिहाई । अचल सनेह समाधि लगाई ॥
सोरह अनुगुन असो बय तुलसी सहित हुलास ।
'राम-राम' कहि विदा ह्वै, असी गंग किय बास ॥
रामकृपा हुलसी जनित तुलसी बिरवा सोइ ।
लै हलरावति सुरधुनी, जल अचल महँ गोइ ॥'

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने सम्पूर्ण कर्मफल भगवान को समर्पित कर तथा मन-बुद्धि-चित्त अहंकार का लय कर समाधिस्थ हो ८० वर्ष की आयु में शरीर का त्याग किया था। शरीर का त्याग करते समय सामने गंगातट पर एक क्षेमकरी आ बैठी। इसे उन्होंने बड़ा शुभ-शकुन माना क्योंकि यात्रा काल में क्षेमकरी का दर्शन शुभ माना जाता है। अस्तु निम्नांकि सवैया कहकर भगवान में लीन हो गए —

'कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचन्द सो चंदन होड़परी है।
बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गौरि कि गंग विहंगनि वेष कि मंजुलमूरति गोद भरी है।
पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच-विमोचन छेम करी है॥
क० उ० १८०

गोस्वामी जी की निधन तिथि के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है —

संवत् सोलह से असो असी गंग के तीर ।
सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तज्यो सरीर ॥

इसी तिथि को टोडर के वशज आनन्द बहादुर सिंह (भू० पू० सम्पादक सन्मार्ग, वाराणसी) के यहां प्रति वर्ष परम्परा से ब्राह्मण भोजन कराया जाता है । अतः निधन के सम्बन्ध में उक्त तिथि ही मान्य है।

हनुमत्कृपा

श्री हनुमान जी की कृपा का तुलसीदास के जीवन से बड़ा घनिष्ठ संबंध । उन्होंने हनुमत्कृपा की स्थान-स्थान पर सूचना दी है जो उनको बाल्यावस्था ही प्राप्त होती रही, यथा—

'बालक बिलोकि बलि बारे तें आपनो कियो,
दीनबन्धु दया कीन्हीं निरुपाधि न्यारिए ।
रावरो भरोसो तुलसी को रावरोई बल,
आस रावरी ए दास रावरो विचारिए ॥ हु० बा०

वे कहते हैं —'साहेब कहूँ न राम सौं तोसों न वसीले'—वि० ३२।१

और—'खाई खोंची मांगि में तेरो नाम लिया रे ।
तेरे बल बलि, आजु लौं जगजागि जियारे ॥ बि० ३३।४

तो इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि श्री हनुमान जी से बढ़कर कोई दूसरा नका सहायक न था। श्री हनुमान जी का नाम उन्होंने सदा लिया और चो माँग कर अपना भरणपोषण किया और उन्हीं की कृपा से माया-मोहमय सार रूपी रात्रि से जागरण प्राप्त किया था।[1] तुलसी की विगड़ी हुई बात न्होंने बना दी थी। तुलसी पर उनकी कृपा निरुपद्रव और निराली थी—

'बिगरी सेवक की सदा साहेबहिं सुधारी ।
तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निरारी ॥ वि० ३४।५

श्री हनुमान जी भगवान शिव के अवतार हैं।[2] वही भगवान शिव जो शी में 'राम मंत्र' के उपदेश द्वारा 'कीट-पतंग' को भी मुक्त करते हैं जो वक-स्वामि-सखा-सियपीके' कहे गए हैं। यही नहीं जिन्होंने 'राम' की भी बिगड़ी बनाई है, यथा—

'पाहि रघुराज ! पाहि कविराज ! रामदूत !!
रामहू की बिगरी तुहीं सुधारि लईहै ॥ क० उ० १७६

श्री हनुमान जी ने तुलसीदास की गई हुई प्रतिष्ठा को लौटाया था यथा—

'तुलसी फल चारों करतल गत गावत, गई बहोर को ॥ वि० ३१।६

---

[1] —तेरे बल बलि, आजु लौं जग जागि जियारे । वि० ३३।४

[2] —वानराकार-विग्रह-पुरारी । वि० २७।१

और 'कुरोग-रांड़ राकसिनि' से उनका उबार किया था यथा—

> 'खाए हुती तुलसी कुरोग रांड़ राकसिनि,
> केसरी किसोर राखे बीर बरियाई है ॥ ह० बा० ३१

इतना ही नहीं जब ये लोकरीति में पड़कर 'खोटे खोटे आचरण' करते लगे तो श्री हनुमान जी ने ही अपने पवित्र हाथों से उनका संशोधन कर उन्हें अपना बना लिया था।

> 'खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
> अंजनी कुमार सोध्यो राम पानिपाक हौं ॥ ह० बा ४०

श्री हनुमान जी और भरत जी की हो रुचि जानकर लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से विनय पत्रिका' पर भगवान राम की स्वीकृति के लिए सिफारिश की थी तथा भगवान ने प्रसन्न होकर तुलसीदास की बांह पकड़कर उन्हें अभयदान दिया था।

> 'मारुति मन, रुचि भरत की लखि लखन कहीहै,
> कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बांह गही है॥
> वि० २७६

श्री हनुमान जी ने तुलसीदास की बांह पकड़ी थी।[1] उन्होंने तुलसीदास को बन्दीगृह से मुक्त किया था[2] वे शिव रूप होने से तुलसीदास के पिता-माता थे[3] और रामसीता का स्वय सेवक होने से इसके नाते भी उनके परम सहायक थे।[4] श्री हनुमान जी से तुलसीदास का मन कभी नहीं फिरा[5] वे तुलसी के

---

[1]—सोई बांह गही जो गही समीर डावरे। ह० बा० ३७

[2]—बन्दि छोर विरुदावली निगमागम गाई। वि० ३५।६

यह तो प्रसिद्ध ही है कि जहांगीर ने गोस्वामी जी को बन्दी बनाया था परन्तु जब उन्होंने श्री हनुमान जी का स्मरण किया तो दुर्ग में हजारों बन्दर प्रकट हो गए और उत्पात करने लगे जिससे भयभीत होकर उसने गोस्वामी जी को मुक्त कर दिया। विनय पत्रिका में संगृहीत पद ३१ से ३५ तक इसी अवसर पर रचे गए कहे जाते हैं।

[3]—प्रणत तुलसिदास तात-माता ! वि० २८।६

[4]—तेरे स्वामी राम से स्वामिनी सियारे,
तहँ तुलसी को कौन ? को काको तकियारे ? बि० ३३।७

[5]—जो तो सों होतो फिरो मेरो हेतु हिया रे ।
तो क्यों वदन दिखावतो कहि बचन इयारे ॥ वि० ३३।५

इष्ट थे उनको उनकी सहायता का पूरा विश्वास था इसलिए किसी भी प्रकार की विघ्न बाधा उपस्थित होने पर वे उनकी पुकार करते थे, यथा—

‘कहौं हनुमान सों सुजान राम राय सों,
कृपा निधान संकर सावधान सुनिए ॥ ह० बा० ४४

श्री डा० माताप्रसाद गुप्त ने ‘खाई खोंची माँगि के तेरो नाम लियारे’ कथन के आधार पर यह अनुमान किया है कि इनका सबंध बाल्यावस्था में किसी ‘हनुमान मन्दिर से था[1] किन्तु मेरा अनुमान है कि तुलसीदास ऐसी वंश परम्परा में उत्पन्न हुए थे, जहां श्री हनुमान जी की पूजा कुल-देवता की भांति होती थी। श्री हनुमान जी पूर्वीय उत्तर प्रदेश और बिहार के जमींदार ब्राह्मणों के यहां प्रायः घर-घर इसी प्रकार पूजित हैं अस्तु यह मानना युक्तियुक्त होगा कि उनको हनुमान की निकटता वंश परम्परा और कुलाचार के संबंध से प्राप्त हुई। (दे०—चतुर्मुख सं० २०२१ अ० ४ पृ० ३१, ३६) खोंची तो कोई भी साधु बाजार से निकालता है, केवल ‘हनुमान-मन्दिरों’ के लिए ही खोंची नहीं ली जाती। भोजपुरी प्रदेश के लोग प्रायः किसी प्रकार भय और संकट उपस्थित होने पर श्री हनुमान जी का स्मरण करते और प्रसाद चढ़ाते हैं। कान्यकुब्ज प्रदेश से पूर्व में आने वाली जातियों को विशेषकर भूमिहार-ब्राह्मणों को इस बात का पूरा विश्वास है कि श्री हनुमान जी उनकी रक्षा में सदा तत्पर रहते हैं। इसलिए उनके घरों में प्रायः हनुमान जी का स्थान होता है एवं ध्वजारोपण किया जाता है। उक्त वंश में श्री रामचन्द्र जी के आदेशानुसार ‘हनुमत्पूजा’ की परम्परा बहुत पुरानी है, इसलिए तुलसीदास का यह कथन ‘सीतापति साहिब सहाय हनुमान नित’ (ह० बा० ४३) को स्कंद पुराण के निम्नांकित कथन से मिलाया जा सकता है—

वायु पुत्र महावीर तव पूजा भविष्यति ।
अस्य क्षेत्रस्य रक्षायै त्वमत्र स्थिति माचरः ॥ स्कं० पु० ध० म० ३३।५३
अदृष्ट रूपी हनुमाँस्तत्र भ्रमति नित्यशः ।
त्रैविद्या वाडवा यत्र चातुर्विद्यास्तथैव च ॥ वही ४०।५२

बालकों के मन पर श्री हनुमान जी का विशेष प्रभाव होता है क्योंकि वे श्री हनुमान जी का स्मरण करते हुए कहीं भी चले जाते हैं और भयभीत नहीं होते। वे प्रायः परीक्षाकाल में और आवश्यकता के समय हनुमान जी की मनौतियां करते हैं। इस प्रकार देशाचार के अनुसार भी तुलसीदास पर श्री

---

[1] तुलसीदास पृ० १६९

हनुमान जी का पूरा रंग चढ़ा हुआ था और अपने उद्धार के लिए पूरे विश्वास के साथ उन्होंने श्री हनुमान जी का पल्ला पकड़ा था।

वीर जातियों में वीरता के प्रतीक की उपासना होती है। तुलसीदास जी का जन्म भी ऐसी ही जाति में हुआ था, इसलिए हनुमान जी की निर्भीकता, साहस, और वीरता का उन्होंने बड़ा विशद वर्णन किया है एवं युद्ध के सुन्दर चित्र खींचे हैं, जिसे कवितावली के सुन्दरकांड और लंकाकांड में देखा जा सकता है, यथा—

दबकि दबोरे एक बारिधि मे बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखन राम रावन बिबुध, बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिकासिहात हैं।
बड़े-बड़े बान इत वीर बलवान बड़े,
जातुधान जूथप निपाते बात जात हैं॥
क० उ० ४१

तुलसीदास की कथित जन्मभूमि राजपुर (वलिया] से मिला हुआ 'बजरहाँ' नामक स्थान है, जहाँ तुलसीदास की वंश परम्परा के ब्राह्मण भी निवास करते हैं। इस स्थान का नाम स्पष्ट रूप से 'श्री बजरंग बली हनुमान जी' के नाम पर पड़ा है। इससे यह प्रकट होता है कि तुलसीदास का श्री हनुमान जी से परम्परया निकट सम्बन्ध था एवं इसी आधार पर उन्होंने श्री हनुमान जी के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा और विश्वास प्रकट किया है तथा समयानुसार उनसे सहायता की याचना की है। हनुमत्कृपा से ही तुलसीदास को रामभक्ति का प्रसाद मिला और रामचन्द्र जी का दर्शन सुलभ हुआ।

पर्यटन

गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि गोस्वामी जी ने प्रायः सभी तीर्थों की यात्रायें की थीं और कहीं-कहीं कुछ काल तक निवास भी किया था। वे मार्गशीर्ष मास में काशी से जनकपुर गए। वहां इनकी विद्यापति ठाकुर के वंशज रमाबन्धु ठाकुर से जान पहिचान हुई। गोसाई-चरित के अनुसार वे मार्ग

विशालापुरी (आधुनिक 'बनिया बसाढ़) के जमीदार के यहां ठहरे थे और ब्राह्मणों के बारह गांवों की माफी जिसे किसी मुसल्मान शासक ने ले या था, पुनः लोटवाया था ।

अठाइस वर्ष की आयु में उन्होंने काशी के बहुत से साधु सन्तों और मित्रों के साथ हरद्वार होते हुए नरनारायण, केदारनाथ, गंगोत्री जमनोत्री, मानसरोवर और कैलास की यात्रा की और दो-ढाई वर्ष के बाद अयोध्या लौट आए तथा हीं 'राम चरित-मानस' का प्रारम्भ किया। वे प्रायः प्रतिवर्ष माघ में प्रयाग, फाल्गुन में चित्रकूट, चैत्र में अयोध्या और शेष महीनों में काशीवास करते थे। द्वार, उज्जैन, नासिक और प्रयाग के चढ़ाव की भी यात्रा की थी। गंगा-सागर, पुरी, रामेश्वर तथा कन्याकुमारी का भी दर्शन किया। द्वारका, प्रभास क्षेत्र और सुदामापुरी भी गए। स्यमन्तक तीर्थ और कुरुक्षेत्र में रहकर महाभारत का पाठ किया। वहां से पुष्कर गए और फिर वहां से लौटकर वृन्दावन आए। हां से नर्मदा और फिर गया, जाकर देव ऋषि-पितृ श्राद्ध किया एवं काशी वाल्मीकि रामायण का श्रवण किया। दूसरी यात्राओं में नैमिषारण्य कौंट-बहादुर, भृगु क्षेत्र पुरुषोत्तमपुरी (सिकन्दरपुर) बगसर और बादशाह के बुलाने र दिल्ली भी गए ।

निवास-स्थान

गोस्वामी जी अपनी जन्मभूमि से स्यात कुछ काल के लिए जन्मते ही अलग र दिए गए थे[१] जैसी कि जनश्रुति है और वे स्वयं भी कहते हैं—

'जननि जनक तज्यो जनमि करम विनु, विधिहु सृज्यो अवडेरे।'

और भी अनेक स्थानों पर उन्होंने व्यक्त किया है कि उनकी पैतृक भूमि, गृह और ग्राम उनके अधिकार से निकल चुके थे तथा वे बेठांव-ठिकाने के हो गए थे। यथा—

'ठाउँ न समाउँ कहाँ? सकल निरयने' और 'बीजे न ठाउँ,
त आपन गाउँ सुरालय हूँ को न सम्बल मेरे।'

गुरु का साथ हो जाने पर उन्होंने अवश्य तीर्थों में और गुरु-आश्रम में निवास किया होगा। ऐसी ही स्थिति में उन्होंने अपने गुरु द्वारा 'सूकर—खेत' में रामकथा सुनी थी। गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि कुछ काल के लिए वे गुरु से अलग होकर चित्रकूट के निकट वाल्मीकि-आश्रम में तपस्या की

---

[१] —कष्टात् कष्टतरं चैव परगेहे निवासनम्—चा० २।८

थी और इस अवधि में उन्होंने पाँच वर्ष तक विवाहित जीवन भी बिताया था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उनका विवाहित-जीवन राजापुर (बाँदा) में रहकर ही व्यतीत हुआ।

पत्नी का उपदेश पाकर वे काशी चले आए। तबसे उनके जीवन का अधिक समय यहीं बीता। वृद्धावस्था में काशी छोड़ वे अन्यत्र कहीं नहीं गए और यहीं शरीर त्याग किया। गौतम चन्द्रिका के अनुसार पहले शिवकेदार के पास महात्मा आनन्दकानन के यहां रहते थे, बाद में अपने मित्र टोडर के कहने से असी पर चले आए। यहां जिस स्थान पर वे रहते थे, वह स्थान 'तुलसीदास का स्थान' और तुलसी घाट के नाम से प्रसिद्ध है। उनके विवरणों से तत्कालीन काशी के सम्बन्ध में कई बातों का पता चलता है। एक बार काशी के किसी शासक ने काशी को अन्याय पूर्वक लूट-खसोट की थी एवं ब्राह्मणों को भी कष्ट दिया था, यथा—

'मारग मारि, महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकट कोप सों पाप को दाम परीच्छित जाहिगो जारि कै हीयो॥
कासी में कंटक जेते भए ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो॥
आजु कि कालि परौ कि नरौं जड़ जाहिगे चाटि दिवारी को
दीयो ॥ क० उ० १७६

गोस्वामी जी के एक कवित्त से पता चलता है कि एक बार मीन-राशि में शनैश्चर की स्थिति होने पर काशी वासियों का बड़ा कष्ट हुआ। उस समय की स्थिति का विवरण वे इस प्रकार देते हैं—

'एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामैं,
कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की।
वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की॥

मीन के शनैश्चर की स्थिति काल गणना के अनुसार सं० १६६९ से १६७१ तक थी। इसीके लगभग काशी को कलिकाल की बड़ी कराल 'कदर्थना' भोगनी पड़ी। गोस्वामी जी ने आठ कवित्तों में काशी में फैली हुई संकट की स्थिति और महा-भयानक महामारी का वर्णन किया है। उस समय न काशी-वासियों पर देवताओं की दया थी और न देश के शासक की ही कृपा। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने काशी को संकट-मुक्त करने के लिए भगवान शंकर, भगवती

श्री रामचन्द्र जी और हनुमान जो की प्रार्थना की है। एक कवित्त इस प्रकार है—

'संकर सहर सर, नरनारि बारिचर,
विकल सकल महामारी माजा भई है।
उछरत उतरात, हहरात मरिजात,
भभरि भगान जलथल मीचु मई है॥
देव न दयाल, महिपाल न कृपालु चित,
वारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज ! पाहि कपिराज रामदूत !
रामहू की बिगरी तुही सुधारि लई है॥

श्री हनुमान जी और श्री रामचन्द्र जो ने गोस्वामी जो की प्रार्थना सुन ली थी और कुछ काल में काशी को महामारी के चंगुल से निकाल लिया था।

गौतम चन्द्रिका के अनुसार एक बार गंगा में बड़ी भयानक बाढ़ आई। तुलसीदास ने उसकी निवृति के लिए व्रतपूर्वक गंगा का पूजन किया था, फलस्वरूप बाढ़ का पानी उतर गया किन्तु इस घटना से उनकी ख्याति विशेष बढ़ गई।[1] यह घटना उस समय की है, जब वे शिवकेदार पर रहते थे अर्थात् सं० १६२८ के पूर्व की।

काशीपुरी गोस्वामी जी की सर्वाधिक प्रियभूमि थी। उन्होंने विनय पत्रिका के एक पद में 'सेइय कामधेनु कलिकासी' कहकर उसकी प्रशंसा की है। उनका दूसरा प्रिय स्थान चित्रकूट ज्ञात होता है। यहीं उनको श्री रामचन्द्र जी का दर्शन हुआ था। वे यहां सर्वदा श्रीराम-लक्ष्मण-सीता का निवास मानते हैं। श्री रामचरित-मानस में उन्होंने चित्रकूट को 'कलि के पाप रूपी सावज का शिकार करनेवाला अचल अहेरी' कहा है। विनय-पत्रिका में कहते हैं—

'सब सोच विमोचन चित्रकूट। कलि हरन करन कल्यान बूट॥
भव घोर घाम-हर सुखद छाह। थप्यो थिर प्रभाव जानकी नाह॥
साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ॥
रस एक, रहित गुन करम काल। सियराम लखन पालक कृपाल॥
तुलसी जो राम पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि
नेम॥ २३॥

१—हर हरषे गंगा बढ़ी सावन भादो संग।
तटवासी नरनारि घर बाढ़ेउ त्रास तरंग॥
आनन्दकानन मन्त्रबल, तुलसी व्रत बल पाय।
पुरजन पूजन बस भई सुषदा गंगा माय॥

और—'अब चितचेतु चित्रकूटहिं चलु।
कोपित कलि लोपित, मंगल मगु, विलसत बढ़त मोह माया मलु॥
भूमि विलोकु राम पद अंकित, बन बिलोकु रघुवर विहार थलु॥
सैल सृंग भवभंग हेतु लखु, दलन कपट-पाखड दभ दलु॥
न करु विलंव बिचारु चारु मति, बरष पाछिले सम अगिले पलु।
मंत्र सो जाइ जपहिं जो जपि भे, अजर अमर हर अचइ हलाहलु।२४।

अपने अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने चित्रकूट का इसी रूप में वर्णन किया है, यथा—

'तुलसी जो राम सों सनेहु साँचो चाहिए तो.
सेइए सनेह सो विचित्र चित्रकूट सो॥ क०उ०१४१

और—'पय नहाइ फल खाई जपु राम नाम षट्मास।'—र०प० ७.४।

ज्ञात होता है पनासा (प्रयाग) में व्याह होने पर तुलसीदास उस स्थान को अपनी निवासभूमि न वना सके क्योंकि ससुराल में निवास उचित नहीं माना जाता। अपना घर कलि की कुचाल, राज समाज और कुसाज और वंधु-विरोध के कारण छुट चुका था, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

'जीवे को ठाउँ न आपन गाउँ, सुरालय हू को न संबल मेरे।'

बधु-बांधवों के दुर्व्यवहार का भुक्त-भोगी होने से गांव के लोगों के प्रति इनके मन में ममता कम हो गई थी। यह बात निम्नांकित दोहे से प्रकट होती है—

"तुलसी तहाँ न जाइए, जहाँ जन्म को ठाँव।
गुन अवगुन जानैं नहीं, धरै पाछिलो नाँव।

'पाछिलो नांव' क्या है? वही वाल्यावस्था का दुःख दैन्य, जिसकी विज्ञप्ति उन्होंने डंके की चोट की है किन्तु अपना आप दोष-दर्शन, जो साधुता का सूचक है, वही दूसरे के मुँह से सुनने पर अपमान होता है। ऐसी स्थिति में कहने के लिए, उनका अपना घर रह गया होगा, पनासा (प्रयाग) जिसके विषय में उनका कथन है—

'घर कीन्हें घर जात है, घर छांड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही, राम प्रेमपुर छाय॥ दो० २५६

राजापुर 'पनासा' और 'चित्रकूट' के मध्य मार्ग में ही विद्यमान है। राजापुर (बाँदा) को क्यों बसाया गया अथवा विक्रमपुर का नाम ही बदल कर 'राजापुर' क्यों कर दिया गया, विचारणीय है। तुलसी ने इस 'राम प्रेमपुर' में घर-वन दोनों को समेट लिया अर्थात् वन में ही घर अर्थात् जन्मभूमि का

निर्माण किया। यमुना तट का 'राजापुर' गंगा तट के राजापुर का नव्य प्रतीक बन गया और 'यमुना जी' ने इसे ही अपना घर माना।

कदाचित् तुलसीदास पत्नी से फटकारे जाने के बाद चित्रकूट से होकर ही काशी गए क्योंकि वे कहते हैं—'अब पतन के भय से भयभीत हूं, इसलिए कलि को कुचाल देख 'रक्षार्थ' चित्रकूट गया। चित्रकूट वह अचल अहेरी है जो 'पाप-सावज' की घात में बैठकर सदा उसका संहार करता रहता है। इस कार्य में उसका निशाना कभी नहीं चूकता। सीता-लक्ष्मण के साथ श्री रामचन्द्र जी भी सदा चित्रकूट में निवास करते हैं। अतः यहां पर 'श्री राम-नाम' का जप जापक की सभी इच्छाओं की पूर्ति करता है। यहाँ पर श्री रामचन्द्र जी ने 'काम' को विश्व-विजयी वर देकर यह स्वीकृत करा लिया कि वह 'रामभक्तों' को कष्ट न देगा। इसलिए सच्ची लगन वाले रामभक्त को काम का भय नहीं। उसके लिए तो चित्रकूट में राम का सदा सान्निध्य होने से भक्ति साधना सुलभ है। इसी से विचित्र चित्रकूट की सेवा स्नेह से करने योग्य है। 'माया रूपी नारी' के फेर में पड़े हुए तुलसी को पुनः माया ने दर्शन न दिया। वहाँ उन्होंने केवल राम-लक्ष्मण का ही दर्शन किया। ये दोनों ज्ञान-वैराग्य के रूप हैं। ज्ञान-वैराग्य का उदय होने पर वे काशी आए। सच्चे काशीवासी को माया कहाँ? राम-लक्ष्मण के साथ उन्होंने सीता की शक्ति रूप में आराधना की, माया का प्रतीक मानकर नहीं।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने चित्रकूट की कतिपय बार सेवन किया था और यह उनकी साधना भूमि थी। यह भी संभव है कि उन्होंने गुरु नरहरि दास के साथ भी चित्रकूट की यात्रा की हो और वहाँ कुछ काल तक निवास किया हो। चित्रकूट के दृश्यों का उन्होंने सुन्दर वर्णन किया है तथा यह वर्णन वर्षा, बसन्त आदि सभी ऋतुओं का है। चित्रकूट ही वह स्थान है जहाँ श्री गोसाईं जी की साधना के फूल फलित हुए किन्तु कदाचित इसी क्षेत्र में आकर वे 'लोकरीति' में भी पड़ गए[1] तथा कुछ काल के लिए श्री रामचन्द्र जी से विमुख हो गए थे —

> परयो लोक-रीति में पुनीत प्रीति पाय राम,
> मोह बस तोरि बैठ्यो तरकि तराक हौं ।।ह० बा० ४०।

चित्रकूट में भी 'कलि' अपनी 'कुचाल' से बाज नहीं आया, अस्तु वे फिर

---

[1] —कदम इंसाँ का राहे देहर में थर्रा ही जाता है।
चले बचकर कोई कितनाही ठोकर खा ही जाता है।
नज़र हो ख़ाह कितनी ही हक़ायक़-आशना फिर भी,
हजूमे-कशमकश में आदमी घबरा ही जाता है। —अज्ञात

उसकी कुचाल के शिकार न हों, इसके लिए सदा सावधान रहते और उससे रक्षा के लिए श्री रामचन्द्र जी से दुहाई देते रहते थे—

'बीच पाइ एहि नीच बीच ही छरनि छर्‍यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो नृप ते भिखारि करि सुमति ते कुमति
कर्‍यो हौं।
अगनित गिरि कानन फिर्‍यो, बिनु आगि जर्‍यो हौं।
चित्रकूट गए हौं लखि कलि की कुचालि सब, अब
अपडरनि डर्‍यो हौं॥
माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‍यो हौं।
चीन्हो चोर जिय मारि है, तुलसी सो कथा सुनि,
प्रभु सों गुदरि निवर्‍यो हौं॥ विनय० २६६।

काशी और चित्रकूट के मध्य की भूमि गोस्वामी जी को विशेष परिचित जान पड़ती है। कवितावली में तीर्थराज प्रयाग के सगम का वर्णन, सीता वट की प्रशंसा और विनय-पत्रिका में यमुना स्तुति से प्रकट है कि उन्होने वहुत वार इस भूमि का पर्यटन किया था। सम्भव है ऐसे ही पर्यटन में उन्होने पनासा में विवाह और राजापुर को बसाकर वहाँ निवास किया हो। पनासा और राजापुर (बाँदा) दोनों स्थानों में संकट मोचन हनुमान जी के विग्रह उनके द्वारा स्थापित कहे जाते हैं और यह भी कहा जाता है कि दोनों का आकार-प्रकार एक जैसा है।

गोस्वामी जी ने अयोध्या में रहकर ही श्री रामचरित मानस की रचना की। अयोध्या श्री रामचन्द्र जी को अवतार भूमि और रामभक्तों का सर्वप्रिय स्थान है। रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने अयोध्या की स्तुति की है और स्वयं भगवान राम के मुख से भी उसकी प्रशंसा कराई है—

'जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि। उत्तर दिसि सरयू बह पावनि॥
जा मज्जहिं सो बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥
अति प्रिय मोहिं यहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुख रासी॥
जदपि सब बैकुंठ बखाना। मोहिं न सो प्रिय अवध समाना॥

यह होते हुए भी ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी ने अयोध्या में अधिक दिन निवास नहीं किया था। उन्होंने काशी, चित्रकूट, गंगा आदि की भाँति अयोध्या और सरयू का स्वतन्त्र रूप से कहीं वर्णन नहीं किया है। यद्यपि रामचरित का अवगाहन ही उन्होंने 'मानस नंदिनी सरयू' के रूप में किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अयोध्या के किसी भी मन्दिर के भगवद् विग्रह का वर्ण

नहीं किया है जबकि काशी के तीर्थों, मन्दिरों और विग्रहों का वर्णन विनय-पत्रिका, कवितावली आदि में पाया जाता है। अस्तु इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों अयोध्या में कोई प्रसिद्ध राम मन्दिर न था। संभवतः उसे मुसलमानों ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया हो, जैसा कि जन्म-स्थान पर बाबरी मस्जिद की स्थिति से प्रकट है। दूसरो बात यह है कि अयोध्या में गोस्वामी जी ने थोड़े समय तक निवास किया होगा। उनका अधिकांश समय काशो में ही होता। यहीं उनकी अधिक रचनायें सम्पन्न हुईं तथा यहाँ से उनका परम्परागत सम्बन्ध था।

काशी का नाम 'महा-स्मशान' है अर्थात् वह स्मशान जहाँ शरीर त्याग करने का विशेष महत्त्व हो। मध्ययुग में शुभगति के अभिलाषी काशी में जाकर शरीर-त्याग करते थे। आज भी धर्म-भावना रखने वाले बुढ़ौती में काशी वास करते हैं। रामकृष्ण के भक्तों ने भी काशी की यात्रा की और वहां निवास किया। महाप्रभु बल्लभ आचार्य और गौरांग महाप्रभु ने काशी में निवास किया और स्वामी रामानन्द ने तो आजीवन काशीवास कर रामभक्ति का प्रचार किया। तीर्थ-व्रत और मूर्त्ति पूजा के विरोधो कबोरतक ने काशो के महत्व को स्वीकार किया है।

'जो कबिरा कासी मरै तो रामहिं कौन निहोर' कहने का स्पष्ट ही यह अभिप्राय है कि उन दिनों काशी को 'मुक्ति-क्षेत्र' माना जाता था। गो० तुलसीदास मर्यादावादी महात्मा थे, उन्होंने भी काशी को उक्त मर्यादा को स्वीकार किया और विरक्त होने के बाद से आजीवन काशीवास बने रहें।

काशी के विषय में भी तो यही प्रसिद्ध है कि भगवान शंकर काशो में शरीर त्याग करने वालों को राम मन्त्र का उपदेश देकर भवसागर से मुक्त कर देते हैं। गोस्वामी जी अनन्य रामभक्त थे और भगवान शंकर को ही उन्होंने अपना गुरु माना था। श्री रामचरित मानस के प्रथम उपदेशक भी शंकर जी ही थे, अस्तु ऐसे महान् गुरु द्वारा शरीर-त्याग करते समय भी 'राममंत्र' का उपदेश प्राप्त हो, तुलसी के लिए इससे बढ़कर भाग्य की बात क्या होती ? "मारिए तो सूधो मीच' और 'मालुम है तौहिं मरिबेई को रहत हौं' कहने में उनका यही अभिप्राय है।

"मुक्ति जन्म महिज्ञानि ज्ञान खानि अघहानिकर।
जहँ बस शम्भुभवानि सो काशी सेइय कस न ॥

कहने में भी उनका यही अभिप्राय है तथा 'जगदम्ब अवलम्ब तेरिए' कहने में भी यही उद्देश्य। काशी में जाकर ही उनकी 'अघहानि' हुई, वहां सांसारिक

यातना से मुक्ति मिली तथा वास्तविक ज्ञान-वैराग्य सिद्ध हुआ। काशी मे निवास करने के फलस्वरूप ही श्री हनुमान और श्रीराम–लक्ष्मण का दर्शन हुआ इसलिए तुलसीदास जी के जीवन में 'काशी' का सर्वोत्तम महत्व है। 'मारिए तो अनायास काशीवास खासफल' कहने वाले तुलसीदास अयोध्या छोड़ काशी में क्यों रहते थे, यह बात स्पष्ट हो गई। काशी न घर है न वन, दोनों की मध्यभूमि है, इसीसे यहां रहकर उन्होंने लोक-परलोक, स्वत्व परत्व, स्वार्थ-परमार्थ, व्यक्ति-समाज तथा शैव-वैष्णव का सामंजस्य किया।

अष्टम अध्याय

कतिपय संकेतों का स्पष्टीकरण

राज समाज—

गोस्वामी तुलसीदास मुगल-काल के महापुरुषों में अग्रगण्य और अनेक लोगों के मन से महान् अकबर से भी महान् हैं, किन्तु क्या कारण है कि जो व्यक्ति अपने देशकाल का अन्यतम गौरव माना जाता है, उसके विषय में इतिहास एकदम चुप है ? आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय के कथनानुसार 'यह एक विलक्षण बात है कि 'मुगल' के यहां कहीं 'तुलसो' का उल्लेख नहीं। तुलसी के प्रति फारसी का यह भाव समझ में नहीं आता। मुगल शासन जैसा भी रहा हो, पर क्या कहें हम उस शासन को जिसके साहित्य में 'तुलसो' का नाम नहीं। महामुनि की यह उपेक्षा क्यों ? हमारी समझ में इसका हेतु है।'[1]

उक्त हेतु का स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया है, यथा—'साक्षरों का समाधान कुछ भी हो, अपने राम को तो यह सूझता है कि वस्तुतः इसके मूल में है तुलसी से मुगलकाल का जन्मजात विरोध। जहां तक बुद्धि काम करती है हमको तो यहो दिखाई देता है कि वास्तव में प्रकृत पद में स्थिति आपहो बोल रही है। सुनने को अतीत का कान चाहिए। उसके अभाव में हो हम इसके मर्म से दूर रहे हैं। हमारी दृष्टि में तुलसी के—'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यों' का अर्थ है—

'अपनी संतान को इस प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार सर्प को।'

'भाव यह है कि जब तुलसो का जन्म हुआ, तब रामभक्तों में आनन्द की खबर दौड़ उठो और 'वधावनों बजायों' की धूम हुई। धूमधाम के कारण माता-पिता राजदंड से दहल उठे और समझ गए कि आगे क्या होने वाला है। फलतः उन्होंने बच्चे को अपने से अलग कर दिया और तुलसी 'जन्म स्थान' से दूर जा पड़ा। माता पिता तलवार की घाट उतर गए अथवा कालवश चल बसे, इससे

---

[1] —तुलसी की जीवनभूमि—'निवेदन'

यहां कोई प्रयोजन नहीं। स्थापना हमारी यह है कि राम की जन्मभूमि ही वास्तव में तुलसी की भी जन्मभूमि है और यह जो बधावनो वजायो कांड है वह भी वास्तव में 'बावरी मसजिद' के सामने बाजा बजाने का कांड है। तुलसी सयाने होकर इसीसे तो एक सच्चे वैष्णव की भाँति सोचते हैं—'काहे की रोस ? सच ही तो है, इसमें किसी पर रोष क्यों किया जाय ? सब कुछ तो अपना कर्मफल ही है ? दोष भी किसी को क्यों दिया जाय ? अपने किए का फल आपही भोगना चाहिए और जो कुछ संताप हो उससे विचलित न हो, उसे अपना भाग्य समझ भोगना और उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। फिर तो रामकृपा से सब कुछ सध जाता है। संत समागम से सब सम्भव हो जाता है। फिर किसी राज कोप की चिंता नहीं रह जाती। रामकृपा से दुर्लभ क्या ?'[१]

जी हां, यह इसी राज कोप का प्रसाद था कि तुलसी को पहले कहीं शरण न मिली। यहां तक कि कुछ सचेत हुए ही थे कि आश्रयदाता भी सभी प्रकार से घाटा देखने लगे और होते-होते एक दिन ऐसा भी आ गया कि तुलसी सन्त कृपा से सब कुछ छोड़ राम के हो रहे।

मेरी समझ में श्री पांडेय जी की उपर्युक्त विचार-सरणि किसी अंश में ठीक और किसी अंश में भ्रमात्मक है। गोस्वामी जी 'राज-समाज' से सन्तुष्ट न थे और वे राजसमाज के कोप अथवा 'राजकोप' से भी पीड़ित हुए थे, यह बात उन्होंने अनेक स्थलों पर व्यक्त की है यथा —

(१) 'राज-समाज' कुसाज कोटिसत कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमित पति हेतुवाद हठि हेरि हुई है॥
(२) स्वांग सूधो साधु को कुचाल कलितें अधिक
परलोक फीकी मति लोक रंग रई।
बड़े कुसमाज राज आजु लौं जो पाए दिन,
महाराज क्योंहूं भाँति नाम ओट लई॥'
(३) मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन कीयो।
× × ×
कासी के कंटक जेते भए ते गे पाइ अघाई कै आपनो कीयो॥
क० उ० १७६
(४) वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।

---

[१]—वही पृ० १५९-६०

दूबरे को दूसरो न द्वार राम दयाधाम।
रावरी ही गतिबल विभव बिहीन की॥
क० उ० १७७

(५) वेद पुरान विहाइ सुपन्थ, कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल-कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोइ छली है॥
क० उ० ८५

(६) सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल तुम,
जाहि घालो चाहिए कहौ धौं राखे ताहि को?
हौं तो दीन दूबरो बिगारो ढारी रावरो न,
मैं हूँ तैं हूँ ताहि को सकल जग जाहि को॥ क० उ० १००

(७) गोंड़ गँवार नृपाल महि जवन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥ दोहा०

उपर्युक्त उद्धरणों पर विचार करने से विदित होता है कि तुलसीदास ने राजसमाज की जहांतक भर्त्सना की है, वह केवल इसलिए कि उसके द्वारा प्रजा का अनीति पूर्वक शोषण किया जाता था।[1] वहां दुर्जनों का बोल बाला था, सज्जनों को पूछ न थी, जैसा कि राजदरबार पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

'बड़े बिबुध दरबार से भूमि भूप दरबार।
जापक पूजक देखियत सहत निरादर भार॥ दो० ३६३

'भूमिचोर' राजा की 'कलुष-कुचाल' क्रूरता और छल-कपट से गोस्वामी जी को भी कष्ट उठाना पड़ा था, जबकि वे बिना घर-द्वार के होकर अनाथ बनकर द्वार-द्वार की धूल फाँकने को वाध्य हुये थे। उस समय राज-समाज के अन्याय से उन्हें जो कष्ट हुआ, उसकी स्मृति उन्हें बराबर बनी रही यथा—

'जाय तो न जरनि धरनि धनधाम की।'

वे अन्यत्र कहते हैं—

'ठाउँ न समाउँ कहाँ? सकल निरपने।

इस 'निरपने' का स्पष्टीकरण भी देख लीजिए—

'आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोय।'

इसी की व्याप्ति—'स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को टोटक ज्यों औचट उलटि न हेरो' तक होती है एवं इसीकी समन्विति—

'जो पै हो तो तोहि राम प्रिय तोहि राम सोहातो।
काल कर्म कुल कारनी कोऊ न कोहातो॥'

---

[1] प्रभुतें प्रभुगन दुखद लखि प्रजहिं संभारे राउ।
करतें होत कृपान को, कठिन घोर घनघाउ॥ ५०१

इससे स्पष्ट है कि उनके प्रति राजकोप उनके कुल और कारनी के होने के कारण था, इसलिए उसका सम्बन्ध बावरी-मस्जिद के साथ जोड़ना उचित नहीं है। गोस्वामी जी ने कहीं भी ऐसा संकेत नहीं किया है जिससे 'बावरी मस्जिद' की घटना गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त से संबद्ध की जा सके। वरंच ऐसा ही संकेत किया है जिससे उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है यथा—

धरनि धेनु चरित चरत प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ।
हाथ कछू नहिं लागिहैं किए गोड़ की गाइ॥ दो० ५१२
कंटक करि करि परत गिरि साखा सहस खजूर।
मरहि कुनृप करि करि कुनय सो कुचाल भवभूरि॥ ५१४

फिर भी यदि मान लिया जाय कि वैष्णवों ने गोस्वामी जी के जन्म के अवसर पर बधाव बजाया और उसीके परिणाम स्वरूप तुलसीदास के माता-पिता राजदंड के भागी हुए, तो फिर उन वैष्णवों ने अनाथ तुलसी को दर-दर की खाक छानने के लिए क्यों छोड़ दिया जिन्हें बधाव बजाने में भय न लगा, उन्हें तुलसी की संभाल करने में क्या भय था ? इससे तुलसी के प्रति उनकी सहानुभूति अधिक ही बढ़ जाती।

वास्तविकता यह है कि तुलसी का जन्म एक जमींदार ब्राह्मण वंश में हुआ था। उनके माता-पिता के मरने पर अथवा उनके जीवन काल में ही राज्य का बल पाकर युद्ध द्वारा उनके शत्रुओं ने उनकी भूमि छीन ली।[1] ऐसी दशा में संभवतः उनके वन्धुबान्धवों ने भी शत्रुओं का साथ दिया था अथवा वे उदासीन हो गए थे क्योंकि गोस्वामी जी कहते हैं—

'भाई को भरोसो न खरोसो बैर बैरीहू सों,
बल अपनो न, हितू जननी न जनको॥'

इस दुर्दिन में स्वार्थ के साथी साथ छोड़कर अलग हो गए। बालक तुलसी अपनी सहायता के लिए अनेक लोगों के यहां गए किन्तु किसी ने भरमुँह उनसे बात तक न की इसके बाद भी उनकी राज-समाज से कभी न पटी। प्रजा पीड़क आततायी राजसमाज की 'हाँ' में 'हाँ' वे कैसे मिलाते उन्हें किसी से क्या लेना-देना था कि आत्मप्रवंचना करते और मिथ्या ठकुर-सुहाती कहते।[2]

१—प्रभु सनमुख भए नीच नर, होत निपट विकराल।
रवि रुख लखि दरपन फटिक उगिलत ज्वाला जाल॥ दो० ३७५
त्रिविधि एक विधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट।
सूधे-टेढ़े समविषम सब महं बारह बाट॥ दो० ५००

२—तुलसीदास ने एक दोहे में उस समय के कराल अनय का अच्छा

मानता है, ठकुरसुहाती का अभिलाषी राजसमाज उनको दो टूक बातों से उठा हो तथा उन्हें वन्दी बना लिया गया हो। वस्तुतः गोस्वामी जी कभी बनाए गए थे या नहीं, परन्तु उनके दिल्ली बुलाए जाने और बन्दी बनाए की जनश्रुति तो प्रसिद्ध ही हैं। इस जन श्रुति से इनकार करने का कोई भी नहीं दीखता। विनय पत्रिका के अन्तर्गत श्री हनुमान जी के प्रार्थना पद उक्त जनश्रुति को पुष्टि ही करते हैं। गोस्वामी जी ने 'वंदि छोर दावली निगमागम गाई' कहकर श्री हनुमान जी का स्मरण किया है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं—

'मुगल साम्राज्य के शासकों की क्रूर दृष्टि तुलसी पर रही होगी। इसके प्रमाण मिलते हैं। एक पद ऐसा मिलता है जिसमें तुलसीदास के काशीस्थ के नष्टभ्रष्ट किए जाने का सकेत है . × × × जहाँ- तुलसीदास की साधुता से आकृष्ट होकर काशी आया। उन्हें लिवाने उनके प्रचार और राजनीतिक विद्रोह से घबराकर। कैसे कहा जाय!'

श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित के कथनानुसार अकबर सच्चे हृदय से हिंदू में आना चाहता था, पर गोस्वामी जी के साहित्यिक साधना ने उसपर फेर दी।[३] वे आगे कहते हैं—'हिन्दू मुसलिम मेल के लिए बाधक होने दरबार और वहां के कर्मचारियों में भी इनका उतना आदर नहीं था और न इन्हें किसी प्रकार की सहायता ही मिलती थी। भारत के हिन्दू नरेश इनके विचारों मे सहमत नहीं थे और न उनसे इन्हें किसी प्रकार का सहयोग ही मिला था, इसीलिए गोस्वामी जी ने बादशाह, राज्य और राज कर्मचारियों की निन्दा की है।'[४]

श्री दीक्षित जी की बातों से पूर्णतया सहमत होना कठिन है क्योंकि उनकी बातों का खंडन स्वयं गोस्वामी जी के कथन--

घर-घर मांगत टूक पुनि, भूपति पूजे पाय' । दो० १०६

और 'तुलसी को जग मानियत महामुनी सो, से हो जाता है।

बांधा है और उस समय की परिस्थिति को भली भांति व्यक्त कर दिया है, देखिए—

'काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमोपाल॥ दो० ५१५

सच पूछिए तो इसी गोला पुहुमीपाल, में सब कुछ आ गया है और फूटफूट कर उस बात का रोना सुना रहा है।'—तुलसीदास (का० ना० प्र० सभा) पृ० ४१

[३]—तुलसीदास और उनके ग्रन्थ पृ० ३९। [४]—वही पृ० १५२

फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि अकबरी दरबार से उनका सम्बन्ध तो छः का था। इसका मुख्य कारण यह है कि गोस्वामी तुलसीदास एक पर विरक्त लोक नायक सन्त थे, उनका प्रजा-पीड़न और शोषण के आधार पर संवर्द्धित होने वाले शाही दरबार[१] से क्या प्रयोजन ? छल-छद्म ही जिसका जीवन है, उससे तुलसी के सरल सुपुनीत जीवन की संगति कैसी ? जिसने इस वास्तविकता को हृदयंगम किया था।

'सुत वित्त नारि ईषणा तानी।
इन कृत बुधि केहिं कर न मलोनी॥

वह किसी भी ईषणा के चक्कर में पड़कर किसी दरबार की परवाह क्यों करता ? उसने तो डंके की चोट घोषणा की—

'जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की।'

और—'जांचे को नरेस देस-देस को कलेस करे,
देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़िए।
कृपा पाथ नाथ, दीनानाथ नाथ सीतानाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िए॥

राज दरबार के चक्कर में पड़ने से व्यर्थ ही वाणी का मिथ्या विपर्यय होता, न प्रभु सेवा होती और न लोक सेवा ही। 'नाना पुराण निगमागम् सम्मत' 'स्वांतः सुखाय' लिखने वाला दरबारी माया-मोह के बन्धन में पड़कर क्या उन्मुक्त उड़ान ले सकता ? डंके की चोट सत्य की विज्ञप्ति कर सकता ? दरबार के अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहकर उस अमरस्वस्थ जीवन की सम्भावना न होती जिसे तुलसी ने अपनी उन्मुक्त रचनाओं द्वारा उपलब्ध किया। क्या अकबरी और जहाँगीरी शासन को ही सर्वांगीण सुन्दर मानने वाला राम राज्य की कल्पना और भरतादि के आदर्श लोक-जीवन की स्थापना कर सकता था ?

अकबर के मरने के बाद गोस्वामी जी के अंतिम अठारह वर्ष का समय जहाँगीर के शासन काल में बीता। जहाँगीर यद्यपि एक राजपूत रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था किन्तु वह हिन्दू धर्म का घोर द्वेषी था। उसके आदर्श अच्छे नहीं कहे जा सकते। उसने अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया और अबुल फजल जैसे मनीषी को मरवा डाला। शासन सूत्र हाथ में आते ही अपने हितैषी गुरु अबुर्रहीम खानखाना जैसे नर-रत्न को विविध यातनाएँ दी और उनके पु

---

[१]—बलि मिस देखे देवता, करमिस मानव देव।
मुए मार, सुविचार हत, स्वारथ साधन एव॥ दो० ३४६

वध कराया एवं अपने पुत्र खुसरो को मरवा डाला। अपने ही सूवेदार निर- शेर अफगन की हत्या करवा कर उसकी पत्नी नूरजहाँ से ब्याह किया। का शराबी और विषयी होना तो प्रसिद्ध ही है। वह इतना दुर्बल शासक था सारा राज्य-कार्य नूरजहाँ देखती थी। जिस दरबार के ठाट-वाट में प्रजा की ढ़ी कमायी के हजारों और लाखों रुपए पानी की भाँति प्रतिदिन बहाए जाते जहाँ नित्य 'नई कुचाल' सोची जाती थी; यदि उस दरबार ने तुलसी को ही बनाया हो और फिर डरकर छोड़ भी दिया हो तो क्या आश्चर्य? तथा दरबार से और राज-समाज से तुलसी के मेल-मिलाप का प्रश्न क्या? लसीदास लोक नायक थे, उन्होंने उस काल के लोक जीवन की जो अभिव्यक्ति की है, उसे देखिए—

किसबी किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन सब सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन तें 'कहाँ जाई? काकरी॥'

वस्तु इस स्थिति में लोक को सर्वोपरि मानने वाले लोक पोषक तुलसी के मुँह से लोक-ध्वंसक राज-समाज[1] की बड़ाई सुनने के अभिलाषी समालोचकों को क्या कहा जाय? वे कितने भ्रम में हैं उन्हें स्वयं सोचना चाहिए। तुलसी का अपना अनुभव तो यह है—

अति ऊँचे भूधरन पर भुजगन ही को थाना।
तुलसी नीचे सुखद जहँ ईख अन्न अरु पाना॥ दो०

कुसमाज

गोस्वामी जी ने अपने श्रेष्ठ कुल, भला समाज और सुसंगति की प्रशंसा की है, जिससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म श्रेष्ठ कुल में हुआ था और उनका समाज उत्तम था, यथा—

'भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै।'
क० उ० ३३

और—'यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
विनय० १३५।१

परन्तु फिर भी वे 'कुसमाज' के पल्ले पड़े थे। उन्हें कुसमाज के सम्पर्क में दो बार आना पड़ा। पहिली बार तब जब कि माता-पिता के निधन होने पर उन्हें अनाथ होकर द्वार-द्वार भटकना पड़ा।

---

[1] —कुराज राज्येन कुतः प्रजा सुखम्—चाणक्य

यह स्वाभाविक बात है कि दीन-दुःखी और अनाथ के दुःख से लोग दुखी हो उठते हैं किन्तु अनाथ और दीन-हीन तुलसी की दुर्दशा देख और श्रवण सुनकर सक्षम पुरुष भी उनसे संभाषण तक नहीं करते थे, इसमें रहस्य क्या है। इस रहस्य को भी गोस्वामी जी ने स्पष्ट किया है—

'बड़े कुसमाज-राज आजु लौं जो पाए दिन,
महाराज क्यों हू भाँति नाम ओट लई।'

स्पष्ट है कि बड़े कुसमाज के साथ 'राज' का भी सहयोग था अथवा यूँ कहा जा सकता है कि कुसमाज और राज-समाज में कोई अन्तर न था क्या, ऐसे प्रबल कुसमाज के विरुद्ध कोई तुलसी से क्या संभाषण करता। उस कुसमाज से उनकी रक्षा रामनाम के ओट में ही हुई। अब तुलसी के 'स्वार्थ' के साथियों का भेद खुल जाता है, जिन्होंने तिजरा के टोटक' की भाँति उनका परित्याग कर दिया था। वे स्वार्थ के साथी कदाचित उनके अपने ही लोग थे और उन्हीं का राज समाज भी था क्योंकि उन्होंने 'काल-करन-कुल-कारनी कोऊ न कोंहातो' कहकर इसकी स्पष्ट सूचना दी है। यह उनका अपना अनुभव था। जब अपने लोग ही साथ छोड़कर अलग हो गए तो किसके बल पर 'बैरी' से निपटा जा सकता था। स्वाभाविक था कि बैर भाव शिथिल पड़ जाय। कहते हैं—

'भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरी हू सों'

जब सब ओर से निराशा आ घेरती है तभी भगवान् की शरणागति का मार्ग दिखाई पड़ता है। निम्नांकित कथन भी उसी अवस्था का सूचक है—

'बिनु प्रपंच लखु भीख भलि नहिं फल किए कलेस।
बावन बलि सों लीन्ह छलि, दीन्ह सबहिं उपदेस ॥ सत०

राम की शरण में जाने और

सियाराम मय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

कहने पर भी 'कुसमाज' से छुट्टी न मिली। वे कहते ही हैं—

'पाप-प्रतिष्ठा बढ़ि परी तातें बाढ़ी रारि।'

ज्ञात होता है गोस्वामी जी की ख्याति और प्रभाव से द्वेष करने वाले लोग उनकी वृद्धावस्था में भी उनसे विरोध करते थे, जैसा कि वे कहते हैं—

'घेरि लियो रोगनि, कुलोगनि, कुजोगनि ज्यों

काशी में गोस्वामी जी को सुसमाज भी मिला और कुसमाज भी। वहां उनका विरोध संप्रदायवाद के आधार पर हुआ। कुछ तो पंडा-पुजारी कथा-वाचक आदि वर्ग के ब्राह्मणों ने उनका विरोध किया क्योंकि उन्हें यह भय हुआ कि श्री रामचरित मानस के प्रचार से उनके जीविकोपार्जन में बाधा पड़ेगी। कुछ द्वेषी-ब्राह्मण स्वभावतः उनके निन्दक बन गए थे। गोस्वामी जी का यह कथन इसी की ओर संकेत करता है——

'विप्र द्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सबसे बैर बढ़ावौं,।

यद्यपि गोस्वामी जी की नीति समन्वयवादी थी और राम के नाते वे सबको समान समझते थे फिर भी कुछ साम्प्रदायिक लोग इस प्रकार अपना उल्लू सीधा न होते देख उनके बैरी बन गए थे गोसाइयों के विरोध के कारण उन्हें केदारघाट छोड़ असी पर आना पड़ा। इनका समर्थन और संरक्षण करने वाले काशी के जमीदार टोडर रावत को भी इनके विरोधी लोगों ने धोखे से मार डाला। विरोधी गोसाइयों का वेष धारण किए हुए थे, परन्तु गोसाईं न थे।[१] सम्भव है विधर्मी रहे हों क्योंकि टोडर के प्रताप से काशी में विधर्मियों की नहीं चल पाती थी। टोडर ने इनको नन्देश्वर से मार भगाया था, यथा--

'नन्देस्वर बरुना मढ़ी चढ़ी जावनी धारि।
बोलि बरैनी भट तुरत धायउ जोरि गुहारि॥
गाजे सजि जमकातरी कासीवार लठैत।
किए व्यर्थ बाना पटा भागे जवन लूटैत॥ गौ० च०

कहते हैं कि गोसाईं लोगों ने तंत्रमंत्र के प्रयोग द्वारा तुलसीदास को पीड़ित करने का प्रयत्न किया था। गौतम चन्द्रिका से भी यह बात विदित होती है, यथा—

'घाट-बाट घर गली अथाई। कासी रह्यौं विस्नुपद छाई॥
रुठि ते मतवादी अभिमानी। नगर गोसाईं जे बकध्यानी॥
ते सब करि कुमंत्र छल साधा।
तुलसी पथ मधि जीवन बाधा॥

गोसाईं लोग सम्भवतः शैव थे। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रामभक्ति के प्रचार से शैवमत का प्रभाव कम हो जाने के भय से वे कदाचित तुलसीदास के विरोधी बन गए थे। गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि काशी में निवास करने पर प्रारम्भ में तुलसीदास कृष्णभक्त गोसाईं सम्प्रदाय में कुछ काल के लिए

---

[१]—बटमरवे धरि वेष गोसाईं। सधि सुधि ते लाठी झरि लाईं॥
तोडर बूढ़ गरजि बिरुझाई। नरकेहरी बीर गति पाई॥ गौ० च०

सम्मिलित हो गए थे।[१] कुछ लोग 'गोसाईं' उपाधि के आधार पर उनके ग्रं मठाधीश होने का अनुमान करते हैं किन्तु उक्त अनुमान का खंडन गोस्वामी जी के ही निम्नांकित कथन द्वारा हो जाता है—

> 'चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरों हर,
> पायँतर आइ रह्यौं सुरसरि तीर हौं।'

श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित कहते हैं कि—गोस्वामी जी निश्चय ही सदा-चारी और विद्वान् थे। कवित्व शक्ति अच्छी थी, पर न तो उनमें समन्वय की भावना थी और न समाज को उठाने की विचारधारा उनमें काम कर रही थी। उनका संगठन मुसल्मानों के प्रति विद्रोह रूप में ही खड़ा किया गया था। इसीलिए उन्होंने सब दार्शनिक विचारों को एक संगठन में लाने का उद्योग किया और सबको वेदानुकूल ठहराया यद्यपि उनमें एक भी वेद के अनुसार न था। जो द्वैत मार्ग वेद के अनुकूल था उसे ही त्याज्य ठहराया है इससे हम सरलता गोस्वामी जी की जानी या अनजानी गलती का अनुमान कर सकते हैं। मे विचार से यह गोस्वामी जी की भयंकर भूल थी, जिसने देश और राष्ट्र को भयंकर हानि पहुंचाई।'

दुःख है कि श्री दीक्षित जी ने गोस्वामी जी को उलटा ही समझ लिया है और अपनी संकीर्ण भावना की कसौटी पर उन्हें गलत ढंग से समझने का प्रय कर यथा शक्ति कोसा है जबकि उन्हीं के कथन से उनके आरोपों का स्वयं खण्डन हो जाता है। श्री दीक्षित जी से पूछा जा सकता है कि य गोस्वामी जी में समन्वय की भावना न थी, तो उन्होंने सम्पूर्ण दार्शनिक विचारों को एक संगठन में लाने का उद्योग क्यों किया और उसे वेदानुकू क्यों ठहराया? जब अद्वैतवादी, विशिष्टता द्वैतवादी, विशुद्धा द्वैथवादी आदि सभी अपने मत की पुष्टि वैदिक श्रुतियों से ही करते हैं तो यह कैसे कहा ज सकता है कि केवल द्वैतवाद ही वेदनाकूल है। अद्वैतवाद के समर्थन में अनेक श्रुतियाँ उपस्थित की जा सकती हैं यथा—'तत्वमसि' एकोहं बहुस्या नेहनास्ति किंचन, ब्रह्मास्मि' आदि। पता नहीं दीक्षित जी किस प्रकार की विचारधारा को समाज को उठाने वाली समझते हैं? यदि रामचरित मानस में यह गुण नहीं तो उसका देश-विदेश में इतना प्रचार क्यों है, जितना किसी अ भारतीय काव्य ग्रन्थ का नहीं? 'उनका संगठन मुसलमानों के प्रति विद्रोह-रू में ही खड़ा किया गया था' इसका प्रमाण भी तो देना चाहिए था? तुलसीदास निर्भर होकर यह कहते हैं कि—

---

[१] कृष्ण कीर्त्ति ध्वज सजि फहराई। तुलसिदास बजि भए गोसाईं॥ गो० च०

श्वपच दुरद खस जवन जड़, पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥

और 'जवन कवन सुर तारे' कहने वाले तुलसीदास भला मुस्लिम विरोधी खंडन करने वाले कैसे कहे जा सकते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। तुलसीदास ने कौन सी भूल की है जिससे देश और राष्ट्र को अत्यन्त हानि पहुंची है, इसे भी स्पष्ट नहीं किया गया। दीक्षित जी को यह सोचना चाहिए कि इस्लाम एक पैगंबरी' सम्प्रदाय है। पैगंबरी-मतों में सुधार करने का अवसर नहीं होता और न उनका किसी मत के साथ समन्वय किया जा सकता है। समन्वय उन्हीं मतों का सम्भव है जो उदार और लचकीले हों। जब कबीर, नानक, दादू आदि पैगंबरी मतों का दूसरे मतों से समन्वय करने में विफल हुए तो फिर तुलसी को ही इसके लिए क्यों दोषी ठहराया जाय? उन्होंने तो बहुत कुछ किया और शैव-वैषणव, द्वैत-अद्वैत सभी मतों और विचारों का समन्वय कर स्वयं ही अवतार बन गए। अवतारवाद भी वैदिक ही है।

अवतार लेने वाले राम कृष्ण को भी दुष्टों का सामना करना पड़ा। उसी प्रकार गोस्वामी जी को भी अनुदार और रूढ़िवादी सम्प्रदायों, प्रजा पीड़क राज-समाज और निंदक कुसमाज से निपटना पड़ा। अन्त में उनकी विजय हुई और वे पूर्णतः सफल हुए

'दियो सुकुल जन्म'

गोस्वामी जी ने अपने कुल को 'सुकुल' और 'भलाकुल' कहा है, इसलिए देखना यह है कि उनके 'सुकुल' या 'भलाकुल' का अभिप्राय क्या है?

यों तो 'सुकुल' या 'भलाकुल' उच्च वंश का पर्यायवाची है ही, किन्तु उनकी परिभाषा के अनुसार केवल 'देवता, मुनि और ब्राह्मण ही उच्च वंश में गिने जा सकते हैं, यथा—

'सुर मुनि विप्र विहाय बड़े कुल गोकुल जन्म गोप गृह लीन्हो।'
विनय० २४०

परन्तु जब वे कहते हैं कि—

'ज्ञान भवन तन दियहु नाथ सो उपाय न मैं प्रभु जाना'
—विनय० ११४।३

और—'दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जेहि पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥'
विनय० १३५।१

तो निश्चित,रूप से वे अपने को ब्राह्मण वंश का बतलाते हैं। चारों फल और परमपद प्राप्त करने के अधिकारी भी तो ब्राह्मण शरीरधारी पंडित ही होते हैं,

इसलिए इस विषय में सन्देह का कोई कारण नहीं रह जाता कि तुलसीदास जी ब्राह्मण न थे किन्तु वे किस प्रकार के ब्राह्मण थे, इसका भी स्पष्टीकरण उन्हीं के शब्दों मे—

'बुधि बल हीन, भाव भगति विहीन, हीन गुन ज्ञान,
हीन भागहू बिभूति हौं।'—विनय० ६६

बुद्धि के साथ बल और भाव-भक्ति, गुण-ज्ञान के साथ भाग्य तथा विभूति का अधिकारी जमींदार वर्ग का अप्रतिग्राही ब्राह्मण ही होता था। अस्तु गोस्वामी जी का उक्त क्षोभ यह सिद्ध करता है कि वे जमींदार वंश परम्परा के ब्राह्मण थे। इसकी सिद्धि उनके निम्नांकित कथन से भी होती है—

हौं सुबरन कुबरन कियो नृपते भिखारि करि,
सुमति तें कुमति कर्‌यो हौं—विनय० २६६

'हौं सुबरन कुबरन कियो' से गौतम-चन्द्रिका का यह कथन मिलाया जा सकता है—'विषय सिंगारि सरूप बिगारो' इसी प्रकार 'नृपते भिखारि करि' के साथ—

कहा न गयो, कहा न कियो, सीस काहि न नायो।
आस विवस खास दास ह्वै, नीच प्रभुनि जनायो॥ वि०

और सुमति से कुमति होने का विवरण भी देख लीजिए—

'यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विष फल फली॥
वि० १३५

जाइ तो न जरनि घरनि धन धाम की (क० उ० ११६)

ऐसा ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी की अनाथावस्था में उनकी पैतृक भूमि, धन-संपत्ति और घर द्वार पर शत्रुओं ने अधिकार कर लिया था। इसका क्षोभ साधु हो जाने पर भी उनके मन से नहीं निकल पाता था। यथा—

'वेष सु बनाइ सुचि वचन कहें चुवाइ
जाइ तो न जरनि घरनि धन धाम की।
और—तुलसी अब राम को दास कहाइ, हिय धरु चातक की धरनी।
करि हंस को वेष बड़ो सबसों, तजि दे बक वायस की करनी॥
(कवि० ३२)

बक-वायस की करनी भी देख लें। अहंकार, मोह और आशा किधर ले जा रही है—

'कालिही तरुन तन कालिही धरनि धन,
कालिही जितौंगे रन कहत कुचालि हैं ।
कालिही साधौंगे काज कालि ही राजा-समाज,
मसक ह्वै कहैं भार मेरे मेरु हालि है ॥
क० उ० २०

अपने बल का मिथ्या विश्वास ही गरीबी ग्रहण नहीं करने देता किन्तु बिना रीब बने भगवान की शरणागति नहीं मिलती—

'राम गरीब निवाज हैं, मैं गही न गरीबी ।'

किन्तु जब तक भगवान की अनन्य शरणागति न मिली तब तक—

द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परिपाहूँ
क्योंकि—'जे सेवक भए दास आस के ते सबही के चेरे ।
और— 'प्रभु बिस्वास आस जीती जिन ते सेवक हरि केरे ॥
—वि० १६८

जब यह अनुभव हो गया कि—'तुलसी पराए बस भए रस अनरस' तब आशा के प्रपंच से भी मुक्ति मिल गई—

'बिनु प्रपंच लखु भीख भलि नहिं फल किए कलेस ।
बावन बलि सों कीन्ह छलि, दीन्ह सबहिं उपदेस ॥
सतसई ७४६

और—अवनि रवनि धनधाम सुहृद सुत के न इनहि अपनायो ।
काके भये गए संग काके, सब सनेह छल छायो ॥
वि० २००।२

एवं जागतिक-सुख की भावना भी जाती रही क्योंकि—

'नए नए नेह अनुभए देह गेह बसि, परखे प्रपंची प्रेम परत उघरिसो ।
सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदा सूत, जब जाको काज
तब मिले पायँ परिसो ॥ विनय० २६४

जागतिक प्रपंच में पड़कर ही तुलसी की घनी घट गई थी यथा—

'बाप ! अपने करत मेरी घनी घटि गई ।
रोग बस तन कुमनोरथ मलिन मन,
पर अपवाद मिथ्यावाद बानी हुई ॥
स्वांग सूधो साधु को, कुचाल कलि ते अधिक,
परलोक फीकी मति लोक रंग रई ।
बड़े कुसमाज राज ! आजुलौं जो पाए दिन
महाराज क्योंहूँ भीति नाम ओट लई ॥ विनय० २५२

जब अपने बल का विश्वास और जागतिक अभिलाषा मर जाती है तभी प्रभु की शरणागति मिलती है—

कह्यो न परत, बिन कह्यो न रह्यो परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सो बलि दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी अपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनो पाप पीनता॥

× × ×

एही दरबार में गरब में सरब हानि,
लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता॥
विनय० २६२

सामंती स्वभाव के कारण जब तक 'राम की चेराई' करने में लज्जा का अनुभव होता था, तभी तक काल, कर्म, कुल और कारनी को भी वक्र-दृष्टि थी, यथा—

जो पै चेराई राम की करतो न लजातो।
तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो॥
काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो॥ १५१।१४

फिर तो पतिव्रता की भाँति एकनिष्ठता हो गई—

'नाथ नीके कै जानिबी ठीक जन जीय की।
रावरो भरोसो नाह कै सुप्रेम नेम लियो,
रुचिर-रहनि रुचि मति गति तीय की' — विनय० २६३

और—'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरो तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान करो॥

× × ×

मेरो तो माय बाप दुइ आखर हौं सिसु अरनि अरो।'

श्री रामचन्द्र जी से 'सिसु हठ' क्यों न करे क्योंकि इसकी भी उनसे वही सगाई है जो उनके साथ गणिका, व्याध-अजामिल की है जो अगाध अपराधी होते हुए भी भगवान की शरण में जाकर पापों और दुःखों से मुक्त हो गए थे, इसलिए तुलसी भी भगवान की बेरख रूपी बाहँ की छाया में बसने की प्रार्थना करता है (दे०—क० उ० ९२) क्योंकि वहीं बसने पर जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य का आधार है-तुलसी की 'घरनि-धन-धाम की जरनि' मिट सकती है।

'स्वारथ को साथिन तज्यो तिजरा के टोटक ज्यों'

वे स्वार्थ के साथी कौन थे, जिन्होंने बालक और अनाथ तुलसी को 'तिजरा के टोटक' की भाँति निर्ममतापूर्वक बहिष्कृत कर दिया था। इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। इसीसे कुछ लोग भ्रम में पड़कर उक्त कथन को तुलसीदास के माता-पिता से सम्बन्धित कर लेते हैं जो वस्तुतः तुलसी का अभीष्ट नहीं है क्योंकि लौकिक व्यवहार में माता-पिता स्वार्थ के साथी नहीं कहे जा सकते। इसके अतिरिक्त तुलसीदास ने सर्वत्र ही अपनी रचनाओं में माता-पिता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है यथा—

'पितृ आयसु सब धर्म के टीका'-रा० अ०
जो पितु मातु कह्यो बन जाना। तो कानन सत अवध समाना॥
रा० अ०

उन्होंने 'बल अपनो न हितू जननी न जनको' कहकर 'जननी-जनक' की गणना हितू लोगों में की है, जिससे स्पष्ट है कि तुलसी के 'स्वार्थ के साथिन' का तात्पर्य उनके माता-पिता से न होकर किन्हीं अन्य लोगों से है।

तुलसीदास माता-पिता के शरीर त्याग कर देने से जन्मते ही अनाथ हो गए थे। माता-पिता ने शरीर त्याग करने के पूर्व उन्हें अपने किसी विश्वसनीय मित्र नातेदार या बन्धु-बांधव के यहाँ पोषणार्थ भेज दिया था। जिनके यहाँ पोषणार्थ तुलसीदास भेजे गए थे, निःसन्देह वे ही स्वार्थ के साथी निकले क्योंकि जबतक तुलसीदास के माता-पिता जीवित थे, तबतक तो वे उनसे स्वार्थ सिद्ध करने के निमित्त उनके विश्वसनीय एवं अपने बने थे किंतु उक्त अवसर के निकल जाने पर कृतघ्नता का व्यवहार किया और तुलसी के अपने होकर भी पराए बन गये एवं अनाथ तुलसी को दीन बनकर संसार में भटकने के लिये छोड़ दिया।[1] तुलसी तो कहते ही हैं—

'अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा के टोटक ज्यों
औचट उलटि न हेरो॥ वि०

इससे स्पष्ट है कि उक्त स्वार्थ के साथियों ने पहले तो लोक लज्जावश तुलसी का जैसे-तैसे पालन किया किन्तु बाद में कुछ बड़ा होने पर उनसे घर के कामकाज लेने लगे और उनके प्रति लापरवाही तथा निरादर का व्यवहार करने लगे। तुलसी को अपने काम के योग्य न देख, उन्हें अपने निमित्त 'अगुन, अलायक, आलसी, अधम और अनेरो' पाकर उनकी लापरवाही दिनोदिन बढ़ती ही गई। जमींदार वंश में उत्पन्न, अपने उच्च कुल के गौरव की भावना रखने वाले

---

[1] 'त्यजंति मित्राणि धनैर्विहीनं दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च—
चा० १५।५

स्वाभिमानी तुलसी भला ऐसी स्थिति में कैसे पड़े रह सकते थे।[1] जब स्वार्थ के साथियों ने इन्हें छोड़ा तो परिस्थिति को समझ इन्होंने भी उनका साथ छोड़ दिया और भगवान के भरोसे निकल पड़े। ऐसी दशा में इन्हें भलीभाँति पता चल गया कि संसार में 'स्वारथ के साथी सब हाथी स्वान लेवा देई' का व्यवहार है, एक मात्र 'राम' ही निःस्वार्थ साथी हैं अस्तु भगवान् राम के शरणापन्न होने में ही कुशल है। कहते हैं --

'राम सुभाव सुन्यो तुलसी प्रभुसों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहब खोरि न लाई॥ क०उ०

परयोलोकरीति में

गोसाईंजी लोकरीति में कब पड़े, क्यों पड़े, कैसे पड़े और उनकी लोकरीति का अभिप्राय क्या है? बहुत से बिचारकों का मत है कि उन्होंने विवाह कर लिया था, यही उचित भी जान पड़ता है क्योंकि गृहस्थी स्थापित होने पर ही तो लौकिक-व्यवहार प्रारम्भ होते हैं। वे कहते हैं—बालपने सूधो मन राम सनमुख भयो किन्तु 'पर्‌यो लोकरीति में पुनीत प्रीति रामराय' मोहवस बैठो तोरि तरकि तराक हौं'—ह० बा० ४० अर्थात् बाल्यावस्था में जो सूध मन राम के सन्मुख था वह उसके बाद अर्थात् युवावस्था में राम से संवन्ध तोड़कर लोकरीति में पड़ गया और राम से विमुख हो गया। कहा है—

'प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाहिं।'

यही कारण है कि लोक से नाता जुटने पर तड़ाक से राम से नाता टूट गया। लोकरीति का जाल बड़ा प्रवल है उसमें पड़कर कभी भी विषयी जीव राम से विमुख हो जा सकता है अस्तु गोस्वामीजी मध्यम मार्ग का उपदेश देते हैं—

'घर कीन्हें घर जात है, घर छांड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाय॥

और 'राम' से अपने परंपरागत संवन्ध की सूचना देते हैं—'तुलसी तो को राम सों कुछ नई न जान पहिचानि

अस्तु मनको सांत्वना भी देते हुए कहते हैं—प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि (वि० प० ९३)

नीच यहि बीच पतियाई भरुआइयो

गोस्वामीजी को जिस प्रकार लोकरीति में पड़ने की ग्लानि हुई उसी प्रकार 'पतिपाइ भरु आइगो' से हुई क्योंकि 'विसारि प्रभु भजन वचन मन काय कों'

---

[1]—स्वजनो द्वारा किया गया अपमान अग्नि से भी बढ़कर दाहक होता है— चाणक्य

से प्रकट होता है कि वे उस समय भी सांसारिक प्रपंच में पड़ गए थे। यह प्रपंच केवल प्रतिष्ठा बढ़ने के कारण सिर पर आ पड़ा था और एकनिष्ठ होकर रामभजन करने में बाधक बन रहा था। प्रतिष्ठा बढ़ने से द्वेषी समुदाय का उत्तर भी देना पड़ता था, यथा—

'पाय प्रतिष्ठा बढ़ि परी तातें बाढ़ी रारि।'

ज्ञात होता है 'रारि' बढ़ाने वाले ब्राह्मण मामधारी लोग ही थे, जैसा कि वे कहते हैं—'विप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सबसे बैर बढ़ावों' प्रतिष्ठा बढ़ने पर लोगों का आवागमन, दर्शनार्थियों की भीड़ भो बढ़ जाती है और उसका परिणाम—

तुलसी भेड़ी की धसनि जड़ जनता सनमान।
उपजतही अभिमान भो खोवन मूढ़ अपान।

जब तक अभिमान है तब तक राम की कृपा प्राप्त करना कठिन है क्योंकि राम स्वयं कहते हैं--'मेरे सुत समदास अमानी।' अभिमान ही तो सारे झगड़ों और दुःखों की जड़ है। कलि का निवास है। गोसाईंजी इसी अर्थ में कलि की निन्दा करते हैं और उससे रक्षा पाने के लिये बार-बार प्रभु से प्रार्थना करते हैं क्योंकि इस अभिमान से निवृत्त होना बड़ा कठिन है और यह कार्य भगवान की शरणागति के बिना नहीं हो सकता।

'राम के भरोसे होइ होइ सोई नीको लागे'

भगवान की शरणागति एकनिष्ठ होने से प्राप्त होती है, जो चारों ओर मन दौड़ाता है वह कहीं का नहीं होता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

सेये न दिनीस न दिनेस न गनेस गौरी।
हित के न माने देव हर को न हरि को॥

भक्त को इस बात का अभिमान होना चाहिए कि उसकी भक्ति अनन्य भाव की हो और वह अन्य के समक्ष कभी हाथ न पसारे यथा—'है अभिमान तऊ मन में जन भाखि हैं दूसरे दीनन पाहीं (क० उ० ६४) और जब भक्त अपना आदर्श चातक को बना लेता हो तो उसको अनन्य एकनिष्ठता सिद्ध हो जाती है। गोसाईं जी की भक्ति भावना ऐसी ही है। उनके लिए केवल राम की शरणागति ही चाहिए। सबसे याचना करने को 'वे बकवायस की करनी' समझते हैं जो त्याज्य है। चातक की याचना एक मात्र मेघ से होती है अन्य से नहीं। वह चातक की स्थिति को समझता है, इसलिए उससे भी याचना क्या ? यदि बहुत कुछ हुआ तो मन में ही कह दिया। आगे उसकी मरजी। उसकी मरजी के विपरीत याचना कैसी ?

जो भगवान का भक्त होकर भी दूसरों के आगे हाथ पसारता है वह भक्त कैसा ?—

कृपा पाथ नाथ लोक नाथ नाथ सीता नाथ
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िए।

और—'जानकी नाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहौं न हहा है'—
क० उ० १०१

रघुनाथ से भी मनही में मांगना उचित है। यदि मांगना ही आवश्यक हो—

जग जांचिय कोउ न जांचिय जो जिय जांचिय जानकि जानहि रे।

क्योंकि—और काहि मांगिए को मांगनो निवारे।
अभिमत दातार कौन दुख दरिद्र टारे॥ वि० ८०

भगवान को छोड़ दूसरों से मांगना तो मूर्खता है।

'दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं देखौं दीन सोऊ॥

जो स्वयं दीन है दूसरे को क्या देगा ? अस्तु—

जांचे को नरेस देस देस को कलेश करै
दैहै तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बोड़िए। क० उ० २५

इसीलिये तुलसी का मत तो यही है—

'जाके विलोकत लोकप होत विसोक लहै सुरलोक सुठौरहिं।
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवे सुरमौरहिं।
ताको कहाइ कहै तुलसी तू लजाहि न मांगत कूकुर कौरहिं।
जानकी जीवन को जनह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहिं॥ श

एकमात्र भगवान से ही याचना करने पर जांचने की आवश्यकता नहीं रह जाती—

जेहि जांचत जांचकता जरि जाउ जो जारति जोर जहानहिं रे।

इस याचना से जागतिक प्रपंच का 'जोर' जल जाता है और जीव एक निष्ठ भावना से प्रभु का अपना बन जाता है एवं सारे दुःखों से निवृत हो जाता है। भगवान से मांगना मांगना नहीं कहलाता—

'तोहि मांगि मांगिबो न मांगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जांचन जन आयो॥ वि० ७८।४

अस्तु—तुलसि दास जाचन रुचि जानि दान दीजे।
रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहिं कीजे॥

इसी से दृढ़ता पूर्वक तुलसीदासजी बार-बार कहते हैं—

'रामही के नाम ते जो होइ सोइ नीको लागै (क० उ० ७७)
राम के नाम ते होउ सो होउ (क० उ० ६१),
तुम्हरो सब भाँति तुम्हारिय सौं तुमहीं बलि हौ मोको ठाहरु हेरे
(क० उ० ६२)

और इसी विश्वास के आधार पर वे अपने को सारी चिन्ताओं से मुक्त कर सुख की नींद सोते हैं, यथा—

'सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के (क० उ० १०६)।

पाछिले को उपखान है

'पाछिले को उपखान' का रहस्य उक्त छन्द उद्धृत करने से ही स्पष्ट हो जाता है अस्तु यहाँ 'पाछिले को उपखान' का पूर्वा पर सम्बन्ध देख लेना भी पर्याप्त होगा यथा—

राम को कहाइ, नाम बेंचि बेंचि खाइ,
सेवा संगति न जाइ पाछिले को उपखान है ॥

स्पष्ट है कि पिछला उपाख्यान का तात्पर्य 'राम को कहाइ' है। इसकी पुष्टि निम्नांकित कथन से भी होती है—

'मोहि को कोउ कोउ कहत राम को सो प्रसंग केहि केरे।'

और वालपनो सूधो मन राम सनमुख भयो' से भी। परन्तु बाद में हुआ क्या? लोकरीति में पड़ने से या 'पति पाकर भरुआ जाने' से राम से विमुखता आ गई तथा केवल रामनाम के आधार पर उदर पोषण की बात रह गई। सत्संग और साधु सेवा की भावना जाती रही, ये सारी बातें गतकालीन उपाख्यान बन गई। इसी स्थिति को प्राप्त होने के कारण उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के साथ दगाबाजी करना माना है और अपने को 'दगाबाज' कहा है यथा—

'नाम तुलसी पै भोंड़े भाँग ते कहायो दास,
किये अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को—क० उ० १३

और—'मानस बचन काय किये पाप सतिभाय,
राम को कहाइ दास, दगाबाज पुनी सो'—क० उ०
खाई खोंची मांगि के तेरो नाम लिया रे

डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस कथन के आधार पर यह अनुमान किया है कि गोस्वामी जी पहले कभी किसी 'हनुमान मन्दिर' या 'हनुमान गढ़ी' में रह चुके थे[1] और उक्त मन्दिर के नाम से निकाली जाने वाली खोंची से जीविका

१—तुलसीदास पृ० १७०

करते थे किन्तु नीचे जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे डाक्टर गुप्त का अनुमान प्रमाण निष्प्राण हो जाता है। जब गोस्वामो जी ने अनेक बार अपने को राम का गुलाम होना और रामनाम के ही सहारे 'जीवन यापन' करना लिखा है तो इसके विपरीत उन्हें किसी स्वतन्त्र हनुमान-मन्दिर का सेवक मानने का कोई कारण दिखलाई नहीं देता। राम-मन्दिरों में तां सर्वत्र ही श्री हनुमानजी की स्थापना को गई होती है और सभी राम भक्त श्री हनुमानजी का भजन, पूजन और कीर्तन करते ही हैं। खोंची निकालने का नियम भी केवल हनुमान मन्दिरों के लिये ही नहीं है। अन्य मन्दिरों और साधु-महात्माओं के स्थानों के निमित्त भी बाजार से 'खोंची' निकाली जाती है और अपने खाने के लिये रमते-घूमते साधु और भिखमंगे भी समयानुसार बाजार से खोंची निकालते देखे जाते हैं। अस्तु गोस्वामी जी के केवल 'तेरो नाम लिया रे' कथन के आधार पर डा० गुप्तजी का अनुमान युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता, जबकि गोस्वामीजी के अनेक कथन बाल्यावस्था से ही उनके अनन्य राम भक्त होने की सूचना देते हैं—

'राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौ कबहूँ कहत हौं।
रोटी-लूगा नीके राखे, आगेहूं को वेद भाखे,
भलो ह्वैहै तेरो नाते आनन्द लहत हौं॥

और-मेरो तो राम को नाम कल्पतरु कलिकल्यान फरो।
मेरे माय बाप दुइ आखर हौ सिसुअरनि अरो॥

जब गोस्वामीजी स्वयं ही कहते हैं कि—

'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिलगत राज डगरो सो'

तब यह अनुमान करना कि वे किसी हनुमान मन्दिर के सेवक थे, ठीक नहीं है। राह चलते भले उन्होंने किसी हनुमान मन्दिर में टिकान दे दिया हो किन्तु स्थायी रूप से उनका किसी हनुमान मन्दिर में रहना सिद्ध नहीं होता वे एक स्थान पर कहते हैं—

चेरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत,
राम हू की बिगरी तुही सुधारि लई है।

यह प्रार्थना उसी रूप में है जैसे कोई कहता हो—मैं आपका सेवक हूँ आपने मुझे अपना बनाया है।' बात सत्य है राम के संबन्ध से तुलसी हनुमान के सेवक हैं, उनका सिद्धान्त तो यह है—

तलसी जाके बदन ते भूठेहु निकसत राम।
ताके पग की पानही तुलसी के तन चाम॥ दोहा

और इसी सिद्धान्त के अनुसार तुलसीदास जी की श्री हनुमान जी पर दृढ़ आस्था थी। गोस्वामी जी की बिनय पत्रिका पर श्री रघुनाथ जी की सही बनाने में श्री हनुमान जी का विशेष हाथ था। भला उन हनुमान जी पर तुलसीदास की निष्ठा क्यों न हो ? इसी निष्ठा के अनुसार उन्होंने श्री संकट मोचन हनुमान के अनेक विग्रह स्थापित किए। हनुमान जी का महत्व इस लिए भी है कि वे श्री रामचरित-मानस और राम-भक्ति के प्रथम उपदेशक साक्षात् शंकर के अवतार थे—

रुद्र देह धरि नेह बस शंकर भो हनुमान।--दोहा १४२

इतना ही नहीं हनुमान ही ने श्री गोस्वामीं जी का मार्ग प्रदर्शन किया था, उन्हें भगवान राम का दर्शन कराया था और गाढ़े दिनों में सदा उनको रक्षा में तत्पर थे। यदि तुलसी ने अपने को उक्त हनुमान का चेरा कहा तो यह उचित ही है। परन्तु यह सम्बन्ध उनका राम का भक्त होने से ही था। प्रधानता राम भक्ति की है, हनुमान भक्ति की नहीं यथा—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर,
पायँ तर आई रह्यो सुरसरि तीर हौं--क० उ० १६६

गोस्वामी जी अपने जीवन काल के प्रभात में ही श्री रामचन्द्र जी के सेवक हो चुके थे और फिर उसके बाद यदि कभी लोकरीति में पड़ने या 'पति पाकर पछताने' से यत्किंचित राम से विमुखता आई तो इसके लिए उन्हें ग्लानि और पश्चात्ताप ही हुआ, अस्तु गोस्वामी जी अनन्य रूप से राम के चेरे थे। राम के ही सम्बन्ध से उनके अन्य सम्बन्ध स्थापित थे। उन सम्बन्धों की स्वतः स्वतंत्र सत्ता न थी। राम से उनका जो सम्बन्ध प्रथमावस्था में स्थापित हुआ, जीवन भर बना रहा यथा—

बुझ्यो ज्यों ही कह्यो मै हूँ चेरो ह्वै हैं रावरे जू,
मेरे कोउ कहूँ नाहि चरन गहत हौं।' वि० ४६

और भगवान शंकर से इसी सम्बन्ध के कारण सम्बन्ध स्थापित था यथा—

'वामदेव ! राम को सुभाव सील जानि जिय,
नातो नेह जानियत रघुवीर भीर हौं।' क० उ० १६६

उनकी घोषणा है—

'नातो नेह राम सौं करि सब नातो नेह बहैहौं'--वि० १०४

और जब वे स्पष्ट ही स्वीकार करते हैं कि—

'तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरो और न काहू केरो' वि० १४५

यथा—'गरेंगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकी जीवन जनम जनम जग ज्यायो तिहारे कौरको हौं।
विनय० २६

तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि तुलसीदास कभी किसी हनुमान मन्दिर में सेवक थे। उन्होंने हनुमान मन्दिर तो क्या किसी राम मन्दिर में भी सेवक या पुजारी का काम किया, इसमें भी सन्देह है क्योंकि उनका स्पष्ट कथन है—

'रावरो चाहत भयो चेरो'
'बारक कहिये कृपालु तुलसी है मेरो'—विनय० १४६
और—'जो पै चेराई राम की करतो, न लजातो।
तो तू दाम कुदाम ज्यों करकर न विकातो?

इन बातों से विदित होता है कि तुलसीदास श्री रामचन्द्र जी के सच्चे भक्त तो थे किन्तु किसी राम मन्दिर के सेवक न थे। हाँ जन्म जात साधु सेवक अवश्य थे, जिससे उन्होंने राम भक्ति का उपदेश प्राप्त किया।

चेरो

चेरो का अर्थ है दास या सेवक। सभी वैरागी साधु रामचन्द्र जी के दास या सेवक होते हैं, इसीसे उनके नाम के साथ प्रायः 'दास' शब्द जोड़ दिया जाता है। गोस्वामी जी भी कहते हैं—

'जेहि सुमिरत भयो भाँग ते 'तुलसी' तुलसीदास।'

आचार्य पं० चन्द्रवली पांडेय ने 'चेरा' को वैरागी संप्रदाय के 'छोरा' से मिलाने का प्रयत्न किया है[1] किन्तु जब इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही भिन्न है तो इनकी एकता भी युक्ति-युक्त नहीं। 'चेरा' शध्द भोजपुरी भाषा का है इसके स्त्रीलिंग 'चेरि' का प्रयोग 'दासी' के अर्थ में होता है[2] जैसा कि अनेक भोजपुरी लोकगीतों में देखा जा सकता है।

यदि 'चेरा' का तात्पर्य 'छोरा' से होता तो गोस्वामी जी गोस्वामी पद पर पहुंचने के बाद भी अपने को 'चेरो राम राय को (क० उ० १६६) क्योंकर कहते? अस्तु चेरा का अर्थ सेवक करना ही उचित है। उन्होंने चेरा के पर्याय गुलाम का प्रयोग भी तो उसी अर्थ में किया है यथा—

'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम'
और—'हौं गुलाम राम साहि को' आदि।

---

[1] १—तुलसी की जीवनभूमि पृ० १९७
[2] २—'चेरि' छाड़ि अब होब कि रानी—तुलसी

कबीरदास भी अपने को राम का गुलाम ही कहते हैं—

'दास कबीर गुलाम घर का राखि चाहे मारि।'

गोस्वामी जी भी कहते हैं—

'साहेब को गोत गोत होत है गुलाम को।'

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी किसी 'मठ-मन्दिर' के 'छोरा'[1] न होकर केवल राम के 'चेरा' थे और सब प्रकार से वे राम का चेरा बनने की ही अभिलाषा रखते थे—

'हौं सब विधि राम रावरो चाहत भयो चेरो'--वि० १४६।१

इसीसे उन्होंने श्री राम जी के पूछने पर तुरन्त उत्तर दिया कि मेरा इस संसार में अपना कोई नहीं है, मैं एकमात्र आपका चेरा बनूँगा—

'बूझो ज्यों ही कह्यों मै हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू'
मेरे कोऊ कहूँ नाहि चरन गहत हौं--वि० ७६

बात यह है कि उन्हें संसार का भली-भाँति अनुभव हो चुका था, जैसा कि वे कहते हैं--

'नए नए नेह अनुभए देह गेह बसि
परखे प्रपंची प्रेम परत उघरि सो।
सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदा सूत जब
जाको काज तब मिलै पाय परि सो॥

जब सब ओर से नाता टूटता है तभी राम से नाता जुटता है, अतः जब तक जगत से नाता बना हुआ था तब तक वे राम का चेरा बनने में लज्जा का ही अनुभव करते थे। लज्जा भी एक प्रकार की जागतिक प्रवंचना ही है--

जो पै चेराई राम की करतो न लजातो।
तो तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न विकातो॥ वि० १५१।१

एक स्थान पर तुलसीदास जी अपने को श्री हनुमान् जी का 'चेरा' कहते हैं यथा—

---

[1] --वैरागी संप्रदाय में प्रायः १६ वर्ष की अवस्था में चेले का प्रवेश होता है। उसे क्रमशः छोरा, बंदगीदार और हुड़दंगा की अवस्था में ३-३ वर्ष बिताना पड़ता है। चौथी अवस्था में 'नागा' बनकर वह देश भ्रमण करता औ पाँचवी अवस्था में वह 'अतीत' कहलाता है दे०—अयोध्या का इतिहास पृ० ४६-४७)

चेरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो रामदूत !
राम हू की बिगरी तुही सुधारि लई है। बा०

जिस 'रामदूत' ने राम को भी 'बिगरी' सुधार ली, उससे बढ़ कर तुलसी का श्रद्धापात्र और आदरणीय सेव्य कौन हो सकता है ? वे पहले ही अपना सिद्धांत बना चुके हैं—

'नातो नेह राम सौं मानिय सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।'

श्री रामचन्द्र जी के हो सम्बन्ध से श्री हनुमान जी ने उन्हें अपना बनाया है, अस्तु वे उनके भी 'चेरा' हैं।

वंदिछोर

श्री हनुमान जी रुद्र के अवतार, राम के अनन्य भक्त और सर्व समर्थ हैं। वे गोस्वामी जी के सर्वाधिक विश्वसनीय और संकट काल के सहायक प्रतीत होते हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि—

ताकि है तमकि ताकी ओर को ?
जाको है सब भाँति भरोसो कपि केसरी किसोर को।'

वैसे तो गोस्वामी जी ने श्री रामचन्द्र जी को भी 'बंदिछोर' कहा है परन्तु उसका अभिप्राय भव बंधन से मुक्त करने वाला है।[1] इसी प्रकार उन्होंने कतिपय बार श्री हनुमान जी को भी 'वंदि छोर' कहकर स्मरण किया है। जिस स्थिति में वे श्री हनुमान जी को याद करते हैं उससे तो यही विदित होता है कि किसी समय श्री गोस्वामी जी पर बड़े सकट की घड़ी आई थी और उनके भक्ति प्रभाव की परीक्षा थी, जैसा कि निम्नांकित कथन से व्यक्त है—

'सेवक को परदा फटे तुम समरथ सीले।
सांसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुहीं ले॥
और—समरथ सुवन समीर के रघुबीर पियारे।
मो पर कीबे तोहिं जो करि लेहि भियारे॥ वि० ३३

इन बातों पर उस जनश्रुति की पुष्टि होती है जिसमें जहाँगीर द्वारा गोस्वामी जी के बंदी बनाए जाने की बात कही गई है। श्री हनुमान जी की कृपा से गोस्वामी जी कारा-मुक्त हुए थे और उनका प्रभाव भी बढ़ाया था।

---

[1] १—जबै जमराज रजायसु तें मोहिं लै चलिहैं भट बाँधि नटैया।
एक कृपालु तहां तुलसी दसरत्थ को नंदन बंदि कटैया॥
क० उ० ५१

और—बंदि छोर विरदावली निगमागम गाई—वि० ५०

इसलिए जिस प्रकार श्री रामचन्द्र जी तुलसीदास के आध्यात्मिक अर्थ में बंदीछोर' हैं, उसी प्रकार श्री हनुमान जी लौकिक अर्थ में 'बंदीछोर' हैं। (दे०—विनय पत्रिका और हनुमान बाहुक १३) केवल तुलसी के लिए ही नहीं देवताओं के लिए भी 'बंदीछोर' हैं यथा—

'दवन दुवन दल, भुवन बिदित बल,
बेद जस गावत बिबुध बंदिछोर को'—ह० बा० ६

चित्रकूट का चरित्र

चित्रकूट का वह चरित्र क्या है, जिसके विषय में गोस्वामी जी लिखते हैं—

तुलसी तोंको कृपालु जो कियो कोसल पात्र,
चित्रकूट को चरित्र चेतु चितकरि सो'—वि० २६४

कहते हैं कि सर्वप्रथम गोस्वामी जी को चित्रकूट में ही श्री रामचन्द्र जी का र्शन हुआ था, यथा—

'चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसे तिलक देत रघुवीर ॥'

चित्रकूट में गोस्वामी जी ने शिकारी तपस्वी के रूप में ही श्री राम-लक्ष्मण ा दर्शन किया, अस्तु वह रूप उनके हृदय में बैठ गया, यथा—

'हृदय आनु धनु बान पानि प्रभु, लसे मुनिपट कटि कसे माथ।
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ रामपद-कमल माथ ॥
विनय० ८४

चित्रकूट में श्री राम-लक्ष्मण सदा ही निवास करते हैं—

'चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत।
राम-नाम-जप जापकहिं, तुलसी अभिमत देत ॥ दोहा ४

और—'चित्रकूट अति विचित्र सुंदरवन महि पवित्र,
पावनि पय सरित सकल मलनि कंदिनी।
सानु जहँ बसत राम, लोचनाभि राम,
बाम अंग बामावर विस्ववंदिनी ॥ विनय० ४३।१

इसलिए—'तुलसी जो राम सों सनेह साँचो चाहिए
तो सेइये सनेह सो विचित्र चित्रकूट सो।
क० उ० १४१

श्री गोस्वामी जी को चित्रकूट में श्री रामचन्द्र जी का दर्शन एक अहेरी के प में हुआ था, अस्तु वे सम्पूर्ण चित्रकूट को ही एक अहेरी के रूप में देखते है यथा—

'मोह बन कलिमल पल पीन जानि जिय,
साधु गाय विप्रन के भय सो निवारि है।
दीन्हीं है रजाइ राम, पाइ सो सहाइ लाल,
लखन समर्थ वीर हेरि हेरि मारि है॥
मंदाकिनी मंजुल कमान असि, बान जहाँ,
वारिधार धीर धरि सुकर सुवारि है।
चित्रकूट अचल अहेरि बैठे घात मानो,
पातक के व्रात घोर सावज संहारि है।

क० उ० १४२

श्री रामचरित मानस में भी चित्रकूट के इसी रूप का दर्शन होता है—

लखन दीख पय उतर करारा। चहुं दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठ भेरी॥

अ० १३३

तुलसी मर्यादावादी समाज सुधारक थे, इसलिए उनकी भावना के अनुरूप उनके इष्टदेव राम का दर्शन कलि-कलुष रूपी सावज के अखेटक धनुर्धारी वीर राम के रूप में हुआ। जिन्होंने लोक मर्यादा की रक्षा के लिए वनवास लिया था।

जहाँ चित्रकूट का यह रूप है, वहाँ गोस्वामी जी को भय क्या? परन्तु वे तो कहते हैं—'चित्रकूट गए लखि कलि की कुचाल सब अब अपडरनि डरयो हौं।' यह कैसो कलि को कुचाल और अपडर क्यों? ज्ञात होता है गोस्वामी जी की गृहस्थ जीवन की ओर प्रवृत्ति चित्रकूट में ही हुई थी और वे लोक-रीति में आ फँसे थे। यही तो 'अपडर' है—

जानि पहिचानि मैं विसारे हौं कृपा निधान!
एते मान ढीठ हौ उलटि देत खोरि हौं।

अपना दोष भगवान पर मढ़ देना, यह भी तो कलि की ही करतूत है। वह जाना-पहचाना चोर है अस्तु भयानक और अविश्वसनीय भी है—'चीन्हो चोर जिय मारि है' इसी कलि ने राम रोष इरषा और बिमोह में बाँध कर तुलसीदास को साधु समिति से अलग कर दिया था—

जौवन जुवतिन लियो जीति,
राग रोग इरषा विमोह बस रुची न साधु समीति॥ वि०

नवम अध्याय

प्रकीर्ण

तुलसी के जीवन की पृष्ठभूमि—

किसी भी पुरुष की जीवन भूमि का निर्माण देश-काल की परिस्थिति तथा तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक वातावरण के अनुसार ही होता है। इन कारकों का प्रभाव और प्रतिक्रिया अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार की होती है। जिस समय गोस्वामी जी का जन्म हुआ, देश राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का अखाड़ा बना हुआ था। नाना प्रकार के मतवादों के प्रचार से परम्परागत सामाजिक-मर्यादा की शृंखला भग्न होती जा रही थी। जिस समय उनकी आखें खुलीं,' उन्होंने देखा—'प्रजा-पीड़ित, और लोक-जीवन संत्रस्त है। कर्त्तव्यहीन दूराचारी शासक वर्ग, अधिकार-लिप्सा, दुर्वासना, भोगविलास, सुख-समृद्धि और ऐश्वर्य सिद्धि के निमित्त निरीह प्रजा की 'वलि' दे रहा है। शांति केवल कल्पना और सुख सपने की छाया है।

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहलाने वाले महान मुगल सम्राट् और उनके इन्द्रतुल्य अधिकारियों का अतुल ऐश्वर्य कहां से आया था! जिन दिनों विश्वविश्रुत दिल्ली नगरी स्वर्ग का उपहास करती हुई कह रही थी—'अगर फिरदौस बरख्ये जमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्तो' अर्थात् यदि कहीं पृथ्वी में स्वर्ग है तो यही है, यही है, यही है।'

यह सम्पूर्ण श्री-समृद्धि रक्तरंजित थी। खून-पसीना एक कर गाढ़ी कमाई करने वाले पराधीन प्रजावर्ग के शोषण से प्राप्त हुई थी। बसन्त-सी विकसित और चाँदनी सी चमकती हुई दिल्ली की शोभा उनकी दृष्टि में वधिक के विरूप-वीभत्स अट्टहास सी निर्मम थी। संगीत-सुमधुर दिल्ली का वातावरण दुःखियों की आह और दीनों की आर्त्तवाणी से सकरुण था। स्वर्गोपम भव्य अट्टालिकाएँ [illegible] प्रचुर-परिश्रमशील नंगे-भूखों की हड्डियों की ईंट और रक्त के गारे से

निर्मित थीं। गोस्वामी जी ने उस समय के राज-समाज का जो चित्र खींचा है, द्रष्टव्य है—

काल-कराल, नृपाल कृपाल न,
राज समाज बड़ोइ छली है॥ क० उ० ८५
'राज समाज कुसाज कोटिसत,
कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परिमित पति,
हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम बरन धरम बिरहित जग लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई छँटि,
बढ़ी कुरीति कपट कलई है॥
सीदत साधु साधुता सोचति,
खल विलसत हुलसति खलई है॥ वि० प०
'गोड गँवार नृपाल महि, जवन महा महिपाल।
साम न, दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥
काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमी–पाल॥ दो० ५१५

अकबर में यद्यपि धार्मिक कट्टरता न थी, किन्तु अभी थोड़ा ही समय बीता था कि उसके पूर्व के शासकों की रीति–नीति भारतीय–संस्कृति से भिन्न थी। श्रुति-स्मृति की मर्यादा, गो-ब्राह्मण की रक्षा, हिन्दू तीर्थ-व्रत और राम-कृष्ण के आदर्शों के वे समर्थक न थे। उनकी भाषा वेषभूषा, धार्मिक ग्रन्थ, त्योहार-व्यवहार सब पृथक् थे। तलवार के बल पर टिकनेवाले इन शासकों ने हिन्दुओं पर घोर अत्याचार किए। उनकी धर्म-मर्यादा को मेटने का भरसक प्रयत्न किया। लूटखसोट और जजिया कर लगाकर उन्हें निर्धन बनाया। भय और प्रलोभन से उन्हें धर्मच्युत किया उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार किए। मन्दिरों की जगह मस्जिदें खड़ी की। ऐसी स्थिति में एक निर्लोभ और निर्भीक समाज-सुधारक का मन क्षुब्ध हुए बिना कैसे रह सकता था ?

श्री केशवचन्द्र मिश्र 'चंदेल और उनका राजत्व-काल' पृ० १८६ पर लिखते हैं। 'तुर्कों के प्रति सहज भावना प्रेम की नहीं घृणा की उठती थी, जो हिन्दू

अपने नेत्रों के समक्ष मन्दिरों को धराशायी होते और पशुओं को उच्छिन्न होते देखते थे, उनकी मनोदशा का क्या पूछना ? केवल उनकी सामाजिक और धार्मिक काया ही नहीं उनकी सभ्यता और परम्परा अधर में पड़ गई थी।'

महमूद के आक्रमण काल का विवरण देते हुए अल्वेरुनी ने लिखा है, 'महमूद ने भारत वर्ष की सभी अर्जित थाती और उसका सौन्दर्य सोलह आने नष्ट कर दिया और ऐसा झंझावात ला दिया, जिसने हिन्दुओं को रजकण की भाँति बिखेर दिया। यही कारण है कि हिन्दुओं की विद्याएँ एवं ज्ञान इस भूमि से जिसे हम लोगों ने विजित किया है, वहुत दूर 'काशी' जैसे स्थानों को चली गई, जहाँ हम लोगों के हाथ नहीं पहुंच सकते।'

महमूद के बाद भी वर्वर तुर्कों के आक्रमण होते रहे और वे करते-करते काशी क्या, विहार और बंगाल तक पहुँच गए। जौनपुर के शासकों का राज्य काल जो अपेक्षाकृत अच्छा कहा जाता है, उस समय की मंगोल सेना का वर्णन करते हुए 'कीर्त्तिलता' में कविवर विद्यापति ने लिखा है—

'वह मत्तमंगोल किसी की बात नहीं सुनता तिलक को मिटा देता है और जनेऊ को तोड़ डालता है। गाय और ब्राह्मण का वध करने में दोष नहीं मानता। गोमांस खाकर 'विस्मिल्ला' कहता है। देवालयों को तोड़ कर मस्जिदें, खड़ी करता, गांवों में आग लगा देता, स्त्रियों को छीन ले जाता तथा वच्चों को मार डालता है, वह स्त्रियों और वच्चों का वध करने में दोष नहीं मानता। छोटे दर्जे का तुर्क भी बड़े-वड़े लोगों को घुड़क देता है। लूट ही उसकी कमाई है। मंगोलों की सेना जिधर से निकल जाती है, उधर के राजाओं की स्त्रियां भी वाजारों में विक जाती हैं।'

यह नहीं कहा जा सकता कि अफगानों और मुगलों के समय में ऐसी बात नहीं थी। भोजपुरी प्रदेश में 'अफगान पड़ना' महावरा ही बन गया है, जिसका अर्थ है—'घोर विपत्ति या उपद्रव उपस्थित होना।' तुलसीदास के जन्म के थोड़े दिनों पूर्व सिकन्दर लोदी ने मथुरा में भगवान कृष्ण के जन्म स्थान का मन्दिर तीसरी वार तोड़ा एवं उसकी आज्ञा से अन्यत्र भी मन्दिर गिरा दिए गए। वावर ने अयोध्या में श्री रामचन्द्र जी की जन्मभूमि के मन्दिर को मस्जिद के रूप में ही वदल दिया एवं अयोध्या के एक स्थान का नाम मक्काखुर्द कर दिया गया (अयोध्या का इतिहास पृ० १४३-४४)

स्वयं तुलसीदास के जीवनकाल में क्या स्थिति थी, उसके विषय में आचार्य पं० चन्द्रवली पांडेय 'तुलसीदास' पृ० १६७ पर कहते हैं—'गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय की भीषण दरिद्रता का जो रूप उपस्थित किया है उसे वे लोग भलीभाँति नहीं समझ सकते जो मुगल शासन की चमक दमक में ही अन्धे,

हो रहे हैं अरे ! सच्ची बात तो यह है कि उस समय की वस्तु स्थिति यह थी कि सचमुच राजा प्रजा को खाकर ही पुष्ट होता था और उसके रक्त की लालिमा ही जहां-तहां उसके लालकिलों और महलों में फूट निकलती थी। भूलिए नहीं उसी समय के एक डच यात्री किंवा व्यापारी का कहना है—

'यदि किसानों को निर्दयता से कुचला न जाय तो यहां प्रचुर मात्रा में ही नहीं असाधारण रूप से उपज हो सकती है क्योंकि वे गांव जो उपज की कमी के कारण पूरी मात्रा में कर नहीं दे पाते, स्वामि वर्ग अथवा शासकों के द्वारा एक प्रकार से विक्री की सामग्री बना दिए जाते हैं और विद्रोह का बहाना रखकर उनकी स्त्रियां तथा बच्चे बेंच दिए जाते है। परिणाम यह होता कि खेत खाली पड़ जाते तथा न बोए जाने के कारण जाली बन जाते हैं। इस देश में ऐसा उत्पीड़न बहुत ही प्रचलित है (जहाँगीर काल का भारत श्री डब्ल्यू० एच० मोरलैंड, कैंब्रिज १९२५)

मुगलों के शासन काल में अनेक बड़े भयंकर अकाल पड़े, जिनमें भूख से तड़प-तड़प कर बहुत से लोग मर गए और गाँव-नगर सुनसान हो गए थे। अकाल के साथ बहुधा महामारी का भी महाभयानक प्रकोप होता था, जिनसे जनपद उजड़ जाते थे। इतिहासकार बदायूँनी ने ऐसे अकालों का आखों देखा वर्णन किया है। वह लिखता है कि—भूख की ज्वाला में तड़पते हुए मनुष्यों को देखकर बड़ा कष्ट होता था। मनुष्य मनुष्यों को भी खा जाते थे।[1]

दुःख की बात यह है कि निरंकुश शासक वर्ग को जितनी चिन्ता अपने भोग-विलास की थी, उतनी जनता के दुःख-सुख की न थी। उस समय की स्थिति का चित्र गोस्वामी जी के निम्नांकित कथनों में देखा जा सकता है—

'संकर-सहर-सर नरनारि बारिचर,
विकल सकल महामारी माजा भई है।
उछरत, उतरात, हहरात, मरिजात,
भभरि भगात जल थल मीचु मई है॥
देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित,
वारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
क० उ० १७६

और—'आश्रम-बरन कलि-विवस विकल भए,
निज-निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोष महामारी ही तें जानियत,
साहिब सरोष दिन दिन दुनी दारदी॥

---

[1] —मध्यकालीन भारत (श्री अवधविहारी पांडेय कृत) पृ० ४९०

नरनारि आरत पुकारत सुने न कोऊ,
काहू देवतन मिलि मोटी मूठी मार दी ॥
क० उ० १८३

मांडलिक-मनि' रावण के 'निज-मंत्र' राज्य करने में उसी निरंकुश शासन वीभत्स दृश्य दिखाई पड़ता है। 'राक्षस-राज' आकार-प्रकार में साधारण नुष्यों से भिन्न न था किन्तु शास्त्र की अवज्ञा करने और प्रजा-पीड़क होने से 'मनुष्य भक्षक' (मनुजाद) कहलाया। मुसलमानों को भी हिंदू 'म्लेच्छ' हने को वाध्य हुए थे।[1] राक्षस और म्लेच्छ शासन में अन्तर क्या है?

'जप-जोग-विरागा, तप-मख भागा, स्रवन सुने दस सीस ।
आपुन उठि धावे, रहनन पावे, धरि सब घाले खीसा ॥
सब भ्रष्ट अचारा, भा संसारा, धरम सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु विधि त्रासे, देस निकासे, जो कह वेद-पुराना ॥
बरनि न जाय अनीति, घोर निसाचर जो करहि।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कौन मिति ॥

प्रायः इतिहासकारों ने मुगल राज्य की प्रशंसा उसके ऐश्वर्य और टोमटाम को देखकर की है किन्तु ऐश्वर्य की प्राप्ति अनेक के निर्दलन तथा दीन-दुखियों के शोषण के आधार पर हुआ है, इस पर तुलसी जैसे महान् जन नेता को ही दृष्टि ड़ी। जमींदार अर्द्ध स्वतन्त्र थे और अधिक से अधिक कर वसूल कर राज्य का कोष भरते थे। तुलसीदास के समकालीन कविवर बनारसी दास के 'अर्द्ध-कथानक' से विदित होता है कि आए दिन विद्रोह होते और चोर-डाकुओं से किसी का जान-माल निरापद न था।

रावण राज्य रूपी कठिन राज रोग से पीड़ित लोक-जीवन की रक्षा और सुख-शांति के लिए ही तुलसीदास ने 'राम-राज्य' का नुस्खा दिया तथा रामचरित की मधुर सुधा धारा प्रवाहित कर लोक-जीवन को अमृतमय बना दिया। इसका परिणाम हुआ कि कितने राक्षस भी देवता बन गए। उनका मन बदल गया हृदय परिवर्त्तित हो गया।

रामचरित की जीवन दायिनी मधुमय, सुधा धारा का उद्गम कर्त्तव्य-परायणता के उन्नत गौरव गिरि कठिन शिलाओं में हुआ है। वन में राक्षसों द्वारा

---

[1] —उन सभी विदेशियों से वे हिन्दू किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का विरोध करते हैं जिन्हें वे म्लेच्छ या पापात्मा कहते हैं, यह सम्बन्ध चाहें अंतर्विवाह हो अथवा दूसरे प्रकार का, जैसे उठना-बैठना खान-पान। —अल्बरूनी।

बध किए गए मुनियों के अस्थि पंजर देख राम रो पड़े। उन्होंने तत्काल भुजा उठाकर पृथ्वी को आततायी राक्षसों से विहीन करने का प्रण किया और मुनियों के आश्रमों में जा जाकर उन्हें निर्भय किया —

'अस्थि-समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन लागि अति दाया॥
विप्र समूह निशाचर खाए। सुनि रघुनाथ नयन जल छाए॥
निसिचर हीन करौं महि भुज उठाय प्रन कीन्ह।
सकल मुनिन के आश्रमहिं जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

राम बहु-साधन-संपन्न राक्षस राज रावण से युद्ध के लिए तैयार हैं पर इनके पास उस अत्याचारी से युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए एक रथ तक नहीं है और न कवच है। राम की इस परिस्थिति से चिंतित हो विभीषण निवेदन करते हैं-

"नाथ, न रथ नहिं तन पदत्राना।
केहि विधि जितब बीर बलवाना?"

इस पर श्री रामचन्द्र जी का उत्तर विचार की जिस उच्चतम दृढ़भूमि से दिया गया, संसार में अनुपम और बेजोड़ है।[1] उन्होंने जिस धर्मरथ, कवच और अस्त्र-शस्त्र की उपयोगिता बताई, महात्मा गांधी ने अपने स्वतन्त्रता-संग्राम में उसी का उपयोग किया। एक ओर भी भौतिक साधनों से संपन्न ब्रिटिश शासन और दूसरी ओर कोपीन धारी खाली हाथ गांधी! जैसे राम-राज्य का संघटन रावण राज्य की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ, वैसे ही गांधीवादी भावना भी तात्कालिक शासन के शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकट हुई। इस समान परिस्थिति ने ही गांधी जी के मन में राम राज्य की स्थापना को भावना उत्पन्न की। गांधीवाद को आधार शिला तुलसो का रामचरित मानस ही है। इस निर्मल चरित्र पर कभी उड़कर धूल भो नहीं पड़ो। वह सदा सरल, स्वच्छ, उज्ज्वल और देदीप्यमान है।

---

[1] —सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज जेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ धुजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर विग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥
रा० लं० ८०

गोस्वामी जी ने कई स्थानों पर राजा और राज-समाज के व्यवहार की निन्दा की है और उक्त समाज को छली कपटी कहा है, जिससे प्रकट होता है कि उन्हें स्वयं उक्त समाज के छल-कपट पूर्ण व्यवहार का भुक्त भोगी होना पड़ा था। यथा—

राज करत बिनु काज ही करहिं कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज ॥ ४१६
राज करत बिनु काजहीं, ठटहिं जे कूर कुठाट।
तुलसी ते कुरुराज ज्यों, जइहैं बारहबाट ॥ ४१७

उस समय के राज-दरबारों की स्थिति और मनोवृत्ति कैसी थी? निम्नांकित कथन से स्पष्ट है, वहां न ब्राह्मणादि का सम्मान था, न साधु-संत की पूछ, यथा—

बड़े बिबुध दरबार तें, भूमिभूप दरबार।
जापक पूजक पेखियत, सहत निरादर भार ॥ दो० ३६३
सारदूल को स्वांग करि, कूकुर की करतूति।
तुलसी ता पर चाहिए, कीरति विजय विभूति ॥ ४१२

गोस्वामी जी के कथन के अन्तर्साक्ष्य से विदित होता है कि उन्हें उस स्वार्थी समाज का भी पाला पड़ा था, जहाँ वे शैशवावस्था में पालित पोषित हुए थे जैसा कि वे कहते हैं—

स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा के टोटक ज्यों,
औचट उलटि न हेरो। वि० प०

दोहावली से विदित होता है कि उक्त पुष्ट साथी बड़े दंभी और पाखंडी थे।[1] बाहर से तो वे बड़े ही नम्र, मधुर भाषी, व्यवहार कुशल, विचार के वचन बोलने वाले और आचार निष्ठ थे परन्तु बड़े कपटी और बेईमान थे। उनका काम बड़ी नीचता का था। उन्होंने स्वार्थ वश छल से बड़े-बड़े पाप किए थे किन्तु बाह्य रूप से लोगों को दिखाने के लिए छोटे-छोटे पापों से भी बचते थे यथा—

सहवासी काचो गिलहिं, पुरजन पाक प्रवीन।
काल छेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खगमृग मीन ॥ ४०४
जासु भरोसे सोइए, राखि गोद में सीस।
तुलसी तासु कुचाल तें रखवारो जगदीस ॥ ४०५
मार खोज लै सौंह करि-करि मत लाज न त्रास।
मुए नीच ते मीच बिनु जे इनके बिस्वास ॥ ४०६

---

[1] १—दांभिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ॥ महा० वन० २१५।१२

पर द्रोही परदार-रत परधन पर अपवाद।
ते नर पामर पाप मय, देह धरे मनुजाद॥ ४०७
वचन वेष क्यों जानिए, मन मलीन नरनारि।
सूपनखा, मृग, पूतना, दसमुख प्रमुख विचारि॥ ४०८
हँसनि, मिलनि बोलनि मधुर कटु करतब मनमाहँ।
छुवत जो सकुचइ सुमति सो, तुलसी तिनकी छाहँ॥ ४०९
कपट-सार-सूची सहस, बाँधि बचन परकास।
किया दुराउ चहै चातुरी, सो सठ तुलसीदास॥ ४१०
बचन-बिचार, अचार-तन, मन करतब छलछूति।
तुलसी क्यों सुख पाइए, अन्तर्जामिहिं धूति॥ ४११
बड़े पाप बाढ़े किए, छोटे किए लजात।
तुलसी तापर सुख चहत, विधि सो बहुत रिसात॥ ४१२

गोस्वामी जी ने भगवान से यह निवेदन करते हुए कि—

'पाहरूई चोर देखि हिय हहरान है।' क० उ० ८०

उन्हें अपनी रक्षा में तत्पर रहने के लिए सावधान किया है तो क्या कभी तुलसीदास को अपने पहरुओं से ही धोखा हुआ था ? ऐसा ही लगता है। उन्हें राज और राजसमाज दोनों का ही विश्वास न था, वास्तव में ये लुटेरे थे। ज्ञात होता है उनके भी संरक्षकों ने ही उनकी संपत्ति पर अधिकार कर लिया था।

तुलसीकाल का समाज प्रायः तीन भागों में विभक्त था—

(१) राज-समाज—जिसमें मदांध मुसल्मान शासक और उनके खुशामदी हिन्दू राजा-जमींदार सम्मिलित किए जा सकते हैं। यह वर्ग अत्यन्त ऐश्वर्यशाली नितांत विलासी, निरंकुश और नाना प्रकार के षडयन्त्र में प्रवृत्त रहकर अपने अधिकार बढ़ाने का अभिलाषी था। इसके सामने न कोई उच्च आदर्श और ऊँचा लक्ष्य था और न प्रजा रक्षण कर समाज को ऊँचा उठाने की ही प्रवृत्ति थी। ये भोग वादी थे।

(२) पुरोहित वर्ग—अहम्मन्य कट्टरपंथी और अनुदार था। अपनी उच्चता प्रकट करने के लिए वह अपने आचार-व्यवहार में ढोंग का सहारा लेता था। दूसरों की निन्दा और परस्पर दलवन्दी करता था। छुआछुत और नीच-ऊँच की भावना उसके रग-रग में घर कर गई थी। उसकी इस भावना के कारण समाज छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया था और उसे एक सूत्र में बाँधना एक कठिन कार्य था।

(३) साधारण शोषित वर्ग—शोषित वर्ग में वे प्रायः सभी लोग थे, जो चार' से पोड़ित और आए दिन होनेवाली लूट-खसोट से भयभीत थे। इनके जीवन में न हँसी-खुशी का वातावरण था और न उन्हें कोई पूछने वाला था। जैसे गीरदार वर्ग उन्हें निम्नकोटि का मानता था, वैसे ही पुरोहित वर्ग भी। इस-ए उनका स्वाभिमान नष्ट हो गया था और आत्मचेतना मर चुकी थी। वे ड़ी के मोल बिक सकते थे; गरीबी, तिरस्कार प्रलोभन और भय के कारण वश हो अनिच्छा पूर्वक भी लोग इस्लाम स्वीकार कर लेते थे।

उस समय समाज का मार्ग-प्रदर्शक संत-समाज भी प्रायः तीन भागों में भक्त था—

(१) मुसल्मान सूफी संत—सूफीमत यद्यपि हिन्दू वेदांत और नाथ—संप्रदाय प्रभावित था, परन्तु सूफी लोग परोक्ष रूप से इस्लाम के ही प्रचारक थे। म्प्रदायिक-मनोवृति होने के कारण इनमें सार्वभौमिक उदारता न थी।

(२) निर्गुणिया संत—सूफियों की अपेक्षा इनका मत व्यापक तो था किंतु मानस को आकर्षित करने योग्य सरसता उसमें न थी। उथले तर्क और क्तियों पर आधारित होने से विद्वत्समाज का झुकाव उसकी ओर नहीं सकता था। निर्गुणिया सन्तों के कई सम्प्रदाय थे जैसे-नाथ-सम्प्रदाय, कबीर थ, नानकपंथ आदि। ये सभी सम्प्रदाय वेद को प्रमाण न मानने वाले और र्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी थे।

(३) शैव, वैष्णव, शाक्त आदि—जो अपने आराध्य देव की मूर्त्ति बनाकर ासना करते थे किन्तु इनके आचार-विचार और सिद्धान्त में परस्पर बहुत तर था। इनमें शैव प्रायः लौकिक जीवन से उदासीन, कृष्णभक्त वैष्णव ंगारिक भावना प्रधान और शाक्त मद्य-मांस सेवी और प्रायः लोक-वेद रोधी थे।

उपर्युक्त परिस्थिति में सामाजिक जीवन विशृंखल हो रहा था। उसकी दा टूट रही थी। समाज में भावे सो कहत, मन भावे सो करत बात, कस हेतु है, (तुलसी) की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। कहने का आशय यह के समाज विशेष रूप से विघटित हो रहा था। सांस्कृतिक-संघर्ष, राजनीतिक थल-पुथल, निवासियों का स्थानांतरण, सामाजिक उच्छृंखलता, संकीर्ण स्वा-र्थता और आर्थिक विषमता सामाजिक विघटन के मूल कारण हैं। ऊपर के रण से स्पष्ट है कि तुलसीकाल की पृष्ठभूमि में सामाजिक विघटन के प्रायः ी तत्त्व विद्यमान थे। पहले कहा गया है कि न राज-समाज में कर्त्तव्य के ति निष्ठा रह गई थी और न जनता में सामाजिक अनुशासन। विदेशी संस्कृति की विचार-सरणि और मान्यताएँ कुछ और थीं। उनसे परम्परागत सामाजिक

मान्यताओं का मेल-नहीं बैठता था। मुसल्मान शासकों की हिन्दू समाज के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति न थी, वरंच वे उसकी भावनाओं के विपरीत कार्य करना ही उचित समझते थे। सूफी और निर्गुनिया सन्तों और सोतांत्रिक वामाचारियों ने अपने उपदेशों द्वारा सामाजिक अव्यवस्था और अनियंत्रण उत्पन्न कर दिया था, जिससे लोग प्रायः भ्रमित हो रहे थे और उनके लिए यह निश्चय कर पाना कठिन हो रहा था, कि उन्हें किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और किसका त्याग। मानसिक उलझन और विचारों की जटिलता बढ़ गई थी।

इस प्रकार की परिस्थिति किसी भी समाज या राष्ट्र के लिए घोर अभिशाप है। सामाजिक संगठन के भंग हो जाने से सर्वत्र असंतुलन और तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है। लोगों की मनोवृत्ति भोगवादी हो जाती है, जिससे राज्य, प्रजा का, धनी गरीब का पूँजीपति मजदूर का राजकर्मचारी जनता का डाक्टर रोगी का और साम्प्रदायिक नेता सांप्रदाय के लोगों का आर्थिक शोषण करने लगते हैं। प्रायः लोगों की मनोवृत्ति भौतिकवादी हो जाती और उनका नैतिकपतन हो जाता है। भोग और काम लिप्सा के अतिरिक्त उनका कोई लक्ष्य नहीं रह जाता, जिससे समाज की प्रगति रुक जाती एवं सुख-शान्ति का नाश और सांस्कृतिक ह्रास होता है।

व्यक्तिगत स्वार्थपरता के बढ़ जाने से आत्मिक विकास करने वाले गुण जैसे उदारता, सेवा प्रेमभाव, त्याग, सहानुभूति, कष्ट सहिष्णुता, न्याय की भावना क्षमा, कृपा आदि का महत्व घट जाता है। कलह, विवाद, युद्ध, अन्याय, पक्षपात, ममता, दुरभिमान, दर्प गुंडई मानसिक अशान्ति, अस्वास्थ्य, अत्याचार मद्यपान, जुआ, झूठ, जाल-फरेब, धूर्तता, ठगी, चोरी, बटमारी, लूटखसोट, हत्यादि, व्यभिचार बेकारी, घुसखोरी, घृणा, दंभ, ढोंग, पाखंड, फुसलाना-बहकाना, निकम्मापन अविश्वास उद्दंडता निर्लज्जता, दुःशीलता कर्त्तव्य पालन न करना आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है। समाज को बिगाड़नेवाले गुंडों का आतंक छा जाता है। ऐसी दशा में न राज्य का अनुशासन रहता है, न समाज का ही प्रभाव। फलस्वरूप जनता का मानसिक एवं चारित्रिक पतन हो जाता है। समाजशास्त्रियों के कथनानुसार यह सामाजिक गतिरोध उत्पन्न करने वाली अवांछनीय और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।[१]

ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में तुलसीदास का जन्म हुआ था। श्री रामचरित-मानस, विनय पत्रिका, कवितावली दोहावली और रामाज्ञा-प्रश्न में उक्त स्थिति का वर्णन उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है। रामचरित मानस में रावण राज्य का चित्रण और कलियुग का वर्णन उसी अवस्था के चित्र हैं यथा—

१—श्री जे० एफ० कुवेर—सोसिला जी पृ० ५२६

'देखत भीम रूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी ॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया ॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥
जेहिंजेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्रामपुर आगि लगावहिं ॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव विप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिं हरि भगति जज्ञ तप ज्ञाना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥
बाढ़े बहु खल चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा ॥

रा० बा० १८३-८४

कवितावली में कहते हैं—

'बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुबासना विनास्यो ज्ञान,
बचन विराग वेष जगत हरोसो है॥
गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग तें तेके लिही छरोसो है।
काय-मन-बचन सुभाय तुलसी है जाहि
राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है॥ क०उ० ८४

'श्री रामचरित मानस' में कलि-वर्णन प्रसंग में जिस समाज का चित्र मिलता है वह यद्यपि श्रीमद्भागवत में वर्णित कलि वर्णन के अनुरूप अधिक है फिर भी कवि ने उसमें उस समय के समाज का ही अंकन किया है यथा—

'सोइ सयान जो परधन हारी। जो करु दंभ सों बड़ आचारी ॥
जो कछु झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना ॥
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी बैरागी ॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥
असुभ भेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी ते सिद्धनर पूज्य ते कलिजुग माहिं ॥ ९८ ॥
जे अपकारी चार, तिनकर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, ते बकता कलिकाल महँ ॥ ९८ ॥
ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात।
कौड़ी कारन मोह बस करहिं विप्र गुरुघात ॥ ९९ ॥

बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि ?
जानै ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि ॥ ९९ ॥
भए बरन संकर कलिहिं, भिन्न सेतु सबलोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय, रुज, सोक, बियोग ॥
श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ, संजुत विरति बिवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कल्पह पंथ अनेक ॥ उ० का० १०४

और—'प्रीति सगाई सकल विधि बनिज उपाय अनेक।
कलबल छल कलिमल मलिन डहकत एकहिं एक ॥ ५४७
दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत व्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार ॥ ५४८
चोर चतुर बटपार नट प्रभुप्रिय भड़ुआ भड।
सब भच्छक परमारथी कलि सुपंथ पाषंड ॥ ५४९
सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचाल कुसाज।
मनहुँ मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज ॥ ५५८
साखी, सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद-पुरान ॥ ५५४
—दोहावली

कुछ ऐसा ही था, गोस्वामी तुलसीदास के समय का समाज ! 'यथा राजा तथा प्रजा।' इस प्रकार के समाज और शासक वर्ग को देखकर उनके मन में जो अंतर्क्षोभ उत्पन्न हुआ उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप, रामचरित मानस की अवतारणा हुई। कलि की ज्वाला से संतप्त मनुष्यों के लिए, इन्होंने दान और रामभक्ति का उपदेश दिया क्योंकि इसके लिए इससे सुविधाजनक दूसरा उपाय नहीं है—

'कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर विस्वास।
गाइ राम गुन गन विमल, भवतर बिनहिं प्रयास ॥
प्रकट चारि पद धर्म के, कलि महँ एक प्रधान।
येन केन बिधि दीन्हें, दान करइ कल्यान ॥ रा० उ० १०३

तुलसीदास के जीवन काल की उपर्युक्त पृष्ठभूमि को समझ लेने से इस शंका का स्वयं निवारण हो जायगा कि उनकी विचारधारा किन आधारों पर गठित हुई और उसकी प्रतिक्रिया उनकी रचनाओं में किन रूपों में हुई है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जीव अकिंचन है भगवत्कृपा की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ

है। जो कुछ है भगवान का दिया हुआ है अधिकार और ऐश्वर्य कर्त्तव्य पालन के निर्मित है। क्षेम रहित रोग नष्ट हो जाता है और जगत् को भी नष्ट करता है।[1] योग-क्षेम के इसी रहस्य का प्रतिपादन तुलसी का लौकिक उद्देश्य था इस प्रकार जो स्वार्थ को समझता है वही परमार्थ के पथ को भी प्राप्त कर सकता है।

तुलसी की रामकथा

कविता कवि के 'मानस' का दर्पण है। भावनाओं और बिचारों के अनुसार ही कथाकार, कवि कथावस्तु का निर्वाचन या निर्माण करता है। तुलसीदास ने जिस रामकथा का वर्णन किया है, उनमें उनकी आत्मा कहाँ है? किस भावना से उन्होंने उसका उद्घाटन किया है और इस प्रकार उनका उद्देश्य क्या है, यह जानने के लिए उक्त कथा के महत्त्व या विशेषता का विश्लेषण आवश्यक है।

जब हम 'रामचरित-मानस' की रामकथा को आदि कवि की 'रामकथा' से मिलाकर देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कथाओं के कथासूत्र तो भिन्न हैं ही, दोनों के घटनाक्रमों में भी स्थान-स्थान पर परस्पर अन्तर है। आदिकवि ने रामकथा का 'क्षेत्र' तो पहले तैयार कर लिया था और उपर्युक्त आदर्श नायक की खोज बाद में की; जैसा कि बाल्मीकि रामायण से प्रकट है तथा पं० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि—

"मानव मेदिनी आर्यभूमि के मानव जीवन के लिए सांस्कृतिक पाठ्य-पुस्तक लिखने को उत्कंठा मानो महामुनि के हृदय में खलबलो मचाए हुए थी और शायद इसीलिए उन्हें एक 'आदर्श चरित्र-चित्रण' की चिन्ता गहरे गवेषण में निमग्न किए हुए थी। कुछ भी हो वे महान् मेधावी मुनि भी एक सच्चे ऊँचे हुए जिज्ञासु बन कर स्वाध्याय के अध्यवसायी, भू-मंडल के वृत्त जानकार, वाणी विशारद, तपोनिष्ठ, नारद मुनि की सेवा में उपस्थित हुए। मुनिवर बाल्मीकि को अनुभव हुआ कि 'सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति' के परिचय को मेरी जिज्ञासा के समाधान के लिए महामुनि नारद से बढ़कर अन्य कोई व्यक्ति उपयुक्त नहीं है। जिज्ञासु मुनि वाल्मीकि महोदय स्वयं अपनी ओर से सर्वोत्कृष्ट विशेषणों और लक्षणों वाले ऐसे व्यक्ति की कल्पना करके नारद के पास गए थे कि जिस गुणो के चरित्र के वर्णन से जनता को आदर्श 'मानवीय जीवन जीने की पद्धति' का उदाहरण मिल सके।[2]"

१—जाय जोग जग छेम बिनु, तुलसी के हित राखि।
बिनुऽपराध भृगुपति, नहुष, बेनु, बृकासुर साखि॥ दो० ४७२

२—आर्यभुमि सन् १९६५ वर्ष १ अंक १ पृ० १४-१५

किंतु इसके विपरीत तुलसी की रामकथा का सूत्र कुछ और है। 'राम' तुलसीदास के उपास्य हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भी अधिष्ठाता परात्पर ब्रह्म हैं। सभी आदर्श गुण उनसे स्वयं प्रस्फुटित हो रहे हैं; यथा—

'सारद, सेस, महेस, विधि, आगम, निगम पुरान।
नेतिनेति कहि जासुगुन, करहिं निरंतर गान॥ रा० १।१२

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिकवि ने पहले आदर्श की स्थापना की और बाद में उसके उपयुक्त महापुरुष को चुन लिया और तुलसी ने पहले राम की स्थापना की तथा बाद में उनके आदर्श गुणों का अवलोकन किया। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि 'आदिकवि' का लक्ष्य है एक आदर्श चरित्र किंतु तुलसी का लक्ष्य है अखिल विश्व के आधार राम में सभी गुणों का विलय या उद्भावना।

अस्तु अब यह देखना है कि तुलसीदास ने जिस रामकथा को विवृत किया उस कथा का सूत्र क्या है और उसकी विशेषता क्या है? आदिकवि ने जिस कथा को विवृत्त किया, वह उनकी आँखों देखी घटना थी अथवा उन्होंने उसे अपनी दिव्यदृष्टि (अतर्नयन) से देखा था। इसलिए मौलिक रूप से उस कथा का आरम्भ उनके द्वारा हुआ किन्तु तुलसी ने जिस कथावस्तु को चुना, उसकी परम्परा पहले से चली आ रही थी। उसे भगवान शंकर ने भगवती पार्वती से, परमरामभक्त काकभुशुंडने विष्णुवाहन गरुड़ से, परम विवेकी याज्ञवल्क्य ने परमतपस्वी भरद्वाज से और स्वयं तुलसी के कृपासिंधु गुरु नरहरि ने तुलसी को सुनाया था; जैसा कि वे कहते हैं—

कीन्ह प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि विधि संकर कहा बखानी॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई॥

इस विचित्र 'कथा-प्रबन्ध' में इस बात का सन्देह होना आवश्यक ही है कि आदि कवि द्वारा वर्णित रामकथा और इसमें अन्तर क्यों? इस सन्देह का निवारण करते हुए वे कहते हैं—

"जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करे सुनि कोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरजु करहिं असज्ञानी॥
राम कथा के मितिजग नाहीं। अस प्रतीति तिनके मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥
कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनोसन गाए॥
करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥

राम अनन्त, अन्नत गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिनके विमल विचार॥ रा० १।३३

इस कथन से ज्ञात होता है कि तुलसीदासजी को रामकथा के विविधरूपों का ज्ञान था। इस प्रकार उनके गम्भीर अध्ययन और व्यापक अनुभव को बात प्रकट हो जाती है क्योंकि संसार के भिन्न-भिन्न देशों, भिन्न-भिन्न संप्रदायों और भिन्न-भिन्न कथाकारों द्वारा वर्णित राम कथाओं में प्रायः पर्याप्त अन्तर पाया जाता है एवं इस प्रकार 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' को साथकता सिद्ध होती है।

अनेक प्रकार से प्रचलित विविध रामकथाओं में से तुलसी ने रामचरित-मानस' को कथा को ही उपयुक्त समझकर क्यों अपनाया, यह भी एक प्रश्न है। इसका उत्तर उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

रामचरित मानस यहि नामा। सुनत श्रवन पाइय विश्रामा॥
मनकर विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो यहि सर परई॥
'रामचरित मानस' मुनि भावन। विरचेउ संभु सुहावन पावन॥
त्रिविधि दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन॥
रचि महेश निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाखा॥
ताते 'रामचरित मानस' वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥
कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥
रा० १।३५

श्री शंकरजी की ही कृपा से तुलसी को उक्त कथा का उद्बोधन हुआ था; यथा—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। 'रामचरित मानस' कवि तुलसी॥
रा० १।३६

जैसे शिव शैवों के परमाराध्य हैं, वैसे ही पार्वती शाक्तों की। जैसे याज्ञवल्क्य ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं वैसे ही भरद्वाज कर्मिष्ठ तपस्वियों में। जैसे त्रिकालज्ञ काकभुशुंड परम रामोपासक हैं, वैसे ही गरुड़जी परमवैष्णव साक्षात् विष्णु के वाहन ही हैं। स्वयं तुलसी के गुरु महेश भवानी हैं जो तुलसी द्वारा ग्रहण की गई रामकथा के आदि स्रोत या उपदेष्टा हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी की रामकथा एक देशीय न होकर समन्वय के आधार पर गठित सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। कर्म, उपासना और ज्ञान के अधिकारी साधु समाज ने इस त्रिवेणी का निर्माण किया है, इसलिए यह सबको समान रूपसे शांति देने वाली है। इस कथा का महत्त्व बतलाते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

'राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी॥
× × ×
सद्गुन सुरगन अंब अदिति सी। रघुबर भगति प्रेम परिमित सी॥
× × ×
सद्गुरु ज्ञान विराग जोग के। विबुध बैद भवभीम रोग के॥
जननि जनक सियराम प्रेम के। बीज सकल व्रत धर्म नेम के॥
समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥
रा० १।३१

भगवान शिव ने जगत के कल्याणार्थ इस कथा का उद्घाटन किया इसीसे इस कथा को अनन्त रामकथाओं में से तुलसीदास ने भी चुन लिया क्योंकि वाणी वही भली है जो गंगा की धारा के समान पवित्र और सब की हितकारक हो, यथा---

'कीरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

'रामचरित-मानस' पर सबसे अधिक प्रभाव 'अध्यात्म-रामायण' का पड़ा है जिसकी रामानन्दी सम्प्रदाय में विशेष मान्यता है और कदाचित उसकी रचना स्वामी रामानन्द ने ही की है। 'रामचरित मानस' की भाँति इसके भी वक्ता-श्रोता शिव-पार्वती हैं।

रामानन्दी सम्प्रदाय एक समन्वयी और उदार सम्प्रदाय है। सांप्रदायिक समन्वय की भावना जगाने में स्वामी रामानन्द का विशेष महत्त्व है। इन्हीं की परम्परा में स्पष्टरूप से यह घोषित किया गया कि---

'जाति पाँति पूछे ना कोई। हरि को भजे सो हरि का होई॥'

कथन में ही नहीं, व्यवहार में भी यह घोषणा व्यक्त हुई। निर्गुणवादी 'कबीरपंथ' तक इसी सम्प्रदाय से निकल पड़ा। इसी सम्प्रदाय ने समानरूप से सभी देवी-देवताओं की पूजा का विधान किया। तुलसीदास भी इसी उदार रामावत परम्परा के साधु थे। तुलसीदास की समन्वयात्मक राम कथा ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे रामानन्दी सम्प्रदाय के संत थे।

तुलसीदास के राम अखिल लोकों के स्वामी, दीनबन्धु पतित-पावन और अहैतुकी कृपा के समुद्र हैं। जैसे वे विश्व के कण-कण में सर्वत्र ही रमे हुए हैं वैसे ही वे तुलसी की वाणी में सर्वत्र ही विराजमान हैं। वे अज्ञानांधकार में भटकते हुओं के आशा दीप और दुःखमय भवसागर में डूबते हुओं के जहाज हैं। श्री फादर कामिल बुल्के के कथनानुसार "रामभक्ति के विकास में रामचरित-

मानस का महत्त्व अद्वितीय है।[१]" डा० राजनाथ पांडेय के मतानुसार भी "उसका श्रेय रामायण के रचयिता से अधिक 'रामचरित-मानस'-के निर्माता को है।[२]"

भारत और हिन्दू संस्कृति में जो कुछ आदर्श है, वह सब श्री रामचन्द्रजी में केन्द्रित है और इस केन्द्र से जो प्रभा प्रस्फुटित हुई उससे दिगदिगंत प्रकाशित हो गया। इस आलोक को सर्व सुलभ करने का सर्वाधिक श्रेय तुलसी को है। केवल एक इसी उद्देश्य को समक्ष रखा जाय तो भी हम कह सकते हैं कि भारतीय जन-जीवन के विकास में तुलसी की उपलब्धि अनुपम है।

तुलसी के 'राम-सीता' और शिव-पार्वती

यद्यपि श्री रामचरित मानस में कहीं-कहीं 'राम-सीता' विष्णु और लक्ष्मी के रूप में दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में तुलसीदास ने अपने इष्ट देव राम-सीता को अखिल-विश्व का आदि कारण जीव को बंध मोक्ष देने वाला[३] परात्पर परमात्मा और उसकी आदि-शक्ति के रूप में ही प्रतिष्ठित किया है यथा—

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा॥
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
रा० बा० १३

'राम' के विषय में यही बात शेषावतार लक्ष्मण भी कहते हैं—

'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥
रा० अयो० ९३

यही बात काकभुशुंड जी गरुड़ जी से बताते हैं—

सोइ सच्चिदानन्दघन रामा। अज विज्ञान रूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सब दरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
रा० उ० ७२

श्री जनक जी ने भी उन्हें इसी रूप में पहचाना था।

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥

---

[१]—रामकथा अ० १२ पृ० २२१

[२]—सम्मेलन-पत्रिका भाग ४६ सं० ४ (शक १८८२) पृ० २३

[३]—पसु ज्यों पसुपाल, जीव बाँधत छोरत नहत। बि० १३३।३

करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी॥
ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानन्द निरगुन गुनरासी॥
रा० बा० ३२१

महर्षि वाल्मीकि का भी ऐसा कथन है—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर॥
अविगत अलख अपार, नेतिनेति नित निगम कह॥

और भगवान शिव ने भी यही कहकर भगवान राम को प्रणाम किया था—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥
रा० बा० ११६

पर ब्रह्म भगवान राम की आदि शक्ति ही भगवती सीता के रूप में अवतरित हुई है जैसा कि उन्होंने अवतार धारण करने से पूर्व ही मनुसतरूपा को सूचित कियां था—

'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥
रा० बा० १५०

अखिल विश्व का विलास जिसके भृकुटि विलास मात्र से होता है, वे ही सीता हैं यथा—

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥
रा० बा० १४८

पर ब्रह्म परमात्मा का निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप है। जैसे—जल का वाष्प और हिम। वह असुरों को मारकर वेद-मर्यादा की रक्षा तथा भक्तों को सुख देने के लिए ही सगुण रूप में प्रकट होता है—

जब जब होइ धरम के हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहि अनीति जाई नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुरधरनी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥
और—'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
रा० बा० ११६

भगवान राम ब्रह्मा-विष्णु-शिव सब से महान्[1] सबके अधिष्ठाता और सबके कारण है एवं आदि शक्ति सीता से ही अगणित उमा-रमा-ब्रह्माणी उत्पन्न होती

---

[1] हरिहि हरिता, बिधिहिं बिधिता, सिवहिं सिवता जो दई।
सोइ जानकी पति मधुरमूरति, मोदमय मंगलमई॥ वि० ५५

है।[1] इसलिए राम–सीता ही परमाराध्य हैं। रामसीता कहने के लिए दो हैं, वस्तुतः वे जल और लहर की भाँति परस्पर अभिन्न हैं।

गिरा - अरथ, जलबीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद जिनहि परम प्रिय खिन्न॥ रा० बा०

भवसागर से मुक्ति और सीताराम की प्राप्ति में भक्ति ही प्रधान कारण है। भक्ति का अंकुर श्रद्धा और विश्वास रूपी दो दलों के मध्य से विकसित होता है।[2] श्रद्धा और विश्वास के प्रत्यक्ष मूर्त्त रूप 'भवानी-शंकर' हैं[3] विश्वास रूप होने से ही शिव को राम का सखा तथा सेवक और स्वामी दोनों कहा गया है।[4] इसीसे रामभक्ति की प्राप्ति के लिए शिव पार्वती की अराधना अनिवार्य है जैसा कि अवधवासियों को उपदेश करते हुए श्री रामचन्द्र जी ने कहा है—

'औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं करजोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥ उ० ४५

श्री रामभक्तों के लिए शिवभक्ति की अनिवार्यता का यही रहस्य है। शिव धर्म रूपी वृक्ष के मूल, विवेक के समुद्र, वैराग्यांबुज हेतु सूर्य और पूर्ण आनन्द घन हैं।[5]

यों तो मुख्य रूप से तुलसीदास ने 'राम-चरित्र' का ही वर्णन किया है और उनके प्रधान आराध्य देव श्री रामचन्द्र जी ही हैं, परन्तु उसके बाद उनके हृदय में भगवान् शिव के ही लिए स्थान है। शिव उनके दूसरे उपास्य देव हैं, जिनके भजन पूजन में उनकी वृत्ति उसी प्रकार रमी है, जिस प्रकार श्री रामचन्द्र जी के भजन पूजन में। श्री रामचरित–मानस' में सुन्दरकांड को छोड़ शेष सभी कांडों के मंगलाचरण में उन्होंने श्री शंकर की स्तुति की है। प्रथम तीन कांडों में तो श्री रामचन्द्र जी की स्तुति के पहले श्री शंकर जी की ही स्तुति

१—'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥ रा० बा०
और—उमा रमा ब्रह्मानि बन्दिता। जगदम्बा सन्ततमनिंदिता॥ रा० उ० २४

२—श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महिगन्ध कि पावइ कोई?
कवनिउ सिद्धि कि बिनु विस्वासा। बिनु हरि भजन न भवभय नासा॥
बिनु विस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहुं, जीव न लह विश्राम॥ रा० उ० ९०

३—भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यंति सिद्धाः, स्वांतः स्थमीश्वरम्॥ रा० बा० १

४—सेवक स्वामि सखा सिय पी के।

५—मूलं धर्मतरोर्विवेक जलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं।
वैराग्यांबुज भास्करं ह्यघघनध्वांतापह तापहम्॥ रा० अर० १

की गई है। सुन्दरकांड में भी शंकरावतार श्री हनुमान जी की स्तुति के साथ उनका ओजपूर्ण चरित्र-चित्रण भी है। तुलसीदास जी के तीनों प्रधान ग्रन्थों—श्री रामचरित मानस, विनय पत्रिका और कवितावली में भक्ति भावना से ओत-प्रोत बड़े ही हृदयग्राही और उत्कृष्ट शिव-स्तोत्र हैं एवं शिव-चरित्र का चित्रण भी हुआ है। 'मानस' की प्रस्तावना में शिव विवाह का वर्णन होते हुए भी उन्होंने स्वतंत्र रूप से गढ़े पदों में 'पार्वती-मंगल' की रचना की, जिससे प्रकट है कि शिव भक्ति के उद्‌गार उनके अन्तस्तल की गहराई से उत्पन्न हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से राम और शिव में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही आदि पुरुष पारब्रह्म परमेश्वर हैं एवं इसी प्रकार श्री सीता और श्री पार्वती दोनों ही आदि शक्ति जगज्जननी हैं। केवल उपासना की दृष्टि से प्रतीकात्मक भेद किया गया है। इसी उद्देश्य और अभेद भावना से उन्होंने 'हरिशंकरी पद की रचनाकर दोनों की सम्मिलित वन्दना की है।

संसार में 'शिव' की पूजा प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित रही है। 'मोहेनजोदड़ो' की खुदाइयों में शिव की पशुपति मूर्त्ति और लिंग के अवशेष मिले हैं। शिव के साथ जगत की योनि रूप में पार्वती की पूजा भी प्रचलित थी। रोमन लोगों की देवी 'जूनो' वस्तुतः 'योनि' (पार्वती) ही हैं। यूरोप (स्काटलैंड) और मिश्र से लेकर हिन्देशिया तक तथा बेकाल झील (साइबेरिया) से लेकर दक्षिण भारत तक शिवमन्दिर या शिव लिंग के जो पुरातन अवशेष मिले हैं उससे यह प्रकट होता है कि प्राचीनकाल में 'शिव पूजा' का विश्व व्यापी प्रचार था।[1] आश्चर्य है कि ये शिव लिंग दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील देश में भी पाए गए हैं।

शिव की भांति राम के भी विश्वव्यापी महत्त्व का पता चलता है क्योंकि आदि कवि द्वारा वर्णित रामकथा के मूलरूप थोड़े से रूपांतर के साथ ऋग्वेद, होमरकृत 'इलियड और ओडिसी (यूनान) एवं जर्मनी के प्राचीनतम लोकगीत 'वोल संगा सागा, नीवलग सागा आदि में मिलते हैं; जैसा कि श्री डा० राजनाथ पांडेय लिखते हैं।

'रावण का सीता की छल से हरणकर राम की पहुंच के बहुत बाहर समुद्र के बीच बसाई हुई अपनी सोने की लंका नगरी में उसी प्रकार छिपा देना,

---

१—मिस्र, क्रीट, सुमेर, असीरिया, बेबिलोनिया और काल्डिया की संस्कृति में और भारत में बहुत समानता है। इन देशों में भी प्राचीनकाल में शिव, विष्णु और काली की पूजा होती थी। नागपूजा पितृ पूजा, लिंग पूजा तथा ग्रह पूजा भी प्रचलित थी '—वयंरक्षामः पृ० २४

जिस प्रकार इन्द्र की गायों को पणियों ने, हेलेन को पैरिस[1] ने, बोल संगा सागा वाली 'ब्रिनहिल्ड वाल्कोरी' को फाफनीर दानव ने हरकर अपने चमचमाते महल में बन्द कर दिया था और फिर राम का हनुमान द्वारा उसी प्रकार पता पाना, जिस प्रकार वेद में इन्द्र को सभा द्वारा अपनी गायों के पणियों के बाड़े में होने की सूचना मिली थी, और फिर चढ़ाई और राम-रावण युद्ध, राम के बाणों से रावण का मारा जाना और अन्त में राम का सीता को वापस ले आना। इस प्रकार रामकथा के इस खंड का बीज रूप में ऋग्वेद में उल्लेख है। निस्संदेह राम इन्द्र या सूर्य के, सीता सितवर्ण प्रकाश की देवी के और रावण पणियों के प्रति रूप हैं। इसी मूल कथा के दोनों तत्वों को हम होमर के 'इलिएड' और 'ओडेसी' काव्यों में भी पाते हैं[2]।

डा० याकोबी रामायण के राम वैदिक इन्द्र और जेंदावेस्ताँ के राम हुवास्त्र को परस्पर अभिन्न मानते हैं। इसी प्रकार डा० वेंकट रत्नम् ने मिश्र देश के 'रामसेस' से 'राम' को अभिन्न माना है। रामसेस (ई० पू० १२९८-१२३२) भी सूर्यवंशी (सूर्य पुत्र) था। इसने सीरिया को विजित किया था। सीरिया में आँधी-पानी और मेघगर्जन के देवता का नाम 'रामन' या 'रमानु' है। बाइबिल में भी 'राम' नामवाले व्यक्तियों और नगरों का उल्लेख है। दक्षिण में प्रचलित रामकथा और उत्तरी जर्मनी में प्रचलित पौराणिक कथा में इतना अधिक साम्य है कि आश्चर्य होता है।[3] रामकथा के मूल रूप का योरोप के सुदूर देशों तक व्याप्ति होने से स्पष्ट ही यह सिद्ध हो जाता है कि रामकथा का मूल इतना प्राचीन है, जबकि भारतीय, ईरानी और योरोपीय आर्यों के पूर्वज एक ही स्थान पर निवास करते थे।[4]

१—यह बड़ी मनोरंजक बात है कि संस्कृत का 'सरभा' और 'पाणि' शब्द यूनानी भाषा में क्रमशः 'हेलेन' और 'पैरिस' होते हैं। यह तथ्य भाषा शास्त्रज्ञ प्रमाणित कर चुके हैं।

'हमारा अनुमान है कि यूनानी 'थीसियेस' और हमारा 'दशरथ' एक ही शब्द हैं—सम्मेलन प० भा० ४६ सं० ४ पृ० २६, २८

२—सम्मेलन पत्रिका शकाब्द १८८२ सं० ४ पृ० २७

३—वही पृ० २९-३०

४—'योरप के देशों में भी राम का प्रभाव प्रकट होता है। योरप की सारी ही जातियाँ किसी न किसी अंश में सूर्यवंश, भरतवंश और राम के नाम को सांस्कृतिक रूप में साथ ले गई हैं। खासकर जर्मनी और इंगलैंड में राम के नाम से सम्बन्धित बहुत नाम हैं। फ्रांस, स्पेन, स्वीडन, नार्वे और इटली में भी हैं।'

प्रायः एशिया के समस्त देशों में राम सम्बन्धी भित्ति चित्र, मूर्तियां कथानक और ग्रन्थ मिलते हैं।[१] ये कथानक अतीतकाल में भारतीय संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ उक्त देशों में पहूंच गए होंगे। चीनी रामकथा में 'राम' का नाम 'रामण' है। तिब्वती रामायण में वे विष्णु के अवतार माने गए हैं किन्तु खोतानी (तुर्किस्तानी) श्रीसर विलियम जोन्स के कथनानुसार पेरु (द० अमेरिका) के मूलनिवासी सूर्य पूजक थे। ये अपने को सूर्यवंशी कहते और 'रामसीतव' उत्सव मनाते थे। यहां के काव्य साहित्य पर रामायण-महाभारत की छाप है।[२] रामायण में राम के अवतार होने की बात नहीं है। हिन्देशिया में भी रामकथा का प्रचार प्राचीनकाल से पाया जाता है। यहां की 'रामायण काकाविन' की कथा बहुत कुछ बाल्मीकि रामायण से मिलती है। मलय के 'हकायत सेरीराम' की कथा जावा के 'सेरतकांड' से अधिक भिन्न नहीं है। यहां राम-साहित्य प्रचुर मात्रा में संग्रहीत है। हिन्दचीन की रामायण का नाम 'रे आम केर' और 'सेरीराम' हैं एवं श्याम देश की रामायण 'राम कि येन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म देश की रामायण का नाम 'रामयागन' है। योरोप के पुर्तगाल, फ्रांस, इटली, हालैंड, स्पेन, इंगलैंड आदि में भी रामकथा संबंधो अनेक ग्रन्थों की रचना की गई किन्तु ये सभी ग्रन्थ पन्द्रहवीं शती के

'आर्यों के अन्तर्गत भारतीयों, जर्मनों, रूसियों, अंगरेजों, और फ्रांसीसियों की गणना है। इसीसे इन सब जातियों में इस आर्य नेता विजेता मर्यादा पुरुषोत्तम राम का किसी न किसी रूप में सांस्कृतिक मिश्रण है।'

'राम जन्म होने से चैत्र तभी से नए वर्ष का आरम्भ माना जाता है। विजयादशमी का उत्सव योरप, अमेरिका और ईरान में भी मनाया जाता था। मैक्सिको में तो 'राम-सीतव' उत्सव मनाने वाली जाति अभी भी है।' आचार्य चतुरसेन सास्त्री—वयंरक्षाम: पृ० १४०, १४१, १४४

[१] —भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया चीन, वर्मा, श्याम, चंवा, कंबोडिया, जावा थाइलैंड में राम संबंधी मूर्तियाँ और लेख मिले हैं। कम्बोडिया के छठीं शती के एक शिलालेख से प्रकट है कि वहां रातदिन, रामायण, महाभारत और पुराण पाठ होता था। बैंकाक के राजमन्दिर में 'रामचरित्र' संबंधी झांकियाँ हैं। वर्मा में रामावती की स्थापना (६ वीं शती) राम के नाम पर हुई। अमरपुर के विहार में, जावा के प्राम्वानम के मन्दिर में और कम्बोडिया के हेमश्रृंग गिरि के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर पर 'रामचरित' अंकित है। वही पृ० १३९

[२] —श्री शिशिरकुमार मित्र—दि विजन आव इंडिया पृ० १७४

बाद के हैं।[1] भारत की प्रायः समस्त भाषाओं और आदिवासी साहित्य में श्री राम संबंधी साहित्य प्रचुर मात्रा में संग्रहीत है।

'राम' की यशोगाथा का इस प्रकार सुदूर देशकाल को अच्छादित कर लेने का कारण उनमें अलौकिक गुणों का होना ही है। कुछ लोग 'रामकथा' को कल्पक मान लेते हैं परन्तु प्राचीन साहित्य के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि राम, दशरथ, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जनक आदि वास्तव में ऐतिहासिक पुरुष थे। श्री नारद जी ने बाल्मोकि जी से 'राम' की विशेषता बताते हुए उन्हें जिन साठ विशेषणों से युक्त किया है, उससे स्पष्ट है कि वे शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक सभी गुणों से संपन्न तथा अद्वितीय थे। वाल्मीकि के 'मर्यादा-पुरुषोत्तम राम' पुराणों में विष्णु के अवतार रूप में प्रतिष्ठित हुए किन्तु आते-आते वे तुलसी के समय तक पूर्ण ब्रह्म की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर जगदाराध्य हो चुके थे एवं सबसे अधिक तुलसी ने उनके पूर्ण ब्रह्मत्व का प्रतिपादन किया। उनके राम एक प्राकृत पुरुष न होकर 'सबकर परम प्रकासक जोई; राम अनादि अवधपति सोई' थे।

रचनायें और उनका काल

गोस्वामी तुलसीदास के नाम पर तीस से अधिक ग्रंथ प्रचलित हैं परन्तु विद्वानों की शोध के अनुसार इनमें केवल १२ ग्रन्थ ही गोस्वामी जी द्वारा रचित बताये गए हैं। इन रचनाओं के सम्बन्ध में वस्तुतः सभी एक मत हैं क्योंकि भाषा, भाव शैली और विचार की दृष्टि से इनकी एक ही श्रृंखला है। गौतम चन्द्रिका में गोस्वामी जी की रचनाओं का 'अष्टांगयोग' इस प्रकार वर्णित है—

रामगीत - अवली सुरसरिता। पद अवली बानी धुनि भरिता॥
कृष्णगीत अवली जमुनोई। स्रुति गुन कांड त्रिवेनी सोई॥
चिन्मय गगन रामधन छाए। सिय छबि दामिनि दुति दमकाए॥
रामचरित मानस रस बरसे। भवदुख दव झरसे सुख सरसे॥
तुलसीमति सीपों की मोती। कृत बरवै श्रृंगार मनि-मोती॥
दोहावली सगुन गन माला। कवितावली कवि कुल गुरु साला॥
सदन सोहिलो मंगल जाके। सिसुबर दुलहिन संपति ताके॥
यह अष्टांग जोग तुलसी को। साधे सोलह श्रुतिफल नीको॥'

इस योग के अनुसार निम्नांकित ग्रन्थ गोस्वामीजी द्वारा रचित सिद्ध होते हैं—

(१) रामगीतावली, (२) पदावली (विनय पत्रिका), (३) कृष्णगीतावली (४) रामचरित मानस, (५) बरवै, (६) दोहावली, (७) सगुन या रामाज्ञा-

---

[1] श्री रेवरेंड फादर डा० कामिल बुल्के—रामकथा (उत्पत्ति और विकास)

प्रश्न, (८) कवितावली, (९) रामलला नहछू, (१०) जानकी मंगल और (११) पार्वती मंगल। कवितावली में ही 'हनुमान बाहुक' का भी समावेश हो जाता है।

'गोसाईं चरित' में भवानी दास ने केवल चार ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है किन्तु उनका ग्रन्थों की सूची देने से कोई प्रयोजन नहीं है। ये नाम केवल प्रसंगवश आ गये हैं यथा—

करिगान सुभ गीतावली, रामावली, दोहावली।
सुनि व्योम सुरन विमान विथके, शिव समाधि हलीचली॥
सुभगान रामायन कृतारथ हेत कल्पलता फली।
स्वारथ पदारथ देत, दुखहरिलेत, देरति निर्मली॥ अवध खंड १

गौतमचन्द्रिका का उल्लेख विशेष प्रामाणिक तथा विद्वानों द्वारा मान्य होने से यहाँ उनका ही विवेचन और काल निर्धारण उचित होगा। इन ग्रन्थों का विवेचन और काल-निर्धारण अनेक विद्वानों न किया है, परन्तु प्रायः उनमें मतैक्य नहीं है। यह ऐसा विषय है कि इसमें मतैक्य होना सम्भव भी नहीं है क्योंकि गोस्वामी ज़ी ने केवल अपनी दो रचनाओं का ही समय दिया है, वे हैं—रामचरित मानस और पार्वती मंगल। अतः शेष रचनाओं के सम्बन्ध में अनुमान से ही काम लेना पड़ता है किन्तु अनुमान का क्या ठिकाना! कभी उड़ती हुई धूल को देख कर भी धुएं का भ्रम होता है और मरुभूमि में भी लहराती हुई नदी की भ्रांति। इसलिए अनुमान-उपमान के सहारे कोई दृढ़भित्ति स्थापित नहीं की जा सकती दूसरी बात यह है कि एक ही कार्य को लेकर कई व्यक्ति कई कारणों की संभावना कर सकते हैं। यही बात गोस्वामी जी की रचनाओं के समय निर्धारण के सम्बन्व में भी चरितार्थ है। डा० माता प्रसाद गुप्त रामलला नहछु, को गोस्वामी जी की सर्व प्रथम रचना और रामचरित मानस से लगभग बीस वर्ष पूर्व की मानते हैं[1], परन्तु आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय के मत से वह रामचरितमानस के बाद की और लगभग दस वर्ष बाद की रचना है।[2]

बहुधा 'नहछू' को गोस्वामी जी की अप्रौढ़ एतदर्थ प्रारम्भिक रचना मानने के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिये गए हैं —

१ नहछू विवाह के अवसर पर अयोध्या मे हुआ है किन्तु उस समय श्री रामचन्द्र जी मिथिला में थे।

---

[1] तुलसीदास (हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय) पृ० २३३

[2] तुलसीदास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० ५२

२ रामलला नहछू में कौसल्या की कोई जेठि (पति के बड़े भाई की पत्नी) उन्हें नहछू कराने के लिये अनुशासन देती हैं, परन्तु उनकी जेठि तो कोई थी नहीं।

३ उक्त ग्रन्थ में नाउनि की विद्यमानता होते हुए भी उसे बुलाने का वर्णन आया है यथा—

नैन विशाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहिं, प्रमुदित गावइ हो॥'

+ + +

'नाउनि अति गुनखानि तौ वेगि बुलाई हो।
करि सिंगार अतिलोन तौ विहँसत आई हो॥'

४ इससे उद्दाम शृंगार का वर्णन है जो तुलसीदास जी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

किन्तु इन शंकाओं की स्थिति 'रामलला नहछू' की वस्तुस्थिति पर सूक्ष्म-विचार न करने के कारण ही है। वस्तुतः यह ग्रन्थ नहछू के अवसर पर गाये जाने के लिये लिखा गया है। लोकगीतों में प्रायः सभी 'दुल्हे-दुलहिन' 'राम-सीता' के रूप में चित्रित किये गए हैं। अस्तु इस शंका का कोई कारण ही नहीं है कि राम मिथिला में थे या अयोध्या में कुलाचार के निमित्त विवाह मंडप का निर्माण तो अयोध्या में भी हुआ ही था।[1] रामलला नहछू का प्रणयन एक प्रबंध काव्य के रूप में न होकर 'नहछू' के अवसर पर गाने के उद्देश्य से हुआ है अतः कथित शंका निराधार है। दूसरी शंका भी ऐसी ही निराधार है क्योंकि रवाज के अनुसार यहाँ पर 'जेठि' का अवतरण हुआ है, और भली-भाँति जानबूझ कर प्रौढ़ बुद्धि से, अप्रौढ़ बुद्धि के कारण या भूल से नहीं। यदि भूल होती तो अवश्य उसका बाद में परिमार्जन भी कर दिया गया होता। इस शंका का कोई कारण भी नहीं है क्योंकि जाति-परिवार में महाराज दशरथ का कोई बड़ा भाई न लगता होगा, यह कैसे कहा जा सकता है?[2] तीसरी शंका विचित्र है। जब साधारण भूम्याधिकारियों के यहाँ किसी मंगल कार्य में अनेक नाई-बारी सपरिवार विद्यमान दिखाई देते हैं तो फिर राजगृह की बात क्या? दूसरी बात यह है कि यदि गाने और अन्य कार्य में संलग्न

---

१ 'भूप भवन' किमि जाइ बखाना। विस्वविमोहन रचेउ विताना॥
रा० बा० २९७

२ विप्रबधू कुलमान्य जठेरी। जे प्रिय परम केकयी केरी॥
लगीं देन सिख सील सराही। बचन बान सम लागत ताही॥
रा० अ० ४९

बाइन नहछू के अवसर पर बुलाई गई तो इसमें 'प्रबन्ध-दोष' क्या है? एक ही स्थान में एक काम पर लगा हुआ व्यक्ति क्या दूसरे काम पर बुलाया नहीं जा सकता? चतुर्थ शका के सम्बन्ध में इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि 'नहछू' विवाहार्थ वरयात्रा की भूमिका है, अतः इस अवसर पर हास-परिहास और श्रृंगार परक गीत ही गाये जाते हैं। यदि इसे निकाल दिया जाय तो 'नहछू' एक नीरस अवैज्ञानिक विधिमात्र रह जायगा। दूसरी बात यह कि इस रचना में श्रृंगार अश्लील न होकर विदग्ध और मर्यादित है।

इनके अतिरिक्त डा० माता प्रसाद गुप्त ने कतिपय भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों को उद्घृत किया है, जा मुद्रित प्रतियों के अनुसार हैं, किन्तु उन्हीं के कथनानुसार स० १६६५ की प्रति से, मिलान करने पर जो उन्हीं के पास है, उक्त रचना घोर-श्रृंगार, इतिहास-विरोध, प्रबध-दोष आदि से बहुत कुछ मुक्त हो जाती है, फिर भी दोष रह जाते हैं अतः यह रचना 'मानस' से कम से कम दस वर्ष पहले की हो सकती है। यह उनका विचार है। यद्यपि उन्होंने इसे 'मानस' की निर्माण तिथि से पन्द्रह वर्ष पहले का माना है। श्री सद्गुरु शरण अवस्थी और पं० रामनरेश त्रिपाठी का भी ऐसा ही मत है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की तुलसी ग्रंथावली तथा डा० रामकुमार वर्मा आदि के अनुसार भी यह 'मानस' से पहले की रचना है। ग्रंथ की भाषा और वर्णन शैली पर विचार करने से मेरी समझ में भी यही बात आती है कि यह कवि की प्राथमिक रचना है क्योंकि इसमें 'भोजपुरी भाषा' और रीति-रिवाजों का विवरण है। तुलसीदास जी भोजपुरी प्रदेश के निवासी थे, अस्तु उनकी प्राथमिक रचना का भोजपुरी भाषा और आचार-व्यवहार से युक्त होना स्वाभाविक ही है।

श्री रेवरेंड फादर कामिल बुल्के डी० फिल० लिखते हैं[1] कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास पहले बाल्मीकि रामायण से अधिक प्रभावित थे और अपनी बाद की रचनाओं में अन्य राम कथा साहित्य से भी। इसी प्रकार मिथिला की वाटिका में राम और सीता के पारस्परिक दर्शन का उल्लेख 'रामाज्ञा प्रश्न' तथा 'जानकी-मंगल' में नहीं है लेकिन वह 'रामचरित-मानस' तथा 'गीतावली' में मिलता है। मिथिला में रावण दूत के आगमन का उल्लेख रामाज्ञा प्रश्न में नहीं मिलता, लेकिन 'रामचरित मानस' तथा 'गीतावली' में पाया जाता है। रामाज्ञा प्रश्न, जानकी मंगल तथा गीतावली के अनुसार परशुराम तथा राम की भेंट बारात की वापसी में होती है किन्तु रामचरित मानस तथा कवितावली में परशुराम के मिथिला में आगमन का वर्णन किया गया है।'

---

[1] १—राम कथा अ० १२ पृ० २२१-२२

'चित्रकूट में जनक के आगमन का वर्णन तथा सेतुबंध के समय शिव प्रतिष्ठा उल्लेख केवल रामचरित मानस में मिलते हैं ; रामाज्ञा प्रश्न तथा गीतावली नहीं।'

'सीता त्याग तथा लव-कुश जन्म की कथा रामाज्ञा प्रश्न तथा गीतावली में गई है, जैसे बाल्मीकि रामायण में। रामचरित मानस में इसका उल्लेख नहीं मिलता।'

'गीतावली की समस्त रचना में कृष्ण का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। इसका उत्तर कांड में 'राम-सीता' के दोलोत्सव, बसन्त विहार आदि का वर्णन किया गया है। इस रचना में बाल्मीकि-रामायण के गौडीय-पाठ के अनुसार की शरण लेने के पूर्व विभीषण के अपने भाई कुवेर के पास जाने का वर्णन किया गया है।'

'अतः विषय निर्वाहमात्र के दृष्टिकोण से इन रचनाओं का क्रम इस प्रकार प्रतीत होता है ; रामाज्ञा प्रश्न, जानकी मंगल, गीतावली, रामचरित मानस, कवितावली।'

श्री डा० कामिल वुल्के का यह मत एक देशीय है। वे स्वयं कहते हैं कि "कालक्रम निर्धारित करने के लिए विषय निर्वाह के अतिरिक्त शैली-बहिर्साक्ष्य आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है" अस्तु उक्त बातों पर भी विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

गौतम चंद्रिका से विदित होता है कि उत्तरा खंड (बदरीनाथ, कैलास, मानसरोवर आदि) की यात्रा से लौटने के पश्चात् तुरन्त ही तुलसीदास जी ने 'मानस' की रचना प्रारम्भ की थी किन्तु इसके बाद की यात्रा में वे 'द्वारिका, प्रभास क्षेत्र, पुष्कर, कुरुक्षेत्र और वृन्दावन गए। इस यात्रा में ही वे कृष्ण-लीला और कृष्ण भक्तों की गीत शैली से प्रभावित हुए तथा गीतावली की रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई। व्रज से नर्मदा तट और गया होते हुए वे काशी आए और व्यास से बाल्मीकि रामायण का श्रवण किया,[1] अस्तु उन पर इसी समय बाल्मीकि रामायण का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा होगा। इन तथ्यों के आधार पर श्री कामिल बुल्के द्वारा निर्णीत काल-क्रम का आधार भंग हो जाता है तथा रामाज्ञा प्रश्न, जानकी मंगल और गीतावली का रचनाकाल श्री रामचरित मानस के बाद ही ठहरता है।

---

[1] —'गए रुचिर द्वारावती तुलसी हरिगुन गाइ॥
हरिजस पूर्न प्रभास लखि, गए सुदामा धाम।
तीर्थ स्यमंतक रमि किए, कुरुक्षेत्र विस्राम॥
तहँ ते चलि बृंदावन आए। तुलसी रति जमुना उमगाए॥'

'पार्वती-मंगल' में उसके निर्माण-काल का उल्लेख निम्नांकित प्रकार कि गया है—

'जय संवत् फागुन सुदि पांचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु ॥ ५॥

श्री डा० माता प्रसाद गुप्त ने' जय संवत्' को खोजकर यह निश्चित कि है कि उक्त संवत् चांद्रवर्ष के अनुसार सं० १६४२-४३ में आया था, अ पार्वती मंगल का रचना काल फाल्गुन सुदी ५ गुरुवार सं० १६४३ है क्यों उसी दिन अश्विनी नक्षत्र भी था। 'जानकी-मंगल' को रचना इसके थोड़े द बाद ही हुई होगी। अतः इन दोनों ग्रंथों का निर्माण सं० १६४५ वि० के पह ही हो जाना संभव है। ये ग्रन्थ मंगल-परक और गेय हैं तथा स्त्रियों के निमि लिखे गए हैं जैसा कि निम्नांकित उद्धरणों से प्रकट है—

'प्रेम पाट पट डोरि गौरि हर गुन मनि।
मंगल हार रच्यो कविमति मृग लोचनि ॥ १६३॥
मृगनयनि विधवदनी रच्यो, मनि मंजु मंगल हार सो।
उर धरहु जुवतीजन विलोकि, तिलोक सोभा सार सो॥
कल्यान काज उछाह व्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा शंकर प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ॥ पा० मं०
विकसहिं कुमुद जिमि देखि बिधु, भइ अवध सुख सोभा मई।
यहि जुगुति राज बिवाह गावहि, सकल कवि कीरति नई॥
उपवीत व्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं॥
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिन पावहीं॥
जा० मं

गोस्वामी जी की दूसरी कृति जिसके निर्माणकाल का उल्लेख किया ग है 'श्री रामचरित मानस' है। इसके निर्माण की तिथि इस प्रकार दी गई है—

छबि सिंगार घन दामिनि शोभा। निरखत वृंदावन मन लोभा॥
नाचत मत्तमोर चहुं आरा। श्री राधा हरि झुलत हिंडोरा॥
राधा-कृष्ण रासरस तोषे। बल्लभ भक्ति भागवत पोषे॥
सादर ब्रजरज सीस चढ़ाई। चले नर्मदा तट पर आई॥
गुरु पदरज बेदी करि बंदन। गए गया तीरथ विधि मंडन॥
तहाँ देव ऋषि पितर जुटाए। ऋन भरि सबकर कासी आए॥
श्रवन किए षट कांड सुहावन। बाल्मीकि रामायन पावन॥

'सादर सिवहिं नाइ पद माथा।
बरनउँ बिसद राम गुनगाथा।।
संवत् सोरह से इकतीसा।
करौं कथा हरिपद धरि सीसा।।
नौमी भौमवार मधुमासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।

जिस दिन 'रामचरित-मानस' की अवतारणा हुई, मध्याह्न व्यापिनी नवमी थी। मध्याह्न-व्यापिनी नवमी ही जयन्ती तथा व्रत के लिए ग्राह्य है। मोहन साईं के गीत से विदित होता है कि सं० १६३३ वि० के अगहन सुदी पंचमी को 'मानस' को रचना पूरी हुई यथा—

'लगी जब इकतीसी रामनौमी गुसाईं जी ने कलम उठाई।
उछाह से रामव्याह तैंतिस समाप्ति तिथि 'मानसी, सुहाई।।

इससे ज्ञात होता है कि मोहन साईं के समय तक 'मानस' की समाप्तिकाल के सम्बन्ध में उपर्युक्त जनश्रुति सर्वसाधारण में प्रसिद्ध रही होगी। दो-ढाई वर्ष की अल्प अवधि में 'रामचरित-मानस' जैसे महाकाव्य को गोस्वामी जी जैसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा पूरा किया जाना असम्भव नहीं है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उक्त ग्रन्थ का परिवर्द्धन और संशोधन कम से कम दस वर्षों तक होता रहा होगा। वढ़इया (पटना) में 'मानस' के सं० १६४१ वि० की परम्परा सुरक्षित है, जिससे स्पष्ट है कि उक्त अवधि तक मानस' की रचना पूरी हो चुकी थी।[1] पं० विश्वनाथ प्रमाद मिश्र का भो कथन है कि—'निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि १६४१ वि० के आसपास 'मानस' सर्बजन सुलभ हो गया था।' रचना-शैलो पर विचार करने से विदित होता है कि कतिपय अंश समय-समय पर जोड़े गए हैं। प्रक्षिप्त अंश और कथाएँ जोड़ने के काम गोस्वामी जी के निधन के वाद भो लोगों ने किए किन्तु इस प्रकार के अंश मूलग्रन्थ से सुगमतापूर्वक अलग किए जा सकते हैं। श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'रामचरित मानस' का काशिराज-संस्करण पाठशुद्धि की दृष्टि से प्रशंसनीय प्रयत्न है।

१—रामचरित मानस की अनेक पांडुलिपियाँ बड़इया (पटना) में मिलती हैं। उनकी पुष्पिकाओं में संवत् १६४१ की प्रति की परम्परा की प्रति होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि संवत् १६४१ तक मानस की रचना पूर्ण हो गई थी।—मानस मयूख वर्ष १ प्र० ४ पृ० ५११

जनश्रुति के अनुसार 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना पं० गंगाराम ज्योतिषी के लिए की गई थी। यह दोहों में रचित एक शकुन ग्रन्थ है। इसका एक दो इस प्रकार है—

'सगुन सत्य ससि नयन गुन,
अवधि अधिक नयबान।
होइ सुफल सुभ जासु जस,
प्रीति प्रतीति प्रमान ॥ ७।७।३

डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस दोहे का निम्नांकित अर्थ करते हुए, इस रचना तिथि सं० १६२१ वि० माना है। वे कहते हैं—

'चन्द्रमा, नेत्र, गुण, नीति और बाण के आधिक्य की अवधि (समय) में सगुन (माला) जिसका सुयश यह है कि प्रीति-प्रतीति के अनुसार ही सु होतो है, सत्य है।' कविजन प्रयुक्त सांकेतिक शब्दावली में चन्द्रमा १, नेत्र २, गुण ३, नीति ४ और बाण ५ के लिए प्रयुक्त होते हैं और नीति (४) और बा (५) में अन्तर एक का है और कवि प्रिया के अनुसार इस प्रकार दी हुई तिथि उल्टी क्रम से पढ़ी जाती हैं इसलिए उपर्युक्त दोहे से हमें कृति के लिए १६२ की तिथि प्राप्त होती है, यह आसानी से जाना जा सकता है।[1]

श्री डाक्टर साहब की उपर्युक्त व्याख्या स्वीकार कर लेने पर भी इसे १३२१ की ही उपलब्धि होती है न कि १६२१ की ? इस प्रकार स्पष्ट है कि उनकी व्याख्या ठीक नहीं है। वस्तुतः यह दोहा ग्रन्थ की रचना तिथि का ज्ञापक न होकर शकुन-परक है, जिसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

'जिसका शुभ यश प्रीति और प्रतीति में प्रमाण है, वह सफल होगा। य सगुन ससि (१) + नयन (२)+ गुण (३) अर्थात् ६ दिनों के भीतर अथवा इसे नय (४)+ बाण (५) अर्थात् ९ दिनों को अधिक अवधि में (१५ दिनों के भीत सत्य होगा।'

यह दोहा 'रामाज्ञा-प्रश्न' के आदि या अन्त में ऐसे स्थान पर है भी नहीं कि जिस के आधार पर इसे उक्त ग्रन्थ की रचनोतिथि का ज्ञापक कहा जाय। आचार्य प० चन्द्रबली पांडेय के कथनानुसार 'तुलसीदास ने किसी भी ग्र ग्रन्थ में इस प्रकार की तिथि देने का विचार नहीं किया है। प्रसंग भी तिथि का नहीं है सगुन देखने की विधि का है। इस विधि-विधान में काल निर्देश की कोई आवश्यकता भी नहीं दिखाई देती। निदान इसको भ्रम मात्र अथवा अपनी धारणा को तुलसीदास में ढूँढ़ निकालना ही मानना चाहिए।'[2]

---

[1] १—तुलसीदास पृ० २३५

[2] २—तुलसीदास पृ० ५८

अस्तु 'रामाज्ञा-प्रश्न' को सं० १६२१ की रचना मानना कदापि उचित नहीं है। 'रामाज्ञा प्रश्न' की सं० १६५५ की एक प्राचीन प्रति का पता पंजाब की खोज-रिपोट में है, अतः इस ग्रन्थ को सं० १६५५ या इससे पहले का रचा हुआ मानना पड़ेगा। किन्तु इस ग्रन्थ में किसी दुष्काल का वर्णन वर्तमान काल में किया गया है यथा—

दस दिसि दुख दारिद दुरित, दुसह दसा दिन दोष।
फेरे लोचन राम अब, सन्मुख साज सरोस ॥ ७।५।२

अस्तु यह रचना किसी दुष्काल के समय की ही मानी जा सकती है। अकबर के राज्यकाल में कई दुष्काल पड़े। सम्भव है यह सं० १६५२-१६५५ के मध्य पड़े दुष्काल के समय की रचना हो। श्री छक्कनलाल ने रामाज्ञा-प्रश्न की पुष्पिका में लिखा है —

'श्री संवत १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक थी, गुसाईं जी के हस्तकमल को प्रह्लादघाट श्री काशो जी में रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलाम जो के सत्संगी कायस्थ मिरजापुर वासी ने अपने हाथ से संवत् १८८४ में लिखा था।[1] इस पुष्पिका के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' का रचनाकाल सं० १६५५ जेठ सुदी १० रविवार ही है। यह तिथि गणना से भी शुद्ध आती है।

'कृष्ण गीतावली' ६१ गीतों का संग्रह है। इन गीतों में संक्षेप में सम्पूर्ण कृष्ण कथा कह दी गई है, अस्तु इससे ज्ञात होता है कि इन पदों की रचना एक साथ की गई होगी। 'गौतम चन्द्रिका' के अनुसार गोस्वामी जी कुछ काल के लिए उजेनीदास कृष्णभक्त गायक साधु के प्रभाव से 'कृष्णभक्त' गोस्वामी बन गए थे। संभव है यह रचना उसी समय की हो अथवा वृन्दावन-मथुरा के यात्रा काल को हो। ऐसी दशा में इसका रचनाकाल सं० १६६२ के बाद ही माना जा सकता है क्योंकि सं० १६६२ में जहाँगीर के सिंहासनासीन होने के बाद ही वे जनश्रुति के अनुसार दिल्ली बुलाए गए थे और उसी समय उन्होंने मथुरा वृन्दावन की यात्रा की थी।

गीतावली, विनय पत्रिका, कवितावली जौर हनुमान बाहुक, दोहावली तथा बरवे, किसी एक काल की रचना न होकर दीर्घ-अवधि में संग्रहीत ग्रन्थ है। गीतावली की कथा का क्रम कहीं-कहीं टूटा हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना क्रमबद्ध नहीं की गई। रामनगर (वाराणसी) के चौधरी छुन्नी सिंह के यहां 'पदावली' की एक पुरानी प्रति मिली है, जिसके सं० १६६६ की प्रति होने का अनुमान किया गया है। इन्हीं चौधरी जी के यहाँ

---

[1] १—वही पृ० ६०

'विनय पत्रिका' की भी एक प्रति मिली है, जिसका नाम 'राम गीतावली' दिया हुआ है और जिसकी पुष्पिका में प्रतिलिपि-तिथि इस प्रकार अंकित है—

'सुभम् संवत् १६६६ समय श्राव—द० १२ बुधवार लिखितम् भगवान ब्राह्मणेन सुभंभवेत्' काल गणना से विदित हुआ है कि प्रतिलिपि की तिथि श्रावण शुक्ल १२ है। इस ग्रन्थ में केवल १७६ ही पद हैं जबकि वर्त्तमान विनय पत्रिका में २७६ हैं। अस्तु राम-गीतावली तथा पदावली को क्रमशः विनय पत्रिका और गीतावली का रूप गोस्वामी जी के जीवनकाल में ही सं० १६६६ के बाद मिला होगा। बरवै के अधिकांश छन्द गोस्वामी जी की प्रथमावस्था के ज्ञात होते हैं क्योंकि इनमें भक्ति—भावना शिथिल है. परन्तु अलंकरण की ओर अधिक ध्यान है, यथा—

का घूँघट पट मूँदहु अबला नारि।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि॥

कुछ बरवै वृद्धावस्था के भी हैं, यथा—

'भरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम॥'

दोहावली और कवितावली भी संग्रहीत ग्रन्थ हैं। हनुमान बाहुक कविता-वली का ही एक अंश है। दोहावली में प्राय: नीति-भक्ति के दोहे हैं। इन दोहों में कुछ ऐसे भी हैं जो वृद्धावस्था तथा अन्तिम समय में रचे गए थे, यथा—

'रोग निकर तनु जरठ पनु तुलसी संग कुलोग।
राम कृपा ते पालिए दीन पालि वे जोग॥ १७८॥
भुजरुज कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहगराज—बाहन तुरत, काढ़िय मिटै कलेस॥ २३५॥

कवितावली से गोस्वामी जी के जीवनवृत्त सम्बन्धी अनेक बातों का पता चलता है। इसमें काशी में फैली हुई महामारी, रुद्रबीसी, मीन के शनैश्चर, बाहुपीड़ा और वृद्धावस्था के कष्टों का उल्लेख है। इसमें गोस्वामी जी का अन्तिम छन्द भी है जिसे उन्होंने क्षेमकरी पक्षी को देखकर कहा था। मीन का शनैश्चर सं० १६६९ से १६७१ तक रहा। दोहावली के 'चातक-चौंतीसी' की भाँति कवितावली के सुन्दरकांड और लंकाकांड की रचना एक साथ हुई ज्ञात होती है, परन्तु उत्तरकांड इसके बिल्कुल विपरीत है। इस कांड में भगवान शंकर, हनुमान, गंगा और अन्नपूर्णा सम्बन्धी स्तुतियां एवं भगवान् कृष्ण सम्बन्धी छन्द भी हैं। अधिकांश छन्द भगवान राम की शरणागति भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी हैं, जिससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का सम्पादन समय-समय पर रचित छन्दों को संग्रह करके किया गया है। उत्तरकांड की अधिकांश रचनाएँ वृद्धा-

स्था की ही प्रतीत होती हैं। कवितावली का एक ऐसा संग्रह भी मिला है, जिसमें महामारी आदि सम्बन्धी छन्द नहीं हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उस संग्रह का संपादन सं० १६६९ के पूर्व ही हो गया था तथा वर्त्तमान कवितावली का रूप गोस्वामी जी के निधन के बाद प्राप्त हुआ।

आकार–प्रकार और सांप्रदायिक वेष-भूषा

गोस्वामी जी का आकार-प्रकार और वेष-भूषा की जानकारी के लिए चार प्रकार की सहायक सामग्रियां उपलब्ध हैं—

क—प्रस्तर मूर्त्ति—

१—राजापुर की प्रस्तर मूर्त्ति जो यमुना की रेती में मिली थी। यह मूर्त्ति अनुमानतः दो फीट ऊँची काले पत्थर द्वारा निर्मित्त है, जो सुखासन की मुद्रा में है। इसमें तुलसीदास जी माला फेर रहे हैं। गले में भी तुलसी की माला है। सिर पर जटा-जूट है जो टोपी से ढका हुआ है। मस्तक, वक्ष और बांहों पर श्री वैष्णवी तिलक के चिह्न हैं।

२—असी घाट पर स्थित काशी की प्रस्तर मूर्त्ति—इस पर इतना अधिक सिंदूर पोता गया है कि मूर्त्ति के विषय में विश्लेषण कठिन है।

ख--चित्र—

१—प्रह्लाद घाट स्थित चित्र[1]—यह चित्र गो० तुलसीदास के मित्र गंगा राम के उत्तराधिकारियों के पास है और जहाँगीर का बनवाया हुआ बतलाया जाता है, जबकि उसने गोस्वामी जी को दिल्ली बुलाया था। इस चित्र के ऊपरी हाशिये पर प्रथम पंक्ति में 'तुलसीदास (उर्दू लिपि में) तथा दूसरी पंक्ति में 'तुलसीदास और सं० १६५५ (नागरी लिपि में) है।

२—श्री पं० मायाशंकर याज्ञिक के, संग्रह में एक चित्र है। इसमें यज्ञोपवीत नहीं, पर कंठी, माला और तिलक है।

३—तुलसी मंदिर (असी घाट) स्थित चित्र—यह चित्र उस प्राचीन चित्र के आधार पर बना हुआ कहा जाता है जो सं० १९४७ वि० में उक्त मन्दिर से गायब हो गया था। यह चित्र कल्पना के आधार पर प्रसूत तथा नवीन है एवं यह अन्य चित्रों से बहुत भिन्न भी है, इसलिये इसे प्रामाणिक कहना कठिन है।

४—खड्ग-विलास प्रेस बांकी पुर से सं० १९४६ वि० में प्रकाशित चित्र जिसे डा० ग्रियर्सन ने प्रकाशित कराया था। इसमें तुलसीदास धोती पहने हुए और हाथ जोड़े हुए वज्रासन मुद्रा में आसनी पर बैठे हैं। दाढ़ी-मूँछ साफ, पर सिर के बाल कंघी से सँवारे हुए हैं। गले में दुहरी माला और पहुंचे

---

[1] —डा० माता प्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० ८७

(कलाई) पर भी दुहरी माला है। दाहिंने कंधे पर गमछा है। इस चित्र के तुलसीदास स्थूलकाय हैं और सखी सम्प्रदाय के संत जैसे लगते हैं। तुलसीदास न सखी सम्प्रदाय के थे और न स्थूलकाय ही, जैसा कि उन्हीं के साक्ष्य से विदित है, अतः इस चित्र की प्रामाणिकता में संदेह है।[1]

५—संकटाघाट (वाराणसी) के स्वर्गीय महंत राघववल्लभा शरणजी के स्थान पर एक पुराना चित्र है, जो शाहजहाँ के समय से उक्त वंश के पास है। इसका निर्माता सुयोग्य चित्रकार न था, इसलिए चित्र में त्रुटि है। इसी चित्र को कुछ परिवर्त्तन के साथ का० ना० प्र० सभा ने 'तुलसी ग्रन्थावली' खंड १ में प्रकाशित किया है।

६—किशनगढ़ (राजस्थान) एक दाढ़ी वाला चित्र प्राप्त हुआ है जो मध्य वय का है। इस चित्र के तुलसीदास के गले में कंठी और हाथ में सुमिरनी है, पर गले में माला नहीं है। यह चित्र बैरागी वेशभूषा के अनुरूप है।

ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी के कई भिन्न-भिन्न चित्र उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में निर्मित किए गए थे और समयानुसार उनकी प्रतिलिपियाँ की गईं। चित्रों में थोड़ी-बहुत भिन्नता का यही कारण है। इन चित्रों के सम्बन्ध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

"श्री रामानुजाचार्य के ऐहिकलीला संवरण के अनन्तर सम्प्रदाय के दो टाट हो गए। जो तमिल भाषोक्त शास्त्रों को मानते थे, वे 'तेंगकलै' और जो संस्कृत भाषोक्त शास्त्रों को मानते थे वे 'बड़कलै' कहलाने लगे। 'तेंगकलै' का विकसितरूप 'तिंगल' और 'बड़कलै' का विकसित रूप 'बड़गल' है। बड़गल तिलक ही 'वाई' अंग्रेजी अक्षर के आकार का होता है। 'तिंगल' में यह तिलक सिंहासनमुक्त होता है। दोनों वर्गों में सैद्धांतिक अंतर १८ प्रकार का है। केवल एक ही अंतर से स्पष्ट हो जायगा कि तुलसीदास 'तिंगल' टाट के थे या 'बड़गल' टाट के। तिंगल विचार-धारा के अनुसार भगवान की कृपा निर्हेतुक होती है और बड़गल के अनुसार सहेतुक। तुलसीदास ने अपने सभी ग्रन्थों में भगवान की निर्हेतुक कृपा का ही उल्लेख किया है। इसलिए इनके चित्रों में सिंहासन

---

[1] १—वृद्धावस्था में कोई स्थूल हो जाय, पर पहले वैसा न रहा हो, ऐसा विरल ही होता है बैरागी साधु प्रायः दाढ़ी-मूँछ रखते हैं। दाढ़ी मूँछ तो मुंड जाय पर केश लंबे-लंबे नारियों के से हों, ऐसा सखी सम्प्रदाय में ही प्रचलित है। तुलसीदास सखी-सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे, ऐसा आजतक के शोध से किसी ने प्रमाणित नहीं किया।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—का० ना० प्र० पत्रिका सं० २०१५ अंक ३-४ पृ० ४१७

युक्त तिलक ही ठीक है।× × 'खड्ग विलास प्रेस' वाले चित्र में तिलक सिंहासन युक्त नहीं है। याज्ञिक जी वाले चित्र में स्पष्ट ही सिंहासन नहीं है (का० ना० प्र० पत्रिका सं० २०१५ अंक १-४ पृ० ४२७-२८)।

मिश्र जी के कथन का समर्थन स्वयं तुलसीदास की वाणी से भी होता है क्योंकि उन्होंने अपने आराध्य श्री रामचन्द्र जी के तिलक का जो विवरण दिया है, वह 'तिंगल-तिलक' के अनुसार ही है यथा—

'भाल बिसाल विकट भृकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजे।
मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजे॥
—गी० उ० १२

और श्री विन्दुमाधव जी के तिलक का वर्णन भी तदनुरूप ही है यथा—

'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर, तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुगरेख इन्दु महँ, रहि तजि चंचलताई॥'
—वि० प० ६२

श्री रामानन्द-सम्प्रदायांतर्गत 'चतुर्भुजी सम्प्रदाय' के साधु 'तिंगल-तिलक' का ही व्यवहार करते हैं। 'चतुर्भुजी-सम्प्रदाय' को 'तुलसी-सम्प्रदाय' भी कहा जाता है, जिससे स्पष्ट है कि तुलसीदास का सीधा-सम्बन्ध 'चतुर्भुजी-सम्प्रदाय' से ही था और इस प्रकार उनके 'तिंगल-तिलकांकित-चित्रों की ही प्रामाणिकता व्यक्त होती है।

श्री सुधाकर पांडेय 'मानस अनुशीलन' पृ० १८ पर लिखते हैं कि खड्ग-विलास प्रेस और तुलसी-मन्दिर के चित्रों को छोड़कर शेष प्रायः एक ही चित्र की अनुकृति हैं।' किन्तु इस मत से सहमत होना कठिन है। हाँ, यह सम्भव है कि ये चित्र एक ही व्यक्ति के विभिन्नकालों के विभिन्न चित्रों की अनुकृतियाँ हों।

ग—गोस्वामी जी के समकालीन ग्रन्थकारों का साक्ष्य —

१-श्री नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में न गोस्वामी जी की जीवनवृत्त और न वेश-भूषा का ही विवरण दिया है, परन्तु यह कहकर कि 'वाल्मीकि तुलसी भयो' उन्होंने यह संकेत अवश्य किया है कि गोस्वामी तुलसीदास महर्षि वाल्मीकि की भाँति एक श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु उनका प्रारम्भिक-जीवन जीविका-विहीन होने से प्रशंसनीय न था भगवत्कृपा से साधुओं की संगति मिल जाने के फलस्वरूप दोनों का उद्धार हुआ एवं दोनों उनके उपदेश के अनुसार नाम जप और तप द्वारा महत्व को प्राप्त हुए। अस्तु इस आधार पर गोस्वामी जी को नाम-जप हेतु माला फेरते हुए एक कौपीनधारी तपस्वी के रूप में देखा जा सकता है।

२—गौतम चन्द्रिका से विदित होता है कि काशी में महात्मा आनन्द वन के यहां तुलसीदास गृहस्थ-भेष में आए थे और उक्त महात्मा ने उन्हें गंगास्नान कराकर साधुओं के योग्य पवित्र वस्त्र पहनने को दिया था।[1] श्री कविवर विद्यापति ठाकुर के वंशज रमाबंधु ठाकुर ने जनकपुर की यात्रा में गोस्वामी जी को पीताम्बर दिया।[2] इससे ज्ञात होता है कि काशी जाने से पूर्व वैवाहिक-जीवन विताते समय तुलसीदास गृहस्थ-वेश में रहते थे किन्तु विरक्त होने पर साधुओं की भेष-भूषा धारण की अर्थात् कौपीन और अँचला धारण करने लगे। उस समय वे पीताम्बर भी पहनते थे। गौतम चन्द्रिका में उनका चित्रांकण इस प्रकार किया गया है—

असन मधुकरी कपिस पट सिषासूत्र संधान।
उरसि तुलसि का माल सुचि रुचि लेखनी प्रधान॥

३—गोस्वामी तुलसीदास को भेष-भूषा के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट विवरण 'प्रेम-रामायण' में मिलता है, जैसा कि श्री रामू द्विवेदी उनकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

'गौरं 'रा' पदमात्र सं श्रवणातोप्युद्भूत रोमांकुरं।
वक्षः श्री तुलसी प्ररूढ़ गुटिका मालं पटी शालिन॥ अ० का०

उन्होंने अयोध्या कांड के 'तापस-प्रसंग' में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

तस्मिन्नवसरे कश्चित्तापसस्त मुपागतः।
तेजः पुंज इवाक्रांत तेजस्तेजस्विनामपि॥ ४६
सुन्दरोऽल्पवयो ज्ञानी ह्यलक्षित गतिः कविः।
विरक्त वेषः कौपीनः पटांचित कटिर्गले॥ ५०
माला माल नवद्विभ्र त्तुलस्याश्चित्त दंतिनः।
मनः कर्मवचोभिः श्री रामकिंकर एवसः॥ ५१
प्रेमाश्रु गद्गदश्चंचत्पुलकांकित विग्रहः।
निर्जेष्ट देवं कांतारे यांतं कांतानुजान्वितं॥ ५२

उपर्युक्त विवरणों से विदित होता है कि तुलसीदास अल्पवय अर्थात् बत्तीस वर्ष की आयु के पहले ही विरक्त हो गए थे। उनका शरीर गौरवर्ण, सुन्दर एवं तेजो-पुंज था। वे अलक्षित गति कवि और ज्ञानी थे। वे मनवचन कर्म से श्री रामचन्द्र जी के सेवक; उनके प्रेम में सदा विह्वल, पुलकित और गद्गद कंठ हो प्रेमाश्रु बहाने वाले एवं विरक्त वेशधारी थे। वे कौपीन, अंचला (वह आधोवस्त्र

---

[1] —सुनि मुनि देव नदी अन्हवाए। साधु जोग सुचि पट पहिराए॥
[2] —पुनि ठाकुर तन तुलसिहि चीन्हे। प्रीति रीति पीताम्बर दीन्हे॥

जो काँख से ले जाकर गले में बाँध लिया जाता है) और तुलसी की मालाएँ धारण करते थे।

घ—गोस्वामी जी द्वारा कथित संकेत—कतिपय स्थानों पर गोस्वामी जी द्वारा कथित-प्रसंग भी उनकी तात्कालिक स्थिति तथा भेषभूषा की ओर संकेत करते हैं, यथा—

१—अनाथावस्था का चित्र—

'आसन - बसन-हीन, विषम विषाद लीन,
देखि दीन - दूबरो करै न हाय-हाय को।

२—पूर्ण वैराग्य होने से पूर्व का चित्र—

भेष सुबनाइ सुचिबचन कहै चुनाइ,
जाइ तो न जरनि धरनि-धन-धाम की।

३—श्री रामचन्द्र जी की शरणागति प्राप्त करने से पूर्व का चित्र—

'पातकपीन, कुदारिददीन, मलीन धरे कथरी करवा है।' क० उ० ५६

किन्तु ये चित्र अस्पष्ट और अतिरंजित हैं तथा इनका अभिधार्थ ग्रहण करना भी उचित नहीं है क्योंकि 'कथरी (कंथा) और करवा (मिट्टी का जलपात्र) तो केवल संन्यासी ही धारण करते हैं, अन्य आश्रमों में इसका उपयोग नहीं किया जाता, परन्तु गोस्वामी जी ने अपनी विपत्ति और अकिंचनता प्रकट करने के लिए इस प्रकार का प्रयोग किया है अस्तु इस प्रकार के अस्पष्ट विवरणों को वास्तविक चित्रांकन का आधार नहीं बनाया जा सकता।[1] फिर भी चार स्थानों पर गोस्वामी जी ने इस प्रकार के विवरण दिए हैं जिससे उनके शरीर भेष-भूषा के सम्बन्ध में कुछ संकेत मिल जाता है—

१—'दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारिको। विनय० १३५
२—भलि भारत भूमि भलोकुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकै। क०उ०३२
३—'धूत कहौ अवधूत कहौ; रजपूत कहौ, जोलहा कहो कोऊ। वही१०६
४—'तेहि अवसर तापस एक आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा॥

कवि अलखित गति वेषु विरागी।
मन क्रम वचन राम अनुरागी॥

---

[1] गोस्वामो जी कभी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट नहीं हुए जैसा कि वे स्वयकहते हैं।

'काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो।
विगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो। विनय १७२

सजल नयन, तन पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥

रा० मा० अ० का० ११०

प्रथम दो उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदास श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, शरीर से सुन्दर और सुडौल थे। तीसरे उद्धरण के आधारपर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह अनुमान किया है कि काशीवास करते समय उनके शत्रु जबकि उनकी जाति-पाँति पर आक्षेप कर रहे थे, वे दाढ़ी रखते थे क्योंकि उक्त उद्धरण में जो चार नाम उपस्थित किए गए हैं, वे चारों ही नाम धारी प्रायः दाढ़ी रखते हैं। चतुर्थ उद्धरण का स्पष्टीकरण प्रेम-रामायण के उद्धरणों से ही हो जाता है किन्तु इसमें एक विशेष बात है, वह है 'परेउ दण्ड-जिमि धरनि-तल।' इससे इस बात का संकेत मिलता है कि गोस्वामी जी दण्ड के समान 'छरहरे शरीर' वाले थे।

उपर्युक्त विवरणों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी का शरीर गौरवर्ण, इकहरा, सुन्दर और सुडौल था। उनके मुखमंडल पर तेजस्विता थी। समयानुसार विविध समयों में उन्होंने विविध वेष-भूषाएँ धारण कीं। वाल्मीकि आश्रम (चित्रकूट के निकट) तपस्या करते समय वे विरक्त वेश में रहते हुए 'कौपीन' और अँचला धारण करते थे एवं तुलसी की माला भी। चित्रों के देखने से ज्ञात होता है कि तुलसीदास पहले यज्ञोपवीत भी पहनते थे, जैसा कि प्रायः सभी सूत्रधारी (ब्राह्मण-क्षत्रिय) बैरागी साधु करते हैं किन्तु बाद में उन्होंने उसका परित्याग कर दिया।

दशम अध्याय

(विचार - धारा)

'विशिष्टा द्वैत' मत के प्रवर्त्तक स्वामी रामानुजाचार्य (११ वीं-१२ वीं शती) का जन्म दक्षिण में हुआ था। इनका सम्प्रदाय 'श्री' सम्प्रदाय कहलाता है। इनके मतानुसार जीव (चित्) और प्रकृति (अचित्) ईश्वर के ही अंश हैं। ईश्वर ही इनका आश्रय स्थान और नियामक है। वह इनसे विशिष्ट है इसीसे इस मत को विशिष्टा द्वैत कहते हैं। इस सम्प्रदाय में शुद्धि का बड़ा ध्यान रखा जाता है। इसी से इस सम्प्रदाय के लोग आचारी कहलाते हैं। इनका तिलक माल और मंत्र अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय) है।

स्वामी रामानन्द के गुरु राघवानंद रामानुज सम्प्रदाय के साधु थे; उन्होंने दक्षिण भारत से आकर रामभक्ति का आन्दोलन उत्तर भारत में चलाया यथा—

सम्प्रदाय और मत :—

'वंदे श्री राघवाचार्यं रामानुज कुलोद्भवम्।
याम्या दुत्तर मागत्य राम-मंत्र प्रचारकम्॥

किन्तु स्वामी रामानन्द ने अपने सम्प्रदाय का संगठन स्वतन्त्र रूप से किया। इस सम्प्रदाय में तुलसी की माला और कंठी रखना आवश्यक है, जबकि रामानुज-सम्प्रदाय में इसका विधान नहीं है। इसी प्रकार मंत्र, उपास्य देव, देवार्चन विधि आदि में भी कुछ अन्तर है। एकादशी आदि व्रत, तीर्थ-यात्रा, षोडशोपचार पूर्वक पूजा आदि तो सभी वैष्णवों में समान रूप से प्रचलित है, परन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय जटाजूट धारी विरक्त साधुओं के कारण 'बैरागी-सम्प्रदाय' कहलाता है। इस सम्प्रदाय में सायुध श्री राम-लक्ष्मण-सीता (ब्रह्म-जीव-माया) का ध्यान किया जाता है इसलिए इसे रामावत सम्प्रदाय भी कहते हैं। श्री रामचन्द्र में नित्य परम अनुराग का नाम भक्ति है। स्मरण की धारा में किसी प्रकार की त्रुटि न होनी चाहिए, न किसी प्रकार का व्यवधान। वह तैल धारा के समान गति से प्रवाहित रहे। भक्ति के जनक सात उपाय अथवा साधन हैं—

(१) विवेक अर्थात् (दुष्ट आहार से सात्त्विक आहार का विवेचन) जाति दुष्ट (लहसुन, प्याज आदि तीक्ष्ण और उत्तेजक पदार्थ), आश्रय दुष्ट (किसी का जी दुखाकर अन्याय से प्राप्त द्रव्य) और निमित्त दुष्ट (जूठा, बासी, कीट बाल आदि से दूषित) अन्न का त्याग क्योंकि अन्न की शुद्धि पर ही मन की शुद्धि निर्भर है।

(२) विमोक अर्थात् काम में अनासक्ति, विषय का सन्निधान होने पर भी चित्त में विकार न होना।

(३) अभ्यास अर्थात् भगवान का संतत शीलन (स्मरण)।

(४) क्रिया अर्थात् पंच-महायज्ञ (स्वाध्याय, हवन, श्राद्ध-तर्पण, अतिथि-सत्कार और बलि या पंच कौर)। इस से सूना दोष (हल जोतने, झाड़ू देने, कूटने, पीसने और भोजन बनाने में हुई जीव हिंसा) का प्रायश्चित होता है।

(५) कल्याण अर्थात् सत्य, आर्जव, दान, दया आदि गुण। अहिंसा सर्वोपरि है। जीव हिंसा सर्वथा वर्जित है।

(६) अनवसाद अर्थात् लक्ष्य मार्ग में सदा उत्साह। देश-काल की प्रतिकूलता और शोकादि से दुःखी न हो।

(७) अनुद्धर्ष अर्थात् सांसारिक पदार्थ और सांसारिक सुख प्राप्ति में हर्ष का न होना और न उनकी आकांक्षा या चिंतन करना।

इस मत के अनुसार भक्ति ही मोक्ष की एक मात्र साधिका है। भगवान राम ही भक्त के परम प्राप्य हैं। वे एक हैं, चेतनो के भी चेतन भरण-कर्त्ता, स्वतन्त्र, वशी, अशेष, दिव्य गुणों के सागर उपनिषदों में प्रतिपाद्य, शरण्य तथा प्रभु हैं। गुरु के शरण में जाना अनिवार्य है। गुरु के उपदेशों के प्रभाव से इष्ट देव के चरणों में कर्मों का न्यास करने से मुक्ति मिलती है। अचिरादि मार्ग से वैकुंठ में प्रवेश होता है। विरजा नाम नदी में स्नान कर उस लोक में जाते हैं। विरजा का अर्थ रजोगुण रहित सात्त्विक गुण है।

इस सम्प्रदाय का मूल-मंत्र षडक्षर है। इसमें 'रां' प्रणव युक्त बीजमंत्र है। यथा—'रां रामाय नमः'

द्वय मंत्र—

'श्री मद्रामचंद्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचंद्राय नमः।'

चरम मत्र—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।

स्वामी रामानन्द जी के मतानुसार भक्ति मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। उसमें जाति-पांति का भेद नहीं।[1] स्वामी जी ने सभी जातियों को उपदेश दिया और मोक्ष मार्ग का अधिकारी बताया। यह उन्हीं का कथन है कि—

'जाति - पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई॥'

स्वामी रामानन्द की भावना संकीर्ण सम्प्रदायवादी न होकर व्यापक, ष्णु और उदार थी। यही कारण है कि रामानन्द-सम्प्रदाय में शिवोपासना को भी स्थान मिला। जबकि रामानुज सम्प्रदाय उसका विरोधी है। श्री रामानन्द प्रदाय के अतिरिक्त अन्य अनेक सम्प्रदाय श्री स्वामी रामानन्द से अपनी परंपरा नते हैं। यद्यपि इनमें परस्पर साधना के ढंग और सिद्धान्त में भी अन्तर है। द्वैतवादी निरंजनी, निर्गुणवादी कबीर और बावरी सम्प्रदाय की परम्परा वामी रामानन्द से ही मानी जाती है। महाराष्ट्र का नाथ-सम्प्रदाय और ल-नयन के सम्प्रदाय भी अपना सम्बन्ध श्री स्वामी रामानन्द से ही जोड़ते । इस प्रकार स्वामी रामानन्द का व्यापक महत्त्व प्रकट होता है। वैष्णव धर्म कर के अनुसार वे पहले 'राम भारती' नाम से काशी में दशनामी संन्यासी और राघवानन्द से दीक्षित होने पर उनका नाम 'रामानन्द' पड़ा। कदाचित् ही कारण है कि उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद की झलक पाई जाती है और के मत से रामानुज सम्प्रदाय का कई बातों में अन्तर पड़ गया है।

ध्यात्मिक विचार-धारा

यों तो गोस्वामी जी रामानन्दी सम्प्रदाय के सन्त थे, परन्तु उनकी ध्यात्मिक विचार धारा अपने सम्प्रदाय तक ही सीमित न थी। उन्होंने उसे सी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में उदार और समन्वयवादी बनाया, जिस प्रकार मी रामानन्द ने उसे व्यवहार के क्षेत्र में उदार और समन्वयवादी बनाया था। स्तु जैसे रामानन्द ने भक्ति प्रचार के क्षेत्र में जाति-पांति का विचार न किया, से ही गोस्वामी जी ने आध्यात्मिक दृष्टि से 'वाद' का विवाद न किया और ने मत में सभी मतों का समन्वय किया, विशेष कर अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का; यथा—

द्वैतवाद—

गिरा - अर्थ जल - बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीता राम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥ रा० मा०बा० १८
रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ वही ११७

विशिष्टाद्वैत—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बंधेउ कीर मरकट की नाईं॥

क्रोध कि द्वैतक बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान ॥

समन्वय—

'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपुन पहिचानै॥ वि० ११

बहुधा शैव शिवकी, शाक्त देवी की और वैष्णव विष्णु की उपासना अनन्य निष्ठा से करते हैं। गास्वामी जो के समय में और उसके पूर्व एक देवता का उपासक दूसरे देवता से प्रायः द्वेष और स्पर्द्धा करता था। दक्षिण में शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के झगड़े परस्पर चलते ही रहते थे तथा उत्तर भारत भी इससे अछूता न था। श्री रामानुज सम्प्रदाय में 'शिव' के लिए कोई स्थान न था। स्वामी रामानन्द ने श्री हनुमान जी को ता अपनी उपासना मे स्थान दिया किन्तु शिव के लिए उनके यहां भी कोई स्थान नहीं मिला, परन्तु गोस्वामी जी ने अपने इष्टदेव श्री रामचन्द्र जी के मुख से यह कहलाकर—

'शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्प भर घोर नरक महँ बास॥ रा० मा० उ० १

शैव और वैष्णव मत की एकता स्थापित की और स्वयं भी दोनों की एक पद में वंदना कर अभेद स्थापित किया (वि० ४९) जहाँ सूरदास ने सूर-सागर में 'बंदौं चरन कमल रघुराई' कहकर मंगला-चरण किया है, वहां गोस्वामी जी ने राम में अनन्य निष्ठा रखते हुए भी पहले वाणी-विनायक और भवानी-शंकर की वंदना की है, यथा--

वर्णानामर्थ संघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ ॥ १ ॥
भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ।
याभ्या बिना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतःस्थमीश्वरम् ॥२॥ रा०मा० बा०

उन्होंने सभी वैष्णव मतों में भी एकता लाने का प्रयत्न किया। विनय-पत्रिका में उनका समन्वय किया और भगवान के दसों अवतारों को समान मानकर और अभेद-दृष्टि से वदना की; जैसा कि विनय पत्रिका के पद ९३, ९८ १४५ आदि में देखा जा सकता हैं।

इन बातों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी की साम्प्रदायिक विचारधारा उदार और समन्वयवादी थी,[२] फिर भी अवैदिक मतों के वे समर्थक न थे, जैसा कि वे कहते हैं—

अतुलित महिमा वेद की तुलसी किए विचार।
जेहि निंदत निंदित भए, बिदित बुद्ध अवतार॥ दो० ४६४

वर्णाश्रम-धर्म और वैदिक मर्यादा की स्थापना उनका अभीष्ट था क्योंकि जो जितना ही वेद के अनुकूल है वह उतना ही उत्तम है, (दो० ४६३) अस्तु सर्वत्र ही वेदानुशासन में प्रवृत्त करते और वेद की दुहाई देते हैं। उनके खिल लोक नायक राम का अवतार ही वैदिक मर्यादा की रक्षा कर सज्जनों को सुख देने के लिए हुआ है। उनकी कृपा निहेतुक है। वे 'श्रुति सेतु पालक र्यादा पुरुषोत्तम हैं—

ुति सेतु पालक राम तुम जगदीस, माया जानकी।
ो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की ॥ रा० मा०

गोस्वामो जी के मतानुसार कर्त्तव्याकर्त्तव्य में वेद ही प्रमाण है यथा—

'गनि गुन दोष वेद बिलगाए।

इसलिए वेद की अवहेलना अधर्म है। रावण ने वेद की अवहेलना की यथा—

जेहि विधि होई धर्म निर्मूला।
सो सब करहिं वेद प्रतिकूला ॥

इसलिए भगवान् राम ने रावण का नाश किया। अस्तु वैदिक मर्यादा की भूमि पर ही रामराज्य की स्थापना हुई है। कलियुग में रामराज्य का दर्शन वैदिक मर्यादा की अवहेलना करने के कारण ही नहीं होता। कलियुग का चित्र खींचते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

'वर्ण धर्म नहिं आस्रमचारी। स्रुति विरोधरत सब नरनारी॥
द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥
रा० मा० उ० ९८

और—'वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए।' वि० प०

गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव काल में अवैदिक मतों का प्रचार बढ़ रहा था, इसलिए उन्होंने इस प्रकार के मतों की निन्दा की है और कभी-कभी चिढ़ कर कहते हैं—

साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत-कलि,[1] निंदहिं वेद पुरान ॥
इसे सोस बिलसत सदा, तुलसी तरल तरंग।
स्वान सरावगी[2] के कहे, लघुता लहै न गंग ॥

---

[1] —वेद-पुराण को प्रमाण न मानने वाले कबीर आदि निर्गुनिया (निर्गुण-धारा के) संत।

[2] —जैन श्रावक

हम लख हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच ॥[1]

अन्ध-विश्वास से भी उन्हें चिढ़ थी। चिढ़कर हीं तो कहते हैं—

लही आँख कब आँधरे, बांझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय ॥[2]

कलियुग में सर्वत्र हो अधर्म और अवैदिक मतों का प्रचार होते देख इन्हें दुःख होता था। अधर्म के मारे धर्म की भगदड़ मची हुई है। कुवासना के कारण कर्म, उपासना और ज्ञान का लोप हो रहा है। ऐसी दशा में एक मात्र 'राम-नाम' का ही भरोसा है। कहते हैं—

बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुवासना विनास्योज्ञान
बचन विराग वेष जगत हरो सो है॥
गोरख जगायो जोग,[3] भगति भगायो लोग,
निगम नियोग तें सो केलिही छरो सो है।
काय मन वचन सुभाय तुलसी है जाहि,
राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है ॥ क० उ० ८

---

[1] —ईश्वर को निराकार निर्गुण मानने वाले 'अलख नामी' साधुओं का एक संप्रदाय था, जिसके साधु 'अलख-अलख' कहते हुए भिक्षा मांगते थे।

[2] —बहराइच में सालार मसऊद (गाजीमियाँ) की दरगाह है, जो महमूद गजनवी के भानजे थे। इन्होंने सं० १०९१ वि० में अवध पर आक्रमण किया और वहां के प्रतापी राजा सुहलदेव द्वारा अपने साथियों सहित मारे गए। इस घटना के ३१७ वर्ष बाद सं० १४०८ वि० में फीरोज तुगलक ने एक मुसल्मान फकीर द्वारा उक्त स्थान का पता लगा कर वहां के सूर्य-कुंड को पाट डाला और उसपर मसऊद की दरगाह का निर्माण कराया (बहराइच गजेटियर पृ० ११८)

सूर्यकुंड हिन्दुओं का तीर्थ था जहां कोढ़ो और आंख के रोगी अपने रोगों की निवृत्ति के लिए तथा पुत्रार्थी पुत्र प्राप्ति के लिए विधि पूर्वक स्नान करते थे। तीर्थ का ध्वंस हो जाने पर भी दरगाह के रूप में मुसलमानों ने (हिन्दुओं में अन्ध विश्वास फैलाकर) उस परम्परा को जीवित रखा। गोस्वामी जी ने इसी अन्ध विश्वास की भर्त्सना की है।

[3] —महात्मा गोरखनाथ हठयोग के प्रचारक थे। इनके 'नाथ-सम्प्रदाय' के साधु भक्ति-मार्ग का अवलम्बन न कर सिद्धि प्राप्ति का यत्न करते हैं।

और—वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल, नृपाल कृपाल न, राज समाज बड़ोइ छली है॥
बर्न बिभाग न आस्रम धर्म, दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
स्वारथ को, परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है॥

वही ८५

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी को नाना प्रकार के शास्त्रीय कांड और योग-साधना का उतना विश्वास इस कलि में नहीं है, जितना ोसा उन्हें राम-नाम का है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे योग साधना, कांड और ज्ञान को अनावश्यक समझते हैं, वरंच इन साधनों की वहीं तक श्यकता है जहाँ तक भक्ति की साधना में उनका योग हो सके। स्वामी ानन्द ने अपनी साधना में योग का समन्वय किया था और उनके सम्प्रदाय लोग अवधूत वेशधारी भी होते थे[१] किन्तु उक्त सम्प्रदाय को विशुद्ध भक्ति पथ प्रेरित करने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को दिया जा सकता है। इनके से एक मात्र राम का भरोसा करना ही कल्याणकारी है। गोस्वामी जी के न योग को अभिप्राय स्वामी शंकराचार्य का तर्क प्रधान और नीरस अद्वैतवाद जो संक्षेप में इस प्रकार है—

ब्रह्म—अखंड, अद्वितीय, त्रिविध (विजातीय, सजातीय, स्वगत) भेद रहित, र्गुण, निर्विशेष, साक्षी, चेतन और आनन्द स्वरूप है।

जगत्—दृश्यमान् जगत् पारमार्थिक दृष्टि से मायामय मिथ्या है और माया की शक्ति होनेपर अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है।

---

[१]—'जिस समय दक्षिण से आकर श्री यमुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ, उस समय वहां योगसंप्रदायका बहुत प्रचार था। इस नवीन भक्ति के प्रभाव में योग सम्प्रदाय के बहुत से लोग आ गए, परन्तु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गए थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिए हमें रामानन्द, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय मिलता है। × × गुरु प्रकारी में मिहीलाल ने राघवानन्द (स्वामी रामानन्द के गुरु) को अवधूत वेश वाला कहा है। अवधूत दत्तात्रेय के अनुयायी थे, जो पीछे गोरक्षादि के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आ गए। गोरखनाथी आदि में भी दत्तात्रेय को मानते हैं। योगियों के समान रामानन्द के बैरागी भी अपने को अवधूत कहा करते थे।'

—रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पृ० ४७-४८

जीव—जीव ब्रह्म का ही आभास या प्रतिबिंब है। नित्य मुक्त स्वप्रकाश है। जीव, ब्रह्म में अभेद है।

मुक्ति—बुद्धि रूपी उपाधि मिटने पर जीव-ब्रह्म एकाकार हो जाते हैं। संसारी दशा में जीव उपाधि से अवच्छिन्न रहता है। माया, अविद्या एक ही पदार्थ हैं।

साधन—ज्ञान ही मुक्ति का एक मात्र साधन है। जीवन्मुक्ति होती है।

अधिकारी—नित्य, अनित्य वस्तु का ज्ञान रखनेवाला ब्रह्मजिज्ञासा अधिकारी है।

गोस्वामी जी का भक्तियोग श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

ईश्वर (ब्रह्म)—स्वगत भेद युक्त जीव और जगत् उसीके अंश हैं। आनन्द, दया आदि निखिल सद्गुण का आकार होने से, वह सगुण है, निर्गुण नहीं। ज्ञानादि, ब्रह्म के विशेष धर्म हैं। माया ब्रह्म की शक्ति है, जो आश्रित रहती है।

अचित् (जगत्)—चेतन-अचेतन समन्वित जगत् उसका विशेषणाभूत शरीर है जब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है और उसका शरीर स्थानीय है तो मिथ्या कैसे हो सकता है। वह मायामय होने पर भी मिथ्या नहीं है। माया भी ब्रह्म शक्ति होने से ब्रह्म में ही आश्रित रहती है, तब वह अनिर्वचनीय पदार्थ नहीं हो सकती।

चित् (जीव)—जीव ब्रह्म से निर्गत होता तथा उसका अंश है। जीव अणु है ब्रह्म विभु है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है। दोनों में महान् अन्तर है। संसारी दशा में जीव ब्रह्म से पृथक है। मुक्त दशा में हो ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। अज्ञान जीव में रहता है।

मुक्ति—देहावसान के बाद ही मिलती है जो अधिकारी भेद से चार प्र की है—सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य।

साधन—मुक्ति का साधन एक मात्र भक्ति है। ज्ञान सहायक है।

अधिकारी—कर्म और कर्मफल की अनित्यता का जाननेवाला ब्रह्म जिज्ञा का अधिकारी हो सकता है।

ईश्वर चिदचिद् को आश्रित, नियमन और कार्य में प्रवृत्त करता है। नि भक होने से वह विशेष्य (प्रधान) और नियम्य (अप्रधान) होने से जगत् विशेषण है जो विशेष्य से सदा संबद्ध है अतः यह दर्शन विशिष्टा कहलाता है।

गोस्वामी जी को 'वादों' का वितंडावाद और वाद-विवाद निरर्थक

ा। सर्वसाधारण की प्रवृत्ति तर्क-प्रधान न होकर भाव प्रधान होती है। की उपासना के तत्त्व भी शुष्क चिंतन के आधार पर न होकर हृदय ग्राह्य ने चाहिए।

उनका कथन है—

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

परन्तु ज्ञानयोग[1] की साधना कलियुग में कुवासना के कारण कठिन है।

था—

'कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाक्षर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

रा० मा० उ० ११८ (ख)

इसीसे गोस्वामी जी ने भक्ति[2] का निरूपण किया है। उनका दृढ़ मत है—

'राम भजन बिनु सुनहु खगेसा। मिटै न जीवन केर कलेसा॥

वही० ७८

तः—'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतुश्रम करहीं॥
ते जड़ काम धेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेश हरि भगति बिहाई। जे सुख चाइहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिन्धु विनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़करनी॥

रा० मा० उ० ११५

भक्ति का इतना महत्व क्यों है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

'नाहिन आवत आन भरोसो।
यह कलिकाल सकल साधन तरु, है स्रम फलनिफरो सो॥
तपतीरथ उपवास दान मख, जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करमफल, भरि-भरि वेद परोसो॥
आगम विधि जपजाग करत नर, सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घरो सो॥
बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि. जहां तहां झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज़-डगरो सो॥

तुलसी बिनु परतीति-प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥ विनय १०

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि साधनाक्षेत्र में राम का भजन ही राजमार्ग है जिस पर चलने से भूलने-भटकने का भय नहीं। रामनाम ही वह जहाज है जि सुगमतापूर्वक भवसागर पार किया जा सकता है। अंततः तुलसी के ये रा कौन हैं? राम का ही निरूपण करने के लिए रामचरित मानस की अवतार हुई है। ऐसा ही प्रश्न श्री पार्वती जी ने भगवान शंकर से किया था जिस उत्तर में वे कहते हैं—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुधवेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे? जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि विज्ञान बिहाना॥
हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जगजाना। परमानन्द परेस सुजाना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥११६

× × × ×

सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महँ भास जिमि यथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँकाल सोई भ्रम न सकइ कोइ टारि॥११
एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देव दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूर दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिट जाई। गिरिजा सोई कृपाल रघुराई॥
आदि-अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ विधि नाना॥

आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहै घ्रान बिनु बास असेषा ।।
अस सब भांति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।।
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।।

यह मत तुलसीदास का केवल अपना नहीं है, वरंच इसके विषय में शास्त्र पुराण का प्रमाण भी है यथा—

यथैव वट बीजस्थ प्राकृतश्च महाद्रुमः ।
तथैव राम बीजस्थं जगदेत चराचरम् ।। राम तापनी० उ०
राम एव पर ब्रह्म राम एव परात्परं ।
राम एव परं तत्त्वं श्री रामो ब्रह्म तारकम् ।।
स्वभूर्ज्योतिर्मयोनंत रूपी स्वेनैव भासते ।
जीवत्वे इदमस्तृष्टि स्थिति हेतुलयस्य च ।। रामोपनिषद्

'राम' का निरूपण तो हो चुका, पर गोस्वामी जी के लिए तो राम से बढ़कर राम का नाम ही है कि—

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना ।।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने ।।
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे ।।
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ।
राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु जो चाहसि उजियार ।। रा० मा० बा० २१
सकल कामना हीन जे, राम भगति रसलीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुं किए मनमीन ।। २२ ।।
निरगुन ते एहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ रामतें, निज विचार अनुसार ।। २३
सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, विस्व विदित गुन गाथ ।। २४

ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि ॥ २५
नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास ।
जो सुमिरत भयो भाग ते तुलसी तुलसीदास ॥ २६
एक छत्र इक मुकुट मनि, सब बरनन पर जोइ ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन विराजत दोइ ॥ रा० बा० २०

भव समुद्र में डूबते हुए संत्रस्त जीव के उद्धार का एक मात्र उपाय राम नाम का स्मरण ही है । इसे छोड़ दूसरा अवलम्ब नहीं, यथा—

बारि मथे वरु होई घृत, सिकता ते वरु तेल ।
विन हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल ॥ रा०उ०१२२

इसलिए—'बीज मन्त्र जंपिए, सोई जेहि जपत महेस ॥ वि० १०८

यह बीज मन्त्र 'राम' नाम ही है क्योंकि यह सभी पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का आश्रय धर्मद्रुम का बीज है । श्री 'हनुमन्नाटक' के मंगलाचरण में ही कहा गया है—

'कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम् ।
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपद प्राप्तये प्रस्थितस्य ॥
विश्रामस्थानमेकं कविवर वचसां जीवनं सज्जनानाम् ।
बीजं धर्म द्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूत ये रामनाम ॥

इस बीज मंत्र की महिमा अपार है । स्वयं 'राम' से इनकार करने वाले निर्गुणवादी कबीर आदि सन्त भी जिसकी महिमा के गीत गाते और रामरस में ही सब सुखों की प्राप्ति तथा सब दुःखों की निवृत्ति मानते हैं, जैसा कि सन्त गुलाल साहब कहते हैं—

'कहत गुलाल 'रामरस' पाई ।
मगन भइल जिव गइल बलाई ॥'

इसके सम्बन्ध में शास्त्र पुराण का अनुमोदन भी प्राप्त है यथा—

'राम नामांशतो जाता ब्रह्मांडा कोटि कोटिशः ।
रामनाम्नि परेधाम्नि संस्थितं स्वामिभिस्सह ॥ पद्म पु०
सर्वेवताराः श्रीरामनाम शक्ति समुद्भवाः ।
सत्यं वदामि देवेशि नाम महात्म्यमद्भुतम् ॥ स्कं० पु०

श्री राम राम रामेति ये वदंत्यपि पापिनः।
पाप कोटि सहस्रेभ्यस्तेषां संतरणं ध्रुवम्॥ गरुड़ पु०
योगादि साधने क्लेशं दुस्तरं सर्वथा मुने।
अतस्सौलभ्यमासर्गं संगच्छन्नाम सस्मरन्॥
अनायासेन सर्वस्वं दुर्लभं मुनि सत्तम।
प्रभावाद्रामनामस्तु लभते रूपमद्भुतम्॥ भविष्योत्तर पु०

मारकंडेय पुराण के अनुसार जिस कुल में भगवन्नाम का जप किया जाता है, वह श्रेष्ठ कुल धन्य है यथा—

'धन्यं कुलवर तस्य यस्मिँ श्री नाम तत्परः।'

नारदीय पुराण में कहा गया है कि जो मनुष्य रात में और त्रिकाल नाम जप करता है, वह सभी पापों से मुक्त हो निर्मल बन जाता है—

प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्।
श्रीमद्रामात्समाप्नोति स्वच्छः पापक्षयं नरः॥ ना० पु०

इस प्रकार निर्मल और पवित्र बनाने वाले श्री राम नाम से जो रहित है, वह वेदशास्त्र पढ़कर और उच्चकुल में जन्म लेकर भी उच्च नहीं होता। निर्जीव शरीर की भाँति उसका जीवन निरर्थक है परन्तु राम नाम के प्रभाव से नीच कुल में जन्म लेकर भी मनुष्य पूजित होता है यथा—

श्री राम नाम दीप्ताग्नि दग्ध दुर्जाति किल्बिषः।
श्वपचोऽपि बुधै पूज्यो वेदाढ्योपि न नास्तिकः॥
वेदशास्त्र शतं चापि तारयन्ति न तं नरम्।
यस्तु स्वमनसावाचा न करोति जपं परम्॥
रामनाम विहीनस्य जातिश्शास्त्रँ जपस्तपः।
अप्राणस्येव देहस्य मंडनं तु वृथा यथा॥
अहो श्रीभारतं वर्षं धन्यं पुण्यालयं परम्।
प्राप्य यत्रापि श्री रामनाम नैव जपंति ये॥

इसलिए सुर दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर सभी अभीष्ट फलों को देने वाले श्री राम नाम को सावधानी पूर्वक जप करना चाहिए, यथा—

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य सुरैरपिसमर्चितम्।
जप्तव्यं सावधानेन रामनामाखिलेष्टदम्॥ प० पु०

जिसे भगवन्नाम से रुचि है, उसे विष भी अमृत और शत्रु भी मित्र हो जाता है। वह सबका प्रेम पात्र बन जाता है। जैसे—

विषं तस्य सुधा प्रोक्तं शत्रुस्तस्य सुहृद्भवेत्।
सर्वेषां प्रेम पात्रं स यस्यनाम्नि सदारुचिः॥ दक्षस्मृति

उपर्युक्त पुराणोक्त मत को तुलसीदास जी के निम्नांकित कथनों से मिलाया जा सकता है। महर्षि वसिष्ठ भगवान राम से कहते हैं—

'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभकर्मा॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुनेकर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधनकर फल यह सुन्दर॥
छूटइ मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई॥
सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुन गृह विज्ञान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोजरति होई॥
नाथ एक बर मांगऊँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ रा० उ० ४९

यही बात काकभुशुंड जी गरुड़ जी से कहते हैं—

जपतप मख समदम व्रत दाना। बिरति बिवेक जोग विज्ञाना॥
सबकर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

कलियुग में तो इससे बढ़कर कल्याण का दूसरा मार्ग ही नहीं है क्योंकि इसमें सबका अधिकार है तथा साधना में सुगम है जैसे—

कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु योग।
जो गति होय सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलियुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलियुग जोग न जाप न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सो भवतरु कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥
उ० १०३

इसलिए वही बुद्धिमान है जो निश्छल भाव से भगवद् भजन करता है—

'सोइ कवि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।

भगवद्भक्ति से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं और न नर शरीर पाकर भगवान का भजन न करने से बढ़कर हानि है।

'लाभ न किछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना।
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिय न रामहिं नरतनु पाई॥

यद्यपि यह भगवद्भक्ति सबके किए सुखद और सुलभ है किन्तु इसकी प्राप्ति किसी विरले ही भाग्यवान को होती है यथा—

सबते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मदमाया॥ रा०उ०५४

इसके लिए सर्वप्रथम दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने की आवश्यकता है—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम॥ रा० उ० ९०

भक्तिमणि जीव को केवल विश्राम ही नहीं देती, वरंच उसके प्रभाव से विष अमृत, शत्रु मित्र और कठिन काम सुगम हो जाते हैं एवं लेशमात्र भी दुःख नहीं रह जाता, इसलिए बुद्धिमान लोग उसके लिए बड़ा यत्न करते हैं उसकी विशेषता प्रकट करते हुए काकभुशुंड कहते हैं—

कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि की प्रभुताई॥
राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसै गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अविद्यातम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
चतुर सिरोमनि सोइ जग माहीं। जो मनि लागि सुजतन कराहीं॥

यद्यपि वह मणि राम कृपा से ही प्राप्य है पर वह मणि कहां मिलती है, उसके विषय में बताते हैं—

पावन पर्वत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी ज्ञान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित जो खोदै प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

गोस्वामी जी ने जिस भक्ति को सभी साधनाओं द्वारा साध्य माना है और जिसे ज्ञान से भी श्रेष्ठ बताया है, उसका साधन क्रम क्या है? भगवान राम शबरी से भक्तियोग का निरूपण करते हुए कहते हैं—

'प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरुपद पंकज-सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील विरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातयं सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठयँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहि देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥

नव महँ एकौ जिनके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।
सो अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥
रा० मा० अ० ३५-३६

श्री लक्ष्मणजी को भगवान् राम ने ज्ञान-विराग, माया, भक्ति और ईश्वर-जीव के सम्बन्ध में संक्षेप में जो उपदेश किया, इस प्रकार है—

'मैं अरु मोर तोर तै माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुनबस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताके॥
ज्ञान मान जहँ एको नाहीं। देखे ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥ १५॥

धर्म ते विरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छ प्रद वेद बखाना॥
जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंबन आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला॥
भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं विप्रचरन अतिप्रीती। निज निजकर्म निरत स्रुतिरीती॥
एहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। ममलीला रति अति मनमाहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मनक्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितुमातु बन्धु पति देवा। सब मोहिं कहँ जाने दृढ़ सेवा॥
मन गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

वचन. कर्म मन मोरिगति भजन करहिं निःकाम।
तिनके हृदय कमल महँ करउँ सदा विश्राम॥ वही १६

विनय पत्रिका में तुलसीदास ने जिस भक्तियोग की याचना भगवान् राम की है, वह इस प्रकार है—

'कबहुँ कहौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥

जथालाभ संतोष सदा काहू से कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन-क्रम वचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो।
विगत-मान सम सीतल मन, परगुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिन्ता, दुखसुख सम बुद्धि सहौंगो॥
तुलसिदास प्रभु यहिपथ रहि अविचल हरि भगति लहौंगो॥१७२॥

भक्तियोग के इन तीनों उद्धरणों से व्यक्त है कि भक्तियोग की साधना के लिए चरित्रवान होने के साथ अनन्य शरणागति परम आवश्यक है। ज्ञान-वैराग्य की भूमिपर ही शरणागति प्राप्त कर भक्तियोग की उपलब्धि की जा सकती है।[1] इन सारी उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में गुरु की आवश्यकता है जो पराशर संहिता के मत से वयोवृद्ध कुलीन और सच्चा संत विद्वान् ब्राह्मण हो सकता है।[2] गोस्वामीजी ने अन्यत्र भी कहा है—

विनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग विनु।
गावहिं वेद पुरान सुख कि लहिय विनु हरि भगति॥ रा० उ० ८९

क्योंकि कृपा सिंधु संत गुरु की कृपा से ही महामोह का नाश हो सकता है,[3] इसलिए संत-मिलन से बढ़कर कोई सुख नहीं है—

---

[1]—काल, करम, गति, अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे।
सोइ कछु करहु, हरहु ममता प्रभु, फिरउँ न तुमहिं विसारे॥
जो तुम तजहु भजहुं न आन प्रभु, यह प्रमान पन मोरे।
मनबच करम नरक-सुरपुर जहँ तहँ रघुवीर निहोरे॥ वि० ११२

[2]—सत्पुरुष विज्ञेये संतते कांति निर्मले।
कुले जातो गुणैर्युक्तो विप्रश्रेष्ठ तमोगुरुः॥
स्वयं वा भक्ति सम्पन्नो ज्ञान वैराग्य भूषितः।
स्वकर्म निरतो नित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः॥
नाचार्य कुल जातोऽपि ज्ञान भक्त्यादि वर्जितः।
न च हीन वयो जातिः प्रकृष्टा नामनापदि॥
न जातु मंत्रदानारी न शूद्रो नांतरोद्भवः।
नाभि शस्तो न पतितः काम कामोऽप्यकामिनः।
—नारदपंचरात्रे भारद्वाज-संहिता

[3]—तुलसिदास हरिगुरु करुना विनु, विमल विवेक न होई।
विनु विवेक संसार-घोर-निधि, पार न पावै कोई॥ वि० ११५
और—'द्विज देव हरि गुरु सन्त विनु संसार पार न पाइए॥ वि० १३६।१२

'सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं।'

शंकर जी पार्वती जी से कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं वेद-पुरान॥ उ० १२५

सन्तों का संग हरि कृपा से ही सम्भव है[1]—

संत विसुद्ध मिलहिं पै तेही। चितवहिं रामकृपा कर जेही॥ उ० ६६

पुण्य के प्रभाव से ही सत्संगति की प्राप्ति होती है। सत्संग के विना आवागमन का चक्र चलता ही रहता है किन्तु सत्संग मिलने पर अनायास ही भवसागर से मुक्ति मिल जाती है क्योंकि भक्ति की प्राप्ति सत्संग से ही सम्भव है—

भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसगति संसृतिकर अंता॥ उ०४५
और—'बड़े भाग पाइय सत्संगा बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा॥ उ०३३

'सत्संग' का ग्रहण सन्त और असन्त की पहचान होने पर ही किया जा सकता है क्योंकि संग्रह और त्याग के लिए पहचान की आवश्यकता है, इसलिए सन्त और असन्त के स्वभाव को पृथक-पृथक समझ लेना चाहिए—

सन्त–'साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। वंदनीय जेहि जग जस पावा॥
मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥
रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा॥
विधि निषेध मय कलिमल हरनी। कर्म कथा रविनंदिनि बरनी॥
हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥
बटु बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रकट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारिफल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग॥ रा०मा०बा०२

असंत–'परहित-हानि लाभ जिन केरे। उजरे हरष विषाद बसेरे॥
हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहस बाहु से॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिनके मन माखी॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥

---

[1] जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइए॥ वि० १३६।१०

उदय केतु सम हित सबही के। कुम्भकरन सम सोवत नीके ॥
पर अकाज लगि तन परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषीदल गरहीं ॥
बन्दउ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ परदोषा ॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना ॥
बहुरि सक्रसम बिनवउँ तेही। सन्तत सुरानीक हित जेही ॥
बचन बज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन परदोष निहारा ॥

उदासीन अरिमीत हित, सुनत जरहिं खलरीति।
जानि पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति ॥ वही ४

लोक में जो स्थिति सन्त की है, वही वेदशास्त्र के ज्ञाता महीसुर (ब्राह्मण) की है। वह भी अज्ञान-जनित संशय का हरण करने में समर्थ है, इसलिए पूर्वक कुसंग का त्याग और सत्संग का ग्रहण उचित है। सत्संग से सठ भी सुधर जाते हैं और बड़प्पन को प्राप्त करते हैं। लोक और वेद दोनों से प्रकट है कि कुसंग से हानि होती और सत्संग से लाभ ही होता है—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई ॥
धूमहु तजै सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगन्ध बसाई ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु वेद विदित सब काहू ॥ रा०मा०

सतसग से ही विषयी मन वैराग्य को प्राप्त होता तथा उसका भवभ्रम दूर होता है। मन ही बन्धन का कारण है। जैसे काष्ठ में पुतली विद्यमान है, वैसे ही मन में सारा ससार विद्यमान है, इसलिए भक्ति रूपी जल से सदैव मन का क्षालन करते रहना चाहिए। भक्ति के चार अधार हैं सम, सन्तोष, विमल विचार और सत्संग, यथा—

'जौ मन भज्यौ चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहू मैं जो कहौं सोई करु ॥
सम सन्तोष विचार विमल अति सत्संगति ए चारि दृढ़ करि धरु ॥
कामक्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु ॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयन निरखि कृपा समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीतावरु ॥
इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह, हरि तोषन यह सुभव्रत आचरु ॥
तुलसिदास, सिवमत मारग यहि, चलत सदा सपनेहुँ नाहिनडरु ॥
वि० २५

भगवान् को सन्तुष्ट करने वाला जो शिवमत है तथा जिसके अनुसार चलने में सपने में भी भय नहीं है, वह है—षड्विकार को मन से हटाकर समता,

सन्तोष, निर्मल बुद्धि और सत्संग द्वारा कानों से भगवान को कथा सुनना, मुख से नाम जप करना, हृदय में भगवान् को सदा स्मरण करते रहना और चराचर विश्व रूप विराट भागवान राम को सदा संतुष्ट करते रहना और उनका दर्शन ही प्रधान उद्देश्य है। यही भक्ति, यहो वैराग्य और यही ज्ञान है।[1] भगवान की उपासना मानसिक भी हो सकती है[2] और अर्चावतार (विग्रह) द्वारा भीं।[3] जो भगवान का प्रिय हो गया, वह धन्य हो गया।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोस्वामी जी का अभिमत सगुण भक्ति है। वे भगवान राम के विराट रूप का दर्शन करते[5] और उन्हीं में अपना सारा जीवन अर्पण देना चाहते हैं।[6] जिसका ज्ञान होने पर जगत् मिथ्या ज्ञात होता है उसी परम ब्रह्म परमात्मा राम में उनके सारे सम्बन्ध अनुस्यूत है।[7] इस मायामय संसार में राम तक पहुंचाने वाला राम का नाम ही प्रधान साधन है।[8] उससे स्वार्थ (लोक) परमार्थ (परलोक) दोनों सिद्ध होता है।

१—सो सुकृती सुचिमंत सुसन्त सुजान सुसील सिरोमनि स्वै।
सुरतीरथ तासु मनावत, आवत पावन होत है तातन छ्वै॥
गुनगेह सनेह को भाजनु सो, सबहीं सों उठाइ कहौं भुज द्वै।
सति भाय सदा छल छाँड़ि सबै, तुलसी जो रहै रघुबीर कोह्वै॥ क०उ०३४

२—मम हृदय भवन प्रभुतोरा। वि०

३—इहै परम फल इहै बड़ाई।
नखसिख रुचिर विन्दुमाधव छबि निरखहिं नयन अघाई। वि० ६२

४—महाराज रामादर्‌यो धन्य सोई। वि० १०६

५—'ईसन के ईस महाराजन के महाराज,
देवन के देव, देव! प्रानहू के प्रान हौ।
कालहू के काल, महाभूतन के महाभूत
कर्महू के करम, निदान के निदान हौ॥ क० उ० १२६

६—तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है। क० १०

७—राम मातु-पितु बन्धु सुजन, गुरु पूज्य परमहित।
साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित।
देसकोस कुल कर्म धर्म, धन धाम धरनिगति॥
जातिपांति, सब भाँति लागि रामहिं हमार पति॥
परमारथ-स्वारथ सुजस, सुलभ, राम तें सकल फल।
कह तुलसिदास अब जब कबहुं, एक राम तें मोर भल॥ क० उ० ११०

८—'स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है।' क०उ०

गोस्वामी जी ने कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों का समन्वय कर उसे श्री मद् भगवद्गीता की भाँति प्रशस्त राज मार्ग में परिणित कर दिया। इस प्रकार उनका साधना-मार्ग इन तीनों से विशिष्ट विचित्र और अनोखा था। इसीसे केवल कर्म कांडी, भक्ति मार्गी या ज्ञानाश्रयी पुरुष इनकी आलोचना भी करते थे यथा—

'करमठ कठमलिया कहै, ज्ञानी ज्ञान विहीन।
तुलसी त्रिपथ विहाइ गो, राम दुआरे दीन॥ दो० ६६

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि—'तुलसीदास रामानन्द-सम्प्रदाय की बैरागी परम्परा में नहीं जान पड़ते। उक्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत जितनी शिष्य परम्परायें मानी जाती हैं, उनमें तुलसीदास का नाम कहीं नहीं है। रामानंद परम्परा में सम्मिलित करने के लिए उन्हें नरहरिदास का शिष्य बनाकर जो परम्परा मिलाई गई है, वह कल्पित प्रतीत होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे पर स्मार्त वैष्णव थे (हि० सा० का० इ० पृ० १३२)

'गौतम चन्द्रिका' के आधार पर श्री शुक्ल जी के उक्त अनुमान का निराकरण हो जाता है क्योंकि 'गौतम चन्द्रिका' से तुलसीदास के गुरु नरहरिदास का होना प्रमाणित है एवं उसके द्वारा तुलसीदास का स्मार्त वैष्णव होने का खण्डन हो जाता है। तुलसीदास के ग्रन्थों के अतर्साक्ष्य से भी यह बात विदित होती है कि वे 'वैरागी साधु' थे। इसका 'प्रेम रामायण' एवं जनश्रुतियों से भी समर्थन होता है। श्री रामचन्द्र जी की वनवास यात्रा में यमुना पार होने पर उन्होंने 'वैरागी' वेष में ही उनका दर्शन किया है। श्री शुक्ल जी ने सं० १५८० में स्वामी रामानन्द का विद्यमान होना स्वीकार किया है[1] और उनके शिष्यों में भक्तमाल के अनुसार 'नरहर्यानन्द' का होना भी माना है[2] तो फिर तुलसीदास के 'नरहर्यानन्द' का शिष्य होने में असम्भवता क्या है? अस्तु तुलसीदास नरहर्यानन्द या नरहरिदास के ही शिष्य थे और थे रामनंद परम्परा के वैरागी ही; यद्यपि वे संकीर्ण सम्प्रदायवाद से बहुत ऊपर उठ चुके थे। यह विशेषता बहुत कुछ उन्हें अपने सम्प्रदाय से भी प्राप्त हुई क्योंकि बैरागी-सम्प्रदाय का प्रवर्तन ही स्वामी रामानन्द के व्यापक और उदार दृष्टिकोण के आधार पर हुआ था।

'श्री रामानुज सम्प्रदाय' के दो प्रमुख भेद हैं—बड़गल और तिंगल। इनमें रामानन्द-सम्प्रदाय बहुत कुछ तिंगल से मिलता है। श्री रामानन्द-सम्प्रदाय के चार भेद हैं, जिनमें सैद्धांतिक मतभेद कुछ भी नहीं केवल तिलक का अन्तर है।

---

[1] —हि० सा० का इतिहास पृ० ११७
[2] —वही पृ० १२०

"श्री सम्प्रदाय" का तिलक त्रिशूल के आकार का होता है। बीच का तिलक लाल और शेष दो श्वेत होते हैं। लश्करी सम्प्रदाय का तीनों श्वेत होता है। बेनी-सम्प्रदाय में मध्य का तिलक गोलाकार श्वेत होता है। इसके भेद हैं— बड़ी बेनी और छोटी बेनी। खाकी साधु केवल भस्म धारण करते हैं। चतुर्भुजी सम्प्रदाय का तिलक केवल दो लकीरों वाला श्वेत अंग्रेजी अक्षर 'यू' के आकार का होता है और इसे दोनों भौंहों की बीज सिहांसनस्थ किया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास का सीधा सम्बन्ध इसी चतुर्भुजी-सम्प्रदाय से था, जैसा कि पहले 'आकार-प्रकार और वेषभूषा के प्रसंग में कहा गया है। इस सम्प्रदाय को तुलसी सम्प्रदाय भी कहते हैं।

श्री सुदर्शन के कथनानुसार 'श्री गोस्वामी जी किस सम्प्रदाय या किस सिद्धांत के अनुयायी थे, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। वे शास्त्रों के प्रबल समर्थक थे। शास्त्र विरोधी कोई भी क्रिया, भाव तथा सिद्धांत हो—उसका उन्होंने कड़े शब्दों में प्रतिवाद किया। श्रुति, स्मृति, पुराण सम्मत सनातन धर्म ही उन्हें इष्ट था। 'नानापुराण निगमागम-सम्मत' मत ही उनका मत था। सिद्धांत आचार, प्रथा, उपासना—सब स्मृति-पुराण सम्मत ही उन्हें अभीष्ट था। श्री रामचरित मानस इसलिए श्रेष्ठ शास्त्र बन गया और इसीलिए उसके सम्बन्ध में अनेक मतवाद प्रश्रय पाते हैं, क्योंकि प्रस्थान त्रयी से इन मतवादों की व्याख्या हुई है।[१]

राजनीतिक और सामाजिक भावना—

भारतीय सिद्धांत के अनुसार राजा समाज का ही एक अंग है। वह राजनीति का केन्द्र बिंदु होते हुए भी समाज का कर्णधार है। वह जिधर चाहे समाज को मोड़ सकता है क्योंकि उसके हाथ में दंड और अधिकार है। समाज के सुख-दुःख, साधन-सुविधा, आचार-व्यवहार और विचार-पद्धति पर राजा की नीति का विशेष प्रभाव पड़ता है, इसी से साधारणतः समाज उसके बुरे-भले कामों से सदा प्रभावित होता रहता और उसकी ओर आकृष्ट रहता है, इसी से कहा है— "यथा राजा तथा प्रजा।'

तुलसीदास ने रावण राज्य के पाप-ताप से पीड़ित समाज को जिस राम-राज्य का दर्शन कराया दर्शनीय है—

'बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ॥
बरनाश्रम निज-निज धरम. निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग ॥ २० ॥

---

[१]--कल्याण का हिन्दू सस्कृति अंक पृ० ८५८

दैहिक, दैविक भौतिक तापा । राम राज काहू नहिं व्यापा ।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ।।
चारिउ चरन धरम जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ।।
राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ।।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुन्दर सब निरुज सरीरा ।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।।
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सुभ गुनी ।।
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी । सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ।।
राम राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं ।।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं ।। २१ ।।
राम राज कर सुख संपदा । बरनि न सकहिं फनीस सारदा ।।
सब उदार सब पर उपकारी । विप्र चरन सेवक नर नारी ।।
एक नारि व्रत रत सब झारी । ते मन वचक्रम पति हितकारी ।।
दंड जतिन कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहिं सुनिय अस रामचन्द्र के राज ।। २२।। रा० उ०

तुलसी के राजा का आदर्श क्या है ? कहते हैं—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान-पान को एक ।
पालै पोसै सकल अंग तुलसी सहित विवेक ।। दो० ५२२
सेवक कर पद नयन से, मुख से साहब होइ ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकबि सराहहिं सोइ ।। ५२३
माली भानु, कृसानु सम, नीति निपुन नरपाल ।
प्रजा भाग बस होहिंगे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल ।। ५०७
बरखत हरखत लोग सब करखत लखै न कोय ।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सम होइ ।। ५०८

सुराज्य पाकर ही प्रजा का विकास होता है—'बढ़ प्रजा जनु पाइ सुराजा' और उसमें समाज के विनाशक तत्त्व दस्यु-जार आदि के लिए स्थान नहीं रह जाता, वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं—

'अर्क जवास पात बिनु भयऊ ।
जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ ।।

सुराज्य का निर्माण नीति निपुण नृप के कर्मों के अधीन है क्योंकि वह अपनी सुव्यवस्था से समाज के प्रगति-मूलक राज-मार्ग को दुःख रूपी पंक और उच्छृंखलता रूपी धूल से स्वच्छ रखने में समर्थ है—

पंक न रेनु सोह अस धरनी । नीति निपुन नृप की जस करनी ।।

नीति-निपुण नरेश के निर्वाचन का भार प्रजा पर है राम को राजा बनाने के अभिलाषी श्री दशरथ जी अपने मंत्रियों से कहते हैं—

जो पाँचहिं मत लागै नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥

इस राज्य का समाज दलबंदी के भूत से अभिभूत संकीर्ण स्वार्थी और मूर्ख समाज नहीं है, वरंच 'नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना' और 'सब नर करहिं परस्पर प्रीती' से युक्त समाज है, इसलिए शीघ्रता का अवसर उपस्थित होने पर समाज के कर्णधारों से ही पूछ लिया जाता है यथा—

सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचन्द्र बैठहिं सिंघासन॥

सिहाँसनासीन होने पर राजा समाज के प्रति दुहरा उत्तरदायी हो जाता है। निरंकुश होकर मनमानी नहीं करता। श्री रामचन्द्र जी सिहांसनासीन होने पर अपनी प्रजा को बुलाकर उसके सुख-साधन का उपदेश देते हैं और कहते हैं—

'जो अनीति कछु भाषौं भाई। तौ बरजहु मोहिं भय बिसराई॥'

इस राज्य में राजा लोक-वेद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता उसकी तो राजनीति ही साधुमत से युक्त है—

'कहब साधुमत लोक मत, नृप नय निगम निचोरि।।'

लोक-वेद दोनों की ही मर्यादा मान्य है। जो राजा दुर्बुद्धि से इनकी अवहेलना करता है, वह अधम है। उसके राज्य में विद्रोह होते और प्रजा उसे मार डालती है, जैसी गति 'वेन' की हुई क्योंकि वह लोक-वेद विमुख था—

'लोक वेद ते विमुख भा, अधम को वेन समान॥'

राम-राज्य में दलगत नीति नहीं। राजा प्रजा में भेद नहीं। वर्गों की स्वार्थ-भावना संकीर्ण नहीं। यह सर्व सम्मति से संस्थापित प्रजातन्त्र है। मूर्खों और नीच वृत्ति के लोगों का प्रजातन्त्र नहीं, उदार भाव वालों और विचारशीलों का प्रजातन्त्र है। कहीं वैमत्य नहीं, पराधीनता की गंध भी नहीं। सब लोग अपने-अपने धर्म (कर्त्तव्य) मार्ग पर चलते हैं। कहीं किसी से टकराने की स्थिति ही उत्पन्न नहीं होती, इसलिए दंड केवल दंडियों के हाथ में देखा जाता है दंड का भय किसी को नहीं है। इस राज्य में राजा प्रजा में अन्तर क्या है जबकि 'नृप गृह सरिस सदन सब केरे' हैं। सभी घरों के साथ सुख के सम्पूर्ण साधन बाग-वाटिकाएँ और संग्रहालय भी हैं।[1] आवश्यकतानुसार बिना मूल्य के ही वस्तुएँ मिलती हैं, फिर दुःख किस बात का और भविष्य की चिन्ता क्यों? कहते हैं —

---

१ — गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं'—उ० २७

और—'सुमन वाटिका सबहिं लगाई। विविध भाँति करि जतन बनाई॥उ० २८

'बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँराज रमा निवास तहँ की संपदा किमि गाइए ॥'

राम-राज्य के राजा-प्रजा एक कुटुम्ब से प्रतीत होते हैं, एक स्थान पर मिलते-जुलते और परस्पर सुःख-दुःख में सम्मिलित होते हैं। उनकी आवश्यकता और सुख-सुविधा में भी विशेष अन्तर नहीं है। सेवक-सेवकिनियों के होते हुए राज-महिषी सीता भी गृह परिचर्या करती हैं—

'निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥
जेहि बिधि कृपा सिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ॥
कौसल्यादि सासु गृह माँहीं। सेवइ सबनि मान मद नाहीं ॥
रा० उ० २४

आधुनिक तमस राजनीति का गोस्वामी द्वारा निरूपित राजनीति में स्थान नहीं है। उनके राम अतुल शक्ति, अनुपम चरित्र और अकथ शिवत्व के आगार हैं। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं—'मनुष्यों में मैं राजा हूं।' मनु ने राजा को ष्ट दिक्पालों के अंश से उत्पन्न कहा है, अतः राजा समाज का पालक, विकासक और नियंता है। श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।'

गोस्वामी जी राजा-प्रजा को परस्पर अभिन्न मानते थे। दोनों की मर्यादा और कार्य-कलाप में परस्पर अन्तर होते हुए भी उनका स्वार्थ और लक्ष्य एक होना चाहिए यथा—

'मुखिया मुख सों चाहिए खान पान को एक।
पाले पोसे सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥

जैसे राजा को प्रजा के विकास का उत्तरदायित्व है, वैसे ही उसे उसकी सुरक्षा का भी उत्तरदायित्व है। उसे दस्युओं और बाहरी आक्रमणकारियों से ही नहीं, वरंच अपने कर्मचारियों की गति-विधि से भी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए यथा—'प्रभु ते प्रभुगन दुखद लखि प्रजहिं सँभारे राउ—दो० ५०६

लोक जीवन के विकास के लिए लोक मर्यादा की रक्षा परमावश्यक है, यदि सामाजिक-मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाय तो समाज भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। सामाजिक मर्यादा की रक्षा के उद्देश्य से परब्रह्म परमात्मा को भी मनुष्य शरीर में आना पड़ता है। राक्षस राज रावण ने प्रभुता के मद में लोक-वेद की मर्यादा को विध्वस्त कर दिया था। श्री रामचन्द्र जी ने उसका ध्वंस कर पुनः मर्यादा की स्थापना की, इसी से उनका नाम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' पड़ा। काक-भुशुंड ने पूर्व जन्म में शिवाराधना करते समय अपने गुरु को अहंकार वश प्रणाम न कर

लोक-मर्यादा की अवहेलना की,[1] फलस्वरूप उन्हें भगवान शिव के शाप से दस सहस्त्र बार अजगर आदि की योनि में जन्म लेना पड़ा। लोक-वेद की मर्यादा भी तो लोक वेद के निर्माता और नियंता परमेश्वर द्वारा स्थापित है, इस उक्त मर्यादा की रक्षा करने वाले की त्रुटि को वह क्षमा नहीं कर सकता। भगवान शंकर कहते हैं—

'जो नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होय श्रुति-मारग मोरा॥

गुरुजनों के अनुशासन में रहना, सामाजिक और कौटुम्बिक सम्बन्धों का उचित रूप से निर्वाह, सामाजिक नियमों के अनुसार (जिनसे समाज की क्षति न होती हो) चलना और वेद-शास्त्र विहित कर्मों का करना, सबके लिए उचित है। इस प्रकार के कर्मों को ही कर्त्तव्य कहते हैं। सामाजिक कर्त्तव्य का क्षेत्र व्यापक, वर्ग और व्यक्ति के संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ है, इसलिए संकुचित स्वार्थ के लिए सामाजिक मर्यादा को भग करने वाले 'पापी' हैं। कैकेयी ने जब व्यक्तिगत स्वार्थ से रघुकुल की परम्परागत मर्यादा की अवहेलना कर राम को वन भेजा तो लोक ने उसे 'पापिनी' ही कहा। पाप का फल पतन, दुःख, अशांति और ग्लानि है। राजा प्रताप भानु ने समाज के विज्ञ कर्णधार ब्राह्मणों को वश में करने को इच्छा से सामाजिक-मर्यादा भंग करने का जो उपक्रम किया, उसका परिणाम घातक ही हुआ। दक्ष ने परम्परा के विपरीत यज्ञ में शिव का भाग न दिया, शिव के गणों ने मुनिवर नारद का परिहास किया, सती ने शिव से छल किया, मारीच, शूर्पणखा, कालनेमि और रावण ने वंचना हेतु वेष बदल कर सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन किया। फल क्या हुआ ? सबका नाश, सभी विपत्ति में पड़े। इसके विपरीत जिन लोगों ने व्यक्तिगत कष्ट सह कर भी लोक-मर्यादा का पालन किया, अन्त में वे सभी यश के भागी हुए जैसे—कौसल्या, सीता, राम, भरत, जटायु और विभीषण। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का तो अवतार ही लोक मर्यादा की रक्षा के लिए हुआ था।

लोक-मर्यादा की रक्षा ही पुण्य या धर्म और उसकी अवहेलना ही पाप या अधर्म है। वर्णाश्रम धर्म का पालन लोक-मर्यादा के अनुकूल और शास्त्र सम्मत है यथा—

'बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं, सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥

समाज का अग्रणी, सामाजिक मर्यादा का रक्षक तथा धर्म का नियामक

१—लौकिकं वैदिकं वापि तथा ध्यात्मिक मेव च।
आददीत ततो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ मनु० २।११७

ब्राह्मण है, इसी से गोस्वामी जी ब्राह्मण का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं और श्री रामचन्द्र जी द्वारा कहलाते हैं कि 'मम मूरति महिदेव मई है (वि० र०) किन्तु नामधारी ब्राह्मण बंधु का नहीं जो ठीक प्रकार से अपने कर्त्तव्य का पालन हीं करता, यथा—

'सोचिय विप्र जो वेद विहीना। तजि निज कर्म विषय लवलीना ॥'

वह ऊँचा कुल किस काम का जहाँ भगवद्भक्ति नहीं क्योंकि एक मात्र गवद्भक्ति ही सभी गुणों की जड़ है अतः जहां भगवद्भक्ति नहीं वहाँ कुछ भी हीं। भगवद्भक्ति रहित कुल निरर्थक है, यथा—

'ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि का नाम ॥'

कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदास ने ब्राह्मणों का पक्षपात और शूद्रों की निंदा ी है किन्तु यह दोषारोप तुलसीदास को ठीक प्रकार न समझने के कारण ही िया जाता है। जब तुलसीदास यह कहते हैं कि—

'पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना ॥'

ो इसमें एकमात्र उनका उद्देश्य सामाजिक मर्यादा की रक्षा है। सामाजिक-र्यादा की कड़ियां उस समय टूट रही थीं और उसके छिन्न-भिन्न हो जाने का य था। जहां पर उन्होंने शुद्र को 'ताड़न का अधिकारी' कहा है, वहां भी नका उद्देश्य सामाजिक-मर्यादा ही है क्योंकि तृतीय श्रेणी के लोग भय से ही र्यादा की अवहेलना नहीं करते। जहां यह बात नहीं है, वहां उन्होंने शुद्र ो भी सम्मान के योग्य समझा है और उसे व्यवहार में भी आदर्श रूप से उपस्थित किया है, वसिष्ठ जैसे महर्षि निषाद को बरबस गले लगा रहे हैं—

'राम सखा ऋषि बरबस भेंटे। जनु महि लुठत सनेह समेटे ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जगमाहीं ॥

ी रामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी भी केवट से उसी प्रकार मिलते हैं—

'मिलि सप्रेम रिपु सूदनहिं केवट भेंटेउ राम।'

और-'तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता ॥'

ुलसी ने श्री रामचन्द्र जी द्वारा स्पष्ट ही शबरी से कहला दिया है—

'मानौं एक भगति कर नाता'

स्तु काक भुशुंड जी कहते हैं—

'पन्नगारि अस नीति श्रुति सम्मत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परम हित ॥

भगवद्भक्ति के मार्ग में ऊँच-नीच का भेद नहीं। इस मार्ग के सब लोग समान प से अधिकारी हैं—

स्वपच, सबर खस जवन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ॥

श्री गरुड़ जी को अपनी ऊँची जाति और ऊँचे पद का जो गर्व उत्पन्न हो गया था, उसका मोचन भगवान ने उनको काक-भुशुंड की सेवा में भेजकर किया। यथा —

'कीन्हे होहिं कबहुँ अभिमाना। सो खोवे चह कृपा निधाना ॥'

भगवान गर्व-प्रहारी हैं[१] अतः धनमद, बलमद, अधिकार मद, विद्यामद, जातिमद, कुलमद आदि सभी मदों को दूर कर जो भगवान् की अनन्य भाव से शरणागति प्राप्ति करता है, उसी को भगवान की प्राप्ति होती है।

'आरत, अधम, कुजाति, कुटिल, खल, पतित,
सभीत कहूँ जे समाहिं न।
सुमिरत नाम बिवसहू बारक, पावत सो पद,
जहाँ सुर जाहिं न ॥' वि० २०७

गोस्वामी जी पर स्त्री समाज की निन्दा का आरोप किया जाता है, यद्यपि उन्होंने रामचरित मानस में वर्णित कौशल्या, सीता आदि के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है। केवल मंथरा और शूर्पणखा के चरित्र ही दूषित हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी जी स्त्री समाज के प्रति शंका से खाली न थे। वे साधारण स्त्रियों को कामा-चारिणी समझते थे और उन्हें नियन्त्रण में रखना उचित मानते थे। उन्होंने स्त्रियों के विषय में जहां कहीं भी निंदोक्ति की है, वह उनकी अपनी बात नहीं है, वरंच वे उक्तियां मनु स्मृति, भागवत आदि दूसरे ग्रन्थों से उद्धृत्त की गई हैं जिनके प्रति समाज की आस्था है।[२]

ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी ने कतिपय स्त्रियों के दूषित चरित्र का अवलोकन निकटता से किया था। वे उनकी निम्नकोटि की मनोवृत्ति से अवगत थे। सम्भव है दुश्चरित्रा स्त्रियों के मनोभावों का अनुभव उन्हें अपनी विरक्तावस्था में ही प्राप्त हुआ हो क्योंकि साधुओं के पास तो सभी प्रकार के लोग आते जाते हैं। स्त्री जाति पर अविश्वास का कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता

१--स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
२--अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं काम क्रोध वसानुगम् ॥ २१४ ॥ महा निर्वाण तंत्र
मात्रा स्वसा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥ मनु० अ० २

? उन्होंने स्त्रियों को केवल फटकारा ही नहीं वरंच पुरुषों को उनके माया-से बचने के लिए भी सावधान किया है। एक विरक्त महात्मा होने के नाते का ऐसा करना उचित ही कहा जायगा। कहा भी है--

"एक एव पदार्थास्तु त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणप कामिनी मांस योगिभिः कामिभिः श्वभिः ॥ चा० १४।१६

अर्थात् एक ही देह रूपी वस्तु तीन प्रकार से दिखाई देती है। योगी लोग घृणित मृतक के रूप में, कामी पुरुष कांता रूप में और कुत्ते मांस के रूप में ते हैं।

सामाजिक व्यवस्था के संचालन के लिए समाज के नियंत्रण में रहना तो के लिए आवश्यक है। प्रायः स्त्रियाँ अधिक भावुक और चंचल स्वभाव की ती हैं। उनकी मनोवृत्ति पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक बहिर्मुखी और भोग-ती भी होती है, इसलिये पुरुषों की अपेक्षा उनके ऊपर अधिक नियंत्रण रखना आवश्यक है। इसी से कहा है—'जिमि सुतन्त्र होइ बिगरहिं नारी।' यहाँ न्त्र' होने का अर्थ उच्छृंखल होना है, जो चाहे जिसमें भी हो, सामाजिक कास में बाधक और परिमार्जनीय है। स्त्रियाँ ही परिवार का केन्द्र होती हैं, लिए यदि स्त्रियाँ उच्छृंखल हो जायें तो सारा समाज ही चौपट हो जाय र कोई 'घर' घर न रह जाय! ऐसी स्थिति को छोड़ तुलसीदास सर्वत्र ही यों को स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। तुलसी काल में स्त्रियाँ (मुस्लिम प्रभाव कारण) पुरुषों की संपत्ति समझी जाती थीं और उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता थी। इस स्थिति को देख तुलसीदास की करुणा उमड़ पड़ी है और वे द्रवित कर कह उठे हैं—

"कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥'

इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री समाज के प्रति उनके हृदय में कितनी नुभूति थी। सामाजिक-मर्यादा की रक्षा के ही लिये उन्होंने स्त्रियों से तिव्रत धर्म के पालन का उपदेश किया है, वैसे ही पुरुषों से भी वे एक पत्नी-पालन का उपदेश। उनके द्वारा स्थापित आदर्श रामराज्य की यही तो शेषता थी यथा—

'एक नारिव्रत सब नर झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥'

स्त्रियों के पातिव्रत्य-धर्म की उन्होंने बार-बार प्रशंसा की है अनुसूया द्वारा जो उपदेश कराया है कि—हे सीता! स्त्रियों के लिए एकही धर्म, एकही व्रत और एकही नियम है, वह यह कि पति के चरणों में मन बचन-कर्म से प्रेम हो। एकइ धरम एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा॥ अ०का०५

.जो व्यक्ति अपने धर्म पथ से बिचलित हो जाता है, अपने कर्त्तव्य का ठीक प्रकार से पालन नहीं करता, उसका जीवन निरर्थक ही है, महर्षि वशिष्ट भरत जी से कहते हैं—

'सोचिय विप्र जो वेद विहीना। तजि निज धरम विषय लवलीना॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
सोचिय बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगत सुजानू॥
सोचिय सूद्र विप्र अवमानी। मुखर, मान प्रिय, ज्ञान गुमानी॥
सोचिय पुनि पति वंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥
सोचिय बटु निज व्रत परिहरई। जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥
सोचिय गृही जो मोहबस करै करम पथ त्याग।
सोचिय जती प्रपंचरत, बिगत विवेक विराग॥ १७२
बैषानस सोइ सोचन जोगू। तप विहाय भावे जहि भोगू॥
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी। जननिजनक गुरु बंधु विरोधी॥
सब बिधि सोचिय पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥
रा० अ० १७३

यह तो शोचनीय लोगों की सूची हुई। कौन से लोग धन्य हैं, उनकी सूची देखी जा सकती है। शंकर जी रामचरित मानस की कथा का समापन करते हुए पार्वती जी से कहते हैं—

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा॥
सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन जेहि नर उपज विनीत॥ रा० उ० १२७

श्री भरत जी ने कौशल्या जी के समक्ष शपथ करते हुए समाज ध्वंसक पापों की एक सूची उपस्थित की है, वे द्रष्टव्य हैं, यथा—

'जे अघ मातु-पिता गुरु मारे। गाय गोठ महिसुर पुर जारे॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
× × × ×
जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूतगण घोर।
तेहि कइ गति मोहिं देउ बिधि जो जननी मत मोर॥ अ० १६७

ंचहि बेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
पटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक विस्व बिरोधी ॥
ोभी लम्पट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधन पर दारा ॥

× × ×

ं नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे ॥
ं न भजहिं हरि नर तनु पाई। जिनहिं न हरिहर सुजस सोहाई ॥
जि श्रुतिपंथ बाम पथ चलहीं। वंचक बिरचि वेष जग छलहीं ॥
रा० अ० १६८

ऊपर के उदाहरणों से गोस्वामी जी के अभीष्ट समाज का एक सुस्पष्ट चित्र मने आ जाता है। जिस समाज में वर्णाश्रम धर्म का पालन होता है, जो य के आधार पर संघटित हो,[१] जिसमें सबकी भलाई चाहने वाले उदार[२] र दयालु पुरुष[३] हों तथा जिसमें कामी, क्रोधी, लोलुप, लम्पट, कपटी, ी, पाखंडो, वंचक, दुष्ट, पर निन्दक, क्रूर, समाज द्रोही और द्वेष बुद्धि के ों का अभाव हो।[४] गोस्वामी जी के द्वारा निरूपित समाज में तीर्थ,[५] , गंगा,[६] देव विग्रह,[७] देव स्थान यज्ञ,[८] श्राद्धादि[९] लोकाचार[१०]

१—धरम न दूसर सत्य समाना। रा० मा०
२—कबहुं कि दुख सबकर हित तांके। रा० उ० ११२
३—अघ न पिसुनता सम कछु आना।
धर्म कि दया सरिस हरिजाना? रा० उ० ११२
४—'पर द्रोही कि होइ निसंका। कामी पुनि कि रहइ निकलंका। रा० उ०११२
पर निन्दा सम अघ न गरीसा। रा० उ०
सुभगति पाव कि परतिय गामी। रा० उ० ११२
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भवभीरा ॥ उ० ४१
५—मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा। पूजि जथा बिधि तीरथ देवा। अ० १०६
सेइअ कामधेनु कलिकासी। वि०
६—गंग सकल मुद मंगल मूला सब सुख देनि हरनि सब सूला।
७—इहां करौं सम्भु थापना। मोरे हृदय परम कल्पना।
८—कोटिन वाजि मेघ प्रभु कीन्हें। दान अनेक द्विजन कहँ दीन्हें। रा० उ० २३
९—तब नांदी मुख श्राद्ध करि जातकर्म सब कीन्ह। रा० बा० १९३
कीन्ह भरत दस गात बिधाना। रा० अ० १७०
१०—कीन्ह क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देसकाल जियजानी।
रा० लं० १०५

पूजापाठ[१] आदि सांस्कृतिक उपकरणों के प्रति विशेष निष्ठा पाई जाती है एवं दुष्कर्म का विरोध और सत्कर्म की प्रवृति देखी जाती है, जिसका आधार कर्मवाद के प्रति विश्वास है।[२]

आदर्श-समाज

तुलसीकाल की सामाजिक-परिस्थिति पर विचार करते समय उन पातकों-उपपातकों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है जिन्हें भरत जी ने कौशल्या जी से अपनी सफाई देते हुए गिनाया है यथा—

'जे अध मातु·पिता सुत मारे। गाइ गोठ, महिसुर पुर जारे॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत-महीपति माहुर दीन्हें॥
जे परिहरि हरिहर चरन भजहिं भूत गनघोर।
तिनकी गति मोहिं देउ विधि, जो जननी मत मोर॥
बेचहिं बेद धरम दुहि लेही। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी। बेद विदूषक विश्व विरोधी॥
लोभी लम्पट लोलुपचारा। जं ताकहिं परधन परदारा॥
तजि श्रुति पंथ वाम पथ चलहीं। वंचक विरंचि वेष जग-
छलहीं॥ रा० अयो० १६७-३८

तुलसीदास जी ने उपर्युक्त पापों का विवरण केवल इसलिए नहीं दिया है कि इनका वर्णन शास्त्र-पुराण में है अथवा ये दोष भरत-काल के समाज में भी थे, वरंच इसका कारण यह है कि ये सामाजिक-दोष तुलसीकाल में विद्यमान थे। मुसल्मान-शासक राज्य लोभ से माता-पिता और पुत्र की हत्या करने में भी किसी प्रकार का संकोच न करते थे। उन्हें आक्रमण काल में गायों के गोष्ठ और ब्राह्मणों की बस्ती जला देने में किसी प्रकार का दोष दिखाई नहीं देता था। वे विजित शत्रुओं के बालकों और विधवाओं का भी बध क्रूरतापूर्वक कर डालते थे। समाज से आध्यात्मिकता इस प्रकार दूर हो गई थी और वह इतना घोर भौतिकवादी या भूत-प्रेतपूजक बन गया था कि विश्वास योग्य मित्रों और प्रजा-पालक राजाओं को भी विष देकर षडयंत्र पूर्वक मार डालना साधारण बात

---

[१] —पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप जग्य पाकर तर करई॥
आब छांह करि मानस पूजा। तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।
रा० उ० ५७
'बिगत दिवस गुरु आयसु पाई। संध्या करन गए दोउ भाई। बा० २१६
'पूजन गौरि सखी लै आईं। बा० २३१

[२] —कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

थी। समाज के अगुआ ब्राह्मण कर्त्तव्य की भावना से नहीं, वरंच पैसे के लोभ से वेद-शास्त्र का गलत ढंग पर उपदेश करते थे। ये धर्म का दोहन करने वाले पिशुन सदा निंदावृत्ति का आश्रय लेते थे अर्थात् दूसरों की निन्दा करते थे। लोगों में इस प्रकार संकीर्ण-स्वार्थ घर कर रहा था कि वे धर्म का प्रकाश फैलाने वाले वेद-शास्त्र तक की हंसी उड़ाते थे और स्वयं कपट, कुटिलता, कलह, क्रोध और विश्वविरोधी भावना से भरे हुए थे। वे इतने लोभी, लम्पट और लोलुप थे कि पराई सम्पत्ति और स्त्रियों पर उनकी दृष्टि लगी रहती थी। उन दिनों के साधु सन्त भी सनातन वेदमार्ग की अवहेलना कर केवल साधु वेष बनाकर जनता को पथ विचलित करते और ठगते थे।

तुलसीदास ने ऐसे लोगों की गणना शोचनीय लोगों के अन्तर्गत की है, जिसका अभिप्राय यह है कि तुलसीदास के मत से उस समय का समाज अत्यंत शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो रहा था।[1] समाज की उक्त शोचनीय स्थिति को दूर कर उसे ऊपर उठाना ही तुलसीदास का अभीष्ट लक्ष्य था। इस कार्य को उन्होंने सब प्रकार से पूरा भी किया। समाज को सामाजिक और लोकहित के कामों की ओर प्रेरित किया जिससे 'निज तनु-पोषक अपकारी लोग भी समाज-पोषक परोपकारी बन गए।

गोस्वामी जी ने अपनी सामाजिक स्थिति के विषय में परस्पर दो विपरीत बातों का उल्लेख किया है यथा—

'भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि के।'
और—'बड़े कुसमाज राज आजु लौं जो पाए दिन
महाराज क्योंहूँ भाँति नाम ओट लई॥

इससे स्पष्ट है कि उन्हें अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोगों में रहना पड़ा था। यह ससार ही 'भले-बुरे' का मिश्रण है। इसीसे गोस्वामी जी ने 'वंदौ संत असज्जन चरणा' कहकर सबकी बंदना की है। यद्यपि उन्हें यह आशा न थी कि दुर्जन अनुनय-विनय से प्रभावित हो उन पर कभी सज्जनोचित व्यवहार कर सकेंगे। जो बात उनके लिए सत्य थी, वह अनुभुत बात जगत के लिए भी सत्य थी, अस्तु उन्होंने सज्जन-दुर्जन का स्वभाव बताकर सबको सावधान कर दिया क्योंकि संग्रह और त्याग के लिए पहचान आवश्यक है।

दुर्जन कभी सज्जन नहीं हो सकता, यह बात नहीं। सतसंग करने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं जैसा कि वे कहते हैं—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥

---

[1] १—वे०—रा० बा० १७२–७३

किन्तु यह सुधार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार—

> धूमउ तजइ सहज करुआई । अगरु प्रसंग सुगंधि बसाई ॥
>
> रा० मा० बा० १०

क्योंकि प्राकृतिक होने के कारण स्वभाव का बदलना असम्भव है, सत्संग से केवल उसका सदुपयोग होता है यथा—

> खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन स्वभाव अभगू ॥
>
> रा० बा० ७

इस बात का गोस्वामी जी को पूरा भरोसा था कि सत्संग से विचार परिवर्त्तन होता है और बुरे लोग भी भले बन जाते हैं यथा—

> 'सोइ भरोस मोरे मन आवा । को न सुसंग बड़प्पन पावा ॥
>
> रा० बा० १०

सत्संग की महान् महिमा है। सत्संग के प्रभाव से अनुपयोगी वस्तुएँ भी सदुपयोगी बन जाती हैं और श्रेष्ट पद को प्राप्त करती हैं—

> 'गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा । कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ॥
> साधु-असाधु सदन सुक सारी । सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी ॥
> धूम कुसंगति कारिख होई । लिखिय पुरान मजु मसि सोई ॥
> सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवन दाता ॥
> ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग ।
> होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ॥ रा० बा० ७

यों तो संसार में सब काम 'काल, स्वभाव और कर्मवशात् होते हैं तथा सज्जनों से भी चूक हो जाती है किन्तु विवेक-पूर्वक संसार की भलाई की भावना से ही कर्म करने चाहिए क्योंकि यश-अपयश भावना के अनुसार ही मिलता है।

> 'सम प्रकास तम पाख दुहुं नाम भेद बिधि कीन्ह ।
> ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह ॥ रा० बा० ७

इस प्रकार की विवेक-बुद्धि होने पर मनुष्य का मन दुर्गुण से हटकर सद्गुण की ओर प्रवृत्त होता है और इस प्रकार सत्समाज का संगठन होता है। ऐसे आदर्श समाज का संगठन ही तुलसी का अभिमत है जिसमें न कहीं रोग-शोक है, न दुःख-दारिद्रय ; न वैर-विरोध है, न विषमता ; न अज्ञान है, न दंभ-कपटाचरण। सब लोग परस्पर प्रीति पूर्वक रहते हैं, उदार और परोपकारी हैं ; विद्वान, धर्मशील, वेदानुशासित और भगवद्भक्त हैं, स्त्रियाँ पतिव्रता और पुरुष एक नारिव्रती हैं। इस समाज में दैहिक, दैविक और भौतिक ताप से एक भी व्यक्ति पीड़ित नहीं है। राम-राज्य का सुख-सम्पत्तिमय प्रासाद ऐसी ही सामाजिक

मि पर आधारित है। इसी से उस समाज में कोई अपराधी है, न किसी को ड देने की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुएं आवश्यकतानुसार सबको बिना मूल्य ी मिलती हैं। अमीर-गरीब का भेद नहीं। महारानी सीता चतुर सेवक-विकाओं के रहते हुए भी स्वयं गृह-परिचर्या करती हैं। सब लोग मणि जटित लों में निवास करते हैं। इन महलों के साथ वाटिकाएं, चित्रशालाएँ और ड़ियाघर भी हैं। बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी सुखी और सच्चरित्र हैं। ई भी वासनाशील नहीं, सभी विवेकी हैं। माता-पिता अपने बालकों को केन-प्रकारेण उदर भरने का कर्म न सिखाकर सज्जनोचित्त कर्म और ज्ञान-क्ति की शिक्षा देते हैं।

राम-राज्य के समाज को कलि प्रसंग में वर्णित समाज के साथ देखा जा ता है जो गोस्वामी जी के समक्ष था। कलियुगी समाज को राम-राज्य की ति में पहुंचाना ही गोस्वामी जी का अभीष्ट है। रामचरित मानस द्वारा े उन्होंने 'स्वांतः सुखाय' कहा है, यही काम किया। इस अलौकिक ग्रंथ का कर आज भी मन राम राज्य में विचरण करता है और जब तक निष्ठा इस ग्रंथ का अध्ययन तथा मनन होता रहेगा मनुष्य राम राज्य की अनुभूति करता रहेगा। यह अध्ययन निश्चित रूप से कलियुगी समाज को राम-राज्य ा समाज बनाने में समर्थ है। यदि मंथरा और कैकेयी के चरित्र को अलग कर देखा जाय तो अयोध्या का समाज वह आदर्श समाज है, जिसकी स्थापना वामी जी करना चाहते थे। आदर्श माता कौशल्या, जो पुत्र-पुत्र वधू के गमन के समय भी भावुकता के आवेश में नहीं बह जातीं और विवेक से म लेती हैं। आदर्श पिता दशरथ जो धर्म की रक्षा के निमित्त प्रिय पुत्र तक त्याग करते हैं और स्नेह की मर्यादा की रक्षा के लिए शरीर का त्याग कर देते । आदर्श पत्नी सीता जो कष्ट में भी पति का साथ नहीं छोड़तीं और उर्मिला पुनीत मार्ग में बाधक नहीं होती तथा चौदह वर्ष तक पति-वियोग का कष्ट ती रहती है, परन्तु मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालती। आदर्श पति राम ी का पग-पग पर ध्यान रखते हैं और उसके लिए प्रबल शत्रु रावण तक का हार करते हैं। आदर्श भाई लक्ष्मण और भरत जो भाई के लिए सब प्रकार का ष्ट सहने को तैयार हैं और भाई के विपरीत राज्य सुख की भी आकांक्षा नहीं रते। आदर्श सेवक हनुमान जिनके लिए स्वामी की सेवा के निमित्त सब कुछ र सकने की शक्ति है। आदर्श गुरु वसिष्ठ जो निस्पृह और निरहंकार हैं, षाद का गले लगाने में जिन्हें संकोच नहीं होता। आदर्श राजा राम जिनका कमात्र उद्देश्य प्रजा वत्सलता और प्रजा का सुखवर्द्धन है। आदर्श प्रजा योध्यावासी जिनकी राजा में अनन्य निष्ठा है। इस समाज के सब लोग अपने-

अपने धर्म (कर्त्तव्य) के अनुसार आचरण में रत हैं, न कोई किसी से ईर्ष्या-द्वेष करता है, न वैर। काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद और मात्सर्य के वशीभूत कोई नहीं। सभी करुणाशील, कृपालु और प्रेमी हैं। उदाराशय, विद्वान, गुणवान, धनवान और महान् हैं। उनका ध्येय है—

'चलब नीति मग, राम पग, नेह निबाहब नीक।
तुलसी पहिरिय सो वसन जो न पखारे फीक॥
दोहा चारु विचारु, चलु परिहरि वाद-विवाद।
सुकृत सीव स्वारथ अवधि, परमारथ मरजाद॥

दो० ४६९-७०

महापुरुषों में संकीर्ण स्वार्थ या व्यक्तिनिष्ठता नहीं पाई जाती। उनका 'स्व' बहुत व्यापक और सम्पूर्ण समाज में निहित होने से उनका सुख-दुःख, उन्नति-अवनति और स्वार्थ व्यष्टि में सीमित नहीं रह जाता। उनका दृष्टिकोण सामाजिक हो जाता है। वे अपनी व्यक्तिगत चिन्ता न कर सब कुछ समाज के लिए करते हैं और ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं जो 'सर्वजन हिताय' और 'सर्वजन सुखाय' होता है। गोस्वामी तुलसीदास भी ऐसे ही महापुरुष थे। उनके 'रामचरित मानस' में जिस समाज धर्म की स्थापना की गई है, वह सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। उसमें मानव मात्र का कल्याण निहित है। उदार मानवतावादी भावना और निष्कलुष विश्व-बंधुत्व का जैसा उच्च आदर्श 'तुलसी' ने स्थापित किया है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'श्री रामचरित मानस' के नायक श्री रामचन्द्र जी 'लोक कल्याण' के निमित्त पिता का राज्य 'बटोही' की भाँति छोड़ कर चल देते हैं। वन में विना किसी भेद-भाव के कोल-किरात और बन्दर-भालुओं को साथी बनाते हैं तथा उनकी सहायता से 'सत्' की स्थापना और 'असत्' का नाश करते हैं। उनको अपनी चिन्ता नहीं, चिंता 'सत्' के समर्थक विभीषण की है, इसलिए विना किसी स्पृहा के सोने की लंका विभीषण को दे देते हैं।'

गोस्वामी जी का 'समाजवाद' वह आदर्श समाजवाद है, जिसकी स्थापना व्यावहारिक समानता की अपेक्षा हृदय की समरस भूमि पर हुई है, जहाँ विषमता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कैकेयी की व्यक्तिनिष्ठता ने देश, समाज और परिवार का ध्वंस किया। इसके विपरीत भरत और राम की समाजनिष्ठता संसार में 'राम-राज्य' की स्थापना का आधार बनी।

विवेक पूर्वक किया गया दान व्यक्ति और समाज दोनों को प्रगति का आधार और श्रेय-प्रेय का दाता है। इससे व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थ भावना और भोगवादी मनोवृत्ति का ह्रास होता है जिससे मानसिक शांति मिलती है। दान-

से सामाजिक-भावना उत्पन्न होती और सामाजिक संघटन को वड़ा बल मिलता है। सामाजिक विघटन को रोकने के लिए उचित रूप से किए गए दान का वड़ा महत्त्व है। महात्मा विनोवा भावे के भूदान आन्दोलन का यही रहस्य है।

तुलसीदास ने राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल से सन्त्रस्त, दुःखी और दिग्भ्रमित जनता को रामभक्ति और दान धर्म कि ओर प्रेरित कर विघटित होते हुए समाज को सुसंघटित किया। आज के युग में जबकि भारत अंग्रेजी शासन से मुक्त हो चुका है फिर भी शासक वर्ग की शासन में अयोग्यता राजनीतिक संस्थाओं की अनैतिक ढंग की प्रतिद्वंद्विता, राज-कर्मचारियों में कर्तव्य का ह्रास और संकीर्ण स्वार्थवादी मनोवृत्ति, नेताओं का समाज धर्म के प्रति उपेक्षाभाव, जनता में सामाजिक नियमों की प्रभाव-हीनता और धार्मिक उपदेशकों की अकर्मण्यता से इस समय भी सामाजिक विघटन की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई है। ऐसी दशा में गो० तुलसीदास द्वारा निरूपित राजमार्ग का अनुसरण करने से ही समाज की रक्षा और विकास संभव है।

समाज शास्त्रियों के कथनानुसार 'समाज की प्रगति उसी समय सम्भव है, जब अव्यवस्था या विघटन पर कुठाराघात किया जाय क्योंकि समाज की अव्यवस्था समाज का रोग है, जिसमें समाज के व्यक्तियों के हितों की हानि होती है अतः समाज के कल्याण के लिए इन रोगों का दूर होना आवश्यक है।'[१]

गोस्वामी जी ने रामचरित मानस द्वारा जिस आदर्श समाज का चित्र खींचा वह भारतवासियों के लिए निपट नया आदर्श नहीं और न केवल कल्पना प्रसूत है रामराज्य का अस्तित्व वहुत पुराना है। उसकी प्रसिद्धि गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव के हजारों वर्ष पूर्व से चली आ रही थी और उसकी व्यापकता भारत वर्ष के वाहर के देशों में भी थी। तुलसीदास ने उसी पुरानी चीज को अपने ढंग पर व्यक्त किया यही उनकी विशेषता है। रामराज्य किसी भी हिन्दू राज्य का आदर्श है और उस काल का समाज, हिन्दू संस्कृति का आदर्श समाज। उपनिषदों में भी हमें ऐसे ही आदर्श राज्य और समाज की झलक मिलती है जैसा कि नारद जी से केकय नरेश ने कहा था कि 'हे नारद! मेरे राज्य में न कोई चोर है, न जुआरी है न कायर है, न शराबी है, न रोगी, दुःखी लम्पट और विकलांग है फिर व्यभिचारी कहां होंगे।'[२] जिस समाज में सभी सच्चरित्र और ऊँचे विचार के हैं, वही आदर्श समाज है ऐसा ही समाज भारतीय-संस्कृति का आदर्श रहा है, जो गोस्वामी तुलसीदास को भी अभीष्ट है, किन्तु उसकी

१—श्री शम्भु रत्न त्रिपाठी — समाज और अपराध पृ० २५

२—न मे जनपदे···स्वैरी-स्वैरिणी कुतः—छांदोग्य

एक विशेषता यह है कि वह श्रीरामचन्द्र जी के प्रति निष्ठा रखने वाला सन्त समाज हो, यथा—

> विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।
> सम अभूत रिपु विमद विरागी। लोभा मरष हरष भय त्यागी॥
> कोसल चित दीनन पर दाया। मन क्रम बच मम भगति अमाया॥
> सीतलता, सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
> सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूं नहि बोलहिं॥
>
> रा० उ० ३८

गोस्वामी जी के द्वारा निरूपित आदर्श सामाजिकता का हिन्दू समाज पर बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। आज का हिन्दू समाज अधिकांश में उसी आधार पर संगठित है। एक कर्त्तव्यनिष्ठ हिन्दू अपने जीवन में उच्च आदर्शों की स्थापना के निमित्त 'रामचरित मानस' को ही प्रमाण मानता है। रामचरित मानस का अध्ययन कर एक हिन्दू की आत्मा को शांति मिलती है और उसका पथ प्रदर्शन भी होता है। दो-तीन दशकों में इधर जो सामाजिक पतन और पथभ्रष्टता प्राप्त हुई है, उसका मुख्य कारण यह है कि इधर गन्दी राजनीति के प्रसार के कारण लोग उसी में विवश से उलझ गए हैं और समाज में 'रामचरित मानस' का पठनपाठन कम हो गया है। यदि पहले की भाँति फिर घर-घर 'मानस' का नियमित पठन-पाठन होने लगे तो निश्चित रूप से कर्त्तव्य भ्रष्टता और अशांति बहुत कुछ दूर हो जाय तथा समाज का चरित्र ऊँचा उठ जाय।

गत चार शताब्दियों के हिंदू समाज के गठन में गोस्वामी तुलसीदास का कितना महान योग है, इसके सम्बन्ध में आचार्य चतुर सेन शास्त्री का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

'तुलसी से प्रभावित हिन्दू साहित्य भारतीय हिन्दुओं के जीवन में प्रविष्ट हो गया। तुलसी ने जो शुद्ध दक्षिण मार्गी सीताराम की मूर्त्ति स्थापित की है, वह हिन्दू जनता के भीतर और बाहर सब ओर से हिन्दू जीवन में रम गई है। आज का हिन्दू धर्म तुलसी का धर्म है, राम उनका इष्ट देव। तुलसी के आदर्श पर समाज में सहिष्णुता, मर्यादा, धैर्य, संगठन, शौर्य और आशा का बीज उगा। तुलसी के राम के झंडे के नीचे शिवाजी ने दक्षिण में मराठा राज्य स्थापित किया। तुलसी के राम का बल पाकर राठौरों ने मुगलों से तीस वर्ष लोहा लिया। इन्हीं तुलसी के राम के आसरे छत्रसाल ने केवल पांच सवारों और पच्चीस पैदलों की सेना लेकर दो करोड़ की वार्षिक आय का विशाल राज्य स्थापित किया। तुलसी के रामाश्रय होकर ही पेशवाओं ने मुगल साम्राज्य को ध्वस्त कर पाँच सौ वर्षों से खोए हुए हिन्दू साम्राज्य की फिर से स्थापना

ही। ये तुलसी के हिन्दू संगठन के महान् परिणाम थे कि दो ही शताब्दियों के भीतर हिन्दू साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दू समाज के संगठन की आधार-भूमि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा तैयार की हुई है अतः समाज को सुदृढ़ और उन्नत बनाने के लिए नियमित रूप से घर-घर में तुलसी साहित्य और उनके उपदेशों का अध्ययनाध्यापन होता रहना चाहिए।

तुलसी का समाजवाद

तुलसी का जन्म एक सामंत परिवार में हुआ था। उन्होंने सामंती कूटनीति नृशंसता और वीभत्स वासना का निकट से अवलोकन किया था। वे उसके परिणाम के स्वयं भुक्तभोगी थे। उन्हें उसी के निमित्त से असहाय होकर दरदर की ठोकरें खानी पड़ी थीं। ऐसी ही परिस्थिति में उन्हें शास्त्र-पुराण के अध्ययन का अवसर मिला और साथ-साथ साधु सन्तों का सत्संग भी। इन तीनों परिस्थितियों का तुलसीदास की विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। स्वतः रामानन्दी सम्प्रदाय भी एक समाजवादी सम्प्रदाय है, जहां जाति, पांति, ऊँच, नीच, धनी-गरीब का भेद नहीं। भगवान् के नाते सभी एक हैं तथा अभेद दृष्टि से सबकी सेवा करना ही परम कर्त्तव्य है। श्री रामचन्द्र जी स्वयं उपदेश देते हैं कि—हे हनुमान! सच्चा भगवद् भक्त वही है जो दृढ़चित्त हो, अभेद भावना से सचराचर सृष्टि को भगवान् का रूप मानकर उसकी सेवा में संलग्न हो।[2] तुलसी ने 'मानस' की भूमिका में ही सबको 'सियाराम-मय' कहकर नमस्कार किया है।[3] इस प्रकार उन्होंने अपनी आध्यात्मिक समाजवादी भावना को स्पष्ट कर दिया है।

ईशावास्य-उपनिषद् का आरम्भ ही इस कथन से होता है कि इस जगत में जो कुछ है, सब परमात्मा का है, इसलिए जगत् में जितने भी प्राणी हैं, सब उसके उपभोग के समान अधिकारी हैं।[4] इसी उद्देश्य से श्री मद्भागवत में कहा गया है कि जो पुरुष अपनी साधारण आवश्यकता से अधिक उपभोग करता, वह दूसरों का भाग लेनेवाला चोर है।

आध्यात्मिक-समाजवाद, जिसे हम भारतीय समाजवाद कहते हैं कार्ल-

---

[1] —वयं रक्षामः पृ० १४९

[2] —× × × अस मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

[3] —सियाराम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

[4] —ईशावास्यमिदं सर्वंयत्किंचित् जगत्यां जगत्।

मार्क्स के आर्थिक-समाजवाद से थोड़ा भिन्न है। जिस प्रकार समाजवाद में उत्पादन और उसके उपभोग या बटवारे को समतुल्य रखने का प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार भारतीय-समाजवाद में नहीं क्योंकि किसी भी दृष्टि से न सभी पुरुष समान हो सकते हैं और न उनकी परिस्थितियां, साधन शक्ति, विचार प्रक्रिया और आवश्यकताएं ही समान हो सकती हैं, इसलिए ऊपर से लादा गया समाजवाद न सुखकर हो सकता है, न टिकाऊ ही। समाजवाद की भूमि आंतरिक अर्थात् भावना और विचार में होनी चाहिए। 'सह नो भुनक्तु' अर्थात् सब एक साथ मिलकर समान रूप से उपभोग करें, इस श्रुति की पृष्ठभूमि में वेद इस प्रकार उद्घोष करते हैं—

'संगच्छध्वं, संवदध्वं, संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मंत्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥ ऋ० १०।१६।२-४

अर्थात् सब लोग एक साथ चलें, एक साथ बोलें और एक साथ समझें। जैसे देवों ने पूर्वकाल में बिना विवाद के समान रूप से अपना—अपना भाग ग्रहण किया था, वैसे ही सब ग्रहण करें ॥२॥ समान मंत्र (विचार विमर्श), समान समिति, समान मन और चित्त का सहयोग समान हो। सब लोग समान मन्त्र से यज्ञ में समान रूप से आहुति दें ॥३॥ सबकी चेष्टा और सबका निश्चय समान हो। सबके हृदय और मन से विषमता दूर होकर समता स्थापित हो समता की भूमि में सब एक साथ निवास करें ॥४॥

समानी प्रपा सह वोऽन्न भागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि
सम्यंचोग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभृताः ॥ अथर्व (संज्ञान सूक्त)
५।१६।६

अर्थात् अन्न और जल में सबका समान भाग हो। सब समान बन्धन से एक साथ बँधे हों अर्थात् सामाजिक संगठन में एक सूत्रता हो। सब मिलकर अग्नि की परिचर्या करें। जैसे नाभि में सभी नाड़ियां जुड़ी रहती हैं, वैसे ही सबका सम्मिलित सहयोग हो ॥६॥ श्री मद्भागवद्गीता में भी समतामूलक अभेद-भावना को ही सात्त्विक और श्रेयस्कर बताया गया है। अनेकता में सामंजस्य स्थापित करनेवाली दृष्टि ही श्रेष्ठ कही गई। तुलसीदास ने भी वादों के विवाद को हटाकर ऐसा ही किया। उन्होंने क्या साहित्य और क्या संस्कृति, सब में साम्यवाद की स्थापना की जो समरस और सामाजिक है।

भारतीय समाजवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र-सत्ता रखते हुए ी समाज का अंग है। सबकी प्रकृति एक जैसी नहीं होती और न सबके धन और कार्य क्षमता में समानता या एक रूपता हो सकती है, अस्तु सबकी र्य-प्रणाली और काय-सीमा में भी परस्पर अन्तर होगा। भारतीय समाज-द में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए सामंजस्य किया गया है जो भावना त है। जैसे विभिन्न अंग अपनी-अपनी शक्ति और उपयोगिता के अनुसार र्ण शरीर के विकास-कार्य में जुटे हैं, वैसे ही तुलसी का समाजवादी-संगठन या—

मुखिया मुखसों चाहिए, खान पान कहँ एक।
पालै पोसे सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥

समाजवाद की स्थापना विवेक पूर्वक की जा सकती है। अहं की भावना संकीर्ण सीमा बनाने वाले अविवेकी लोग समाजवाद नहीं ला सकते। इसके ए व्यापक-दृष्टि और व्यापक प्रकाश चाहिए। तुलसी ने जिस समाजवादी राज्य की भूमिका प्रस्तुत की है, उसका आधार 'प्रथम अविद्या-निशा सानी' है। जिसकी परिणिति—

'बैर न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई॥

होती है। जिस रामराज्य में 'न किसी को किसी प्रकार का रोग—दुःख है, किसी की अल्प मृत्यु होती है। सभी स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाले हैं। न द्र है, न दीन—दुःखी हैं। न कोई मूर्ख है, न कुलक्षणी है। सभी दम्भ त धर्म (कर्त्तव्य) मार्ग का अनुसरण करने वाले पुण्यात्मा हैं। सभी गुण-न, पंडित, ज्ञानी, निश्छल निर्विकार हैं; उसे रामराज्य में कोई परमुखा ी और परावलम्बी नहीं।[1] सभी सामाजिक शिष्टाचार के अनुसार समाज ी सेवा-सुश्रूषा और श्रम में संलग्न हैं। महारानी सीता देवी भी कार्यकुशल क-सेवकिनियों के रहते हुए भी श्री रामचन्द्र की आज्ञानुसार गृह—परिचर्या में ी रहती हैं।[2] वर्णाश्रम धर्म भी मौलिक रूप से समाजवादी व्यवस्था है। के अनुसार समाज के सब लोगों को कार्य क्षमता तथा साधन का विचार कर म का बंटवारा किया गया था।[3] इसीसे तुलसी के रामराज्य में 'वर्णाश्रम ज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग।' दिखाई देते हैं।

१—अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब निरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
रा० उ० २१

२—निज कर सिय परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥ रा० उ० २४

३—वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय शोक न रोग॥

राम-राज्य सर्वसम्मत समाजवाद पर आधारित है। राम के राज्याभिषेक की भावना महाराज दशरथ के मनमें उत्पन्न होती है, परन्तु उसके लिए चट राजाज्ञा नहीं हो जाती। मंत्रिमंडल को अनुमति मिलने पर भी नागरिकों का मत पूछा जाता है—

'जो पाँचहिं मत लागेनीका। देहु हरषि हिय रामहिं टीका॥

और राज्यभिषेक होने पर श्री रामचन्द्र जी सम्पूर्ण प्रजा की सभा बुलाते हैं एवं सबके समक्ष निवेदन करते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई॥
जो अनीति कछु भाखौं भाई। तो मोहिं बरजहु भय बिसराई॥

क्या इससे भी अधिक स्वतंत्रता पूर्वक विचार व्यक्त करने की छुट कहीं दी जा सकती है? राजा अनुशासन का निमित्त मात्र और सामाजिक संगठन का आधार है। वह समाज से भिन्न नहीं; उसीका अंग है। सूत्र में माला की मणियों की भाँति वह सम्पूर्ण समाज को एक साथ पिरोए हुए है। उसके स्वार्थ से समाज के स्वार्थ का संघर्ष नहीं, दोनों में अभिन्नता है यही कारण है कि रामराज्य में किसी से किसी का विरोध है, न उत्पीड़न। इस समाजवाद में न मालिक-मजदूर का झगड़ा है, न सामन्तों की शोषण वृत्ति। न चोर बाजारी है, न अनुचित मुनाफा खांरी। यहाँ तो—

'बाजार रुचिर न बने बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।

रामराज्य में बिना मूल्य ही बस्तुएँ मिलती हैं। सच्चा समाजबाद तो यही है न? जब किसी वस्तु का अभाव नहीं, तो फिर संग्रह का झमेला क्यों? जब नृप—गृह सरिस सदन सब केरे' हैं और उसके साथ सबने 'सुमन-वाटिका लगा रखो है तथा सभी धरमशील ज्ञानी गुनवन्त' हैं तो फिर विवाद कहाँ और क्यों?

तुलसीदास एक क्रान्तिकारी समाजवादी या समाज सुधारक थे। उन्होंने एक ओर जहाँ मुगलकाल के वीभत्स सामन्ती शासन का दृश्य उपस्थित किया है; दोहावली, कवितावली और विनय पत्रिका में तत्कालीन राजा और राज-समाज की खुलकर भर्त्सना की है, वहीं समाजवादी रामराज्य को स्थापना कर उसका समाधान भी दिया है। खलनायक रावण सभी भौतिक साधनों से संपन्न एक निरंकुश शासक है। वह किसी का कहना नहीं सुनता अपनी मरजी के विरुद्ध कहने वालों का वह निरादर और बहिष्कार करता है उसके यहां किसी को भी अपना विचार व्यक्त करने का अधिकार नहीं। फल क्या होता है उस अजेय विश्व विजेता के दसों सिर और बीसी भुजाएँ भूलुंठित हो जाती हैं।

उसकी अतुल वैभव श्री धूल में मिल जाती है, परन्तु रामराज्य आज भी स्पृहणीय सस्तुत्य और ग्राह्य है। उसकी यशों गंधि सदा देवत्व की स्थापना करती रहेगी एवं उसकी दिव्य शोभा सदा ही मनोमुग्ध करती हुई हृदय के सम्पूर्ण पाप-ताप धोती रहेगी। यह है तुलसी का समाजवाद।

तुलसी और वर्णाश्रम धर्म—तुलसीदास वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे, परन्तु उनके समय में वर्णाश्रम का ठीक प्रकार पालन नहीं हो पाता था तथा उक्त व्यवस्था बहुत कुछ ढीली पड़ गई थी, जैसा कि कलि का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

'वर्ण धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।' रा०उ० ९८

कवितावली में भी कहा है—

'वर्ण विभाग न आश्रम धर्म, दुनी दुख दोष दरिद्र दली है'—उ० ८५

इस विकृति का कारण क्या है? इसके तीन कारण हैं—(१) वेदादि सद्ग्रन्थों का लुप्त हो जाना अर्थात् उनका पठन-पाठन न होना। (२) देश में विधर्मी शासन की स्थापना, जो वर्णाश्रम-धर्म का विरोधी था। (३) अवैदिक मतों और सम्प्रदायों का उदय, जो वैदिक-मर्यादा के कायल न थे। गोस्वामी जी ने अपने सभी प्रधान ग्रन्थों में इन बातों का उल्लेख किया है यथा—

(क) 'कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रंथ।
दंभिन निज मति कल्पि करि, प्रकट कीन्ह बहु पंथ।।'
रा० उ० ९७

(ख) 'साखी, सबदी, दोहरा, कहि किहनी, उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं वेद-पुरान।।
सकल धरम विपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुग्रंथ।।
गोंड़, गँवार नृपाल महि, जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल।।
दो० ५५५, ५५६, ५५९

(ग) वेद-पुरान विहाइ सुपंथ, कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल, नृपाल कृपाल न, राज समाज बड़ेइ छली है।।
क० उ० ८५

वर्णाश्रम व्यवस्था की उपेक्षा से सब कहीं लौकिक-मर्यादा छिन्न-भिन्न हो

गई है। सामाजिक-अनुशासन नष्ट हो गया है और उच्छृंखलता बढ़ रही है यथा—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥
सूद्र करहिं जप तप व्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाय न बरनि अनीति अपारा॥
रा० उ० १००

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी समाज-संचालन के निमित्त जन्मना वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। वर्णों में सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ण है किन्तु आजकल ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मण जाति के रूप में परिवर्त्तन हो गया है एवं ब्राह्मण जाति मूल स्थान, मूल व्यवसाय और सम्प्रदाय-भेद के कारण अनेक वर्गों-उपवर्गों में बँट गई है।[1] गोस्वामी जी ने इन भेदों-प्रभेदों का कहीं भी विवरण नहीं दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये भेद-प्रभेद उस समय आज की भाँति गठित न थे और यदि गठित भी थे तो उनका आज जैसा महत्त्व न था।' हाँ, 'रामचरित मानस' में दो प्रकार के ब्राह्मणों का विवरण मिलता है—प्रथम वे जो ब्रह्म तेज से युक्त होकर भी क्षात्र-शक्ति से समन्वित थे, जिसके प्रतीक श्री परशुराम जी हैं और दूसरे वे जो ब्रह्म तेज से युक्त होकर क्षत्रियों की पुरोहिती करते थे, इनके आदर्श श्री वशिष्ठ जी हैं। प्रथम कोटि के ब्राह्मणों का क्षत्रियों से मुठभेड़ हो जाना स्वाभाविक था, परन्तु द्वितीय श्रेणी के लिए ऐसी बात न थी। ब्राह्मणों की यह द्विविध-परम्परा वैदिक-काल से ही चली आ रही थी। इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों से विदित होता है कि ब्राह्मण राजा और सम्राट भी हुआ करते थे।

जैसा कि शुंग, कण्व, सातवाहन, वाकाटक, शाही, सेन आदि वंशों का इतिहास देखा जा सकता है। शास्त्र-पुराण ब्राह्मण का एक भेद 'राजा' मानते हैं जैसा अत्रि-स्मृति में देखा जा सकता है और—

---

[1] — 'ब्राह्मणोत्पत्ति दर्पण की भूमिका में श्री पं० प्रभु दयाल शर्मा संपादक 'सनाढ्य जीवन लिखते हैं कि जो (ब्राह्मण) समय के चक्र में पड़कर दो भागों में विभक्त हुए और दो से दस और दस से ८४ हो गए। कुछ इतिहासकारों ने ६१ और कुछ ने ७० प्रकार के माने हैं, जिनके बढ़ते-बढ़ते १८६५ भेद हो गए।' सन् १९२१ की जनगणना की सूची में ब्राह्मणों के ६८ भेदों का उल्लेख है। श्रोत्रिय पं० छोटे लाल शर्मा ने 'ब्राह्मण-निर्णय' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ब्राह्मणों के ९०२ भेद हैं।

अश्वादि वाहने दक्षः संग्रामे निर्भयः सदा।
राज विद्या सुनिर्धाता, स राजा ब्राह्मणः स्मृतः ॥ स्कं० पु०

ब्राह्मण के दो भेदों का विवरण महाभारत शान्ति पर्व में इस प्रकार िया है —

'ब्राह्मणाद्विविधा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च, निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥

मनु ने भी प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का विवरण दिया है, देवल स्मृति ाश्रमोपनिषद्, बौधायन सूत्र आदि में दो भेद यायावर (अप्रतिग्राही) और ालीन (प्रतिग्राही) किए गए हैं, जिनमें 'यायावर' को श्रेष्ठ माना गया यथा—

"द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च। तयोः यायावर प्रवरो ाजनाध्यायम प्रतिग्रह रिकूथ संचय वर्जनात्"—देवल

और—"शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्यावरयातीति यायावरम्"
—बौधायन

ब्राह्मणों का यह द्विविध भेद गुण-कर्म स्वभावानुसार परम्परागत है। तुलसी-ाल में ये दोनों प्रकार के ब्राह्मण अपने ब्राह्मण धर्म से गिर गए थे और ब्रह्म-तेज रहित हो गये थे। तभी तो नाम मात्र के ब्राह्मण बनकर वे समाज में अपने ौरव को खो रहे थे और शूद्र स्वभाव के लोग भी उन्हें डाँट बतलाते थे, यथा—

'वादि शूद्र कह द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि ॥

तुलसीदास को समाज के इस नेतृ वर्ग को देखकर ग्लानि होती थी। ाह्मणों का प्रथम वर्ग वेद धर्म की उपेक्षा करने से कलिमल (काम, क्रोध, लोभ, द, मोह, मात्सर्य) से युक्त हो परस्पर छल प्रपंच और कलह में रत था तथा ूसरा ब्राह्मण वर्ग आत्म गौरव के नष्ट हो जाने और कायर दुःखी-दरिद्र होने से िंदित भिक्षा-वृत्ति को ही ब्राह्मण धर्म मान बैठा था,[1] फिर भी समाज में उसे िक्षा नहीं मिलती थी।[2] प्रथम वर्ग मद-मात्सर्य से युक्त हो असामाजिक बन या था और दूसरा वर्ग 'दारिद-दुखारी-भीरु' होने के कारण परमुखापेक्षी तथा

---

[1] १—दारिद-दुखारी देखि ! भू सुर भिखारी भीरु
काम कोह लोभ मोह कलिमल घेरे हैं—क० उ० १७४

[2] २—भूसुर लहै न भीख—दो० ४२७

समाज में उपेक्षित हो रहा था।[1] उपयुक्त कर्णधार के बिना समाज की नौका डगमग हो रही थी। ब्राह्मणों में सामाजिक उत्थान के हेतु सेवा और त्याग का अभाव देखकर कोई भी समाज का हित चिंतक दुःखी हो सकता था। कदाचित इसी से गोस्वामी जी ने पुरोहिती को निंद्य माना है[2] और ब्राह्मणों के लोभ-प्रवृत्ति की भर्त्सना की है। ब्राह्मण जमींदारों के छल-कपट से भी वे सन्तुष्ट न थे।[3] उनके अनुसार ब्राह्मण में तप और त्याग की प्रधानता होनी चाहिए क्योंकि ब्राह्मण का बल, तप और त्याग ही है, यथा—

'तप-बल विप्र सदा बरियारा'—रा० बा० १६५

और—'चाहिय विप्र उर कृपा घनेरी'—रा० बा० २८२

त्यागी-तपस्वी ब्राह्मण के ही अनुशासन में रहकर समाज सुखी-सम्पन्न हो सकता तथा उन्नति कर सकता है यथा—

'विप्र वंस की अस प्रभुताई। अभय होइ जो तुमहिं डेराई॥
रा० बा० २८४

और राम-राज्य की स्थापना का आधार ऐसे ही ब्राह्मणों की सेवा है यथा—

'राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकहिं फनीस सारदा॥
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नर-नारी॥
रा० उ० २२

त्यागी-तपस्वी ब्राह्मण को सेवा से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है। इस प्रकार के ब्राह्मणों की सेवा में रहने से देवता और मुनि भी प्रसन्न रहते हैं—

'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मनक्रम वचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥
रा० उ०

क्योंकि ब्राह्मण की सेवा में रहने से धर्म की प्रवृत्ति होती है यथा—

'द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री'—रा० उ०

१—बड़े बिबुध दरबार तें भूमि भूप दरबार।
जापक पूजक देखियत, सहत निरादर भार॥ दो० ३९३

२—श्री स्वामी विवेकानन्द को भी ब्राह्मणों में समाई हुई असामाजिक भावना को देखकर कहना पड़ा—"पुरोहिती स्वभावतः निर्दय तथा हृदय-हीन वस्तु है (पृ० १०९) उनकी उत्पत्ति शताब्दियों के कुसंस्कार तथा अत्याचार से हुई है। सर्वप्रथम पुरोहिती के छल को जड़ से उखार फेंको।"—शिक्षा-संस्कृति और समाज़ पृ० १०८

३—बिनु प्रपंच छल भीख भलि लहिय न दिए कलेस—दो० ३९४

धर्म ही के आधार पर समाज खड़ा है और गतिशील है अतः समाज की सुरक्षा तथा विकास के लिए ब्राह्मण का अनुशासन आवश्यक है। ब्राह्मण की सेवा में रहने से ज्ञानोदय और भगवद्भक्ति की भी प्राप्ति होती है।[1] इसलिये ब्राह्मण सेवा की गणना नवधा-भक्ति के अन्तर्गत की गई है।[2] इस प्रकार स्वार्थ-परमार्थ दोनों दृष्टियों से ब्रह्म-सेवा का महत्त्व है। इसके विपरीत ब्राह्मण से द्रोह करने वाले की दुर्गति होती और उसका नाश हो जाता है।[3] भूल से अपराध कर देने पर भी ब्राह्मण अवध्य है, उस पर बल प्रयोग नहीं किया जा सकता।[4]

वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान है क्योंकि यदि ब्राह्मण समाज रूपी शरीर का अनुशासन-कर्त्ता मुख है तो क्षत्रिय उसकी रक्षा करने वाला बाहु। इसलिए क्षत्रिय शक्ति का प्रतीक है तथा युद्ध के लिए सदा तैयार रहता है यथा—

'क्षत्रिय तन धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पामर जाना॥

क्षत्रिय को खलों के नाश और सज्जनों की रक्षा में सदा तत्पर रहना उचित है। श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—

'हम क्षत्रिय मृगया बन करहीं। तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं॥'

क्षत्रिय के बाद वैश्य का स्थान है। वैश्य व्यवसायी होता है। वह अपने उत्पादन तथा विनिमय प्रसाधन द्वारा समाज का विकास करता है। वैश्य में त्याग की प्रवृत्ति कम किन्तु संग्रह की प्रवृत्ति अधिक होती है, इसी से समाज में उसका स्थान तीसरा है। प्राचीन काल तथा गोस्वामी जी के समय में भी कृषि-व्यवसाय सभी वर्णों के लोग करते थे, परन्तु वाणिज्य-ब्यौपार प्रायः वैश्य ही। वे धन द्वारा कला का भी संरक्षण करते थे। वैश्य का धनी मानी, दानी और सच्चरित्र होना ही उसकी शोभा है यथा--

'बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँ भूप रमा निवास तहँ की संपदा किमि गाइए॥

१—'सर्वात्मनं महात्मनं विधूवमिव पावकम्।
तं पश्यंति महात्मानो, ब्राह्मणा ये मनीषिणः॥'

२—भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति नीती॥
रा० अ० १६

३—बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे—रा० उ०

४—चल न ब्रह्म कुल सन बरिआई। सत्य कहौं द्वौ भुजा उठाई—रा० बा०

बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुं कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित्र सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥
रा० उ० २८

वर्णों में चौथा स्थान शूद्र का है क्योंकि वह पशु प्रवृत्ति का होने से आचार-विचार-हीन, अहंमन्यता युक्त और विषयी होता है। इसलिए उसका नियमन भय द्वारा आवश्यक होता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

'ढोल गँवार सूद्र पसु-नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥'

विद्वान होने पर भी शूद्र दुर्गुणों से मुक्त नहीं हो पाता, यथा—

अधम जाति मैं बिद्या पाए। भयउँ जथा अहि दूध पिआए॥

× × ×

मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहइ न मोहिं सुहाई॥
रा० उ० १०६

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि गोसाईं जी के मतानुसार वर्ण-व्यवस्था में केवल जन्म ही हेतु नहीं, वरंच गुण कर्म स्वभाव भी है।[१] जिसमें ब्राह्मण के गुण नहीं, वह ब्राह्मण न होकर 'ब्रह्म-बंधु' और जिसमें क्षत्रिय के गुण नहीं, वह क्षत्रिय न होकर क्षत्रबन्धु है जैसा कि राजा प्रताप भानु को शाप देते हुए ब्राह्मणों ने संबोधित किया था—

'क्षत्रबन्धु तैं विप्र बोलाई। घालै लिए सकल समुदाई॥
ईश्वर राखा धर्म हमारा। जैहसि तैं समेत परिवारा॥रा०बा०१७४

१—सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म, ब्रह्म चेंद्रिय निग्रह।
सर्व भूत दया ब्रह्म एतद् ब्राह्मण लक्षणम्—वशिष्ठ
शमादमस्तपः शौचं क्षांति रार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्—भगवद् गीता
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः—मनु
शौर्यं तेजो धृति दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्—गीता
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च।
वणिक पथं कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च—मनु
एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समासत्
एतेशामेव वर्णानां शुश्रूषा मनु सूयया—मनु

सामाजिक मर्यादा की रक्षा और विकास के लिये वर्ण व्यवस्था एक उपयोगी विधान है। किसी भी व्यवस्था के संचालन के लिये अगुआ की आवश्यकता होती है। समाज का अगुआ ब्राह्मण है, इसलिये समाज को ब्राह्मण के अनुशासन में उसीप्रकार रहना उचित है जिसप्रकार परिवार पिता के अनुशासन में रहता है। पिता कभी-कभी किसी कारण क्रोध करता है, कटुवचन कहता है और दण्ड भी देता है परन्तु फिरभी वह पूज्य है। पिता की त्रुटियाँ नहीं देखी जातीं, उसके पद की प्रतिष्ठा की जाती है। परिवार में जैसे पिता की स्थिति है, वैसे ही समाज में ब्राह्मण की स्थिति है, इसीसे गोस्वामीजी श्रीरामचन्द्रजी द्वारा कहलाते हैं—

सापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥
पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना ॥
रा० आ० ३४

पहले कहा गया है कि मध्ययुग में ब्राह्मणों से द्वेष करने, अवैदिक बौद्ध-जैन धर्म स्वीकार कर लेने तथा विदेशियों के आक्रमण के कारण प्रायः क्षत्रियों का भारतभूमि से लोप हो गया। ऐसी दशा में ब्राह्मणों द्वारा गठित क्षत्रियों की स्थानापन्न 'राजपूत' जाति का उदय हुआ। सामाजिक मर्यादा की रक्षा और विकास के लिये ही ऐसा किया गया।[1]

जैसे सामाजिक मर्यादा की रक्षा और विकास के लिये 'वर्ण-व्यवस्था' आवश्यक है, वैसे ही व्यक्ति के विकास के लिये 'आश्रम धर्म' का पालन आवश्यक है। आश्रम भी चार हैं[2]—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—नियमपूर्वक गुरुकुल में रहकर विद्यादि गुणों के अर्जन और शारीरिक-मानसिक विकास के निमित्त।

(२) गृहस्थाश्रम – धर्मपूर्वक अर्थ संग्रह कर सांसारिक कामनाओं की पूर्ति, लौकिक श्रेय-प्रेय और सुख अभिवृद्धि के निमित्त।

(३) वानप्रस्थाश्रम—परलोक की भावना से मनको विषयों की ओर से खींचकर तप की साधना द्वारा ईश्वर की ओर लगाने के निमित्त।

(४) संन्यासाश्रम—ज्ञान-भक्ति द्वारा सांसारिक वासनाओं की निवृत्ति, पूर्वक आत्मिक विकास और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के निमित्त। इस आश्रम का उद्देश्य सांसारिक बंधनों से छुटकारा और शाश्वत सुख की प्राप्ति है, जिसे मोक्ष कहते हैं, जो जीवन का चरम लक्ष्य है तथा जिसका अधिकारी प्रायः साधना-

---

१—दे०—विकास की एक धारा भाग २ अ० १

२—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ मनु० ६।२७

शील पवित्रात्मा ब्राह्मण ही होता है क्योंकि वह स्वभाव से ही सात्विक वृत्ति का निष्पाप होता है एवं उसकी सांसारिक वासनाएँ ज्ञान-वैराग्य के कारण क्षीण हो गई होती हैं।

गोस्वामीजी के समय के पहले से ही आश्रम व्यवस्था विकृत हो गई थी यहाँ तक कि अनाधिकारी लोग सन्यासी तक होने लगे थे यथा—

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाय होहिं संन्यासी।।
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।

आश्रम व्यवस्था के व्यतिक्रम से समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, वह भी देख लेने योग्य है, यथा—

बहुदाम संवारहिं धामजती। विषया हरि लीन्ह गईं बिरती।।
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।।
कुलवन्ति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।।
सुत मानहिं मात-पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।।
ससुरारि पियारि लगी जबतें। रिपु रूप कुटुम्ब भए तबतें।। रा०उ० १०१

और—

'सब लोग वियोग विसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए।।
दम दान दया नहिं जान पनी। जड़ता परवञ्चनताति घनी।।
तनु पोषक नारि नरा सगरे। पर निंदक जो जगमो बगरे।।रा०उ० १०२

वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं होने से सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न होती है। लोग आचार-विचार और धर्म-कर्म से रहित हो जाते एवं समाज में संकरता की वृद्धि होती है——

भए वर्ण संकर कलिहिं, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुःख, भय रुज सोक वियोग।।

इसलिये वर्णाश्रम धर्म का पालन व्यक्ति के विकास एव सामाजिक-उत्थान हेतु परमावश्यक है। तुलसीदास ने सामाजिक सुव्यवस्था और मर्यादा की रक्षा के लिये ही वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन किया है, न कि ऊँचे कुलवालों के महत्त्व-प्रतिपादनार्थ ? यदि उच्चवंश में निम्नकोटि के पुरुष हों तो उनसे अच्छा तो निम्नकुल ही है जिसमें रामभक्त और लोकोपकारी पुरुष उत्पन्न हों यथा——

"ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥ ३८ ॥
अति ऊँचे भूधरनि पर, है भुजगनि को थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ईख, अन्न अरु पान ॥ ३९ ॥ वै० सं० ॥

तुलसीदास द्वारा स्थापित वर्ण व्यवस्था किसी के मार्ग में रोड़ा बनकर नहीं अटकती और न उससे किसी का विकास ही रुकता है। भक्तिमार्ग मानवमात्र के लिये समानरूप से कल्याणकारी है और उक्त भूमि पर सबको समान अधिकार है वहाँ सब समान हैं। गोस्वामीजी ने श्रीरामचन्द्रजी से भी कहला दिया है।

'मानउँ एक भगति कर नाता'

भक्तिमार्गी होने से ही श्री रामचन्द्रजी शबरी के जूठे बेर खाए थे और केवट को गले लगाया था। तुलसीदास ने भी अपने इष्टदेव से ही प्रेरणा पाकर श्वपच को गले लगाया। उनके सत्संगियों में हरिजन और मुसल्मान भी थे। यही कारण है कि काशी के रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उनको 'कुजाति' और पतित कहा, किन्तु उन्होंने किसी की परवाह न की एवं अपने राम का अनुकरण करते रहे। उनकी सच्ची भक्ति तो यही थी। उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था भक्तिमार्ग में बाधक न होकर साधक थी।

तुलसीदास और ब्राह्मण—कुछ लोग समझते हैं कि तुलसीदास ब्राह्मणवर्ग के विशेष पक्षपाती थे, इसी से उन्होंने कहा है—

शापत ताड़त परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता ॥

'श्री रामचरित-मानस' से और भी अनेक उदाहरण दिये जाते हैं और अपने पक्ष का समर्थन किया जाता है, अस्तु तुलसी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय इस विषय पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

ब्राह्मण वर्ग समाज का एक प्रमुख अंग है, इसलिए तुलसी की तद्विषयक विचार-सरणि पर विचार करते समय तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

तुलसी-काल राजनीतिक उच्छृंखलता और सामाजिक-विघटन का युग था। उस युग में मुगल शासकों और उनके सामन्तों का मनमाना आदेश ही कानून था। मुसल्मानी शासन और संस्कृति के अनवरत धक्के से सुगठित हिन्दू समाज जर्जरीभूत हो रहा था। हिन्दू-समाज की आधारशिला वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी, जिसको विश्रृंखल होने से बचाना तथा सामाजिक मर्यादा की सुरक्षा और सुव्यवस्था तुलसी का प्रधान उद्देश्य था।

सामाजिक-विघटन समाज और राष्ट्र दोनों ही के लिये घातक है। सामाजिक विघटन की स्थिति में व्यक्तिवादी भावना बहुत बढ़ जाती है। जिससे असामाजिक तत्वों को प्रश्रय मिलता है। राष्ट्र, जाति, समुदाय, परिवार और व्यक्ति के पारस्परिक-सम्बन्ध में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परंपरागत विश्वास, प्रथाएँ और आचार-व्यवहार के पालन में अनिश्चितता आ जाती है। स्वार्थ और उछृंखलता के बढ़ जाने से सांस्कृतिक ह्रास होता है। लोग अशिष्ट और उद्दत बन जाते हैं। परस्पर सहयोग के स्थान पर संघर्ष, प्रेम के स्थान पर घृणा, ईमानदारी के स्थान पर वेईमानी सदाचार के स्थान पर भ्रष्टाचार और परोपकार के स्थान पर अत्याचार की वृद्धि होती है। अनैतिकता, व्यभिचार, चोर बाजारी, घूसखोरी, कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा, संकीर्ण जातिवाद असामाजिक-संगठन, वेकारी, व्यभिचार, जुआ, मद्यपान अपराध, अज्ञानता, अस्वास्थ्य, महंगी, चोरी-डकैती, अनुचित मुनाफाखोरी आदि बढ़ने का कारण मुख्यतः सामाजिक विघटन है। तुलसीदास सामाजिक विघटन के दोषों से परिचित थे, इसलिये उस आचार-व्यवहार को बढ़ावा देना चाहते थे, जो समाज को विघटित होने से बचाए।

हिन्दू-धर्म में समाज को विराट्पुरुष का प्रतीक माना गया है, जिसका मुख ब्राह्मण, वक्ष क्षत्रिय, उरु वैश्य तथा पाद शूद्र है। इस मान्यता का अभिप्राय यह है कि चारो वर्ण अपनी-अपनी सामाजिक सीमा के भीतर समाज के सुदृढ़ संगठन में परस्पर पूरक बनकर मूलाधार के रूप में स्वीकृत हैं। इस सीमा-क्षेत्र में कहीं भी विकृति आ जाने पर संपूर्ण समाज के विकृत तथा विघटित होने की सम्भावना है। 'समाज व्यक्तियों का समूह नहीं, वरंच यह मनुष्य के बहुत से पारस्परिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है, इसलिए समाज के सगठन में पारस्परिक सहयोग और उसके द्वारा प्राप्त शक्ति के माध्यम से नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ती है। सहयोग का आधार मानसिक समानता है। किसी समस्या के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण, समान आचार-व्यवहार एव मान्यता वाले लोग किसी समाज का संगठन करते हैं एवं अपनी विभिन्न योग्यता, प्रवृत्ति साधन एवं आवश्यकता के अनुसार उसका विभिन्न क्षेत्रों में विकास करते हैं। इसीसे समाज में विभिन्न पद-प्रतिष्ठा, आयु, साधन आदि के होते हुए भी परस्पर भावनात्मक एकता होती है। इसी भावनात्मक एकता को सुदृढ़ बनाना तथा उसे जागरूक रखना सामाजिक संगठन और उसके विकास का मूल तत्त्व है। सामाजिक मर्यादा की रक्षा और नियमन इसी के आधार पर होता है।

समाज का आधार शिला वर्ण-व्यवस्था है, जिसको सुव्यवस्थित रूप से गठित करने के लिए समाज के पथ-प्रदर्शक (मुख) ब्राह्मण वर्ग में समाज का भावनात्मक केन्द्रीकरण तुलसीदास को अभीष्ट था, जो ब्राह्मण-वर्ग के महत्त्व का

तिपादन करके ही किया जा सकता था। अतः तुलसीदास ने वही किया जिसे न्हें करना था एवं जो तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल था। सूफी और निर्गुनिया संतों के द्वारा जो सामाजिक आधार भूमि में दरार पड़ रही थी, वे तुलसीदास की समर्थ वाणी ने पाट कर पक्का पलस्तर कर दिया।

तुलसीदास संकीर्ण ब्राह्मणवादी न होकर उदार समाजवादी थे। सामाजिक-ख-शांति और विकास ही उनका उद्देश्य था। वे जब कहते हैं कि—

पूजिए विप्र वेद विधि हीना। शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥

इसमें भी उनका उद्देश्य वही है, जो ऊपर बताया गया है। क्योंकि सामाजिक ठन और विकास की दृष्टि से जितनी आवश्यकता सामाजिक सद्भावना की उतनी विविध गुणों की जानकारी की नहीं और स्पष्ट है कि शूद्र स्वभाव क्तिवादी होता है, पर ब्राह्मण स्वभाव समाजवादी एवं इसी अर्थ में वेद-द्याहीन ब्राह्मण का भी महत्त्व है। स्वभाव का सम्बन्ध कुल परम्परा से है। ध्ययन के द्वारा केवल उसे परिमार्जित किया जाता है। अस्तु सामाजिक दृष्टि तुलसी ब्राह्मण को महत्त्व देते हैं, व्यक्ति की दृष्टि से नहीं व्यक्ति की दृष्टि से वे एक सासांरिक माया जाल में पड़े हुए ब्राह्मण की अपेक्षा भक्त श्वपच को त्तम समझते हैं और उस बड़े वंश की अपेक्षा जिसमें असामाजिक तत्त्व पलता ; उस छोटे कुल की श्रेष्ठता या उपयोगिता स्वीकार करते हैं, जो समाज वा की भावना से ओत-प्रोत है। दोहावली जो एक नीति ग्रंथ है उसमें उन्होंने ष्ट रूप से कहा है कि—'उस ऊँचे पर्वत-शिखर का कोई मूल्य नहीं जहाँ धर पलते हैं परन्तु उस पर्वत की नीची तराई का अधिक मूल्य है जहाँ समाज पोषक तत्त्व ऊख और धान की उपज होती है।

ब्राह्मण स्वभाव का भूषण उसकी दया और उदारता है। अपने इन्हीं गुणों कारण क्योंकि ये गुण समाज-पोषक हैं, वह समाज में सम्मान का अधिकारी नता है। परशुराम साक्षात् तपस्या की मूर्त्ति, परम शक्तिमान और स्वयं गवान के अवतार हैं। वे ब्राह्मण ही हैं किन्तु उनके असामाजिक क्रूर स्वभाव कारण तुलसी ने क्षत्रिय राम-लक्ष्मण के समक्ष नीचा दिखाया है। राम रशुराम के प्रति कहते हैं—

'जो तुम अवतेउ मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गुसाईं॥
क्षमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी॥

इन बातों से यह बात स्पष्ट व्यक्त होती है कि तुलसीदास का अभीष्ट सामाजिक सुख-शांति था और उसी के निमित्त से उन्होंने ब्राह्मण की प्रशंसा की है संकीर्ण जातिवादी मनोवृत्ति के कारण नहीं।

एकादश अध्याय

स्वभाव, कर्म कौशल और व्यक्तित्व

शील-स्वभाव और अनुभव—

यों तो प्रायः सभी महान और प्रतिभाशाली पुरुष प्रकृति प्रेमी होते हैं किन्तु अपेक्षाकृत कवियों में यह स्वभाव विशेष रूप से पाया जाता है। गो० तुलसीदास का जन्म ही प्रकृति की गोद में गगातट पर हुआ था। उनकी बाल्यावस्था विविध प्राकृतिक सुषमाओं से सुशोभित गगा सरयू के संगम पर बीती और उसके बाद से तो वे अनेक तीर्थों एवं वन-पर्वतों का परिभ्रमण करते हुए, प्रकृति के नाना रूपों का ही दर्शन करते रहे। उनकी रचनाओं में प्रकृति के बड़े सुन्दर चित्र उपमा उत्प्रेक्षा और रूपकों के रूप में मिलते हैं। ये रूपक और उपमाएँ विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली के चित्रकूट वर्णन में तथा रामचरित मानस के अनेक स्थलों पर (यथा बा० १६१-६२, अयो० २३७, अर० ३३-३४, अयो० ३४, अर० ३८-४०, लं० १२) देखे जा सकते हैं।

उन्होंने 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' को राग के अनुसार गेय पदों में ही लिखा है—रामलला नहछू, पार्वती मगल और जानकी मंगल विवाह के अवसर पर स्त्रियों के गाने के लिए लिखे, जिससे इनका गायक होना प्रकट होता है। 'गौतम चन्द्रिका' में भी अनेक स्थलों पर उनके गायक होने की बात कही गई है यथा—

'साधु अनेक एक निसि आए। तुलसी नवल विस्नु पद गाए॥'
'तुलसी देव मंदिरन्ह जाई। बिनती करहिं विस्नु पद गाई॥'
'अटत उजेनी दासहु आए। सुपद सूर-मीरा कृत गाए॥
सुनि तुलसी बानी अनुरागी। सुखद कृस्न पद गावन लागी॥'

इससे स्पष्ट है कि वे गाने-बजाने की प्रवृत्ति रखते थे। उन्होंने 'रामचरित-मानस' में राम-राज्य को अयोध्या तथा जनकपुर के विवाह मंडप की सजावट का जैसा वर्णन किया है, उससे उनकी शिल्प कला के प्रति 'अभिरुचि' प्रकट होती है यथा—

'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा।।
किए भृंग, बहुरंग बिहंगा। गूँजहिं कूँजहिं पवन प्रसंगा।।
सुर-प्रतिमा खंभन गढ़ि काढ़ी। मंगल-द्रव्य लिए सब ठाढ़ी।।
रा० बा० २८८

श्री रामचन्द्र जी और अन्य लोगों की वेष-भूषा के जो चित्र इन्होंने विभिन्न वसरों पर चित्रित किया है, सुन्दर और सुस्पष्ट हैं। इससे इनकी वेश-विन्यास म्बन्धी दक्षता का पता चलता है। एक चित्र देखिए—

सोभा सींव सुभग दोउ वीरा। नील पीत जल जाभ सरीरा।।
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।।
भाल तिलक श्रम विंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छवि छाए।।
विकट भृकुटि कच घूँघर वारे। नव सरोज लोचन रत नारे।।
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास विलास लेत मन मोला।।
उर मनिमाल कंबुकल ग्रीवा। काम कलभ कर भुजवल सींवाँ।।
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँवर सखी सुठि लोना।।
रा० बा० २३३

कवितावली से ज्ञात होता है कि उन्हें जड़ी-बूटी, टोटका तथा वैद्यक का भी ज्ञान था[1] एवं दोहावली से पता चलता है कि गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष में प्रवीण थे इससे इनकी उस प्रवृत्ति का पता चलता है जो नुष्य को बहुज्ञ बनाती है। वे शकुनाशकुन और स्वप्न के फला-फल पर विश्वास खते थे। 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना ही शकुन-विचार के निमित्त हुई है। 'रामचरित-मानस' में स्वप्न-फल की चर्चा कई स्थानों पर आई है यथा—

'सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिन आँखि नित फरकइ मोरी।।
दिन प्रति देखौं राति कुसपने। तुमहिं न कहौं मोह बस अपने।।
रा० अ० २०

'अनरथ अवध अरंभेउ जबते। कुसगुन होहिं भरत कहँ तबते।
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना।।
रा० अ० १५७

'लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।।
रा० अ० २२६

---

[1] १—क० सु० २५, ह० बा०

'असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनै न भुज बल गर्व विसाला॥
रा० लं० ७८

'सगुन विचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहिं कृपालु रघुबीरा॥
रा० लं० १००

होहिं सगुन सुन्दर सुभग जो जेहि कारज जात॥ रा० बा०

गोस्वामीजी जमींदार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए वंश परम्परानुसार वे राजनीति से भलीभांति अभिज्ञ थे किन्तु छल-कपट, दांव-पेच और कूटनीति उन्हें प्रिय न थी जैसा कि उन्होंने दोहावली में व्यक्त किया है।[1] विनय और शिष्टाचार कुलवान होने की पहचान है। गोस्वामी जी में ये गुण अपनी सीमा तक पहुँचे हुए थे। महाभारत मे धर्मव्याध ने शिष्टाचार का लक्षण इस प्रकार बताया है—

त्रै विद्य बृद्धाः शुचयो बृत्तवन्तो मनस्विनः।
गुरु शुश्रूषवो दांताः शिष्टाचारा भवंत्युत ॥७६॥
दातारं संविभक्तारो दीनानुग्रह कारिणः ॥८७॥
सर्व पूज्या श्रुत धनास्तथैव च तपस्विनः।
सर्व भूत दयावंतः ते शिष्टाः शिष्ट सम्मताः ॥८८॥ वन० अ० २०७

वंश-परम्परा के अनुसार ही उनका स्वभाव वीरों का सा था। उन्होंने सर्वत्र ही वीरता की प्रशंसा और कायरता की निन्दा की है।[2] याचक-वृत्ति को वे बहुत ही बुरा मानते थे।[3] शरणागत वत्सलता,[4] दीनों पर दया[5] और उदारता[6] उनके स्वाभाविक गुण थे। वे कहते हैं कि कलियुग में दान[7] और भगवान का

---

[1] १—दो० ५००-५३०

[2] २—'जाइ सो सुभट समत्थ पाइ रन रारि न मंडै'—क० उ०

[3] ३—'अमरदानि जाचक मरहिं, मरि मरि फिर फिर लेहिं।
'तुलसी' जाचक पातकी, दातहिं दूषण देहिं॥ दो० ३७९

[4] ४—सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय तिनहिं बिलोकत हानि॥ दो० ५४३

[5] ५—'धर्म की दया सरिस हरियाना'—रा० उ० ११२

[6] ६—'सब उदार सब पर उपकारी। रामचरन सेवक नरनारी॥ रा० उ०

[7] ७—प्रकट चारि पद धर्म के, कलि महं एक प्रधान।
येन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥ रा० उ० १०३
और—सो धन धन्य प्रथम गति जाकी'—रा० मा०

म जप[१] ही भवसागर से निस्तार का सर्वोत्तम उपाय है। परोपकार से बढ़कर संसार में दूसरा धर्म है और न दूसरों को कष्ट देने से बढ़कर पाप।[२] धर्म ही क परलोक में सहायक होता है, इसलिए धर्म की रक्षा कष्ट सहकर भी यत्न क करनी चाहिए।[३] धम के सम्बन्ध में वेद ही प्रमाण है अतः वेद की निंदा नेवाला निंदित हो जाता है।[४]

गोस्वामी जी की रचनाओं में कहीं एक भी बात ऐसी नहीं है जो लोकधर्म लोक मर्यादा के विरुद्ध हो। वे किसी भी दशा में लोक मर्यादा की अवहेलना त नहीं समझते थे। अनन्य रामभक्त होते हुए भी लोक मर्यादा के अनुसार देवी-देवताओं का सम्मान और पूजन, शास्त्र मर्यादा के अनुसार आचार-हार का पालन उनका ध्येय था। विद्वान् और महान् होकर भी उन्होंने गर्वोक्ति नहीं की है वरंच अतिशय नम्रता का परिचय दिया है[५] किंतु ट निरभिमानी होकर भी वे पूरे स्वाभिमानी थे।[६] पुरुषार्थवादी होकर सब प्रकार भगवान का भरोसा रखते थे।[७] वे मनुष्य स्वभाव के बड़े खी थे और उसकी दुर्बलताओं को समझते थे। इसीसे उन्होंने बार-बार बचने के लिए लोगों को सावधान किया है।[८] उनका मन सुरुचिपूर्ण परिमार्जित था। उनकी इच्छायें अपनी न होकर सामाजिक थीं।[९] उनके उदार और विचार उदात्त थे। जैसे वे मधुरभाषी थे,[१०] वैसे ही मधुर-

---

—'नाम जीह जपि जागहिं जोगी'—रा० बा०

—परहित सरिस धम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई'—रा० उ०

—सहि कुबोल साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गए सुजान॥ दो० ४६६

—अतुलित महिमा वेद की तुलसी किए विचार।
जो निंदत निंदित भयो, विदित बुद्ध अवतार॥ दो० ४६४

—कबिन होउँ नहिं चतुर प्रवीनू सकल कला वुधि विद्याहीनू॥ रा० बा०
और—'को जग मंद मलित मति मोते'—रा०

—आवत ही हरषे नहीं नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए कंचन बरसे मेंह॥ दो०

—एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥ दो०

—लोभ के ईर्ष्या दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिवर कहहिं विचारि॥ रा० अ०

—तुलसी भल बरतरु बढ़त, निज मूलहि अनुकूल।
सबहि भाँति सब कहँ सुखद दलनि, फलनि बिन फूल॥ दो० ५२९

१०—सुनत मधुर परिनाम हित बोलिय वचन विचारि'—दो० ४३५

भांजी भो। उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करनेवालों की निन्दा की है तथा ऐसे लोगों को जा सुरा आदि तमोगुणो पदार्थों का सेवन करते हैं, समाज ध्वंसक माना है।[१] कलह को वे सर्वथा त्याज्य समझते थे क्योंकि उसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं होता।[२] अतः यदि काई मार भो दे तो उसे सह लेना उत्तम है, बदले में मारना उचित नहीं क्योंकि सबके रक्षक भगवान हैं।[३] वे अखिल विश्व को भगवान का विराट रूप मान उसकी सेवा को ही भगवान की अनन्य सेवा मानते थे; यथा—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवंत॥

आजकल 'वासना' को ही 'प्रेम' मान लिया गया है, परन्तु वासना और प्रेम में जमीन-आसमान का अन्तर है। जहाँ वासना में अस्थिरता और ग्रहण की इच्छा होती है वहाँ प्रेम में विश्वास, अनन्यता दृढ़ता और त्याग की भावना।[४] गोस्वामी जी ने 'चातक' को प्रेमी का प्रतीक मान प्रेम' के उदात्त चित्र स्पष्ट किए हैं (दे० —दो० २७७-३२६) 'पावती-मंगल' में कहते हैं—

'साँच सनेह साँच रुचि जो हठि फेरइ।
सावन सरित सिंधु रुख सूप सों घेरइ॥
और—'को करि बाद-बिबाद बिषाद बढ़ावइ।
मीठ काह कवि कहहिं जाहि जो भावइ॥'

सदा स्मरण करते रहना और प्रिय वचन बालना हो प्रेम की पहचान है जो प्रेम करे उसी के यहाँ जाना चाहिए। जा इसके प्रतिकूल व्यवहार करे उसके यहाँ कदापि न जाय यथा—

'सदा न जे सुमिरत रहहिं, मिलि न कहहिं प्रिय बैन।
ते पैं तिनके जाहिं घर, जिनके हिए न नैन॥ दो० ३२६

कपटी मित्र जो केवल मोठा-मोठी बातें करता और घात लगाए रहता है, दुःख

१—रावन मांगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक—रा० लं० ६३

२—कलह न जानब छोट करि दल सुमनहु संग्राम।
सकुल गए बिनु तन भए, साखी जादौ काम॥दो० ४२५

३—भागे भल ओड़ेहु भलो, भले न घालें घाउ।
तुलसी सबके सीस पर रखवारो रघुराउ॥दो० ३२४

४—चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटें घटैगी कानि॥दो० २७९

का कारण है उससे दूर ही रहना चाहिए।[1] सच्चे मित्र का लक्षण यह है—

निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनहिं दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
विपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
रा० कि० ७

सज्जन लोग स्वयं कष्ट सह लेते हैं, किन्तु अपने लिए मित्र को कष्ट नहीं देते। सज्जनों का साथ होने से मनुष्य का विकास होता है किन्तु दुर्जनों का साथ करने से वह पतन को प्राप्त होता है, इसलिए सदा सत्संग करना चाहिए, यथा—

'तुलसी भलो सुसंग ते पोच कुसंगति सोइ।
नाव, किन्नरी, तीर, असि, लोह विलोकहु लोइ॥ दो० ३५८

बुरा समय आने पर मित्रगण और अपने लोग भी साथ छोड़ देते हैं तब धैर्य, धर्म, विवेक, साहित्य ज्ञान, साहस, सत्यव्रत और एकमात्र भगवान का भरोसा करके ही मनुष्य दुःख-सागर से पार होता है इसलिए सदा भगवान् की शरणागति प्राप्ति करनी चाहिए। विषयों की आशा करना ही दुःख का कारण है। विषयी साधु की अपेक्षा विरक्त और भक्त गृहस्थ अच्छा है क्योंकि भगवद प्रेम में सांसारिक आसक्ति बाधक है, गृहस्थाश्रम नहीं। इसलिए गृहस्थाश्रम में रहकर भजन करना उत्तम है।[2] अपने लोगों का विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि अपने लोगों के अलग हो जाने पर दूसरे लोगों से भलाई की आशा नहीं की जा सकती, यथा—

'आपन छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोय।
तुलसी अंबुज अंबु बिनु, तरनि तासु रिपु होय॥ दो० ५३४

दोहावली में नीति सम्बन्धी दोहे बहुत ही उत्कृष्ट हैं जिससे ज्ञात होता है कि वे परमार्थ चिंतन में रत रहते हुए भी लोक व्यवहार में बड़े प्रवीण थे, उन्होंने ऐसी सूझ बूझ की बातें कही हैं, जिससे उनका अत्यन्त अनुभवी होना झलकता है और ऐसा लगता है कि इन्होंने सांसारिक व्यवहार को बहुत निकट से देखा था, यथा—

---

[1] सेवक सठ, नृप कृपन, कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥ रा० कि० ७

[2] घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाइ॥ दो० २५६

तुलसी सो समरथ, सुमति सुकृती साधु सयान।
जो विचारि व्यवहरइ जग, खरच लाभ अनुमान ॥ दो० ४७१
तूठहिं निज रुचि काज करि, रूठहिं काज बिगारि।
तीय तनय सेवक सखा, मन के कंटक चारि ॥ ४७६ ॥
सिष्य सखा सेवक सचिव सुतिय सिखावन साँच।
सुनि समुझिय पुनि परिहरिय पर मनरंजन पाँच ॥ ४७४ ॥
बहु सुत, बहु रुचि, बहुबचन, बहु अचार-व्यवहार।
इनको भलो मनाइबो यह अज्ञान अपार ॥ ४९० ॥
तुलसी बैर सनेह दोउ रहित विलोचन चारि ॥
सुरा सेवरा आदरहिं निंदहिं सुरसरि बारि ॥ ३२६ ॥
बरषत करषत आपु जल हरषत अरघनि भानु ॥
तुलसी चाहत साधु सुर सब सनेह सनमानु ॥ ४५५ ॥

भगवत् चर्चा के अतिरिक्त व्यक्ति विशेष की निंदा-स्तुति करना गोस्वामी जी की प्रकृति के विपरीत था। विधर्मियों और पंडे-पुजारियों के बहकावे-फुसलावे में आकर अंध-विश्वास में पड़ी हुई जनता को देख गोस्वामी जी के हृदय में तरस या कुढ़न उत्पन्न होती थी, इसलिए उन्होंने ऐसे लोगों की भर्त्सना की है यथा—

'लही आँखि कब आँधरे,बांझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग वहराइच जाय ॥
तुलसी दान जो देत हैं, जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवै नहीं दाता नरकै जाय ॥ दो० ५३३

जप-तप, शास्त्र-पुराण, तंत्र-मंत्र, देवी-देवता के प्रति उनकी आस्था थी।[1]

---

[1] —'जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन सकल सादर करवाये ॥
कृश शरीर मुनि-पट परिधाना। सत समाज नित सुनहि पुराना ॥
'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पद पंक रुह, दंपति मन अति लाग ॥१४३॥
करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा ॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। वारि अधार मूलफल त्यागे ॥रा०बा०१४४
और—'जंत्र-मंत्र वूट टोटकादि तो अनेक किए,
बादि भएं देवता मवाए अधिकाति है ॥क० उ०

भारतीय संस्कृति और हिन्दू तीर्थ-व्रत, आचार-व्यवहार के बड़े पक्के पोषक ।[1] जो लोग इन सांस्कृतिक-संस्थानों की निन्दा करते थे, उनके प्रति उन्होंने और घृणा के भाव व्यक्त किये हैं। इस अर्थ में वे परम्परावादी थे, यथा—

'ईस सीस बिलसत सदा· तुलसी तरल तरंग।
स्वान सरावगि के कहे, लघुता लहै न गंग॥
हम लखु हमहि हमार लखु हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै, रामनाम जपु नीच॥

गोस्वामी जी के शिष्य श्री रामू द्विवेदी ने गोस्वामी जी को 'कुल-शील-मा' कहा है, जिससे स्पष्ट है कि वे अत्यन्त शीलवान थे। उन्होंने सत्संग की महिमा गाई है और पवित्रात्मा ब्राह्मणों एवं साधु-समाज की प्रशंसा की ।[2] गोस्वामी जी की रचनाओं में जहाँ कहीं श्री रामचन्द्र जी का शील रूपण किया गया है अथवा श्री रामचन्द्र जी द्वारा उपदेश दिलाया गया है, हाँ-वहाँ श्री गोस्वामी जी में अंतर्भूतशील ही मुखर हो रहा है। वे जब रामचन्द्र जी का शील निरूपण करते हुए कहते हैं कि—

'जीति हारि पुचकारि दुलारत देत दिवावत दाउ।
प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सों, साहब शील-निधान॥
रहति न प्रभु चित चूक किएकी। करत सुरति सौ बार हिए की॥

यं श्री रामचन्द्र जी द्वारा चिंतन कराते और कहलाते हैं—

---

[1]—एहि विधि राम सबहिं सिरनावा। गुरुपद पदुम हरषि सिरनावा॥
गनपति गौरि गिरीसु मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥रा० अ० ८१
पंच कौर करि जेंवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे॥रा० बा०३२९
रचीं आरती बहुत विधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना॥
कनक थार भरि मंगलनि, कमल करनि लिए मात
चलीं मुदित परिछन करन, पुलक पल्लवित गात॥रा० बा० ३४६

[2]—'विनु-सत्संग बिवेक न होई। राम कृपा विनु सुलभ न सोई॥
और—'भक्ति सुतंत्र सकल गुनखानी। बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥ रा०उ०४५

जनमें एक संग सब भाई। भोजन, शयन, केलि, लरिकाई
विमल वंश यह अनुचित एकू। लघुन विहाइ बड़े अभिषेकू।
ह्वै हैं कौन विभीषन की गति रही सोच भरि छाती।
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई॥

इस प्रकार अपने नायक के उदात्तशील का चित्रण वही महाकवि कर सकता है, जिसके शील का स्तर इसी प्रकार ऊँचा उठा हुआ हो एवं जो अत्यन्त परिमार्जित रुचिका, सात्विक स्वभाववाला तथा परम उदार हो।

गोस्वामी जी ने सारे भारत का भ्रमण किया था। उनकी जीवन धारा विविध प्रकार की परिस्थितियों से गुजरी थी एवं उनका अनेक प्रकार के लोगों से पाला पड़ा था।[१] सब प्रकार के लोगों से उनका संपर्क था। नाना शास्त्रों इतिहास पुराण और विद्याओं का उन्होंने अध्ययन किया था।[२] इन सब कारणों से वे अत्यन्त अनुभवी बन गए थे। वे स्वभावतः समन्वयवादी थे। उनके मन से संकीर्ण संप्रदायवाद और तत्सम्बन्धी कट्टरता तथा रूढ़िवादिता दूर हो गई थी।[३] उन्होंने अपने नायक नायिकाओं का अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। मंथरा सी सहज द्वेषी दासी, कैकेयी सी संशयात्मानारी, सीता सी सती और कौशल्या सी गंभीर विदुषी माता का चरित्र एक ही साथ एक ही दृश्यपट पर देखते ही बनता है। श्री राम, लक्ष्मण और भरत एक ही पिता के पुत्र हैं किन्तु उनके शील स्वभाव में जो सूक्ष्म अन्तर है, वह देखने की वस्तु है। इन बातों से प्रकट है कि गोस्वामी जी एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषक थे। गोस्वामीजी समाज सुधारक संत ही नहीं समाजशास्त्री भी थे। उनकी विचारधारा क्रांतिकारी और विकासवादी थी। एक ओर मुगल काल के वैभव विलास और दूसरी ओर नंगी भूखी जनता को देख वे तड़प जाते थे।[४] असामाजिकता, अन्ध विश्वास और अनाचार का उन्होंने व्यवहारतः विरोध किया। वे राष्ट्र के उन्नायक थे। उनकी राष्ट्रीय भावना सर्वत्र ही दृष्टिगोचर हो रही है। उनका राष्ट्रवाद मानवतावाद का विरोधी न होकर उसका पूरक और प्रकाशक था। उनका सिद्धान्त था—

१—कहा न गयो, कहा न कियो, सीस काहि न नायो — वि०प०

२—नाना पुराण निगमागमसंम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ॥रा०वा० (मगलाचरण)

३—'शिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम की होई ॥रा०उ०

४—'देव न दयाल महिपाल न कृपाल चित' जीविका बिहीन
सब सीघमान सोच बस, नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं'
आदि उक्तियाँ उनके करुणा विगलित हृदय के ही स्फार हैं।

'सियाराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

वे जैसे समाज के त्यागी, तपस्वी, विद्वान और महान् लोगों को श्रद्धा तथा आदर का पात्र समझते थे, वैसे ही दीन-दुःखी और छोटे कहे जानेवाले लोगों को सहानुभूति और स्नेह का पात्र। उनकी कार्य-प्रणाली लोक कल्याण की ओर उन्मुख और विचारधारा समता की भूमि पर आधारित थी। उनके विशाल हृदय में सारा विश्व समाविष्ट था। उनकी प्रतिभा प्रखर और बुद्धि निर्मल थी। शैव और सदाचार उनकी सांप्रदायिक विशेषता थी। कुलीन वंश का शील-स्वभाव, निःस्वार्थ साधु भावना तप-त्याग उदात्त विचार और लोकसेवा की प्रवृति उनके निजी या परम्परागत गुण थे। उनमें धर्म के प्रति अटल श्रद्धा-विश्वास, आस्तिक ग्रन्थों के प्रति आस्था और सब दशाओं में भगवान राम का सर्वतो भावेन भरोसा था। वे संसार के इनेगिने महापुरुषों में हैं, इसलिए महापुरुषों की महिमा और उनके समस्त महान् गुण उनमें पाए जाते हैं।

लोक साधना का स्वरूप—

गोस्वामी तुलसीदास लोक साधना के जिस क्षेत्र में दिखाई देते हैं, उसी में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। संत, रामभक्त, समाज-सुधारक, अध्यात्मिक प्रगतिवादी, समाजवादी नीतिज्ञ, बहुज्ञ मनीषी, विद्वान्, अनुभवी, अक्खड़, सूक्तिकार, कवि आदि अनेक रूपों में वे हमारे सामने आते हैं, पर प्रधानतः वें रामभक्त संत हैं।

जैसे संपूर्ण दृश्य जगत् सूर्य की प्रभा से प्रतिभासित है, परन्तु सूर्य का स्पष्ट प्रतिबिंब निर्मल-स्थिर जलाशय अथवा स्वच्छ दर्पण पर ही पड़ता है, वैसे ही यद्यपि भगवान् राम से ही संपूर्ण संसार दृश्य है, परन्तु उनका सम्यक् निवास सन्तजनों के ही सरल-शांत-निष्कलुष हृदय में है। भगवान् की निवास योग्य भूमियों का निरूपण करते हुए उनसे महर्षि बाल्मीकि कहते हैं—

'तुमहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट-भूषन धरहीं ॥
सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेखी ॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा ॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिनके उर माहीं ॥
मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहिं विधिनाना। विप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना ॥
तुम तें अधिक गुरुहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी ॥

सबकर मांगहिं एक फल रामचरन रति होउ।
तिनके मन-मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ ॥

काम क्रोध मदमान न मोहा। लोभ न छोभ राग न द्रोहा ॥
जिनके कपट दंभ नहिं माया। तिनके हृदय बसहु रघुराया ॥
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिनके मनमाही ॥
जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव विष तें विष भारी ॥
जे हरखहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर विपति विसेखी ॥
जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे। तिनके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥
स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिनके सब तुम तात।
मन मंदिर तिनके बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात ॥
अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति निपुन जिनकइ जग लीका। घर तुम्हार तिन कर मन नीका ॥
गुन तुम्हार समझहि निज दोषा। जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा ॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥
जाति-पाँति धन-धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ उरलाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥
सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना ॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा ॥
जाहि न चाहिय कबहु कछु, तुम सन सहज सनेह
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह ॥ रा०बा० १२६-३१

देवर्षि नारद के पूछने पर स्वयं भगवान् राम ने सन्तों का लक्षण इस प्रकार बताया है—

'सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन ते मैं उनके बस रहऊँ ॥
षट् विकारजित् अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ॥
अमित बोध, अनीह मित भोगी। सत्यसार कवि कोविद जोगी ॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना ॥
गुनागार संसार-दुख रहित विगत—संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन कहँ देह न गेह ॥

निजगुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरखाहीं ॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती ॥
जप तप ब्रत दम संयम नेमा। गुरु-गोविंद-विप्र पद प्रेमा ॥
श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
विरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना ॥
दंभ-मान-मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रतलीला ॥
रा० अ० ४५-४६

काकभुशुंडजी गरुड़ जो से संक्षेप में सन्तों का गुण इस प्रकार कहते हैं—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया ॥
सन्त सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी ॥
भूरुज तरु सम संत कृपाला। परहित नित सह विपति विसाला ॥
रा० उ० १२१

और तुलसीदास ने सतों की विशिष्टता निम्नांकित शब्दों में व्यक्त की है—

'बंदौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ ॥
संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाव सनेहु।
बाल-बिनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु ॥ रा० बा० ३

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदास के 'सन्त-स्वभाव' का आदर्श क्या है? उनके सम्पूर्ण वाङ्मय पर विचार करने से विदित होता है कि वे अपनी ही की हुई उक्त परिभाषा पर खरे उतरते हैं। ऊपर सन्तों के जो लक्षण बताए गए हैं, वे सभी तुलसी में प्रभूत रूप से विद्यमान थे। वे अत्यंत शांत-दांत, निस्पृह निर्द्वन्द्व, उदारता-सरलता के आगार नम्रता-निरभिमान की मूर्ति तथा दया-क्षमा के अवतार थे। अपने अनुभव, अध्ययन, पांडित्य, प्रतिज्ञा, और काव्य कौशल का उन्हें तानक भी गर्व न था। पाखंड और ढोग उन्हें अच्छा नहीं लगता था। एक मात्र राम का भरोसा करते थे। अपनी सारा सुविधाओं प्रयासों और गुणों को भगवान का दिया हुआ, भगवान की कृपा का फल मानते थे। सन्त-स्वभाव ने ही उन्हें समाज-हित की ओर प्रेरित किया। यह सम्पूर्ण-संसार सियाराम मय है इसलिए उनके समक्ष शत्रु-मित्र, बुरा-भला, नोच-ऊच का भेद न था उनमें विना भेद-भाव के 'जगतहित' को वैसी ही भावना थी, जैसे अंजलिगत सुमन

बिना भेदभाव के दोनों हाथों को समान सुगन्धि पहुंचाता है और मेघ सबको समान रूप से जीवनदान देता है। फिर भी वे सांसारिक प्रतिष्ठा के इच्छुक न थे क्योंकि वह सन्त-जीवन को बिगाड़ने वाला और परमार्थ-पथ का बाधक है यथा—

'तुलसी भेंडी की धसनि जड़-जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भों, खोवत मूढ़ अपान॥ दो०

इससे विदित होता है कि धन मान और यश की भावना से उन्होंने कुछ नहीं किया। यदि उनके मनमें तनिक भी सांसारिक भावना होती तो वे 'प्राकृत जन–गुणगान का विरोध ही क्यों करते? उन्होंने जो कुछ किया जगहित' की दृष्टि से 'स्वांतः सुखाय' किया जैसा कि उन्होंने 'श्रीरामचरित मानस' का प्रारम्भ करते समय पूर्व-पीठिका में ही कहा है उनमें अद्वितीय महाकवि होकर 'कवि' कहलाने की भी इच्छा न थी और 'राम' का गुणगान करने के लिए ही वे ग्रंथ-रचना में प्रवृत्त हुए थे, यथा—

'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप राम गुण गावौं॥

कहने से प्रकट है। सर्वता भावेन राम का गुणगान ही जीवन का चरम उद्देश्य है। राम-विमुख-जीवन निःसार और निरर्थक है। राम का गुणगान ही एक मात्र सांसारिक शोक-संताप का शामक और शाश्वत-सुखदाता है। राम-नाम की नौका ही भवसागर के थपेड़ों से बचाकर पार करने में समर्थ है। उन्होंने स्वयं अपने विषय में कहा है—

'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो'—वि० प०

इस राजमार्ग पर चलने से प्रेय-श्रेय, स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ सुलभ है, यथा—

'स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहव खोरि न लाई'-क० उ०

तुलसीदास ने अपना यह अमूल्य-अनुभव लोकहित की भावना से उसी प्रकार प्रतिपादित और प्रचारित किया, जिस प्रकार जगदुःखकातर बुद्ध ने संसार में सुख-शान्ति-निमित्त अपने अनुभवों का प्रकाश और मनका व्यापक प्रचार किया एवं जैसे रामानुजाचार्य ने गुरु के बताए गुप्त बीज मंत्र के रहस्य को सबके लिए खोल दिया।

मध्ययुग में तुलसीदास जैसा समाजसेवी महापुरुष दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ। उनका 'रामचरित मानस' घर-घर में घर कर गया। आज भी उसका घर-घर पाठ होता है। सांसारिक मृग-मरीचिका में व्याकुल भटकते हुए लोग उससे सुख-शान्ति पाते और उसके अनुसार अपना आदर्श जीवन बनाने का प्रयास

करते हैं। सर्वसाधारण में वह वेद की भाँति पूजित और मान्य है। जिस समय समाज सांप्रदायिक-कलह, और राजकीय आतंक से शिथिल, शक्तिहीन; गतिहीन और विचारहीन होकर विखर रहा था, उस समय तुलसीदास ने उसका संगठन कर उसे नई शक्ति नई स्फूर्ति, नई चेतना देकर समाज में नए जीवन का संचार किया। अवरुद्ध मार्ग प्रशस्त बना, जड़ीभूत जीवन गतिशील हुआ। जनता में आत्म विश्वास और आत्म गौरव की चेतना उत्पन्न हुई। उसे राम की असीम शक्ति और अमोघ कृपा का बल मिला। तुलसीदास की समाजवादी भावना, प्रगतिशील विचारधारा और जीवनदायिनी अमृतवाणी का वरदान पाकर जन-जीवन जो विपत्तियों के झंझावात से विलुंठित, दुर्भिक्ष-दावानल से दग्ध और पाप ताप की ऊष्मा से झुलस कर मरुस्थल बन रहा था; आशामेघ की सुवृष्टि से पल्लवित पुष्पित हो उत्साह के सुखद-समीर में झूम उठा! रसा रसार्द्र, वातावरण शीतल स्निग्ध, मानस-मन्दिर सुख-सुरभित, जीवनपथ मनोरम और जनजीवन मधुमय हो उठा। समाज की सुप्त अभिलाषाओं के अंकुर जागे मूक वाणी मुखरित हुई एवं कर्मभूमि के कोलाहल में उषा ने अँगड़ाई ली उत्साह के स्वर फूटे। कवि कोकिल कूकने लगे। भगवद्भक्तों के मनमयूर नाच उठे। घर-घर में मंगल-मोद का प्रवाह उमड़कर बह चला।

तुलसीदास ने जिस व्यक्तिगत जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया जिस पारिवारिक जीवन की झाँकी दी, जिन सामाजिक-सम्बन्धों का गठन किया और जिस राम राज्य की स्थापना की; वह सब केवल कल्पना की वस्तु नहीं, बरंच सब कुछ व्यावहारिक है। उसे समग्र रूप से स्वीकृत करने पर ही समाज सुखी और समृद्ध हो सकता है। व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य को वटवृक्ष के समान स्वयत्न रूपी विविध मूलों से वृद्धि को प्राप्त होते हुए अपने कामों से निरभिमान रहकर बहुत से लोगों को सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला तथा अपनी छाया में आश्रय देनेवाला होना चाहिए यथा—

'तुलसी भल बर तरु बढ़त निज मूलहिं अनुकूल।
सबहिं भाँति सब कहँ सुखद, दलनि फलनि बिनुफूल ।।५२६

तीनों लोकों में वह व्यक्ति दीपक के समान है जो ऐश्वर्य, अधिकार और पद-प्रतिष्ठा पाकर तथा गुणवान, बलवान एवं धर्मशील होकर भी अभिमान-रहित है—

'सधन सगुन, सधरम, सगन, सबल सुसाइँ महीप।
तुलसी जे अभिमान बिनु, ते त्रिभुवन के दीप।।

व्यक्तिगत धर्म के चार अंग हैं--सत्य, सदाचार, तप और दयापूर्वक दान।

इनमें से यदि प्रथम तीन अंगों का पालन न भी हो तोभी उसे सामाजिक हित के कामों में यथाशक्ति दान करते रहना चाहिये। यही कल्याण का मार्ग है--

'प्रकट चारिपद धर्म में कलिमहँ एक प्रधान।
येनकेन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥ दो० ५६१

सबके हित के काम करना वैर का नाशक और सबकी भलाई में लगे रहना प्रेम का आधार है और सबसे विनय पूर्वक बातें करना कल्याण का घर है--

बैर मूल हर हित बचन, प्रेममूल उपकार।
दो'हा' सुभ संदोह सो तुलसी किए विचार॥ दो० ४३४

परन्तु व्यय अपनी आय का विचार करके ही करना उचित है। वही पुरुष सामर्थ्यवान, सुबुध, धर्मात्मा, साधु और सज्ञान है जो उचित-अनुचित का विचार कर अपनी आय के अनुसार ही व्यय करता है।

तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती साधु समान।
जो बिचारि ब्यवहरइ जग, जथालाभ अनुमान॥ दो० ४७१

पारिवारिक-जीवन में अपने बड़ों के अनुशासन में रहना ही उचित है जो पुरुष प्रमादवश अपने बड़ों का अनुशासन नहीं मानता उसका जन्म लेना निरर्थक है--

'मात पिता गुरु स्वामि सिख, सिरधरि करिय सुभाय।
लहेउ लाभ तिन जन्मके नतरु जन्म जग जाय॥ दो० ५४०

परिवार में अथवा कहीं भी कलह नहीं बढ़ाना चाहिये क्योंकि कलह का परिणाम बड़ा बुरा होता है--

'कलह न जानब छोटकरि, कलह कठिन परिनाम।
लगत अगिनि लघु नीच गृह जरत धनिक धनधाम॥ दो० ४२६

इसलिये कलह को बचाकर के ही रहना उत्तम है। यदि कोई अज्ञानवश क्रोध के आवेश में मारने दौड़ता है तो बचकर हट जाना उचित है। उसके बदले में आक्रमण करना उचित नहीं क्योंकि सबके सिरपर भगवान हैं--

भागे भल ओड़ेहु भलो, भलो न घाले घाउ।
तुलसी सबके सीसपर रखवारो रघुराउ॥ दो० ४२४

संसार में अपना पेट भरने और अपनी-अपनी भलाई में तो सभी लगे हुए हैं परंतु प्रशंसा के योग्य वही श्रेष्ठ पुरुष है, जिसका जीवन सामाजिक है तथा जो सबकी भलाई के काम में लगा हुआ है--

आपु-आपु कहँ सब भलो अपने कहँ कोइ-कोइ।
तुलसी सबकहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ ।। ३५८

मनुष्य का उन पक्षियों से शिक्षा लेनी चाहिये, जो एक साथ समाज बनाकर रहते, खाते-पीते और बिना कलह के प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं का उपभोग करते हैं—

'गो खग, खेखग, वारिखग तीनों माहिं विसेक।
—तुलसी पीनैं, फिरिचलैं, रहैं, फिरैं संग एक ।। दो० ५३८

किसी भी राष्ट्र, समाज और परिवार का विकास तभी संभव है, जब उसका मुखिया त्यागी, तपस्वी, सेवाभाव से काम करने वाला और विवेकपूर्वक सब की सुखसुविधा का ध्यान रखते हुए उचित वितरण करनेवाला हो-

मुखिया मुख सो चाहिये खान-पान कहँ एक।
पाले पोषे सकल अंग तुलसी सहित विवेक ।। दो० ५२२

नीति-निपुण राजा को माली, किसान और सूर्य की भाँति होना चाहिए जैसे माली और किसान उचित स्थल पर पौधे को लगाते हैं, उसके लिए उचित खाद और पानी की व्यवस्था करते हैं, तथा उसकी सब प्रकार से रक्षा करते हुए उसे विकसित करते हैं। सूर्य जैसे प्रकाश देकर उसे बढ़ाता है, वैसे ही राजा को भी प्रजा को यथायोग्य काम देकर, उसके लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था कर, चोर-बदमाश, रोग आदि और बाहरी शत्रुओं से सुरक्षित रखकर, एवं समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर उसकी वृद्धि करनी चाहिए। जैसे सूर्य अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-थोड़ा जल खींच कर मेघ द्वारा संसार को सींचता है वैसे ही राजा को भी अल्प-मात्रा में अप्रत्यक्ष कर लेते हुए और प्रजा को प्रसन्न रखते हुए प्रजा का सिंचन एवं परिवर्द्धन करना उचित है—

'माली भानु किसान सम, नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होंहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल ।। ५०७
बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोय।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होय ।। ५०८

तुलसीदास ने जिस राम-राज्य की रूप रेखा प्रस्तुत की है, उसमें उपर्युक्त सभी विधाएँ विद्यमान हैं। उनके आराध्य राम असामाजिक तत्त्वों के नाशक, सामाजिक-मर्यादा के पोषक, अस्त्र-शस्त्र धारी राम हैं। उन्होंने केवल रामचरित मानस में ही नहीं, प्रायः अपने सभी ग्रन्थों में 'रामचरित' का ही उद्घोष किया है। प्रश्न उठता है कि सभी ग्रन्थों में एक ही वार्त्ता और एक ही चरित्र क्यों? इसका उत्तर यह है कि तुलसीदास का उद्देश्य ग्रन्थ-रचना के द्वारा यश अर्जन

करना नहीं था, वरंच ग्रन्थों के माध्यम से समाज में सबके लिए कल्याणकारी 'रामचरित' सुलभ करना था और इसी उद्देश्य से उन्होंने समाज में भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न शैलियों में 'राम-कथा' का जोगाड़ किया।

इनका 'रामचरित-मानस' जो एक प्रबन्ध काव्य है सूफो-सन्तों की दोहा-चौपाई-शैली में, जिसे 'प्रेमाख्यान-शैली' भी कहते हैं, लिखा गया। इसकी भाषा सूफी-कथानकों की भाँति ही अवधो है। इनके सभी ग्रन्थों में इसका सर्वाधिक प्रचार और महत्त्व है। विनय-पत्रिका, कृष्ण गीतावली और गीतावली गेय पदों में लिखे गए हैं। ये सभी ग्रन्थ भाषा, भाव और काव्य सौष्ठव की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। विनय के पदों का जितना भावपूर्ण और उदात्त संग्रह विनय-पत्रिका में हुआ है, वैसा कदाचित् संसार की किसी भी भाषा के साहित्य में दुर्लभ है। इन ग्रन्थों की भाषा ब्रजी है। कवित्त-सवैया-पद्धति में जिसे 'रीति-कालीन-शैली' कहते हैं, 'कवितावली' और 'हनुमान बाहुक' की रचना हुई है। कवितावली के बाल-कांड में जैसे सुललित और सुन्दर-लंका कांड में ओजस्वी छन्द हैं, वैसे ही उत्तर कांड में निर्वेद को जगाने तथा भक्ति भावना को दृढ़ करने वाले उत्कृष्ट छन्द हैं। हनुमान बाहुक भी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इनकी भाषा ब्रजी है। नीतिकारों की दोहा शैली में इनकी दोहावली और रामाज्ञा प्रश्न हैं। रामाज्ञा प्रश्न में 'रामचरित' कहा गया है, परन्तु दोहावली उत्कृष्ट नीति-ग्रन्थ है। विवाह आदि के अवसर पर स्त्रियों आदि के गाने योग्य लोकगीत शैली में जानकी मंगल, पार्वती मंगल और रामलला नहछू, का निर्माण हुआ है। विनय पत्रिका का कहरवा गीत और कवितावली के झूलना इसी शैली में रचे गए हैं। वीरगाथा काल की चारण शैली में भी इन्होंने छप्पय तोमर आदि छन्दों की रचना की है, जो कवितावलो और रामचरित-मानस में मिलते हैं।

यद्यपि उन्होंने एक ही रामचरित का अपने विविध ग्रन्थों में वर्णन किया है, परन्तु भाव, भाषा और कथोप-कथन के विधान में कहीं पुनरुक्ति नहीं होने पाई है। सर्वत्र नवीनता और अनूठापन का दर्शन होता है, इसो से इनकी रचनाएँ पढ़ते-पढ़ते मन नहीं ऊबता और पाठक का उसमें सब कहीं मन रम जाता है। उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सब प्रकार के लोग उसके पठन-पाठन की रुचि रखते हैं और अपनी समझ के अनुसार आनन्द लाभ करते हैं। उसे पढ़कर भी पुनः-पुनः पढ़ने की इच्छा रहती है। इसका कारण उसकी भाषा का प्रसाद गुण पूर्ण होना, नाटकीय कथोपकथन शैली उत्कृष्ट चरित्र चित्रण तथा उसमें समाजोपयोगी विषयों का विषद विवेचन हैं।

प्रसिद्ध समालोचक श्री गुलाब राय लिखते हैं कि—'तुलसी कलावादी नहीं थे वरन् हितवादी थे। उनका हितवाद हृदयवाद से समन्वित था। संक्षेप में हम

कह सकते हैं कि तुलसी का सृजन सिद्धांत हित समन्वित हृदयवाद था। इसी हितवाद के कारण तुलसी ने भाषा की भी परवाह नहीं की।[1] सत्य है, तुलसीदास ने लोकहित की दृष्टि से ही सब लोगों के समझने योग्य भाषा में 'रामचरित' की अवतारणा की जैसा कि कहते हैं—

'कीरति भनित, भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

इससे स्पष्ट है कि काव्य और ऐश्वर्य का गगा के समान पवित्रतम तथा सर्वविध रूप में सवजनोपयोगी होना आवश्यक है। जैसे गंगा के जल से मिलकर कर्मनाशा का जल भी पवित्र बन जाता है, वैसे ही जिस काव्य के प्रभाव से और जिस धन के उपयोग से दुष्ट जीवन भी सुधर कर पवित्र बन जाता है, वही श्रेष्ठ है[2]

'करमनास जल सुरसरि परई। कहहु ताहि को सिर नहिं धरई॥'

किन्तु यह तभी सम्भव है, जब कविता की भाषा प्रसाद गुण पूर्ण वर्ण्य विषय विमल एवं आलंबन महान् हो। जो 'सुजनो' द्वारा आदृत हो तथा जिसकी प्रशंसा शत्रु भी करें—

सरल कवित कीरति विमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करै बखान॥

कविता का निर्मल होना, कवि के निमल विचार पर निर्भर है और निर्मल विचार का आधार है भगवद्भक्ति। इसलिए भगवद्भक्त कवि द्वारा भगवद्भक्ति का निरूपण ही कविता का उद्देश्य होना चाहिए इसी में उसकी सार्थकता है क्योंकि तभी वह लोकोपयोगी हो सकती है—

'रामकथा सुर धेनु सम, सेवत सब सुख दानि।
सत समाज सुरलोक सब, को न सुनै अस जानि॥
रा० बा० ११३

जिस पुरुष के हृदय में भगवद्भक्ति नहीं, वह जीवन धारण करते हुए भी मरे हुए के समान है और वक्ता होते हुए भी उसकी वाणी दादुर की वाणी के समान है यथा—

'जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ राम गुनगाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥'

---

[1]—साहित्य संदेश भाग १३ अंक १ (जुलाई १९५१) पृ० २५

[2]—सोइ धन धन्य प्रथम गति जाकी—रा० मा०

इसलिए लोकोपकार की भावना से जन-जन के मन में रामभक्ति जाग्रत करना और अपनी रचनाओं द्वारा उसका प्रचार-प्रसार ही तुलसीदास का प्रधान उद्देश्य है।

रामभक्ति की अवधारणा का आधार 'राम-चर्चा' है। 'राम-चर्चा' के लिए ही लोक-हित की दृष्टि से भगवान् शंकर ने श्री पार्वती जी के पूछने पर 'राम-कथा' का विस्तार किया था यथा—

'करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥
धन्य धन्य गिरि राजकुमारी। तुम समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥१३०
तुम रघुबीर चरन अनुरागी। पूछेउ प्रस्न जगतहित लागी॥'
राम कृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिं।
सोक मोह संदेह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं॥रा० बा० ११२
तदपि असंका किन्हेउ सोई। कहत सुनत सबकर हित होई॥

'रामकथा' की उद्भावना का जो उद्देश्य 'शिव-पार्वती' के मन में था, उसी उद्देश्य से तुलसीदास ने उसे भाषाबद्ध किया जैसा कि वे कहते हैं—

भाषा बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥
जस कछु बुद्धि बिवेक बल मेरे। तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे॥
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥
बुध बिश्राम सकल जगरंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि
राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी॥
राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥
सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि। भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥
असुर सेन सम नरक निकंदिनि। साधु बिबुध कुलहित गिरिनंदिनि
संत समाज पयोधि रमा सी। विश्व भार भर अचल क्षमासी॥
जम गन मुँह मसि जग जमुनासी। जीवन मुकुति हेतु जनुकासी॥
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदासहित हिय हुलसी सी॥
सिव प्रिय मेकल सैल सुतासी। सकल सिद्धि सुख संपति रासी॥
सदगुन सुरगन अंब अदितिसी। रघुवर भगति प्रेम परमितिसी॥

तुलसीदास का 'स्वांतः सुखाय' उनकी लोकहित की भावना ही है अमर

देखा गया है कि संत का 'स्वांतः सुखाय' लोकहित से भिन्न नहीं होता। स्वयं भगवान राम उनसे भी बढ़कर उनका नाम उन्हें लोकहित की दृष्टि से ही प्रिय है यथा —

गिरा-अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीता राम पद जिनहि परम प्रिय खिन्न ॥रा० बा० १८
प्रभु तरुतर कपि डार पर, ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सो साहब सील निधान ॥
राम निकाई रावरी है सवही को नीक।
जौं यह सांची है सदा तौ नीको तुलसीक ॥रा० बा० २९
और—'निरगुन ते एहि भांति बड़ नाम प्रभाव अपार।
कहउँ नाम बड़ राम तें निज बिचार अनुसार ॥२३॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद बिदित गुनगाथ ॥२४॥
ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जियजानि ॥२५॥

यदि उनका उद्देश्य ख्याति और प्रतिष्ठा लाभ के लिए ग्रन्थ निर्माण करना होता तो वे कदापि संस्कृत छोड़ लोक भाषा में रचना न करते और अपने विषय में इस प्रकार न कहते—

'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला वुद्धि विद्याहीनू ॥

फिर भी उनको विश्वास था कि समाज में उनकी रचनाओं का सम्मान होगा क्योंकि इसमें लोकहितकारी रामचरित है यथा—

'भनिति मोर सब गुन रहित विस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिनके बिमल बिबेक ॥९॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥
जदपि कवित रस एको नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि मांहीं ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। को न सुसंग वड़प्पन पावा ॥
भनित भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी ॥

उनकी दृष्टि में वह रचना हो अशोभनीय और अमर्यादित है, जिसमें लोकहितकारी रामनाम का अभाव है, यद्यपि वह रचना किसी अच्छे कवि की ही हो। इसके विपरीत कुकवि का वह वाणी भी बुद्धिमानों में आदर पाती है, जिसमें लोकहितकर रामयश वर्णित है यथा—

भनित विचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधु बदनी सब भाँति सवारी। सोह न बसन बिना बरनारी॥
सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताहीं। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥१०॥

कविता का उद्देश्य ही रामभक्ति का निरूपण होना चाहिए। जो लोग रामयश का वर्णन छोड़ केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए मनुष्यों की झूठी बड़ाई करते हैं, वे व्यर्थ ही वाणी को कष्ट देते हैं। ऐसे लोगों को भी रामयश के कथन द्वारा अपनी वाणी को सार्थक करना चाहिए, यथा—

भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाहि न कोटि उपाए॥
कवि कोबिद अस हृदय विचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥

इस प्रकार तुलसीदास की काव्य रचना का उद्देश्य लोक मंगल की भावना से 'सर्वजन सुखाय' और 'सर्वजन हिताय' रामभक्ति का प्रचार तथा प्रसार करना है। अपने इस उद्देश्य में वे पूर्णतः सफल भी हुए हैं।

कवि-कर्म

तुलसीदास के कवि कर्म का उद्देश्य लोकरंजन मात्र नहीं, लोक कल्याण है। यदि कोई उनकी कृतियों की खिल्ली उड़ाकर प्रसन्नता—लाभ करता है, तो इसमें भी वे अपनी सफलता ही मानते हैं, यथा—

'कवित रसिक न रामपद नेहू। तिन कहँ सुखद हास रस एहू॥'

अस्तु उनकी कला का उद्देश्य केवल कला नहीं 'जीवन' है, और शाश्वत जीवन है। शाश्वत-जीवन 'सत्य' पर प्रतिष्ठित है इसलिए जिस किसी भी रूप में वे सत्य की ही प्रतिष्ठा करते रहते हैं। उन्हीं का वचन है—'सत्य कहौं लिखि कागद कारे।'

आध्यात्मिक दृष्टि से हीन लोग संसार को जिस प्रकार देखते कहते और सुनते हैं, यथार्थ में वह सत्य नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि—

विभक्त रूप में प्रतिभासित संसार को अविभक्त रूप में देखने वाली दृष्टि ही वास्तविक देखती है। ऐसी स्थिति में 'लोकहित' और 'स्वहित' में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अस्तु जो लोकहित है वही सत्य है। महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने धर्मव्याध से कहलाया है—

'यद्भूत हितमत्यंतं तत्सत्यमिति धारणा'—म० व० २०६।२

तुलसीदास की रचनाओं में यही सत्य सर्वत्र प्रतिष्ठित है। उनकी रचना का कोई अंश नहीं, एक वाक्य और एक शब्द भी नहीं, जहाँ उक्त सत्य विद्यमान नहीं! जो शिव है, वही सत्य है और वही सुन्दर भी है। वही सेव्य और वही भव्य है।

सत्य-सत्य इसलिए है कि वह सरल होता है, शिव इसलिए है कि मर्यादित और उत्कर्षकारी होता है। एवं सुन्दर इसलिए कि आकर्षक, प्रभावक और विकसनशील है। तुलसीदास जी की रचनाओं में ये सारी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उसकी सरलता का तो सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उसे सब लोग पढ़ते और समझते हैं। उसमें कहीं भी भावातिरेक से मर्यादा का अतिक्रमण नहीं हुआ है और न कहीं अश्लीलता आने पाई है। जहाँ ऐसी परिस्थिति आई भी है, उन्होंने उसे स्वाभाविक ढंग से बचा लिया है और मर्यादित कर दिया है यथा—

'जगत मातु पितु सम्भु भवानी। तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी॥
रा० बा० १०३

श्री सीता जी की शोभा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

'जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रगट देखाई॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छविगृह दीप सिखा जनु बरई॥
रा० बा० २३०

उनका वर्ण्य विषय स्वयं 'मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का चरित्र है, जिनका अवतार ही मर्यादा की रक्षा के लिए हुआ था। भगवान् राम का 'मर्यादा-रक्षा' का कितना ध्यान है, जनकपुर में श्री सीता जी का प्रथमबार रूप दर्शन कर उनकी चित्तवृत्ति चंचल हो उठी है, किन्तु उसे वे अपने भाई लक्ष्मण जी के समक्ष किस मर्यादित ढंग से व्यक्त कर रहे हैं—

'तात जनक तनया यह सोई। धनुष यज्ञ जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लै आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥
जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥

सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ॥
मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुं परनारि न हेरी॥२३१॥

मर्यादा की ही दृष्टि से वे शृंगवेर पुर में पिता के प्रति कटु वचन कहने से लक्ष्मण को मना करते हैं और सुमन्त से उसे कहीं व्यक्त न करने की प्रार्थना करते हैं—

'पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखनु संदेस कहिय जनि जाई॥
रा० अ० ९६

लक्ष्मण जी जब श्री परशुराम जी के साथ अमर्यादित वादविवाद करने लगते हैं तो उसे सब लोग अनुचित कह उठते हैं एवं श्री रामचन्द्र जी उन्हें आँखों के इशारे से और फिर आँखें तरेर कर उन्हें मना करते हैं तथा परशुराम जी से इस औद्धत्य के लिए क्षमा मांगते हैं यथा—

सुनि लछुमन बिहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।
गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम॥ रा० बा० २७८
अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुग पानी॥
सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना। बालक बचन करिय जनि काना॥
बरैं बालक एक सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ॥ २७९

भगवान शंकर ने भी मर्यादा का परिपालन न करने वाले काकभुशुंड को उनके पूर्व जन्म में शाप दिया था, वे कहते हैं—

'जो नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥ रा०उ०१०७

सामाजिक मर्यादा का परिपालन न होने से समाज विशृंखल हो जाता तथा समाज का पतन एवं व्यक्तियों का विनाश हो जाता है। कामदेव, प्रताप भानु, बालि और रावण का नाश मर्यादा भंग करने के कारण ही हुआ। रामचरित्र की विशिष्टता उनके द्वारा मर्यादा परिपालन ही है। यही व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष का आधार है यथा—

'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥

'रामचरित मानस' के चरित्रों में जहाँ-जहाँ 'मर्यादा' का ध्यान है, वहाँ-वहाँ उत्कर्ष की उपलब्धि भी स्पष्ट है। निषाद राज, कोल किरात, बन्दर-भालु

सुग्रीव-विभीषण और काकभुशुंड की स्थिति का अवलोकन इस संदर्भ में किया जा सकता है। निषादराज दूर ही से महर्षि वसिष्ठ को दण्डप्रणाम करते हैं, परंतु मुनि निषाद को हृदय से लगा लेते हैं। कोलकिरात अयोध्यावासियों के साथ जिस मर्यादा का परिपालन करते हैं, उससे वे भी उनका आतिथ्य ग्रहण करने में संकोच नहीं करते। बन्दर भालु उच्छृंखल वनवासी पशु होकर भी मर्यादा पुरुषोत्तम की मर्यादा से अनुप्राणित होकर देवता बन जाते हैं। सुग्रीव-विभीषण भी राज्यलोभ से नहीं वरन् लोकमर्यादा को दृष्टि में रखकर भगवान राम के शरणापन्न हुए थे। एक की अन्याय पूर्वक पत्नी हर ली गई थी और दूसरे ने पर-पत्नी के हरण का विरोध किया था। काकभुशुंड ने लोमस की मर्यादा का ध्यान रखा और वही उनके उत्कर्ष का कारण बना।

तुलसीदास मानव प्रकृति के बड़े भारी पारखी और मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने मानव प्रकृति का बड़ी सूक्ष्मता से सजीव और सुन्दर चित्रण किया है। यही कारण है कि उनकी रचना पाठक के मन को प्रभावित किए बिना नहीं रहती और उसे अपनी ओर खींच लेती है।

संशय मनुष्य के मन की सबसे बड़ी दुर्बलता है, इसलिए संशय का निवारण निश्छल भाव से कर लेना उचित है अन्यथा वह विनाश का कारण बनता है। कहा भी है—'संशयात्मा विनश्यति।' सती का छल और संशय ही उनके दग्ध होने का कारण बना। इसी प्रकार सब पर अधिकार करने की भावना भी मनुष्य का नाश कर डालती है। अधिकार के लोभ ने प्रताप भानु जैसे धर्मशील राजा को मतिमंद बना दिया और वे ठगे गए। कुसंगति में पड़कर मनुष्य किस प्रकार बुराई में ही भलाई समझने लगता है, यह कैकेयी और मंदरा के संवाद से स्पष्ट है। अहंकार के कारण मनुष्य अच्छी बातों को भी किस प्रकार बुरा मानता है, इसके लिए विभीषण और रावण की बातचीत देखी जा सकती है। ठग लोग किस प्रकार सज्जनों को फँसा लेते हैं, इसके सम्बन्ध में 'कपट मुनि' और कालनेमि के कृत्य देख सकते हैं। नम्रता और अनुद्विग्नता किस प्रकार मनुष्य के विनास का कारण बनती हैं, यह लोमस-काकभुशुंड प्रसंग में प्रकट है। यहाँ रामचरित मानस से मानवीय मनोभावों और व्यापारों के कतिपय रमणीय चित्र उपस्थित किए जा रहे हैं—

श्री नारद जी द्वारा 'काम विजय' की अभिमान पूर्वक कही हुई बात सुनकर विष्णु भगवान् पर क्या प्रभाव पड़ता है और वे नारद जी से किस प्रकार बातचीत करते हैं, देखिए—

'रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्री भगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं मोह मार मद मान ॥१२८

इसके बाद नारद का कथन सुनिए—

'नारद कहेउ सहित अभिमाना । कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥

फिर क्या हुआ ? लौटते हुए मार्ग में नारदजी पर कामदेव की कृपा हुई। वे मायापुरी में राजा शीलनिधि की सुन्दरी कन्या को देख मोहित हो गये। उन्होंने बड़े अनुनय-विनय से भगवान का 'हरिरूप' माँगा 'हरि' का अर्थ बन्दर भी होता है। भगवान ने उन्हें बन्दर का रूप दे दिया। वे उसी रूप को विष्णु का रूप समझ राजकन्या के स्वयंवर में जा बैठे। उन्हें देखकर 'महेश-गण' कूट करते हैं फिरभी काम-कौतुक वश वे उसे समझ नहीं पाते। राजकन्या उनके विकट रूप को देख जल उठती है और भूलकर भी उनकी ओर दृष्टि नहीं डालती है, परन्तु नारद की दशा कुछ और ही है—

'पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं । देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥

जब महेशगणो के कहने पर उन्होंने दर्पणोदर जल में अपना मुँह देखा, तबकी दशा का अवलोकन कीजिए—

'फरकत अधर कोप मन माहीं । सपदि चले कमलापति पाहीं ॥
देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई । जगत मोरि उपहास कराई ॥

श्रीरामचन्द्र जी की बाललीला का एक दृश्य—

'भोजन करत बोलावत राजा । नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥
कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई ॥
निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ॥
धूसर धूरि भरे तनु आए । भूपति बिहँसि गोद बैठाए ॥
'भोजन करत चपल चित, इतउत अवसर पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ ॥बा०२०३

और सीता स्वयंवर का एक दृश्य यह है—

'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे । भटमानी अतिसय मनमाखे ॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई । चले इष्ट देवन सिर नाई ॥
तमकि ताकि तकि सिव धनु धरहीं । उठइ न कोटि भाँति बल करहीं ।
जिनके कछु बिचार मन माहीं । चाप समीप महीप न जाहीं ॥
तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठहिं न चलहिं लजाइ ।
मनहुँ पाइ भट बाहुबल, अधिक अधिक गरुआइ ॥२५०

रा दृश्य श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के निकट गमनकाल का है। सीता की दशा खिए—

तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय विनवति जेहि तेही ॥
मनही मन मनाय अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी ॥
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चाप गरुआई ॥
देखि देखि रघुवीर तन सुर मनाय धरि धीर।
भरे विलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर ॥२५७॥
नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥
विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरिस सुमन किमि बेधि ा हीरा ॥
सकल सभा कै मति भइ भोरी। अब मोहिं संभु चाप गति ोरी ॥
निज जड़ता लोगन पहँ डारी। होहि हरुअ रघुपतिहिं नि ारी ॥
अति परिताप सीय मन माही। लव निमेष जुग सइ सम जाहीं ॥
प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधु मंडल डोल ॥
गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥
लोचन जल रहु लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥

कवितावली में लंका के अग्निकांड और लंका कांड के हनुमान जी के युद्ध के चित्र ऐसे ही हैं—

कुलबधु की मर्यादाशीलता का यह चित्र कितना मनोमोहक और उत्कृष्ट है। वनमार्ग में ग्राम वधुएँ श्री सीता जी से यह जानना चाहती हैं कि उनके साथ के दोनों कुमार उनके कौन हैं? इसका उत्तर सीता जी किस शालीनता के साथ देती हैं, देखते ही बनता है—

'सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुका ी ॥
तिन्हिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर बरनी ॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी ॥
सहज सुभाव सुभग तन गोरे। नामु लखन लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि ॥

भईं मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह राय रासि जनु लूटी॥
अति सप्रेम सिय पाँय परि बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिन होहु तुम, जब लगि महि अहि सीस॥रा० अ० ११७

तुलसीदास मनुष्य स्वभाव के ही नहीं पशु स्वभाव के भी पारखी हैं एक शिकार के दृश्य में शिकार और शिकारी दोनों की गतिविधियों का अवलोकन कीजिए—

'फिरत विपिन नृप दीख बराहू। जनु तन दुरेउ ससिहिं ग्रसि राहू॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीं॥
घुरघुरात हय आरौं पाए। चकित बिलोकत कान उठाए॥
नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराह।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हाँकि न होय निबाह॥१५६॥
आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत गति भाजी॥
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना॥
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा
॥रा० बा०॥

श्री रामचन्द्र जी को वनमार्ग में गंगातट तक पहुंचाकर सुमंत खाली रथ अयोध्या को लौट रहे हैं। सुमंत की जैसी दशा है वैसी तो है ही, श्री राम के बिरह में व्यथित घोड़े की दशा भी विषाद बढ़ा रही है—

'रथ हांकेउ हय राम तन देखि देखि हिहिनाहिं।
देखि निषाद विषाद बस, धुनहिं सीस पछताहिं॥अ० ९९

इन्होंने यथावसर प्रकृति का भी वड़ा सुन्दर सजीव एवं सांगोपांग चित्रण किया है, परन्तु उसे वे केवल मनोरंजन के लिये प्रस्तुत नहीं करते, वरन् उसके माध्यम से भी वे अपने मतलब की बात कह जाते हैं तथा अभीष्ट प्रसंग का स्पष्टीकरण करते हैं—

पुनि प्रभु गए सरोवर तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा॥
संत हृदय जस निर्मल वारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥
जहँ तहँ पियहिं विविध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥
पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म।
मायाच्छन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म॥

सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्म सीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं॥
बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
बोलत जल कुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
चक्रबाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥
ताल समीप मुनिन गृह छाए। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए
॥रा० अर० ३९-४०

तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता उनका भाषा पर अधिकार है। उन्होंने जिस प्रकार कठिन से कठिन संस्कृतनिष्ठ शैली जैसे—

'जयति मंदोदरी केस-कर्षन विद्यमान, दसकंठ भट मुकुटमानी।
भूमिजा दुःख संजात रोमांचकृत जातना जंतु कृत जातुधानी॥वि०२९

का स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है, वैसे ही लोक प्रचलित ठेठ शब्दों से संयुक्त शैली का भी, यथा—

'बांस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे॥

वे किसी भी दृश्य, भाव और विवरण को उपयुक्त शब्द योजना द्वारा सजीव और मूर्त्त रूप में खड़ा कर देते हैं। पाठक उस रमणीय चित्र को देखता हुआ उसमें तन्मय हो जाता है, यथा—

'जलज नयन जलजानन जटा हैं सिर
जौवन उमंग अंग उदित उदार हैं।
साँवरे गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी सी,
मुनि पट धारैं उर फूलनि के हार हैं॥
करनि सरासन सिलीमुख निषंग कटि,
अति ही अनूप काहू भूप के कुमार हैं।
तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि
रहे नरनारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं॥क० अ० १४

उनकी शब्द योजनायें और वर्ण-विन्यास प्रसंगानुसार स्वतः तथोक्त व्यापार और क्रिया को ध्वनित करते चलते हैं यथा—

'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदभी दीन्हीं। मनसा बिस्व विजय कह कीन्हीं ॥
और—'भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे ॥

उक्ति वैचित्र्य, व्यंग्य, महावरे, लोकोक्तियाँ और लोक प्रचलित प्रयोगों के प्रयोग से इनकी भाषा इतनी प्रभावोत्पादक बन गई है कि पाठक उसके प्रवाह में खो सा जाता है और उसके मन पर उसकी छाप रह जाती है।

इनकी रचनाओं में केवल भाव चित्र ही नहीं है उनका पूर्णरस-परिपाक भी सुन्दर ढग से हुआ है नीचे सभी रसों के नमूने दिये जा रहे हैं।

संयोग श्रृंगार-'राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नगकी परछाहीं
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं ॥क० बा० १७
वियोग श्रृंगार—'कह सीता विधि भा प्रतिकूला। मिलहिं न पावक
मिटहिं न सूला ॥
देखियत प्रकट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा ॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहिं जानि हतभागी ॥
सुनहु विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना ॥
रा० सु० १२
करुण—जागे सकल लोग भएँ भोरू। गे रघुनाथ भयउ अति सोरू ॥
रथकर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं ॥
मनहुँ बारि निधि बूड़ जहाजू। भयउ विकल बड़ बनिक समाजू
॥रा० अ० ८६
और—'रानी मैं जानी अजानी महा पवि पाहन हूते कठोर हियो है।
राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जिन कान कियो है।
ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि, राखिबे जोग, तिन्हे किमि कै बनवास दियो है ॥
क० अ०
वीर—'दबकि दबोरे एक वारिधि में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।

पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक
चीरि फारि डारे, एक मीजि मारे लात हैं ॥क० लं ४१

रौद्र—'तोरौं छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु हाथ ॥रा० बा० २५८

भयानक—बीथिका वजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पँवरि पगार प्रति बानर विलोकिए।
अध उर्द्ध वानर, विदिसि दिसि बानर हैं,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए।
मूँदे आँख हीय में, उघारे आँख आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए।
लेहु, अव लेहु तव कोउ न सिखायो मानो,
सोइ सतराइ जाइ, जाहि जाहि रोकिए ॥क० सु० १७

वीभत्स—'धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रह्लाद पति जनु विविध तन धरि समर अंगन खेलहीं ॥रा० लं० ८१

हास्य—'बर अनुहारि वरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥
विष्णु बचन सुनि सुर मुसकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने॥
मनहीं मन महेस मुसुकाहीं। हरि के व्यंग्य बचन नहिं जाहीं॥
रा० बा० ९८

अद्भुत—'जे रजनीचर वीर विसाल, कराल विलोकत काल न खाए।
ते रन रोर कपीस किसोर बड़े बड़जोर परे फग पाए॥
लूम लपेटि अकास निहारिकै, हाँकि हठी हनुमान चलाए॥
सूखि के गात चले नभजात, परे भ्रम बात न भूतल आए ॥क० लं ३०

शांत—'विषया परनारि निसा तरुनाई, सो पाइ पर्‍यो अनुरागहि रे।
जम के पहरू दुख रोग वियोग, बिलोकतहू न बिरागहि रे॥
ममता बस तै सब भूलि गयो, भयो भोर महा भय भागहि रे।
जरठाइ दिसा, रविकाल उग्यो, अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे॥ क०उ० ३१

वात्सल्य—'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपा सिंधु रनधीरहि॥

हृदय विचारति बारहिं बारा । कवन भाँति लंकापति मारा ।।
अति सुकुमार जुगल मम बारे । निसिचर सुभट महावल मारे ।।
भक्ति—मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुवंश मनि, हरहु विषम भवभीर ।।

तुलसीदास जी की रचनाओं में जैसे भावों का उत्कर्ष और रसों का पूर्ण-परिपाक देखा जाता है, वैसे ही अलंकारों का विधान भी मनोहर है। रूपक, उपमा-उत्प्रेक्षा के तो वे मानो जौहरी ही हैं। इनकी उपमायें बहुत कुछ नवीन और अपनी हैं तथा कुछ परंपरानुसार भी हैं यथा—

उपमा—
'अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं मोच विमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से ।
तुलसी मनरंजन, रंचित अंजन, नैन सुखंजन जातक से ।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे ।

उत्प्रेक्षा—
'कुँवर कुँवरि कल भाँवरि देहीं । नयन लाभ सब सादर लेहीं ।।
राम सीय सुंदर परछाँही । जगमगात मनि खंभन माहीं ।।
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा । देखत फिरहिं विबाह अनूपा ।।
दरस लालसा सकुच न थोरी । देखत फिरहिं बहोरि-बहोरी ।।

× × ×

रूपकातिशयोक्ति—
'राम सीय सिर सेंदुर देहीं । उपमा कहि न जाय विधि केही ।।
अरुन पराग जलज भरि नीके । ससिहि भूष अहि लोभ अमीके ।।
रा० बा० ३२५

अलंकारों का प्रयोग इन्होंने केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं किया है, वरन् विषय के स्पष्टीकरणार्थ किया है। इनके लम्बे-लम्बे रूपकों की छटा निराली है। मानस के अयोध्या कांड में कैकेयी की 'रोष नदी' लंका कांड में 'विजय रथ' और 'सोनित सरि', उत्तर कांड में 'ज्ञानदीप' आदि रूपक देखे जा सकते हैं। ऐसा लगता है, तुलसीदास को अलंकारों के विधान के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। 'बरवै' को छोड़ उनकी अन्य सभी रचनाओं में अलंकारों का विधान स्वाभाविक रूप से हुआ है। शब्दालंकारों की भी यही स्थिति है जैसा कि निम्नांकित श्लेष में व्यक्त है—

'रावन सिर सरोज बनचारी। चली रघुबीर सिलीमुख धारी॥'

अनेक स्थलों पर यमक और अनुप्रासों की अनोखी छटा विद्यमान है। निम्नांकित सवैया में अनुप्रास और यमक एक साथ ही गुँथे हुए हैं—

'सिय राम सरूप अगाध अनूप, विलोचन मीनन को जल है।
श्रुति राम कथा, मुख राम को नाम, हिए पुनि रामहिं को थल है॥
मति रामहिं सों गति रामहिं सो, रति राम को, रामहि को बल है।
सबकी न कहै तुलसी के मते, इतनो जग-जीवन को फल है॥

संस्कृत साहित्य में उपमा के लिए कालिदास सर्व प्रसिद्ध हैं। परन्तु इतिहासकार स्मिथ के कथनानुसार तुलसीदास उपमाओं के सुन्दर प्रयोग में कालिदास से आगे बढ़े हुए हैं, अन्य अलकारों की छटा भी दर्शनीय है। विशेषता यह है कि इन अलंकारों के कारण न कहीं कथन में गतिरोध उत्पन्न होता और न कहीं भाषा में कृत्रिमता आ पाई है।

तुलसीदास की रचनाओं में उत्कृष्ट भावभूमि पर रसों के रसायन से निर्मित धुर राम-रस का जो प्रवाह बहाया गया है, वह भक्ति योग के प्रवाह से अमृत-धारा बनकर सुरस और अमर जीवन प्रदान करने वाला है। पाठक उसके प्रवाह में डुबकियाँ लगाकर केवल कुछ क्षणों के लिए काव्यानन्द ही प्राप्त नहीं करता वरंच वह उस दिव्य भूमि में पहुंच जाता है, जो शाश्वत प्रकाश का केन्द्र है, जहाँ दुःख-दारिद्रय, शोक-संताप और मृत्यु की गंध नहीं, जहाँ अमरता और आनन्द है। उनकी रचनाओं में त्याग, तपस्या, प्रेम, सेवा-भाव, कर्म कौशल से ओत-प्रोत उदात्त चरित्रों की प्रेरणा-प्रद झाँकियाँ, अन्धकार पर प्रकाश के प्रसार का दृश्य, रमणीय रूपकों की रूप-राशि, आकर्षण अनुप्रासों की वासंती-वाटिका, अनुपम उपमा-उत्प्रेक्षाओं की पच्चीकारी से जटित रत्नाभरण और प्रकृति के विविध मनोहारी चित्रों की प्रदर्शिनी का एक क्रम से दर्शन होता है। इसी से तुलसी हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य कहे गए हैं, जो सर्वथा उचित है। इनका कवि कर्म कवित्व के विवेक के लिए नहीं, सत्य की प्रतिष्ठा के लिए है इसलिए वह 'सत्यं-शिवं-सुंदरम्' है।

तुलसी का अभीष्ट लोकहित :—

तुलसीदास की रचनाओं का महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि उनके काव्य-कानन में आकर्षण अनुप्रासों की अलौकिक वासंतिकता, अनुपम उपमाओं की दिव्य पुष्प प्रदर्शिनी, रमणीय रूपकों की दर्शनीय बहुरूपता एवं मधुमय नवरसों की अभिनव रसार्द्रता है, वरंच उनका महत्त्व इसलिए है कि उनके द्वारा दुःख-

सागर में पड़े हुए कोटि-कोटि जनों का उद्धार हुआ है, हो रहा है और होगा। तुलसी काव्य की मधुमयी-धारा केवल जीवन की तप्त-मरुभूमि को सुसिंचित और सरस ही नहीं करती, वरंच नव-जागरण, नई चेतना और नवल उत्साह के साथ उसे हरा-भरा बना देती है। उनकी वाणी निष्क्रियता उत्पन्न नहीं करती वरंच सक्रिय बनाती है। पाठक भावों के प्रवाह में बहता हुआ डूब नहीं जाता, वरंच उस किनारे जा लगता है, जहाँ दुःख-द्रारिद्रय, शोक-सताप और निराशा का नाम नहीं। जहाँ प्रकाश का प्रसार, अमरता का उद्घोष और आनन्द का राज्य है। जहाँ त्याग, तपस्या कर्म कुशलता, प्रेम, सेवा भाव और आत्म-विश्वास की प्रेरणा प्रद झाँकियाँ हैं। तुलसी की विशालता पूरे समाज की सीमा या विशालता है। उनके हृदय-स्पंदन में पूरे समाज का हृदय-स्पंदन है इसलिए उनकी वाणी में सम्पूर्ण-समाज की वाणी मुखरित है। उनका 'मानस' सम्पूर्ण समाज का आदर्श है। उनकी 'विनय-पत्रिका' सारे विश्व की विनय-पत्रिका है। उनके गीत अपने नहीं राम के हैं, जो घट-घट में व्याप्त है। तुलसी जब यह कहते हैं—

'यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस विस्वास भरोसो हरो जीव-जड़ताई ॥'

तो यह प्रार्थना उनकी केवल अपने लिए नहीं है वरंच पाप-ताप दुःख-शोक के अथाह-पंक में पड़े हुए सम्पूर्ण जीव जगत् के उद्धार के लिए है। यही कारण है कि उन्होंने साधना के वाह्य-उपकरणों के झमेले में न पड़कर अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार सबके लिए सुलभ प्रयोग प्रस्तुत किए हैं तथा इसी अर्थ में वे समन्वयवादी हैं। उनका कहना है—

'घर कीन्हें घर जात है घर छाँड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाय ॥"

उनका अभीष्ट तो है—'राम-प्रेमपुर', जिसकी साधना से ही दुःखों से मुक्ति मिल सकती है, इसलिए सबका वही लक्ष्य होना चाहिए। उसकी साधना चाहे घर में रहकर हो या वन में, अथवा दोनों के बीच में रहकर हो क्योंकि रामभक्ति के विना दुःख-निवृत्ति असम्भव है। उनके राम जगदीश्वर न भी हों तो भी रघुनाथ तो हैं और इस प्रकार भी वे सारे समाज के आदर्श प्रतीक हैं। राजा के रूप में भी रघुनाथ राम में सम्पूर्ण-समाज, सारी प्रजा समाविष्ट है।[1] ऐसे महा-

---

[1] —रघुनाथ राम का आदर्श है—

'मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान कहँ एक।
पालै पोसै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥ रा० अ० ३१५

मानव राम की उपासना भी सारे समाज की उपासना होने से श्रेयस्कर है। उसके द्वारा उन उन्नत सामाजिक आदर्शों की स्थापना होती है, जो समाज के जीवनाधार हैं और उसे प्रगतिशील करते हैं अस्तु किसी भी अवस्था में और किसी भी भावना से मनुष्य मात्र के लिए राम के चरणों में अनुराग आवश्यक है—

'जौं रघुताथ तो अति भलो, जौं महेस बड़भाग।
तुलसी कैसेहु चाहिए, राम चरन अनुराग॥"

तुलसी की रामभक्ति संकीर्ण-स्वार्थ पर आधारित व्यक्तिगत अर्थ सिद्धि के लिए नहीं है, वरंन उसका आधार विशाल-विश्व बंधुता, त्याग भाव और सेवा है। व ज्ञान-समन्वित और त्याग पूर्ण है। त्याग ही सुख-शांति का आधार है। वैराग्य-संदीपनी में कहते हैं—

"रैनि का भूषण इंदु है, दिवस का भूषण भान।
दास का भूषण भक्ति है, भक्ति का भूषण ज्ञान॥
ज्ञान का भूषण ध्यान है, ध्यान का भूषण त्याग।
त्याग का भूषण शांति पद, तुलसी अमल अदाग॥

तुलसी का महत्त्व एक विरक्त साधु होने से भी नहीं, वरंच धर्म संस्कृति के आश्चर्यजनक संघटन कर्त्ता, मानवता के अनुपम अग्रदूत और मरणोन्मुख समाज के प्राण प्रदाता धन्वंतरि होने से है। उन्होंने लोक-हित की जैसी सामाजिक प्राण प्रतिष्ठा की वह सबके लिए सेव्य और उपास्य है। उनकी वाणी मनोरंजनकारी ही नहीं कल्याणकारी भी है। उन्होंने चतुर्दिक आपदाओं से अभिशप्त सामाजिक विशृंखलता के धुआँधार में अपनी वाणी का जो उदात्त स्वर फूँका, उससे वातावरण स्वच्छ हो गया। तमसाच्छन्न समाज जीवन ज्योति से जगमगाने लगा। भूले-भटकों को उनकी राह मिल गई। तंद्रा में पड़े हुए जाग उठे।

जिसके राज्य में कहीं पाप-ताप, दुःख-शोक और अविद्या का नाम नहीं और जो निरभिमानी अपनी प्रजा से इस प्रकार नम्रता-पूर्वक उपदेश करता है—

'सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तो मोहिं बरजहु भय बिसराई॥
रा० उ० ४३।

उस राजा राम को सम्पूर्ण समाज का प्रतीक कहना ही युक्त है।

उत्साह और स्फूर्ति के साथ समाज तंत्र क्रियाशील हो गया। तुलसी की यही विशेषता उन्हें युग-पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करती है। राज्य का विरोध होने पर भी उन्होंने समाज को ऊँचा उठाया और जनता में आत्म-विश्वास की चेतना उत्पन्न की। लोगों में अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और अपने देश के प्रति गौरव की भावना जगाई। एक तुलसी ने अनेक तुलसी उत्पन्न किए। आज भी तुलसी हमारा मार्ग प्रदर्शन करते और कभी भी करते रहेंगे। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के लोकोत्तर चरित्र में जन–भावना को केन्द्रित कर जिस सामाजिक शक्ति का संघटन तुलसी ने किया, वह आज भी अटूट है। तुलसी के राम एक विशिष्ट युगस्रष्टा महापुरुष ही नहीं, वरंच सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत, समस्त विशिष्ट गुणों के आगार, सकल लोक नायक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। राम के पूर्ण ब्रह्मत्व का प्रतिपादन कर समाज को उनके आदर्शों की ओर आकृष्ट करने का सर्वाधिक श्रेय तुलसी को है।

तुलसी के राम का एक लीला चित्र देखिए—राजमहलों के सम्पूर्ण सुख-साधनों को लाड़लो बन के कंटकाकीर्ण दुर्गम पथ पर किस प्रकार शोभा शक्ति और उत्साह से परिपूर्ण दिखाई देता है। उसके अंग-अंग से उभड़ती हुई शोभा और मानसलहरियों से छलकती हुई स्नेह धारा पशुजगत् को भी सरस स्निग्ध और आत्म-विभोर कर रही है। राम का सहजशील कैसा है जो मृग के पीछे धनुष पर वाण रखकर भी प्रेम की पिचकारी मारता है—

'सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया वन, वसति सो मृदु मूरति मन मोरे॥
पीत वसन कटि चारु चारि सर चलत कोटि नट सों तृन तोरे।
स्यामल तन स्रमकन राजत ज्यों नवघन सुधा सरोवर खोरे॥
ललित कंध, वरभुज, विसाल उर लेहि कंट रेखैं चित चोरे।
अवलोकत मुख देत परम सुख, लेत सरद ससि की छबि छोरे॥
जटा मुकुट सिर सारस नैननि गौहें तकत सुभौंह सकोरे।
सोभा अमित समाति न कानन उमगि चली चहुँ दिसि मिति फोरे॥
चितवत चकित कुरंग कुरंगनि सब भए मगन मदन के भोरे।
तुलसिदास प्रभु बान न मोचत सहज सुभाय सील बस थोरे॥ गी०

जहाँ पशु जगत् की यह दशा है, वहां मानव जगत् राम के शील-स्वभाव और शोभा की ओर आकृष्ट क्योंकर नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा हृदयहीन व्यक्ति मिल भी जाय तो वह मानव नहीं दानव होगा। तुलसीदास जी के ही शब्दों में—

'सुनि सीतापति सील-सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल, सो नर खेहर खाउ ।। वि० प०

'रामचरित' को समझने के लिए निर्मल-बुद्धि चाहिए। जिनकी बुद्धि पर हुत प्रकार से पर्दा पड़ा हुआ है, वे उसकी दिव्य शोभा को नहीं देख पाते ौर अज्ञान वश नाना प्रकार की शंकाएं उठाया करते हैं—

'माया बस मतिमंद अभागी । हृदय जवनिका बहुबिधि लागी ।
सठ हठ बस संसय करही । निज अज्ञान राम पर धरहीं ।। रा० मा०

इस प्रकार के लोगों का भी हित इसीमें है कि वे श्रद्धापूर्वक रामकथा सुना ं, जिससे उनका सन्देह स्वयमेव दूर हो जायगा और राम के चरणों में प्रीति त्पन्न होगी—

जाइहि सुनत सकल संदेहा । रामचरन होइहि अति नेहा ।। रा०उ० ६१

और फिर तो यह समझ में आ जायगा कि—

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा । अज विज्ञान रूप बलधामा ।। रा०उ० ७२

तुलसी ने शत कोटि रामकथा में से जिस चरित्र का अवगाहन कर लोक ल्याण के लिए प्रस्तुत किया उसकी भूमिका क्या है ? कहते हैं—

'रामचरित मानस यहिनामा । सुनत स्रवन पाइय बिस्रामा ।।
मनकर विषय अनल बनजरई । होइ सुखी जो यहि सर परई ।।
रामचरित मानस मुनि भावन । बिरचेउ सम्भु सुहावन पावन ।।
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन । कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन ।।
हउँ कथा सोइ सुखद सुहाई । सादर सुनहु सुजन मन लाई ।। रा०बा०

इससे स्पष्ट है कि तुलसी की भावना लोकहित में निहित है। उनकी राम-था लोकहित की दृष्टि से निर्मित और उनकी वाणी लोकहित के निमित्त खरित हुई है। उनकी दृष्टि में कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसके द्देश्य लोकहित न हो। लोकहित में लगने वाली वाणी और लोकहित में गनेवाला धन ही सार्थक है। उन्हीं के शब्दों में—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सबकर हित होई ।।

तुलसीदास जन-जीवन की नौका को मतवादों के गूढ़गर्त और तर्क-वितर्क के ंवरजाल में न डाल कर निर्धारित लक्ष्य की ओर सीधा ले जाना चाहते हैं। नके राम लोक में प्रत्यक्ष हैं। उनका रूप-गुण, शील-सौंदर्य और ऐश्वर्य भी त्यक्ष हैं। 'नेति-नेति' कहकर सद् ग्रन्थ जिसका गुणानुवाद करते, जो एक मात्र

विश्व-वंद्य जगत् का बीज, आधार और निधान है। संसार जिसकी-लीला है उस राम को पहचान कर उसकी अविरल-अनन्य भक्ति ही जीवन की सफलता है। लोक में भी जिसका चरित्र दिव्य, उदात्त और आकर्षण का केन्द्र विंदु बना हुआ है, उसकी साधना ही दुःख सागर से एकमात्र उद्धार का साधन है। यह तो तुलसी का अपना अनुभूत है, इसीसे वे दृढ़ता के साथ कह जाते हैं—'आवत नाहिन और भरोसो' और इसके स्पष्टीकरण के लिए अपना ही उदाहरण देते हैं, परन्तु इसपर भी यदि किसी की बुद्धि बावन कोठों में दौड़ती हो तो दौड़ा करे। तुलसी ने तो जिस सत्य का स्वयं अनुभव किया है, उसे ही वे बतलाते हैं—

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरे तो राम को नाम कल्पतरु कलिकल्यान करो।'

संसार में जीवन को दूषित बनाने वाले तीन ही दोष हैं—काम, क्रोध और लोभ। परन्तु राम के दिव्य चरित्र में इनकी रंच मात्र छाया भी पड़ी दिखाई नहीं देती। निष्काम ऐसे कि अयोध्या का राज्य छोड़ प्रसन्नमन वन के अज्ञात पथपर चल देते हैं और जनकपुर में सौंदर्य की सीमा तथा विश्वविजय की प्रतीक श्री सीता जी की ओर आकृष्ट होकर भी यही कहते हैं—

'सो मोहि दृढ़ प्रतीति मन केरी। जिन सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥'

उनके मुखमंडल पर क्रोध के चिह्न तो किसी ने देखे ही नहीं—

'कहत राम विधुबदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ।'

और 'खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥

जो बाललीला में भी 'खुनिस' नहीं करता और 'अनट' बचाता है, वैसा निर्मल चरित्र कहां मिल सकता है। इतना ही नहीं—

'जीति हारि पुचकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ।'

जीत कर भी हार मान लेना, हारे हुए को सांत्वना देना और दुलारना तथा अपना दाव दूसरों को दे देना 'शील' की पराकाष्ठा है। क्या कोई चरित्र इससे ऊँचा उठ सकता है। लोभ हीनता का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है—विजयी राम के सम्मुख भक्त विभीषण नाना प्रकार के दिव्य वस्त्राभूषण और जगमगाती रत्न-राशि की अमूल्य भेंट लेकर उपस्थित होते हैं, परन्तु राम उसकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते तथा विभीषण से उसे बानरी सेना में लुटा देने का आदेश देते हैं। सोने की लंका, जहाँ संसार की संपदा एकत्र की गई थी, उसे राम ने सहज भाव से ही एक ही दिन में विभीषण को दे दिया, यथा—

'नगर कुबेर को सुमेर की बराबरी,
विरंचि बुद्धि को बिलास लंक निरमान भो।
ईसहिं चढ़ाइ सीस बीस बाहु बीर तहाँ,
रावन सो राजा रज-तेज को निधान भो ॥
तुलसी तिलोक की समृद्धि सौंज संपदा
सकेलि चाकि राखी रासि जागरु जहान भो।
तीसरे उपास बनबास सिंधु पास सो
समाज महाराज जू को एक दिन दान भो ॥

क० सु० ३२

इस प्रकार राम की असीम उदारता निस्पृहता का उदाहरण उपस्थित कर तुलसी ने रामभक्ति का जो सुखद संदेश दिया है, उसमें उनका अभीष्ट लोकहित ही है, अतः यहाँ उनका उपदेश है।

महान व्यक्तित्व :—

किसी के व्यक्तित्व में निम्नांकित ५ बातों का समावेश होता है अर्थात् व्यक्तित्व का गठन इन पाँच बातों पर आधारित है।

(१) शारीरिक योग्यता—आकार-प्रकार, रंग-रूप, शक्ति-स्फूर्ति

(२) अध्ययन और अनुभव (३) भावना और आचार-व्यवहार (४) सामाजिक कार्य और लक्ष्य (५) सामाजिक स्थिति।

इन पाँच बातों के अध्ययन द्वारा किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है और उसके सामाजिक मूल्यों का निर्धारण किया जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास का शरीर हमारे समक्ष नहीं है, परन्तु उनके कुछ चित्र उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनकी शारीरिक स्थिति, प्रकृति तथा चित्त वृत्तियों का आयुर्वेद और मनो-विज्ञान के आधार पर विश्लेषण किया जा सकता है। यह विश्लेषण यहीं पूर्ण न होगा, जब तक उसका मिलान उनकी कृतियों में उनके द्वारा प्रकट किए गए विचार, मनः स्थिति और गुण-स्वभाव से न कर लिया जाय। वाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अंतर्साक्ष्य का आधार ही अधिक उपयोगी होता है अतः उसी के द्वारा उनके अध्ययन और अनुभव, भावना और आचार-व्यवहार, लक्ष्य और आदर्श एवं सामाजिक कार्यों के मूल को ठीक-ठीक आँक सकते हैं।

जिस प्रकार अग्नित्व से अग्नि की और जलत्व से जल की पहचान होती है, उसी प्रकार व्यक्तित्व से व्यक्ति की पहचान होती है। व्यक्तित्व ही व्यक्ति का स्वरूप है। मनुष्य जन्म से मरण काल तक जो कुछ सोचता-विचारता और

करता-धरता है, उन सबका आधार उसका व्यक्तित्व है, इसलिये किसी व्यक्ति और उसकी कृतियों को समझने के लिए उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण अनुसन्धान का आवश्यक अंग है।

जेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार—'किसी भी अनुभूति तथा व्यवहार का अध्ययन करते समय उसकी सम्पूर्ण पृष्ठभूमि को दृष्टिकोण में रखना अनिवार्य है, अन्यथा उसका सम्पूर्ण स्वरूप हमारे समक्ष कभी भी नहीं आ सकता।'[1]

व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय सर्वप्रथम शारीरिक बनावट पर विचार किया जाता है क्योंकि शारीरिक प्रकृति का मनुष्य की मानसिक-प्रकृति से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनो-वैज्ञानिकों ने शारीरिक बनावट के आधार पर मानव-स्वभाव का विश्लेषण किया है। 'क्रेशमर ने शारीरिक बनावट के आधार पर मनुष्यों के दो विभाग किए हैं—साइक्लवायड और सिज्वायड। इनमें प्रथम वर्ग वाले अपेक्षाकृत स्थूलकाय तथा द्वितीय वर्ग वाले कृशकाय (दुबले-पतले) एवं लम्बे होते हैं। मानसिक दृष्टि से प्रथम वर्ग को बहिर्मुखी स्वभाव का तथा द्वितीय वर्ग को अंतर्मुखी स्वभाव का कहा जा सकता है। प्रथम वर्ग वाले वस्तु-वादी, मिलनसार, प्रसन्न-मुख और सामाजिक स्वभाव के होते हैं परन्तु द्वितीय वर्ग वाले आत्म केंद्रित, भावुक, शांत, संकोचशील तथा एकांत प्रिय होते हैं। क्रेशमर ने इन दोनों विभागों को भी कई उप-विभागों में विभाजित किया है। पिकनिक का शरीर मांसल और प्रायः मोटा होता है। उसका पेट निकला होता तथा मुंह गोल होता है। ऐसे लोग प्रसन्नचित्त और नम्र होते हैं। एथलेटिक का शारीरिक गठन सुन्दर और सुडौल होता है। इनका कंधा और वक्ष-स्थल चौड़ा तथा कमर पतली होती है। ये साहसी, व्यवहार पटु, सामाजिक और क्रियाशील होते हैं। एस्थेनिक का शरीर इकहरा, दुबला-पतला और छोटे कन्धे वाला होता है। ये स्वभावतः एकांत प्रिय, आत्म केंद्रित, स्वप्न द्रष्टा और शांत स्वभाव के होते है।[2]

शेल्डन ने भी शारीरिक बनावट के आधार पर व्यक्तियों को तीन वर्गों में बाँटा है। एण्डोमार्फिक व्यक्ति प्रायः मोटे और बड़े पेट वाले होते हैं। इनकी पाचन क्रिया सम्बन्धी अंतड़ियाँ अधिक विकसित होती हैं। मेसोमार्फिक लोगों की हड्डियाँ तथा मांस-पेसियाँ अधिक विकसित होती हैं। इनका शरीर कठोर, भारी, सुविशाल और सुपुष्ट होता है। एक्टो-मार्फिक की शारीरिक

---

[1] १—प्रो० राम प्रसाद पांडेय—सामान्य मनोविज्ञान (भूमिका) पृ० १०

[2] २—क्रेशमर—ह० पी० एँड कैरेक्टर

न दुर्बल होती है। इनकी हड्डियाँ लम्बी तथा कोमल होती है। इन तीनों कार के व्यक्तियों का क्रमशः तीन प्रकार का स्वभाव भी होता है।[1] प्रथम वर्ग के लोग भोजन प्रिय, आराम तलब, तथा दूसरों के प्यार और सहायता के भिलाषी होते हैं एवं गहरी नींद से सोते हैं। दूसरे प्रकार के लोग अधिक क्तिशाली, साहसी, अधिकार के भूखे, जोर-जोर से बोलने वाले तथा कठिन वस्था में विशेष क्रियाशील हो जाने वाले होते हैं। तीसरे वर्ग वाले अपनी ादतों और भावनाओं पर नियंत्रण रखने वाले, संकोच-शील, एकांत-प्रिय तथा ीरे-धीरे बोलने वाले होते हैं। इन्हें अच्छी प्रकार नींद नहीं आती। कष्ट को पने तक ही सीमित रखना चाहते हैं और भरसक दूसरों की सहायता नहीं ाहते।[2] ऐसे लोग कवि, कलाकार विचारक और आदर्शवादी होते हैं।

भारतीय वर्णक्रम के अनुसार उपर्युक्त वर्गीकरण को भगवद्गीता में वर्णित श्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कहा जा सकता है।[3] मिलीजुली शारीरिक-बनावट के अनुसार स्वभाव भी मिला जुला समझ लेना चाहिये और जिनमें उपर्युक्त ोई भी लक्षण अच्छी प्रकार विकसित न हुआ हो, उसे शूद्र समझना चाहिए।

तुलसीदास को उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कसौटी पर परखना उचित होगा। ुलसीदास के जो चित्र उपलब्ध हैं, उनकी प्रामाणिकता पर पहले विचार किया ा चुका है। उसके अनुसार उनके प्रामाणिक चित्र का अवलोकन करने से ह विदित होता है कि वे शेल्डन के वर्गीकरण के अनुसार एक्टोमार्फिक ब्राह्मण) कृति के व्यक्ति हैं। क्रेशमर के अनुसार वे सिज्वायड के अंतर्गत एस्थेनिक वर्ग आते हैं, जो एक्टोमार्फिक से भिन्न नहीं है।

तुलसीदास के ग्रन्थों के अध्ययन से उनके जैसे स्वभाव और गुण-कर्म की लक मिलती है उससे भी उपर्युक्त वर्गीकरण की पुष्टि होती है तथा अन्योन्याय से कथित काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित चित्र की प्रामाणिकता िद्ध होती हैं।

मनुष्य के शरीर और स्वभाव का संबन्ध आनुवंशिक अर्थात् वंश-परम्परा से ोता है। अस्तु तुलसीदास के व्यक्तित्व-विश्लेषण द्वारा उनके माता पिता और उनकी

—मनुष्य के शरीर में कई प्रकार की गिल्टियाँ होती हैं, जिससे विभिन्न प्रकार का रस-स्राव होता है। इनका शरीर के बनावट तथा स्वभाव पर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के शारीरिक गठन और स्वभाव में विभिन्नता उत्पन्न करने में एक कारण विभिन्न प्रकार के स्राव का विभिन्न मात्रा में होना भी है।

—प्रो० राम प्रसाद पांडेय—सामान्य मनोविज्ञान पृ० २८३-८५

—चातुर्वर्णं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः—भगवद्गीता

पूर्व-परम्परा का अनुमान लगाया जा सकता है।[1] तुलसीदास का बौद्धिक-विकास बहुत अधिक हुआ था। उनकी मेधा अद्भुत थी। वे संगीतज्ञ तथा गणितज्ञ भी थे।[2] मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार 'बुद्धि के सदृश संगीत और गणित की मेधाएँ वंश परम्परागत होती हैं।[3] अस्तु इस प्रकार उनका कुलीन और मेधावीवंश में जन्म लेना प्रकट होता है। कुलीनता का व्यक्तित्व के विकास से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मेधाशक्ति और बौद्धिक-विकास से मनुष्य महान् व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। बुद्धि के द्वारा ही परिस्थितियों को समझने समयानुसार कार्य करने और समस्याओं के समाधान की क्षमता प्राप्त होती है। व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय कुल और प्रतिभा के अतिरिक्त व्यक्ति की आचार-पद्धति, आदतें, मनोवृत्तियाँ और जीवन-यापन के ढंग पर भी सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

आचार-पद्धति का सम्बन्ध देशाचार और परम्परा से होता है। आदतें वातावरण के अनुसार होती हैं एवं आदतों का निर्माणकाल बाल्यावस्था है। मनोवृत्तियों का विकास देश-काल कुल, समाज, स्वभाव और अध्ययन के द्वारा होता है। ये सारी बातें ही जीवन-शैली का गठन करती हैं, इसलिये तुलसीदास के व्यक्तित्व पर विचार करते समय उनकी जीवन-भूमि के उपर्युक्त सभी अंगों का भलीभाँति अवलोकन उपयुक्त होगा।

पहले बताया गया है कि तुलसीदास का जन्म ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में हुआ था, जबकि समाज में वैयक्तिकता की वृद्धि और सामाजिक-भावना का ह्रास हो रहा था, भौतिक जीवन में आडंबर और आध्यात्मिक जीवन में पाषंड का बोलबाला था, उच्च वर्ग त्याग और तपस्या के महत्त्व को भूलकर भोगवादी बन रहा था, समाज में परस्पर अविश्वास की भावना घर कर रही थी, एक दूसरे की निंदा करने वाले नाना प्रकार के साम्प्रदायिक समाज और वर्गों का संघटन हो

---

(१) प्रत्येक जंतु में कुछ विशेष लक्षण ऐसे होते हैं जो माता तथा पिता से संतान में आते हैं और उन्हीं के कारण माता पिता तथा उन्हीं की संतान में समानता होती है। केवल इतना ही नहीं कुछ लक्षण माता पिता से संतान में पीढ़ियों तक बने रहते हैं। ऐसे लक्षणों को उस जन्तु के आनुवंशिक लक्षण कहते हैं। ई० एल० जार्डन—जन्तु विज्ञान भाग २ अ० ३९ पृ० ६०४

(२) जनश्रुति के अनुसार तुलसीदास श्रेष्ठ गायक थे। गौतम चंद्रिका से भी उनके गायक होने की सूचना मिलती है। जिन गेय पदों की उन्होंने रचना की है, उससे भी उनका संगीतज्ञ होना ज्ञात होता है। दोहावली के अनेक दोहे उनका गणितज्ञ और ज्योतिर्विद होना प्रकट करते हैं।

(३) सामान्य मनोविज्ञान पृ० १८६

हा था, प्राचीन काल से चले आते हुए सामाजिक मानदंड और सांस्कृतिक ान्यताओं पर प्रहार किए जा रहे थे एवं सर्वत्र युद्ध की स्थिति से राजनीतिक कता भंग हो गई थी। न शासन में स्थायित्व था, न समाज में शांति। ामाजिक-विघटन[1] की यह स्थिति मनीषियों के लिए अत्यन्त चिंता का विषय न रही थी। इस विषम परिस्थिति में कई महामनीषी उत्पन्न हुए, परन्तु कोई ी उस रूप में समाज का संगठन न कर सका, जिस रूप में तुलसी ने समाज का ुदृढ़ संगठन किया। उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ी मध्यवर्ती विरोध की खाईं को पाट कर सनातन धर्म की एकता का प्रति-ादन किया, सामाजिक और धार्मिक नियमों के प्रति जनमंडल में श्रद्धा और भय ी भावना उत्पन्न की, लोगों को व्यक्तिगत संकीर्ण भावना, सामाजिक अनिय-ितता और उच्छृंखलता, परस्पर अविश्वास, आत्महीनता और निराशाजनक स्थिति से ऊपर उठाकर त्याग, तपस्या, सेवाभाव, बलिदान, पवित्र-भावना, नियम-बद्धता, कर्त्तव्य-परायणता, मर्यादावादिता, कष्ट सहिष्णुता, पारिवारिक संगठन, स्वाभिमान, धार्मिक-आशावादिता और शांतिमय भगवद्भक्ति की प्रेरणा दी। आज भी वे शांतिमय वातावरण में जन-जागरण के अग्रदूत और समाज के क्षय प्रकाश स्तम्भ बने हुए हैं।

तुलसीदास रामानन्दी परम्परा के सन्त थे किन्तु उनकी विचार प्रणाली बहुत कुछ स्वतन्त्र है। तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण क्या है, इसके सम्बन्ध में विद्वान् बहुत दिनों से विचार करते आ रहे हैं। महा-महोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मत से तुलसीदास शंकर मतानुयायी अद्वैतवादी थे।[2] पं० बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'रामचरित-मानस' का अवगाहन करते हुए उसमें विशिष्टाद्वैत और अद्वैत दोनों प्रकार की विचारधाराओं का अवलोकन किया है।[3]

१—श्री इलियट और श्री मैरिल के मत से सामाजिक विघटन किसी वर्ग के सदस्यों के बीच के सम्बन्ध टूट जाने की प्रक्रिया है। श्री पी० एच० लैंडिस के मतानुसार सामाजिक नियंत्रण के भंग हो जाने से समाज में अव्यवस्था और भ्रांति फैलाने को सामाजिक विघटन कहते हैं। श्री मावरर के कथनानुसार सांस्कृतिक सम्पर्क का भंग हो जाना और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का नष्ट हो जाना ही सामाजिक विघटन है। श्री थोमस और श्री जेनिकी के विचार से विद्यमान सामाजिक नियमों का जब समाज के सदस्यों के व्यवहार पर प्रभाव कम होने लगता है ता सामाजिक विघटन आरम्भ हो जाता है।

२—तुलसी ग्रन्थावली (निबंध खंड)

३—तुलसी दर्शन

कितने ही लोगों के मत से उनकी विचारधारा महाप्रभुवल्लभाचार्य जी के दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत से प्रभावित है।[1]

बात यह है कि तुलसी को जो जिस दार्शनिक दृष्टि से देखना चाहता है, उसे अपने अनुकूल मसाला उनकी रचनाओं में मिल जाता है। यही तुलसी की अपनी विशेषता है और यही उनका दार्शनिक समन्वयवाद है, जो दूसरे सांप्रदायिक दार्शनिकों से उन्हें अलग करता है। यह इसलिए नहीं हुआ है, तुलसी इन दार्शनिक मतवादों से अपरिचित हैं, वरंच इसका कारण उनकी सैद्धांतिक उदारता है, जो उनको भावना परिधि को इतना व्यापक बना देती है, जिसको सभी मतवाद छूते हैं किन्तु उसका केन्द्र अविरल और अनन्य-रामभक्ति है। वे तो यहाँ तक कहते हैं—

'तुलसी सीताराम को रीझि भजे या खीज।
उलटो-सीधो जामि है, खेत बए पर बीज॥'

रामानन्दी परम्परा का होते हुए भी तुलसी उसकी सीमा में बँधे नहीं हैं। रामानुज और रामानन्द ने भक्ति को ज्ञान से विशिष्ट माना है किन्तु तुलसी ने ज्ञान की उपेक्षा न कर उसके महत्त्व को स्वीकार किया है और प्रसंगानुसार कहीं भक्ति को और कहीं ज्ञान को श्रेष्ठ माना है।[2] रामानुज के शिवद्वेष की प्रतिक्रिया तुलसी में शिवभक्ति के रूप में प्रकट हुई है। परमार्थिक-दृष्टि से वे शिव और राम में अभेद मानते हैं और उसे व्यावहारिक बना दिया है। स्वामी रामानन्द ने वर्णाश्रम व्यवस्था पर घोर आघात किया किन्तु तुलसी ने उसका पूर्ण समर्थन कर सामाजिक मर्यादा को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया। वे बाल की खाल निकालने वाले सूक्ष्मदर्शी तत्त्व चिंतकों के चक्कर में जनता को डालकर उसकी बुद्धि को दिग्भ्रमित नहीं करना चाहते। भक्ति की असीमता को मतवादों के कठघरे में बाँधने वाले के वे कायल नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि बहुत से ऋषि मुनि हुए हैं और अनेक शास्त्र-पुराण हैं, जिनका अलग-अलग अपना मत है,[3] इसलिए इस झगड़े में कौन पड़े। संसार को कोई सत् कहता, कोई असत् और कोई सदसद् यह भी कैसा झमेला है। ये सभी भ्रम में डालने वाले हैं। अस्तु इन तीनों मतवादों से परे होकर जो देखता है वही आत्मतत्त्वज्ञ सत्य को सत्य रूप में देखता है यथा—

'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, युगल प्रबल करि माने।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपुन पहिचाने॥ वि० प०

१—प्राची सं० २०२६ वि० (संस्कृत विश्व विद्यालय, वाराणसी)

२—ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

३—नानामत-मुनि शास्त्र-पुराननि बहुत भाँति झगरो सो'—वि०

तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण पर विचार करते समय उनकी तथाकथित भावभूमि और विचार प्रणाली को समझ लेना चाहिए।

गोस्वामी जी का महान् व्यक्तित्व तीन रूपों में विकसित या सुगठित हुआ था। प्रथम वे सच्चे साधु और महान् सन्त थे। दूसरे वे अनुपम लोक नायक थे तथा तीसरे वे अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न अद्वितीय महाकवि थे। इन तीनों रूपों में उनका कीर्तिमान सर्वोच्च है और वे अप्रतिम हैं। उनका व्यक्तित्व 'साधु-समाज' के आदर्शों पर साधु समाज में ही गठित हुआ था। साधु-स्वभाव का निरूपण करते हुए वे कहते हैं—

'संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहइ न जाना।।
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवैं सुसंत पुनीता।।
रा० बा०

तुलसीदास की पर दुःख कातरता ने ही उन्हें लोकहित की ओर प्रेरित किया और उनके अनजान में ही उन्हें अपने युग के सबसे बड़े लोक-नायक एवं जन-सेवक के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने उस समय के राज-समाज और अपने ही पाप-ताप से पीड़ित जनता के लिए जिस राम-राज्य की स्थापना की और आदर्श-समाज का प्रस्तुतीकरण किया, उसमें कहीं भी दुःख-शोक का नाम नहीं। वह सदा समुन्नतकारी, सुख-समृद्धि और श्रेय-प्रेय से युक्त है। उनकी प्रतिभा का उपयोग और कवित्व शक्ति का स्फुरण इन्हीं आदर्शों को व्यावहारिक बनाने में हुआ है।

गोस्वामी जी के महान् व्यक्तित्व में निम्नांकित पाँच बातों का समन्वय देखा जा सकता है--

(क) अनन्य रामभक्ति और भगवच्छरणमति।
(ख) सामाजिक-मर्यादावादिता।
(ग) लोक-मंगल की पवित्र भावना।
(घ) शास्त्र पुराण और विविध विद्याओं का अध्ययन एवं सांसारिक और पारमार्थिक अनुभव।
(ङ) कवि हृदय, विशिष्ट प्रतिभा और काव्य कौशल।

उनके महान् व्यक्तित्व को ठीक प्रकार से समझने के लिए, इन पाँच बातों पर विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम वे परम वैष्णव रामभक्त सन्त थे। रामभक्ति ने ही उन्हें मादक 'भाँग' से सुधार कर देवस्तुत्य लोकोपयोगी तुलसी बनाया था और वे समाज में 'महामुनि' बनकर पूजित हुए थे। उनकी लोक-नायकता, समाज धर्म, काव्य कौशल तथा सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली का विंदु रामभक्ति ही है। यह बात उनकी सभी रचनाओं में प्रकट होती है। उनका

सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरित-मानस' एक प्रबन्ध काव्य है जिसके विषय में डा० श्री कृष्ण लाल का मत है कि 'मानस का प्रधान रूप, उसका सर्वोपरि आग्रह रामभक्ति ही है—सेवक-सेव्य भाव की वह भक्ति जिससे विश्राम की प्राप्ति होती है और भव सागर से मुक्ति मिलती है।'

वे स्वयं कहते हैं—

नातो नेह राम सो जानि सुभाव सनेह।
तुलसी मांगत जोरि कर, जनम-जनम सिव देहु ॥ दो० ८९
एक भरोसो एकबल एक आस विस्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास ॥ दो० २७७

उन्होंने सब ओर से अपना मन खींचकर एकमात्र राम में ही केंद्रित कर लिया है और उस केन्द्र से किसी भी अवस्था में क्षण मात्र के लिए भी अलग नहीं होना चाहते ; यथा—

जानकी जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय पद परिहरि अनत कहूँ नहिं जैहौं॥
उपजी उर प्रतीति, सपनेहुँ सुख प्रभुपद विमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन यहै सिखावन दैहौं॥
स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छरभार ताहि 'तुलसी' जग जाको दास कहैहौं॥ विनय १०४

क्योंकि श्रीराम के चरणों से विमुख होने में सदा उद्वेग और अशांति ही हाथ लगती है और विपत्ति से कभी छुटकारा नहीं मिलता इसलिए वे अपने मन को सम्बोधित करके कहते हैं—

'सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि पद विमुख लह्यो न काहुसुख, सठ! यह समुझ सबेरो॥
बिछुरे ससि-रवि मन नैननि तें पावन दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसिदिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥
जदपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो॥

छूटै न विपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहु राम को चेरो ॥ विनय, ८७

गोस्वामी जी ने चातक के व्याज से दोहावली में जो अपनी अनन्य प्रेमनिष्ठा की है, दर्शनीय हैं—

जौं घन बरषै समय सिर औं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहिं, तऊ तिहारी आस ॥ २७८ ॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत तुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर ॥ २८३ ॥
तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू, निदरि निवाहत नेम ॥ २८६ ॥
तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत, लेत जो घूंटक पानि ॥ २८७ ॥
तीनिलोक तिहुँकाल जस, चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ ॥ २८८ ॥
नहि जाचत, नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
'ऐसे मानी माँगनहिं, को वारिद बिनुदेइ ॥ २६० ॥
काहि न ज्यायो जगत में, जीवन दायकदानि।
भयो कनौड़ो जाचकहिं, पयद प्रेम पहिचानि ॥ २६१ ॥
जीव चराचर जहँ लगे, हैं सबको हित मेंह।
तुलसी चातक मन बस्यौ, घन सों सहज सनेह ॥ २६४ ॥
बध्यो बधिक, पर्‌यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेमपट, मरतहु लगी न खोंच ॥ ३०२ ॥
तुलसी के मत चातकहिं, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति-जल जान जग, जाँचत बारहमास ॥ ३०८ ॥

तुलसीदास का प्रेम पथ किस प्रकार का है और वे किस प्रकार के भगवद्भक्त यह बात उपर्युक्त दोहों से स्पष्ट हो जाती है। चातक को केवल प्रेम की ास है, जल की नहीं। वह भूलकर भी किसी दूसरे से जल की आकांक्षा नहीं रता और न अपनी दीनता ही कहीं प्रकट करता है। मेघ की दी हुई बक्र बूंद वह ग्रहण नहीं करता। बारहो महीने वह मेघ की याद करता है, परन्तु जल

उचित समय पर ही ग्रहण करता है और वह भी घूँट भर। मेघ से उसका स्वाभाविक स्नेह है क्योंकि वह विश्वंभर है, चराचर जगत् का जीवन दाता है।

राम से बढ़कर राम का नाम है क्योंकि राम का स्वरूप निर्धारण कर राम की पहचान कराने और राम तक पहुँचाने का वही माध्यम है। गोस्वामी जी नाम जप को अत्यावश्यक मानते हैं—

‘राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीरा।
राम नाम नवनेह मेंह को, मन हठि होसि पपीहा ॥

विनय ६५

कलि में राम का नाम ही पतित पावन है। उसी ने तुलसी से ऊसर को उर्वर भूमि में परिणित कर दिया। जिस राम के नाम में इतनी शक्ति है उससे परजन्म में भी वैसी ही स्नेह-सगाई की अभिलाषा रखते हैं यथा—

‘पाप हरे, परिताप हरे, तन पूजि भो हीतल सीतलताई।
हंस कियो बक तें, बलि जाउँ, कहाँ लौं कहौं करुना अधिकाई ॥
काल बिलोकि कहै तुलसी, मनमें प्रभु की परतीति अघाई।
जन्म जहाँ तहँ रावरे सों, निबहे भरि देह सनेह-संगाई ॥ क० उ० ५८

पाप और परिताप को दूर कर हृदय को शांति प्रदान करने वाली तथा बक को हंस बनाने वाली रामभक्ति से बढ़कर लोक के लिए दूसरा कल्याणकारी मार्ग क्या हो सकता है? भक्तिहीन पुरुष के सभी गुण लवणहीन व्यंजन के समान व्यर्थ हैं। भक्तिहीन पुरुष का सांसारिक सुख किसी काम का नहीं। प्रेम-भक्ति रूपी जल के द्वारा ही अंतःकरण का मल दूर होता है। भक्ति सब सुखों की खान है जो इसे प्राप्त करता है वह पुरुष परम भाग्यवान है। जो व्यक्ति भक्ति का परित्याग कर अन्य प्रकार सुख की अभिलाषा करता है, वह महामूर्ख है। भगवान की भक्ति अनुपम और निरुपद्रव है यह भगवान् को सदैव प्रिय है, इसलिए वेद-शास्त्र पुराण तथा संत लोग कहते हैं कि भगवद्भक्ति की प्राप्ति से बढ़कर जीवन पाने का दूसरा लाभ नहीं। जो निश्छल भाव से भगवान का भजन करता है, वह पुरुष धन्य है। रामभक्ति रूपी चिंतामणि का प्रताप देखिए-

‘राम भगति चिंता मनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥
परम प्रकास रूप दिनराती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥
प्रबल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥

खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाकेउर माहीं॥
गरल सुधा सम अरिहित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहि मानस रोग न भारी। जिनके बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति-मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥
चतुर सिरोमनि तेइ जगमाहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥

रा० मा० उ० १२०

भक्ति रूपी मणि यद्यपि सर्वत्र सुलभ है किन्तु इसे सभी प्राप्त नहीं कर सकते। जो यत्न करता है और जिस पर राम की कृपा होती है, उसी के लिए यह मणि सुलभ है। इसे प्राप्त करने के निम्नांकित उपाय हैं जैसा कि काक भुशुंड गरुड़जी से कहते हैं—

पावन पर्वत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित जो खोजै प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम तें अधिक रामकर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चँदन तरु हरि संत समीरा।
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥
अस बिचारि जो कर सत्संगा। राम भगति तेहि सुलभ विहंगा॥
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुरआहिं।
कथा सुधा मथि काढ़ही, भगति मधुरता जाहि॥
विरति चर्म, असि ज्ञान, मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सोइ हरि भगति देखु खगेस विचारि॥ रा० मा० उ० १२०

श्री रामचन्द्र जी अयोध्यावासियों से भक्ति प्राप्ति के तीन उपाय बताए—द्विज-सेवा, सत्संग और भगवान् शंकर का भजन। ये तीनों ही उपाय लोक मगल की दृष्टि से उपयोगी हैं। द्विज-सेवा से शास्त्रीय विधि-निषेध और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान होता है। सामाजिक-मर्यादा का संस्थापक और लोकरक्षक द्विजवर्ग है, अतः उसके द्वारा अनुमोदित मार्ग ही लोक कल्याणकारी मार्ग है। श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धि मवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। १६।२३-२४

अर्थात् जो पुरुष शास्त्रविधि का त्यागकर स्वेच्छया कर्म करता है, वह सिद्धि, सुख और परम गति को प्राप्त नहीं होता, अतः शास्त्र के अनुसार ही उचित-अनुचित का विचार कर कर्म में प्रवृत्त होना उचित है।

सत्संग से ज्ञान-वैराग्य का उदय होता और वृत्ति ईश्वराभिमुख होती है। शिव और विष्णु को अभिन्न मानना और समस्त जगत् में अभेद या ऐक्य भाव रखना ही वास्तविक ज्ञान है। श्री मद्भगवद्गीता में कहा गया है—

सर्वं भूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।१८।२०

श्री रामचन्द्र जी अयोध्यावासियों से भक्त का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथालाभ संतोष सदाई ।।
मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तो कहहु कहा विस्वासा ।।
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई । यहि आचरन वस्य मैं भाई ।।
बैर न विग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ।।
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ विज्ञानी ।।
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा । तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा ।।
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई । दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ।।
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ।। रा० मा० उ० ४६

मनुष्य का शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ तथा भगवान की कृपा का फल है। साधना का क्षेत्र और मोक्ष का द्वार इस शरीर को पाकर जो भगवद्-भजन पूर्वक परलोक को नहीं सुधारता, वह अंत में सिर धुनकर पछताता और दुःख पाता है तथा व्यर्थ ही काल, कर्म तथा ईश्वर पर दोष मढ़ता है। इस मानव शरीर का उद्देश्य विषय सुख नहीं स्वर्ग भी स्वल्पकालिक और अंत में दुःखद है, इसलिए जो पुरुष मनुष्य शरीर पाकर विषयभोग की ओर प्रवृत्त होता है, मानो वह अमृत से बदल कर विष ग्रहण करता है। जो पारस मणि का परित्याग कर गुंजा ग्रहण करें उसे कोई भला नहीं कह सकता। ऐसा मूर्ख पुरुष आत्मघाती है।[1]

---

[1] —श्री रामचरित मानस उ० ४३-४४

गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं द्वारा जनसमाज में भक्ति का प्रचार तो किया ही, लोक-मर्यादा की रक्षा का प्रयत्न भी किया और समाज की कुंठा दूर कर उसे ऊपर उठाया। जिस समय गोस्वामी जी का प्रादुर्भाव हुआ था, लोक मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण होने लगा था वेद-शास्त्र समर्थित वर्णाश्रम व्यवस्था टूट रही थी। उच्छृंखलता बढ़ती जाती थी और शास्त्र मर्यादा लुप्त हो रही थी। ब्राह्मण मूर्ख और धूर्त राजा प्रजा का उत्पीड़न और शोषण करने वाले एवं सभी लोग वेद-विमुख हो रहे थे।[1] जैसा कि कलि के वर्णन में उन्होंने कहा है (रा० उ० ९८-१००)

ऐसी विकट परिस्थिति में वर्णाश्रम की व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा की रक्षा और श्रुति-सम्मत धर्म के पालन की ओर जनता को प्रवृत्त करना परम आवश्यक था। गोस्वामी जी ने अपनी कृतियों द्वारा इसी महान् कार्य को पूरा किया। कहा जाता है कि उन्होंने राक्षस-राज्य के वर्णन में तत्कालीन मुस्लिम राज्य का ही चित्र खींचा है यथा—

देखत भीम रूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरण कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहि हरि भगति जज्ञ तप ज्ञाना। सपनेहु सुनिय न वेद पुराना।
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कौन मिति॥
रा० मा० बा० १८३॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन सन करवावहिं सेवा॥
जिनके अस आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥
अतिशय देखि धर्म कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥१८४॥

यहाँ वर्णित राक्षसों के स्वरूप को विद्यापति कृत कीर्तिलता में वर्णित मुसलिम सेना के वर्णन से मिलाया जा सकता है जो अत्यन्त अपवित्र और महा-

---

[1] —वेद हीनो ब्राह्मणश्च बलहीनश्च भूपतिः।
जातिहीना जना सर्वे म्लेच्छो भूयो भविष्यति॥ ब्र० वै० ४।१२६।३३

क्रूर हैं एवं जो सदाचार का नाम भी नहीं जानते ।[1] समस्त मुस्लिम शासन में मुगल-काल अपेक्षाकृत अच्छा था, परन्तु उसकी तुलना हिन्दूकाल के शासन से नहीं की जा सकती थी। समाज में उच्छृङ्खलता बढ़ रही थी। जातीय आचार का लोप होता जा रहा था जिससे समाज के भ्रष्ट होने का भय था क्योंकि कहा है—आचार मूला जातिः

सं० १६६२ वि० में अकबर की मृत्यु हो गई। उसके बाद जहाँगीर सिंहासनासीन हुआ। यह हिन्दू धर्म से द्वेष रखता था और हिन्दुओं को कष्ट भी देता था। प्रलोभन देकर मुसलमान बनाने का काम भी इसने जारी रखा। आजमगढ़ नगर को बसाने वाले अभिमन्यु सिंह गौतम को युक्तिपूर्वक मुसलमान बना डाला और उन्हें इक्कीस परगनों की जागीर दी। इसी के समय में गंग जैसा निर्भीक कवि हाथी के पैरों से कुचल डाला गया। जहाँगीरनामे से विदित होता है कि हिन्दू धर्म और उसके सिद्धांतों की दुराग्रह-पूर्वक आलोचना करता था[2], तो

१—घरि आनए वांभन बटुआ। मथा चढ़ावए गाइक चुटुआ।
फोट चाट जनउ तोड़। उपर चढावए चाह छोड़॥
धो आउरि साँधे मदिरा साध। देउर खंडि मसीद बांध॥

× × ×

काँच मास कबहुं कर भोअण। कादंबरि रस लोहित लोअण॥
जोजन बीस दिनद्धें धावथि। बगलक रोटी दिवस गमावथि॥
बैल के काटि कमानहि जोले। धाञ्ो चलथि गिरि उप्पर घोरें॥
गो वंभन बध दोस न मानथि। परपुर नारि बंद कए आनथि॥
अरु कत धाँग देखिअथि जाइते। गोरु मारि बिस्मिल कहे खाइतें॥

× × ×

दुर दुगाम शागि जारथि। नारि निकारि बालक मारथि॥
लूंडि अरजन पेटे बए। अन्याय बृद्धि कंदर खए॥
न दीन क दया न सकता क डर। न बासि, संबर न बियाही घर॥
न ञायक गरहा, न पुन्यक काज। न शत्रुक शंका न मित्रक लाज॥
न थीर वचन, न थाड़े ग्रास। न जस लोभ न अपजस त्रास॥
न शुद्ध हृदय न साधुक संग। न पिय बाउँ बसञो न युद्ध भंग॥’

—कीर्तिलता

२—राजसिंहासन पर बैठने के प्रथम वर्ष में ही जहाँगीर ने हिन्दू पंडितों से शास्त्रार्थ किया, वह लिखता है—‘एक दिन मैंने पंडितों से कहा कि यदि ईश्वर का दस भिन्न-भिन्न शरीरों में अवतार लेना तुम्हारे धर्म का परम सिद्धांत है तो यह बुद्धिमानों को प्रमाण नहीं। इस कल्पना में यह मानना पड़ेगा कि

र क्या आश्चर्य कि इसने हिन्दूधर्म के संरक्षक ब्राह्मण-समाज को कष्ट न दिया ो एवं ब्राह्मणों की शक्ति कम करने का प्रयत्न न किया हो। निम्नांकित कथन इसकी स्पष्ट झलक मिलती है—

'मारग मारि, महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो।'

जहाँगीरी शासन रावण राज्य का प्रतीक है। इसका समर्थन कविवर बना-सीदास कृत अर्द्धकथानक से भी होता है जबकि जौनपुर के नागरिक जहाँगीर सं० १६५७ के विद्रोह काल में संत्रस्त हो जौनपुर नगर से पलायन करने गे थे।

या—"प्रजा लोग सब व्याकुल भए। भागे चहूँ ओर उठि गए॥
महा नगरि सो भई उजार। अब आई आई यह धार॥
सब जौहरी मिले इक ठौर। नगर माहिं नर रह्यो न और॥"

× × ×

"नूरम कहै सुनहु रे साहु। भावै इहाँ रहौ कै जाहु॥"

× × ×

"आप आप को सब भगे, एकहि एक न साथ।
कोऊ काहू की सरन, कोऊ कहूँ अनाथ॥"

—अर्द्धकथानक १६१

अकबर के मरने का समाचार जब जौनपुर में पहुंचा तो जहाँगीर के राज्य-ाल की सम्भावना कर वहां के लोगों की क्या स्थिति हुई द्रष्टव्य है—

"घर-घर दर-दर दिए कपाट। हटवानी नहिं बैठे हाट॥
भले बस्त्र अरु भूषन भले। ते सब गाड़े धरती तले॥
हँड़वाई गाड़ी कहुँ और। नगदी माल विभरमी ठौर॥
घर-घर सबनि वेसाहे सस्त्र। लोगन पहिरे मोटे बस्त्र॥"
"ऊँच-नीच कोउ न पहिचान। धनी दरिद्री भए समान॥
चोर धारि दीखै कहुँ नाहिं। यों ही अपभय लोग डेराहिं॥"

॥ वही २५२

श्वर जो सब उपाधियों से न्यारा है, लम्बाई, चौड़ाई, गहराई भी रखता है।

° ° °

मैंने कहा ये मूर्त्तियाँ कब तक तुम्हारे वास्ते परमात्मा तक पहुंचने का द्वार ो सकती हैं। —जहाँगीरनामा (अनु··· मुंशी देवीप्रसाद)

प्रायः समझा जाता है कि अकबर के शासनकाल में शांति और सुव्यवस्था थी, किन्तु उसी के समय सं० १६५४ वि० में जौनपुर के शासक किलीच खाँ ने जौनपुर के जौहरियों को एक कमरे में बन्द कर उनसे किस प्रकार बलात् जवाहिरात वसूल किये थे द्रष्टव्य है—

'विपदा उदय भई इस बीच। पुर हाकिम नौवाब किलीच॥'
तिन पकरे सब जौहरी, दिए कोठरी माहिं।
बड़ी वस्तु मांगे कछू, सो तो इन पै नाहिं॥ वही १११

अकबर काल में भी यात्रा अरक्षित थी और मार्ग में चोर-डाकू लूट लेते थे, जैसा कि आगरा से रोहतक जाते समय खरम सेन को डाकुओं ने लूट लिया था। यह स्थान राजधानी से बहुत दूर भी न था।

यथा—'सैंतीसे संवत् की बात। रुहतग गए सती की जात॥
चोरन लूटि लियो पथमाहिं। सर्वस गयो रह्यो कछु नाहिं॥
× × ×
रहे वस्त्र अरु दंपति देह। ज्यों त्यों करि आयो निज गेह॥

वही ७८, ७९

एक बार एक गांव के चोरों के चौधरी ने बनारसी दास और उनके साथियों को ब्राह्मण जान चोरों से उनकी रक्षा की—

तीनो पुरुष भए भयभीत। हिरदै माँहि कंप मुख पीत।
सूत काढि डोरा बट्यौ, किए जनेऊ चारि।
पहिरे तीनि तिहूँ जने, राखे एक उबारि॥ वही ४२१

जहाँगीर के समय में 'मोरलैंड' नामक एक डच व्यापारी भारतवर्ष में आया था उसने लिखा है कि—'गरीबी और शोषण के कारण साधारण जनता का जीवन दुःखी है। भूमि उपज कम होती है। किसान उपज की कमी के कारण कर नहीं दे पाते तो बगावत का बहाना करके उनके बच्चे और स्त्रियों को बेच दिया जाता है। बड़े अधिकारी फजूल खर्च हैं। सूबेदारों को चोर-डाकू रिश्वत देते हैं। वे आमोद-प्रमोद के लिए सुन्दरियों से अपने महल को सजाते हैं। (जहांगीर्स-इण्डिया, मोरलैंड) जहाँगीर का नैतिक पतन हो चुका था। वह शराबी और कामुक था। कामुक होने के कारण ही उसने निर्दोष 'शेर अफगान' का बध कराकर उसकी पत्नी नूरजहाँ को प्राप्त किया। वह नूरजहाँ का आज्ञावर्ती था। उसकी जहाँगीरी नूरजहाँ के लिए थी। मुगल इतिहास भले चुप हो, परन्तु वैष्णव-इतिहास बताता है कि उसने वैष्णव साधुओं के कंठीमाला

धारण करने पर रोक लगाई थी। ऐसे उच्छृंखल शासन को जिसमें राज्य पर अधिकार करने के लिए नाना प्रकार के षड्यन्त्र होते हों, पुत्र पिता से विद्रोह करता हो। पिता पुत्र का बध करा सकता हो, भाई भाई के खून से हाथ रंगता हो. कैसा शासन कहा जायगा। अकबर और जहांगीर के समय में जैसे भयानक अकाल और महामारी से जनता पीड़ित हुई थी[1], वह इतिहास की बात है और उस परिस्थिति का अनुमान कवितावली से भी लगाया जा सकता है।

वेदपुरान विहाइ सुपंथ, कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाज बड़ोइ छली है ।।
वर्न विभाग न आश्रम धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है ।।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है ।। क०उ० ८५

जहाँ गोस्वामीजी तत्कालीन राज्य के विषय में बार-बार विज्ञप्ति करते हैं कि—

'देव न दयाल महिपाल न कृपाल चित
वारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है ।। क० उ० १७६
'वेद धर्म दूरि गए भूमिचोर भूप भए।
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ।। क०उ० १७७

वहीं वे पीड़ित-प्रजा को 'राम-राज्य' का संदेश भी सुनाते हैं यथा—

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषि भए गए सब सोका ।।
बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ।।

'रामराज्य' की भूमि क्या है, जिसपर वह खड़ा किया जा सकता है। श्री रामचन्द्र जी स्वयं कहते हैं—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।। रा०

और गोस्वामी जी का भी कथन है—

मुखिया मुख सों चाहिये, खानपान को एक।
पालै पोसे सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ।। दो० ५२२

सामाजिक संगठन और मर्यादा की स्थापना के लिए राम-राज्य की आवश्यकता है। जब तक सामाजिक-मर्यादा की स्थापना न होगी लोकमंगल की

---

[1] निकसे गांठि मरैं छिन माहिं। काहू को बसाइ कछु नाहिं ॥
चूहे मरहिं बैद मरि जाहिं। भय से लोग अन्न नहिं खाहिं ॥
अर्द्धकथानक ५७३

सम्भावना नहीं की जा सकती। भारतीय सिद्धांत है—'यथा राजा तथा प्रजा। इसलिए पहले राजा को ठीक होना चाहिए, प्रजा स्वतः ठीक हो जायगी। रामराज्य के अधिष्ठाता राम का शील स्वभाव देखिए—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु, सेवक सचिव सखाउ॥
कहत राम विधुवदन रिसौहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ॥
जीति हारि पुचकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप सन्ताप विगत भइ, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरख हिय, चरन छूए को पछिताउ॥
भव धनु भंजि निदरि भूपति, भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पाँय परि, इतौ न अनत समाउ॥
कह्यो राज बन दियो नारिबस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तन मरम कुघाउ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यौ पवन सुत आउ।
देवे को न कछू रिनिया हौं धनिक तूं पत्र लिखाउ।
अपनाए सुग्रीव बिभीषन तिन न तज्यो छल छाउ॥
भरत सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ।
निज करुना करतूति भगत पर, चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फिरि गाउ॥
समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर-अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥ विनय० १००

श्री रामचन्द्र जी के प्रताप रूपी सूर्य का उदय होते ही सर्व प्रथम अविद्या रूपी रात्रि दूर हो गई। अविद्या रूपी रात्रि में विहार करने वाले अघरूपी उलूक छिप गए काम-क्रोध रूरी कुमुद संपुट हो गए। विविध कर्म, गुण (सत, रज, तम) काल और स्वभाव रूपी चकोर दुःखी हुए। मोह, मद, मान और मात्सर्य रूपी चोरों का हुनर काम नहीं देता था। घर्म रूपी तालाब में ज्ञान-विज्ञान रूपी कमल खिल गए। मुख, सन्तोष, वैराग्य और विवेक रूपी चक्रवाकों

का शोक दूर हुआ।[1] जिस देश या समाज में इस प्रकार की स्थिति होगी, वहीं रामराज्य की स्थापना हो सकती है। रामराज्य सब प्रकार के देश-काल में सम्भव है।

गोस्वामी जी ने अनेक शास्त्रों और विधाओं का अध्ययन किया था। उनका 'रामचरित-मानस' नाना पुराण और निगमागम सम्मत है। वे लोक भाषाओं के साथ-साथ देववाणी और राजभाषा भी जानते थे। उस समय भारत में प्रचलित सभी सम्प्रदायों और मतों का ज्ञान उन्हें था। शास्त्रीय विधि के साथ-साथ लोकाचार से भी वे परिचित थे। अनेक परिस्थितियों में रहकर उन्होंने समाज को भलीभाँति पहचाना था और संसार का नाना प्रकार से अनुभव किया था। उनकी प्रतिभा (सूक्ष्म) आश्चर्यजनक और बुद्धि विवेकशील थी। इसीसे उन्होंने अनैक्य को ऐक्य में लाने का प्रयत्न किया क्योंकि जहाँ अनैक्य है, वहीं अमंगल तथा जहाँ ऐक्य है, वहीं, मंगल है। लोक मंगल की भावना से ही 'रामचरित मानस' की अवतारणा हुई एवं विनय के पद रचे गए क्योंकि लोक मंगल ही उनका अभीष्ट था।

गोस्वामी जी ने लोक मंगल का जो महान प्रयास किया वह उनका समन्वयकारी कार्य था। इसी समन्वय के आधार पर वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ लोकनायक और अद्वितीय सुधारक बन सके। उनका हृदय लोक-हित और जनकल्याण की भावना से ओतप्रोत था। उन्होंने अपनी रचनाओं में रामभक्ति की विशिष्टता रखते हुए भी सभी मतों का समन्वय किया। रामचरितमानस के प्रादुर्भाव के बाद शैव और वैष्णवों के झगड़े मिट गए। एक ही देव-मन्दिर के गर्भगृह में अनेक देवो देवताओं के दर्शन होने लगे। मानस के अध्ययन से विदित होता है कि उसमें अनेक विचार-सरणियों और दार्शनिकवादों का समन्वय हुआ है। इसमें अनेक कथाओं और रामकथाओं के सूत्र मिलते हैं। प्रसंगानुसार भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का निरूपण हुआ है। रामचरित मानस में उन्होंने श्री रामचन्द्र जी, भरत जी, कौसल्या जी और श्री सीता जी के उदात्त चरित्र का जिस प्रकार अंकन किया है, वह उनके ही महान चरित्रों के निरूपण में जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि देखी जाती है वह उनकी महती प्रतिभा की देन है। कैकेयी-मंथरा कौसल्या और राम तथा चित्रकूट की सभा के संवाद इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। परशुराम-लक्ष्मण संवाद तथा रावण-अंगद-संवाद में जो अशिष्ट-व्यवहार देखा जाता है, उसका कारण यह है कि गोस्वामी जी राम-विमुख लोगों को चाहे वे महान् से भी महान् हों भर्त्सना के ही पात्र समझते हैं।[2] यहां उनकी अनन्य भक्ति

१—रामचरित मानस उ० का० ११

२—सोचनीय सबही विधि सोई। जो न छाड़ छल हरिजन होई॥ रा० अ०

भावना इतनी बलवती हो जाती है कि लौकिक स्तर पर वे शिष्टाचार को भी आँखों से ओझल कर देते हैं। उनकी दृष्टि में राम से विमुख होने पर बड़े लोगों की भी सामाजिक मर्यादा और तेज का ह्रास हो जाता है जिससे अपेक्षाकृत छोटे लोग भी उन्हें तुच्छ मानकर उनका निरादर करते हैं।[1]

गोस्वामी जी पर एक दोष और भी मढ़ा जाता है कि वे शूद्रों और स्त्रियों की निन्दा करते हैं, यथा—

(१) शूद्र करहिं जप तप मख दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
बादि शूद्र कह द्विजन सन हम तुमते कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि॥
(२) ढोल गँवार शूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥
(३) अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥

गोस्वामी जी के उपर्युक्त कथनों पर विचार करने के लिए, उस युग में प्रवेश कर उसे गोस्वामी जी की दृष्टि से देखना होगा। जब कि यह स्थिति थी कि वर्णाश्रम धर्म की शृंखला टूट रही थी, और वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए उक्त शृंखला को यथा स्थान जुड़े रहने देना आवश्यक था। वर्ण व्यवस्था के टूटने पर सबसे अधिक खतरा विधर्मियों से था।[2] यही खतरा स्त्रियों को अधिक स्वतंत्र छोड़ने में भी था। स्त्रियों और शूद्रों के समाज में शिक्षा की कमी थी, अस्तु इस खतरे के अवसर पर उक्त समाज को सामाजिक मर्यादा के भीतर यत्नपूर्वक रखने की आवश्यकता थी।[3] गोस्वामी जी एक साधु थे, प्रमदा के फेर में पड़कर वे अपनी साधना से विमुख हो गए थे, अतः वे उक्त मादक प्रभाव से बचने के लिए दूसरों को भी सावधान करते रहते थे। वस्तुतः रामभक्ति और स्त्री

१— निडर ईस तें बीस के बीस बाहु सो सोइ।
गयो गयो कहैं सुमति सब, भयो कुमति कह कोइ॥ दो० ४८८

२—उन्हीं लोगों ने इस्लाम को बिना कठिन प्रतिरोध के स्वीकार कर लिया जो वैदिक वर्ण व्यवस्था के प्रायः बाहर थे जैसे बौद्ध, समाज से बहिष्कृत लोग, नट, जुलाहे, कलंदर, कसाई आदि। भविष्य में भी ईसाई संप्रदाय में प्रविष्ट होने वाले ऐसे ही लोग रहे हैं जैसे आदिवासी अंत्यज और अंगरेजी-शिक्षा-संस्कृति से विशेष प्रभावित लोग।

३—सामाजिक-मर्यादा की रक्षा के लिए ही जातीय-सभाओं का संगठन किया गया था। अनेक जातियों में ये सभाएँ आज भी काम करती हैं।

प्रेम दोनों का एक साथ निर्वाह है भी कठिन। ऐसी स्थिति में साधक के पतन का भय सदा ही बना रहेगा। प्रमदा के फेर में पड़कर विषयी लोग सामाजिक तथा कौटुंबिक मर्यादा की भी अवहेलना करते तथा कर्त्तव्य च्युत हो जाते हैं।¹

यद्यपि गोस्वामी जी ने यह कहकर कि—

'कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥'

काव्य-कला में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है किन्तु यह कथन उनके नम्र स्वभाव का परिचायक है क्योंकि उनकी रचनाओं का अवलोकन करने से विदित होता है कि जैसी उनमें सूझ-बूझ थी, वैसे ही उनमें काव्य कौशल भी था और उन्होंने काव्य शास्त्र में भलीभाँति प्रवीणता प्राप्त की थी। श्री डा० माता प्रसाद गुप्त के कथनानुसार 'तुलसीदास की कृतियों का नितांत मौलिक अंश भी स्वभाव चित्रण, वस्तु योजना, वस्तु विन्यास, कल्पना विलास, उक्ति विलास और शैली आदि के विविध विषयों में कलात्मक परिणामों का ऐसा बाहुल्य प्रस्तुत करता है, जो असाधारण है और फिर भी विशेषता यह है कि उनमें उनकी ओर से सतर्क प्रयास का प्रायः अभाव और उनके व्यक्तित्व की अक्षुण्ण अभिव्यक्ति सर्वत्र प्रतिभासित होते हैं फलतः इसमें सन्देह नहीं कि हमारे कवि की कृतियाँ उसे संसार के नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों में स्थान देने के लिए पर्याप्त कारण उपस्थित करती हैं। इसके अतिरिक्त महा-काव्यकार और गीतिकार के रूप में भी उसका योग असाधारण है, इसमें सन्देह नहीं।'²

गोस्वामी जी व्यक्ति रूप में स्वभावतः एक वीर, सहृदय और स्वाभिमानी पुरुष थे, पर अहंकारी न थे। उनका हृदय लोक मंगल की भावना से ओत-प्रोत था। वे एक कुशल कवि ही नहीं बहुज्ञ विद्वान् भी थे। उनकी रचनाओं में मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। वे ज्योतिष, गणित वैद्यक, नीति, धर्म शास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास-पुराण और लोक वार्त्ता शास्त्र के ज्ञाता थे। उनके इन सभी गुणों का समाहार ज्ञान-वैराग्य युक्त राम-भक्ति में हुआ था। आचार्य पं० चतुरसेन शास्त्री के मत से 'तुलसी बड़े भारी

१—'सुरपति बसहिं बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुखताके॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई।॥
रा० अ० २५

और—'कलिकाल बेहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥
× × ×
ससुरारि पियारि लगी जबतें। रिपु रूप कुटुम्ब भए तबतें॥ रा० उ०

२—तुलसीदास पृ० ३७६

पंडित थे। उनके विचार स्पष्ट और निश्चल थे। एक कवि की दृष्टि से तुलसी भारतीय संस्कृति की कीर्त्ति हैं। उन्होंने रामचरित में लोक-धर्म चित्रित किया है। तुलसी के जोड़ का सत्कवि विश्व में दूसरा नहीं। राम के प्रति उनकी अपरिसीम तल्लीनता उनकी सम्पूर्ण कवित्व सत्ता से परे की वस्तु है।[1]

गोस्वामी तुलसीदास का महान् व्यक्तित्व उच्च वंश का शील, जमीदार ब्राह्मण वंश का ओज और स्वाभिमान हिन्दू संस्कृति के प्रति गौरव का भाव विविध विषयों का ज्ञान; अगाध पांडित्य जीवन और जगत का गम्भीर अध्ययन, नाना प्रकार की परिस्थितियों का अनुभव वैष्णव सम्प्रदाय का अदभुत संगठनात्मक बुद्धि, अनन्य रामभक्ति, तपस्वी का तेज, समन्वय और लोक मंगल की उदात्त भावना, अनोखी सूझ-बूझ और अद्भुत कवित्व शक्ति के योग से संगठित हुआ है। वे महान् सन्त हैं। यदि उनके ये सभी गुण अनमोल रत्न हैं तो उनका संग्रथन उस अनन्य रामभक्ति रूपी सुदृढ़ सूत्र में हुआ है जो ज्ञान वैराग्य रूपी कपास से सत्संग रूपी तकली पर बटकर बड़े यत्न से तैयार किया गया है। तुलसी का यह रत्नहार भारतीय संस्कृति का अनमोल कंठहार है। साधु-समाज का दिव्य-आदर्श अनुभवियों के अनुभव की सीमा, धर्म-बुद्धि वालों के शील सदाचार का आधार और साहित्याकाश का मनारम सूर्य है। सक्षेप में गोस्वामी तुलसीदास का यही व्यक्तित्व है। वे न किसी सम्प्रदाय, या मत के विरोधी थे और न किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज से उन्हें द्वेष था। वे सबके सुख-समृद्धि और विकास की कामना से ओत-प्रोत विशुद्ध हृदय सन्त थे। वे मुसलमानों के भी वैसे ही हितेच्छु थे, जैसा हिन्दुओं ने। अपने अनुभूत रामभक्ति के राजमार्ग पर अग्रसर कर वे सम्पूर्ण संसार को दुःख-दावाग्नि और यम यातना से उबारना चाहते थे। उनका उद्घोष था—

'श्वपच दरद खस जवन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ।। दो०

तुलसीदास का दृष्टिकोण जैसा मर्यादावादी था, उतना ही उदार। कर्त्तव्य पथ पर जितना वे कठोर थे उतना ही समाज के लिए करुणा से ओत-प्रोत। उनके द्वारा चित्रित शिवचरित्र में यही महत्त्वपूर्ण विपरीतता दिखाई देती है और रामचरित्र में भी, यथा—

"साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ बड़न कर सहज सुभाऊ ।।
और—'कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।
चित खगेस रघुनाथ कर समुझि परे कहु काहि ।।"

---

[1] —वयं रक्षामः (अर्थ भाष्यम्) पृ० १४९

समन्वयवादिता प्रशस्त विचारक, परमोदार और समाज में संकीर्ण सांप्रदायिक या दलबन्दी की भावना से ऊपर उठे हुए शीर्षस्थानीय महापुरुषों का गुण है। जो लोक नायक जितना ही महान होगा, उसमें यह गुण उसी मात्रा में विशेष होगा। तुलसीदास ने अनेक मत-मतांतरों, विचारों, भावनाओं, आचार-व्यवहार, रीति-नीति, विधि-विधान, श्रेय-प्रेय, नीच-ऊँच, बुरा-भला आदि सबका समन्वय किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" श्री राजनाथ शर्मा के शब्दों में—"गोस्वामी तुलसीदास ने उनके (शंकर, रामानुज आदि के) इस प्रयत्न (समाजोद्धार) को व्यावहारिक रूप दे, पूर्णता प्रदानकर समाज को कल्याणकारी मर्यादा के बन्धन में बाँध दिया और उसमें समन्वय की भावना उत्पन्न की। यह परिष्कार लगभग बारह सौ वर्षों से चली आती हुई विषमता का था। इसीसे तुलसी द्वारा स्थापित लोक-धर्म आज भी हिन्दुओं का सर्वमान्य लोकधर्म माना जाता है और उनका 'मानस' हिन्दुओं का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ। तुलसी की महानता का यही ऐतिहासिक रहस्य और महत्व है।[१]"

श्री आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—'उन्होंने (तुलसीदास ने उपयुक्त अनन्य भाव, आत्मत्याग, समन्वय, मर्यादा-पालन जैसी विश्वजनीन प्रवृत्तियों की इतनी स्पष्ट और सुन्दर व्याख्या कर डाली कि वे साधारण से साधारण व्यक्तियों का भी ध्यान स्वभावतः आकृष्ट करने लगीं और उनके उदाहरण में रचा गया इनका मानस अत्यन्त लोकप्रिय काव्य बन गया। प्रत्येक बात कवि की गहरी सहानुभूति और सहायता पर आधारित है। उनमें कथनी और करनी का वैषम्य नहीं लक्षित होता और उनके पीछे सर्वत्र एक सुलझा हुआ मस्तिष्क और सच्चा हृदय काम करता हुआ दीख पड़ता है।

तुलसीदास की समन्वयवादिता और लोक सामंजस्य का कारण उनकी वह विशाल हृदयता और अभेद बुद्धि है जिसमें संपूर्ण विश्व समाहित है। उनकी आत्मा में विश्वात्मा का स्पंदन निहित है, इसीसे उनका 'स्वांतः सुखाय' 'जगद्धिताय' बन गया है एवं 'नानापुराण निगमागम-सम्मत' है। उसमें संकुचित व्यक्तिवादी उच्छृंखलता और अमर्यादित स्वच्छन्दता का कहीं आभास तक नहीं और न कहीं विरूप वासना एवं भोगवादी भावना का दर्शन होता है। उनका 'मानस' चराचर जगत् का मानस है। प्रसिद्ध समालोचक श्री गुलाब राय ने

---

(१) साहित्यिक निबन्ध पृ० ३४

ठीक ही कहा है कि—'तुलसी व्यक्तिवादी नहीं थे, वे लोक संग्रह और समाज व्यवस्था में विश्वास रखते थे। उनका 'स्वांतः सुख' 'बहुजन सुखाय' और 'लोक हिताय' भी था। उनका 'स्वांतः सुख' रामभक्ति की प्रतिष्ठा में था और उस समय समाज को व्यवस्था देने और उसकी रक्षा के लिए राम के आदर्श चरित्र का अनुशीलन आवश्यक था। इसलिए उनका 'स्व' संकुचित स्व न था, उसका विश्वात्मा से ज़िसके प्रतीक राम थे, तादात्म्य था। डा० राम विलास शर्मा के कथनानुसार तुलसीदास की विचारधारा प्रगतिशील और जनवादी थी।[1] 'नहि कटि पट नहिं पेट अघाहीं' वाला समाज उनके दृष्टिपथ से ओझल न था। जो लोग तुलसीदास की रचनाओं को आज की परिस्थिति में रखकर अवलोकन करते हैं, वे तुलसी के मर्म तक नहीं पहुँच सकते। उन्हें तुलसी साहित्य में कोई प्रगति-मूलक तत्त्व नहीं दिखाई देगा अतः वे उनके महत्त्व को भी ठीक-ठीक नहीं आँक सकते, परन्तु यह तो अपनी दृष्टि अपनी परख की बात है।

मत-मतांतरों की समन्वयात्मक साधना का सूत्र-पात सर्वप्रथम पुराणों में हुआ है। ज्ञात होता है, स्वामी नरहरि दास पर भी उक्त पौराणिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा था। तुलसीदास को समन्वय-साधना की प्रेरणा तीन दिशाओं से प्राप्त हुई—प्रथम गुरु की समन्वयात्मक साधना का व्यावहारिक आदर्श, द्वितीय—पुराणों का सम्यक् अध्ययन और तृतीय तत्कालीन परिस्थितियों एवं इतिहास का सूक्ष्मता पूर्वक अवलोकन। उनके कथन में अनेक स्थानों पर पौराणिक उक्तियों की स्पष्ट छाप है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं—

'यत्पूजिते प्रियतमं, शिव निंदति ये नराः।
पच्यंते निरये तावद्यावद्वै ब्रह्मणाशतम्॥

ब्र० वै० ४।७५।८५

इसी प्रकार गो० तुलसीदास जी ने भी श्री रामचन्द्र जी से कहलाया है—

शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
सो नर करहिं कल्प भर घोर नरक महँ बास॥ रा० उ०

उपर्युक्त उद्धरणों में पौराणिक कथन की अपेक्षा तुलसीदास के कथन की विशेषता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। पौराणिक उक्ति एकांगी या एक पक्षीय है किन्तु तुलसीदास ने उसमें 'शंकर प्रिय मम द्रोही' का योग कर उसे पूर्ण और व्यावहारिक बना दिया है। इतना ही नहीं उन्होंने काक भुशुंड जी के पूर्वजन्म के वृत्तांत का उदाहरण देकर अपने कथन का प्रत्यक्षीकरण भी करा दिया है।

---

[1] —साहित्य संदेश भाग १३ अंक १ (जुलाई १९५१) पृ० २४

इस प्रकार उन्होंने पौराणिक उक्तियों में विशेषार्थ का मेल रखकर उन्हें मौलिक बना लिया है अतः उनका प्रभाव भी औषधियों के सम्यक् योग से बने हुए सिद्ध रसायन की भाँति पड़ता है। उनका 'राम-रसायन' ऐसा सिद्ध हुआ कि उसके सेवन से हिन्दू समाज का काया-कल्प हो गया। उसे नया जीवन, दिव्य ओज और अद्‌भुत शक्ति मिली। उनके राम जन-जीवन में इस प्रकार रम गए कि उनके नाम पर अपने स्थानों जैसे--रामपुर, राम नगर, राम बारी, रामघाट ; अनेक जलाशयों, जैसे—रामा भार, रामसर, राम गंगा नदी ; अनेक पेड़-पौधों जैसे—राम बाँस, राम तरोई, राम केला, रामा तुलसी, राम कजरा धान और अनेक व्यंजनों के नाम पड़ गए, जैसे राम सालन, राम चकरा,। राम रस (नमक) के विना तो सभी रस नीरस हैं। भारतवर्ष में अधिकांश व्यक्तियों के नाम रामवाची होना तथा अधिकांश जातियों के लोगों के नामांत में 'राम' आस्पद लगाए जाने का रहस्य भी यही है। वणिक लोग एक न कहकर प्रायः 'राम' से ही गणना का प्रारम्भ करते हैं। प्रत्येक माता अपने पुत्र को राम संज्ञा देती और वधू को सीता कहती है जैसा कि निम्नांकित भोजपुरी लोकोक्तियों से प्रकट है—'जे हमरा राम के ना, से कवना काम के ; रामे से रमायन सीता से रसोई' आदि।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है कि—"तुलसी से प्रभावित हिन्दू साहित्य भारतीय हिन्दुओं के जीवन में प्रविष्ट हो गया। तुलसी ने जो शुद्ध दक्षिण-मार्गी सीताराम की मूर्ति स्थापित की है, वह हिन्दू जनता के भीतर और बाहर सब ओर उनके जीवन में रम गई है। आज का हिन्दू धर्म तुलसी धर्म है और राम उनका इष्टदेव। तुलसी के आदर्शों पर समाज में सहिष्णुता, मर्यादा, धैर्य, संगठन, शौर्य और आशा का बीज उगा। तुलसी के राम के झंडे के नीचे शिवाजी ने दक्षिण में मराठा राज्य स्थापित किया। तुलसी के राम का बल पाकर राठौरों ने मुगलों से ३० वर्ष लोहा लिया। इन्हीं तुलसी के राम के आसरे छत्रसाल ने पाँच सवारों और २५ पैदलों की सेना लेकर दो करोड़ वार्षिक आय का विशाल साम्राज्य स्थापित किया। तुलसी के रामाश्रय होकर ही पेशवाओं ने मुगल-साम्राज्य को ध्वस्त कर ५०० वर्षों के खोए हुए हिन्दू-साम्राज्य की फिर से स्थापना की।" (वयं रक्षामः पृ० १४९)

तुलसीदास की सबसे बड़ी सामाजिक और सांस्कृतिक देन यह है कि उन्होंने अपने गंभीर अध्ययन, सूक्ष्मदृष्टि और महान तपस्या द्वारा पुराणों की समन्वयवादी साधना को पूर्णता प्रदान कर एक ऐसे राजमार्ग का निर्माण किया जिसपर सुगमतापूर्वक, विना किसी भेदभाव के समान रूप से सबलोग चल सकते थे। भारत के साहित्य, संस्कृति और सामाजिक जीवन में उनकी कृतियां अनुपम रत्नाभरण के समान भूषित उनका जीवन-दर्शन सुख के समाव सुविकसित,

उनके उपदेश शरद्पूर्णिमा के समान शांतिप्रद, उनकी प्रेरणा युवावस्था के समान उत्साहकर एवं उनकी अनुपमवाणी अमृतत्व के समान अमरता प्रदान करनेवाली है। उनका अप्रतिम पवित्र-व्यक्तित्व काल प्रवाह को सुदृढ़ शिला की भाँति गतिमात्र करता हुआ, अचल, अनश्वर और अभिनंदनीय है। उनमें वे सभी महान् गुण हैं जो एक महापुरुष के लिए आवश्यक हैं—

'तेजसा, यशसा, बुद्धया, ज्ञानेन, विनयेन च।
जन्मना, तपसा वद्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥

अर्थात् वे अपने अलौकिक ब्रह्मतेज, विश्वव्यापी यश, अद्भुत प्रतिभा, ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक विनय (अनुशासन) श्रेष्ठ कुल में जन्म और तप (सत्कर्मों की साधना) के कारण नारद जी की भाँति सर्वत्र पूजित हैं।

संत, समाज सुधारक और कवि, इन तीनों रूपों में तुलसीदास महान् और अद्वितीय हैं। उनके जीवनकाल में ही उनकी महिमा के गीत गाए जाने लगे थे, जैसा कि उनके कथनों से ही व्यक्त है—

'घर घर माँगत टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥दो०
'केहि गिनती महँ, गिनती जस बनघास।
राम जपत भयो तुलसी तुलसीदास ॥व० रा०
'नीच यहि बीच पति पाइ भरु हाइगो'
और—'तुलसी को जग मानियत महामुनी सो' आदि।

इन अंतर्साक्ष्यों की पुष्टि सम-सामयिक बहिर्साक्ष्यों द्वारा भी होती है, जैसा कि नाभादासजी ने लिखा है—

'संसार अपार के पार को, सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयो ॥

—भक्तमाल

तुलसीदास के परमप्रेमी श्री कृष्णदत्त मिश्र ने 'गौतम चंद्रिका' में लिखा है—
'देस देस के भूपति आवहिं। तुलसिहिं संपति लोभ देखावहिं ॥
तुलसी विनय करहिं तिन पाहीं। राउरि कृपा जोग हम नाहीं ॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने। तुलसी चरन सकल रति माने ॥'

इसी प्रकार तुलसी के सम सामयिक 'अनन्य माधव' की उक्ति देखिए, कहते हैं—अति ही अमित महिमा तुम्हारी कहाँ कैसे गाइके।

इससे स्पष्ट है कि लोकनायक, संत और कवि के रूप में तुलसीदास की प्रशस्ति उनके जीवनकाल से ही होती आ रही है और इस रूप में जब तक संसार चलता रहेगा। उनकी प्रशस्ति होती रहेगी श्री प० राम गुलाम द्विवेदी क्या कहते हैं, द्रष्टव्य है—

'जै जै जै तुलसी की बानी।
विसद विचित्र चित्रपद मंडित भक्त मुक्ति वरदानी॥
लीन्हो बेद-पुरान शास्त्र मत, मुनिजन ललित कहानी।
ज्ञान विराग ब्रह्म सुख जनकी, करम धरम नय सानी॥
उदित भई जा दिन ते जग में, तवते बुधन बखानी।
अखिल अवनि मंडल परिपूरित, को अस जो नहिं जानी॥
प्रगटी रामचरन रति जहँ तहँ भूरि विमुखता भानी।
'राम गुलाम' सुनत गावत हिय आवत सारंग पानी॥

श्री वंदन पाठक तुलसीदास को जीवन दायिनी विमलवाणी को वंदना करते हुए कहते हैं—

'जयति जय जयति तुलसीस बानी।
कविन सुखदायी भाव अंगन भरी छरी भव सूल रस चाव खानी।
पढ़त जेहि होत नर राम मारग निरत, लही जग जाचना आस हानी॥
लोक परलोक सुख देति, निज जनन को ताप हरि लेत आनंद खानी॥

श्री तोष कवि का कथन है—

'यह खानि चतुष्फल की सुखदानि, अनूपम आनि हिए हुलसी।
पुनि संतन के मन सृंगन को अति मंजुल माल लसी तुलसी॥
पुनि मानुष के तरिबे कहँ तोष भई भवसागर के पुल सी।
सव का मन दायक काम दुहा। सम राम-कथा बरनी तुलसी॥

तुलसीदास की रामकथा के चारों फलों की खानि, संतों के मन को आनंदित करने वाली और सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली होने का आधार क्या है?

इसे श्री बेनी कवि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वेद मत सोधि-सोधि बोध कै पुरान सबै,
संत औ असंतन को भेद को बतावतो।

कपटी कुराही कूर कलि के कुचाली जीव,
कौन रामनामहू की चरचा चलावतो ?
बेनी कवि कहै मानो हो प्रतीति यह,
पाहन हिए में कौन प्रेम उमगावतो।
भारी भव सागर उतारतो कवन पार,
जो पै यह रामायन तुलसी न गावतो ।।

लोकोक्ति है—'रामरस के बिना सभी व्यंजन फीके' परन्तु 'राम-रस के प्रबुद्ध अधिकारी 'तुलसीदास' ही हैं। भक्त रामचरणजी कहते हैं—

'निगमागम सार शृंगार सब ग्रंथन को,
पियो है पुराण सबै जैसे वक्षमाई के।
इस को शृंगार-सार संत उर हार लसै,
कीन्हौ है अहार ज्ञानी सदा सुखदाई के।।
सध-जग जहाज औ सोपान रामधाम के,
दशधा के साज सज्यो मिले हेतु साईं के।
'रामचरन' रामकथा कीन्हों है बखान सबै,
रामरस बाँटे पर्यो तुलसी गोसाईं के।।

और 'रत्नाकरजी के कथनानुसार वह 'रामरस' जीवन का आधार और रुचिर कविता का शृंगार भी है यथा—

साधन की सिद्धि ऋद्धि सगुन अराधन की,
सुभग समृद्ध वृद्धि सुकृत कमाई की।
कहैं 'रतनाकर' सुजस कल कामधेनु,
ललित लुनाई रामरस रुचिराई की।।
सब्दनि की बारी, चित्रसारी भूरि भावन की,
सरबस सार सारदा की निपुनाई की।
दास तुलसी की नीकी कविता उदार चारु,
जीवन आधार औ सिंगार कविताई की।।

महाराजा रघुराज सिंह के मन से 'दशरथलाल' को भी बस में करने वाले तुलसी की वाणी उपमादि अलंकार, ध्वनि, भाव, रस उक्ति, युक्ति, ज्ञान,

वैराग्य, भक्ति, योग, देशकाल के अनुसार शिक्षा लोकवेद को रीति, नीति प्रतीति आदि अनेकानेक बातों से भरी हुई है, जैसे—

उपमा अनेक धुनि भाव रस उक्ति जुक्ति,
छंद औ प्रबंध सन बंध सिख देस काल।
ज्ञान जोग, भक्ति अनुराग और विराग विनै,
नीति परतीति प्रीति-रीति भीति जगजाल॥
लोकगति, वेद्गति, चित्रगति, परगति,
ईस गति जाति सम रति तति सतिहाल।
तुलसीजू एते गायो 'रामायन' रघुराज,
बरबस कीन्हों निज बस दसरथ लाल॥

तभी तो महात्मा मधुसूदन सरस्वती अथवा ब्रह्मचारी आनन्द कानन ने कहा था—

'आनन्द् कानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसी तरुः।
कविता मंजरी यस्य राम-भ्रमर भूषिता॥

जिस महापुरुष का महान् व्यक्तित्व शताब्दियों से समाज के लिये जीवन-ज्योति जगा रहा है और जिसकी अम वाणी दीपस्तंभ बनी हमारा पथ-प्रदर्शन करती आ रही है, वे गोस्वामी तुलसीदास आज हमारे समक्ष नहीं हैं, परन्तु उनकी कृतियाँ, उनके कार्य और प्रभावक्षेत्र हमारे समक्ष हैं। उनके महत्त्व की परख केवल इस बात से ही की जा सकती है कि उनका 'रामचरित-मानस' केवल राम-भक्तों के लिए ही नहीं, वरन् समस्त समाज के लिए अनुपम उपलब्धि बना हुआ है। देश-विदेश की अनेक समृद्ध-भाषाओं में इसके अनुवाद किये गए और किये जा रहे हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् और कवि श्री अब्दुर्रहीम खानखाना ने 'श्री रामचरितमानस' के विषय में कहा था—

'रामचरितमानस' विमल, संतन जीवन प्रान!
हिंदुवान को वेद सम, जनमहिं प्रगट पुरान॥'[1]

महात्मा गांधी ने लिखा है कि—'तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसे अद्वितीय ग्रन्थ मानता हूं।

× × ×

---

[1]—कल्याण का रामायणांक,

गीता और तुलसीदास की रामायण के संगीत से जो स्फूर्ति और उत्तेजना मुझे मिलती है, वैसी और किसी से नहीं ।[1]

उन्होंने अन्यत्र कहा है—'वर्त्तमानकाल ने इतनी सदियों में इस ग्रन्थ की जोड़ का दूसरा एक भी ग्रन्थ पैदा नहीं किया । इस एक ही ग्रन्थ ने मुझमें जो आशा और श्रद्धा भरी है, वह और किसी ग्रन्थ ने नहीं दी । मैं मानता हूं कि तुलसीकृत रामायण रस में अलंकार में या भक्तिभाव में, किसी भी पंक्ति की आलोचना या परीक्षा में टिक सकती है ।[2]

मनीषी विद्वान् तथा संत विनोबा भावे कहते हैं—'भारतीय साहित्य के इतिहास में तुलसीदासजी के रामायण का एक स्वतंत्र स्थान है । हिन्दी राष्ट्र-भाषा है और उस भाषा का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है, अतः राष्ट्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का स्थान अद्वितीय है ही, पर भारत के सात-आठ करोड़ लोग इसे वेदतुल्य प्रामाणिक मानते हैं । यह नित्य परिचित तथा धर्म जागृति का एक मात्र आधार है, अतः धर्म दृष्टि से भी इसे अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ ।[3]

स्वर्गीय श्री डा० ग्रियर्सन के कथनानुसार आधुनिक काल में तुलसीदास के समान दूसरा ग्रन्थकार नहीं हुआ । गंगा के मैदान में तुलसीदास के रामचरित मानस का इतना अधिक प्रचार है जितना इंगलैंड में बाइविल का नहीं । कम से कम ९ करोड़ व्यक्ति अपने धार्मिक और चारित्रिक निर्माण का आधार उनके द्वारा लिखित साहित्य को मानते हैं । यदि वर्त्तमान-काल में उनके प्रभाव की जाँच करें तो वे एशिया खंड के तीन या चार लेखकों में से एक हैं । उनके मत से बुद्ध के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास हुए । वे असाधारण प्रतिभा को लेकर हुए थे ।[4]

रूसी विद्वान् वाराग्निकोव ने लिखा हैं—'भारतीयों के लिये यह राम-चरिस-मानस) एक धर्म-पुस्तक एक प्रकार की बाइबिल ही बन गई है और इसे जो लोकप्रियता, प्रेम और आदर प्राप्त हुआ है, वह इसके पहले अन्य किसी भी भारतीय ग्रन्थ को कभी प्राप्त नहीं हुआ । उत्तर भारत में तो इससे अधिक लोकप्रिय और कोई ग्रन्थ नहीं । इसके धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक विचारों ने सदियों से भारतीयों के मत निर्माण में गहरा असर डाला है और आज भी डाल रहे हैं । एक अमर साहित्यिक कृति के रूप में रामायण भारतीय

---

[1] —नवजीवन् ।

[2] —महादेव भाई की डायरी भाग ३ पृ० ६७

[3] —रामायणांक पृ० ५०३

[4] —इण्डियन एंटीकैरी १८९३ पृ० ८५,
इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन ऐण्ड थिक्स पृ० ४७१

काव्य का अनुपम रत्न है। इसकी रचना भारतीय काव्य परम्बरा की मौलिक और गम्भीर प्रणाली के अनुरूप हो है, जो योरोपीय-प्रणाली से सर्वथा भिन्न है।[१]

प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेट ए० स्मिथ के मत से 'तुलसीदास अपने युग के सबसे महान् अकबर से भी महान् व्यक्ति थे। उन्होंने करोड़ों स्त्री-पुरुषों के हृदय और मस्तिष्क पर जो विजय पाई थी, वह सम्राट की समस्त विजयों की अपेक्षा असंख्य गुनी अधिक महत्वपूर्ण और चिरस्थायी थी।[२]

श्री रेवरेंड एडविन ग्रीब्स का कथन है कि—'वे केवल हमारे प्रशंसा के पात्र नहीं, प्रेम के भी हैं और वह प्रेम उन्हें प्राप्त भी हुआ है, इसका ज्वलंत उदाहरण यही है कि समस्त हिन्दी साहित्य में ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं जिसका राजप्रसाद से लेकर एक निर्धन की कुटिया तक इतना अधिक प्रसार हो।[३]

श्री डा० के० का कथन है कि—हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान निःसंदेह सर्वोच्च हैं और उनकी रामायण न केवल भारत में ही वरन् समस्त संसार में सुप्रसिद्ध है।[४] डा० जे० एस० मैकी के विचार से 'गोस्वामी तुलसीदास जी के ग्रन्थों में भक्ति का जो उच्च और विशुद्ध-भाव आता है, उससे बढ़कर उच्चभाव और कहीं नहीं दिखलाई देता।[५]

इसी प्रकार सर्व श्री नटेशन, ग्राउस, कारपेंटर आदि ने गोस्वामी जी की रचनाओं और उनके व्यक्तित्व की प्रशंसा की है। डा० कामिल बुल्के के कथनानुसार 'तुलसी इतने महान् हैं कि वह काल, देश और धर्म-विशेष की सीमाएँ पारकर मानव मात्र को मुग्ध करने में समर्थ है।[६] श्री बुल्के रामभक्ति' के विकास में 'श्री रामचरित-मानस' का अद्वितीय और महत्त्वपूर्ण योग मानते हैं।[७]

१—नया समाज नव० १९५१

२—अकबर दि ग्रेट मुगल पृ० ४१७

३—कल्याण का रामायणांक पृ० ३४३

४—हिन्दी लिटरेचर पृ० ४७

५—दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नादर्न इंडिया(भूमिका)

६—धर्म युग दि० ३-१०-६५

७—गोस्वामी तुलसीदास की समस्त रचनाएँ उनके इष्टदेव राम से सम्बन्ध रखती हैं लेकिन इनमें से रामचरित मानस सबसे अधिक लोकप्रिय प्रमाणित हुई है। इसी एक रचना के द्वारा हिन्दी प्रदेश में रामभक्ति की धारा फैल गई और आज तक प्रवाहित होती रही। अतः रामभक्ति के विकास में 'रामचरित-मानस' का महत्त्व अद्वितीय है।—रेवरेंड फादर कामिल बुल्के डी० फिल० कृत रामकथा पृ २२१

मिश्र बन्धुओं ने गोस्वामी जी का स्थान हिन्दी साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य में सर्वोच्च माना है। वे कहते हैं—'महात्मा तुलसीदास सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति के परे हैं। इनकी रचनाओं के प्रति पृष्ठ प्रति पंक्ति, बल्कि प्रति शब्द में अद्वितीय चमत्कार दीख पड़ता है।'

कविवर जयशंकर प्रसाद ने गोस्वामी तुलसीदास की वंदना निम्नांकित 'चतुर्दशपदी' में की है—

'अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा।
सकल चराचर जिसका क्रीड़ाभूमि पसारा॥
इस शुभ सत्ता को जिसने प्रत्यक्ष किया था।
मानवता को सदय ज्ञान का रूप दिया था॥
नाम निरूपण किया, रत्न से मूल्य निकाला।
अन्धकार भव बीच नाम मणि दीपक बाला॥
दीन रहा पर चिन्ता मणि वितरण करता था।
भक्ति सुधा से जो सन्ताप हरण करता था।
प्रभु का निर्भय सेवक था स्वामी था अपना।
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना॥
प्रवल प्रचारक था, जो उस प्रभु की प्रभुता का।
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का॥
राम छोड़कर और की जिसने कभी न आस की।
'रामचरित-मानस-कमल' जय हो तुलसीदास की॥

धन्य है तुलसीदास की अमृतवाणी और धन्य हैं अमर जीवन-गान के गायक लोकनायक तुलसीदास! धन्य है, ऋषि मुनियों की पुण्य स्थली भारत भुमि और धन्य है वह साधु समाज, जहाँ जन्म लेकर और जिसमें निवासकर तुलसीदास ने जगत् को अमर जीवन और शाश्वत-सुख का सन्देश दिया, जिसके अनुसार निविड़ अन्धकार में भटकता हुआ पाप ताप से परितप्त मानव-मन ज्ञानालोक में शाश्वत सुख-शान्ति का सुधा सरोवर पाकर अक्षय तृप्ति लाभ करता है। वह सन्देश है—विश्वास और निष्ठापूर्वक अनन्य भाव से 'राम-रस' का सदा सेवन। भगवान् शंकर के शब्दों में—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन जेहि नर उपज विनीत॥ रा० उ० १२७

इस प्रकार कुल, जाति, देश-काल और लोक जीवन को धन्य बनाने वाले तुलसीदास सचमुच धन्य थे! यह बड़े महत्त्व की बात है कि तुलसीदास और उनकी कृतियों के महत्त्व को क्या देश और क्या विदेश, सब कहीं एक स्वर से स्वीकार किया गया है। श्री मैक्फी साहब ने लिखा है कि—गोस्वामी तुलसी दास के ग्रन्थों में भक्ति का जो उच्च और विशुद्ध भाव आता है, उससे बढ़कर और कहीं दिखाई नहीं देता।[1] श्री सेन्ट्रल थोम के विचार से—हिंदुओं के धार्मिक सिद्धान्तों और उनकी संस्कृति का सर्वोच्च सुन्दर चित्र जैसा रामायण में मिलता है, वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं होगा।[2] श्री कारपेन्टर लिखते हैं कि उनकी वाणी को जनता कहावतों की भांति उपयोग में लाती है इतनाही नहीं वरंच सैद्धांतिक दृष्टि से भी वह बड़ी उच्च है।[3] जर्नल आफ दि एशियाटिक-सोसायटी (१९०३) के कथनानुसार—भारत में तुलसीकृत रामायण का स्थान सर्वोपरि है। उसके प्रभाव का अतिरंजित वर्णन हो ही नहीं सकता। इन्साईक्लोपीडिया आफ आफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स (१९२१ पृ० ४७१) पर उल्लेख है कि तुलसीकृत रामायण का उत्तर-भारत की करोड़ो पढ़ी-बेपढ़ी जनता में इतना सम्मान और प्रचलन है, जितना सामान्य इसाइयों में बाइबिल का नहीं है। डा० रामरतन भटनागर कहते हैं—राम का रामत्व तुलसी से भिन्न वस्तु न होकर उनका भीतरी बोध (या आत्मबोध) मात्र है।[4] डा० श्रीकृष्ण लाल के अनुसार आज तक ईश्वर की जितनी भी सृष्टियां हुई हैं, जनता में प्रचार की दृष्टि से गोसाईं तुलसीदास की सृष्टि संभवतः सबसे अधिक सफल हुई है।[5]

डा० भाग्यवती सिंह ने सत्य ही लिखा है कि 'महाकवि तुलसी की अवतारणा हमारे साहित्य के इतिहास की एक क्रान्तिकारी-घटना है।[6] वे अपने में अद्वितीय औ असाधारण हैं। डा० रामचन्द्र मिश्र लिखते हैं कि 'तुलसी के स्थान पर हम किसी कवि का प्रतिष्ठित नहीं कर सकते, यह ध्रुव सत्य हैं। उनकी वाणी प्रत्येक स्तर के मानव के लिए आप्त वाक्य है, इसीसे हम तुलसी और उनके काव्य की किसी क्षण उपेक्षा नहीं कर सकते है।[7] कृत्तवास कृत बंगला रामायण

१—दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नादर्नइण्डिया (१९३०, एडिनबरा

२—तुलसीदर्शन पृ० १६ से उद्धृत

३ -थियालोजी आफ तुलसीदास पृ० २

४—मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास पृ० १७७

५--मानस दर्शन (प्रवेश पृ० १)

६—तुलसी की काव्यकला पृ० ३९१

७—हिन्दीपद-परम्परा और तुलसीदास पृ० ३२०

और श्री रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए डा० रमानाथ त्रिपाठी कहते हैं कि—'महाकाव्य के शास्त्रीय विवेचन, मानव-चरित्र के उत्कृष्ट आदर्श-चित्रण और अपने देश-काल की सीमा तोड़कर मानवता के सन्देश प्रदान की व्यापकता की दृष्टि से तुलसी बहुत ऊँचे हैं (पृ० ३) श्री जगदीश पांडेय के शब्दों में—'संस्कारों का ऐसा शिवतम दर्पण, साहित्य की ऐसी सिद्धि और मानव का ऐसा उदात्त स्वरूप जिसमें भाव और व्यवहार, प्रत्यक्ष और विश्वास, श्रद्धा और सक्रियता एकाकार हो गए हों अन्यत्र दुर्लभ है।[1]

काव्यकला की दृष्टि से भी तुलसीदास जी हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों को अपने पीछे छोड़ जाते हैं। डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र के कथनानुसार 'तुलसी की कला बड़ी उदात्त है। वह हमारी भावनाओं का संस्कार करने वाली और सत्प्रेरणा प्रदान करने वाली है।[2] डा० राजकुमार पांडेय के अनुसार—'रस, गुण वर्ण्य विषय, प्रसंग एवं पात्रों की शील-संस्कार जन्य मर्यादा के अनुरूप अपने स्वरूप का संविधान करने में गोस्वामी तुलसीदास की भाषा असंदिग्ध रूप से बेजोड़ है।[3] डा० प्रेमप्रकाश गौतम के मत से—'तुलसी जैसे भाषा मर्मज्ञ और भाषाधिकारी हिन्दी में ही क्या विश्व वाङ्मय में दुरासद है।[4] डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं कि तुलसी की प्रतिभा इतनी उच्चकोटि की है कि उसमें अलंकार स्वाभाविक रूप से चले आते हैं।' डा० हरिहर नाथ हुक्कू का कथन है कि—'कला की दृष्टि से जिस प्रकार कला का निर्वाह तुलसी ने किया है, वह सराहनीय ही नहीं अद्वितीय है। डा० शालिग्राम गुप्त के विचार से—'वे गीत काव्य के क्षेत्र में भी भावों के ऐसे सुन्दर चित्र अंकित किए हैं जिनका अन्यत्र मिलना कठिन हो सकता है। अस्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार से इस 'इस संतुलित प्रतिभा ने उत्तर भारत को वह महान् साहित्य दिया, जो दुनिया के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता।[5]

डा० रामप्रकाश अग्रवाल ने तुलसीदास के वाङ्मय को भारतीय-साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि बताते हुए उन्हें रीतिकालीन आचार्यों का आचार्य कहा है। श्री रमेशचन्द्र गुप्त के विचारानुसार—'उनकी कृतियाँ युग-विशेष की प्रतिभा और कवित्व की द्योतक न होकर देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करके मानव मात्र की स्थायी एवं अमूल्य-निधि है। श्री घनश्याम अग्रवाल के मत से भक्ति-

---

१—उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन पृ० ४१८

२—तुलसी रसायन पृ० १२५

३—रामचरित-मानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन पृ० ४६४

४—तुलसीदास का दर्शन और काव्यकला

५—हिन्दी साहित्य पृ० २४१

काल को एक अनूठा रत्न प्राप्त हुआ था, जिसने युग-युग के लिए भारतीय-साहित्य-वसुधा को जगमगा दिया।[१] इसीसे 'वे हिन्दी के होकर केवल हिन्दुस्तान के ही नहीं बल्कि अपनी अलौकिक कविता-शक्ति के कारण समस्त संसार के हो रहे हैं।[२] इसलिए 'यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही ठीक उत्तर हो सकता है कि भारत हृदय भारती-कंठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।[३] तुलसी हमारे हिन्दी के ही नहीं, भारत के श्रेष्ठ कवि हैं। यही नहीं वे विश्व के गिने चुने महाकवियों में हैं।[४] उनके उद्गारों ने जनता के हृदय में आशा का संचार किया। भक्ति के उपदेशों ने जनता को उच्च जीवन का आश्वासन दिया और जनता ने कवि को आत्मसमर्पण कर दिया। यथार्थता, उच्चादर्श, सर्वांगीणता तथा मानवीयता ने (रसात्मकता से समन्वित होकर) तुलसीदास को धनी-निर्धन, ज्ञानी-अपढ़, ऊँच-नीच सभी के हृदय में सदा के लिए प्रतिष्ठित कर दिया। उनका आसन अटल और लोकप्रियता अमर है।[५] यह उनके साधु जीवन और व्यक्तित्व का ही प्रभाव है जो उनकी काव्य प्रतिभा से चमत्कृत चेतना-तरंगिणी एक ओर विमल भक्ति-कूल को और दूसरी ओर मानवता के सम-विषम तट को चूमती चलती है। तुलसी ने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य-साधुता के संयोग का अपूर्व अमृतमय सुभगफल हिन्दी-साहित्य को देकर उसे युग-युगान्तर के लिए अमर कर दिया है।[६] गोस्वामी जी का मानस सार्वभौम एवं सार्वकालिक ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक संकीर्णता उससे कोसों दूर है। व्यावहारिक कल्याण-मार्ग उससे पूर्णतः प्रतिविम्बित है। भारत की राष्ट्रीय चेतना को बल देकर दिव्य मानवता जगाने की शक्ति उसमें है, उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में हो।[७] रामचरित-मानस' एक बहुत बडा ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला ग्रन्थ है। संस्कृत की विशाल परम्परा को यह ग्रन्थ अकेला ही समेट लाया हैं। इसने कुचली हुई जनता में नए प्राण फूँक दिए।[८] सन्त विनोवा भावे—'रामचरित मानस' का महत्त्व इन शब्दों में प्रकट

१—तुलसीदास का दर्शन और काव्य कला

२—डा० श्यामसुन्दर दास—गो० तुलसीदास पृ० १४९

३—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास पृ० १७५

४—राहुल सांकृत्यायन—मानस की रूसी भूमिका पृ० ३

५—मानस की रूसी भूमिका—अनु० डा० केसरी नारायण शुक्ल पृ० ८२

६—डा० राजपति दीक्षित—तुलसीदास और उनका युग पृ० ४९, ९३

७—डा० वलदेव प्रसाद मिश्र—मानस माधुरी (भूमिका) पृ०

८—डा० रांगेव राघव—तुलसीदास का कथा शिल्प (दो शब्द)

करते हैं—'शेक्सपीयर एक महान् कवि हैं और वाइबिल एक महान् धर्म ग्रन्थ, पर जब दोनों मिलते हैं, तब रामचरित मानस बनता है।' महात्मा गांधी के मत से गहरे अध्ययन के लिए वह गीता के समान ही मूल्यवान है (गांधी विचार-दोहन पृ० ३०)। उन्होंने कहा है कि तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यंत प्रिय है, उसे मैं अद्वितीय ग्रन्थ मानता हूं (तुलसी दल पृ० २०)।

अवतारी युगपुरुष—

कवि की वाणी उसके देशकाल का दर्पण होती है। विशाल वटवृक्ष की भांति भले उसकी समुन्नत विचार शृंखलाएं दूरवर्ती देशकाल को अपने में सीमित कर लें, परन्तु उसका मूल तो अपने निर्धारित भूमि में ही पलता है। महापुरुष देशकाल की सीमा को समेट कर उसके ऊपर उठ जाते हैं एवं पूरे युग को नियन्त्रित कर उस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोस्वामी जी अपने महान् व्यक्तित्व द्वारा अपने युग के प्रतिनिधि-महाकवि और समाज-सुधारक हैं।[1] उनकी कृतियाँ अपने युग की सारी विशेषताओं, काव्य प्रतिमानों, गतिविधियों, विचार सरणियों, विधि-विधानों, मान्यताओं, अतिशयताओं, अभावों आवश्यकताओं आदि को उस समय के सामाजिक चित्रपट पर उपस्थित करती हैं। उनमें तुलसीकाल की परिस्थितियों का भलीभांति अवलोकन किया जा सकता है।[2] तुलसीदास न किसी संप्रदाय, जाति या समाज विशेष के प्रतिनिधि हैं, वरंच वे अपने पूरे युग के प्रतिनिधि हैं और उस देशकाल के आगे भी मानव मात्र के प्रतिनिधि है क्योंकि उन्होंने मानव की शाश्वत समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है।[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं—"मानव प्रकृति का ज्ञान उस युग में तुलसीदास से अधिक किसी का नहीं था। तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका

१—वे निश्चय ही अपने समय की विचारधारा ओर तद्युगीन वातावरण के स्वस्थ सुहाग का साकार स्वरूप थे—डा० गोविन्द त्रिगुणायन

२—तुलसी साहित्य के परायण का अर्थ है—सपूर्ण भारतीय आत्मा का दर्शन। उनका 'मानस' वस्तुतः भारतीय जनता का मानस है, उसके आदर्शों का दर्पण। (डा० रामप्रकाश अग्रवाल)

३—तुलसीदास की संजीवनी शक्ति मानव मात्र की मंगल भावना है। तुलसी मध्य के नहीं युग-युग के साहित्यकार हैं। उनके काव्य में शाश्वत संदेश हैं। वह संदेश मानव के लिए है, मानवता के उद्धार और मंगलमय भविष्य के लिए है। (श्री घनश्याम अग्रवाल)

कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने सब ओर से समता की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्गदर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म होगा।"

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के शब्दों में—'राम का लोकमंगल-स्वरूप और संसार भर को केवल भक्ति का संदेश देनेवाला यदि संसार का कोई कवि है तो वह तुलसीदासजी ही हैं। इस दृष्टि से वे केवल भारत के ही नहीं संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं, जिनकी तुलना आज तक के किसी भी कवि से करना धृष्टता होगी।[१]

क्रांतिकारी प्रतिभा --

श्री पंडित रामनरेश त्रिपाठी के मतानुसार 'रामचरित–मानस' एक क्रांतिकारी काव्य है (तुलसी और उनका काव्य पृष्ट ३१२) मनुष्य के जीवन में उसकी आयु की ३० और ४० वर्ष की अवस्था के बीच सृजनात्मक-शक्ति सबसे अधिक रहती है।[२] गोस्वामीजी ने अपनी आयु की इसी अवधि में 'रामचरित-मानस' का प्रणयन किया था एवं अपने दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ भी इसी के आसपास लिखे थे। उनकी रचनाओं पर विचार करने से ज्ञान होता है कि वे अद्भुत प्रतिभा के धनी तो थे ही, साथ-साथ उनकी शिक्षा-दीक्षा भी व्यवस्थित ढंग से हुई थी और उनका अनेक विषयों पर अध्ययन भी विशाल था। 'बुद्धि के विकास पर माता-पिता, शिक्षा, व्यवसाय, रहन-सहन, परिवार की आर्थिक और सामाजिक स्थिति तथा अन्य अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। यद्यपि आनुवंशिकता प्रधान है[३], फिर भी वातावरण का भी कम प्रभाव नहीं पड़ता। इन बातों पर विचार करने से प्रकट होता है कि तुलसीदास की वंश-परम्परा तो ऊँची थी ही, उनको ऊँचे दर्जे के गुरु और ऊँचे लोगों का समाज भी मिला था एवं उनकी शिक्षा का आदर्श ऊँचा था, जिसे स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, अस्तु उनकी रचनाओं के अन्तर्साक्ष्य द्वारा उनकी परम्परा, पारिवारिक-सामाजिक और आर्थिक स्थिति, व्यवसाय तथा आचार-व्यवहार के विषय के पता लगाया जा सकता है।

१—गोस्वामी तुलसी दास पृ० २३०

२—विज्ञान-प्रगति (नयी दिल्ली १२) अक्टूबर १९७० पृ० ४२३

३—मैंडल के कथनानुसार कोई संतान प्रायः माता-पिता के समान ही लक्षण रखती है। माता-पिता से संतान की यह समानता 'आनुवंशिकता' कहलाती है। (आनुवंशिकी व उद्भिद अभिजनन पृ० १५३)

तुलसी-काल में आज जैसी जातिवादिता न थी[1], परन्तु खान-पान की शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ब्राह्मण उस भोजन को ग्रहण नहीं करता था, जिस पर किसी नीच जाति या विधर्मी की दृष्टि पड़ जाती थी।[2] और न वह उस कमरे में पानी पी सकता था, जिसमें ऐसे लोग उपस्थित होते थे।[3] उस समय भी तुलसीदास ने राम के नाते श्वपच को गले लगाया और गोहत्यारे के साथ भोजन किया, जिससे स्पष्ट है कि समाज-सुधार-सम्बन्धी उनकी भावना कितनी क्रांतिकारी थी। तुलसी के इस महत्त्व को उस कसौटी पर देखा जा सकता है, जिसके कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे समाज-सुधारक को भी सिद्धांततः अस्वीकार करते हुए भी व्यवहार में छुआछूत को मानना पड़ा था।[4] तुलसीदास ने शास्त्र-पुराणों का अध्येता पंडित होकर भी अपनी रचनाओं में लोकभाषा का आश्रय लिया और उसमें अपनी मातृभाषा (भोजपुरी) और विधर्मी लोगों की भाषा के प्रयोगों को भी अपनाया[5] यह कम क्रांतिकारी बात न थी। जिस प्रकार उनका कवित्व और संतत्व अपने में अद्वितीय है[6], उसी प्रकार उनका क्रांतिकारी समाज-सुधारक व्यक्तित्व भी अपने में अद्वितीय है जिसने स्थायी रूप से समाज को प्रभावित किया और उसे

३—(जातिवाद) की दृढ़ता का विकास मुख्य रूप से बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ से ही हुआ है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जातिवादिता का जन्म हो गया था।

—डा० कैलासनाथ 'भारतीय समाज और संस्कृति पृ० १४०

४—सोलहवीं शताब्दी के एक रूसी यात्री ने लिखा है कि जिस भोजन को कोई मुसल्मान देख लेता था, उसे हिन्दू फेंक देते थे।

५—सयुक्त प्रांत (उ० प्र०) के पूर्वी जिलों में उस कमरे में जिसमें कोई मुसल्मान बैठा हो खाने पीने की वस्तु नहीं खाते पीते। महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र। (आर्य सा० मं० लिमिटेड अजमेर)—पं० घासीराम १९९८ वि० पृ० ५९८

६—वही पृ० ५४०, ५९८-५९९

७—इतने अधिक अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग × × हिन्दी के किसी पुराने या नये कवि ने नहीं किया।

—पं० रामनरेश त्रिपाठी—मानस की भूमिका पृ० ८२

८—विश्व के किसी कवि से गोस्वामी जी की तुलना नहीं हो सकती। गोस्वामी जी का काव्य स्वयं में अद्वितीय है।

—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आज दि० १०-९-१९७१ पृ० ५ का० ४.

शक्ति दी ।[1] उन्होंने सामाजिक उच्छृंखलता बढ़ाने वाले निगुंनिए संतों को फटकारा, 'अलख-अलख कहने वालों को लखाया तथा पाखंडवाद पर पलनेवाले अंध-विश्वासकी जड़ उखाड़ दी ।

प्रतिभाशाली लोग स्वभावतः क्रांतिकारी, अंधविश्वास पर आधारित रूढ़ियों के विरोधी एव स्वस्थ समाज के सर्जक होते हैं। वे समाज को नूतन बोध और नई दिशा देकर भी उसे विश्रृंखल होने से बचाते हैं। महापुरुष का सबसे महत्वपूर्ण काम सामाजिक मर्यादा की रक्षा करते हुए उस का सशक्त संगठन और उन्नयन करता है । इसे जो जितना ही अच्छे ढंग से कर सकता, वह उतना ही महान् है। गोस्वामीजी प्रकृतितः महान् थे।

गोस्वामीजी ने अपने रोगादि का जो विवरण दिया है, उससे भी हम उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति अथवा प्रकृति का सामान्यरूप से 'अनुमान' लगा सकते हैं। वृद्धावस्था में वे रुग्ण रहने लगे थे। कभी उनकी बाँह में पीड़ा हुई तो कभी बरतोर हुए। बुढ़ापे में वायु का विकार बढ़ ही जाता है। कहते हैं--

पायँ पीर पेट पीर, मुँह पीर, उर पीर,
जराजुर सकल सरीर पीर मई है।

जिससे ज्ञात होता है कि उनके शरीर की पीड़ा एक स्थान में न रहकर विभिन्न अंगों में परिवर्त्तनशील थी : यह लक्षण होम्योपैथी औषधि 'पल्सेटिला' का है। ऐसे लोग पित्त-प्रकृति के कारण तीव्र बुद्धि स्वभावतः विरक्त विषय वासना से निराश, परम दयालु बड़े स्वाभिमानी शांतचित्त और मृदु-स्वभाव के होते हैं एवं पेट की गड़बड़ी और सर्दी-खाँसी से पीड़ित हुआ करते हैं। सामाजिक भावना से असत् का विरोध तथा सत्य, सुन्दर-शिव की स्थापना करने के कारण उनमें कभी-कभी चिड़चिड़ापन भी देखा जाता है।

तुलसीदास राजा और राजसमाज के दुराचार के स्वतः भुक्तभोगी थे। धन के दास स्वार्थ के साथियों की गतिविधि का उन्होंने भलीभाँति अनुभव किया था। निरंकुश शासक सामंतों की भोग लिप्सा और उनके द्वारा प्रजाका उत्पीड़न

---

[1] ---वर्त्तमान युग में वेदों और पुराणों का श्रमसाध्य अध्ययन की प्रवृत्ति नहीं रह गई है किन्तु तुलसी का सर्वसुलभ और सर्व हितकारी मानस हमें उपलब्ध है, जो समस्त वेदों, धर्मग्रन्थों और पुराणों का सारभूत है। वर्त्तमान समय में जो कुछ सभ्यता और संस्कृति बची हुई है वह तुलसीकृत मानस का ही प्रभाव है और इसी के अवलम्बन से हमारी सभ्यता और संस्कृति अक्षुण्ण रह सकती है।

स्वामी करपात्री जी—आज दि० १०-८-१९७१ पृ० ३ का० ३

उन्हें रावणराज्य के रूप में दिखाई पड़ा। यही कारण है कि उनकी शांत प्रकृति में भी उबाल आया और उनकी परदुःख कातर समाजवादी-भावना निरकुशशाही सामंतवाद विरोध में भड़क उठी एवं वे रामराज्य की कल्पना को मूर्त रूप दे सके। राम ने सोने की लंका को जीता पर उस पर अधिकार नहीं किया, बालि को मारा पर राज्य सुग्रीव का दिया। त्याग और तपस्या के धनी राम सहअस्तित्व के तत्त्व को समझते थे। ऐश्वर्य और प्रभुता के विकेन्द्रीकरण के महत्त्व को जानते थे। उन्होंने राक्षसत्व (दुराचार) का नाश किया राक्षस जाति का नहीं। उन्होंने पशुबुद्धि बंदर-भालु और काक को भी अपना मित्र बनाया एवं समता को भूमिपर सारे समाज को खड़ा किया। सुख-सुविधा तथा स्वातंत्र्य चेतना पाकर देवलोक से लेकर पशुलोक तक सुखमग्न हो गया। राम घनश्याम को देख उनका मनमयूर नृत्य करने लगा, यथा—

> देव निशान बजावत गावत साँवत गोमन भावत भोरे !
> नाचत बानर भालु सबै, तुलसी कहि–हारे, हहा भै अहोरे !!
>
> —क० लं० ५७

इस प्रकार रामराज्य की स्थापना मुगल-सामंतवाद के विरुद्ध तुलसीदास का एक क्रांतिकारी पग था जो सभी युगों में निरंकुश और उत्पीड़क तानाशाही के लिए एक चुनौती है तथा तुलसीदास की सर्जनात्मक प्रतिभा का एक अनोखा उदाहरण है। डा० रामरतन भटनागर लिखते हैं---'उन्होंने जिस वैष्णव संस्कृति की अवतारण की वह आस्तिक भक्तिवाद पर आधारित कर्मप्रधान, स्वधर्ममूलक संस्कृति थी। वह शिष्ट और वर्गीय सामंत संस्कृति से भिन्न राष्ट्रीय जन संस्कृति कहा जा सकती है। भाव, चर्या और विषय के तीनों पक्षों से सम्पन्न तुलसी का यह वैष्णव जगत् भारतीय सांस्कृतिक मानस का सबसे सुन्दर और मूल्यवान घटना कहा जा सकता है। उत्तर भारत का वैष्णव संस्कृति को हम तुलसी-संस्कृति भी कह सकते हैं और रामचरितमानस की संस्कृति भी क्योंकि तुलसी और रामचरितमानस इस संस्कृति के केन्द्र हैं। . .

युग प्रवर्त्तक-महामानव

महाकवि और महान् सुधारक युग-चेता तो होते ही हैं युग-प्रवर्तक भी होते हैं। उनकी वाणी में उस युग की समस्यायें बोलती हैं और उन समस्याओं का समाधान भी रहता है। समस्याओं के समाधान द्वारा नए युग का प्रवर्तन होता

है।[1] गोस्वामी तुलसीदास की वाणी ही उनके युग का 'एक्सरे' है, जिसके प्रकाश में उस युग की वास्तविकता का चित्रांकन किया जा सकता है तथा 'अगर फिरदौस बर रूये जमीनस्त. हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त'[1] के मर्म को समझा जा सकता है। एक ओर तो यह स्थिति और दूसरी ओर—

'जीविका विहीन सब सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन तें—"कहाँ जाईं काकरीं'—क० उ० ९७

का कारुणिक दृश्य, नारकीय-उद्विग्नता है। उफ, कितनी है भयावह विषमता! इसका कारण क्या है? तुलसीदास की ही वाणी में सुनिए—

'वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न राज-समाज बड़ोइ छली है।
वर्न विभाग न आस्त्रम धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
स्वारथ को, परमारथ को कलि राम को नाम नाम प्रताप बली है।
क० उ०

कारण का पता लगने पर उसके साथ ही उसका निवारण भी है। वह है—राम का नाम, जो राम से भी बढ़कर स्वार्थ और परमार्थ की साधना का हेतु है और कलि के प्रभाव को नष्ट करने में समर्थ है। सारे अनर्थ, अशांति, विषमता और विभेद की जड़ कलि है। कलि का शमन रामराज्य की समतामूलक भूमि पर ही सम्भव है। इसीसे चित्रकूट से भी जहाँ राम का सदा निवास है, उन्होंने कलि रूपी 'सावज' का शिकार कराया है। तुलसी ने कलि से सदा सावधान रहने का आदेश किया है और तत्पश्चात् रामराज्य का संदेश क्योंकि जहाँ कलि के राज्य में—

'इरषा परुषा छल लोलुपता। भरि पूरि रही समता विगता॥'

की दारुण स्थिति है, वहाँ रामराज्य की सुखद योजना भी द्रष्टव्य है, जिसमें—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

के वातावरण में सब कंधा से कंधा जुटाए साथ-साथ चल रहे हैं। न कहीं बेकारी

१—तुलसी की वाणी ने किस प्रकार अपनी अदम्य शक्ति से तत्कालीन परिस्थितियों में युग रक्षा एवं युग विधान किया, इसका अनुभव आज हम भली प्रकार कर रहे है। —डा० राम प्रकाश गुप्त

है और न कहीं अभाव शोषण चिन्ता, रोग, शोक, दुःख, भय, बैर-विरोध, दीनता पिशुनता, मूर्खता, भोगवाद और व्यसन। अपूर्व श्री-समृद्धि है, सब सुखी और सन्तुष्ट हैं।

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने युग की सम्पूर्ण समस्याओं को सामने रखकर उनका सर्व सुलभ समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ सामयिक समस्याओं के समाधान स्वरूप ही निर्मित्त किए गए हैं। उनकी दृष्टि में राजा प्रजा सब एक ही समाज रूपी शरीर के विभिन्न अंग हैं। हाँ, काम का बँटवारा अलग-अलग है पर उद्देश्य सबका एक है--समाज रूपी शरीर का विवेक पूर्वक पोषण--५२२

तुलसी की विशेषता यह है कि--उन्होंने जिस समता-मूलक लोकतांत्रिक राम-राज्य की स्थापना की वह कर्त्तव्य-भावना पर आधारित होने से कानून द्वारा स्थापित नहीं है। न उसमें संघर्ष है, न अधिकारों की मांग और न छीना-झपटी की भावना। समाज स्वाभाविक रूप से गतिशील है। उसके सभी सदस्य अपने अपने काम के प्रति जागरूक हैं। भोगवादी प्रवृत्ति न होकर कर्मवादी प्रवृत्ति है। क्षमता के अनुसार काम का उचित वितरण तथा समान रूप से उत्पादन का उपभोग ही तुलसी के वर्णाश्रम व्यवस्था का लक्ष्य है जिसे हम सुसंस्कृत और मर्यादित समाजवाद कर सकते हैं। कानून द्वारा स्थापित समाजवाद को आदर्श-समाजवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि बलात् स्थापित किए जाने के कारण उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व एवं सेवा या त्याग भाव का अभाव होता है। उसमें अधिकारों के निमित्त जाग्रत रहने वाले अंतर्द्वंद्व ही उसकी आधारभूमि की विषमता को प्रकट करते है, अस्तु समाजवाद की स्थापना का सबसे प्रमुख तत्त्व चरित्र गठन, सुशिक्षा, नैतिक भावना और अपनत्व है जो तुलसीदास के भारतीय समाजवाद का मूलाधार है। डा० रामस्वरूप लिखते हैं कि "गोस्वामी जी ने सामाजिक विषयों पर जो नीति-काव्य हमें दिया है, वह अपनी उपयोगिता, सरसता और सरलता के कारण बहुमूल्य है। ×× आज भी हमलोगों का सच्चा पथ-प्रदर्शक हैं। आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि--"चरित्र चित्रण में तुलसीदास अतुलनीय है। ×× उनके पात्रों के प्रत्येक आचरण में कोई न कोई विशेष लक्ष्य होता है। मानव जीवन के किसी न किसी अंग पर उससे प्रकाश पड़ता है या किसी न किसी सामाजिक या वैयक्तिक कुरीति की तीव्र आलोचना व्यक्त होती है या मानव-मानव में सद्भावना की पुष्टि और इशारा रहता है। लीला के लिए लीला-गान इन्होंने कहीं नहीं किया है। वे आदर्शवादी और अपने काव्य के भावी समाज की सृष्टि कर रहे थे। डा० टीकम सिंह तोमर के मतानुसार--'तुलसी की वीर भावना सांसारिक

महत्वाकांक्षी वीर की भावना नहीं है। उन्होंने लोकनायक द्वारा लोक-रक्षा के लिए आदर्श वीरता का स्वरूप प्रस्तुत किया है। वह वीर तत्त्व असुरत्व पर विजय-प्रदान करनेवाला है। राष्ट्र के संरक्षण के लिए तुलसी द्वारा प्रस्तुत वीर भावना अनुकरणीय है। श्री रतन लाल शर्मा कहते हैं कि नैतिकता से मर्यादा होती है--आचार की, व्यवहार की, प्रेम की, सौंदर्य की, जींवन की और जगत् की। तुलसी के काव्य में यह हमें सर्वत्र मिलता है।[1]

तुलसीदास का प्रादुर्भाव-काल सामाजिक विशृंखलता या उच्छृंखलता का युग था जबकि--

वादहि शूद्र द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि।। दो० ५५३
साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि वेद पुरान।। ५५४
सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहुँ मवासे मारि कलि राजत सहित समाज।। ५५८
गोंड गँवार नृपाल महि, जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल।। ५५६

के विकट विकराल दलदल में धँसता हुआ उद्विग्न समाज जड़ कुंठित और गतिहीन हो रहा था, तुलसीदास ने उसका कुंठा दूर कर उसे गतिशील किया। उन्होंने समाज की रक्षा हेतु सामाजिक मर्यादा को भग्न होने से बचाया और यह कहने को बाध्य हुए–

पूजिय विप्र शील गुन हीना। शूद्र न गुन मन ज्ञान प्रवीना।

और इसी प्रकार स्त्रियों के विषय में भी; जैसा कि निम्नांकित दोहे में पूर्व पक्ष के साथ उत्तर पक्ष को रखकर स्पष्ट कर दिया गया है–

'अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन, मुनिवर! अस जिय जानि।। रा० आ०

ये सारी बातें समाज-संगठन के व्यवहार-पक्ष को लेकर कही गई हैं यद्यपि परमार्थ-पक्ष में रामभक्ति के नाते सभी समान हैं। तुलसी के राम ने स्वयं कहा है--'मानौं एक भगति कर नाता' और इसी नाते निषाद तथा शबरी का

१—तुलसीदास का दर्शन और काव्य कला

आतिथ्य स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में दूरदर्शी और युग द्रष्टा[1] तुलसीदास को शूद्र तथा स्त्रियों का निंदक एवं ब्राह्मण वादी बताना उस समय की सामाजिक-दशा को न समझने के ही कारण है। तुलसीदास को समझने के लिए उस युग में प्रवेश करके उनका अवलोकन करना ही उचित होगा।

तुलसीदास की सबसे बड़ी बिशेषता उनका युगप्रवर्तक रूप या युग-स्रष्टा होना है।[2] उनका रामचरितमानस' एक देदीप्यमान प्राणप्रद युग की स्थापना करता है जिसे सत्ययुग कहा जा सकता है, जो पूर्णतः समाजवादी और वेद-शास्त्र निर्मित वर्णाश्रम व्यवस्था, नीति-धर्म तथा कर्त्तव्य भावना पर आधारित है।[3] तुलसीदास का भारतीय-समाजवाद समतामूलक भाव-भूमि पर खड़ा होने से वाह्य उपकरणों की अपेक्षा न रखते हुए अधिक चिरंतन है। यद्यपि तुलसीदास का समाजवादी रामराज्य अभी कल्पना की वस्तु ही बना हुआ है, फिर भी वह भावी युग निर्माण योजना की दिशा में स्वर्णिम प्रकाश है जिसे महामानव महात्मागाँधी ने समझा और जिसकी ओर सुबुध मानव के पग वढ़ते जा रहे हैं। इसलिए उक्त आदर्श अलक्ष्य नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास ने अपना लक्ष्य अपने जीवन में ही प्राप्त कर लिया। उन्होंने जिस समन्वित संस्कृति का बोध भारतीय जनता को कराया, उससे समाज को शक्ति, स्फूर्ति और गति मिली। उनका 'रामचरितमानस' वेद की भांति पूजित हुआ और वह युग-थुग के लिए मानव-जाति का पथ-प्रदर्शक हिंदुओं के लिये प्रेरणा का स्रोत बन गया। आज का युग और आज की भारतीय संस्कृति बहुत कुछ तुलसी की ऋणी है। तुलसी की वाणी भारतीय गगन में सूर्य की भांति प्रकट हुई। उसने मुगलकालीन निराशांधकार को दूर कर नव जागरण का उद्बोधन किया। हिंदुओं को राम का वल मिला और वे हिंदू-संस्कृति समर्थित-शासन सुलभ करने में समर्थ हुए। राजनीति, समाजनीति और धर्म तीनों ही में तुलसीदास ने नए युग का निर्माण किया। हमारा आज का समाज बहुत कुछ तुलसीदास द्वारा मिर्मित हैं। डा०

१— तुलसी युग-प्रवर्तक कवि और द्रष्टा थे। वे अपने समय के वरेण्य वरदान थे।
डा० गोविन्द त्रिगुणायत् डी० लिट्

२—तुलसीदास ऐसे ही भविष्य स्रष्टा थे। आज तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही इसके मेरुदंड हैं। (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

३—यहाँ अधिकारों के लिये संघर्ष नहीं है, अतः कर्त्तव्य निर्वाह ही सबसे बड़ी साध है। तुलसी के नैतिक चित्रण में विविध रूपों का उद्घाटन हुआ है और इस दृष्टि से उनका काव्य बहुत प्रबल है। (रतनलाल शर्मा)

श्रीकृष्णलाल के मतानुसार 'साधारण जनता की आध्यात्मिक तृप्ति और साहित्यिक अभिरुचि के लिए जितनी सामग्री' रामचरित-मानस' में उपलब्ध है। उतनी और किसी काव्य पुराण अथवा धर्मग्रन्थ में नहीं है। महाभारत के निर्माण के पश्चात् यदि किसी एक ग्रन्थ ने समस्त जनता को प्रभावित किया तो वह 'रामचरितमानस' ही है (मानसदर्शन)।

मानवतावादी भावना—

गोस्वामी जी को कोई आदर्श वादी, कोई मर्यादा वादी, कोई समन्वय वादी कोई ब्राह्मण वादी, कोई शूद्र और स्त्रियों के प्रति संकीर्णता-वादी, कोई धर्मोपदेशक, कोई समाज सुधारक, कोई विचारक, कोई लोकनायक और कोई रामभक्त कहते हैं। परन्तु तुलसी के सम्बन्ध में उनकी यह एक देशीय दृष्टि उसी प्रकार की है जैसे आँख मूंदकर हाथी का स्पर्श करने वालों में किसी ने उसे पंखे जैसा, किसी खम्भे जैसा और किसी ने अजगर जैसा कहा। वस्तुतः तुलसी मानवता-वादी हैं और ये सभीवाद उसी एक वाद में समाविष्ट हैं। उनकी आदर्श-वादिता, मर्यादा-वादिता, समन्वय-वादिता, ब्राह्मण-वादिता, शूद्रों और स्त्रियों के प्रति संकीर्णवादिता, धर्मोपदेश, समाज-सुधारकत्व, विचारकत्व, लोकनायकत्व और रामभक्ति मानवतावाद का आधार लिए हुए हैं।[1] उनके राम "सचराचर रूप राशि भगवन्त हैं और तुलसी उनके सेवक।' उनका रामराज्य मानव मात्र के कल्याण, सुख समृद्धि की वृद्धि के लिए समतावाद या समाजवाद का ही निखरा रूप है। वे न ब्राह्मणवादी थे और न शूद्र और स्त्रियों के प्रति संकीर्णतावादी। उनका उद्देश्य है मानव मात्र के उन्नयन के लिए सच्चे समाजवाद की स्थापना जिसका आधार रामभक्ति और मर्यादावाद के आधार पर ही सम्भव है।[2] इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने सभी दार्शनिक वादों और मतों का समन्वय किया तथा एक मर्यादित सीमा में क्या स्त्री-पुरुष, क्या नीच-ऊँच तथा क्या बालवृद्ध सबके लिए परस्पर व्यवहार और शिष्टाचार

---

[1] तुलसी की श्रेष्ठता अकथनीय है, अवर्णनीय है क्योंकि उनका विषय मूलतः मानव जीवन था। × × तुलसीदास जी ने मानव कुल के प्रतिनिध के रूप में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी को चुना और मानव कल्याण हेतु अपनी काव्य शक्ति के द्वारा समाज में भेज दिया।

श्री सोमेश्वर—तुलसीदास काव्यकला और दर्शन पृ० २२४

[2] मानव की गरिमा रामकथा की नहीं तुलसी के उदात्त व्यक्तियों की गरिमा है। मानस में तुलसीदास का द्रष्टा और दोनों ही रूप अन्यतम ढंग से प्रकाशित हुआ है। श्रीधर सिंह—मानस का कथाशिल्प पृ० २२७

का एक आदर्श प्रस्तुत किया।[1] परिवार, समाज, राजा, प्रजा, धर्माचार्य और वर्ण व्यवस्था की प्रतिष्ठा कर उन्होंने मानवता-वाद का जो परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया वह भारतीय संस्कृति का मूल और चिरंतन है। परब्रह्म परमात्मा भी मानव के लिए मानव रूप धारण करता है। मानव शरीर की आकांक्षा देवता भी करते हैं। केवल मानव शरीर कर्म योनि है और सारे शरीर भोग योनि हैं, इसलिए संसार में मानव का सर्वाधिक मूल्य और महत्व है तथा समाज के निर्माण एवं उन्नयन मे उसका दायित्व भी हैं। महर्षि वेदव्यास के शब्दों में मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं। गोस्वामी जी भी कहते हैं—

बड़े भाग मनुष्य तन पावा। सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थनि गावा॥

और 'सबसे दुर्लभ मनुज शरीर।' इस दुर्लभ शरीर को पाकर जो नर 'हरि भजन' अर्थात् लोक सेवा नहीं करता, वह मानो पारसमणि को पाकर उसे गुंजा से बदल लेता है।[2] गोस्वामी जी ने हमें इसी दुर्लभ पारसमणि के उचित प्रयोग की प्रेरणा दी है।

तुलसीदास का क्रांतिकारी स्वरूप सभी क्षेत्रों में प्रकट हुआ है।[3] क्या सामाजिक सुधार, क्या राजनीतिक विचार, और क्या व्यक्तिगत व्यवहार, सबको उन्होंने एक आदर्श साँचे में ढालकर सुमूर्त्त दिया। सामाजिक संगठन को नवीन दृष्टि, राजनीतिक विचार को आशावादी दिशा एवं व्यक्तिगत कर्त्तव्य-भावना में तप और त्याग का योग कर उन्होंने जातीय जीवन को अद्भुत शक्ति, स्फूर्ति और अपूर्व उत्साह से समन्वित कर दिया।

ग्राम्यभाषा में आगम ग्रन्थ का प्रणयन, मतों और वादों का समन्वय, गांव-गांव में रामकथा का प्रचार और हनुमानजी की मूर्त्ति के साथ अखाड़ों (व्यायामशालाओं) की स्थापना आदि अभूत-पूर्व सूझ-बूझ के साथ उनके क्रांतिकारी पग थे। वे निर्मम और क्रूर सतीप्रथा के समर्थक न थे। छुआछूत के भूत ने उन्हें रूढ़िवाद के रूप में ग्रस्त नहीं किया। भिन्न-भिन्न और जर्जर होते हुए समाज को वर्णाश्रम व्यवस्था के सुदृढ़ सूत्र में पिरोकर सुगठित करने और कलि के

---

[1] ये वे व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी में मनोवैज्ञानिक चर्चा सर्वप्रथम की है, वह भी क्षमता से।
डा० रामचत्त भारद्वाज (गो० तुलसीदास—
व्यक्तित्व दर्शन और साहित्य कला पृ० ४०६)

[2] असतन पाइ न हरि भज जे नर। होइ विषयरत मन्द मन्दतर॥
मनि ते बदलि काँच सठ लेहीं। कर तें डारि परसमनि देही॥ रा० उ०

[3] आपकी (तुलसीदास की) कृतियों का अध्ययन भारतीय जनता के मस्तिष्क, हृदय और प्राणों का अध्ययन है। —डा० रामचन्द्र तिवारी

दोषों से मुक्त कर व्यक्तिगत चरित्र को निर्मल बनाने की उन्होंने नवीन प्रेरणा दी। धार्मिक एवं पारिवारिक-जीवन में नवचेतना जागृत कर सामाजिक-कुण्ठा का उन्मूलन किया। उन्होंने संतजनों के जिस लोक-हितकारी शांत-दांत त्यागमय जीवन का वितरण दिया है, वह स्वय उनका प्रतिबिंब है, वे कर्म की प्रधानता मानते हुए भी राम का भरोसा करनेवाले, संपूर्ण विषय भावनाओं से उदास, नानाविध कामनाओं से निराश, सम्यक् बुद्धि और समदृष्टि महामुनि होकर भी समस्त संसार को 'सियाराम-मय' मान अभेद भाव से उसकी सेवा में सतत-रत रहने वाले अनुपम महापुरुष थे।

स्मृति-चित्र

यों तो गोस्वामी जी की कृतियां ही उनका सबसे बड़ा स्मारक हैं किन्तु उनके प्रति जन-समाज द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन भी कम नहीं किया गया है। अब्दुर्रहीम खानखाना का दोहा तो प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार श्री मधुसूदन सरस्वती का श्लोक भी प्रसिद्ध है। श्री नन्दलालजी का एक पद्य मिला है जिसमें गोस्वामीजी की वंदना की गई है। श्री नाभादासजी ने गोस्वामी जी को भक्त-माल का सूमेर बनाया और 'कलिकुटिल जीव निस्तारहित बाल्मीकि 'तुलसी' भयो कह कर उनकी स्तुति की। ये सभी लाग अपने समय के महान् और सुप्रसिद्ध व्यक्ति तथा गोस्वामी जी के सम-सामयिक थे। श्री कृष्णदत्त मिश्र सामवेदी भी गोस्वामी जी के समसामयिक ही थे, जिन्होंने उनके स्मृति में 'गौतमचंद्रिका' की रचना की। श्री रामू द्विवेदी गोस्वामी जी के शिष्य बताये जाते हैं जिन्होंने 'रामचरित-मानस' के संस्कृत अनुवाद 'प्रेम-रामायण' द्वारा गुरु को श्रद्धांजलि अर्पित की है। और न जाने कितने लोगों ने गोस्वामी जी की स्तुति में अपनी-अपनी वाणी को सफल किया और उनके निमित्त अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित कीं। श्री भवानीदास गोसाई चरित मोहनसाई का गीत, निरालाजी का 'तुलसीदास और तुलसीदास की स्मृति में की गई रचनाएं इसी कोटि की है। गोस्वामी जी के जीवनकाल में ही उनका 'महामुनि' के समान सम्मान होने लगा था, इसे गोस्वामी जी ने स्वयं स्वीकार किया है। बाल्यावस्था में भले उनका 'राजसमाज' से विरोध रहा हो, किन्तु ख्याति बढ़ने पर तो वे आजीवन, राजाओं-महाराजाओं द्वारा पूजित ही होते रहे।

समाज ने जैसे गोस्वामी जी का सम्मान किया, उनकी प्रशस्तियाँ कीं, वैसे ही उनसे सम्बन्धित स्थानों पर उनके स्मारक भी खड़े किये। बांदा जिले का राजापुर गोस्वामीजी की जन्मभूमि की स्मृति में बसाया गया स्थान है, जहाँ तपस्या की थी। अयोध्या में 'तुलसी-चौतरा' है ही। काशी में श्री हनुमानजी के कतिपय विग्रह, तुलसीघाट, तुलसीमठ, तुलसी मन्दिर आदि अनेक स्मारक

हैं। उनकी ससुराल पनासा (प्रयाग) में भी हनुमद्विग्रह और उनके नाम पर होनेवाला उत्सव उन्हीं के स्मारक हैं। सबसे अधिक स्मृति-चिह्न उनकी जन्म-भूमि के क्षेत्र (आरा-बलिया) में हैं। उनकी जन्म-भूमि के नाम पर अनेक राजापुर और उनके नाम पर गांवों की स्थापना हुई है जैसे—तुलसीपुर, तुलसी छपरा आदि। बहुत से गांव स्वयं गोस्वामीजी द्वारा नामकरण' किये हुए हैं। जैसे—हीराकुण्ड (सीताकुण्ड), रघुनाथपुर आदि। कांट—ब्रह्मपुर में तुलसी चौतरा और तुलसी-कुण्ड भी है तथा इन स्थानों की व्यवस्था के लिये माफी भी। इसी क्षेत्र में गंगा-तट पर बलिया जिले में उनके माता-पिता का स्मारक 'हुलासी-सती' का सुप्रसिद्ध स्थान भी है तथा उनका 'सूकरखेत' भी।

गौतमचंद्रिका से विदित होता है कि गोस्वामी जी पुरुषोत्तमपुरी (आधुनिक सिकन्दरपुर (जिला बलिया) भी गए थे। सिकन्दरपुर का एक भाग 'तलसरा' कहलाता है। यह नाम 'तुलसीपुरा' का अपभ्रंश है। यहीं गोसाइंपुर भी है। इधर 'राम' शब्द से बने हुए नामों वाले भी कई गांव हैं जैसे—रामपुर, रामापार आदि। सारन (बिहार) जिले में बसंतपुर के पास हुलेसरा, नरहरपुर, रामपुर, भगवानपुर आदि गाँव मिलते हैं, कुछ ऐसा लगता है कि इन गांवों का नामकरण तुलसीदास से निमित्त से ही हुआ है ?

अयोध्या से उत्तर गोंडा जिले में तुलसीपुर नामक प्रसिद्ध स्थान है इसके उत्तर नेपाल के सल्यान जिले में तुलसीपुर है।

तराई क्षेत्र का एक सर्वप्रसिद्ध सुगंधित धान 'तुलसीफूल' कहलाता है। यद्यपि यह नामकरण तुलसी की सुगन्धित मंजरी के साम्य से किया गया ज्ञात होता है।

आज भी गोस्वामी जी के नाम पर अनेक स्मारक खड़े किये गये हैं और खड़े किये जा रहे हैं, जैसे—तुलसी-आश्रम रेलवे स्टेशन (बनारस), तुलसी पुस्तकालय और 'तुलसी मानस-मन्दिर' (वाराणसी), तुलसी उच्च माध्यमिक विद्यालय आदि।

उत्तर भारत के जन-जीवन में जितनी व्यापकता और गहराई के साथ तुलसीदास रमे हुए हैं, उतना और कोई नहीं। प्रत्येक हिन्दू और हिन्दी भाषी का हृदय मन्दिर उनका स्मारक है। सब कहीं बड़ी पूज्य भावना के साथ उनका स्मरण किया जाता और निष्ठापूर्वक नाम लिया जाता है। चाहे व्यक्तिगत पुण्य लाभ के लिए या किसी विशिष्ट कामना से अनुष्ठान निमित्त अथवा साहित्यिक-सामाजिक उद्देश्य से, जैसे भी हो उनके 'रामचरित-मानस' का स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, धनी-गरीब, सभी पाठ करते और तत्सबंधी चर्चा में भाग लेते हैं। उनकी जीवनगाथा सब जगह सुनी और कही जाती है। अशिक्षित समुदाय में भी लोकगीतों के स्वर में पिरोकर उसे अपना कंठहार बना लिया है और बहुधा रास्ता चलते, पशु चराते और खेती-बारी के काम में लगे हुए भी इससे वातावरण स्निग्ध करते रहते हैं।

उपसंहार

गोस्वामी तुलसीदास का देश काल ऐसा ही था, जबकि समाज खतरें में पड़ा हुआ था। एक ओर युगों से चली आती हुई वर्णाश्रम-व्यवस्था और वेद-शास्त्र के विरोधी संत-संप्रदाय के लोग अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पका रहे थे और अपने उपदेशों द्वारा सामाजिक-अव्यवस्था उत्पन्न कर रहे थे तथा दूसरी ओर मुसलमान धर्म-प्रचारक शासन का बल पाकर भय और प्रलोभन द्वारा सामाजिक विघटन उत्पन्न कर रहे थे। इस विकट परिस्थिति और संघर्ष के युग में सामाजिक संगठन और उसकी रक्षा असाधारण समस्या थी। इस समस्या को सुलझाना सबके बस की बात न थी। तुलसीदासजी जैसा अवतारी पुरुष ही इसे सुलझा सका।

दुःख है कि इस तथ्य को नहीं समझने के कारण कुछ लोग तुलसीदास पर यह आरोप लगाते हैं कि वे रूढ़िवादी थे। आज की रूढ़िया ही उन दिनों सामाजिक संगठन हेतु प्रबल-सूत्र थीं। वेद-शास्त्र, धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत, देवी-देवता आदि के प्रति जन मंडल की आस्था और राम भक्ति में निष्ठा बढ़ा कर तुलसीदास ने बड़ा महत्त्व पूर्ण कार्य किया। इतना बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाला कोई दूसरा ग्रंथकार भारत में अब तक नहीं हुआ।

वे एक महान संत, सुधारक और कवि थे। हिन्दू-जीवन में वे इस प्रकार रम गये हैं कि उनका 'रामचरित-मानस' हिंदू संस्कृति का आकर ग्रंथ बन गया है और 'वेद' की भाँति पूजित है। हिंदू संस्कृति से तुलसी को अलग करके नहीं देखा जा सकता। वे भारतीय समाज और भारत के गौरव हैं। उनका 'रामचरित-मानस' हिंदी साहित्य की ही नहीं, विश्व साहित्य की निधि और शोभा है। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय का यह जीवन सर्वस्व और आदर्शवादियों का प्राण है। भगवद्भक्तों की अक्षय-निधि तथा लोक-जीवन की मर्यादा है। वह गुणवानों का कंठहार, मनीषियों के मनन का आधार, सामाजिक व्यवहार की कुन्जी एवं अपने युग का सर्वोन्नत प्रगतिवादी साहित्य है।

गोस्वामी तुलसीदास युगावतारी महापुरुष थे। उन्होंने ध्वस्त होती हुई सामाजिक-मर्यादा की पुनः स्थापना की, गिरते हुए समाज को ऊपर उठाया, निराशा के सघन निहार में सदाशा के सूर्य का प्रकाश फैला कर निस्तब्ध-निष्क्रिय जनजीवन में नई चेतना, नवल उत्साह और नवीन गति का संचार

किया, समाज को प्राणवान बनाया। मनोभावों की मुकुलित कलियाँ प्रभात जागरण के मधुमय वातावरण में विकसित हो उठीं। जनजीवन में पतझड़ के पश्चात् पुनः मधुमास का आगमन हुआ।

ऐसे महापुरुष का किस कुल में कब और कहाँ प्रादुर्भाव हुआ था, इस विषय में उनके ग्रंथों के अंतर्साक्ष्य और वहिर्साक्ष्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर किसी निष्कर्ष तक पहुँचना ही प्रस्तुत शोध का उद्देश्य है।

गोस्वामीजी की जीवन-यात्रा सम्बन्धी खोज करते समय उस काल की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता क्योंकि देश-काल के प्रभाव से मनुष्य वंचित नहीं रह सकता। जब एक अंतर्साक्ष्य दूसरे से अनुस्यूत है तो उनकी परस्पर विपरीत व्याख्या नहीं की जा सकती जब तक इसका कोई विशेष कारण न हो। सम्पूर्ण अन्तर्साक्ष्यों को एक साथ रखकर ही विचार करना उचित है। वाह्य प्रमाण वहीं तक मान्य हो सकते हैं, जहाँ तक वे अंतः प्रमाणों के स्पष्ट करने में सहायक हों किन्तु प्रायः शोधकर्त्ताओं ने ऐसा नहीं किया। वे प्रायः वाह्य प्रमाणों के ही जाल में उलझे रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि दुराग्रह-वश या मोहवश उन्हीं बातों पर जोर दिया गया जो गोसाईजी के अंतर्साक्ष्य के विलकुल विपरीत थीं, जैसे—गोसाईजी के अंतर्साक्ष्य से विदित होता है कि वे गंगातट पर उत्पन्न हुए थे किन्तु आज यमुना और सरयूतट की ओर से खींचातानी की जा रही है। गोस्वामी जी कहते हैं—वे नृप से भिखारी हुए पर लोग कहते हैं उनका कुल मंगन था। गोस्वामीजी ने अपने कुल को 'सुकुल' और वैरागी होने से जाति स्तर का घटना बताया है पर कोई-कोई यह भी कह देते हैं कि वे कुजाति होने के कारण अपनी जाति छिपाते थे। गोस्वामी जी कहते हैं—'नाथ' पुरोहिती कर्म अति मंदा किंतु लोग कहते हैं वे पुरोहिती करने वाले सरयूपारी या सनाढ्य थे। गोस्वामीजी कहते हैं—'मध्य बयस धन हेतु गँवाई कृषी वनिज नाना उपाय,' परंतु शोधक कहता है— 'वे पण्डिताई करते थे।'

आज तक के शोध की साधना ऐसी ही विचित्रताओं पर अवलम्बित है, जिनका अंतर्साक्ष्य से कोई मेल नहीं और न वहिर्साक्ष्य का ही मेल खाता है। तुलसीदास को अपनी-अपनी ओर खींचने की होड़ सी लगी हुई है, जिसके लिए मूल गोसाईं चरित, तुलसी चरित और कानूनगो-कायथ-वंशावली जैसे जाली ग्रंथों तक की रचना की गई।

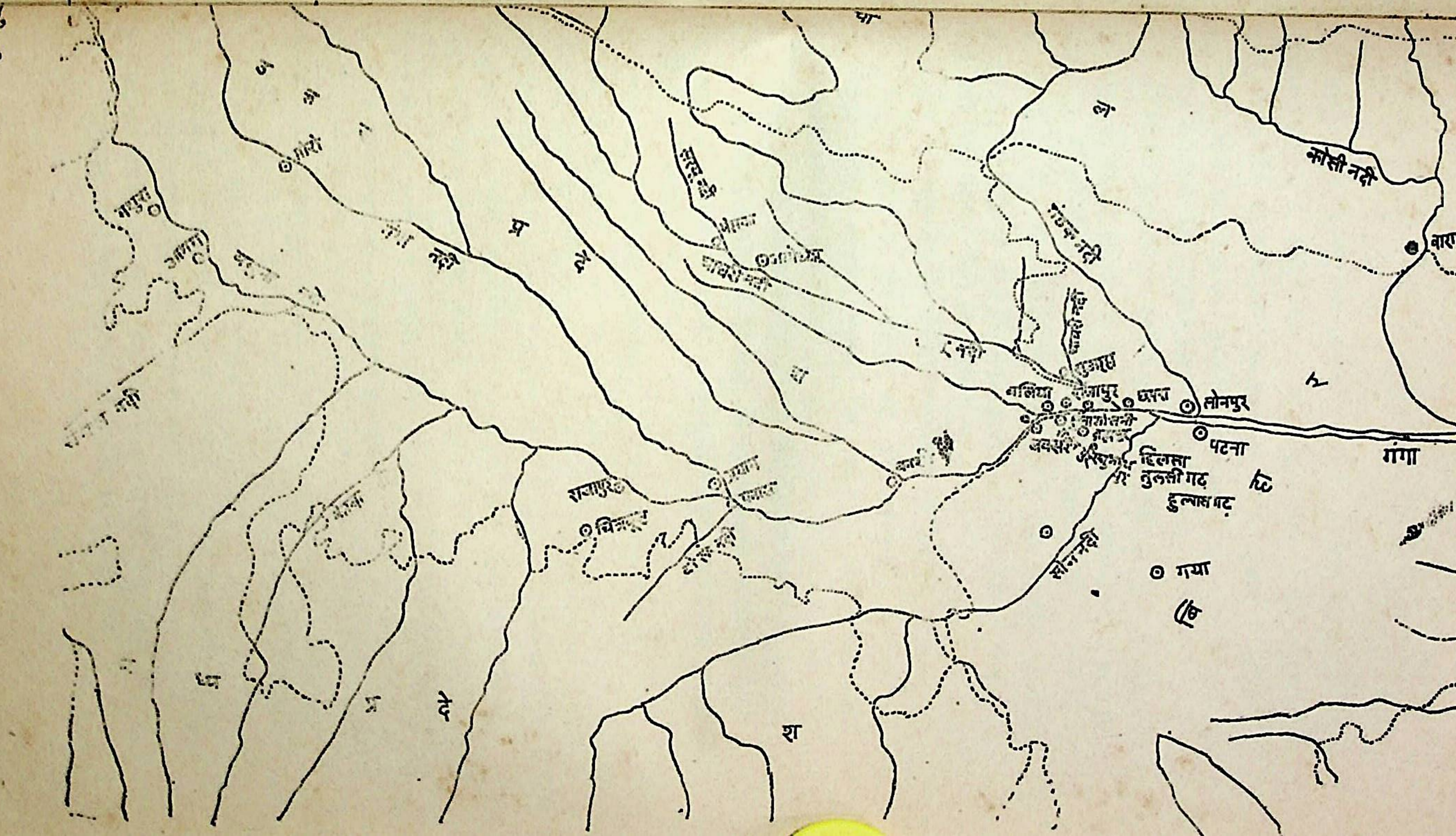
बाराहक्षेत्र
कोसी नदी
गंडक नदी
गंगा
सोनपुर
पटना
छपरा
बलिया
हिलसा
तुलसी गढ़
हुल्लास गढ़
सोन नदी
गया
सरयू नदी
घाघरा नदी
प्रयाग
राजापुर
चित्रकूट
टोंस नदी
मथुरा
आगरा
सोरों
यमुना नदी
उ
त्त
र
प्र
दे
श
बि
हा
र

सी की जन्मभूमि तथा कार्यक्षेत्र होने का दावा करने वाले स्थान

सरयूपार की कार्यवाही तो इक्के-दुक्के ही रही, पर सोरो ने उसे अपने पक्ष में योजनाबद्ध रूप में प्रस्तुत किया। कैसी विचित्र बात है कि वहाँ भ्रम से कबीर के एक दोहे को तुलसी का समझकर उसके अनुसार उनका घर कसाइयों के महल्ले में ढूँढ निकाला गया और तुलसी के इस कथन की ओर दृष्टि न गई—

'यह भरतखण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।'

अंधे के हाथ बटेर लगी। यह भी क्या कम करामात है कि 'चारि फल का हेतु' गोस्वामी जी का 'सुकुल' भी 'धर्म-व्याध' बनकर 'गलकटियन' में प्रकट हो गया। सूझ की बलिहारी? इक्कीसवीं शताब्दी सोलहवीं शताब्दी में पहुंच गई। आचार्य वृत्तिक अग्रज और व्याधवृत्तिक गोमर कंधे से कंधा मिलाकर एक पंक्ति में बैठ गए, जब कि आज भी कहीं किसी ब्राह्मण का घर कसाइयों के घर के पास नहीं देखा जाता। दोहा इस प्रकार है—

'तुलसी तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास।
जौन करै सोई भरै, तू कत होय उदास॥'[1]

यहाँ 'कबिरा' बदलकर 'तुलसी' बन गया है। वस्तुतः यह दोहा कबीर का है।[2]

इतना ही नहीं पं० रामगुलाम द्विवेदी और ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत तुलसी परिवार की कल्पित नामावली[3] को सही मानकर तदनुसार वंशावली गढ़ ली गई[4] एवं दोहारत्नावली, रत्नावली-चरित्र, तुलसीप्रकाश, अष्टसखामृत, वर्षफल आदि ग्रन्थ भी प्रकाश में आ गए।

सोरों पक्ष की सबसे मूल्यवान सामग्री 'मानस' के बालकाण्ड और अरण्यकांड की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो सं० १६४२ में गोस्वामी जी द्वारा अपने शिष्यों से प्रतिलिपि करवा कर अपने भतीजा कृष्णदास को दी गई कही जाती है[5] किन्तु क्या सोरो-पक्ष ने कभी इस पर भी विचार किया है कि उन प्रतियों में क्षेपकों ने अपना आसन कैसे जमा लिया। तुलसीदास और उनके शिष्यों ने तो उन्हें उनमें घुसने नहीं दिया होगा।

---

[1] —रामदत्त भारद्वाज—गो० तुलसीदास पृ० २५५

[2] —डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास पृ० १००
आज—दि० १-८-१९७१ पृ० १३ का १-२

[3] —सोरों के कुछ महानुभावों ने तो रत्नावली के माता-पिता, घरगली सब खोज निकाले हैं, जिसका भंडाफोड़ डा० गोवर्द्धन नाथ शुक्ल ने सोरों-सामग्री पर एक दृष्टि नामक पुस्तिका में किया है।
आचार्य सीताराम चतुर्वेदी—आज दि० ३०-८-१९७१ पृ० ४ का ५

[4] —श्री रामदत्त भारद्वाज—तुलसीदास का घरबार (१९४६)

[5] —यह सब अटकलपच्चू भिड़ा दिया गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं है।
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—कान्यकुब्ज (अगस्त १९२२) पृ० १९६

सोरों का सारा मसाला इसी प्रकार का है। नाम साम्य के आधार पर श्री नृसिंह भगवान के देवस्थान को नृसिंह शुक्ल का घर बताया जा रहा है और शायद अनेक पांडुलिपियों के संवतादि को परिवर्तित करने में भी सुबुद्धि का प्रयोग किया गया है।[1] जब ऐसा ही मेल मिलाना है तो जुझौतिया ब्राह्मण भी कालिंजर स्थित निम्नांकित अभिलेख के अनुसार सं० ११९२ को १५९२ बताकर तुलसीदास से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। यह स्थान राजापुर (बाँदा) के निकट है और यहाँ भी वराह-मूर्ति है, अभिलेख इस प्रकार है—

‘ॐ दीक्षित श्री पृथ्वीधर सुतः श्री सलहन बभूव तस्यतनयेन श्री नृसिंह देवे श्री नृसिंहस्य मूर्तिमाकारापितेति। सं० ११९२ जेठ सुदि ३ रवौ।[2]

‘गोस्वामी जी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में सही तथ्यों के प्रकाश में आने में बाधा पड़ी है और विद्वानों के उनके अपने. आग्रहों की चपेट में वास्तविकता धूमिल हो गई है। ××× अब तक तुलसीदासजी की लोकप्रियता के कारण सभी वर्गों और स्थलों का यह आग्रह रहा है कि वह अपनी जाति और अपने क्षेत्र से गोस्वामी जी को सम्बन्धित करें।[3] इस आग्रह से सत्य का गला ही घुटा है। ऐसी स्थिति में तुलसी के अनुसंधानकर्त्ता को अपने कंटकाकीर्णमार्ग में फूँक-फूँक कर बड़ी सावधानी से पाँव रखना है एवं दलबन्दियों के दलदल से बचकर चलना है।

१—श्री उदयशंकर दुबे (रिसर्च स्कालर—‘तुलसी साहित्य के हस्तलेख) लिखते हैं—‘सोरों में प्राप्त महत्वपूर्ण प्रति वालकाण्ड की खण्डित प्रति है। उस पर सोरों के विद्वानों को बहुंत गर्व है।

—गो० तुलसीदास पृ० २०९

“वालकाण्ड की इस प्रति का पाठ शुद्ध नहीं है और इसमें क्षेपक कथाओं को स्थान प्राप्त है। क्षेपकों का समावेश प्रति को जाली होना सिद्ध करता है यदि गोसाईंजी की देख-रेख में पुस्तक तैयार की जाती तो उसका पाठ शुद्ध होता और उसमें क्षेपक कथाओं को स्थान नहीं मिलता। प्रति में बालि और रावण की कथा का सविस्तार वर्णन है। क्षेपक इस तथ्य के प्रमाण हैं कि प्रति बहुंत बाद की है। हस्तलिखित प्रतियों की परम्परा के आधार पर मानस की यह प्रति सं० १८४३ वि० की ज्ञात होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोरों में प्राप्त प्रति स्वयं इस बात की साक्षी है कि तुलसी का घर वहाँ नहीं था। तुलसी का घर वहाँ बनाया गया है।

(आज दि० १-८-१९७१ पृ० १३)

अरण्यकाण्ड में भी क्षेपकों की भरमार है (देखिए—दो० २६ से २७, ४७से४८)

२—आरक्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया भाग ११

३ —श्री रामनारायण अग्रवाल—आज १-८-१९७१ पृ० १३ का ६

गड़ौली (मिरजापुर) का सम्बन्ध —

श्री द्वारका प्रसादकेसरवानी ने स्वतंत्र भारत [1] में प्रकाशित अपने एक समीक्षा–लेख में इस प्रकार प्रकट किया है 'श्री नागेन्द्रनाथ घोष के शब्दों में कोई भी कवि चाहे वह पुरातन परम्पराओं या आख्यानों का आश्रय ले अथवा स्वयं अपनी सर्जन शील-कल्पना का, अंततः अपने काव्य के रंग मंच पर उन्हीं प्राणियों को उपस्थित करेगा और उसकी पृष्ठभूमि उन्हीं वस्तुओं और संस्थाओं से निर्मित होगी, जो उसके निकटवर्ती-संसार की उपज है। उसकी रचनाओं में जाने-अनजाने, उसके अपने युग के रीति-रिवाज बहुत कुछ सचाई और विस्तार के साथ प्रतिबिंबित हो जायेंगे।'

इस आधार पर उन्होंने तुलसीदास के नहछू की भाषा और व्यवहार की जो परख की है, उसके अनुसार वे गंगातटवासी भोजपुरी भाषा-भाषी सिद्ध होते हैं। अस्तु इस तथ्य का गौतम चन्द्रिका के उल्लेखों से मिलान करते हुए, उन्होंने लिखा है कि 'गौतम चंद्रिका' का लेखक अपने को कासीवार गौतम' कहता है। यहाँ भी बड़की या छोटकी गड़ौली में कासीवार गौतम भूमिहार ब्राह्मणों की आबादी है। इस परगने का नाम भी कासीवार है जो मिरजापुर तहसील का एक अंग है। यह गांव कटका रेलवे स्टेशन से एक मील तथा जी० टी० रोड से डेढ़ मील की दूरी पर है। ऐसी स्थिति में तुलसीदास का जन्म इसी गांव या इसके आसपास होने की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है।'

केसरवानी जी द्वारा स्थापित कसौटी अवश्य सर्वमान्य प्रामाणिक और पुष्ट है किन्तु उसके उपयोग द्वारा उन्होंने जन्मभूमि की ठीक ठीक 'परख' नहीं की। वस्तुतः गड़ौली तुलसीदास के मित्र गौतम चंद्रिका के लेखक कृष्णदत्त मिश्र की जन्मभूमि है। यदि ये दोनों एक ही स्थान या आस-पास के होते तो प्रथम साक्षात्कार ही में एक दूसरे को पहचान गए होते परिचय पूछने की आवश्यकता न होती तथा परस्पर नाम-ग्राम से अवगत होते। गौतम चन्द्रिका के अनुसार गौतम वंश में तुलसीदास का ननिहाल अथवा कुल संबन्ध था, जो कृष्ण दत्त मिश्र से दूर का भी हो सकता है। जमीदारों के नाते-रिश्ते प्रायः दूर-दूर होते हैं। काशीवार गौतम ब्राह्मणों के नाते-रिश्ते भी उक्त क्षेत्र से दूर मगध मिथिला एहु (मुंगेर) एकसर (सारन) बक्सर (आरा) और भार्गवी (भृगुक्षेत्र-बलिया) में थे। अस्तु केसरवानी जी की कसौटी के अनुसार तुलसीदास की जन्मभूमि आरा-बलिया स्थित गंगातट पर ही कहीं हो सकती है। नहछू की भाषा और व्यवहार का भी उक्त जनपद मे संगति मिल जाती है एवं तुलसी के आत्मोल्लेख

१—साप्ताहिक परिशिष्ट दि० २४-१० १९७१ पृ० १३

और गौतम-चंद्रिका के कथन से भी और जबकि गढ़ौली भोजपुरी क्षेत्र के बाहर पड़ता है ।

डा० उदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी क्षेत्र का जो मानचित्र तैयार किया है, उसके अनुसार उसकी पश्चिमी सीमा वाराणसी मण्डलांनगंत मिर्जामुराद और तमाचाबाद तक ही मानी गई है। गढौली उक्त सीमा से लगभग १० मील पश्चिम है।

कई तुलसीदास—

अनेक विद्वानों के विचार से कई तुलसीदास हुए हैं। श्रीउदयशंकर दुबे ने एक बुंदेलखंडी तुलसी दास के विषय में सूचना दी है,[1] जिनका उल्लेख नागरी-प्रचारणी-सभा काशी की विवरणिकाओं में हुआ है। इनका समय स० १८०० से १८५० वि० है। इनकी चार कृतियाँ मिली हैं—ज्ञान दीपिका, पदावली रामायण, बारामासी और हनुमान-सप्तक। पदावली रामायण' में बुंदेलखंडी भाषा की प्रधानता है यथा—

'पूछत ग्राम बधू मृदुबानी।
सुन्दर स्यामल गौर मनोहर ये तुमरे को आयें सयानी
और—संकट मोचन जू महाराज, हरो किन शंकट देर न कीजे।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि बुंदेलखंडी तुलसीदास की रचनाएँ प्रायः प्रसिद्ध गोस्वामी श्री तुलसीदास की रचनाओं का ही अशक्त रूपान्तर हैं (रा० अ० ११६ और क० अ० २१), अस्तु ऐसी स्थिति में निम्नांकित उद्भावनायें की जा सकती हैं—

क—कई तुलसीदास हुए हैं जिन्होंने प्रसिद्ध तुलसीदास का अनुकरण करने के अतिरिक्त मौलिक रूप से कुछ नहीं लिखा।

ख—मानस के अन्य कई लोगों ने तुलसीदास का अनुकरण कर उनके नाम पर रचनायें की हैं।

ग—तुलसीदास के नाम से मिलने वाली प्रायः सभी कृतियाँ एक तुलसीदास की नहीं हैं। इनमें देख पड़ने वाला अंतर इसी भेद के कारण है।

यदि कई तुलसीदास हुए हैं तो उनके जीवन वृत्त-संबन्धी जनश्रुतियों का परस्पर मिलजुल जाना संभव है जिससे प्रधान तुलसीदास संबन्धी छान-बीन में कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। तुलसी नाम के कई साहित्यकार हुए या नहीं हुए पर तुलसी को लेकर कई पक्षों की खींचातानी तो है ही उनके पिता-माता स्त्री-पुत्र और गुरु के विषय में भी एक मत नहीं है। किसी ने

---

(१) एक पत्र दि० ३—११-७१

पिता का नाम परशुराम किसी ने अंबादत्त (मानस की संत उन्मनी टीका) किसी ने आत्माराम (ग्रियर्सन और किसी ने अनप शर्मा (भविष्य पुराण) लिखा है। श्री ग्रियर्सन ने स्त्री का नाम रत्नावली लिखा तो संतउन्मनी टीका में ममता बताया गया। गुरु का नाम भी विल्सन और तासी ने जगन्नाथ दास लिखा है।

खोजमार्ग में बाधाएँ —

बहुत से महान् साहित्यकारों की भाँति गोस्वामी तुलसीदास का जीवन वृत भी स्पष्ट नहीं है। स्पष्टता से रहस्यमयता बढ़ती है और मिथ्या-कल्पनाओं को प्रश्रय मिलता है। ऐसी स्थिति में किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये जान बूझ कर अथवा किसी विशेष शंका के समाधान निमित्त भ्रमवश अनेक अनुमानिक जनश्रुतियां प्रचलित कर दी जाती हैं अथवा तथ्य में परिवर्द्धन-परिवर्तन कर दिया जाता है। जनश्रुतियों के प्रचलन के निम्नांकित कारण होते हैं —

महत्व प्रदर्शन (चमत्कार संबंधी), किसी घटना विशेष के कार्य और कारण का मेल मिलाना राजनीतिकि, सामाजिक और धार्मिक प्रचार पौराणिक कथाओं का आधार स्पष्ट करना भ्रम वश कहीं की बात का कहीं मेल कर देना.,हास-परिहास एवं कहावतों का घटना परक साकाररूप देना किसी जाति, वर्ग, कुल, ग्राम को हीन भावना या द्वेष भाव से निंदित करना तथा लज्जाजनक घटनाओं को परिवर्तित करके कहना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी जनश्रुतियाँ प्रमाण कोटि में नहीं आ सकतीं। कभी-कभी तथ्य के विपरीत भी जनश्रुतियों का प्रचलन पाया जाता है, इसलिये जनश्रुतियाँ वहीं तक स्वीकार के योग्य होती हैं, जहां तक वे अन्य उपलब्ध प्रमाणों के स्पष्टीकरण में सहायक होती हैं। प्रमाण की दृष्टि से उनपर पूर्णतः निर्भर नहीं किया जा सकता, फिर भी अनेक जनश्रुतियाँ तथ्यों के अवगाहन में सहायक सिद्ध होती हैं किंतु उनके सत्यांश तक पहुंचना बड़े विवेक का काम है।

अन्तर्साक्ष्य पर निर्भरता--

कवि, संत और समाज-सुधारक प्रायः अंतर्मुखी संवेदनशील तथा सचेतन मस्तिष्क का होने से अपेक्षाकृत अधिक भावुक, गम्भीर विचारक और चिंतनशील होते हैं। उनके मन और शरीर पर किसी घटना का गहरा तथा शीघ्रगामी प्रभाव पड़ता है, इस लिए वे अपने उन मनोभावों को ज्यों का त्यों अथवा थोड़े हेरफेर के साथ स्पष्ट कर देते हैं, जिससे उनके स्वभाव और जीवन-सम्बन्धी

बातों की झलक मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास असाधारण सचेतन-मस्तिष्क के महापुरुष थे, अस्तु उनकी रचनाओं में उनके जीवन वृत-संबंधी संकेत भी प्रचुरमात्रा में उपलब्ध हैं जैसा कि आचार्य पं० परशुराम चतुर्वेदी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

‘गोस्वामी तुलसीदास का अभीतक प्रामाणिक जीवन चरित’ नहीं है और न उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी अन्य-साधन द्वारा हम उन्हें जान सकते हैं जैसे-जैसे हम उनकी रचनाओं को पढ़ते जाते हैं, उनके शब्दों के साथ-साथ उनके अर्थ को अवगत करते चलते हैं और इन दोनों के पीछे हमें सदा उस एक व्यक्ति की परिछाई का भी अनुभव होता रहता है जो उनकी पृष्ठ भूमि का काम करती है और जिसका अस्तित्व ही हमें उनके भीतर निहित सत्य का पता देता है। × ×

गोस्वामी तुलसीदास के मानव रूप का विश्लेषण करते समय हमें उनकी कुछ रचनाएँ बहुत सहायता पहुँचाती हैं। अपने ‘रामचरित-मानस’ और विशेषतः अपनी ‘विनय-पत्रिका’ के अंतर्गत उन्होंने कई ऐसे संकेत प्रदान किए हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व की हमें एक स्पष्ट झलक मिल जाती है।” १

खोज की पृष्ठ भूमि—

कई वर्ष पहले की बात है कि श्री प० परमेश्वर प्रसाद शर्मा (भूतपूर्व—संस्कृत विभागाध्यक्ष संत कोलंबा कालेज हजारीबाग तथा प्राचार्य पी० पी० एस० कालेज, पटना) ने बातचीत के प्रसंग में मुझसे कहा कि उनका अपना विश्वास है कि तुलसी दास पूरब के निवासी बाभन (जमींदार—ब्राह्मण) थे।

यह बात जैसे चलते ढंग से चली वैसे चली भी गई और इसपर विशेष रूप से विचार करने का कोई अवसर नहीं आया, किंतु इस घटना के कुछ दिनों बाद मुझे चतुर्मुख-पत्रिका के लिये झाँसी के श्री पं० गौरीशंकर द्विवेदी ‘शंकर’ का एक लेख प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने श्री पं० श्रीधरवासुदेव सोहनी (तत्कालीन आयुक्त पटना प्रमण्डल, बिहार) के उस कथन का प्रतिवाद किया था, जिसके द्वारा सोंहनी जी ने रघुनाथ पुर (आरा) में भाषण देते हुए उक्त स्थान को गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि बताया था। यह घटना संवत् २०२१ वि० की है। वह लेख चतुर्मुख वर्ष १ अंक २ में प्रकाशित हुआ तथा उक्त संदर्भ में ‘चतुर्मुख’ के वर्ष २ अंक ६ तक लगातार तुलसी

१—भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें पृ० १३१-३२

की जन्मभूमि के विषय में विचार-विमर्श चलता रहा, जिसमें पक्ष-विपक्ष के कई लेख प्रकाशित हुए।

इस विमर्श के फलस्वरूप श्री सोहनी महोदय का पलड़ा भारी पड़ने लगा तथा सोरों पक्ष हल्का पड़ गया तथा उसी के साथ-साथ राजापुर (बाँदा) आदि का पक्ष भी। जब 'चतुर्मुख' ने पूर्वग्रह के अंधकूप से निकलकर अपनी चतुर्मुखी दृष्टि से टोहली तो यह रहस्य स्पष्ट हो गया कि तुलसीदास की जन्मभूमि यमुनातटवर्ती बाँदा जिले का राजापुर न होकर गंगा तटवर्ती आरा-बलिया का राजापुर या राजपुर है, जहाँ उनकी जन्मभूमि होने के साक्षी अनेक उपकरण विद्यमान हैं।

वंश परम्परा की जाँच—

आजकल तुलसीदास की जाति-उपजाति को लेकर बड़ा झमेला है और उसी का तालमेल मिलाने के लिए सब घालमेल किया जाता है। यह झमेला आज की भांति तुलसी काल में न था। ब्राह्मणों के कनौजिया, सनाढ्य, सरवरिया, भूमिहार, मैथिल, उत्कल, महाराष्ट्र, गुर्जर, गौड़ आदि भेद इतने रूढ़ तथा परस्पर वर्जनशील नहीं हो पाए थे। उनमें तरलता थी। एक क्षेत्र का ब्राह्मण दूसरे क्षेत्र में जाने पर सुगमता से वहाँ के ब्राह्मणों में मिलजुल जाता था। यदि सरयूपारी ब्राह्मणों को ही देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें मुगल काल तक अन्य प्रदेशों के ब्राह्मण आकर मिलते रहे हैं और इसीसे 'आरा-बलिया सारन' के सरयूपारी माने जाने वाले ब्राह्मण प्रायः अपने को कनौजिया कहते हैं। इनमें बहुतों के डीह सरयू के उत्तरपार में नहीं है, जिनके हैं भी उनमें श्री मुख शांडिल्य (गढ़वाली),[1] गौतम (मैथिल), पयासी मिश्र (सारस्वत)' करेली ओझा (मैथिल) राढ़ी मिश्र (वंगीय) और कुसौरा चौबे (अंतर्वेदी) बाहर से आकर ही वहाँ बस गए।[2]

भोजपुरी प्रदेश के भूमिहार मूलतः कान्य कुब्ज हैं। जिनका आगमन मुस्लिमकाल में इधर हुआ। यहाँ कई सरयूपारी बंश-परम्परायें भी इनमें मिलाई गई जैसे—पिपरा गौतम, सोहगौरिया तिवारी, गर्ग शुक्ल, गाना मिश्र, सररिया-

---

[1] १—ऐसे ही (मुसल्मानी) समय में श्रीनगर से आये हुए श्री नेत क्षत्रिय सामंतों और उनके साथ के श्रीवास्तव कायस्थों एवं ब्राह्मण गुरुओं ने गंगा के मार्ग से घाघरा होते हुए बरहज के पास राप्ती का मार्ग पकड़ा। (शेषमणित्रिपाठी—'आज' दि० ३-८-१९७१ पृ० ११ का २)

[2] २—सरवरिया ब्राह्मणोत्पत्तिप्रदीप पृ० २०-२१,२४,२८,३०-३१,३७,५६

दूवे, रामा सरिया, अमबरिया आदि इसी प्रकार सरवरिया-ब्राह्मणों की भी कई वंश परंपरायें मूलतः भूमिहार ब्राह्मणों से संबद्ध हैं, जैसे—निमेज ओझा (काश्यप) बटवा उपाध्याय (काश्यप), नगवा पांडे (काश्यप), बैलो दुवे (वत्स), बड़हरिया पांडेय आदि।[1] गोरखपुर, बस्ती, प्रतापगढ़, इलाहाबाद आदि जिलों में इन दोनों वर्गों के परस्पर विवाह-संबन्ध भी होते हैं फिर भी इनके आचार-व्यवहार और स्वभाव में मौलिक अंतर है, जिसके आधार पर मैंने तुलसीदास की जातीय विशेषता जानने का प्रयास किया है क्योंकि व्यवहार के निमित से ही जातियों की कल्पना की गई है। अस्तु आशा है किसी पक्ष की ओर से इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को अनुचित न माना जायेगा।

माता-पिता—

अंतर्साक्ष्यों से विदित होता है कि तुलसीदास जी अप्रतिग्राही जमींदार ब्राह्मण-परंपरा में उत्पन्न हुए थे, जिस पर राजा, राजसमाज और अपने कुलवालों को भी वक्र दृष्टि थी। कदाचित् उनके पिता का निधन उन्हीं लोगों के साथ संघर्ष करते हुए हुआ भी। उन्होंने अपने माता-पिता की उपमा कुटिल कीट (वि० प० २७५) अर्थात सर्प से दी है। भोजपुरी प्रदेश में उस व्यक्ति को 'गेहुंअन साँप' कहते हैं जो दुर्वल दिखाई देने पर भी शत्रुओं के लिए महाभयानक बन जाता है और किसी से कभी दबता नहीं। ऐसे लोग शत्रुओं की बात-बात का उत्तर देने और निर्भीकता पूर्वक उनसे भिड़ने के लिए तैयार रहते हैं। अन्य अंडजों या पिंडजों की भांति साँप अपने बच्चों के पालन-पोषण तथा देख-रेख में तत्पर नहीं होता, वरंच अपनी जीवन रक्षा की दृष्टि से वह वहाँ से अलग हट जाता है। अस्तु तुलसीदास के ही संकेत से उनके जन्मकाल की स्थिति और माता-पिता की तत्कालीन भागदौड़ को समझा जा सकता है[2]।

कवितावली में वे कहते हैं—

'मात पिता जग जाइ तज्यो, (क० उ० ५७) अस्तु इससे भी वही बात प्रकट होती है और यह भी झलकता है कि उनके पिता युद्ध भूमि में वीर गति को प्राप्त हुए थे एवं उनकी माता उनके साथ सहगामिनी हो गई थी क्योंकि 'जग का त्याग करना अर्थात आवागमन से मुक्त होना उसी व्यक्ति के लिए कहा

१—दे० कुलदीपनारायण राय 'झड़प' विकास की एकधारा भाग २ अ०२-३

२—तुलसीदास का जन्मकाल चाहे सं० १५५४ या १५८९ या १६०० वि० मानें, यह समय हिन्दुओं और प्रजा के लिए अत्यन्त कष्टमय और उपद्रवों से भरा हुआ था, जिसका दुखद अनुभव तुलसी ने स्वयं किया।

जाता है जो ज्ञान पूर्वक संन्यासी होकर अथवा रणभूमि में लड़ते हुए शरीर का त्याग करता है—

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रः सूर्य मंडल भेदिनौ ।
परिव्राड् योग युक्तस्य रणेचाभि मुखोहतः ।। महा० उ० ३३/६१
मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः ।
प्राण द्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रम पदं भवेत् ।। म० शा० ६६/१६

तुलसीदासजी की माता का नाम 'हुलसी' होना तो उनके अन्तर्साक्ष्य से भी प्रकट है, पर उनके पिता का नाम क्या था, इसकी स्पष्ट झलक नहीं मिलती[1] किन्तु उन्होंने 'रघुनाथ' नाम का जिस रूप में प्रयोग किया है, उसको देखते हुए उनके पिता का नाम 'रघुनाथ' होना माना जा सकता है। इस अनुमान की पुष्टि 'हुलासो-सती' के निकट 'रघू कुँवर'[2] का टीला होने तथा 'वेलपतौत' ग्राम का नाम बदलकर 'रघुनाथपुर' कर दिए जाने से भी होती है। इन दोनों स्थानों पर तुलसीदास के स्मृतिचिह्न और सटे हुए 'राजपुर' गांव है तथा अन्य कई स्थानों में भी तुलसी-हुलसी के नामों वाले गांव के साथ प्रायः रघुनाथपुर की स्थिति भी मिलती है। हुलासो-सती के निकट भी रघुनाथपुर और रहुवाँ (रघुग्राम) है। तुलसीदास जी का यह कथन कि—

जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत मोहि होत अति बीड़ा ।।

से ऐसा लगता है कि तुलसी ही अपने पिता की पराजय की अनुरूप नाम सम्बन्ध से सुधकर लज्जित होते हैं क्योंकि भगवान शंकर जैसे सर्वज्ञ ज्ञानी भक्त को श्रीरामचन्द्रजी की मानवलीला के सम्बन्ध में ब्रीड़ा (लज्जा) होने का कोई कारण नहीं है। उनके इस क्षोभ की निवृत्ति

जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुरनर मुनि सबके दुख बीते ।।

में हुई है।

---

[1] गुलामराम ने इनके पिता का नाम आत्माराम, माता का हुलसी, श्वसुर का दीनबन्धु पाठक स्त्री का रत्नावली और पुत्र का तारक बतलाया है. परन्तु यह सव अटकल पच्छू भिड़ा दिया गया है। इसका कोई प्रमाण नहीं है। (पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—कान्यकुब्ज, अगस्त १९२२ पृ० १९६)

[2] गोरखपुर का नामकरण गुरु गोरखनाथ के नाम पर होना प्रसिद्ध है किन्तु वहाँ के तिवारी ब्राह्मण उसका सम्बन्ध अपने पूर्वज गोरखी वावा के नाम से करते हैं। इसी प्रकार सम्भव है 'रघू कुँवर' के टीले का सम्बन्ध भी परसिया के कानन राजपूतों के पूर्वज 'रघू कुँवर' से कर दिया गया हो।

घर जायउ—

गोस्वामीजी ने अपने को श्रीरामचन्द्रजी का 'घर जायउ है घर को' कहा है। मैंने 'जायउ' का अर्थ भोजपुरी 'जाउत' (जामि[१] पुत्र) किया है और 'घर को[२] का अर्थ 'घराने (कुल) का व्यक्ति एवं इस प्रकार उनकी श्रीरामचन्द्रजी के साथ सगोत्रता सिद्ध की है, परन्तु यदि 'घरजाउ' का अर्थ 'घर जाया'[३] (दास) भी किया जाय तो भी उससे तुलसीदास की श्रीरामचन्द्रजी से सगोत्रता ही प्रकट होती है, क्योंकि सात प्रकार के दासों में 'घर जाया' अर्थात् गृह-जात [४] दास सगोत्री ही होते हैं एवं उसके साथ 'घर को' का प्रयोग होने से उसकी और पुष्टि हुई है। 'घर जाया' को फारसी में 'खाना जादा'[५] कहते हैं। भोजपुरी में 'खान् जादा' का लाक्षणिक अर्थ 'धृष्ट' होता है। भोजपुरी में 'घर का' का प्रयोग भी प्रचलित है, जिसका अर्थ होता है 'कुल–कुटुम्ब का व्यक्ति'।

१—जामि–संज्ञा स्त्री (सं०) (१) बहिन, भगिनी (२) लड़की, कन्या (३) पुत्र-वधू, बहू, पतोहू (४) अपने सम्बन्ध या गोत्र की स्त्री (५) तुलसी, घर की बहू बेटी (हिन्दी शब्द सागर)

२—घर–कुल, घराना

घर-घराना—कुल-कुटुम्ब

घर के लोग–कुटुम्बी, स्त्री बच्चे

(वृहत् हिन्दी-कोश—द्वि० सं०, ज्ञानमण्डल लि० बनारस)

घर-खान्दान, घराना

घर का–(हि०) खानगी, घरेलू, घरके मुतल्लिक, अपना जाति, निजका, रिश्तादार, भाईबंद, करावती। (फीरोजुल्लुगात उर्दू भाग १)

घर—वंश, घराना

घर का—निजी, अपना, आपस का (भार्गव आदर्श हिन्दीकोश)

३—घरजाया–पु० गुलाम, गृहदास (वृ० हि० को०)

घरजाया-घर का दास (भा० आ० हि० को०)

४—गृह-कुटुम्ब, खांदान, वंश (हिंदी शब्दसागर—ना० प्र० स० काशी)

गृहजात-वि० घर में पैदा हुआ पु० सात प्रकार के दासों में एक अपने घर में पैदा हुआ (वृ० हि० को०)

५—खानजादा–घर में पैदा या पाला पोसा हुआ। घरजाया संज्ञा पु० (फा०) सेवक, गुलाम, दास (हि० श० सा०)

खानाजदा-(फा०) मुअ घर का पैदा शुदा गुलाम, लौंड़ी का बच्चा, परस्तार जादा। (फीरोजुल्लुगात भाग १)

भाषा और रीति रिवाज—

जब हम तुलसीदास जी की भाषा पर दृष्टि डालते हैं तो उसमें 'आरा बलिया सारन' में प्रयुक्त भोजपुरी विभक्ति, प्रत्यय, शब्दयोजना, कथन शैली मुहावरों का स्वाभाविक रूप में अधिकता से प्रयोग देखकर आश्चर्य होता है, जबकि उन दिनों कविता का माध्यम भोजपुरी न होकर अवधी और ब्रजी थी।

मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं की गोस्वामी जी का 'मानस' भोजपुरी में लिखा गया। वह अवधी भाषा का ग्रंथ है किंतु मुझे यहाँ यह कहना है कि समर्थ कवि भी अपनी मातृ-भाषा के प्रयोगों से अपने को बचा नहीं पाते। इस संदर्भ में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। केशवदास ब्रज भाषा के आचार्य और लब्ध-प्रतिष्ठ कवि होते हुए भी बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग निः संकोच करते हैं। कविवर भिखारी दास व्रज भाषा के मान्य कवि हैं, किंतु उनकी कृतियों में भी स्थानीय प्रयोग मिलते हैं। कविवर सेनापति की भाषा टकसाली कही जाती है, परन्तु वह भी पूर्वीय प्रयोगों से वंचित नहीं है। आधुनिक-युग में रत्नाकर जी ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि हुए हैं, जिनकी रचनाओं मे बनारसी पुट देखा जा सकता है। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनका अवधी और भोजपुरी में समान रूप से प्रयोग पाया जाता है फिर भी भोजपुरी के ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग तुलसी-साहित्य में मिलता है जो सर्वथा भोजपुरी हैं।[1]

डा० उदय नारायण तिवारी के कथनानुसार—"भाषा वास्तव में उसके निरंतर बोलने वाले समाज विशेष के द्वारा निर्मित एक भण्डार है। पूर्णरूप से समग्र समाज में ही इसके रूप के दर्शन किया जा सकता है [2]।"

प्रायः ऐसा होता है कि भाषा प्रवाह में कुछ पुराने शब्द किनारे पड़ जाते है अथवा उनके अर्थ में परिवर्त्तन हो जाता है एवं कुछ नए शब्द मिल भी जाते हैं। भोजपुरी में भी गोस्वामीजी के सम-सामयिक प्रचलित कुछ शब्द अब प्रयुक्त नहीं होते या परिवर्तित रूप में प्रचलित हैं। इनकी पहचान लोक-गीतों के आधार पर की जा सकती है जैसे—

१—पांडुलिपि के महत्वपूर्ण २० पृष्ट किसी कंपोजीटर की असावधानी से नष्ट हो गये, जिनको दूसरी प्रति के अभाव में पूर्ति नहीं की जा सकी। नष्ट हुई सामग्री में गोसाई तुलसी दास जी द्वारा किये गये खास भोजपुरी प्रयोगों का विवेचन तथा स्पष्टीकरण किया गया था।

२—भाषा शास्त्र की रूपरेखा पृ० ११।

(१) हिंडोला (हिड़ोरना या हीड़ना' क्रिया का कृदन्त रूप)

'निविया की डाढ़ि मैया झुलेली हिंडोलवा (लो० गी०)

हिंडोलना झूलन जये (गी० उ० १८)

२—सुपेती डासन (सेज)

सात सुपेती के डासनबाबा सेजि परि रही ले अकेल (गीत)

सिविका सुरूपसुपेतीनाना (रा० बा०)

बैठे सब तहँ दर्भ डसाई (रा०)

३—जेते (जितने) तेते (उतने)

जेत लूगा तेत जाड़, नाहीं लूगा नाहीं जाड़ (लोकोक्ति)

निसिचर निकर धरनि महँ जेते। लक्ष्मण हतहिं निमिष महँ तेते (रा० लं)

तुलसी साहित्य में ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका भोजपुरी अर्थ किये बिना अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता; जैसे—

संघाती (साथी), बद (निर्धारण करो), मूरति (व्यक्ति, शक्ल) गुमान (घमंड), रव (तीव्रगति), अवडेरे (अशांत). करम बिनु (भाग्यहीन) भेंट होना (प्रतिद्वंद्विता होना) खालें पड़ना (पतन होना) गँव ताकना (अवसर देखना) हम हम करना (अहंकार करना) बोल मारना (व्यंग्य करना) भियारे (हे भाई) मनखोलना (छलरहित व्यवहार करना) वल पाना (प्रोत्साहन मिलना) पूर न पड़ना (विपत्ति पड़ना), बाजना (मल्ल युद्ध करना) समय सिरे (समयानुसार), पूजी (पूरी हुई) दूजी (दूसरी) हेला (पार होने का स्थान या क्रिया) डोलना (चलना-फिरना) चाहि (बढ़कर) सेंतिहु (बिना मूल्य), हमरिवेर (मेरीवार), टहल (सेवा) उजागर (प्रकाशित) छूछ (खाली) कुहत (मारता है) बाँकुरा (बढ़िया) पीअरपात (चंचल)

भोजपुरी पूर्वकालिक क्रिया की तो सर्वत्र ही भरमार है, यथा—

अँगइ, अकनि, अवडेरि, उचकि, औंजि, गढ़िगुढ़ि, गढ़िछोलि, चीरफारि, चाकिडफोरि, वियकि, बिलखि, विलखाइ, वेसाहि, कलपि, फेंकरि-फेंकरि, उपारि, उमगि, ठुमुकि-ठुमुकि, कोरि, संचि, हलोरि, हटकि, हाँकि, मींजि, काँढ़ि, डाँड़ि, भांड़ि ढाहि, ढकेलि।

भोजपुरी लोक गीतों का प्रभाव भी तुलसी साहित्य में देखा जा सकता है यथा—

'बाबा जे धिया के बोलावेले, जाँघे बइठावेले' (लो० गी०)

वधू सप्रेम गोद वैठारीं। वार-बार हिय हरषि दुलारी ॥ रा० वा०३५४

दीपावली के दिन रात्रिशेष में सूप पीट-पीट कर घर से दरिद्रतानिस्सारण करना भोजपुरी प्रदेश की प्रथा है, जिससे संबंधित लोकोक्ति—'खातो दीपमालिका

ठठाइयत सूप हैं,—का प्रयोग तुलसीदास ने किया है। इसी प्रकार 'चाउर से काँड़ियो' पश्चिम का प्रयोग नहीं है।

भोजपुरी प्रदेश में प्रातः काल निम्न कोटि के लोगों या दुष्ट पशुओं और उपद्रवी गाँवों का नाम कोई नहीं लेता क्योंकि ऐसी मान्यता है कि उनका नाम लेने से उस दिन भोजन नहीं मिलता। इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने श्री हनुमान जी से कहलाया है—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिले अहारा॥ रा० सुं०

तुलसीकाल में पश्चिमी भाग की स्त्रियों में 'लहंगा-ओढ़नी' का प्रचार था, किन्तु पूर्वीय प्रदेश की स्त्रियां साड़ी पहनती थीं, जिसका प्रयोग तुलसीदास ने कराया है। पश्चिम में पुरुषों के साथ स्त्रियां भी बारात में जाती हैं पर पूरब में नहीं। बनियों को छोड़ आतिशबाजी का रिवाज भी पूरब में नहीं है। तुलसीदास ने पूर्वीय प्रथा के अनुसार ही नहछू, बरात में घुड़दौड़, दुमेला आदि कराया है पर आतिशबाजी आदि का प्रयोग नहीं।

जन्मभूमि के सम्बन्ध में संकेत—

भाषा, भाव, रीति-रवाज के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी तुलसीदास ने अपनी जन्मभूमि के संबंध में संकेत दिए हैं (दे०—क० १/१२, गी० १/६६,७१) इसी प्रकार गुरु भूमि और तपो भूमि के संबंध में भी संकेत हैं। गीतावली में उनका कथन है—

> 'भरत, राम रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया।
> तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे, रघुबर नगर बसैया गी० बा०

इस कथन में 'तब केसे अजहु जानिवे' पद विचारणीय है। 'अजहुं' वर्तमान-काल का और 'तब केसे' भूतकाल का द्योतक है अर्थात् तुलसी वर्तमान काल में रघुबर नगर (अयोध्या) में उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार उन्होंने रामावतार के समय त्रेता युग में 'रामचरित' के अवलोकनार्थ किया था, वे वहाँ उत्पन्न नहीं हुए थे।

राम नाम का महत्व बतलाते हुए एवं उसकी वंदना करते हुए कहा है कि—'सो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास' जिससे प्रकट होता है कि उनके मन में सर्वप्रथम राम के विग्रहावतार का दर्शन कर राम भक्ति नहीं उत्पन्न हुई, वरन् राम का सुयश सुनकर राम नाम का स्मरण और जप करने से वे उस स्थिति को प्राप्त कर सके[1] ऐसी स्थिति में उनका चित्रकूट, अयोध्या अथवा इनके निकट जन्म लेने का निषेध होता है क्योंकि इन स्थानों पर

---

[1] —राम नाम के माध्यम से रामरूप की प्राप्ति करने के कारण ही तुलसी ने राम (ब्रह्म) के निर्गुण और सगुण रूप से भी बढ़कर राम नाम को महत्व दिया है। (रा० बा० १९-२८)

सर्वप्रथम उन्हें विग्रहावतार दर्शन हुआ होता तथा उसके माध्यम से रामभक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार यदि—

तैसहि सुकबि कबित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं॥ रा० बा० ११/३

में 'सुकवि-कवित' का अर्थ द्वन्द्वसमास के अनुसार किया जाय तो उनका काशी, अयोध्या, चित्रकूट और राजापुर (बाँदा) में जन्म लेने का स्पष्ट निषेध होता है और यदि उसका अर्थ तत्पुरुष समास में किया जाय तो भी व्यंग्यार्थ से वही बात झलकती है क्योंकि ये स्थान उनकी साधना के स्थान या कर्मक्षेत्र हैं, जहाँ उन्होंने अथवा उनकी रचनाओं ने छवि पाई। इसलिए जन्म स्थान कहीं अन्यत्र होना चाहिये।

वे जब कहते हैं कि—'नित पय चरित सहित तुलसीचित बसहुं लखन रघुराई' तो उससे यह प्रकट होता है कि वे बक्सर से जनकपुर जाते समय श्रीराम-लक्ष्मण के साथ-साथ थे और उनका जन्म स्थान बक्सर के आस-पास ही कहीं था।

मेरी खोज-प्रणाली—

शंकाओं का समाधान हो जाने पर ही किसी तथ्य तक पहुंचा जा सकता है। शंकाओं का समाधान तर्क पर निर्भर है। तर्क में तीक्ष्णता होती है, पर जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार हट जाता है, वैसे ही तर्क के द्वारा भावात्मक-भ्रम और पूर्वाग्रह का पर्दा फट जाता है। इसलिये सत्य की खोज के लिए शास्त्रानुसार तार्किक-प्रणाली सर्वोत्तम है।[१] इसकी तीन विधियां हैं—

१—आगमनात्मक अर्थात् तथ्यों के निरीक्षण द्वारा किसी सामान्य-सिद्धान्त की स्थापना करना।

२—निगमनात्मक अर्थात् किसी सामान्य सिद्धान्त की कसौटी पर तथ्यों की परीक्षा करना।

३—उपमानात्मक अर्थात् तथ्यों का विशेषरूप से निरीक्षण कर उनके सादृश्य के आधार पर किसी नवीन और विशेष सिद्धान्त की खोज करना।

मैंने पूर्वाग्रह, जनश्रुति और 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का मोह छोड़कर देश-काल, समाज और इतिहास के अनुसार यथावसर उपर्युक्त तीनों ही पद्धतियों के उपयोग पूर्वक यथामति तथ्य तक पहुंचने का निष्पक्ष प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक में अनुसंधान सम्बन्धी जो भी सामग्री या प्रमाण उपलब्ध

---

[१] —आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्कमुच्यते-अमृतनादोपनिषद् १६

किए गए हैं, उनकी भलीभाँति परीक्षा कर ली गई है, अतः वे विश्वसनीय मान कर ही उद्धृत किये गये हैं। दूसरे महानुभाव उनकी परीक्षा कर सकते हैं क्योंकि परीक्षा का द्वार सबके लिये खुला है।

गोस्वामीजी की जीवन यात्रा संबन्धी खोज करते समय उस काल की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता क्योंकि देशकाल के प्रभाव से मनुष्य वंचित नहीं रह सकता। उसकी वाणी उसके विचार और कार्यों में देशकाल व्यक्त होता रहता है। महापुरुष तो अपने देश काल के प्रतिनिधि या मूर्तरूप ही होते हैं। मूर्त्तरूप इस अर्थ में कि उनकी वाणी द्वारा उक्त देशकाल का परिज्ञान होता है।

मैंने प्रायः कार्य के कारण और ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने का ही अनुसरण किया है। आवश्यक सामग्री का एकत्रीकरण, उसका विश्लेषण और और व्याख्या तदनुसार प्राप्त तथ्यों पर विचार, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की स्थापना और तब किसी निर्णय या निष्कर्ष पर पहुंचना; ये अनुसंधान के क्रमिक अंग हैं।

'विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पंचांग शास्त्राधिकरणंस्मृतम्॥

अबतक गोस्वामीजी की जीवनवृत्त-संबन्धी सामग्री जितनी भी उपलब्ध है, उसकी प्रामाणिकता की जांच तर्क, इतिहास, सम्भावनाएँ, सामयिकता तथा विद्वानों के परीक्षण के आधार पर यथा सम्भव मौलिक रूप से की गई है। प्रत्यक्ष और शब्दप्रमाण के साथ-साथ अनुमान-उपमान का भी सहारा लिया गया है एवं इस प्रकार बहिर्साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्य दोनों पर विचार किया गया है। तथ्य निरूपण में वैज्ञानिक पद्धति और ऐतिहासिक कसौटी का अवलम्बन किया गया है। इसमें अपना कोई आग्रह नहीं है क्योंकि ऐतिहासिक शोध के लिए राग-द्वेष रहित निष्पक्षदृष्टि आवश्यक है कल्हण के कथनानुसार—

श्लाध्यसएवगुणवान् राग द्वेष बहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥ रा० त० १।७

अर्थात प्रशंसा के योग्य वही पुरुष है जो निष्पक्ष भाव से राग-द्वेष रहित होकर तथ्यों का चयन करता है।

तथ्य-निरूपण के लिए तीन साधन अपेक्षित हैं—पैनी दृष्टि, निर्णायक बुद्धि और गम्भीर अध्ययन। यद्यपि अपने में इन तीनों साधनों का अभाव पाता हूं, फिर भी प्राप्त-सामग्री का सूक्ष्मतापूर्वक सांगोपांग अवलोकन करने का प्रयास किया है, जिसके लिए तर्क का अवलम्बन अनिवार्य है। योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि तर्कशक्ति से मनुष्य को सत्य का ज्ञान होता है। भगवान मनु कहते हैं—

'यस्तर्केणानुसंधत्ते' और निरुक्तकार ने भी कहा है—'तर्क एष ऋषि' अस्तु तथ्यों का निर्धारण तर्क के आधार पर होना चाहिए। मैंने तुलसी सम्बन्धी तथ्यों के उद्घाटन के निमित्त जिन आधारों का आश्रय लिया है और जिन वैज्ञानिक कसौटियों की स्थापना की है, वे प्रायः तर्क प्रधान हैं।

आज के संकीर्ण जातिवादी[1] युग में मेरे लिये सर्वाधिक संकोच की बात यह है कि मैं बलिया का निवासी अप्रतिग्रही ब्राह्मण हूं और मेरे माप दण्ड के अनुसार तुलसीदास इसी चौखटे में ठीक बैठते हैं। मेरे लिए यह बात जैसे संकोच का कारण बन रही है, वैसे ही वह बहुत से लोगों को खटक सकती है। परन्तु यह तो अनुसन्धान की बात ठहरी। जो प्रमाण मुझे मिले हैं मैंने उन्हीं के

---

[1] – डा० कैलाशनाथ शर्मा लिखते हैं कि जातिवादिता का जन्म १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया था (भारतीय समाज और संस्कृति पृ० १४०)। संकीर्णजातिवादी मनोवृत्ति को बढ़ावा देकर परस्पर फूट उत्पन्न करना अंगरेजों की नीति रही है जैसा कि ब्रिटिश पार्ल्यामिन्ट की जाँच समिति के समक्ष सर जान मालकन की गवाही (सन् १८१३ ई०) से प्रकट है। (दे०-श्री सुन्दरलाल कृत भारत में अंग्रेजी राज्य भाग २ पृ० ६८८-८९) इसी विभेदीकरण की नीति के अनुसार संयुक्त प्रदेश की सरकार ने सन् १८८५ में २९९ प्रश्नों की एक सूची प्रसारित की जो जातियों के विषय में जाँच सम्बन्धी थी (दे०—पं० छोटेलाल शर्मा कृत जाति अन्वेषण भाग १ पृ० १९) और सन् १९०१ ई० में भारतीय जनगणना विभाग के आयुक्त की ओर से एक सक्युंलर (नं० ५२४।८ ६० दि० २५-२-१९०१) निकला। पुनः उसी वर्ष ९५ अप्रैल को युक्त प्रांतीय सेंसस-सुपरिन्टेंडेंट आर० वर्न का दूसरा सक्युंलर नं० ८०४।८-६० प्रसारित हुआ जो पहले से कुछ भिन्न था और जिसके अनुसार सभी जातियों को अपनी सामाजिक जातीय स्थिति, उत्पत्ति, वर्ण आदि के विषय में स्पष्टीकरण मांगा गया, जिसका फल यह हुआ कि सभी जातियों उपजातियों के लोग अपने को बड़ा बताने लगे और दूसरों के प्रति निन्दा और झूठा प्रचार करने लगे (वही पृ० १ से ७) दुर्भाग्यवश अंग्रेजी काल में बोई गई यह जातिवादी मनोवृत्ति आज की भद्दी राजनीति के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। आज दि० १-८-१९७१ पृ० १३ कालम ६ के अनुसार एक थीसिस लेखक प्रसिद्ध विद्वान को इस बात के लिए बाध्य किया गया कि गोस्वामी जी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण ही लिखें अन्यथा उनकी थीसिस के पक्ष में सम्मति नहीं दी जायेगी।

अनुसार अपना मत स्थिर किया है। वे सारी बातें दूसरे सुधी विद्वानों के समक्ष भी हैं, वे उस पर विचार कर सकते हैं।

यह एक संयोग की बात है कि बलिया मण्डल के एक अप्रतिग्रही ऐतिहासिक ब्राह्मण वंश-परम्परा से मेरा जन्म सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध के कारण तुलसीदास को अधिकाधिक निकट से समझने की सुविधा भी प्राप्त हुई है। बात यह है कि निकट की वस्तु को ही अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है और उसका निरीक्षण परीक्षण किया जा सकता है। अपनी ओर आकर्षण और सहानुभूति होना स्वाभाविक है, फिर भी यथा मति राग-द्वेष से रहित रहकर ही उपलब्ध प्रमाणों पर विचार करने का प्रयास किया है अपना आग्रह स्थापित करने का नहीं। यों तो अपना-अपना दृष्टिकोण है और कोई कुछ कह सकता है। उपलब्ध प्रमाणों के रूप में मेरे अन्तःकरण पर जो कुछ प्रतिबिम्बित हुआ उसे मेरी विवेक बुद्धि ने जिस रूप में ग्रहण किया उसे ही मैंने यथातथ्य प्रकट कर दिया है[1] क्योंकि लोकप्रवाद के भय से सत्य पर थोड़ा भी पर्दा देना या घुमाफिराकर कहना लोक मंगल में बाधक एवं अहितकर आत्म प्रवंचना होगी।[2]

मनुष्य परवश है, उसके प्रत्येक कार्य ईश्वराधीन हैं। मुझे ऐसा भान होता है कि मैं जो कुछ करता हूं, ईश्वरीय प्रेरणा से कर रहा हूं। मैं यंत्रमात्र हूं, यंत्रचालक दूसरा है। इसलिए समभाव से मैंने देश-काल के स्वामी सकललोक नायक परम पिता परमात्मा से प्रार्थना की कि हे प्रभु! मेरे निमित्त से तुलसी के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण रहस्योद्घाटन हुआ है उसमें मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ आपकी प्रेरणा का फल है और आपही की इच्छा से हुआ है,[3] अस्तु हे नाथ! सर्वथा सत्य प्रकट हो। सत्य स्वरूप आप स्वयं हैं, इसलिए असत्य का आभास दूर कर सत्य का प्रकाश प्रसारित कीजिए।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्न पावृण सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ईशावास्य १।१५

---

[1] —चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर।
तस्यैवोक्ति र्भवेत्सत्यं विप्रतन्नान्यथा भवेत् ॥ जाबाल दर्शनोपनिषद् १।९

[2] —अकुर्वन्तोहि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च।
सुखं नैवेह नाऽमुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः ॥ महा० उ० १२५।१२

[3] —शकुनिस्तंतुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः।
विश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ॥
महा० वन० ३०।२५,२७

अर्थात् हे पूषन ! उस सत्य के रहस्य को खोल दें, जिसका मुख हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है।

मैं यह कैसे कहूं कि सत्य का मुँह खुल गया है क्योंकि उसका ठीक-ठीक जानकार तो देशकाल से परे रहने वाला सर्वान्तर्यामी विश्वात्मा है, परन्तु मेरा अपना विश्वास है कि इस शोध प्रवंध में सत्यके चरण विद्यमान हैं क्योंकि इसका उद्घाटन सत्य के आधार पर सद्प्रेरणा और सत्य के सहयोग से हुआ है।[१] अन्त में किसी प्रकार की संशयात्मक अशांति का अनुभव नहीं कर रहा हूं।

संसार में परमात्मा को छोड़कर पूर्णता का दावा कौन कर सकता है? अपूर्णता का आभास ही प्रयास को प्रेरणा देता है। जब तक प्रयास चलता रहेगा, तब तक अपूर्णता स्वीकार की जायेगी। कर्म का उद्देश्य अपूर्ण से पूर्ण की ओर जाना मात्र है। इस शोध प्रबंध में भी अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं जो विद्वानों द्वारा परिमार्जनीय हैं।

मैंने न किसी वर्ग या व्यक्ति का दोष-दर्शन करने के निमित्त कुछ कहा है और न किसी का महत्व कम करने की ही भावना मेरे मन में है। यदि कहीं कोई बात कही गई हो तो वस्तुस्थिति और विषय के स्पष्टीकरणार्थ ही। यदि इसमें कहीं किसी को कटूक्ति या व्यंग्योक्ति का दर्शन हो तो उसे मेरी दर्पोक्ति या प्रमाद न मानकर कथन-शैली की अनभिज्ञता ही मानना चाहिए। विद्वान मेरे पूज्य और श्रद्धापात्र हैं। कुछ लोग स्नेह के पात्र भी हो सकते हैं। ऐसी दशा में किसी के हृदय को ठेस पहुंचाना या अपमानित करना मेरा उद्देश्य क्यों कर हो सकता है? हाँ यदि मेरी अव्यावहारिक बुद्धि के कारण कहीं ऐसी बात भी आ गई हो, जिसे अनुचित समझा जा सके तो इसके लिए क्षमा चाहता हूं। गोस्वामीजी के शब्दों में सबके समक्ष इस अकिंचन की भी सविनय प्रार्थना है—

जानि कृपा कर किंकर मोहूँ। सब मिलि करहु छाँड़ि छल छोहू॥
निज बुधिबल भरोस मोहिं नाहीं। ताते विनय करऊँ सब पाहीं॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई॥

अबतक के बहुत से विद्वानों के बनाए हुए राजमार्ग का ही मैंने भी अनुसरण किया है तथा साहित्य भवन के निमित्त उन्हीं की रखी ईंटों पर एक ईंट रख दी है। मेरी ईंट कहां तक उपयुक्त है और कैसे स्थान पर रखी गई है इसका निर्णय विद्वान महानुभाव ही करेंगे। जिन विद्वान महानुभावों की कृतियों का

---

[१]—तत्सत्यमित्याचक्षेत (तै० उ० ब्र० ब० अनु० ६) अर्थात् देखा-सुना अनुभूत सत्य है।

अवलोकन कर मुझे उपयुक्त सामग्री-चयन करने में सुविधा प्राप्त हुई है तथा जिनके खड़े किए गए प्रकाश-स्तंभ के प्रकाश में आगे बढ़ सका हूं।

तुलसीदास के जीवन वृत्त संबन्धी शोधकी ओर सर्वप्रथम श्री विलसन साहब का ध्यान गया। उन्होंने सं०१८८८ ई० में एक लेख प्रकाशित करोया। तबसे अबतक अनेक निबन्ध और ग्रंथ तुलसीदास के संबन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें उनके जीवन वृत्त पर भी विचार किया गया है। इस अवधि के भीतर बहुत सी प्रामाणिक या अप्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई है, 'जिन पर प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया गया है। इन सामग्रियों में केवल 'गौतम चंद्रिका' ही ऐसी है, जिसका रचयिता गोस्वामीजी का समसामयिक और समीपी था। उससे उनके संबन्ध की कई बातों का स्पष्टीकरण होता है फिर भी उनके जीवनवृत्त सम्बन्धी शोध के लिए बहुत कुछ उनके आत्मोलेखों पर ही निर्भर करना उचित है किंतु जिस सूक्ष्म दृष्टि से उक्त सामग्री का अध्ययन होना चाहिए, नहीं किया गया और अबतक पिष्ट पेषण पूर्वक गाया हुआ गीत ही गाया गया है

श्री शिव सिंह, रामगुलाम द्विवेदी और डा० ग्रियर्सन से जो भूल हो गई, वह आज तक ढोई जा रही है तथा उसे ही प्रमाण मान लिया गया है। फल स्वरूप राजापुर (बाँदा) की ओर से अस्वीकृति[2] (जनश्रुति और गजेटियर के अनुसार) होते हुए भी सरकारी मान्यता उसी को तुलसीदास की जन्मभूमि बनाने की है। परिणाम इसका यह हुआ कि विद्यालयों के वातावरण में तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर (बाँदा) बन गया एवं तद्नुरूप सामान्य जनता की धारणा बद्धमूल हो गई। सामान्य जनता की धारणा के विरूद्ध सत्यान्वेषण बड़े साहस का विषय है।

श्री बुकनन ने सबसे पहले पुर्णियाँ रिपोर्ट में गोस्वामीजी को काशी-निवासी सारस्वत-ब्राह्मण कहा, किंतु फिर किसी ने इसप्रकार की चर्चा न चलाई। संभव है बुकनन ने पश्चिमा का अर्थ सारस्वत कर लिया हो क्योंकि मिथिला में पश्चिमा ब्राह्मण का अर्थ भूमिहार ब्राह्मण होता है।

---

[1] १—एशियाटिक रिसर्चेज जिल्द १६ पृ०४८

[2] २—अभी तो राजापुर की प्राचीनता ही संदिग्ध है। सरकारी दृष्टि से तो तुलसीदास के जन्म के समय 'राजापुर' की सत्ता ही न थी। ध्यान दीजिए—बाँदा गजेटियर की कही बात है कुछ और नहीं। चंद्रबली पांडेय—

आजकल गोस्वामी जी की जाति के सम्बंध में मुख्य तीन पक्ष हैं—पहला वह जो इन्हें सरयूपारी मानता है, दूसरा वह जो इन्हें कान्यकुब्ज कहता है और तीसरा वह जो इन्हें सनाढ्य बनाने के पक्ष में है। इसी प्रकार इनकी जन्मभूमि के विषय में भी तीन पक्ष हैं—पहला वह जो राजापुर बाँदा को इनकी जन्मभूमि मानता है, दूसरा वह जो सोरों को यह गौरव देना चाहता है और तीसरा वह जो इन्हें अवधवासी कहता है।

संकीर्ण दलबंदी के इस युग में कितने ही लोग अपने पक्ष का समर्थन दुराग्रह और मिथ्या प्रमाणों द्वारा भी करते नहीं हिचकते और जान बूझकर सत्य पर पर्दा डालने का प्रयत्न करते हैं।[1] जहाँ इसप्रकार का समाजिक और साहित्यिक वातावरण है, वहाँ सचाई के साथ की गई गवेषणा के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ हैं। उसपर निरर्थक शंकाएँ उठाई जा सकती हैं तथा धारा पर बहती हुई नौका को कुतर्क के भँवर में फँसाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

कभी-कभी ऐसी सूचनाएँ मिलती हैं, जो निराधार होती हैं, परंतु वे थोड़ी देर के लिए शोधक को चौंकने तथा चमत्कृत करने वाली होती हैं। गत वर्ष सन्मार्ग [वाराणसी] में प्रकाशित वह सवाद ऐसा ही था जिसमें नेपाल से प्राप्त किसी पांडुलिपि में तुलसीदास की जन्मभूमि मझौलीराज लिखा होने की बात कही गई थी किंतु तब से आजतक उस उड़ती हुई खबर के संबंध में कुछ भी स्पष्टीकरण (विवरण) नहीं दिया गया। तुलसी कथित अंतर्साक्ष्य के अनुसार मझौली राज में उनको जन्मभूमि होने को संभावनाही नहीं उठती।

ऐसी स्थिति में शोधकार्य बड़ा कठिन है। कंटकाकीर्ण गहन वन में अपना मार्ग प्रशस्त करते हुए तनिक सी असावधानी हो जाने से दिग्भ्रमित होकर भटक जाने का भय रहता है। अपनी त्रुटियाँ अपने को दिखाई नहीं देतीं। कहा है—दिया तले अँधेरा रहताहै, अस्तु विद्वान महानुभाव प्रस्तुत ग्रंथ के गुणदोषों का सहानुभूति पूर्वक विवेचन कर उसकी त्रुटियों के परिमार्जन हेतु प्रेरणा देंगे तथा सद् परामर्श द्वारा खटकनेवाले अभावों की आपूर्ति में योग देंगे, इस आशा के साथ ग्रंथ का समापन किया जा रहा है।

सर्वा आशा मम मित्रं भवंतु ![2]

---

[1] —इसमें संदेह नहीं कि तुलसी के प्रेमियों ने तुलसी के लिए जब तब कुछ जाल भी कम नहीं रचा है। चंद्रबली पांडेय (तुलसीदास पृ०११)

[2] —सभी दिशाओं में मेरे मित्र हों

परिशिष्ट १

नरहरिदास और सूकर खेत

सोरों पक्ष के अनुसार तुलसीदास के गुरु चौधरी नरसिंह शुक्ल भारद्वाज गोत्रीय सोरों के गृहस्थ ब्राह्मण थे किन्तु सोरों पक्ष की अन्य बातों की भांति इसकी संगति भी तुलसी कथित अंतर्साक्ष्य से नहीं मिलती एवं डा० माता प्रसाद गुप्त के परीक्षण द्वारा उक्त कथन निराधार प्रकट होता है।[1]

श्री भगवती सिंह के कथनानुसार पसका (गोंडा) में एक प्राचीन कुटी है। कुटी के द्वार पर बरगद का एक विशाल वृक्ष है और पिछवाड़े उतनाही पुराना पीपल का। वह कुटी बाबा नरहरिदास की कही जाती है और वे दोनों पेड़ उन्हीं के हाथ के लगाए बताए जाते हैं।[2]

ज्ञात होता है श्री सिंह ने नरसिंह दास को नरहरिदास समझ लिया है क्योंकि आचार्य चंद्रवली पांडे के अनुसार वहाँ अग्रदास की कुटी बताई जाती है।[3] जिनके शिष्य नरसिंह दास थे, जिनका समय तुलसीदास के बहुत बाद का है अस्तु उक्त कुटी तुलसीदास के गुरु नरहरिदास की नहीं हो सकती। अग्रदास के गुरु कृष्णदास पयाहारी थे जो अनंतानंद के शिष्य थे।[4] अस्तु उक्त परंपरा का भी नरहरिदास से संबंध प्रकट नहीं होता।

बलिया जिला के द्वाबा क्षेत्र में कर्ण छपरा के निकट लछुमन छपरा में एक नरहरिबाबा का स्थान है जो प्रसिद्ध महात्मा हो चुके हैं। उनके चमत्कार के विषय में प्रसिद्ध है कि नौका न मिलने पर भी अपने तपोबल से लोगों को नदीपार भेज देते थे। किन्तु ये नरहरि बाबा कब हुए क्या ये तुलसीदास के गुरु नरहरिदास थे अथवा कोई दूसरे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, जब तक की इस संबंध में पूरी खोज न कर ली जाय। यह स्थान उस सूकर खेत से जहाँ तुलसीदास के गुरु नरहरिदास रहते थे लगभग १० मील पर अग्नि कोण में है। यहाँ से ५ मील दक्षिण गंगा और उतनी ही दूर उत्तर सरयू नदी का बहाव है।

हथौंज (बलिया) में नरहरि दास जी का स्थान 'नरहां टीला' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के नैनोजोरा ब्राह्मणों की वंशावली में इनके पिता का नाम शिव शंकर देव दिया हुआ है, जो हर शंकर देव के भाई थे। शिव शंकर देव को सिकन्दरलोदी से कई गावों की जागीर मिली थी। वैरागी होने के कारण नरहरिदास हथौंज में झोटिल कुँवर के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये

१—तुलसीदास (हि० प० इ० वि०)

२—डा० उदयनारायण तिवारी और शुकदेव दुबे—तुलसीदल पृ० १३

३—तुलसी की जीवन भूमि (ना० प्र० सभा, वा०)

४—भक्तमाल

सरयूनदी के उत्तरपार सूकरखेत में जिसे आजकल सुअरहा कहते हैं—रहते थे। यहां इनका स्थान नेवारी (नरहरिवारी) के नाम से प्रसिद्ध है। जहां इनकी वंश परम्परा के लोग बसे हुये हैं। इनकी सरयूतट स्थित तपोभूमि नरहन (नरहरिवन) नाम से प्रसिद्ध है जो सूकरखेत से पश्चिम दिशा में है।

सूकरखेत में जहाँ आजकल गभिरार (गम्भीरधार) बसा हुआ है, वहाँ दिव्य वटवृक्ष आज भी विद्यमान है[1] जहाँ पर लोग वेदी बनाकर ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी को वेटवराह की पूजा करते थे, जैसा कि गौतमचन्द्रिका से विदित होता है—

धवलिजेठ एकादशमाहीं। तहाँ विपुल नरनारिनहाहीं॥
बहुरिबराह खेत मोथा सँचि। पूजहिं 'बट बराहवेदी रचि॥'

पुराणों में एकादशी के दिन वराह भगवान की पूजा का विशेष महत्व बताया गया है यथा—

चंद्रग्रहे तु काश्यांवै फाल्गुन्यां नैमिषे तथा।
एकादश्यां शूकरेच कार्त्तिक्यां गणमुक्ति दे॥
गर्गसंहिता मि० खण्ड १०।३२

और ज्येष्ठ शुक्ल ९ से ११ तक पूजा का विशेष विधान है जैसे—

ज्येष्ठशुक्ल नवम्यां स्नात्वा गंगोदके नरः
शूकरे तु त्रिरात्रं च मानवो दीपदः सकृत्।
दत्त्वादानं यथाशक्त्या सर्वं पापै प्रमुच्यते॥
वाराहपुराण १७६।४७

गौतमचन्द्रिका का निर्देश सरयूतट स्थित इसी सूकरखेत से है जहाँ नरहरिदास रहते थे तथा जहाँ उस समय सरयू और घाघरी नदियों का संगम होता था। घाघरी नदी दो धाराओं में बँटकर सरयू में मिलती थी और इन्हीं दो धाराओं[2] के मध्य में सूकर खेत का वटवृक्ष विद्यमान था, यथा—

सरयू अगर घाघारी दोऊ। संगम तीर्थराज सम सोऊ॥

पसका को सूकरखेत मान लेने से गौतमचन्द्रिका का विरोध पड़ता है क्योंकि तुलसीकाल में वहाँ सरयू घाघरा का संगम न होकर वहाँ से ग्यारहकोस आगे

---

[1] १—इस देववृक्ष को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचाई जाती और उसकी पूजा की जाती है।

[2] २—इस समय संगम आगे हट जाने से पुरानी धाराएँ नाले के रूप में परिवर्तित हो गई हैं। ये दोनों नाले गभिरार से पश्चिम और पूरब लगभग डेढ़-डेढ़ मील दूर हैं।

अयोध्या के निकट (स्वर्गद्वार के पास) होता था। पसका में बराह मूर्ति है, परन्तु गौतमचन्द्रिका कथित सूकरखेत में 'वराहवट' की पूजा की जाती थी और उसे तीन धाराओं के बीच अक्षयवट के अनुरूप 'वराहवट' होने के कारण ही तीर्थराज (त्रिवेणी) के समान कहा गया।

सिकन्दर लोदी के समय तक स्वामी रामानन्द का जीवित रहना प्रमाणित है तथा नरहरिदास का भी उसके समय में रहना सिद्ध है जिससे स्वामी रामानन्द के प्रधान शिष्य नरहर्यानन्द और गौतमचन्द्रिका कथित तुलसीदास के गुरु नरहरिदास की अभिन्नता प्रकट होती है। इसका एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि सूकरखेत (गभिरार) में नरहर्यानन्द के जन्म दिन पर आज तक उत्सव मनाने की परिपाटी चली आ रही है और उसी दिन वैशाख में मेला लगता है।[१] रामानन्द सम्प्रदाय में नरहर्यानन्द सनत्कुमार के अवतार माने जाते हैं। अगस्त्य-संहिता के अनुसार उनका अवतार वैशाख कृष्ण ३ शुक्रवार अनुराधा नक्षत्र, व्यतीपात योग, मेषलग्न में हुआ था। मनियर (बलिया) में भी वैशाख शु० ३ को परशुराम जयन्ती का मेला लगता है। यह स्थान भी पहले हथौंज (बलिया) के नरहरिदास की वंश परम्परा के लोगों के हाथ में था।

भगवदाचार्य रचित 'रामानन्द-दिग्विजय' में—'नरहर्यानन्द को वृन्दावन के समीप एक ग्राम में महेश्वर ब्राह्मण के घर में उत्पन्न कहा गया है'[२] तथा 'प्रसंग-पारिजात' में लिखा है कि—'विंध्याटवी के टिघौड़ा के सिद्ध और महामाया के संयोग से उत्पन्न बालक ने अनाथ होकर स्वामी रामानन्द के पास आकर आत्मसमर्पण कर दिया। उसे सनत्कुमार का अवतार जान स्वामी जी ने ग्रहण कर नरहर्यानन्द नाम रखा।[३]

उपर्युक्त दोनों ही ग्रन्थ अप्रमाणिक और सर्वथा कल्पनाप्रसूत हैं जैसा कि डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव (प्र० वि०) लिखते हैं--

"इस ग्रन्थ में भगवदाचार्य ने जिन नई तिथियों; व्यक्तियों एवं घटनाओं का समावेश किया है, वे उनकी कल्पना से प्रसूत ही लगते हैं, किसी प्रामाणिक आधार पर आश्रित नहीं हैं।[४]"

वे ही 'प्रसंग-पारिजात' के विषय में कहते हैं—"ग्रन्थ किसी आधुनिक लेखक की चमत्कार प्रिय बुद्धि की कृति है क्योंकि इसमें गाँधीजी तक का वर्णन है।[५]"

१—गत दो वर्षों से प्रबन्ध की शिथिलता के कारण मेला बन्द हो गया है।

२—रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव पृ० ४७

३—वही पृ० ६, ४—वही पृ० ४७, ५-वही पृ० १२

वृन्दावन स्थित कृष्णभक्ति के परिवेश में रामभक्ति के प्रचारक नरहर्यानन्द के अवतार लेने का तुक भी नहीं बैठता और इसी प्रकार सिद्ध और योगमाया के पुत्र के अनाथ होने एवं वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक एवं राम भक्त होने का भी। जबकि अगस्त्य-संहिता में नरहर्यानन्द वर्ण-व्यवस्था के कामों में निष्ठ और भगवदाराधन आदि शुभ कर्मों में सदा आसक्त कहे गए हैं जिसका समर्थन तुलसीदासजी द्वारा दिए गए संकेतों से भी होता है।

नेवारी का हरिशंकरी—

नेवारी गाँव (सारन) के पश्चिम ओर चौराहे पर बरगद का एक विशाल वृक्ष है। सर्वे में यहाँ किसी हीरादास बैरागी साधु की मठिया थी। यह स्थान 'हरिशंकरी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिससे ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में यहाँ 'हरिशंकरी' का वृक्ष था। हरिशंकरी उस वृक्ष-संघ को कहते हैं जिसमें एकही साथ वट, पीपल और पाकड़ परस्पर संबद्ध होते हैं। रामचरित-मानस में वर्णित-विवरण से विदित होता है कि तुलसीदास के सूकरखेत स्थित गुरु आश्रम में उक्त तीनों प्रकार के वृक्ष तथा आम्र वृक्ष भी था। उनके गुरु 'मानस' के प्रसंगानुसार साक्षात् शिव, याज्ञवल्क्य और काक भुशुंडि के प्रतीक हैं एवं मोहग्रस्त तुलसी पार्वती, भारद्वाज और गरुड़ के[1] शिव याज्ञवल्क्य और काक ने वट वृक्ष की छाया में बैठकर राम-कथा का उपदेश किया था[2], जिससे यह प्रकट है कि तुलसीदास के गुरु ने भी वट वृक्ष के नीचे बैठकर उन्हें राम कथा का बोध कराया एवं उनके आश्रम में वट, पीपल, पाकड़ तथा आम के वृक्ष थे।[3] नरहरि बारी में पुरातन 'हरिशंकरी' की उपलब्धि वहां तुलसीदास के गुरु का आश्रम होना सिद्ध करती है। वर्तमान वट वृक्ष का आरोपण 'हरिशंकरी के नष्ट हो जाने पर हीरादास ने किया था। जो आज से कई पीढ़ी पहले हो गुजरे हैं। 'हरिशंकरी स्थान' कथित वराह वट से एक मील उत्तर स्थित है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी द्वारा एक ही पद में 'हरिहर' की बंदना की गई है, जिसका नाम उन्होंने 'हरिशंकरी' दिया है। काक भुशुंड के आश्रम के व्याज से उन्होंने नरहरि- बारी को कर्म भूमि, उपासना भूमि, ज्ञान भूमि,

---

१-सोइ सिव काक भुसुँडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत॥ रा० १।३०

२-दे०—रा० बा० ४४,१०६, उ० ५६

३-तिन्हपर एक-एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥
रा० उ० ५७

और लोक सेवा भूमि का प्रतीक दिव्य स्थान माना है।[1] इससे उनके गुरु के दैनिक क्रिया-कलाप का पता चलता है। जिसका समर्थन अगस्त्य संहिता से होता है ।

यथाः—

पीपर तरुतर ध्यान सो धरई। जाप जग्यँ पाकर तर करई॥
आँब छाँह कर मानस पूजा। तजि हरि भजन काज नहिं दूजा॥
बरतर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥ रा० उ० ५७

जब कोई स्थान नष्ट हो जाता है तो धीरे-धीरे उसके सम्वन्ध की स्मृतियां भी लोगों के मन से उठ जाती हैं और वे उसे भूल जाते हैं। इस स्थान के विषय में भी ऐसा ही हुआ है।

१-रा० उ० ५७

परिशिष्ट २

तुलसीदास का विवाहित-जीवन

आजकल यह एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि गोस्वामी तुलसी दास का कभी विवाह हुआ था या नहीं ? उनके विवाह के प्रति शंका करने वाले लोग बहुधा यह शंका करते हैं कि जब तुलसीदास बाल्यावस्था में ही गुरु की शरण में गए तो फिर उनके गृहस्थ होने की बात कहाँ पैदा होती है क्योंकि रामानन्दी संप्रदाय में जो चेला (शिष्य) लड़कपन में ही मुंड़ लिए जाते हैं, वे फिर विवाह कर गृहस्थ नहीं बनते । चेला मूड़ने की एक विधि होती है, जिसके पूरा होने पर चेला बान प्रस्थाश्रमी बन जाता है और उसके फिर गृहस्थाश्रम में लौटने की गुंजाइश नहीं रहती । अस्तु देखना यह है कि क्या तुलसी दास को उनके गुरु ने विधि पूर्वक वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कराया अथवा ब्रह्मचर्याश्रम में ही रखा था ? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है—यद्यपि तुलसीदास ने प्रथम साक्षात्कार में ही गुरु से विनती की थी कि 'चेरो ह्वै हौं रावरे जू' परन्तु गुरु ने उनकी पीठ पर हाथ फेरकर और उनकी बाँह पकड़ कर उन्हें शरण दान ही दिया और अपने 'रविकरनिकर रूपी बचन' से उनके महामोह-तम-पुंज को ही दूर किया अर्थात् तुलसीदास को ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार किया । उनके उक्त गुरु द्वारा 'बान प्रस्थाश्रम' में दीक्षित किए जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता । इसलिए यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि ब्रह्मवर्याश्रम के बाद गूरु से अलग होकर तुलसीदास ने गृहस्थ जीवन नहीं बिताया । उन्होंने जाति-पाँति के प्रति उपेक्षाभाव और स्त्रियों के प्रति पुरुष की आशक्ति हटाने के निमित्त जो विरक्ति कारक बातें कही हैं, वे उनके वैराग्यकाल की हैं और वैराग्य के निमित्त से कही गई हैं न कि स्त्रीजाति की निंदा की भावना से ? उन्हें उसी प्रकार स्त्रियों के पक्ष से पुरुष वर्ग पर भी लागू किया जा सकता है जैसे—

छियो न तरुनि कटाच्छ सर, करेउ न कठिन सनेहु ।
तुलसी तिनकी देह को, जगत कवच करि लेहु ॥ दो० ४३८

गोस्वामी जी ने कहीं कोई ऐसी बात नहीं कही है, जिससे यह प्रकट हो कि उनका कभी विवाह नहीं हुआ था । उनकी इन उक्तियों—'व्याह न बरेखो जाति पाँति न चहत हैं' काहु की बेटी से बेटा न व्याहब, मेरी जाति पांति न चहौं काहू की जातिपाँति में कुछ लोगों को उनके अविवाहित होने की झलक मिलती है, परंतु ये कथन तो उनकी उस स्थिति के द्योतक हैं जबकि

वे विरक्त होकर काशी-वासी बन गए थे तथा उन्हें रामभक्ति के नाते अंत्यज को भी गले लगाते देखकर कुछ लोग उनके जाति-पाँति वादी-व्यवहार पर आक्षेप करने लगे थे । तुलसीदास जी ने इन उक्तियों द्वारा उन्हीं का मुँहतोड़ उत्तर दिया है । इससे तो कहीं भी यह झलक नहीं मिलती कि विरक्त होने के पूर्व वे अविवाहित थे । बाल्यावस्था में गुरु की शरणागति प्राप्त होने से भी उनके जीवन भर अविवाहित होने की बात सिद्ध नहीं होती । उनके दयालु गुरु ने उन्हें अनाथ देखकर बाल्यावस्था में उनका लालन-पालन अवश्य किया और उन्हें राम कथा भी सुनाई पर उन्हें चेला मूंड़ने की बात प्रकट नहीं होती ।

तुलसीदास ने न कहीं स्वतंत्र रूप से अपने लौकिक संबंधों की चर्चा की है और न कहीं लौकिक-संबंधियों का विवरण दिया है । उन्होंने जिसकी भी वंदना की है, राम के नाते की है । उनके लिए संतजन और खलजन सभी सियाराम मय हैं, इसलिए जहाँ कहीं भी माता-पिता आदि की बातें आगई हैं, प्रसंगवश ही आई हैं और यही कारण है कि उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र रूप से माता-पिता, गुरु, पत्नी, मित्र या किसी बंधु का नाम नहीं लिया है, इसलिए यह कहना कि उन्होंने कहीं भी अपनी रचनाओं में अपनी पत्नी के विषय में संकेत नहीं किया है और इस आधार पर यह सोचना कि उनका कभी विवाह नहीं हुआ था उचित नहीं है ।

जिस प्रकार गोस्वामी जी द्वारा उनके माता-पिता, जन्म, पालन-पोषण गुरु की शरणागति आदि के सम्वन्ध में संकेत प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार उनका विवाह होने के सम्बन्ध में भी संकेत मिलते हैं, यथा—

'जौवन-ज्वर जुवती कुपथ्य करि,
भए त्रियोदस भरे मदनबाय'—बि० प०
और—'मोहमद मात्यो रात्यो कुमति कुनारिसों,
बिसारि वेद लोकलाज आँकरो अचेत है—क०उ० ८२

उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी गृहस्थी बसाने की बात कही है—

'मध्य बयस धन हेतु गँवाई, कृषि बनिज नाना उपाय'—वि० प० और इस अनुमान के लिए भी संकेत मिलता है कि उन्होंने पुत्र-सुख का भी अनुभव किया था ; यथा—

'सो पेट प्रियपूत हित रामनाम लेत हौं' -- क० उ०

यदि उपर्युक्त कथनों को उपलाक्षणिक भी मान लें तो भी उनके निम्नांकित कथन की वास्तविकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, जिसमें उन्होंने अपनी जीवन यात्रा का संक्षिप्त क्रम उपस्थित किया है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो
रामनाम लेत माँगि खात टूकटाक हौं।
परियो लोक रीति में पुनीत प्रीति पायराम,
मोहबस बैठो तोरि तरक तराक हौं॥
खोटे-खोटे आचरन आचरत, अपनायो,
अंजनीकुमार, सोध्योराम पानिपाक हौं।
तुलसी गुसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥ ह० ब० ४०

'पर्‍यो लोकरीति में' कहने से साफ प्रकट है कि उन्होंने विवाह कर अपनी गृहस्थी बसाई थी। इसी को वे 'राम' के प्रति दगाबाजी करना भी कहते हैं, यथा—

रामको कहाइ दास, दगाबाज पुनी सो—क० उ० ७२
और—मोसों दगाबाज दूसरों न जगजाल है—क० उ० ६५

उनका यही पिछला उपाख्यान या जीवन-कथा है (क० उ० ६४) जिसके कारण वे कलि से भयभीत रहते हैं और राम की दुहाई देते हुए कहते हैं—

'पाँच की प्रतीति न भरोसो मोहि आपनोई' (क० उ० ६३)

उनका अपना यह निजी अनुभव है—

'कौन हृदय नहिं लगो कठिन अतिनारि नयनसर'—क० उ० ११७

गृहस्थ-जीवन में यदि उन्होंने 'नारि' और धन की आशक्ति का अनुभव न किया होता तो रामचरितमानस का समापन करते समय भगवान से इस प्रकार प्रार्थना कदापि न करते कि—

'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तैसे ह्वै के लागहु तुलसी के मन राम॥ रा० उ०

वाह्य प्रमाणों में "गौतम-चन्द्रिका" तुलसीदास के विषय में सबसे प्रामाणिक पुस्तक कही जा सकती है क्योंकि उसका रचयिता तुलसी का समसामयिक और अति समीपी है और उसके अनुसार तुलसी स्वयं महात्मा 'आनन्दकानन' से निवेदन करते हैं—

'हमहुँ आदि कवि बन मति आँचे।
जमुना तट जमुना गृह राँचे'॥

प्रियादास तुलसीदास जी के समसामयिक न होते हुए भी थोड़े दिनों बाद ही उत्पन्न हुए थे, अस्तु उनकी बात भी प्रमाणकोटि में आ सकती है। उन्होंने तुलसीदास का पत्नी के उपदेश से विरक्त होना लिखा है एवं परम्परा

से ऐसी ही जनश्रुति भी चली आ रही है एवं दोहावली के निम्नांकित दोहे से भी उक्त बात की पुष्टि होती है।

'खरिया खरी कपूर संग, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि, कै विमल विवेक विराग।।'

घट रामायण के आधार पर भी उक्त जनश्रुति का परम्परागत होना प्रकट होता है।

गोस्वामी जी के कथनों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर यह झलकता है कि उन्हें वैवाहिक जीवन का अपना अनुभव था। एक पारमार्थिक जीवन बिताने की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति के लिए सांसारिक विषयों के बन्धन में बांधनेवाली 'माया रूपी नारि' किस प्रकार 'दारुण विपत्ति' हो सकती है? 'प्रमदा सब दुख खानि' का अनुभव हुए बिना उसके 'निवारण' का प्रश्न ही क्यों? यदि उन्होंने स्वयं 'काम प्रताप बड़ाई' का अनुभव न किया होता तो कदाचित उनके मुँह से यह उक्ति भी न प्रकट होती—

नारि बचन सुनि गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई।।
सूल कुलिससर अंगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।।
अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा।।

गृहस्थ जीवन का आकर्षण कितना बलवान है और उसी प्रकार परमार्थ की ओर जाना कितना कठिन, इस बात का स्वानुभव होने के पश्चात् ही उन्होंने सर्वसाधारण के लिए "मध्यम मार्ग" का उपदेश किया है—

'घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाय।।'

आचार्य पं० चंद्रवली पांडेय कहते हैं—'आश्चर्य नहीं कि यही रामप्रेमपुर राजापुर हुआ हो और तुलसीदास के जीवन के इस अंश को आज भी प्रकट कर रहा हो। राजापुर की प्रस्तरमूर्ति 'खरिया खरी-कपूर' से भी और आगे भेषभूषा में बढ़ीचढ़ी है और उनके 'विमल विवेक' विराग की द्योतक नहीं, प्रत्युत कुछ और ही हैं (तुलसीदास पृ० २५)

'गौतमचन्द्रिका' के अनुसार तुलसीदास जी की पत्नी का नाम 'यमुना' था, इसकी पुष्टि राजापुर (बाँदा) स्थित माफीनामे से भी होती है—

माफीनामा (सनद) से ज्ञात होता है कि राजापुर की माफी तुलसीमंदिर के व्यय तथा श्री यमुना जी के गुजारे के लिए दी गई थी, जिसके प्रबन्धक सन् १७१९ में पंडित मदारीलाल थे।

जिस प्रकार तुलसीदास जी ने स्पष्ट रूप में विविध स्थलों पर अपने माता-पिता और गुरु के विषय में संकेत किया है, उसी प्रकार उन्होंने अपनी पत्नी के सम्बन्ध में भी संकेत किया है यथा——

यथा—'जमगन मुँहमसि जग जमुना सी (रा० बा०)
और 'ज्यों-ज्यों जमुना लागी बाढ़न।
त्यों त्यों सुकृत सुभट कलि भूपहिं निदरि लगे बहि काढन (वि० प०)

जिससे स्पष्ट होता है कि उनकी पत्नी कुलीनवश की एक सती, साध्वी और विदुषी महिला थीं। ऐसी पत्नी द्वारा तुलसीदास का उपदेशित होना असम्भव नहीं है। इस बात की झलक दोहावली के निम्नांकित दोहे से भी मिलती है—

सिष्य सखा सेवक सचिव सुतिय सिखावन साँच।
सुनि समुझिय गुनि, परिहरिय परमनरंजन पाँच॥

गोस्वामी जी का एक दोहा है—

'सीस उघारन किन कहो बरजि रहे प्रिय लोग।
घरहीं सती कहावती जरती नाह बियोग॥ दो

ज्ञात होता है कि यह दोहा गोस्वामी जी ने अपनी माता अथवा पत्नी को लक्ष्य करके लिखा है। उनकी पत्नी, जैसा कि राजापुर के माफी नामे से झलकता है, तुलसी दास की तपोभूमि में रहने लगी थी और उनके गुजारे तथा संभवतः उन्हीं के द्वारा संस्थापित तुलसीमंदिर के व्ययहेतु राजापुर की माफी दी गई थी। कदाचित् तुलसीदास को तुलसीमंदिर की स्थापना कर तपस्विनी भेष में यमुना जी का रहना अच्छा न लगा हो एवं उसी की ओर उपर्युक्त दोहे का संकेत हो।

किसी प्रामाणिक लेख में तुलसीदास जी की पत्नी का नाम रत्नावली नहीं मिलता। यह नाम केवल ग्रियर्सन साहब के मस्तिष्क की उपज कही जा सकती है, जिसका सर्वसाधारण में प्रचार हो गया। श्री ग्रियर्सन को इस नाम का कहाँ से पता चला इसका कुछ पता नहीं है। सोरों-पक्ष से जो प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके अनुसार तुलसीदास की पत्नी का नाम रत्नावली था और वे कवियत्री भी थीं, किन्तु जब सोरो पक्ष से प्रस्तुत किए गए प्रमाण विद्वानों के निरीक्षण-परीक्षण द्वारा मूलगोसाई चरित की कोटि में आ चुके हैं अर्थात् जाली सिद्ध हो चुके हैं तो उनके आधार पर रत्नावली नाम की वास्तविकता भी खटाई में पड़ गई है।

वस्तुतः तुलसीदास की पत्नी का नाम ‘यमुना’ था, जैसा की पहले बताया गया है। जिन स्थानों पर तुलसीदास, उनके माता-पिता और गुरु के नाम पर बसे हुए स्थानों के नाम मिलते हैं, वहाँ प्रायः यमुना जी के नाम पर भी ग्रामों का नामकरण हुआ है किन्तु रत्नावली के नाम पर इस प्रकार के स्मारक नहीं मिलते, इससे यह भी एक ऐसा प्रमाण है जिससे उनकी पत्नी का नाम यमुना होना प्रकट होता है।

तुलसीदास जी द्वारा कथित अंतर्साक्ष्य तथा गौतम चन्द्रिका आदि द्वारा उल्लिखित बहिर्साक्ष्य एवं जनश्रुति से भी तुलसीदास जी की माता का नाम ‘हुलसी प्रकट होता है। इसके विषय में तुलसी-रहीम प्रणीत यह दोहा भी प्रस्तुत किया जाता है—

‘सुरतिय, नरतिय, नागतिय, अस चाहत सब कोय
गोद लिए ‘हुलसी, फिरै, तुलसी सों सुत होय ॥

इस दोहे के आधार पर आचार्य चन्द्रवली पांडेय का अनुमान है कि “इसमें ‘हुलसी का प्रयोग जिस ढंग पर हुआ है उसको देखते हुए तो ‘हुलसी को माता की अपेक्षा पत्नी समझना ही उचित प्रतीत होता है। कारण यह कि तुलसी के जन्म के पहले ही उनकी माता ‘तुलसी सो सुत होय’ की कामना कैसे कर सकती है यह कामना तो तुलसी की ख्याति के पश्चात् ही हो सकती है ?

(तुलसीदास पृ० २८)

स्पष्ट है कि पांडेय जी ने उक्त दोहे का अभिप्राय समझने में जल्दबाजी कर दी है, क्योंकि उसका अन्वयार्थ निम्नांकित प्रकार करना अधिक युक्ति-युक्त लगता है, जिससे उनकी कथित आशंका स्वतः निर्मूल हो जाती है यथा—

,सुरतिय, नरतिय, नागतिय सबकोय अस चाहत (कि) तुलसी सों सुत होय (अस्तु अपने सुत के प्रति उक्त कामना करती हुई वे ,उसे) गोद लिए हुलसी फिरें।’

दूसरे अर्थ में—(जिस तुलसी को) हुलसी गोद लिये फिरे (उस) तुलसी सों सुत होय, अस सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब कोय चाहत।’

ऐसी स्थिति में ‘हुलसी’ तुलसीदास की माता का नाम था यही मानना अधिक संगत है और उनकी पत्नी का नाम यमुना होने के ही प्रमाण मिलते हैं। संभव है यमुना जी का गुणपरक नाम ‘रत्नावली’ पड़ गया हो क्योंकि वे गुणों की रत्नाकर थीं, इसमें संदेह नहीं तभी तो गोस्वामी जी के मुख से भी उनकी प्रशंसा ही हुई है।

———

परिशिष्ट ३

सेनापति पर तुलसीदास की छाप

गो० तुलसीदास ने सं० १६८० बि० में शरीर त्याग किया । उस समय कविवर सेनापति की आयु लगभग ३५ वर्ष की थी । सेनापति वर्तमान बलिया मंडलांतर्गत सिकंदरपुर (पुरुषोत्तम पुरी) के रहने वाले जमींदार-ब्राह्मण थे । गोस्वामीजी द्वारा बलिया के पार्श्ववर्ती क्षेत्र की यात्रा और पुरुषोत्तमपुरी (सिकंदरपुर) जाना प्रसिद्ध है । गोस्वामीजी के नाम पर आजतक सिकंदरपुर का एक महल्ला तलसरा (तुलसीपुर) कहलाता है । ऐसी स्थिति में अवश्य ही सेनापति महाकवि और महान संत तुलसीदास के संपर्क में आए होंगे। सेवापति की रचनाओं के अध्ययन से यह विदित होता है कि उन्होंने तुलसीदास की विशेष कृपा प्राप्त की थी और उनसे प्रभावित हुए थे । यह भी पता चलता है कि वे गोस्वामीजो के निर्देशानुसार ही कविता लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे। जैसा कि वे कहते हैं—

"तुमही बताई कछु कीनी कबिताई तामैं,
होई जोगताई दुचिताई के सुभाइ कै ।
बुद्धि के विनाइकै, गुसाई कबिताइकै,
सुलीजिए बनाइकै, कहत सिरनाइकै ।।"

गोस्वामी जी की भाँति सेनापति भी अनन्य रामभक्त थे तथा उन्हीं जैसी इनकी भावना भी उदार और समन्वयी थी दोनों ही राम और शिव में पारमार्थिक स्वरूपगत भेद नहीं मानते । सेनापति के कथनानुसार—'वसुधाउमाधव की भेद छाड़ि मन कौ; अर्थात् उमापतिशिव और माधव (राम, विष्णु का जो मन में भेद है मिटा दो। गोस्वामीजी ने भी विनयपत्रिका के 'हरिशंकरी' पद में विष्णु और शिव की एक साथ वंदना की है दोनों ने ही भगवान शंकर को अपना गुरु माना है यथा—

(१) तुलसी की सुधरै-सुधारे भूतनाथ ही के,
मेरे माय बाप गुरु संकर भवानियें ।। क० उ० १६८ ।
हित उपदेश को महेस मानो गुरु है ह० बा० ४३
(२) ताते कीजै गुरु जाइ जगत गुरु को जाते,
ज्ञान पाइ जीउहोत चिदानन्द घन है ।
वाराणसी जाइ मनिकर्निका अन्हाई मेरो,
शंकर तें रामनाम पढ़िवे को मन है.।। क० र० ५।४४

भगवान शंकर की उपासना आध्यात्मिक सुख-शांति और पारलौकिक कल्याण प्रदान करनेवाली ही नहीं वरंच लौकिक सुख-समृद्धि की वृद्धि करने वाली भी है। गो० तुलसीदास कहते हैं—

'पात द्वै धतूरे के दै, भोरें के भवेस सौं
सुरेस हू की संपदा सुभाय सों न लेत रे—१६६
'इहाँ ऐसो सुख सुरलोक सुरनाथ पद,
जाको फल तुलसी सो कहैगो विचारि कै।
आक के पतौवा चारि फूल के धतूरे के द्वै,
दीन्हेतै है वारक पुरारि पर डारि कै।। क० उ० १६४

ठीक ऐसी ही शब्द योजना के साथ सेनापति का कथन है—

"चाहत धतूर और आक के कुसुम द्वैक
जिन लेत कोई कहूँ भूलिहू न हटकै।
सेनापति सेवक को चारि बरदान देत,
देत है समृद्धि जो पुरन्दर को खटकै।।

गो० तुलसीदास जिस प्रकार कलि को फटकारते हुए अपने को राम का सेवक होने के कारण आश्वस्त करते हैं; उसी प्रकार का कथन सेनापति का भी है—

(१) ब्राह्मण ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं
त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं—क०उ० १०२
ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपाल तेरे
नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिए—क०उ० ७६

(२) एरे कलिकाल मोहि कालो न निदरि सके,
तूतो मतिमूढ़ अति कायर गँवार को।
सेनापति निराधार पाइपोस बरदार,
हौं तो राजा रामचन्द्र जू के दरबार को ।। क० र० ५।२३

जहाँ तुलसीदास 'प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूति हौं, कहते हुए राम का भरोसा प्रकट करते हैं वहाँ सेनापति भी वैसी ही शब्दावली में कहते हैं सोवै सुख सेनापति सीता पति के प्रताप (क० र० ५।१४) एवं दोनों को ही भगवान की दीनवत्सलता का विश्वास है—

मोसम दीन न दीन हित तुम समान रघुवीर,
अस विचारि रघुवंश मनि, हरहु विषम भवभीर ।। रा० मा०
दीनन सों प्रीति तेरी जानी यह रीति,
सेनापति परतीति कीनी तेरिए सरन की—क० र०

जैसे तुलसीदास 'नाम के प्रताप परिनाम को निसोच है' बोल उठते हैं, वैसे ही सेनापति का भी कहना है—

जाके सिर पर आज राखत हैं महाराज,
ताहि कहो परी परवाह कौन बात की—क० र०

तुलसी की भांति सेनापति भीं 'रामराय' के 'लोन' से पले हुए हैं—

फूटि-फूटि निकसत है लोन रामराय को (तुलसी)
सेनापति पाल्यो है तिहारे एक लोन को—सेनापति

और तुलसी की ही भाँति गंगा और ब्राह्मण के महत्व को प्रकट करते हैं जैसे—

'कोई तीरथ न आन देखौं गंगा के समान (क० र० ५।५६) और—
'सेनापति ऐसे रामबान तऊ विप्र हेत,
देखत जनेव खैंचि राखे निजबल को—क० र० ४।२८

जब तुलसीदास अपने राम से 'विरद की लाज रखने की याद दिलाते हैं तो सेनापति भी पुकार उठते हैं—

'देव दया सिंधु सेनापति दीनबन्धु सुनो,
आपने विरद तुम्हें कैसे बिसरत है ।।'

'एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास' रखनेवाले तुलसीदास भगवान से प्रार्थना करते हैं—'जाऊँ कहाँ तजि सरन तिहारे (वि० प०)। उसी के अनुरूप सेनापति भी कहते हैं—'हौं तो पुकार एक ताहिं सों करत हौं।'

जिस प्रकार सेनापति पर तुलसीदास की 'भाव-सरणि' का प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार उनपर उनकी 'विचार-सरणि' का भी प्रभाव पड़ा है। कतिपय नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

(१) रामायन सत कोटि अपारा (तुलसी)
संख्या सत कोटि जाकी कहत प्रवीने हैं (सेनापति)
(२) मन को खगराज को वेग लजायो (तुलसी)

सेनापति प्रभु मनहुँ की गतिमंद की (सेना०)
(३) स्रवन समीप भए सित केसा (तुलसी)
अजहूँ तू चेतमन सीस भयो सेत (सेना०)

(४) लरिकाईं बीती अचेत चित चंचलता चौगुनो चाय।
जौवन ज्वर जुवती अपथ्य करि, भए त्रिदोष भए मदनबाय(तुलसी)
कीनो बालपन बालकेलि में मगन मन,
लीनो तरुनाई तरुनीकर समीर को (सेनापति)
(५) कबहुँ दिवस मह निबिड़ तम (तुलसी)
रबि गयो दबि-छबि अंजन तिमिर भयो (सेना०)

तुलसोदास की भाँति सेनापति पर भी भोजपुरी प्रदेश की भाषा और आचार-व्यवहार का प्रभाव देखा जाता हैं एवं उनकी रचनाओं में फारसी भाषा के प्रयोग भी मिलते हैं यथा—

भोजपुरी शब्द—अधरात, अगवानी, अरूसे, अनगन, आसकत, ओसर, ऊजर, उछार, इकसार, एरे, एहो, किनारी कादौं, खरक, गन, छत्रियन, घरबार, घाम; घाव, चौंपड़, चंचारी, चकचूर, चाउ, चैन, चकाचौंध, कौहूं, (केहू), काह (क्या), कोनन, गरभ, केस, करकस, जीवन (जीवों), छछार, जनमभर, जड़काला, जोगताई, छोह, झर, झार, झमक, झकोर, तारव, तताई, दुचिताई, दुपहरी, ठाउ, नन्हाई, धार, सिरमौर, मौर, हरद, ढरारे, चोकस. धूंधि, घरनिहार, पहल, परपंच, परबीन, पैंड़ा, पुरबिले, पुन्न, बसैया बनक, बचाउ, बबूला, बोध, बारी, भभूरवा, भौरो, भार, तोरी, लेह-देह, पात, प्रापति, मयमन्त, मोर, बिनकाम, रेती, राउर, सराप, सरूप, सोध, सगुनौती, सहल, सोर नकवानी पुजावनहार

क्रियाशब्द—चुरना उपटना बिलमना ढरना तवना तचना बिलाना ठिरना बिलाइ जाउ ठिठूरना बारना चिताउ सताउ टारना जंभाना मटकना फटकना घुमरना खरकना कोसना सुरझाना गग-गग करना सुलगना पतराना। उपजत सूझत छिछकना धसकना धधकत हुलसत नियरात सिसकत कसकत साजि डगुलाइ हहराइ दबि पतराइ उनए कलपना बराइ घुमरि-घुमरि बिथुराई आउ। मनफेरना, पीठ देना, धरना।

मुहावरे—उंगली पकड़ के पहुंचा पकड़ना, बात में उघरना, बाट भूलना, बैर सुमिरना, दिन भरना, पात न खरकना, पुकार करना, कसाई का काम करना, हलहल करना, गिरे रहना, भाव फलना, दोठि करना, पतझार होना, सुख से सोना, पेड़ा देखना, परवाह न होना, बीस होना.।

फारसी शब्द—कुंदन, खल्क, गरज, गरद, गरूर, ज्यारी, जोर, चैन, दरद, जिरह, चौकस, जरद, बरदार, सरकार, दरबार, जवाहिर, पाइपोस, समादान, परवाह, मुहर, यारी, रुख, रजाई, बकसीस तहखाना नजिकाने महल लिबास हमाम भोजपुरी प्रकृति के अनुसार समास का प्रयोग भी मिलता है यथा—महागरूर

मुसलमानों के संपर्क से जमींदार वर्ग की भाषा फारसी मिश्रित हो गई थी। सामान्य जनता की भाषा में बहुत कम मिश्रण हुआ था। [1]

आचार व्यवहार—पूर्वीय-प्रदेश में विवाह के समय का जो आचार व्यवहार होता है जिस प्रकार, अगवानी की जाती, परस्पर लोग मिलते, बरात बारी में ठहराई जाती, लाजा होम तथा शाखोच्चार होता और तेल आदि भेजा जाता है, उसी के अनुसार सेनापति का विवाह वर्णन है जो तुलसी द्वारा वर्णित विषय के अनुसार ही है, जैसे—

धर्‌यो है रसाल मौर सरस रुचिर,
ऊँचे सब कुल मिले गनत न अंत है।
सुचि है अवनिबारी, भयो लाज होम तहाँ,
भौंरी देखि होत अलि आनंद अनंत है॥
नीकी अगवानी होति, सुख जनवासौ सब,
सजी तेलताई चैन मैन मयमंत है।
सेनापति धुनि द्विज साखा उच्चरत देखौ,
बनी दुलहिन बनी दूलह बसंत है॥ क०र०३।७

सिकंदरपुर (बलिया) के पार्श्ववर्ती भूमिहार ब्राह्मणों के यहाँ पुराने समय से नृसिंह जयंती बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है और नृसिंह जी कुल रक्षक देवता के रूप में पूजित होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास गाढ़े समय में भगवान् नृसिंह की याद करते हैं यथा—

'लंका चले सुमिरि नरहरी।'

---

[1] —श्री शारदा देवी वेदालंकार 'डेवलपमेन्ट आफ हिन्दी प्रोज लिटरेचर पृ० ९५ पर लिखती हैं कि चेंबरलेन ने सन् १८११ ई० में आगरे से एक संस्मरणिका लिखी। उन्होंने ब्रिस्टल एकेडेमीके प्रिंसपल डाक्टर राइलेंड को पत्र लिखा जिससे विदित होता हैं कि आगरा और पटना के आसपास हिंदू आबादी—विशेषकर ब्राह्मणों की अधिक थी। ये अरबी-फारसी के शब्दों से मुक्त संस्कृत निष्ठ हिंदी बोलते थे।

क्योंकि उनकी परंपरा में भी 'नृसिंह जी की पूजा का प्रचलन था।' सेनापति की भी नृसिंह जी के प्रति वैसी ही भावना व्यक्त हुई है—

'अति अनियारे चंदकला ते उज्यारे,
तेई मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं।

उनमें भगवान कृष्ण की लीला भूमि में निवास करते हुए भी रामभक्ति की ओर आकर्षण और साथ-साथ शिवभक्ति का होना भी उनपर तुलसीदास की सांप्रदायिक छाप का पड़ना प्रकट करता है और यह भोजपुरी प्रदेश विशेषकर बलिया मंडल की विशेषता है।

१—गोस्वामी तुलसीदास जी के पूर्वज कस्तुवार—ब्राह्मणों के मूल स्थान (डीह या निकास) कठौत (गौसपुर) में आद्यावधि नृसिंह भगवान की मूर्ति और मंदिर है। यह स्थान गाजीपुर जिले में युसुफपुर महम्दाबाद के निकट है। यहीं लार्ड कार्नवालिस का देहावसान हुआ था। शाहाबाद जिले के खजुहाग्राम (सैयदराजा के निकट भूमिहार ब्राह्मणों का गाँव है) में भी नरसिंह जी की मूर्ति है। एक ऐसी ही मूर्ति कंसो-पटना (बलिया) में थी। अब केवल स्थान है।

परशिष्ट ४

पं० मधुसूदन सरस्वती —

पुरातनकाल से ही कान्यकुब्ज प्रदेश वैदिक-संकृति तथा ब्राह्मणों का आदर्श केन्द्र माना जाता रहा है, जिसके विषय में भगवान मनु का कथन हैं—

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्व मानवा।'

जैन-बौद्ध काल में भी यहाँ वैदिक-संस्कृति देदीप्यमान रही और राजपूत राजाओं ने यहाँ के ब्राह्मणों को सुदूर बिहार तक अग्रहार प्रदान किए। ये ब्राह्मण केवल विद्याबल में ही बढ़ेचढ़े नहीं थे, वरंच राजनयिक शक्ति में भी प्रबल थे। यही कारण है कि महमूद गजनवी, मुहम्मदगोरी, बाबर आदि के आक्रमणों का उन्हें सामना करना पड़ा और ये केन्द्र वहाँ से उखड़कर पूर्वीय-प्रदेश में जाकर जम गए, जहाँ उनकी अग्रहार में प्राप्त भूमि पहले से विद्यमान थी। ये ब्राह्मण आजकल भूमिहार नाम से प्रसिद्ध हैं।

सम्राट जयचंद की पराजय के पश्चात् गहरवार राज्य की राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज) से उठकर वाराणसी में चली आई, इसलिए कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध ब्राह्मण-घराने भी वहाँ से उठकर वाराणसी के आसपास बिहार तक बस गए और यह क्रम बाबर काल तक चलता रहा। इन्हीं घरानों में से एक ब्राह्मण-परिवार जो कश्यप-गोत्रीय था बंग-प्रदेश में जाकर बस गया। इसी ब्राह्मण-परिवार में मधुसूदन सरस्वती का जन्म हुआ। इस परिवार के लोग शक्ति के उपासक तथा मिश्र उपाधिधारी थे।[१]

वर्त्तमान बलिया-मंडल में कंसों-पटना, के राजा राकड़देव (राजाकर्ण या रइकरदेव) के एक आचार्य का नाम भी मधुसूदन पयाहारी कहा जाता है। यह भी शक्ति के उपासक तांत्रिक सिद्ध तथा वेद-वेदांत के प्रसिद्ध विद्वान थे। इनकी उपाधि भी मिश्र और गोत्र कश्यप बताया जाता है। राजा राकड़देव से इनको ४ हजार बीघे (लगभग ३ हजार एकड़) भूमि मिली थी। राजा राकड़देव भी उसी कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण वंश में थे, जो कान्यकुब्ज प्रदेश को त्यागकर पूर्व में जा बसा था[२] राकड़देव का सिकन्दर लोदी से युद्ध-प्रसिद्ध है, जिससे मधुसूदन पयाहारी का लोदी काल में होना प्रकट होता

१—श्री पं० विश्वनाथ मुखर्जी—(आज— तुलसी जयन्ती अंक १९७१

२—चतुर्मुख-पत्रिका (हि० सा० प० सिकन्दरपुर, बलिया वर्ष १ अंक ४

है। यही समय मधुसूदन सरस्वती का है। मधुसूदन सरस्वती ने किसी कारण गृहस्थाश्रम में रहते समय ही वंगप्रदेश का त्यागकर दिया था। अस्तु इन सारी समानताओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि मधुसूदन पयाहारी तथा मधुसूदन सरस्वती दोनों कदाचित अभिन्न थे। इस संभावना का एक आधार यह भी है कि गोस्वामी तुलसीदास का सम्पर्क इन दोनों महात्माओं से प्रकट होता है। मधुसूदन पयाहारी के स्थान के निकट विशाल तुलसीताल तुलसीदासजी का ही स्मारक है।

इस ताल के पूर्व ओर रामापट्टी, बिसरूप (विश्वेश्वरपुर) और मधुकी (मधुसूदन-कुटी) नामक ग्राम हैं, जो संभवतः मधुसूदन सरस्वती के शिक्षागुरु रामशास्त्री, दीक्षागुरु विश्वेश्वर सरस्वती तथा स्वयं उनकी स्मृति में बनाये गए प्रतीत होते हैं। ताल के पूर्वीय तट पर ही बभनौली नामक ग्राम जहाँ मधुसूदन जी की वंशपरंपरा के ब्राह्मण हैं जो सरयूपारी ब्राह्मणों में मिले हुए हैं। ताल के दक्षिण तट पर बराइँच, बाराडीह (बराह दह) देवल वीर, निकासी (नवकाशी) आदि देवस्थान, पश्चिम में महाराजपुर, अवंराईकलाँ, अँवराई खुर्द नामक स्थान हैं जहाँ राजा राकरदेव का विशाल उपवन था जिसमें उपस्थित वनखण्डी महादेव के तालाब में आज भी अनेक प्रकार के कमल खिलते हैं। ताल के उत्तर तट पर राकड़ देव की यज्ञभूमि जजौली (यज्ञौली) और कुशहा ब्राह्मण नामक गाँव हैं। इसी ताल के दक्षिण ओर से लकड़ा-नदी (राकड़नदी) निकलती है जो सरयू की प्रतीक मानी जाती है।[1] ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी ने इसी ताल के दृश्य का अवलोकन कर 'मानस' का रूपक बाँधा है। इस प्रकार बलिया से उनका घनिष्ट संबन्ध प्रतीत होता है।

---

[1] —एक जनश्रुति के अनुसार राजा राकड़देव के तपोबल के प्रभाव से गंगाजी बघनहीं (विष्णु नदी) और सरयू जी लकड़ा के रूप में हुई थीं।

परिशिष्ट ५

गोस्वामीजी के मित्र 'टोडर' को डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने गो० तुलसी दास नामक पुस्तक में क्षत्रिय लिखा है। अवश्य डा० ग्रियर्सन ने भ्रमवश टोडर को अकबर का अर्थमन्त्री राजाटोडर मल (खत्री) समझ लिया और बाबू श्याम सुन्दर दास ने तुलसी दास कथित 'ठाकुरो' के आधार पर उन्हें क्षत्रिय मान लिया। इन दोनों सज्जनो की भुल का परिमार्जन कर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में टोडर को भूमिहार जमीदार लिखा। टोडर के वंशज आज भी काशी में विद्यमान हैं और 'भूमिहार-ब्राह्मण' कहलाते हैं, अस्तु इस बात से श्री मिश्र जी काशी में रहकर भी अनभिज्ञ हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर टोडर को मिश्रजी द्वारा 'क्षत्रिय' कहे जाने का कारण क्या है ?

स्वयं तुलसीदासजी ने टोडर के शोक में जो उद्‌गार प्रकट किया है, उससे भी तो टोडर का ब्राह्मण होना ही झलकता है। तुलसीदास जैसा मर्यादावादी पुरुष 'विज्ञ ब्राह्मण' के अतिरिक्त अन्य किसी को 'कलितमी का दीप' नहीं कह सकता, एक और बात है—'तुलसीदास की अंत्येष्टि टोडर के वंशजों ने की थी' और आज तक उनका वार्षिक श्राद्ध करते आ रहे हैं। ब्राह्मण की अंत्येष्टि ब्राह्मण ही करता है। दूसरी जातिं के लोग तो ब्राह्मण के शव को छूने भी नहीं पाते। तीसरी बात यह है कि गौतम चन्द्रिका के अनुसार टोडर और गढौली के भगवान मिश्र परस्पर सम्बन्धी थे अस्तु इस प्रकार भी टोडर का ब्राह्मण होना प्रकट होता है। मध्ययुगीन अभिलेखों और ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि ठाकुर उपाधि ब्राह्मणों की थी एवं मुगलकाल में भी क्षत्रियों के नाम के साथ 'ठाकुर' का प्रयोग नहीं पाया जाता, वरंच बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश और गुजरात में ठाकुर उपाधिधारी ब्राह्मण ही हैं। ऐसी स्थिति में 'ठाकुरो' का प्रयोग होने से टोडर का भुस्वामी ब्राह्मण होना ही सिद्ध होता है।

टोडर के स्वर्गवासी होने पर गोस्वामी जी ने दोहों में जो अपना शोकोद्‌गार प्रकट किया वह इस प्रकार है—

तुलसी राम स्नेह को सिरपर भारी भार।
टोडर काँधा ना दिए, सब कहि रहे उतार ॥१॥
चारि गाँव को ठाकुरो, मन को महामहीप।
तुलसी यहि कलि तमी महँ अथए टोडर दीप ॥२॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
इन नयननि जल सींचिहौं समुझि-समुझि अनुराग ॥३॥
राम धाम टोडर गए मोचन तुलसी सोच।
जियबो मीत पुनीत बिन यह जिय करत संकोच ॥४॥

शुद्धि पत्र

पृष्ठ-संख्या	पंक्ति	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
११	३	५००	३००
१५	२८	अनुभव	अनुमान
१६	१६	भीरनपा	भोखपा
२१	१	गंगाधर धारा	गंगाधर द्वारा
२३	६	नारायण देव	नारायण देव के पुत्र
२	१२	पचास	सौ
१६	२८	गवै	गावै
४५	१४	मेघा म०	मेघा मठ
४८	१	सनद से	सनद में
५०	१५	लेने गये	लेते पाये
	२५	तुलसीदास ने	तुलसीदास
५२	२२	महा महोष	महा महीप
५३	२१	निखहूं मिश्र	निखट्टू मिश्र
	२६	गनि वेहु	गनि लेहु
	३०	तय तेज	तपतेज
५५	१६	स्पष्ट रूप में	स्पषटतः आस्पद,रूपमें
	२०	गवेटियर	गज़ेटियर
	३०	नापिता	नापित
७२	१५	किस	मिस
७३	१४	बोध	बाध
	१६	पराशर स्मृति	अत्रि स्मृति
७४	६	मंगन हार	मंगनहरू
	२५	संबंधी	संबन्धितं
	२६	मुरोः	गुरोः
८०	१७	भूमिहार	(भूमिहार)
८२	२६	फाटक	फोकट
८५	२८	दुःख	दुःखो।
१९५	९०	करो	फरो

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
१४१	४	शकरी	शकटी
१४२	१६	अग्रहर	अग्रहार
	१८	विभूत	विभूतपुर (दरभंगा)
	२३	पञ्चलख	पँचलख
१४३	१८	जयीलां	जपीलां
१४५	६	भक्त	जन्म
	३२	प्रधान	के लोग प्रधान
१४६	३	कम्रचारी	कर्मचारी
	२०	अस्पद	आस्पद
१४८	११	नाथ	देवि
	२०	पाय	पाप
१५२	२०	सेनीराय	ऐनीराय
१६५	१	स्थान	किसी स्थान
१६७	१७	पूर्वंक	पूर्वके
१६८	२६	वैठाजय	बैठा जाय
	९८	के-के	के
१७४	१५	रूँधन	रूँधत
१७५	१२	सुघद	सुखद
„	१७	करइ	फरइ
„	१६	सकेकि	सकेलि
१७८	१२	गा	गो
१७९	२०	इलक	इलाक
„	२५	योग	योग से
१८४	२	औखट	औघट
„	६	हिच-किचाहट	हिचकिचाहट
„	२७	मोढि	मीठि
„	३०	वातकही	बतकही
१८५	११	द्योतक	का द्योतक
१८६	४	गाई	गाइ
„	६	यथो आदि	यंथा
२००	२२	प्रधात	प्रधान

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
,,	२६	सुलहा	मुलहा
२०५	३१	फिर भी को	फिर भी कोई-कोई जो कुछ
२१५	२६	णशअ	शरण
२१८	१९	बहुत से,	बहुत कम
,,	,,	मूर्त्तिनहीं	मूर्त्ति
,,	२०	सुअरहा(बलिया)	×
२२७	१०	जमदारी	जमीदारी
२३७	२१	वर्ण के	वर्ण की
२३८	२२	नरहनपुर	नरहन
२३९	८	मुनि	ऋषिमुनि
२४२	२४	'सकना'	'सकल'
२४५	१४	ब्रांह्मणश	ब्राह्मण वंश
२५७	१८	प्रवृति, निवृति	प्रवृत्त, निवृत्त
,,	२९	प्रतग्रहात्	प्रतिग्रहात्
,,	१४	जि़विका	जीविका
,,	१३	द्वविध	द्विविध
२५८	१५	चित्तयावन	चित्तपावन
,,	२२	बौध	बौद्ध
,,	१६	पुरागे	पुराने
२६४	२८	आत्मश्लाध्य	आत्मश्लाघा
२६५	१०	शक्तिवाहन	शालिवाहन
,,	१३	सरयूपारी	सरयूपार
२६७	२५	मवा से	मवासे
२७२	१७	मियारे	भियारे
,,	२१	अपु	जपु
,,	३१	राजनीतिक	राजनीति
,,		दोहे की	दोहे
,,		उक्की	उनकी
२७३	२	शस्त्रपुराण	शास्त्र पुराण
,,		प्रकारु	प्रकार
२७५	२५	माना है यथा	माना है
	३१	राजनीतिक, दोहे के	राजनीति, दोहे

पृष्ठसंख्या	पक्ति	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
२७७	१७	गयऊँ	न गयऊँ
२७९	२४	ब्राह्मणे, एवं	ब्राह्मणो, स्वं
२८१	४	गणाधिय:	गणाधिप:
	६	धर्मा:	धर्मारण्य
	२३	धर्माण्य	धर्मारण्य
२८४	१८	लगने	लगन
२८५	१०	बाद	शास्त्रीय वाद
२८७	२७	वरेली	बरेनी
	२९	ब्राह्मणों	ब्राह्मणों के
२८८	११	वेंकटाध्वारी	वेंकटाध्वरि
२८८	१८	शास्त्र	शस्त्र
	२४	तत्काली	तत्कालीन
	२५	मुसल्मनी	मुसल्मानी
	२७	नसरे	दूसरे
२८७	४	सदाचारी	आचारी
	१२	डब्ल्यु डालस	डब्ल्यु० डगलस
२९०	१५	ब्राह्मण श	ब्राह्मण वंश
२९२	४	मुसल्मान	मुसल्मानों
	९	वंश स्थान और	वंश और स्थान
२९३	५	इतनो	इतना
	१९	बताऊ	बनाऊ
	२३	भो	पी
२९४	१०	इश	इन
	२०	जातिय	जातीय
२९५	१०	कालरीति	[कालराति
	२१	शील शीष्टाचार	शील-शिष्टाचार
२९६	१०	तीसरे	तीसरी
	२४	श्री मद्वांड	श्रीमद् डि
३००	१३	भूमिहार ब्राह्मणों	भूमिहार ब्राह्मण
३०३	१९	कट्टूरता	कट्टरता
३०४	१	बहुल्य	[बाहुल्य]
	२१	मठो से	मठा के

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्धशब्द
३०८	१५	सत्युग	सत्य युग
३१४	६	पुराणात्कि	पुराणोक्ति
	२३	शायादपि	शापादपि
३१६	१२	ने भो	में भी
	२६	पथ्वी	पृथ्वी
३१७	२५	एं	एवं
३१८	५	महिमा	महिम
३२१	२७	भूम्यामृ	भूम्याम्
३२४	२७	दान	दान लेना
३२८	२०	भीख	छलपूर्वक भीख
	२२	रात	ज्ञात
३२९	१५	भूमिहार ब्राह्मण	भूमिहार ब्राह्मणों
३३२	५	स्वारथमिय	स्वारथमीत
	२६	कथानों	कथनों
३४१	१९	मात पिता	माता-पिता
	११	तुलसीदास के	तुलसीदास से
३४२	३१	समाजशास्त्री	समाजशास्त्र
३४३	६	कुलहीनता की	कुलहीनता को
	९	एवं बे	एवं वे
३४४	२२	वंश-परंपरा	वंश, परंपरा
३५६	८	उद्घंड	उद्दंड
३७२	६	रधुनाय	रघुनाथ
	२१	गाकरि रे	गार्थाहिं रे
	२३	दाईन	दाहिन
३७६	२	गुरु का	गुरु का हो
	२	शिष्य का	सबका
३९०	२०	राजा पीथा	राजा पीपा
३९३	३	आपत्त	आयत्त
३९४	१	बुलाना जाना	बुलाया जाना
	१२	गया क्योंकि	गया है
	१६	पार दियो	पार कियो
४०२	२१	प्रयत्ति वादी	प्रपत्तिवादी

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
४०५	१२	तुमक	तुपक
४०६	१५	मार डाला	मरवा डाला
४०७	२१	अस्तित्व	बलिया में अस्तित्व
४१७	१६	भूमिहार	अप्रतिग्राही
४२७	२	चरना	घरन
४४६	४	के मन	के मत
४४९	९	बिगारी, ढारी	बिगारो, ढारो
४५४	११	परत्याग	परित्याग
	१३	करत	करम
४५६	३१	निर्भर	निर्भय
४५७	२७	सो उपाय	सोउ पाय
४६९	२९	अनीत	अतीत
४७१	७	चित्रकूट का	चित्रकूट को
५१२	२१	गुरु के	गुरु की
	२८	श्रीमद्रामचद्र	श्रीमद्रामचन्द्र
	३०	ददाभ्ये	ददाभ्ये
५२३	१२	शस्त्रस्तस्य	शत्रुस्तस्य
५२९	२१	अघार	आधार
५३४	२४	वैभत्य	वैमत्य
५५१	४	कामसीमा	कार्यसीमा
	२१	उसे	उस
	२४	गति	समानगति
५५३	१	वैभव श्री	वैभवश्री
	२	स्पृहणाय	स्पृहणीय
	९	श्रति	श्रुति
	२२	कोहि	कोटि
५६५	१६	टाटका	टोटका
५६८	१४	पावती	पार्वती
५८०	३१	विषद	विशद
५८९	२४	मुसुकारी	मुसुकानी
५९०	८	हि	नहिं
	१७	घो?	घोड़ौ

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्धशब्द
५९५	१७	जा	जो
	२१	आकर्षण	आकर्षक
	२४	सूर्य	कलाधर
	२६	दशनाय	दर्शनीय
५९७	६	व	वह
५९८	१४	की लाड़लो	का लाडला
५९९	२३	सेनिमित	से निर्मित
६००	२६	लाभ	लोभ
६०१	१२	यहाँ	यही
	२२	चित्रवृत्तियों	चित्तवृत्तियों
६०७	२२	भगवच्छ्ररणमति	भगवच्छरणागति
६१४	१४	फाट	फोट
६१४	२०	घाँग	घाँगड़
	२१	शागि	आगि
६२२	८	संप्रदाय का	संप्रदाय को
६२३	३१	विरुप	विरूप
६२९	१६	अम	अमर
६३७	६	शब्दी	शब्दों
,,	११	रामत्ररेश त्रिपाठी	राम नरेश त्रिपाठी
,,	१६	ज्ञान	ज्ञात
,,	२७	विषय के	विषय में
६३८	२	बिशेम	विशेष
,,	७	क्रांसिकारी	क्रांतिकारी
६४०	७	उन्होसे	उन्होंने
६४३	२१	मन	गन
६४४	२४	मिर्मित हैं	निर्मित है
६४५	२२	उद्देशन	उद्देश्य
,,	९	मनुष्य	मानुस्
६४६	२६	सुमूर्त्त	सुमूर्त्त रूप
,,	२०	मनो	मतो
,,	२४	जजेर	जर्जर
६४७	२	नवरवेता	नवचेतना
,,	४	वितरण	विवरण
,,	१३	नंदलाल	नंद दास
,,	३१	राजा पुह	राजापुर
६४८	३२	पिपोकर	पिरोकर

आवश्यक संशोधन

पृष्ठ २४ टिप्पणी १ के आगे भूगोल (मासिक) इविंग क्रिश्चियन कालेज प्रयाग

पृष्ठ ५३ पंक्ति २४ गोत्रज के आगे—विप्र

पृष्ठ १०४ पंक्ति १७ में सुनी जाती है के आगे सोरो सनाढ्य ब्राह्मणों का केन्द्र है और उनमें रामकृष्ण की उपासना के समान ही नृसिंहोपासना का प्रचलन है यथा नृसिंहोपासनेसक्ताः सनाढ्याकेऽपि सत्तमाः (स० सं ११/१४५

पृष्ठ १०५ पंक्ति ४ में होती के आगे—सैयद राजा (वाराणसी) के निकट और कालिंजर आदि में भी नरसिंह जी के स्थान हैं।

पृष्ठ १०६ पंक्ति २६ के आगे—का भी ऐसा ही मत है।

पृष्ठ १११ पंक्ति ३१ गोस्वामी जी के आगे—'ने किया है, उन'

पृष्ठ ११२ पंक्ति ३ श्री रामचन्द्र जी के आगे —'से'

पृष्ठ १२७ पंक्ति १७ में तर और ब्रह्मा के बीच में—'आय'

पृष्ठ १६८ पंक्ति ६ के आगे—'को धर्मराय कहा है'

पृष्ठ २०५ अंतिम पंक्ति फिर भी को के बाद 'ई कोई जो कुछ'

पृष्ठ २१८ पंक्ति १७ के आगे—उदय गिरि (मालवा) में आदि वाराह की सबसे बड़ी मूर्ति है और महाबली पुरम् (मद्रास) में वराह का उत्कृष्ट रथ मंदिर।

पृष्ठ २४८ पंक्ति ५ के प्रारंभ में—'न'

पृष्ठ २५८ में पंक्ति ११ के आगे—इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि सनाढ्य ब्राह्मणों में शिवोपासना का प्रचार प्रायः नहीं है, पर तुलसी और उनके गुरु पर शिवोपासना का परम्परागत प्रभाव लक्षित होता है। देखिये सनाढ्य संहिता ११।१४१-१४५

पृष्ठ २६४ पंक्ति २८ में कर दिया है के आगे— और पंडित रामनारायण 'राम' ने गीता प्रेस (गोरखपुर) से प्रकाशित सटीक महाभारत में वाट धानान् द्विजानथ (सभा पर्व ३२/८) का अर्थ वाट धान क्षत्रिय किया है तथा ब्राह्मणावाटधानस्य (सभापर्व ४६।२४) का अर्थ करने में वाट धान को उड़ा दिया है। श्लोकों के अर्थ तक में घपलाबाजी और विकृति !

पृष्ठ २६८ पंक्ति ८ में दुबे के आगे (वत्स)

पृष्ठ २६९ पंक्ति २१ के आगे—पृष्ठ १३६

पृष्ठ २७० में पंक्ति १५ के आगे—और उनके कथन में सींव न चापि सकना' ठकुराई करना आदि मुहावरों का प्रयोग भी उनके गोस्वामी परम्परा में होने की ही झलक देते हैं ये प्रयोग भी भोज पुरी क्षेत्र के हैं। यथा—

सींव न चापि सकै कोऊ तब, जब हुते राम कन्हाई।

अब तुलसी गिरिधर बिन गोकुल कौन करिहि ठकुराई (कृ० गो० ३२

पृष्ठ २७२ पंक्ति २५ के आगे—सासतिकरि पुनि करहिं पसाऊ

नाथ बड़न कर सहज सुभाऊ

पृष्ठ २८६ अन्तिम पंक्ति टिप्पणी में ब्राह्मण के आगे—'केन्द्र में'

पृष्ठ २९९ पंक्ति २५ में—वे के बाद उनसे

पृष्ठ ४०७ पंक्ति २१ टिप्पणी में राज्यका के आगे—'आज जैसा'

निकालिए-पृष्ठ १६५ की टिप्पणी १ पृष्ठ २२६ की पंक्ति १३ पृष्ठ २६५ की पंक्ति ३१ (टिप्पणी) पृष्ठ २९८ पंक्ति २४ करना पृष्ठ ३२० पंक्ति १९ में ४

परिवर्तित कीजिए—पृष्ठ १०७ का पंक्ति १ से १७ तक का अंश उसी पृष्ठ के पंक्ति ३१ के बाद

पृष्ठ २१५ की टिप्पणी क्रम संख्या २ उसी पृष्ठ की टिप्पणी क्रम संख्या १ के साथ और क्रम संख्या दो की टिप्पणी पृष्ठ २१६ पंक्ति ८—११

पृष्ठ २१८ पंक्ति २० में (नेपाल) के स्थान पर (कश्मीर) (एटा) के स्थान पर (इलाहाबाद)।

पृष्ठ २३२ पंक्ति १९—२० में परशुराम जी का मन्दिर है और के स्थान पर परशुराम जी का मन्दिर अब नहीं है।

पृष्ठ २४८ पंक्ति ५ में करने वाले के स्थान पर 'न करने वाले'।

पृष्ठ ३२८ पंक्ति १९ का 'छल' हटाकर पंक्ति २० में भीख के पूर्व तथा संन्यास लेकर के स्थान पर कूटनीति पूर्वक।

पृष्ठ ५११ पंक्ति ११ से संप्रदाय और मत हटाकर पंक्ति १ और २ के मध्य शीर्षक रूप में।

* सहायक ग्रन्थों की सूची *

तुलसीरचित—श्री रामचरित मानस विनय-पत्रिका, गीतावली, कवितावली; रामललानहछू, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, दोहावली, बरवै, वैराग्य संदीपनी, हनुमान बाहुक (गीता प्रेस गोरखपुर अथवा अन्य संस्थानों से प्रकाशित) विनय-पत्रिका हरितोषिणी टीका (वियोगी हरि).

तुलसी सम्बन्धी—तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त, इलाहाबाद) तुलसीदास (चन्द्रवली पांण्डेय, ना० प्र० सभाकाशी), गोस्वामी तुलसीदास (शिवनन्दन सहाय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना), मानस दर्शन (डा० श्री कृष्णलाल) तुलसी की जीवनभूमि (चन्द्रवली पाण्डेय) गोसाई तुलसीदास [विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी] तुलसीदास का घरबार (रामदत्त भारद्वाज) तुलसी रसायन (डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र; साहित्य भवन लि० इलाहाबाद) तुलसी और उनका काव्य (रामनरेश त्रिपाठी) तुलसीदास और उनके ग्रन्थ [भगीरथ प्रसाद दीक्षित] तुलसी दर्शन [बलदेव प्रसाद मिश्र काशी] तुलसीदल [डा० उदयनारायण तिवारी] तुलसीदास—काव्यकला और दर्शन [सरस्वती सम्वाद कार्यालय, आगरा] त्रिवेणी, हिन्दी साहित्य का इतिहास [रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी] हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास [ग्रियर्सन अनु०—डा० किशोरीलाल गुप्त] गोसाई चरित [वेनी माधवदास, सं०—डा० किशोरीलाल गुप्त] नन्ददास [रमेशकुमार खट्टर, दिल्ली] सुकविसरोज भाग १ [गौरीशंकर द्विवेदी शंकर झाँसी] भारतीय संस्कृति की रूपरेखा [परशुराम चतुर्वेदी]अष्टछाप परिचय [प्रभुदयाल मित्तल] रामचरित मानस की भूमिका [रामदास गौड़] गो० तुलसीदास [डा० रामदत्त भारद्वाज] तुलसी [रामबहोरी शुक्ल] राम कथा [रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के] बाल-माधुरी भागवतसिंह, काशी, रामचरित मानस का पाठ भाग १ [डा० माताप्रसादगुप्त, सा० कु० प्रयाग] रामचरितमानस काशीराज संस्करण, (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) मध्ययुगीन काव्य साधना (रामचन्द्र तिवारी) मानस अनुशीलन शम्भुनारायण चौबे, (ना० प्र० सभा काशी) गीतमचन्द्रिका (कृष्णदत्त मिश्र), कवित्तरत्नाकर (सेनापति) तुलसी ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा), महादेव भाई की डायरी साहित्यिक निबन्ध, अर्द्ध कथानक (सं०—बनारसी दास चतुर्वेदी) वयं रक्षामः (चतुरसेन शास्त्री)

प्राचीन इतिहास और धर्म-नीति सम्बन्धी—अथर्ववेद, ऋग्वेद १०८ उपनिषदं (श्री राम शर्मा) याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, अत्रिस्मृति, पराशरस्मृति

विष्णुस्मृति, महाभारत (गीता प्रेस) स्कन्दपुराण, मत्स्यपुराण चाणक्य नीति आदि। अंगुत्तरनिकाय, वासेट्ठ सुत्त, माघ सुत्त कासि भारद्वाजसुत्त आदि।

सम्प्रदाय और संस्कृति सम्बन्धी—भागवत सम्प्रदाय, वौद्धधर्म मीमांसा बलदेव उपाध्याय मारकण्डेय पुराण एक अध्ययन (डा० वासुदेव शरण) संस्कृति अंक रामायणांक (गीता प्रेस), श्री रामानन्द दिग्विजय भारतीय संस्कृति और कला (राधा कमल मुखर्जी), शिक्षा, संस्कृति और समाज (स्वामी विवेकानन्द) संस्कार विधि (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

भाषा सम्बन्धी—हिन्दी विकास में अपभ्रंश का योग (डा० नामवर सिंह) तुलनात्मक भाषा विज्ञान (डा० मंगलदेव) रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ (डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल) हिन्दी विश्वकोष खण्ड ६ (ना० प्र० स० वाराणसी) भाषा शास्त्र की रूपरेखा (डा० उदयनारायण तिवारी) रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव (डा० वदरीनारायण श्रीवास्तव)

मनोविज्ञान सम्बन्धी—मनोविज्ञान (यदुनाथ सिनहा, अनु० रघुराज गुप्त) मनोविज्ञान और जीवन (लालजीराम शुक्ल); व्यावहारिक मनोविज्ञान, जन्तु विज्ञान ई० ए० जार्डना अनु०—(हरीशचन्द्र मिश्र) सामान्य मनोविज्ञान (रामप्रसाद पाण्डेय)

समाज शास्त्र सम्बन्धी—जाति विकास का आधार (गेयर, अनु० विनोदचन्द्र मिश्र) सांस्कृतिक मानव शास्त्र (अनु० रघुराज गुप्त) समाज शास्त्र के मूल सिद्धान्त (सत्यव्रत सिद्धांतालंकार) समाज सास्त्र के आरम्भिक सिद्धान्त (मदनमोहन) समाज और अपराध (शम्भुरत्न त्रिपाठी) समाज शास्त्र प्रश्नोत्तरी (दुवे और केला)

जाति-इतिहास और वंशावलियाँ—कतिपय वंशों की वंशावलियाँ (हस्तलेख और प्रकाशित) ब्राह्मण निर्णय (श्रोत्रिय छोटेलाल शर्मा, फुलेरा जयपुर) जाति अन्वेषण भाग १ (छोटेलाल शर्मा) जातिभास्कर (ज्वालाप्रसाद मिश्र) विकास की एक धारा भाग १-२ (कुलदीपनारायण राय. झड़प); सैनिक ब्राह्मण (परमेश्वरप्रसाद शर्मा, सूर्यनारायण शर्मा) कान्य कुब्ज वंशावली (मुकुन्दराम; दुर्गादत्त त्रिपाठी) कान्य कुब्ज वंशावली (रघुनन्दन शर्मा) कान्य कुब्ज वंशावली लालमणि धर्मशास्त्री ब्राह्मण राज परिचय, ब्राह्मण सम्बन्ध (एक मैथिल परमहंस) पंक्तिपावन परिचय (विजयानन्द त्रिपाठी काशी) विप्रोत्तम परिचय (पं० अयोध्यादास) हिस्ट्री आफ दि मुहयाल (के० एम० वाली) श्री सरयूपारीण वंशावली (राजनारायण शुक्ल) सरवरिया ब्राह्मणोत्पत्तिप्रदीप (रामलग्न त्रिपाठी) सरयूपारीण संहिता (सन्तराम शर्मा) ब्राह्मण वंश भास्कर

(भास्कर) घकवार चरित (जनार्दन मिश्र पंकज; मुंगेर) ब्रह्मर्षि वंशावली (देवनन्दन शर्मा) जुझौतिया ब्राह्मण इतिहास की रूपरेखा (गोरेलाल तिवारी) ब्रह्मर्षिवंश विस्तर (स्वामी सहजानन्द सरस्वती) दशविधि ब्राह्मण संहिता (जयनाथ शर्मा) सनाढ्य संहिता, हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्स (योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य) हिन्दू कास्टस एण्ड ट्राइब्स (शेरिंग); सप्लीमेन्टरी ग्लासरी (इलियट)

ऐतिहासिक—अयोध्या का इतिहास (लाला सीताराम) हस्तिनापुर; कन्नौज [उ० प्र० राज्य लखनऊ] कीर्तिलता [विद्यापति] सुजान कवि की डायरी [हस्तलेख] बिहार और बौद्धधर्म [हवलदार त्रिपाठी] बौद्धधर्म के विकास का इतिहास [गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, हि० स० लखनऊ] उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास [नलिनाक्षदत्त] अल्बेरूनी का भारत, ह्वेनसांग, सन सत्तावन की राज्यक्रांति [रामविलास शर्मा] भारत में अंग्रेजी राज्य [सुन्दरलाल] हिन्दुस्तान का इतिहास [डा० ताराचन्द] शर्कीराज्य और जौनपुर का इतिहास (सैयद इकबाल अहमद) तारीखे बनारस [सै० मजहर हसन] दरबारे अकबरी [आजाद हुसेन आजाद); काशी का इतिहास [डा० मोतीचन्द] चेतसिंह और काशी का विद्रोह (डा० सम्पूर्णानन्द); गाजीपुर संस्मरण (कृष्णानन्द राय) गोरखपुर जनपद (डा० राजबली पाण्डेय) बलिया का इतिहास (सूर्यनारायण सिंह) गाजीपुर गजेटियर गाजीपुर मेम्वार (ओल्डहम) चंदेल और उनका राजत्वकाल (ना० प्र० सभा काशी) मराठों का इतिहास (ग्रांटडफ, इलाहाबाद)

भूगोल—सारण जिला दर्पण (गदाधर प्रसाद अम्बष्ट) नेपाल का नवीन भूगोल (वीरगंज. नेपाल) भूगोल (ई० क्रि० का० प्रयाग दिस० १९३०)

पत्र-पत्रिकाएँ—मानस मयूख (मा० मं० काशी) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (ना० प्र० स० काशी) उपलब्धि (काशी विद्यापीठ) नया समाज; धर्मयुग (बम्बई) साहित्य संदेश (आगरा) सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग, मानस प्रचारिका; भारत (प्रयाग) चतुर्मुख (हि० सा० प० सिकन्दरपुर; बलिया) भृगुक्षेत्र बलिया आज (काशी) काव्य कुण्ज (काशी). विरक्त (अयोध्या) के कतिपय अंक ।